बिड़ला ग्रंथमाला—५

रास और रासान्वयी काव्य

संपादक

डा० दशरथ ओझा, एम० ए०, पी-एच० डी०
डा० दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्





नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मुद्रक : महताबराय, नागरी मुद्रण, वाराणसी

प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ, संवत् २०१६ वि०,

मूल्य : १५)







राजा बलदेवदास बिड़ला

राजा बलदेवदास बिड़ला-ग्रंथमाला

प्रस्तुत ग्रंथमाला के प्रकाशन का एक संक्षिप्त-सा इतिहास है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल महामहिम श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जब काशी नागरीप्रचारिणी सभा में पधारे थे तो यहाँ के सुरक्षित हस्तलिखित ग्रंथों को देखकर उन्होंने सलाह दी थी कि एक ऐसी ग्रंथमाला निकाली जाय जिसमें सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ मुद्रित कर दिए जायँ। बहुत अधिक परिश्रमपूर्वक संपादित ग्रंथ छापने के लोभ में पड़कर अनेकानेक महत्वपूर्ण ग्रंथों को अमुद्रित रहने देना उनके मत से बहुत बुद्धिमानी का काम नहीं है। उन्होंने सलाह दी कि ये पुस्तकें पहले मुद्रित हो जायँ फिर विद्वानों को उनकी सामग्री के विषय में विचारने का अवसर मिलेगा। सभा के कार्यकर्ताओं को राज्यपाल महोदय की यह सलाह पसंद आई। हीरक जयंती के अवसर पर सभा ने जिन कई महत्वपूर्ण कार्यों की योजना बनाई उनमें एक ऐसी ग्रंथमाला का प्रकाशन भी था। सभा का प्रतिनिधि मंडल जब इन योजनाओं के लिये धन संग्रह करने के उद्देश्य से दिल्ली गया तो सुप्रसिद्ध दानवीर सेठ घनश्यामदास जी बिड़ला से मिला और उनके सामने इन योजनाओं को रखा। बिड़ला जी ने सहर्ष इस प्रकार की ग्रंथमाला के लिये २५,०००) रु० की सहायता देना स्वीकार कर लिया। इस कार्य के महत्व का उन्होंने तुरंत अनुभव कर लिया और सभा के प्रतिनिधिमंडल को इस विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं हुई। बिड़ला परिवार की उदारता से आज भारतवर्ष का बच्चा-बच्चा परिचित है। इस परिवार ने भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्थान के लिये अनेक महत्वपूर्ण दान दिए हैं। सभा को इस प्रकार की ग्रंथमाला के लिये प्रदत्त दान भी उन्हीं महत्वपूर्ण दानों की कोटि में आएगा। सभा ने निर्णय किया कि इन रुपयों से प्रकाशित होनेवाली ग्रंथमाला का नाम श्रीघनश्यामदास जी बिड़ला के पूज्य पिता राजा बलदेवदास जी बिड़ला के नाम पर रखा जाय और इसकी आय इसी कार्य में लगती रहे।

परिचय

निरतत हैं दोउ स्यामा स्याम।
अङ्ग मगन पिय तैं प्यारी अति निरखि चकित ब्रज बाम।
तिरप लेति चपला सी चमकति झमकत भूखन अंग।
या छवि पर उपमा कहुँ नाहीं निरखत बिवस अनंग।
रस समुद्र मानौ उछलित भयौ सुंदरता की खानि।
सूरदास प्रभु रीझि थकित भए कहत न कछू बखानि॥

—सूरदास

उपर्युक्त पद में राधाकृष्ण के रास-नृत्य का वर्णन करते हुए कवि ने रम्य रास के स्वाभाविक परिणाम के रूप में रस-समुद्र का उमड़ना बताया है और इस प्रकार 'रस' और 'रास' के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का उद्‌घाटन किया है। वस्तुतः रास, रासो और रासक तीनों ही के मूल में रस ही पोषक तत्व है और इसीलिए स्थूल रूप में रास नृत्य का, रासो काव्य का और रासक रूपक का एक रूप है।

काव्य में रस सिद्धांत भारत का बड़ा ही प्राचीन और परम महत्वपूर्ण आविष्कार रहा है। यहाँ रस के शास्त्रीय पक्ष का विवेचन न कर इतना ही कथन अभीष्ट है कि 'रस' उसी तीव्र अनुभूति का नाम है जिसके द्वारा भाव-विभोर होकर मनुष्य के मुहँ से अनायास निकल जाता है—'वाह क्या बात है? मजा आ गया!' यही 'मजा आ जाना' रसानुभूति की स्थिति है और स्वयं 'रस' 'मज़ा' है। प्रतीत होता है कि आरम्भ में रस केवल एक था—शृंगार। आज भी 'रसिक' शब्द का 'अर्थ' 'शृंगार रसिक' मात्र है। शृंगार को जो रसराज कहते हैं उसका भी तात्पर्य यही है कि मूल रस शृंगार ही है और अन्य रस उसी के विवर्त हैं। भोज ने भी अपने शृंगार प्रकाश में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वैसे भी रसों की संख्या में बराबर वृद्धि होती रही है। भरत के यहाँ वस्तुतः आठ ही रस थे। 'शान्त' रस की उद्‌भावना हो जाने पर उनकी संख्या नौ हो गयी। पुनः विश्वनाथ ने 'वत्सल' को स्थायी भाव परिकल्पित कर 'वात्सल्य' रस की कल्पना की। रूप गोस्वामी ने भक्ति को भी 'रस' बनाया और इधर अब दिल्ली में

'इतिहास रस' की भी धारा बहाने का भगीरथ प्रयत्न हो रहा है। ये सब प्रयत्न इसी बात की पुष्टि करते हैं कि जिसको जिस वस्तु में मजा मिला उसको वहीं रस का दर्शन हुआ।

दूसरी ओर मन की चार स्थितियाँ होती हैं—विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप। विभिन्न अनुभूतियों की जो प्रतिक्रिया मन पर होती है उससे मन की स्थिति उक्त चारों में से कोई एक हो जाती है। शृंगार से विकास, वीर से विस्तार, बीभत्स से क्षोभ और रौद्र से विक्षेप होता है। इस प्रकार चार प्रधान रस बनते हैं—शृंगार, वीर, रौद्र और भयानक। शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति मानी जाती है। परन्तु गम्भीरता से देखने पर 'वीर, रौद्र और बीभत्स' रसों की गणना एक ही वर्ग में की जा सकती है और तीनों को ही एक साधारण शीर्षक 'वीर' के अंतर्गत लाया जा सकता है।

पुनः मन की चाहे जितनी स्थितियाँ परिकल्पित की जायँ वे मुख्यतया दो ही रहेंगी—सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय स्थिति के भी दो भेद होंगे—अंतर्मुखी और बाह्यमुखी। अन्तर्मुखी स्थिति वह होगी जब मन द्वारा 'मन' को प्रभावित करने का प्रयत्न होगा और बाह्यमुखी स्थिति में बाह्य प्रयत्नों द्वारा दूसरे के तन मन को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार अंतर्मुखी स्थिति शृंगार रस में दिखायी देगी और बाह्यमुखी वीररस में।

मानस की निष्क्रिय स्थिति वह कहलायेगी जब वह सुख, दुख, चिंता, द्वेष, राग और इच्छा सबके परे हो जायगा। यही स्थिति शांत रस की भी है।*

इस प्रकार आजतक जितने रस कल्पित हुए हैं या भविष्य में होंगे उन सबका समाहार शृंगार, वीर और शान्त रसों के अंतर्गत किया जा सकेगा।

प्रस्तुत रास संग्रह में भी जितने रास संग्रहीत किये गये हैं वे उक्त तीन ही रसों से समन्वित हैं। जैन रास प्रायः शान्त रसात्मक हैं और उनमें वीर रस का भी समावेश है। शेष अर्थात् संस्कृत, हिंदी, बंगला और गुजराती के रास प्रायः शृंगाररसात्मक हैं।

---

* न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शम प्रधानः॥

प्रस्तुत संग्रह के विद्वान संपादकों डाक्टर दशरथ ओझा और डाक्टर दशरथ शर्मा ने अपनी शोधपूर्ण भूमिका में सभी ज्ञातव्य तथ्यों का समावेश कर दिया है। उक्त दोनों अकृत्रिम विद्वानों ने वस्तुतः संग्रह कार्य और संपादन में गहरा परिश्रम कर रास साहित्य का उद्धार किया है। उनके निष्कर्षों से प्रायः लोग सहमत होंगे; जैसे संदेश रासक की रचना का काल बारहवीं शताब्दी निश्चित किया गया है। इसका एक आभ्यंतरिक प्रमाण भी है। संदेश रासक में एक छंद है—

तइया निवडंत णिवेसियाइं संगमइ जत्थ णहुहारो
इन्हि सायर-सरिया-गिरि तरु-दुग्गाइं अंतरिया ॥

अर्थात् जहाँ पहले मिलन क्षण में हम दोनों के बीच हार तक को प्रवेश नहीं मिलता था वहाँ आज हम दोनों के बीच समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष, दुर्गादि का अंतर हो गया है।

उधर हनुमन्नाटक में भी एक श्लोक है :—

हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेष भीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥
[ह० ना० ५–२४]

स्पष्टतः संदेश रासक के उक्त छन्द पर हनुमन्नाटक के उक्त श्लोक का प्रभाव है। उक्त छन्द उक्त श्लोक का अनुवाद जान पड़ता है। यह निश्चित है कि हनुमन्नाटक ग्यारहवीं शताब्दी की रचना है अतः संदेस रासक की रचना निश्चय ही हनुमन्नाटक के ठीक बाद की है। सामोरू नगर का जो वर्णन उक्त रासक में उपलब्ध होता है वह बारहवीं शताब्दी का कदापि नहीं हो सकता। सामोरू का दूसरा नाम मुलतान है जिस पर बारहवीं शताब्दी में तुर्कों का कब्जा था जिनके शासन में रामायण और महाभारत का खुल्लमखुल्ला पाठ असंभव था। परंतु उक्त रासक में वर्णित है कि सामोरु में हिन्दू संस्कृति की प्रधानता थी। यह संगति तभी बैठ सकती है जब यह माना जाय कि संदेश रासक की रचना हनुमन्नाटक की रचना के बाद और मुलतान पर इसलामी शासन के पूर्व की है। संदेस रासक के टीकाकारों ने अद्दहमाण का शुद्धरूप अब्दुल रहमान माना है और उसे जुलाहा करार दिया है। परन्तु जिस शब्द का अर्थ जुलाहा है उसी का अर्थ गृहस्थ भी है। फिर अब्दुल रहमान ने अपने पिता का नाम

मीरसेन लिखा है। क्या मीरसेन उस काल में किसी मुसलमान का नाम हो सकता है? मीर फारसी का ही नहीं संस्कृत का भी एक शब्द है जिसका अर्थ समुद्र भी होता है? पुनः आवश्यक नहीं कि ग्रंथारंभ में कर्ता की स्तुति मुसलमान ही करे, हिन्दू नैयायिक भी तो ईश्वर को कर्ता ही मानता है। अतः अब्दुल रहमान के संबंध में अभी और भी खोज आवश्यक जान पड़ती है। कारण मीरसेन (समुद्रसेन) का पुत्र अब्धिमान (समुद्रमान) भी हो सकता है और उसके मुसलमान होने की कल्पना 'मिच्छदेस', 'आरद्द', 'अद्दहमाण', और 'मीरसेन' शब्दों पर ही टिकी हुई है।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'रास' एक प्रकार नृत्य भी है। इस नृत्य का स्वरूप प्रायः धार्मिक रहा है। यही कारण है कि विष्णुयामल में रास की यह परिभाषा दी गयी है—'करुणा-बीभत्स रौद्र-वीर-वात्सल्य-विरह-सख्य शृंगारादि रस समूहो रासरिति' अथवा 'रसानां समूहो रासः'। अन्यत्र रास का यह लक्षण भी बताया गया है—'नृत्य-गीत—चुम्बनालिंगनादीनां रसानां समूहो रासः'। अर्थात् नाच, गान, चुम्बन, आलिंगन आदि रसों का समूह रास कहलाता है। रास का तीसरा लक्षण निम्नलिखित है :—

स्त्रीभिश्च पुरुषैश्चैव धृतहस्तैः क्रमस्थितैः
मण्डले क्रियते नित्यं स रासः प्रोच्यते बुधैः ॥

अर्थात् विद्वान् उस नृत्य को रास कहते हैं जिसमें एक क्रम से नर नारी परस्पर हाथ पकड़ कर मण्डलाकार नाचते हैं।

उक्त रासनृत्य का स्वरूप उत्तरोत्तर धार्मिक होता गया। रास सर्वस्व नामक ग्रन्थ के अनुसार घमंड देव ने रास के पांच प्रयोजन बताये :—(१) चित्तशुद्धि, (२) स्त्रियों और शूद्रों को अनायास पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति (३) योग साधन से प्राप्त सुख की सहज प्राप्ति (४) तामस बुद्धि वालोंको सात्विक बुद्धि संपन्न बनाना और (५) व्रजवासियों का भरण तथा त्रैलोक्य का पवित्रीकरण[१]।

---

१ विषयविदूषितचित्तानामनेकोद्योगबुद्धीनामन्तःकरणानि भगवद्विषयकानुकरणदर्शनेन शुद्धानि भवन्तीति प्रथमं प्रयोजनम्। १।
स्त्रीशूद्राणामप्यनायासेन पुरुषार्थचतुष्टयं भवत्विति द्वितीयं प्रयोजनम्। २।
अनेकसाधनैर्योगादिभिर्भगवद्दर्शनार्थे यतमानानामपिदुर्लभं सुखं सुलभं भवत्विति तृतीयं प्रयोजनम्। ३।

शांडिल्य ने पंद्रह रास सूत्र कहे जिन पर प्रायः एक हजार भाष्य प्राप्त होते हैं।[1] बृहद् गौतमी तंत्र, राधा तंत्र, रहस्य पुराण आदि पुराण ग्रन्थों में रास को अनुष्ठान का रूप दिया गया। उसका संकल्प, ध्यान, अंगन्यास आदि की विधि निश्चित की गयी[2]। कहने का तात्पर्य यह कि किसी विदेशी

युगहेतुकविपरीतकालेनजातानराजसतामसबुद्धीनां सात्विकबुद्धिजननं चतुर्थं प्रयोजनम्। ४।

स्वतः शुद्धैरपि व्रजवासिभिरेव स्वभरणं त्रैलोक्य पवित्रं चैतद्द्वारेण सम्पादनीयमिति पंचमं प्रयोजनम्। ५।

[राधाकृष्णाकृत रास सर्वस्व पृ० ३०]

१ शाण्डिल्योक्त रास सूत्राणि

(१) अथातोरसो ब्रह्म (२) सैवानन्दस्वरूपो कृष्णः (३) तस्यानुकरणान्तरा भक्तिः (४) सा नवधा (५) तेषामन्योन्याश्रयत्वम् (६) तस्मात् रासोत्पद्यते (७) सोऽपि क्रियाभेदेन द्विधा (८) गोलोक स्थानामेव (९) ललितादेव्यो पोष्यनीयत्वेनलभ्यते (१०) प्रेमदेवता च (११) महत्संगात् भविष्यति (१२) परंपरैवग्राह्यम् (१३) निष्कामेन कर्तव्यम् (१४) प्रयासं विनैव फलसिद्धिः (१५) नियमेन कर्तव्यम्।—रास सर्वस्व पृ० ३३

२ अथ श्री रास क्रीडामंत्रस्य मुग्धनारद ऋषिर्गायत्री छन्दः ओं क्लीं साक्षान्मन्मथबीजं प्रेमाभ्युद्भवस्वाहाशक्तिः श्री राधाकृष्णौ देवौ रास क्रीडायां परस्परानन्दप्राप्त्यर्थेजपे विनियोगः।

ओं क्लीं अँगुष्ठाभ्यान्नमः। ओं रासतर्जनीभ्यां नमः। ओं रसमध्यमाभ्यां नमः। ओं विलासिन्यौ अनामिकाभ्यां नमः। ओं श्री राधाकृष्णौकनिष्ठिकाभ्यां नमः। ओं स्वाहा करतल कर पृष्ठाभ्यां नमः॥ इति करन्यासः

ओं क्लीं हृदयाय नमः। ओं रास शिरसे स्वाहा। ओं रसशिखायै वौषट्। ओं विलासिन्यौ नेत्रत्रयाय वौषट्। ओं श्री राधाकृष्णौ कवचाय हुँ। ओं स्वाहा अस्त्राय फट्॥

इति हृद्यादिन्यासः

आभीर जाति के रसमय नृत्य रास ने कहीं साहित्यिक स्वरूप प्राप्त किया और कहीं धार्मिक रूप। अतः अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि—

वन्दौं ब्रज की गोपिका निवसत सदा निकुंज
प्रकट कियौ संसार में जिन यह रस को पुंज॥

रुद्र काशिकेय
प्रधान संपादक
बिड़ला ग्रंथमाला
ना० प्र० सभा

प्रस्तावना

सा वर्धतां महते सौभगाय, (ऋग्वेद)

हिंदी भाषा का सौभाग्य दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। प्रत्येक नए अनुसंधान से यह तथ्य प्रत्यक्ष होता जाता है। हिंदी के प्राचीन वाङ्मय के नए नए क्षेत्र दृष्टिपथ में आ रहे हैं। वस्तुतः भारत की प्राचीन संस्कृति की धारा का महनीय जलप्रवाह हिंदी के पूर्व और अभिनव साहित्य को प्राप्त हुआ है। हिंदी की महती शक्ति सबके अभ्युदय और कल्याण की भावना से उत्थित हुई है। उसकी किसी के साथ कुंठा नहीं है। सबके प्रति संप्रीति और समन्वय की उमंग ही हिंदी की प्रेरणा है। उसका जो सौभाग्य बढ़ रहा है वह राष्ट्र की अर्थशक्ति और वाक्शक्ति का ही संवर्धन है। इस यज्ञ का सुकृत फल समष्टि का कल्याण और आनंद है।

हिंदी के वर्धमान सौभाग्य का एक श्लाघनीय उदाहरण प्रस्तुत ग्रंथ है। 'रास और रासान्वयीकाव्य' शीर्षक से श्री दशरथ जी ओझा ने जो अद्भुत् सामग्री प्रस्तुत की है, वह भाषा, भाव, धर्म, दर्शन और काव्यरूप की दृष्टि से प्राचीन हिंदी का उसी प्रकार अभिन्न अंग है जिस प्रकार अपभ्रंश और अवहट्ट का महान् साहित्य हिंदी की परिधि का अंतर्वर्ती है। यह उस युग की देन है जब भाषाओं में क्षेत्रसीमाओं का संकुचित बँटवारा नहीं हुआ था, जब सांस्कृतिक और धार्मिक मेघजल सब क्षेत्रों में निर्बाध विचरते थे और अपने शीतल प्रवर्षण से लोकमानस को तृप्त करते थे, एवं जब जन-जन में पार्थक्य की अपेक्षा पारस्परिक ऐक्य का विलास था। प्राचीन हिंदी, प्राचीन राजस्थानी, या प्राचीन गुजराती इन तीनों के भाषाभेद, भावभेद, रसभेद एक दूसरे में अंतर्लीन थे। इस सामग्री का अनुशीलन और उद्घाटन उसी भाव से होना उचित है।

श्री दशरथ जी ओझा शोधमार्ग के निष्णात यात्री हैं। अपने विख्यात ग्रंथ 'हिंदी नाटक–उद्भव और विकास' में उन्होंने मौलिक सामग्री का संकलन करके यह सिद्ध किया है कि हिंदी नाटकों की प्राचीन परंपरा तेरहवीं शती तक जाती है जिसके प्रकट प्रमाण इस समय भी उपलब्ध हैं और वे

मिथिला, 'नेपाल, असम आदि के प्राचीन साहित्य से संगृहीत किए जा सकते हैं। उस ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने लिखा था कि लगभग चार सौ रासग्रंथों की सूची उन्होंने एकत्र की थी। ओझा जी के पास रासों की यह संख्या अब लगभग एक सहस्र तक पहुँच चुकी है। उसमें एक वंशीविलास रास है जिसकी रचना दक्षिण भारत में तंजोर नरेश ने ब्रजभाषा में की थी और जो अब तेलुगु लिपि में प्राप्त हुआ है। गुरुगोविंद सिंह का लिखा हुआ रासग्रंथ भी उन्हें मिला है। इस सब सामग्री की सारसँभाल और उपयुक्त प्रकाशन की आवश्यकता है जिससे हिंदी-जगत् इस प्राचीन काव्यधारा का समुचित परिचय पा सके। रासान्वयी काव्य ग्रंथ इसी प्रकार का श्लाघनीय प्रयत्न है। इसके प्रथम खंड में चुने हुए बीस जैन रास, दूसरे खंड में आठ प्राचीन ऐतिहासिक रास और तीसरे खंड में राम और कृष्णलीलाओं से संबंधित कुछ रास नमूने के रूप में सामने लाए गए हैं। रास साहित्य के मुख्यतः ये ही तीन प्रकार थे। इस विशिष्ट साहित्य का ऐसा सुसमीक्षित संस्करण पहली ही बार यहाँ देखने को मिल रहा है। परिशिष्ट में प्रथम खंड के कुछ क्लिष्ट रासों का भाषानुवाद भी दिया गया है। इन्हीं में अब्दुल-रहमान कृत संदेशरासक भी संमिलित है। उसकी परंपरा जैनधर्म भावना से स्वतंत्र थी और उसका जन्म शुद्ध प्रेमकाव्य की परंपरा में सुदूर मुलतान नगर में हुआ है।

हमें यह जानकर और भी प्रसन्नता है कि असम और नेपाल में १५ वीं–१६ वीं शती के जो पचास वैष्णव नाटक प्राप्त हुए हैं उन्हें भी श्री दशरथ जी ओझा कई भागों में प्रकाशित कर रहे हैं। इस प्रकार उनके शोधकार्य की लोकोपयोगी साधना उत्तरोत्तर बढ़ रही है जिसका हार्दिक स्वागत करते हुए हमें अत्यंत हर्ष है।

भरत के नाट्यशास्त्र में 'धर्मी' यह महत्वपूर्ण शब्द आया है, और उसके दो भेद माने गए हैं—लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी—

लोकधर्मी नाट्यधर्मी धर्मीति द्विविधः स्मृतः (६/२४)

धर्मी का तात्पर्य उस अभिनय से है जो 'धर्म' अर्थात् लोकगत समयाचार का अनुकरण करके किया जाय। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है—"अभिनयाश्च लौकिकंधर्मं तन्मूलमेव तदुपजीविनं सामयिकं वानुवर्तते", अर्थात् अभिनय का मूल लोक से गृहीत होता है, लोक में वह परंपरा-प्राप्त होता है या उसी समय प्रचलित होता है,

उन दोनों से ही अभिनय की सामग्री लेकर जनरंजन के रूपों का निर्माण किया जाता है। भरत ने स्वयं इन दो धर्मियों की परिभाषा को और स्पष्ट किया है—

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमाः।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ७०
स्वभावभावोपगतं शुद्धं तु विकृतं तथा।
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम् ॥७१
स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥७२

(नाट्यशास्त्र, अ० ६)

अर्थात् लोकधर्मी अभिनय वे हैं जिनका आधार लोकवार्ता अर्थात् लोक में प्रसिद्ध क्रिया या वृत्तान्त होता है, जिसमें स्थायी - व्यभिचारी आदि भाव ठेठ मानवी स्वभाव से लिए जाते हैं (कविकृत अति-रंजनाओं से नहीं) और अनेक स्त्री-पुरुष मिलकर जिसमें बिल्कुल स्वाभाविक रीति से अभिनय करते हैं; अर्थात् उठना, गिरना, लड़ना, चिल्लाना, मारना आदि की क्रियाओं को असली जीवन की अनुकृति के अनुसार करते हैं, अभिनय की बारीकियों के अनुसार नहीं।

यहाँ भरत का आग्रह लोकवार्ता और लोकाभिनय के उन रूपों पर है जिन्हें कविकृत सुसंस्कृत नाट्य रूप प्राप्त न हुआ हो। यदि कोई अभिनय पिछला रूप ग्रहण कर ले तो उसका वह उच्च धरातल नाट्य धर्मी कहा जाता था। इस विवरण की पृष्ठ भूमि में अपने यहाँ के रूपक और उप रूपकों के नाना भेदों को समझा जा सकता है। लोकधर्मी अभिनयों का नाट्यधर्मी में परिवर्तन चाहे जब संभव हो सकता था। इस दृष्टिकोण से जब आचार्यों को अभिनयात्मक मनोरंजन के प्रकारों का वर्गीकरण करना पड़ा तो उन्होंने कुछ को रूपक और शेष को उपरूपक कहा। रूपक वे थे जिनका नाट्यात्मक स्वरूप सुस्पष्ट निर्धारित हो चुका था, जिनमें वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्विक अभिनय की बारीकियाँ विकसित हो गई थीं, और न्यायतः जिन्हें उच्च सांस्कृतिक या नागरिक धरातल पर काव्य और अभिनय के लिये स्वीकार किया जा सकता था। आचार्यों ने नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी, अंक को रूपक मान लिया।

और जो अनेक प्रकार उनके सामने आए उन्हें उपरूपकों की सूची में रक्खा; जैसे तोटक, नाटिका, सट्टक, शिल्पक, कर्ण, दुर्मल्लिका, प्रस्थान, भाणिका, भाणी, गोष्ठी, हल्लीसक, काव्य, श्रीगदित, नाट्य रासक, रासक, उल्लोप्यक, प्रेक्षण। स्वभावतः इनकी संख्या के विषय में कई आचार्यों में मतभेद होता रहा, क्योंकि व्यक्ति - भेद, देश - भेद, और काल-भेद से लोकानुरञ्जन के विविध प्रकारों का संग्रह घट-बढ़ सकता था। अग्निपुराण में १७ नाम, भावप्रकाशन में बीस, नाट्यदर्पण में १४, साहित्य - दर्पण में १८ नाम हैं। सबकी छान - बीन से २५ उप रूपक नामों की गिनती की जा सकती है। यहाँ मुख्य ज्ञातव्य बात यह है कि इनके नृत्य प्रकार और गेयप्रकार भेदों का जन्म-स्थान विस्तृत लोक - जीवन था। वस्तुतः भरत ने जो नाटक की उत्पत्ति इन्द्रध्वज महोत्सव से मानी है उसका रहस्य भी यही है कि इन्द्रध्वज नामक जो सार्वजनिक 'मह' या उत्सव किया जाता था और जिसकी परंपरा आर्य इतिहास के उषःकाल तक थी, उसी के साथ होने वाला लोकानुरंजन का मुख्य प्रकार नाटक कहलाया। अभिनय, गान और वाद्य का संयोग उसकी स्वाभाविक विशेषता रही होगी। ऊपर दिए गए उपरूपकों की सूची से यह भी ज्ञात होता है कि रासक का जन्म भी लोकधर्मी तत्त्वों से हुआ। उपरूपकों का पृथक् पृथक् इतिहास और विकासक्रम अभी अनुसंधान सापेक्ष है। भारत के प्रत्येक क्षेत्र में जो लोक के अभिनयात्म मनोरंजन प्रकार बच गए हैं उनका वैज्ञानिक संग्रह और अध्ययन जब किया जा सकेगा तब संभव है उपरूपकों और रूपकों की भी प्राचीन परंपरा पर प्रकाश पड़ सके।

श्री ओझा जी का यह लिखना यथार्थ ज्ञात होता है कि रास, रासक, रासा, रासो सब की मूल उत्पत्ति समान थी। इन शब्दों के अर्थों में भेद मानना उपलब्ध प्रमाणों से संगत नहीं बैठता। रास की परंपरा कितनी पुरानी है यह विषय भी ध्यान देने योग्य है। बाण ने हर्षचरित में 'रासक पदों' का उल्लेख किया है (अश्लील रासक पदानि गायन्त्यः, हर्ष चरित, निर्णय सागर, पंचम संस्करण, पृ० १३२)। जब हर्ष का जन्म हुआ तब पुत्र जन्म महोत्सव में स्त्रियाँ रासकपदों का गान करने लगीं। बाण ने विशेष रूप से कहा है कि ये रासक पद अश्लील थे और इसलिए विट उन्हें सुनकर ऐसे हुलस रहे थे मानों कानों में अमृत चुआया जा रहा हो। इससे अनुमान होता है कि ऐसे रासक पद भी होते थे जो अश्लील नहीं थे। ये रासक पद

गेय ही थे। इसके अतिरिक्त बाण ने रासक के उस असली रूप का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार रासक एक प्रकार का मंडली नृत्य था—

सावर्त इव रासक मण्डलैः (हर्ष० पृ० १३०)

अर्थात् हर्ष-जन्मोत्सव पर रासक नृत्य की मंडलियाँ घूमघूम कर नृत्य कर रही थीं और उनके घूमघुमेरों के फैलने से जान पड़ता था कि उत्सव ने आवर्तसमूह का रूप धारण कर लिया हो।

इससे भी अधिक सूचना देते हुए बाण ने लिखा है—

रैणावावर्तमण्डली रेचकरासरस-रभसारब्धनर्तनारम्भारभटीनटाः।
(हर्ष० पृ० ४८)

यहाँ रास, मंडली और रेचक इन तीन प्रकार के मिलते जुलते नृत्यों का उल्लेख है। शंकर के अनुसार हल्लीसक ही मंडली नृत्य था जिसमें एक पुरुष को बीच में करके स्त्रियाँ मंडलाकार नृत्य करती थीं जैसा कृष्ण और गोपियों का नृत्य था—

मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥*

भोज के अनुसार हल्लीसक नृत्य ही तालयुक्त बंध विशेष के रूप में रास कहलाता था—

तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्धविशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते।

टीकाकार शंकर ने रास का लक्षण इस प्रकार किया है—

अष्टौ षोडशद्वात्रिंशद्यत्र नृत्यन्ति नायकाः।
पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृतं रासकं स्मृतम्॥

अर्थात् ८, १६ या ३२ पुरुष जहाँ पिंडी बंध बनाकर नाचें वही रास कहा जाता है। पिंडीबंध का तात्पर्य उस मंडलाकार शृंखला से हो जो नृत्य करने वाले हाथ बाँध कर, या हाथ में हाथ मारकर ताल द्वारा, या डंडे बजाते हुए रच लेते हैं। वस्तुतः वही रास का प्राण है।

---

* भोजकृत सरस्वती कंठाभरण में इसका यह रूप है—

मण्डलेन तु यत्स्त्रीणां नृत्तंहल्लीसकं तु तत्। तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणां हरिर्यथा (२।१५६)

शंकर ने रेचक की व्याख्या करते हुए कटीरेचक, हस्तरेचक और ग्रीवारेचक का उल्लेख किया है, अर्थात् हाथ, गर्दन और कमर का अभिनयात्मक झटकाना। बाण के वाक्य में जो तीन पद आए हैं उन्हें यदि एक अर्थ में अन्वित माना जाय तो चित्र और सटीक बैठता है, अर्थात् वह नृत्य रास था जिसमें नाचने वाले घेर-घिरारेदार चक्कर (आवर्तमंडली) बनाते हुए और विविध अंगों को कई मुद्राओं में झटकाते हुए नाचते थे। बाण ने हर्ष-जन्मोत्सव के वर्णन में ही 'ताला व चर चारणाचरणक्षोभ' (पृ० १३१) नामक नृत्य का उल्लेख किया है, अर्थात् चारण लोग ताल के साथ पैर उठाते हुए नाच रहे थे। यह भोज के 'तालबंधविशेष' का ही रूप है। अतएव सप्तम शती में गेयात्मक एवं नृत्यात्मक मंडली नृत्यों का लोक में पूर्ण प्रचार था, ऐसा सिद्ध होता है। मध्यकालीन लेखकों ने तालक रास और दंडक रास (= डोक्या रास) इन दो भेदों का उल्लेख किया है। उनका विकास गुप्त युग में ही हो चुका था। इसका प्रमाण बाघ की गुफा में लकुटरास और तालक रास के दो अति सुंदर चित्र हैं जो सौभाग्य से सुरक्षित रह गए हैं। ये चित्र लगभग पाँचवीं शती के हैं। यह रास नृत्य उससे अधिक प्राचीन होना चाहिए। श्रीमद्भागवत में भी कृष्ण और गोपियों के रास का वर्णन आया है। वह भी गुप्त संस्कृति का ही महान् चित्र है। किंतु हमारा अनुमान है कि रास नृत्य का उत्तराधिकार और भी प्राचीन युगों की देन थी। यह नृत्य इतना स्वाभाविक है और इसका लोकधर्मी तत्व इतना प्रधान है कि लोक या जन-जीवन में इस प्रकार के नृत्य का अस्तित्व उन धुँधले युगों तक जा सकता है जिनका ऐतिहासिक प्रमाण अब दुष्प्राप्य है। जैसे सट्टक की गणना बाद की उपरूपक सूची में है पर द्वितीय शती विक्रम पूर्व के भरहुत स्तूप की वेदिका पर सट्टक नृत्य का अंकन पाया गया है। उस पर यह लेख भी है—साडकं सम्मदं तुरं देवानं (बरुआ, भरहुत, भाग १, फलक २; भाग ३, चित्र ३४)। साडक को स्टेनकोनो जैसे विद्वानों ने सट्टक ही माना है। इस दृश्य में कुछ गाने वाले हैं, और चार स्त्रियाँ नृत्य कर रही हैं, एवं एक तूर्य या वृन्दवाद्य है जिसमें वीणावादिनी स्त्री, पाणिवादक, माड्डुकिक और झार्झरिक अंकित किए गए हैं (देखिए पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १७१)। इसी प्रकार विविध उपरूपकों की लोकप्राचीनता बहुत संभाव्य है। यदि हम ऋग्वेद में आई हुई नृत्य संबंधी सामग्री पर ध्यान दें तो उसका एक उल्लेख ध्यान देने योग्य है—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत॥
(ऋ० १०।७२।६)

अर्थात् सृष्टि के आरंभ में एक महान् सलिलसमुद्र था। उसमें देवता एक दूसरे से हाथ मिलाकर (सुसंरब्धाः=शृंखला बाँधकर) ठहरे हुए थे। उनके नृत्य या तालबंध चरण क्षोभ से जो तीव्र धूल छा गई वही यह विश्व है। अदिति माता के सात पुत्र ही वे देव थे जो इस प्रकार का संमिलित नृत्य कर रहे थे। श्री कुमार स्वामी ने सुसंरब्धाः का यही अर्थ किया है और सूक्त में वर्णित विषय से वही सुसंगत है, अर्थात् ऐसा नृत्य जिसमें कई नर्तक परस्पर छंदोमय भाव से नृत्य करते हुए चरणों की ताल से रेणु का उत्थापन करें। यह वर्णन राससंज्ञक मंडली नृत्य या सावर्तचरणसंचालन की ओर ही संकेत करता जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में मंडलाकार रासनृत्य की लोकपरंपरा का दर्शन संस्कृति के आरंभिक युग में ही मिल जाता है।

कालांतर में रास-संबंधी जो सामग्री उपलब्ध होती है उसका विवेचन ग्रंथ की भूमिका में किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि बीसलदेव रास के अनुसार भीतरी मंडल छीदा और बाहरी सघन होता था। जयपुर महाराज के संग्रह में उपलब्ध प्रसिद्ध रासमंडल चित्र में चित्रकार ने इस स्थिति का स्पष्ट अंकन किया है। रास की परंपरा ने भारतीय संस्कृति और साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया था, यह प्रस्तुत ग्रंथ से स्पष्ट लक्षित है। यह साहित्यिक प्रयत्न सर्वथा अभिनंदनीय है।

वासुदेव शरण अग्रवाल

काशी विश्वविद्यालय २४.८।५९

विषय-सूची

रास और रासान्वयी काव्य

द्वितीय खंड

प्राचीन ऐतिहासिक रास

तृतीय खंड

रामकृष्ण रास

परिशिष्ट (अर्थ)

———

रास का काव्य-प्रकार

रास, रासो एवं रासक

कभी-कभी यह प्रश्न उठता रहता है कि रास, रासो एवं रासक में भेद है अथवा ये तीनों शब्द पर्याय हैं। नरोत्तम स्वामी की धारणा है कि वीररस प्रधान काव्य की रासो संज्ञा दी जाती थी और वीर-रसेतर काव्य रास कहलाते थे। नरोत्तम स्वामी की इस मान्यता को दृष्टि में रखकर रास, रासो एवं रासक नाम से प्रसिद्ध कृतियों के विश्लेषण द्वारा हम किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करेंगे। 'उपदेश रसायन रास' को कवि रास की कोटि में में रखता है और उसी रास की वृत्ति के आरंभ में वृत्तिकार जिनपालोपाध्याय (सं० १२९५ वि०) इसे रासक अंकित करते हैं—

"चर्चरी-रासकप्रख्ये प्रबन्धे प्राकृते किल।
वृत्तिप्रवृत्तिं नाधत्ते प्रायः कोऽपि विचक्षणः॥
प्राकृतभाषया धर्मरसायनाख्यो रासकश्चक्रे।"

इससे यह संकेत मिलता है कि एक ही रचना को रास अथवा रासक कहने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है।

'भरतेश्वर बाहुबलि' (रचनाकाल सं० १२४१) को शालिभद्र सूरि ने "रासहं" और कहीं 'रासउ' कहकर संबोधित किया है। रास, रासह, रासउ, रासक के अतिरिक्त रासु नाम भी पाया जाता है। सं० १२५७ में आसिगु ने 'जीवदया रास' में रासु शब्द का प्रयोग किया है—

'उरि सरसति असिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया सारू।'

तेरहवीं शताब्दी के अंत में 'रेवंतगिरि रास' में 'रासु' शब्द का प्रयोग मिलता है।

"भणिसु रासु रेवंतगिरे, अंबिके देवी सुमरेवि।"

इसी शताब्दी (१३ वीं शताब्दी) में 'नेमिरास' और 'आबू रास' को रासो की संज्ञा दी गई है। यद्यपि इन दोनों में किसी में वीररस नहीं है—

'नंदीवर धनु जासु निवासो। पमणउ नेमि जिणंदह रासो।'

चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में 'रासलउ' का प्रयोग अभयतिलक ने अपने 'महावीर रास' में इस प्रकार किया है—

पभणिसु वीरह रासलउ अनुसभलउ भविय मिलेवि ।
इय नियमखि उल्लासि 'रासलहुउ' भवियण दियहु ॥

'सप्त क्षेत्रिरास' में रासु शब्द का प्रयोग मिलता है—

'तहि पुरुहुँउ रासु सिव सुख निहाणु ।'

इसी प्रकार कछूलि[१]रास, चंदनबाला[२]रास, समरा[३]रास, जिनदत्त[४] सूरि पट्टाभिषेक रास में रासु या रासो का प्रयोग मिलता है ।

इसी प्रकार बीसलदेव रासो की पुष्पिका[५] में रास शब्द और मध्य[६] में रास, रास रसायण शब्द व्यवहृत हैं—

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि रास, रासक और रासो एकार्थवाची हैं । इनमें कोई भेद नहीं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि रास से रासक शब्द बना और वही रासक> रासअ>रासउ से रासो बन गया ।

अतः रास, रासो और रासक को एक मान कर रास-साहित्य का विवेचन करना अनुचित न होगा । रासक शब्द नाट्यशास्त्रों में नृत्य और नाट्य दो रूपों में व्यवहृत हुआ है । अग्नि पुराण के अध्याय ३२८ में नाटक के २७ भेदों में रासक नाम का उल्लेख मिलता है, किंतु उक्त स्थल पर न तो उस का कोई लक्षण दिया गया है और न उपरूपक की उसे संज्ञा दी गई है ।

१—सिरिभद्देसर सूरि हि वंसो, बीजी साह हवंनिसु रासो ।
२—एहु रासु पुण वृद्धिहि जंति भावहिं भरतिहिं जिण पर दिति ।
३—तसु सीसिहि अम्बदेव सूरि हिरंचियउ समरारासो ।
४—अमिया सरिसु जिनपदमसूरि पटठवणह रासु ।
५—इति श्री बोसलदेव चहूआणा रास सम्पूर्णः ।
६. गायो हो रास सुणै सब कोई ।
साँभल्याँ रास गंगा-फल होई ॥
कर जोड़े 'नरपति' कहइ ।
रास रसायण सुणै सब कोई ॥ १० ॥
बीसल देव रासो नागरी प्रचारिणी सभा, काशी । सं० २००८ वि० ।

अग्नि पुराण से पूर्व नाट्यशास्त्र[१] में लास्य के दस अंगों का वर्णन मिलता है, किंतु उनमें रासक का कहीं उल्लेख नहीं। इस से अनुमान होता है कि अग्नि पुराण से पूर्व रासक शब्द की उत्पत्ति नाटक के अंग के रूप में नहीं हो पाई थी।

दशरूपक की अवलोकटीका में नृत्य भेद का उद्धरण मिलता है उसमें रासक को 'भाणवत्' उपाधि इस प्रकार दी गई है—

डोम्बीश्रीगदितं भाणो
भाणी प्रस्थान रासकाः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य
भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत्॥

यद्यपि दशरूपक में नृत्य के इन सातो भेदों का नामोल्लेख है किंतु इन्हें कहीं भी उपरूपक की संज्ञा नहीं दी गई। इसी प्रकार अभिनव-भारती में रासक का उल्लेख है किंतु उसे उपरूपक नहीं माना गया है।

हेमचंद्र के 'काव्यानुशासन' में गेय काव्यों के अंतर्गत रासक का नाम मिलता है। तात्पर्य यह है कि हेमचंद्र तक आते-आते नृत्य के एक भेद रासक ने गेयकाव्य की स्थिति प्राप्त कर ली। शारदातनय ने 'भाव प्रकाश' में बीस नृत्य भेदों को रूपक के अवांतर भेद के अंतर्गत माना है। वे कहते हैं—

दशरूपेण भिन्नानां रूपकाणामतिक्रमात्।
अवान्तरभिदाः कश्चित्पदार्थाभिनयात्मिकाः॥
ते नृत्यभेदाः प्रायेण संख्यया विंशतिर्मताः।

इस प्रकार शारदातनय ने २० नृत्य भेदों का उल्लेख कर के उन्हें रूपक के अवांतर भेद में संमिलित तो कर दिया है किंतु उनमें नाट्यरासक को उपरूपक नाम से अभिहित किया और रासक को नृत्य नाम से। आगे चल कर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रासक को स्पष्टतया उपरूपकों की कोटि में परिगणित किया।

---

१. गेयपदं स्थित पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
प्रच्छेदकत्रिमूढाख्यं सैन्धवं च द्विमूढकम्॥ १८३॥
उत्तमोत्तमकं चैव उक्त प्रत्युक्तमेव च।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देश लक्षणम्॥ १८४॥
नाट्य शास्त्रम १८ अध्यायः

संस्कृत-लक्षण-ग्रंथों के अतिरिक्त विरहांक कृत 'वृत्त जाति समुच्चय' एवं स्वयंभू कृत 'स्वयंभूच्छंदस्' (९वीं शताब्दी) में रासक को एक छंद विशेष एवं एक काव्य प्रकार के रूप में हम देखते हैं—

अडिलाहि दुवहएहिंव मत्ता-रड्ढाहिं तह अढोसाहिं ।
बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम ॥

जिस रचना में घना अडिल्ला, दूहा, मात्रा, रड्डा और ढोसा आदि छंद आयें वह रासक कहलाती है। [वृत्त जाति समुचय ४-३८]

स्वयंभू के अनुसार जिस काव्य में घत्ता, छड्डणिया, पद्धडिआ तथा अन्य सुंदर छंद-वद्ध रचना हो, जो जन-साधारण को मनोहर प्रतीत हो वह रासक कहलाती है।

(स्वयंभू छंदस् ८।४२······)

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर अपभ्रंश-काल अथवा पुरानी-हिंदी-युग में रास नामक नृत्य से विकसित हो कर रासक उपरूपक की कोटि में विराजमान हो गए थे। जब हम 'संदेश रासक' का अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भी रास या रासक दो रूपों में प्रचलित थे। एक स्थान पर तो वह नृत्य के रूप में वर्णित है किंतु दूसरे स्थान पर वह हेमचंद्र के गेय रूपक की परिधि में आसीन है। हेमचद्र ने रामाक्रीड आदि गेय उपरूपकों के अभिनय के लिए 'भाष्यते' शब्द का प्रयोग किया है, जो इस प्रकार मिलता है—

ऋतु-वर्णन संयुक्तं रामाक्रीडं तु भाष्यते[१]।

ठीक इसी प्रकार का वर्णन संदेश-रासक[२] में मिलता है—

कह व ठाइ चउवेइहिं वेउ पयासियइ,
कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ ॥

अर्थात्—

कुत्रापि चतुर्वेदिभिः वेदः प्रकाश्यते।
कुत्रापि बहुरूपिभिर्निबद्धो रासको भाष्यते ॥

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर प्राचीन हिंदी में विरचित रासों को उपरूपक की संज्ञा देना समीचीन प्रतीत होता है।

१—काव्यानुशासनम्—अ० ८ सू० ४, ६५ पृ० ४४६।
२—संदेश रासक—द्वितीय प्रक्रम—पद्य ४३।

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि रास को गेयरूपक मानना भ्रांति है। रास केवल श्रव्य काव्य थे, उनका अभिनय सम्भव नहीं था।

डा० भोलाशंकर व्यास[1] 'हिंदीसाहित्य का बृहत् इतिहास' में लिखते हैं—रासक का गीति नाट्यों से संबंध जोड़ने से कुछ भ्रांति भी फैल गई है। कुछ विद्वान् 'संदेश रासक' को हिंदी का प्राचीनतम नाटक मान बैठे हैं। ऐसा मत—प्रकाशन वैचारिक अपरिपक्वता का द्योतक है। वस्तुतः भाँडों के द्वारा नौटंकियों में गाए जाने वाले गीतों के लिए रासक शब्द प्रयुक्त हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे बनारस की कजली को हम नाटक का रूप मान सकें तो रासक भी नाटक कहा जा सकता है।'

डा० व्यास के मतानुसार 'रास को नाटक की कोटि में परिगणित करके हिंदी नाटकों पर उनका प्रभाव दिखाना निराधार एवं कोरी कल्पना है।' इस प्रसंग में हम उन प्रमाणों को उद्धृत करेंगे जिनके आधार पर रास को गेयरूपक की कोटि में रखने का साहस काव्यशास्त्रियों को हुआ होगा। पूर्व अध्यायों में रासक का लक्षण देते हुए विविध काव्यशास्त्रियों का मत उद्धृत किया जा चुका है। हेमचंद्र के उपरांत रासक को उपरूपक की संज्ञा मिलने लगी। इसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा—

'उपदेश रसायन रास' के अनुसार रास काव्य गेय थे—

१—अयं सर्वेषु रागेषु गीयते गीत कोविदैः।

'रेवंतगिरि रास' में रास की अभिनेयता का प्रमाण देखिए—

२—रंगहिए रमए जो रासु, सिरि विजय सेणिसुरि निम्मविडए।
(सं० १२८ वि०)

'उपदेश रसायन रास' से पूर्व दाँडारास के प्रचलन का प्रमाण कर्पूर-मंजरी के निम्नलिखित उद्धरण के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है—

[ततः प्रविशति चर्चरी]

विदूषकः—

मोत्ताहलिल्लाहरणुब्भआओ लास्सावसाणे चलिअंसुआओ।
सिंचंति अण्णोण्णमिमीअ पेक्ख जंताजलेहिं मणिभाजणेहिं॥

१—डा० भोलाशंकर व्यास—हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास पृ० ४१४

इदो अ (इतश्च)

परिब्भमन्तीअ विचित्तबन्धं इमाइ दोसोलह णच्चणीओ।
खेलन्ति तालाणुगदपदाओ तुहांगणे दीसइ दण्डरासो॥

[हिंदी रूपांतर]

"चर्चरी का नृत्य दिखानेवाली नर्तकियाँ रंगमंच पर आती हैं। मुक्तालंकार धारण किए हुए वे नर्तकियाँ, जिनके वस्त्र हवा में उड़ रहे थे, नृत्य समाप्ति पर यंत्र से निकले जल से युक्त माणिक्य पात्रों से एक दूसरे को भिगो रही हैं।[1]

इधर तोः—

ये बत्तीस नर्तकियाँ विचित्र बंध बनाकर घूम रही हैं, इनके पैर ताल के अनुसार पड़ रहे हैं। इसलिए तुम्हारे आँगन में दंडरास सा दिखलाई पड़ रहा है।

इसके उपरांत दंडरास और चर्चरी का विशद वर्णन इस प्रकार मिलता है—

कुछ नर्तकियाँ कंधे और सिर बराबर किए हुए तथा भुजाएँ और हाथों को भी एक सी स्थिति में रखे हुए और ज़रा भूल न करते हुए दो पंक्तियों में लय और ताल के मेल के साथ चलती हैं और एक दूसरे के सामने आती हैं।

कुछ नर्त्तकियाँ रत्न जड़े हुए कवच उतार कर यंत्रों से पानी की धारें छोड़ती हैं। पानी की वे धारें उनके प्रेमियों के शरीर पर कामदेव के वारुणास्त्र के समान पड़ती हैं।

स्याही और काजल की तरह कृष्ण शरीरवाली, धनुष की तरह तिरछी नज़रेंवाली और मोर के पंखों के आभूषणों से युक्त ये विलासिनी स्त्रियाँ शिकारी के रूप वे लोगों को हँसाती हैं।

कुछ स्त्रियाँ हाथ में नरमांस को ही उपहार रूप से धारण किए हुए और 'हुंकार रूप से सियारों का सा शब्द करती हुई तथा रौद्ररूप बनाकर राक्षसियों के चेहरे लगाकर श्मशान का अभिनय करती हैं।

१—कर्पूर मंजरी सट्टक—राजशेखर—चतुर्थ जवनिकान्तरम् १२-१५

कोई हरिणी जैसे नेत्रोंवाली नर्तकी मर्दल बाजे के मधुर शब्द से द्वार-विष्कंभ को जोर जोर से बजाती हुई अपनी चञ्चल भौंहों से चेटीकर्म करने में लगी हुई है।

कुछ स्त्रियाँ क्षुद्र घंटिकाओं से रणज्झण शब्द करती हुई, अपने कंठों के गीत के लय से ताल को जमाती हुई परिव्राजिकाओं के वलय रूप से नाचती हुई ताल से अपने नूपुरों को बजाती हैं।

कुछ स्त्रियाँ कुतूहलवश चंचल वेश बनाकर, वीणा बजाती हुई और मलिन वेश से लोगों को हँसाती हुई पीछे हटती हैं, प्रणाम करती हैं और हँसती हैं।"

चर्चरी नर्त्तन करनेवाली नर्त्तकियाँ दांडारास के सदृश एक नर्त्तन दिखाती हैं। इस उद्धरण से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि दांडारास उस काल में अत्यधिक प्रचलित था। और उससे साम्य रखनेवाले नृत्य चर्चरी के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे। दांडारास एक प्रकार का नृत्य था जिसके माध्यम से किसी कथानक के विविध भावों की, अभिनय के द्वारा, अभिव्यक्ति की जाती।

ऐसा प्रतीत होता है कि दांडा रास के अभिनय के लिए लघु गीतों की सृष्टि होती थी। आज भी लघुगीतों की रचना सौराष्ट्र में होने लगी है और उन गीतों के भावों के आधार पर नर्त्तक नृत्य दिखाते हैं।

राजशेखर का समय ९वीं शताब्दी का अंत माना जाता है। इस कारण यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दांडा रास जिसका उल्लेख अनेक बार परवर्ती साहित्य में विद्यमान है, नवीं शताब्दी में भली प्रकार प्रचलित हो चुका था।

'रिपुदारण रास' की कथावस्तु से यह निष्कर्ष निकलता है कि हर्षवर्धन (६०६–६४८ ई०) के युग में कृष्ण रास की शैली पर बौद्ध महात्माओं के जीवन को केंद्र बनाकर रास नृत्यों की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी। नवीं शताब्दी में चर्चरी एवं रास द्वारा आमुष्मिकता का मोह त्याग कर लौकिक सुख संबंधी भावों का अभिनय दिखाया जाता था।

नाल्ह की रचना 'वीसलदेवरासो'[१] का एक उद्धरण ऐसा मिलता है

१—बीसलदेव रासो—संपादक सत्यजीवन वर्मा—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। पृ० ५

जिसके आधार पर रास के खेल में नृत्य, वाद्य एवं गीत के प्रयोग का प्रमाण पाया जाता है—

सरसति सामणी करउ हउ पसाउ ।
रास प्रगासउँ बीसल-दे-राउ ॥
खेलाँ पइसइ माँडली ।
आखर आखर आणाजे जोड़ि ॥

इसी रास में दूसरा उद्धरण विचरणीय है—

गावणहार माँडइ (अ) र गाई ।
रास कइ (सम) यइ बँसली वाई ॥
ताल कई समचइ घूँघरी ।
माँहिली माँहिली छीदा होइ ॥
बारली माँडली साँघणा ।
रास प्रगास ईणी विधि होइ ॥

उपर्युक्त उद्धरण के अनुसार रास के गायक अपना स्वर ठीक करके बाँसुरी बजा बजाकर ताल के साथ नर्त्तन करते हुए रास का अभिनय करते हैं। मध्य की रासमंडली कम सघन होती है और बाहर की मंडली सघन है। इस प्रकार रास का प्रकाश होता है।

चौदहवीं शताब्दी में रास के अभिनय का प्रमाण 'सप्तक्षेत्रि[1] रासु' के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

बइसइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता ।
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि मनि हरष धरंता ।
तीछे तालारास पडइ बहु भाट पढंता ।
अनइ लकुटरास जोईई खेला नाचंता ॥

इस उद्धरण में भी भाटों के द्वारा तालारास का पढ़ना वर्णित है। किंतु साथ साथ ही नाचते हुए लकुट रास का खेलना भी दिखाया गया है। यही पद्धति सभी लोक नाटकों की है। जिन्होंने कभी यक्ष-गान का अभिनय देखा होगा उन्हें ज्ञात होगा कि एक ही कथानक को गीत एवं नर्त्तन के द्वारा युगपत् किस प्रकार प्रकट किया जाता है।

१—सप्तक्षेत्रिरास—प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह-पृष्ठ ५२।

इसी उद्धरण में रासकर्त्ताओं के नृत्य का वर्णन कवि इस प्रकार रखता है—

सविहू सरीषा सिणगार सवि तेवड तेवडा।
नाचइ धामीय रंभरे तउ भावइ रूडा।
सुललित वाणी मधुरि सादि जिण गुण गायंता।
तालमानु छंदगीत मेलु वाजित्र वाजंता॥

इस खेल में आहार्य एवं आंगिक अभिनय के साथ नृत्य, वाद्य एवं गायन का भी समावेश है। जिनवर के गुण-गान के लिए सब प्रकार की तैयारी है। इस खेल को उपरूपक के अंतर्गत रखना किस प्रकार अन्याय माना जाय।

संवत् १३२७ वि० में विरचित 'सम्यकत्व[1] माई चउपई' में तालारास एवं लकुटा रास का वर्णन निम्नलिखित रूप में मिलता है—

तालारासु रमणी बहु देई, लउअरासु मूलहु वारेइ॥

इस उद्धरण से तालारास और लकुट रास का उल्लेख स्पष्ट हो जाता है। चक्राकार घूमते हुए तालियों के ताल पर संगीत के साथ-साथ पैरों की ठेक देकर तालारास का अभिनय होता है और डांडियों (लकुटी) के साथ मंडलाकार नृत्य को लकुटारास कहा जाता है।

'संघपति समरा रास' से भी ताल एवं नृत्य के साथ रास के अभिनय का वर्णन पाया जाता है। रास का केवल सृजन एवं पठन-पाठन ही पर्याप्त नहीं माना जाता था। रास को नृत्य के आधार पर प्रदर्शित करना भी अनिवार्य था। प्रमाण के लिए देखिए—

'एह रासु जो पढ़ई गुणई नाचिउ जिण हरि देई।'

'समरा रास' की रचना सं० १३७६ वि० में हुई। उसके अनुसार भी लकुट[2] रास के अभिनय की सूचना मिलती है—

जलवटनाटकु जोइ नवरंग ए रास लउडारस ए।

इस प्रसंग में देवालय के मध्य लकुट रास के अभिनय का उल्लेख मिलता है। संघसहित संघपति विराजमान हैं। सम्मुख जल राशि से उठती

१—सम्यकत्व माई चउपई॥ २१॥

२—समरारास-प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ३६।

हुई उत्ताल तरंगे आकाश को स्पर्श करती दिखाई पड़ती हैं। जलराशि के समीप लकुटरास का नाटक लोग देख रहे हैं।

नृत्यकाल में अभिनय करते घाघरी का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि घाघरी में घूँघरू लगे होते थे जिनसे झमकने की ध्वनि आती रहती[1]—

खेला नाचइ नवल परे घाघारिखु झमकइ।
अचरिउ देषिउ धामियह कइ चित्तु न चमकइ।

सं० १४१५ के आसपास ज्ञानकलश मुनि विरचित 'श्री जिनोदयसूरि पट्टाभिषेक रास' में इस प्रकार उद्धरण मिलता है—

नाचइ ए नयण विशाल, चंदवयणि मन रंग भरे;
नवरंगि ए रासु रमंति, खेला खेलिय सुपरिवरे।

इस उद्धरण में रास के खेला खेलिय का अभिनय के अतिरिक्त क्या अर्थ लगाया जा सकता है।

अगरचंद नाहटा ने अन्य कई रास ग्रंथों से रासक की अभिनेयता का प्रमाण दिया है। संक्षेप में कतिपय अन्य प्रमाण उपस्थित किए जा रहे हैं—

१—सं० १३६८ में बस्तिग रचित 'वीश विहरमान रास' में-

२—सं० १३७१ में अम्बदेव सूरि कृत 'समरा रासो' में—

३—सं० १३७१ में गुणाकर सूरि कृत 'श्रावक विधि रास' में।

४—सं० १३७७ में धर्मकलश विरचित 'जिनकुशल सूरि पट्टाभिषेक रास' में—

५—सं० १३६० में सारमूर्ति रचित 'जिन दत्त सूरि पट्टाभिषेक रास' में।

६—सं० १३६० में मंडलिक रचित 'पेथड रास' में।

इसी प्रकार अनेक प्रमाणों को उद्धृत किया जा सकता है जिनसे रासक के अभिनेय होने में संदेह नहीं रह जाता।

१४ वीं शताब्दी तक रासों की रचनापद्धति देखकर यह स्वीकार करना पड़ता है कि ये लघुकायरास ग्रंथ अभिनय के उद्देश्य से विरचित होते थे। इनकी भाषा अपभ्रंश प्राय रही है। अनुसंधान कर्त्ताओं को उपरोक्त रास ग्रंथों

१—समरारास प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह पृ० ३१।

के अतिरिक्त जिन प्रभसूरि के अपभ्रंश विरचित दो ग्रंथ पाटण में ताड़पत्रों पर उत्कीर्ण प्राप्त हुए हैं—(१) अंतरंग रास (२) नेमिरास। नाहटा जी का निश्चित मत है कि १४ वीं शताब्दी तक विरचित रास लघुकाय होने के कारण सर्वथा अभिनेय होते थे। वे कड़वकों में विभाजित होते और अडिल्ल, रासा, पद्धड़िआ आदि छंदों में विरचित होने के कारण गेय एवं अभिनेय प्रतीत होते हैं।

रास के गेय रूपकत्व में क्रमिक विकास हुआ है। इस विषय में पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर लेख प्रकाशित होते रहे हैं। यहाँ संक्षेप में प्रो० भ० र० मजमुदार[1] के मत का सारांश दे देना पर्याप्त होगा।—

"साहित्य-स्वरूप की दृष्टि से 'रासक' एक नृत्य काव्य या गेयरूपक है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के ग्रंथों में 'रासक' और 'नाट्य रासक' नाम से दो उपरूपकों की टिप्पणी प्राप्त होती है। कुछ लोग इस उपरूपक को 'नृत्यकाव्य' कहते हैं और हेमचंद्र इसे गेयरूपक मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि (१) इसमें संगीत की मात्रा अधिक होती है। (२) पूर्णकथावस्तु छंदों के माध्यम से वर्णित होती है। (३) सभी गेय पद पूर्ण अभिनेय होने चाहिए।"

प्रो० मजूमदार 'संदेश रासक' की अभिनेयता का परीक्षण करते हुए लिखते हैं—'सन्देश-रासक' के सभी छंद गेय हैं और इसकी समस्त कथावस्तु अभिनेय है। इसलिए यह गेयरूपक है और यह नाटक की भाँति प्रत्यक्ष दिखाने के लिये ही लिखा गया था ऐसा तो उसकी टीका से ही स्पष्ट दिखाई देता है। प्रथम गाथा के आरंभ में टीकाकार कहते हैं—

'ग्रन्थप्रारम्भे अभीष्ट देवता प्रणिधानप्रधाना प्रेक्षवतां।
प्रवृत्तिरित्यौचित्यात् सूत्रस्य प्रथम नमस्कार गाथा।'

इस उद्धरण में ग्रंथ लेखक के लिए प्रेक्षावत् शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि टीकाकार इसे रूपक का ही एक प्रकार मानते हैं। आगे चलकर बहुरूपियों के द्वारा इस काव्य का पढ़ा जाना यह सिद्ध करता है कि ये केवल श्रव्य काव्य नहीं अपितु बहुवेश धारण करनेवाली जाति के द्वारा यह गाया भी जाता था।

१—प्रो० मं० र० मजुमदार-गुजराती साहित्य नां रूपरेखा—पृ० ७२

'संदेशरासक' की अभिनय पद्धति—

प्रो० मजमुदार[१] का मत है कि "एक नट नायिका का और दूसरा नट प्रवासी का रूप धारण करता होगा, दोनों प्रेक्षकों के संमुख आकर परस्पर उत्तर प्रत्युत्तर एवं संवाद के द्वारा संगीत तथा अभिनय की सहायता से अपना अपना पाठ करते होंगे।"

इसी मत का समर्थन करनेवाली संमति प्रो० ढोलरराय[२] मांकड की भी है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "आ ज खरीरीते, गेयरूपक नुं खरुं लक्षण हतुं"।

डा० भोलाशंकर व्यास की शंका के समाधान के लिए यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रासक तथा काव्य-महाकाव्य में अंतर क्या है। इसका उत्तर देने के लिए अपभ्रंश काव्य परंपरा को सामने रखना होगा। संस्कृत महाकाव्यों को सर्गों में, प्राकृत को आश्वासों में, अपभ्रंश को संधियों में तथा ग्राम्य को स्कंधकों में विभाजित करने की पद्धति रही है। इस प्रकार अपभ्रंश के काव्य, महाकाव्य, गेयकाव्य प्राय: संधियों में विभाजित दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तक अपभ्रंश के सभी काव्य प्रकारों में समानता है, किंतु संधियों के अंतर्गत छंद-प्रकार के कारण काव्य एवं रागकाव्य (गेयकाव्य) के अंदर भेद दिखाई पड़ता है। रागकाव्यों (गेयकाव्य) में कड़वक अथवा गेय पद होते हैं, जो राग रागिनियों में सरलता से बाँधे जाते हैं, किंतु प्रबंधकाव्य अथवा महाकाव्य के लिए रागबद्ध छंद अनिवार्य नहीं।

रास का उद्भव ही काव्य एवं महाकाव्य से भिन्न प्रकार से हुआ। रास का अर्थ है गरजना, ध्वनि। संभवत: इस अर्थ को सामने रखकर प्रारंभ में रास छंद की योजना की गई होगी। किंतु साथ ही रास एक प्रकार के नृत्य के रूप में भी प्रचलित था। किसी समय नृत्य के अनुरूप रास छंद की योजना हुई होगी। सामूहिक नृत्य के अनुकूल रास छंद के मिल जाने पर तदनुरूप कथावस्तु की योजना की गई होगी। इस प्रकार तीनों के मिलन से भरतमुनि के इस लक्षण के अनुसार 'रासक' को उपरूपक माना गया होगा—

१—प्रो० मं० र० मजमुदार—गुजराती साहित्यनां रूपरेखा—पृ० ७२

२—प्रो० ढोलरराय मांकडनी नोंध, 'वाणी' चैत्र सं० २००४

मृदुललितपदाढ्यंगूढशब्दार्थहीनं,
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यं ।
बहुकृतरसमार्गं सन्धि-सन्धानयुक्तं,
भवति जगतियोग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।

रासक में रसका मिश्रण अनिवार्य है। इसे पूर्ण बनाने के लिए नृत्य, संगीत और सरस पदों की निर्मिति आवश्यक मानी जाती है। इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले के० के० शास्त्री, क०मा० मुंशी, एवं प्रो० विजयराव वैद्य प्रभृति विद्वान् है। रास को अन्य काव्य प्रकार से पृथक् करने वाला (व्यावर्त्तक धर्म) लक्षण है—नर्तकियों का प्राधान्य[१] ।

रास नृत्य के भेद के कारण इस गेय रूपक के दो प्रधान वर्ग हो जाते हैं—(१) तालारास (२) लकुटा रास ।

तालारास में मंडलाकार घूमते हुए तालियों से ताल देकर संगीत और पदचाप के साथ नर्त्तन किया जाता है।

लकुटा रास में दो छोटे-छोटे डंडों को हाथ में लेकर परस्पर एक दूसरे के डंडों पर ताल देते हैं। स्त्रियों के तालारास को 'हमचीं' कहते हैं और पुरुषों के तालारास को 'हींच' कहते हैं। जब दोनों साथ खेलते हैं तो उसे 'हींच हमचीं' कहते हैं। रास का मूल अर्थ है गर्जना। उसके बाद उसका अर्थ हुआ मात्रिक छंद में विरचित रचना। उसके बाद एक दो छंदों में विरचित रचना रास कहलाने लगी। तदुपरांत इसने स्वतंत्र गेय उपरूपक का अर्थ धारण किया। सामूहिक गेयरूपक होने पर रस अनिवार्य बन गया। इसीलिए रास काव्य रसायन कहे जाने लगे। रसपूर्ण होने के कारण ही यह रचना रास कहलाई ऐसा भी एक मत है।

———

१—'रास' ना लक्षणमाँ नर्त्तकीनुं प्राधान्य छे; पहले के ए एवो प्रबंध जोइए के जे जुदा जुदा राग माँ गवातो होय अने साथे नर्तकीओ अंदर नाचती जती होय।
—गुजराती साहित्य नां रूप रेखा
प्रो० मं० र० मजमुदार, पृ० ७४

रास की रचना पद्धति

जैन धर्म मनुष्य के आचरण-पालन पर बहुत बल देता है। जो व्यक्ति सद्धर्म-पालक हो और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से परहित-चिंतन में संलग्न हो, वह जैन समाज में पूज्य माना जाता है। ऐसे पूज्य मुनियों की उपदेश-प्रद जीवनी के आधार पर कवियों ने अनेक श्रव्य-काव्य एवं दृश्य-काव्यों की रचना की।

चरित-काव्यों के कई प्रकार दिखाई पड़ते हैं। जिस प्रकार विलास, रूपक, प्रकाश आदि नामों से चरित काव्यों की रचना हुई "उसी प्रकार रासो या रासक नाम देकर भी चरितकाव्य लिखे गए[1]।" रतन रासो, संगतसिंह रासो, राणा रासो, रायमल रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो के साथ रासो शब्द संयुक्त है। रतन विलास, अभै विलास, भीम विलास के साथ विलास और गजसिंहजी रूपक, राजा रूपक, रावरिणमल रूपक आदि के साथ रूपक शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं कि किसी का जीवन-चरित लिखते समय कवि की दृष्टि में उपर्युक्त प्रकारों में से कोई न कोई विशिष्ट काव्यरूप अवश्य केंद्रित रहता होगा।

इस संकलन के रास काव्यों की बंध शैली का परिचय जानने के लिए पूर्ववर्ती अपभ्रंश रचनाओं के काव्य-बंध पर प्रकाश डालना आवश्यक है। संस्कृत में उपलब्ध रास एवं अपभ्रंश के उत्तरवर्ती रास 'उपदेश रसायन', 'समरारास', कछूलीरास के मध्य की कई अपभ्रंश रचनाएँ चरिऊ नाम से प्रसिद्ध हैं। ये काव्य संधियों, सर्गों, उद्देसओं एवं परिच्छेदों में विभाजित हैं। विमलसूरि का 'पउम चरिउ' उद्देसओं में, पुष्पदंत का णायकुमार चरिउ संधियों में, हेमचंद्र विरचित कुमारपाल चरित सर्गों में, मुनिकनकामर विरचित करकंडचरिउ संधियों में विभक्त है। संधि, सर्ग, उद्देस, परिच्छेद आदि का पुनः विभाजन देखा जाता है। करकंड चरिउ में १० संधियाँ हैं उन संधियों का दूसरा नाम परिच्छेउ भी मिलता है। ये संधियाँ या परिच्छेद फिर कड़वकों में विभाजित हैं। प्रत्येक कड़वक के अंत में एक घत्ता मिलता है। प्रत्येक कड़वक में ८ से अधिक छंद मिलते हैं।

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दीसाहित्य का आदिकाल—पृ० ६१।

ठीक इसी प्रकार का विभाजन 'णायकुमार चरिउ' में मिलता है। यह चरिउ ६ संधियों अथवा परिच्छेद में विभक्त है और प्रत्येक संधि कड़वकों में। प्रत्येक कड़वक के अंत में एक एक घत्ता है। प्रत्येक कड़वक में ८ से २० तक छंद हैं।

कविराज स्वयंभू देव का पउमचरिउ अपभ्रंश का प्रसिद्ध महाकाव्य माना जाता है। यह महाकाव्य काण्डों में विभक्त है और कांड संधियों में। फिर कांड कड़वकों में विभक्त हैं। प्रत्येक कड़वक के अंत में एक घत्ता होता है, और, प्रति कड़वक में ८ से अधिक छंद होते हैं।

वाल्मीकि रामायण की पद्धति पर यह चरिउ भी विजाहर कांड, अयोध्या कांड एवं सुंदर कांड में विभक्त है। विज्जाहर कांड में २० संधियाँ हैं। अउज्झा कांड में ४२ संधियाँ है और सुंदर कांड में ५६ संधियाँ।

कुमारपाल चरिउ में ६ सर्ग हैं प्रत्येक सर्ग विभिन्न छंदों से आबद्ध है। छंद संख्या ८० से एक शतक तक दिखाई पड़ती हैं। काव्य के प्रारंभ में मंगलाचरण मिलता है।

चरिउ एवं रास काव्यों के काव्य बंध का तुलनात्मक अध्ययन करने पर कई असमानताएँ दृष्टि में आती हैं। चरिउ काव्य में चरित्र नायक के जीवन की विस्तृत घटनाओं का परिचय मिलता है किंतु प्रारंभिकरास ग्रंथों में जीवन को नया मोड़ देने वाली घटना की ही प्रधानता रहती है। अन्य घटनाएँ रासकारों की दृष्टि में उपेक्षणीय मानी जाती हैं। इस प्रकार कथावस्तु के चयन में ही स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है।

दूसरा अंतर है काव्य के विभाजन में। चरिउ काव्य जहाँ सर्गों, संधियों एवं कांडों में विभक्त हैं वहाँ प्रारंभिक रास काव्य 'भरतेश्वर बाहु' बलि को ठवणि में विभक्त किया गया है। और ठवणि को फिर वाणि, वस्तु; घात आदि में विभाजित कर लेते हैं।

अपभ्रंश के रास काव्यों 'उपदेश रसायन रास' एवं चर्चरी में कोई विभाजन नहीं। संपूर्ण रास ८० पज्झटिका छंदों में आबद्ध है। किंतु 'समरा रास', 'सिरिथूलि भद्द फागु' को भाषा (भास) में विभक्त किया गया है। समरारास में ११ भास हैं और 'सिरिथूलि भद्द फागु' में ६। सं० १२७० के आसपास विरचित 'नेमिनाथ रास' को ७ धूवउ में आबद्ध किया गया है। प्रारंभिक रास काव्यों के गेय बनाने के लिए इसी ढंग से विभाजित किया जाता था।

इस काल के प्रसिद्ध रास काव्य 'संदेशरासक' को तीन प्रक्रमों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक प्रक्रम को रड्डु, पद्धडी, डुमिला, रासा, अडिल्ल, युग्मम् आदि में आबद्ध किया गया है। शालिभद्र सूरि ने अपने 'पंचपंडव चरित रासु' को १४ ठवणियों में बाँटा है। ठवणी में वस्तु का विधान किया गया है। वस्तु के द्वारा कथा सूत्रों को एकत्रित किया जाता है।

पंद्रहवीं शताब्दी के हीरानंद सूरि विरचित 'कलिकाल रास' को ठवणी भास एवं वस्तु में विभाजित पाते हैं। ४८ श्लोकों[1] में आबद्ध यह लघु रास गेय छंदों के कारण सर्वथा अभिनेय हो जाते हैं।

'संघपति समरसिंह रास' में १२ भाषा हैं। प्रत्येक भाषा में ५ से १० तक छंद हैं। इस प्रकार यह लघुकाय रास सर्वथा अभिनेय प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक रास रचना में भी कवि दृष्टि प्रारंभ में सदा अभिनेयता की ओर रहती थी। मुनि जिन विजय ने जिन रासकाव्यों को "जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संग्रह" में संकलित किया है उनमें अधिकांश ढालों में आबद्ध हैं। प्रत्येक रास में विविधरागों का उल्लेख है। न्यूनाधिक १०० श्लोकों में प्रत्येक रास की परिसमाप्ति हो जाती है। प्रत्येक ऐतिहासिक पुरुष के जन्मस्थान, गुरुउपदेश, दीक्षा, दीक्षामहोत्सव, शास्त्राभ्यास, परिभ्रमण एवं सूरि पदप्राप्ति का पृथक्-पृथक् विधान मिलता है। जन्म से अग्निसंस्कार तक की संपूर्ण कथा को ढाल एवं रागबद्ध करके अभिनय के निमित्त लिखने की परंपरा शताब्दियों तक चलती रही।

कतिपय रास काव्यों में स्वांग परंपरा के नाटकों के समान अंत में कलश की भी व्यवस्था है। 'श्री विबुधविमलसूरिरास[2]', श्री वीरविजयनिर्वाणरास[3] के अंत में कलश की व्यवस्था मिलती है। कलश में २ से लेकर १६–२० तक श्लोक मिलते हैं।

जंबूस्वामी रास उन प्रारंभिक रास काव्यों में है जिन्हें ठवणी में विभक्त किया गया है। किंतु ठवणी के अंत में 'वस्तु' का प्रयोग नहीं किया गया है। 'कच्छूली रास' का काव्यबंध ऐसा है कि इसके प्रत्येक भाग के अंत में वस्तु का सन्निवेश है किंतु भागों का नाम ठवणी नहीं है। 'भरतेश्वर बाहु

१—रासकार छंदों को श्लोक नाम से अभिहित करते हैं।

२—जैन ऐतिहासिक गुर्जर काव्य संग्रह–मुनिजिन विजय पृ० ३६

३— ,, ,, ,, ,, पृ० १०४–१०५

बलि एवं पंचपांडव रास ठवणी में विभक्त हैं और प्रत्येक ठवणी के अंत में वस्तु का विधान मिलता है।

लघु रासों में काव्य-विभाजन बड़ा ही सरल है। प्रत्येक रास में ५–६ से लेकर १५–२० तक ढाल पाए जाते हैं। प्रत्येक ढाल में १०–१२ से लेकर २०–२५ तक श्लोक (छंद) होते हैं। अनेक रासों में प्रारंभ में मंगल-प्रस्तावना होती है जो दूहा, रोला, घत्ता, चउपई आदि गेय छंदों के माध्यम से गाई जाती है। प्रस्तावना के उपरांत ढाल प्रारंभ हो जाती है। प्रत्येक ढाल के प्रारंभ में राग रागिनियों का नामोल्लेख होता है।

ऐतिहासिक रासों में चरित्रनायक के जीवन का विभाजन इस प्रकार भी किया गया है—(१) मातापिता और बाल्यावस्था, (२) तीर्थयात्रा, गुरुदर्शन, (३) दीक्षाग्रहण, (४) शास्त्राभ्यास, आचार्यपद, (५) शासन पर प्रभाव, (६) राजा महाराजा से संमान, (७) स्वर्गगमन, (८) उपसंहार।

पंद्रहवीं शताब्दी के उपरांत लघु रासों की एक धारा अभिनेयता के गुणों से समन्वित फागु काव्यों में परिलक्षित होती है और दूसरी धारा काव्यगुणों को विकसित करती हुई श्रव्य काव्यों में परिणत हो गई है। परिणाम यह हुआ कि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में विशालकाय रास निर्मित होने लगे। कवि-वर ऋषभदास ने १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में 'श्री कुमारपाल राजा नो रास' निर्मित किया। इस रास को उन्होंने पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध दो खंडों में विभाजित किया। प्रथम खंड की छंदसंख्या की गणना कौन करे, इसमें २५० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ में न्यूनाधिक २४ कड़ियाँ हैं।

इसी प्रकार दूसरे खंड में २०४ पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ में २४ कड़ियाँ प्राप्त होती हैं। प्रत्येक खंड में ढाल, दूहा, चउपई, कवित्त आदि छंद उपलब्ध हैं। ढाल के साथ ही साथ यत्रतत्र रागों का भी वर्णन मिलता है। रागों में प्रायः देशी राग गोड़ी, रामगिरि, राग आसावरी, राग धनाश्री, राग मालव गोड़ी, आसावरी सिंधउ, राग वराडी, राग केदारो आसावरी, राग तारंग मगध, रूपक राग आसावरी, रागमलार, राग गोड़ी श्रणीपरि आदि का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि कवि ने रास की गेयता को ध्यान में रखकर रचना की तथापि अभिनेयता के लिये आवश्यक गुण संक्षिप्तता का इसमें निर्वाह नहीं हो पाया है। न्यूनाधिक दस सहस्र कड़ियों की रचना अभिनेय कैसे रही होगी, यह अद्यापि एक समस्या है।

संवत् १६४१ वि० में विरचित महीराजकृत 'नलदवंती रास' में ११५४ छंद संख्या है। उसमें भी राग सामेरी, राग मल्हार, राग कालहिरु, आदि का उल्लेख मिलता है। आश्चर्य है कि ढाई सहस्र से अधिक कड़ियों के इस रास का अभिनय कितने घंटों में संभव हुआ होगा।

इससे भी वृहत्तर रास श्री शांतिनाथ नो रास है जो बड़े आकार (रायल) की पुस्तक के ४४२ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यह विशालकाय रास ६ खंडों में विभाजित है। प्रथम खंड में १८, द्वितीय में ३०, तृतीय में ३३, चतुर्थ में ३४, पंचम में ३७, षष्ठ में ६१ ढाल हैं। इस प्रकार २१३ ढाल एवं ६५८३ गाथाओं से यह रास संबद्ध है। प्रत्येक ढाल के अंत में २ से १०-११ तक दोहे विद्यमान हैं। यद्यपि यह रास गेय गुणों से संपन्न है, पर इसके अभिनय की पद्धति का अनुमान लगाना सहज नहीं।

सत्रहवीं शताब्दी आते आते विशालकाय रास ग्रंथों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। रायल साइज के २७२ पृष्ठों में विरचित शील व तीनों रास ६ खंडों में विभक्त हैं। प्रथम खंड में १३, दूसरे में १३, तीसरे में १२, पाँचवें में १६, छठे में १८ ढाल हैं। प्रत्येक ढाल के अंत में इसमें १०–१२ दोहे तक मिलते हैं। कहीं कहीं ढाल के आदि में टेक की पद्धति पाई जाती है। यह टेक प्रत्येक पद के साथ गाया जाता रहा होगा; जैसे—चतुर्थ खंड के तीसरे ढाल में "कुँवर ने जइए जु भामणो"[1]। पंचम खंड की १५वीं ढाल में टेक "सुखकारी के नारी तेहतणी वाइ"[2] प्रत्येक पद के साथ गाया जाता रहा होगा।

रास की पद्धति इतनी जनप्रिय हो गई थी कि गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक विषयों के ज्ञान के लिये भी रास की रचना की जाती थी और अंत में कलश को स्थान दिया जाता था। श्री यशोविजय गणि विरचित 'द्रव्यः गुणः पर्यायः नो रास' में १७ ढाल एवं २८४ ढाल हैं। यद्यपि यह रचना संवत् १७२६ वि० में प्रस्तुत हुई तथापि इसकी रचनाशैली से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि की दृष्टि में इसको गेय बनाने की पूरी योजना थी। स्थान स्थान पर टेक या ध्रुवक की शैली पर 'आंकणी' का समावेश हुआ है। दूसरी ही ढाल में "जिन वाणी रंगइं मनि धरिइं"[3] अंश प्रत्येक श्लोक के साथ गाने के लिये

१—शीलवती नो रास—महाकवि नेमिविजयकृत—पृ० १४६।

२— " " " पृ० २१६।

३—द्रव्यः गुणः पर्यायः नो रास—यशोविजय—पृ० १०।

नियोजित किया गया। इसी प्रकार ४थी ढाल में 'श्रुत धर्मइ मन दृढ़ करि राखो' प्रत्येक श्लोक के साथ गायन के लिये नियोजित रहा होगा।

रास काव्यों की समीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि अधिकांश काव्यों की रचना कड़वाबद्ध रूप में हुई है। कड़वाबद्ध रचना के तीन अंगों में मुखबंध प्रथम आता है। कभी कभी ऐसी कड़वाबद्ध रचना भी दिखाई पड़ती है जिसमें मुखबंध नहीं दिखाई पड़ता। जिनमें मुखबंध आता है उनकी प्रारंभिक दो चार पंक्तियों की एक शैली होती है और उनके अंत में 'देशी' आती है।

इन देशियों में ढाल नामक रचना अथवा किसी अन्य प्रकार की देशी का समावेश होता है और अंत में व्यापक देशी की समाप्ति पर उपसंहार की तरह 'वलण' अथवा 'उथलो' का प्रयोग किया जाता है। यह 'वलण' अथवा 'उथलो' पूरे होते हुए कड़वे का उपसंहार करने तथा आगामी कड़वे की वस्तु की सूचना देने के लिये आता है। उथलो या वलण का प्रारंभ कड़वा की देशी की पंक्ति के अंतिम शब्द से होता है। यह अधिकतर एक द्विपदी का होता है। कहीं कहीं अधिक द्विपदियाँ भी आती हैं।

रास की रचनापद्धति के संबंध में श्री भायाणी जी के मत का सारांश इस प्रकार है—

रास की रचनापद्धति को समझने के लिये भाषा और छंदों की भाँति ही साहित्य-स्वरूप के विषय में भी सर्वप्रथम अपभ्रंश साहित्यकारों की ओर ही निगाह दौड़ानी पड़ती है। अपभ्रंश महाकाव्य का स्वरूप संस्कृत महाकाव्य से कुछ भिन्न ही था। जिस प्रकार संस्कृत महाकाव्य सर्गों में विभक्त हुआ है उसी प्रकार अपभ्रंश महाकाव्य संधि में। प्रत्येक संधि को कड़वक में विभक्त करते हैं और एक संधि में सामान्यतः न्यूनाधिक १२ से ३० तक कड़वक प्राप्त होते हैं। प्रत्येक कड़वक में ४ या उससे अधिक (३०–३५ तक) अनुप्रासबद्ध चरणयुग्म होते हैं, जिनका पारिभाषिक नाम 'यमक' है। इन यमकों से युक्त कड़वक के अंत में कड़वक में प्रयोग किए गए छंद से भिन्न अन्य ही छंद के दो चरण आते हैं। इन्हें 'घत्ता' कहते हैं। बहुधा कड़वक के आरंभ में भी ध्रुवक के दो चरण आते हैं। ऐसी रचना के लिये आरंभ के ध्रुवक की दो पंक्तियों के पश्चात् कड़वक की ८ या उससे अधिक पंक्तियाँ जोड़कर यमक के अंत में घत्ता की दो पंक्तियाँ संयुक्त कर दी जाती हैं। एक संधि के दो कड़वकों की रचना में प्रायः एक ही छंद की योजना

की जाती है, परंतु संस्कृत महाकाव्य की भाँति क्वचित् वैविध्य के लिये भिन्न-भिन्न छंदों की योजना भी मिलती है। एक संधि के सभी कड़वकों की घत्ता के लिये सामान्यतः एक ही छंद की योजना होती है और उस छंद में एक कड़ी संधि के आरंभ में ही दी हुई होती है। ध्रुवक एवं मूल कड़वक के छंद से अलग छंद में आया हुआ अंतसूचक घत्ता इस तथ्य का स्पष्टीकरण करता है कि अपभ्रंश महाकाव्य अमुक प्रकार से गेय होना चाहिए।

पौराणिक शैली के अपभ्रंश महाकाव्यों में संधि की संख्या १०० के आस पास होती है। परंतु ऐसे पौराणिक महाकाव्य के उपरांत अपभ्रंश में इसी प्रकार के रचे गए चरितकाव्य भी मिलते हैं। ये चरितकाव्य लघुकाय होते हैं और समस्त काव्य की संधिसंख्या पाँच दस के आस पास होती हैं। इस शैली के विकसित होने पर कालांतर में ऐसी कृतियाँ प्राप्त होती हैं जिनका विस्तार केवल एक संधि के सदृश होता था और जिनमें कोई धार्मिक लघु कथानक या केवल उपदेशात्मक कथावस्तु होती थी। ऐसी कृति का नाम भी संधि है।

रास की रचनापद्धति के विषय में श्री केशवराम शास्त्री का मत है कि अपभ्रंश महाकाव्य के स्थान पर रास काव्यों की रचना होने लगी। इस शैली के काव्यों में संधियाँ विलीन हुईं और कड़वा, भासा, ठवणि या ढाल में विभाजित गेय रासो काव्य प्रचार में आए और ये ही काव्य कालांतर में विकसित होकर पौराणिक पद्धति के कड़वाबद्ध (जैनेतर) या ढालबद्ध (जैन) आख्यान काव्यों में परिणत हुए।

अपभ्रंश महाकाव्य एवं अपभ्रंश के प्रसिद्ध रासक काव्यों को लक्ष्य में रखकर देखें तो ज्ञात होता है कि श्री शास्त्री जी ने दो भिन्न काव्य-स्वरूपों को मिला दिया है। रेवंतगिरिरासु आदि की शैली महाकाव्यों से पृथक् प्रकार की और रासक काव्य के सदृश है। रेवंतगिरिरासु इत्यादि रासों में अपभ्रंश कड़वक का (ध्रुवा) + यमक + घत्ता ऐसा विशिष्ट रूप नहीं मिलता। यह रास केवल कड़वकों में विभक्त है। 'समरारास' केवल भास में विभक्त है।

लक्ष्य में रखने योग्य एक तथ्य यह है कि संस्कृत महाकाव्यों की बाह्य रचना से मिलता जुलता स्वरूप गुजराती आख्यान काव्यों में पुनः दिखाई पड़ने लगा। क्योंकि सर्ग और श्लोकबद्ध संस्कृत काव्य के दो कोटि के विभाग के बदले अपभ्रंश में संधि, कड़वक, यमक इस तरह तीन कोटि का विभाजन हम देखते हैं, परंतु कालांतर में पुनः आख्यानों में कड़वक और कड़ी इस प्रकार दो कोटिवाला विभाग प्रकट होता है।

इससे प्रमाणित होता है कि अपभ्रंश काव्यों की तरह रासक काव्यों का भी एक निराला प्रकार है। उसे संस्कृत खंडकाव्य की कोटि का कहा जा सकता है। यह रासक या रास नाम धारण करनेवाले काव्य १८ वीं शताब्दी तक के रचे हुए हैं। अपभ्रंश में अनुमानतः छठी-सातवीं शती के विरचित एक छंद ग्रंथ में रासक की व्याख्या दी हुई है। इस प्रकार एक सहस्राब्दी से भी अधिक विस्तृत समय के मध्य में उक्त प्रकार के साहित्य का निर्माण हुआ है। इसे देखते हुए इतना तो स्वयं सिद्ध है कि रास या रासा नाम से प्रचलित ये सब काव्यों के स्वरूप-लक्षण उस दीर्घकाल के मध्य में एक ही प्रकार के नहीं रहे होंगे और अलग अलग युग के रासकों की वस्तुगत निरूपण शैली, पद्धतिगत प्रणाली एवं बाह्य स्वरूपगत विशिष्टताएँ पृथक् पृथक् हों। अतः रासा काव्यस्वरूप का व्यावर्तक धर्म क्या माना जाय ?

श्री शास्त्री जी कहते हैं कि बंध की दृष्टि से शोध करने पर बृहत् काव्यों के दो ही प्रकार मिलते हैं—(१) कड़वा, भासा, ठवणि या ढाल युक्त गेय रासा काव्य, (२) क्रमबद्ध 'पवाडो'। जिसमें मुख्यतया चौपाई हो, बीच बीच में दूहा या क्वचित् अन्य छंद आएँ वही 'पवाडा' है। उ० त० हीरानंद सूरि का 'विद्याविलास' पवाडा भी बंध की दृष्टि से रास काव्यों की तीसरी कोटि में आता है। इन तीनों कोटियों को इस प्रकार समझना चाहिए—(१) काव्य का कलेवर बाँधने के लिये एक छंदविशेष की योजना करके बीच बीच में विविधता की दृष्टि से अन्य छंद प्रयुक्त होते हैं। उनमें गेय पदों की विशेषता होती है। 'संदेशरासक' तथा 'हंसतुलि', 'रणमल्ल छंद', 'प्रबोध चिंतामणि' इत्यादि इसी प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार में ऐसी कृतियाँ एक ही मात्राबंध में होती है। 'वसंतविलास', 'उपदेश रसायन रास' इस पद्धति के उपरांत आते हैं। बीच बीच में गेय पदों को रखने की प्रथा इनमें दिखाई देती है। उदाहरण के लिये 'सगलशा रास' (कनकसुंदरकृत) का नाम लिया जा सकता है। तीसरे प्रकार की कृति कड़वा, ढाल, ठवणि, भास इत्यादि में से किसी एक शीर्षक के नीचे विभाजित होती है। कतिपय प्राचीनतम रासा 'भारतेश्वर बाहुबलि रास', 'रेवंतगिरि रासु' इत्यादि की शैली के हैं।

वैष्णव रास का स्वरूप

संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के वाङ्मय में रास के स्वरूप पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। 'रास' शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार के छंद, लोकप्रचलित विशेष नृत्य, एक विशेष प्रकार की काव्यरचना एवं गेय और नृत्य रूपक के अर्थ में प्राप्त होता है। यद्यपि इन विविध अर्थों के विकास का इतिहास सरलतापूर्वक प्राप्त नहीं किया जा सकता तथापि युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास करना अनुचित न होगा।

मानव की स्वाभाविक मनोवृत्ति है कि वह आनंदातिरेक में नर्तन करने लगता है। अतः रास नृत्य के प्रारंभिक रूप की कल्पना करते हुए निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि किसी देशविशेष की नाट्यशैली विकसित होकर कल्पांतर में श्रीमद्भागवत् का रास नृत्य बन गई होगी। हमारे देश में नृत्यकला की एक विशेषता यह रही है कि वह सामाजिक जीवन के आमोद प्रमोद का साधन तो थी ही, साथ ही साथ धार्मिक साधना का अंगरूप भी हो गई थी। तथ्य तो यह है कि हमारा सामाजिक जीवन धार्मिक जीवन से पृथक् रहकर विशेष महत्त्वमय नहीं माना जाता। वैदिक युग की धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी धार्मिक कृत्य वाद्य एवं संगीत के अभाव में पूर्णतया संपन्न नहीं बनता। इसी प्रकार अधिकांश देवोपासना में नृत्य का सहयोग मंगलकारी माना जाता था। वेदों में नृत्य के कई प्रसंग इस तथ्य के साक्षी हैं कि नृत्य में भाग लेनेवाले नर्तक केवल जन सामान्य ही नहीं होते थे, प्रत्युत ऋषिगण भी इसमें संमिलित हुआ करते थे। हमारे ऋषियों ने नृत्यकला को इतना माहात्म्य प्रदान किया कि जीवन में संतुलन की उपलब्धि के लिये नृत्य परमावश्यक माना गया। पवित्र पर्वों पर विहित नृत्यविधान उत्तरोत्तर विकसित होते हुए नाट्य के साथ कालांतर में पंचम वेद के नाम से अभिहित हुआ। प्रो० सैलवेन लेवी[१] एवं प्रो० मैक्समूलर[२] ने अनुसंधान के आधार पर यह

१—"Le Theatre Indian", Bibliothique de l'Ecole des Haits Etudes. Fascicule 83, 1890, P P. 307-308.

२—Max Muller's Version of the Rig Veda, Vol I., P. 173.

प्रमाणित किया है कि वैदिक काल में भारत में नृत्य और संगीत कलापूर्ण रूप से उन्नत हो चुका था। यजुर्वेद संहिता[1] में इसका उद्धरण मिलता है—

"यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैऽलवाः"

इससे अधिक विस्तार के साथ नृत्य का उल्लेख यजुर्वेद संहिता[2] में इस प्रकार मिलता है—

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै
भीमलं नर्माय रेभं हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीपखं प्रमदे
कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्य्याय तक्षाणम् ॥

अर्थात् नृत्त (ताल-लय के साथ नर्तन) के लिये सूत को, गीत के लिये शैलूष (नट) को, धर्मव्यवस्था के लिये सभाचतुर को, सबको विधिवत बिठाने के लिये भीमकाय युवकों को, विनोद के लिये विनोदशीलों को, शृंगार संबंधी रचना के लिये कलाकारों को, समय बिताने के लिये कुमारपुत्र को, चातुर्यपूर्ण कार्यों के लिये रथकारों को और धीरत्वसंयुक्त कार्य के लिये बढ़ई को नियुक्त करना चाहिए।

वैदिक उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि नृत्त का उस काल में इतना व्यापक प्रचार था कि उसके लिये सूत की नियुक्ति करनी पड़ती थी। नृत्त की परंपरा उत्तरोत्तर विकासोन्मुख बनती गई और रामायणकाल तक आते आते उसका प्रचार जनसामान्य तक हो गया और "नटों, नर्तकों और गाते हुए गायकों के कर्णसुखद वचनों को जनता सुन रही थी।"[3]

जब नर्तन का प्रचार अत्यधिक बढ़ गया और अयोग्य व्यक्ति इस कला को दूषित करने लगे तो नटों की शिक्षा की व्यवस्था अनिवार्य रूप से करनी पड़ी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसका विवरण इस प्रकार मिलता है—

गणिका, दासी तथा अभिनय करनेवाली नटियों को गाना बजाना, अभिनय करना, लिखना तथा चित्रकारी, वीणा, वेणु तथा मृदंग बजाना, दूसरे की मनोवृत्ति को समझना, गंध निर्माण करना, माला गूँथना, पैर आदि

१—अथर्ववेद—१२ कां०, सू० १- मं० ४१
२—यजुर्वेद संहिता, ३० वाँ अध्याय, छठा मंत्र।
३—नटनर्त्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखावाचः सुश्राव जनता ततः ॥—वाल्मीकि रामायण

अंग दबाना, शरीर का शृंगार करना तथा चौंसठ कलाएँ सिखाने के लिये योग्य आचार्यों का प्रबंध राज्य की ओर से होना चाहिए।[१]

नृत्यकला का अध्यात्म के साथ ग्रंथिबंधन करनेवाले मनीषियों की यहाँ तक धारणा बनी कि महाभाष्य काल में मूक अभिनय एवं नृत्य के द्वारा कृष्ण और कंस की कथा प्रदर्शित की गई। डा० कीथ का यह मत है पतंजलि युग के नट नर्तक एवं विदूषक ही नहीं प्रत्युत गायक एवं कुशल अभिनेता भी थे[२]।

यह नृत्यकला क्रमशः विकसित होती हुई नाना प्रकार के रूप धारण करती गई। आगे चलकर रास के प्रसंग में हम जिस पिंडीबंध का वर्णन पाएँगे उसकी एक छटा ईसवी पूर्व की दूसरी शताब्दी में हम इस प्रकार देख सकते हैं:—

'शंकर का नर्तन और सुकुमार प्रयोग के द्वारा पार्वती का नर्तन देखकर नंदीभद्र आदि गणों ने पिंडीबंध का नर्तन दिखाया। विष्णु ने तार्क्ष्यपिंडी, स्वयंभुव ने पद्मपिंडी आदि नर्तन दिखाए। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में विविध पिंडीबंध नृत्य का वर्णन मिलता है। भरतमुनि का कथन है कि ये नृत्य तपोधन मुनियों के उपयुक्त थे:—

एवं प्रयोगः कर्त्तव्यो वर्धमाने तपोधनाः॥

नृत्त का इतना प्रभाव भरतमुनि के काल में बढ़ गया था कि नाटक की कथावस्तु को गीतों के द्वारा अभिनीत करने के उपरांत उसी को नृत्त के द्वारा प्रदर्शित करना आवश्यक हो गया—

प्रथमं त्वभिनेयं स्याद्गीतिके सर्ववस्तुकम्।
तदेव च पुनर्वस्तु नृत्तेनापि प्रदर्शयेत्[3]॥

---

१ गीतवाद्यपाठ्यनृत्त नाट्यचर चित्रवीणा वेणुमृदंग परचित्तज्ञान गंधमाल्य संयूहन-संपादन-संवाहन-वैशिककला ज्ञानानि गणिका दासी रंगोपजीविनीश्च ग्राहयता राजमंडलादाजीवं कुर्यात्।—कौटिल्य अर्थशास्त्र, ४१।

२—The Sanskrit Drama, Page 45.

We have perfectly certain proof that the Natas of Patanjaly were much more than dancers or acrobats; they sang and recited.

३ नाट्यशास्त्र, अध्याय ४, श्लोक ३००।

जब नृत्य का अभिनेय नाटकों के प्रदर्शन एवं धर्मसाधना में इतना आधिपत्य स्थापित हो गया तो इसके विकास की संभावनाएँ बढ़ने लगीं। केवल कला की दृष्टि से भी नृत्य का इतना महत्व बढ़ गया कि विष्णुधर्मोत्तरम्[१] में नारद मुनि को यहाँ तक स्वीकार करना पड़ा कि मूर्तिकला एवं चित्रकला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिये नृत्यकला का ज्ञान आवश्यक है। तात्पर्य यह कि ललित कलाओं के केंद्र में विराजमान नृत्यकला के प्रत्येक पक्ष का विकसित होना अनिवार्य बन गया। इस विकास का यह परिणाम हुआ कि नृत्य एवं नर्तकों की महिमा बढ़ने लगी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अर्जुन जैसे योद्धा को नृत्यकला का इतना ज्ञान प्राप्त करना पड़ा कि वनवास काल में वह विराट् राजकुमारी उत्तरा को इस कला की शिक्षा प्रदान कर सका। तत्ववेत्ता शिव और सहधर्मिणी पार्वती ने इस कला का इतना विकास किया कि तांडव एवं लास्य के भेद प्रभेद करने पड़े। भरत मुनि तक आते आते तांडव के रेचक, अंगहार एवं पिंडीबंध प्रभेद हो गए। पिंडीबंध[२] के भी वृष, पट्टिषी, सिंहवाहिनी, तार्क्ष्य, पद्म, ऐरावती, झष, शिखी, उलूक, धारा, पाश, नदी, याक्षी, हल, सर्प, रौद्री आदि अनेक भेद प्रभेद किए गए। यह पिंडीबंध अभिनवगुप्त के उपरांत भी क्रमशः विकसित होता गया और शारदातनय तक पहुँचते पहुँचते इसका रूप निखर गया। इसमें आठ, बारह अथवा सोलह नायिकाएँ सामूहिक रीति से नर्तन दिखाती हैं। यही नर्तन रास अथवा रासक[३] के नाम से विख्यात हो गया।

रासनृत्य के विकास का क्रम शारदातनय के उपरांत भी उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर चलता रहा। आचार्य वेम (१४वीं शताब्दी) के समय में रासक के तीन प्रकार स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगे। एक तो रासक का मौलिक नृत्य प्रकार अपरिवर्तनीय बना रहा। दूसरा गेय पदों से संयुक्त

१—In Vishnudharmottaram, a classic on the arts of India, Narada says that in order to become a successful sculptor or painter one must first learn dancing, thereby meaning that rhythm is the secret of all arts.
—Dance in India by Venkatachalam, P. 121.

२—पिंडीबंध आकृतिविशेषस्तस्यैकदेशात्रिबन्धनं पिण्डीति।

३—षोडशद्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं तदुदाहृतम्॥—भावप्रकाश

कथानक के आधार पर नाट्य रासक हो गया और तीसरा चर्चरी नाम से अभिहित हुआ। आगामी अध्यायों में हम दूसरे और तीसरे प्रकारों पर विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ मूल रासनृत्य के परिवर्तित एवं परिवर्द्धित स्वरूप की झाँकी दिखाना ही अभीष्ट है।

रासनृत्य का परिष्कृत रूप शारदातनय ने अपने भावप्रकाश में स्पष्ट किया है[1]।

यह निश्चित है इतने परिष्कृत रूप में यह नृत्य शताब्दियों में परिणत हुआ होगा। इस स्थान पर इसके स्वरूप के प्रारंभिक एवं मध्यरूप की एक छटा दिखाना अप्रासंगिक न होगा।

सर्वप्रथम रास को हल्लीसक नाम से हरिवंश में उद्घोषित किया गया। हरिवंश महाभारत का खिल पर्व है। इसके पूर्व महाभारत संहिता की रचना हो चुकी थी किंतु उसमें कृष्ण की अन्य लीलाओं का उल्लेख तो पाया जाता है किंतु रासलीला की कहीं चर्चा भी नहीं मिलती। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत संहिताकाल में रास का इतना प्रचलन नहीं हो पाया था जितना हरिवंश पुराण के समय में हुआ।

महाभारत[2] के (खिल) विष्णु पर्व के बीसवें अध्याय में हल्लीसक क्रीड़ा का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गोवर्धनधारण के उपरांत इंद्र के मानमर्दन से ब्रजवासी कृष्ण-पौरुष को देखकर विस्मित हो गए। गोपियाँ कृष्ण की अलौकिक शक्ति से पराभूत होकर शारदी निशा में उनके साथ क्रीड़ा करने को उत्सुक हुईं। कृष्ण ने गोपियों की मनोकामना पूर्ति के लिये लीला करने की योजना बनाई।

मंडलाकार[3] नृत्य में गोपियों के साथ कृष्ण ने वाद्य एवं गान के साथ

---

१ रासकस्य प्रभेदास्तु रासकं नाट्य रासकम्।
चर्चरीतित्रयः प्रोक्ता :— वेमः

२ कृष्णस्तु यौवनं दृष्ट्वा निशि चन्द्रमसो वनम्।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति।
—महाभारत, विष्णुपर्व, अध्याय २०, श्लोक १५

३ तास्तु पंक्तीकृताः सर्वा रमयन्ति मनोरमम्।
गायन्त्यः कृष्णचरितं द्वन्द्वशो गोपकन्यकाः ॥ २५ ॥
—हरिवंश, अध्याय २०, श्लोक २५।

क्रीड़ा की। यही क्रीड़ा हल्लीसक[1] के नाम से प्रख्यात हुई। हल्लीसक का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार दिया है—

(क) गोपीनां मण्डली नृत्यबन्धने हल्लीसकं विदुः।
(ख) चक्रवालैः मण्डलैः हल्लीसक क्रीडनम्।

इसी प्रकार रासक्रीड़ा का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा।

विद्वानों ने इस रासक्रीड़ा अथवा हल्लीसक के बीज का श्रुति के अंतर्गत इस प्रकार अनुसंधान किया है—

"पद्यावस्ते पुरुरूपा वपूंष्यूर्ध्वा
तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म विचरामि
विद्वान्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥"

रासमंडलांतर्गत श्रीकृष्णमूर्ति को मंत्रद्रष्टा 'पद्या' कह रहे हैं। (पत्तुम योग्या पद्या) कारण यह है कि गोपियाँ उनसे मिलने आई हैं। यह मिलन-हेतुक गमन प्रपदन है। प्रपदन, पदन, गमन, अभिसरण एकार्थक शब्द हैं।

वह मूर्ति 'पुरुरूपा' है, क्योंकि प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य के लिये श्रीकृष्ण ने अनेक रूप धारण किए हैं।

अतएव श्रीकृष्ण ने 'वपूंषि वस्ते' = अनेक वपुओं को, शरीरों को, धारण कर लिया है।

रासमंडल के मध्य में विराजमान श्रीकृष्ण के लिये श्रुति कर रही है कि 'ऊर्ध्वा तस्थौ' अर्थात् एक उत्कृष्ट (मूलभूत, गोपी-संपर्क-रहित) मूर्ति बीच में विद्यमान है।

श्रीकृष्ण मूर्ति 'त्र्यविम् रेरिहाणा' है अर्थात् दक्षिणपार्श्वस्थ गोपी के एवम् वामपार्श्वस्थ गोपी के एवम् संमुखस्थित गोपी के नयन-कटाक्ष-सरणी को अपने विग्रह में निगीर्ण कर रही है।

श्रीकृष्ण भगवान् के अंतर्हित हो जाने पर एक गोपी श्रीकृष्ण लीलाओं

१—एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः।
शारदीषु स चन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी ॥ ३५ ॥
हरिवंश, अध्याय २०, श्लोक ३५

का अनुकरण करने लगी। उस समय वह अपने को पुरुष मानकर कह रही है कि मैं 'ऋतस्य धाम विचरामि' अर्थात् धर्मनिष्ठ मैं (कृष्णवियुक्त होकर) इतस्ततः विचरण कर रही हूँ।

'देवानाम् एकम् महत् असुरत्वम् विद्वान्' = अर्थात् श्रीकृष्ण से हमें वियुक्त करानेवाले देवताओं की मुख्य असुरता को मैं जानता हूँ।

कतिपय विद्वानों ने महाभारत के अनुशीलन के उपरांत यह निष्कर्ष निकाला है कि उस काल में यदि कृष्ण की रासलीला का प्रचार होता तो शिशुपाल अपनी एक शतक गालियों में 'परदाररता' कहकर कृष्ण को लांछित करने का प्रयत्न अवश्य करता। महाभारत में कृष्ण की पूतनावध, गोवर्धन-धारण आदि अनेक लीलाओं का उल्लेख पाया जाता है किंतु रासलीला का प्रत्यक्ष वर्णन कहीं नहीं है। हाँ एक स्थान पर गोपीजनप्रियः विशेषण अवश्य मिलता है। किंतु उससे रासलीला प्रमाणित नहीं की जा सकती।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में रुक्मिणी के भ्राता रुक्मि राजा ने कृष्ण को लांछित करते हुए इस प्रकार वर्णन किया है—

साक्षात् जारश्च गोपीनां गोपालोच्छिष्टभोजकः ।
जातेश्च निर्णयो नास्ति भक्ष्य मैथुनयोस्तथा ॥

इसी प्रकार शिशुपालवध नामक अध्याय में शिशुपाल का दूत कृष्ण की अवमानना करता हुआ कहता है—

कृत-गोपवधूरते घ्नतो वृषम् उग्रे नरकेऽपि सम्प्रति ।
प्रतिपत्तिरधः कृतौनसो जनताभिस्तव साधु वर्ण्यते ॥

हरिवंश के हल्लीसक वर्णन में कृष्ण के अंतर्धान होने का वर्णन नहीं मिलता। रासलीला की चरमावस्था कृष्ण के अंतर्धान होने पर गोपियों के विरहवर्णन में अभिव्यक्त होती है। इस प्रसंग का अभाव इस तथ्य का द्योतक है कि हल्लीसक नृत्य से विकसित होकर श्रीमद्भागवत में रासलीला अपनी पूर्णावस्था को प्राप्त हुई।

हरिवंश, ब्रह्मपुराण एवं विष्णुपुराण में भी रास का वर्णन अपेक्षाकृत विस्तार से मिलता है। ब्रह्मपुराण एवं विष्णुपुराण का अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकलता है ब्रह्मपुराण का विवरण विष्णुपुराण से अविकल साम्य रखता है। दोनों के श्लोकों के भाव ही नहीं अपितु पदावली भी अक्षरशः

अभिन्न है। हाँ, विष्णुपुराण में ब्रह्मपुराण की अपेक्षा श्लोकों की संख्या अधिक है। किंतु ब्रह्मपुराण में कामायन का रूप और अधिक उद्दीपक बनाया गया है। कतिपय विद्वानों का मत है कि ये दोनों वर्णन किसी एक ही स्रोत से गृहीत हैं।

श्री विष्णुपुराण में रासप्रसंग

श्रीकृष्ण भगवान् का वंशीवादन होता है। मधुर ध्वनि को सुनकर गोपियों के आगमन, गीतगान, श्रीकृष्णस्मरण और श्रीकृष्णध्यान का वर्णन है। गोपियों के द्वारा तन्मयता के कारण, श्रीकृष्णलीला का अभिनय होता है। श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते ढूँढ़ते गोपियाँ दूर तक विचरण करती हैं। श्रीकृष्णदर्शन के अभाव में गोपियों का यमुनातट पर कातर स्वर में श्रीकृष्ण-चरित-गान होता है। श्रीकृष्ण के आ जाने पर गोपियाँ प्रसन्नता प्रकट करती हैं। रासलीला होती है—

"ताभिः प्रसन्न चित्ताभिर्गोपीभिः सह सादरम्।
र रास रास-गोष्ठीभिरुदार चरितो हरिः॥"

५-१३-४८

रासमंडल में प्रत्येक गोपी का हाथ श्रीकृष्ण के हाथ में था।

हस्तेन गृह्य चैकैकां गोपीनां रास-मंडलम्।
चकार तत्कर-स्पर्श-निमीलित-दृशं हरिः॥

५-१३-५०

तदुपरांत श्रीकृष्ण का रासगान होता है—

"ततः प्रववृते रासश्चलद्वलय-निस्वनः।
रास गेयं जगौ कृष्णः ॥"

५-१३-५१

रासक्रीड़ा का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

"गतेनुगमनं चक्रुर्वलने सम्मुखं ययुः
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां भेजुर्गोपांगना हरिम्।"

५-१३-५७

इस महापुराण की वर्णनशैली से प्रतीत होता है कि रास एक प्रकार की मंडलाकार नृत्यक्रीड़ा थी।

हल्लीसक नृत्य का उल्लेख भास के बालचरित नामक नाटक में इस प्रकार मिलता है—

संकर्षणः—दामक ! सर्वे गोपदारकाः समागताः ।
दामकः—आम भट्टा सव्वे सण्णद्धा आअदा ।
(आम् भर्तः सर्वे सन्नद्धा आगताः ।)
दामोदरः—घोष सुन्दरि ! वनमाले ! चन्द्ररेखे ! मृगाक्षि !
घोषवासस्यानुरूपोऽयं हल्लीसक नृत्तबन्ध उपयुज्यताम्
सर्वाः—जं भट्टा आणवेदि । (यद् भर्ता आज्ञापयति ।)
संकर्षणः—दामक । मेघनाद । वाद्यन्तामातोद्यानि ।
उभौ—भट्टा ! तह । (भर्तः ! तथा ।)
वृद्धगोपालकः—भट्टा ! तुम्हे हल्लीसअं पकीडेन्ति ।
अहं एत्थ किं करोमि (भर्तः ! यूयं हल्लीसकं
प्रक्रीडथ । अहमत्र किं करोमि ।
दामोदरः—प्रेक्षको भवान् ननु ।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के आधार पर रासलीला के वर्णन में रासकाल की कोई निश्चित ऋतु का उल्लेख नहीं मिलता। इस वर्णन में तिथि के लिये 'शुक्लपक्षे चन्द्रोदये' की सूचना मिलती है। एक विलक्षण वर्णन वृंदावन के नवलक्ष रास वास का मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में विभिन्न स्थान रासक्रीड़ा के लिये नियत थे। इस पुराण का यह उद्धरण—

'नवलक्षरास वास संयुक्तम् (वृन्दावनम्)'

इसका प्रमाण है। रासलीला काल के विकसित पुष्पों एवं उपयुक्त उपकरणों का वर्णन इस प्रकार है—

प्रसूनैश्चम्पकानां च कस्तूरीचन्दनान्वितैः ।
रतियोग्यैर्विरचितै र्नानातल्पैः सुशोभितम् ॥ ४।२८।१०
दीप्तं रत्नप्रदीपैश्च धूपेन सुरभीकृतम् ।
नाना पुष्पैश्च रचितं मालाजालैर्विराजितम् ॥ ११
परितो वर्त्तुलाकारं तत्रैव रास-मंडलम् ।
चन्दनागुरु कस्तूरी कुंकुमेन सुसंस्कृतम् ॥ १२
स रासमंडलं दृष्ट्वा जहास मधुसूदनः ।
चकार तत्र कुतुकाद् विनोद-मुरली-रवम् ॥ १७
गोपीनां कामुकीनां च कामवर्धन कारणम् । १८

इस पुराण की दूसरी विशेषता राधा की ३३ सखियों की नामावली है।

श्री राधा की सुशीलादि ३३ सखियों के नाम हैं:—

सुशीला, कुंती, कदंबमाला, यमुना, जाह्नवी, पद्ममुखी, सावित्री, स्वयंप्रभा, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, सर्वमंगला, गौरी, कालिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अंबिका, सती, नंदिनी, सुंदरी, कृष्णप्रिया, मधुमती, चंपा, चंदना आदि।

जिन वनों का संबंध रासक्रीड़ा से माना जाता है उन भांडीर आदि ३३ वनों में निम्नलिखित वन प्रसिद्ध हैं—भांडीर, श्रीवन, कदंबकानन, नारिकेलवन, पूगवन, कदलीवन, निंबारण्य, मधुवन आदि।

स्थलक्रीड़ा और जलक्रीड़ा का वर्णन पूर्वपुराणों से अधिक उद्दीपक है:—

मनो जहार राधायाः कृष्णस्तस्य च सा मुने।
जगाम राधया सार्धं रसिको रति-मन्दिरम्॥ ६६
एवं गृहे गृहे रम्ये नानामूर्त्तिं विधाय च।
रेमे गोपांगनाभिश्च सुरम्ये रासमंडले॥ ७७
गोपीनां नवलक्षाणि गोपानां च तथैव च।
लक्षाण्यष्टादश मुने युक्तानि रासमण्डले॥ ७८

सर्वदेवदेवीनाम् आगमनम्—

त्रिंशद्दिवानिशम्—

एवं रेमे कौतुकेन कामात् त्रिंशद् दिवानिशम्।
तथापि मानसं पूर्णं न च किंचिद् बभूव ह॥ १७०
न कामिनीनां कामश्च शृंगारेण निवर्त्तते।
अधिकं वर्धते शश्वद् यथाग्निर्घृतधारया॥ १७१

रासक्रीड़ा का विशद वर्णन करते करते अंत में कामप्रशमन की युक्ति बताते हुए आदेश मिलता है कि शृंगार के द्वारा कभी कामशांति नहीं हो सकती।

हरिवंश पुराण में वर्णित कृष्ण के संग गोपियों के नृत्य हल्लीसक का विकसित रूप श्रीमद्भागवत में विस्तार के साथ मिलता है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण के अंतर्धान होने पर गोपियाँ कृष्णलीला का अनुकरण करती हैं। इस प्रसंग का जो विशद वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है वह हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त्त एवं विष्णुपुराण से भिन्न प्रकार का है। इस पुराण में एक गोपी कृष्ण के

अंतर्धान होने पर स्वयं कृष्ण बन जाती है और उसी प्रकार के वस्त्राभूषण धारण कर कृष्णलीला का अनुकरण करने लगती है। इस नृत्य में वास्तविक कृष्ण के साथ गोपियों का केवल नर्तन ही नहीं है, प्रत्युत् कृष्णजीवन की अनुकृति दिखानेवाली गोपी एवं उसकी सखियों के द्वारा अभिनीत कृष्ण-लीला की भी छटा दिखाई पड़ती है।

विद्वानों ने श्रीमद्भागवत का काल चौथी शताब्दी स्वीकार किया है। अतः यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि रास इस युग तक आते आते केवल नृत्य ही नहीं नाट्य भी बन गया था। प्रमाण यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण जब गोपियों को क्रीड़ा द्वारा आनंदित करने लगे तो उन गोपियों के मन में ऐसा भाव आया कि संसार की समस्त स्त्रियों में हम्हीं सर्वश्रेष्ठ हैं, हमारे समान और कोई नहीं है। वे कुछ मानवती हो गईं[१]। भगवान् उनका गर्व शांत करने के लिये उनके बीच में ही अंतर्धान हो गए। अब तो व्रजयुवतियाँ विरह की ज्वाला से जलने लगीं। वे गोपियाँ श्रीकृष्ण-मय हो गईं और फिर श्रीकृष्ण की विभिन्न चेष्टाओं का अनुकरण करने लगीं।

वे अपने को सर्वथा भूलकर श्रीकृष्ण स्वरूप हो गईं और उन्हीं के लीलाविलास का अनुकरण करती हुई 'मैं श्रीकृष्ण ही हूँ'—इस प्रकार कहने लगीं[२]। गोपियाँ वृक्षों, पुष्पों, तुलसी, पृथ्वी आदि से भगवान् का पता पूछते पूछते कातर हो गईं। वे गाढ़ आवेश हो जाने के कारण भगवान् की विभिन्न लीलाओं का अनुकरण[३] करने लगीं। एक पूतना बन गई तो दूसरी श्रीकृष्ण बनकर उसका स्तन पीने लगी। कोई छकड़ा बन गई तो किसी ने बालकृष्ण बनकर रोते हुए उसे पैर की ठोकर मारकर उलट दिया। कोई

१ एवं भगवतः कृष्णाल्लब्धमाना महात्मनः।
आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि॥
तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्यमानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥

२ असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्ण विहार विभ्रमाः।

३ इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥
कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम्।

सखी बालकृष्ण बनकर बैठ गई तो कोई तृणावर्त दैत्य का रूप धारण कर उसे हर ले गई। एक बनी कृष्ण तो दूसरी बनी बलराम, और बहुत सी गोपियाँ ग्वालबालों के रूप में हो गईं। एक गोपी बन गई वत्सासुर तो दूसरी बनी बकासुर। तब तो गोपियों ने अलग अलग श्रीकृष्ण बनकर वत्सासुर और बकासुर बनी हुई गोपियों को मारने की लीला की[१]।

वृंदावन में यह रासव्यापार कैसे अभिनीत हुआ था, लीलाशुक बिल्वमंगल[२] ने एक ही श्लोक में इसे विवृत किया है। इसका उल्लेख हम पहले कर आए हैं।

इस रासनृत्य का विवरण भागवत के रासपंचाध्यायी में इस प्रकार मिलता है—

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः।
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः॥

—श्रीमद्भागवत, १०।३३।२

अर्थात् गोपियाँ एक दूसरे की बाँह में बाँह डाले खड़ी थीं। उन स्त्रीरत्नों के साथ यमुना जी के पुलिन पर भगवान् ने अपनी रसमयी रासक्रीड़ा प्रारंभ की। संपूर्ण योगों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण दो दो गोपियों के बीच में प्रकट हो गए और उनके गले में अपना हाथ डाल दिया। इस प्रकार एक गोपी और एक श्रीकृष्ण, यही क्रम था। सभी गोपियाँ ऐसा अनुभव कर रही थीं कि हमारे प्यारे तो हमारे ही पास हैं। इस प्रकार सहस्र सहस्र गोपियों से शोभायमान भगवान् श्रीकृष्ण का दिव्य रासोत्सव प्रारंभ हुआ।

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती र्गोपयोषितः।
रराम भगवांस्ताभिरात्मा रामोऽपि लीलया॥१०।३३।२०

---

१ कृष्णारामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन।
वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम्॥

२ बिल्वमंगल विरचित कर्णामृत ग्रंथ चैतन्य महाप्रभु दक्षिण भारत से लाए और वैष्णव धर्म के सिद्धांत प्रतिपादन में उनसे बड़ी सहायता ली।

रासमंडल में जितनी गोपियाँ नृत्य करती थीं, भगवान् उतने ही रूप धारण कर लेते थे।

रासपंचाध्यायी में वर्णित रासक्रीड़ा ही विशेष रूप से विख्यात है।

भागवतकार ने तो रासनृत्य का चित्र सा खींच दिया है। कृष्ण और गोपियों के प्रत्येक अंग की संचालनविधि का वर्णन देखिए—

नृत्य के समय गोपियाँ तरह तरह से ठुमुक ठुमुककर अपने अपने पावँ कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेतीं। कभी गति के अनुसार धीरे धीरे पावँ रखतीं, तो कभी बड़े वेग से, कभी चाक की तरह घूम जातीं, कभी अपने हाथ उठा उठाकर भाव बतातीं, तो कभी विभिन्न प्रकार से उन्हें चमकातीं। कभी बड़े कलापूर्ण ढंग से मुसकरातीं, तो कभी भौंहें मटकातीं। नाचते नाचते उनकी पतली कमर ऐसी लचक जाती थी, मानो टूट गई हो। झुकने, बैठने, उठने और चलने की फुर्ती से उनके स्तन हिल रहे थे तथा वस्त्र उड़े जा रहे थे। कानों के कुंडल हिल हिलकर कपोलों पर आ जाते थे। नाचने के परिश्रम से उनके मुँह पर पसीने की बूँदें झलकने लगी थीं। केशों की चोटियाँ कुछ ढीली पड़ गई थीं। नीवी की गाँठें खुली जा रही थीं। इस प्रकार नटवर नंदलाल की परम प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा गाकर नाच रही थीं।...वे श्रीकृष्ण से सटकर नाचते नाचते ऊँचे स्वर से मधुर गान कर रही थीं। कोई गोपी भगवान् के साथ उनके स्वर में स्वर मिलाकर गा रही थी। वह श्रीकृष्ण के स्वर की अपेक्षा और भी ऊँचे स्वर से राग अलापने लगी।...उसी राग को एक दूसरी सखी ने ध्रुपद में गाया। एक गोपी नृत्य करते करते थक गई। उसकी कलाइयों से कंगन और चोटियों से बेला के फूल खिसकने लगे। तब उसने अपनी बगल में ही खड़े मुरली मनोहर श्यामसुंदर के कंधे को अपनी बाँह में कसकर पकड़ लिया।

गोपियों के कानों में कमल के कुंडल शोभायमान थे। घुँघराली अलकें कपोलों पर लटक रही थीं। पसीने की बूँदें झलकने से उनके मुख की छटा निराली ही हो गई थी। वे रासमंडल में भगवान् श्रीकृष्ण के साथ नृत्य कर रही थीं। उनके कंगन और पायजेबों के बाजे बज रहे थे और उनके जूड़ों और चोटियों में गुँथे हुए फूल गिरते जा रहे थे।[1]

इस महारास की परिसमाप्ति होते होते भगवान् के अंगस्पर्श से गोपियों की इंद्रियाँ प्रेम और आनंद से विह्वल हो गईं। उनके केश बिखर गए।

१ श्रीमद्भागवत, दशम स्कंध, श्लोक १—१६।

फूलों के हार टूट गए और गहने अस्तव्यस्त हो गए। वे अपने केश, वस्त्र और कंचुकी को भी पूर्णतया सँभालने में असमर्थ हो गईं। रासक्रीड़ा की यह स्थिति देखकर स्वर्ग की देवांगनाएँ भी मिलनकामना से मोहित हो गईं और समस्त तारों तथा ग्रहों के साथ चंद्रमा चकित एवं विस्मित हो गए।

रास और हल्लीस

हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कि हरिवंश पुराण में कृष्ण के रासनृत्य को हल्लीसक नाम से अभिहित किया गया था। हल्लीस को रास का पर्याय पाइयलच्छि नाममाला में हरिपाल ने ११वीं शताब्दी में घोषित किया। डा० विंटरनिट्ज ने भी अपने इतिहास में दोनों को पर्याय बताते हुए लिखा है—

These are the dances called रास or हल्लीस accompanied by pantomimic representations, and which still today take place in some parts of India, and, for instance, in Kathiawad are still known by a name corresponding to the Sanskrit हल्लीस।[१]

रासलीला का विस्तार—उत्तर भारत में सौराष्ट्र से लेकर कामरूप तक रासलीला का प्रचलन है। सौराष्ट्र की तो यह धारणा है कि पार्वती ने उषा को इस लास्य नृत्य की शिक्षा दी और उषा ने इस कला का प्रचार सर्वप्रथम सौराष्ट्र में किया। अतः सौराष्ट्र महाभारतकाल से इस नृत्यकला का केंद्र रहा। कामरूप में प्रचलित मणिपुरी नृत्य में रासलीला का प्रभाव सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। यद्यपि कामरूप (आसाम) में रासलीला के प्रभावकाल की तिथि निश्चित करना अत्यंत कठिन है तथापि एक प्रसिद्ध आलोचक का मत है कि होली के पवित्र पर्व पर प्रचलित (मणिपुरी) लोकनृत्य को वैष्णवों ने रासलीला के रूप में परिणत कर दिया। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लोकनृत्यों में उपलब्ध शृंगार को धार्मिकता के रंग में रँगकर इस नृत्य का विधान किसी समय किया गया होगा।

"The Holi", writes a well known art critic, "is a true expression of the emotions of the Hindu East at spring time, when the warm Sun which bronzes the cheek of beauty also subtly penetrates

---

१ A History of India (Ancient). Vol. I, (Winternitz)

each living fibre of the yielding frame, awakening by its mellowing touch, soft desires and wayward passions, which brook no restraint, which dread no danger, and over which the metaphysical Hindu readily throws the mantle of his most comprehensive and accommodating creed,"

When Vaishnavism and the Cult of Krishna absorbed this primitive festival and raised it to a religious ritual it became the Ras-Leela, invested it with a peculiar mystery and dignity. Of all the seasonal and religious festivals, this became the most popular and was enjoyed by all classes of people, without falling into any licentious or ribaldry like the Holi. A secular form of it was the Dolemancha, a kind of sport and pastime for young ladies who sought the seclusion of the graves or gardens and besported themselves on swings with accompanying songs and music.

—Dance of India, G. Venkatachalam, p. 115.

दक्षिण भारत में इस नृत्य के प्रचलन का वृत्तांत नहीं मिलता। हाँ, यक्षगान और रासलीला एक दूसरे से किसी किसी अंश में इतना साम्य रखती हैं कि एक का दूसरे पर प्रभाव परिलक्षित होता है। द्रविड़ देश में भागवतकार यक्षगान का संचालक माना जाता है। भागवतकार कब दक्षिण में कृष्णलीलाओं का अभिनय कराने लगे, यह कहना कठिन है। आज से १८०० वर्ष पूर्व तमिल भाषा में नृत्य विषयक एक ग्रंथ 'शिलप्पधिकारम्' विरचित हुआ। इस ग्रंथ में रासनृत्य का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। रासधारियों के स्थान पर चकयार नामक जाति का वर्णन मिलता है। रासमंडल के स्थान पर कूथंबलम का नामोल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि भरतनाट्य से पूर्व रासनृत्य से दक्षिण भारत के आचार्य परिचित नहीं थे।

दक्षिण भारत में शृंगाररस को प्रधान मानकर जिन नृत्यों का उल्लेख

मिलता है उनमें भी रास का नाम नहीं मिलता। 'नट नाथि वाद्य रंजनम्' नामक आर्य द्रविड भरतशास्त्र में दक्षिण भारत में प्रचलित नृत्यों का विस्तार से वर्णन करते हुए संभय जोधि नाट्यम्, गीतनाट्यम्, भरतनाट्यम्, पेरानिनाट्यम्, चित्रनाट्यम्, लयनाट्यम्, सिंहलनाट्यम्, राजनाट्यम्, पट्टस-नाट्यम्, पवइनाट्यम्, वियानाट्यम् एवं पदश्रीनाट्यम् का विवेचन किया है, किंतु रासनृत्य का वर्णन नहीं मिलता। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रासनृत्य को दक्षिण भारत में प्रश्रय नहीं मिला।

कथकाली के तीस भेदों में भी रासनृत्य का उल्लेख नहीं मिलता। दक्षिण के प्रसिद्ध नृत्य कुम्मी, कैकोट्टिकली, धुल्लाल, चकयार कूथु, मोहिति अत्तम, कुरवंची इत्यादि में भी रासलीला के समान मंडलाकार नृत्य नहीं पाया जाता। इससे सिद्ध होता है कि कृष्णलीला के कथानक को लेकर दक्षिण भारत में प्रचलित नृत्यों के आधार पर गीतनाट्य एवं नृत्यनाट्य की रचना हुई। श्रीमद्भागवत की कथावस्तु तो गृहीत हुई किंतु सौराष्ट्र एवं ब्रजभूमि में प्रचलित रासनृत्य की पद्धति दक्षिण भारत में स्वीकृत नहीं हुई।

रासलीला के ऐतिह्य रूप का हम पहले विवेचन कर चुके हैं कि चौदहवीं शताब्दी में रास की तीन पद्धतियाँ इतनी प्रचलित हो चुकी थीं कि उनका विश्लेषण वेम[1] को काव्यशास्त्र में करना पड़ा। हर्ष (६०६—६४८ ई०) काल में रास एवं चर्चरी दोनों का मनोहारी वर्णन हर्षचरित एवं रत्नावली में विद्यमान है। चर्चरी का वर्णन इस रूप में दृष्टिगोचर होता है—

मदनोत्सव के अवसर पर राजा, विदूषक, मदनिका आदि चेटियाँ रंग-मंच पर आसीन हैं। नर्तकियाँ चर्चरी नृत्य के द्वारा दर्शकों का मनोविनोद कर रही हैं। इतने में विदूषक मदनिका से चर्चरी सिखाने का अनुरोध करता है।[2] मदनिका विदूषक का उपहास करती हुई कहती है कि यह चर्चरी नहीं द्विपदी खंड है।

चर्चरी नृत्य की व्याख्या करते हुए वेद आचार्य का कथन है—

---

१. रासकस्य प्रभेदास्तु रासकं नाट्य रासकम्। चर्चरीतित्रयः प्रोक्ताः।

२. भोदि मअणिए, भोदि चूअलदिए, मंपि एदं वेमः चचरिं सिक्खावेहि।
(अरी मदनिका, ओरी चूतलतिका, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दे।—रत्नावली, प्रथम अंक।)

तेति गिध इति शब्देन नर्त्तनं रासतालतः ।
अथवा चर्चरीतालाचतुरावर्तनैर्नदैः ।
क्रियते नर्तनं तस्याश्चर्चरी नर्तनं, वरम् ॥

रत्नावली नाटिका के इस उद्धरण से यह निर्विवाद निश्चित हो जाता है कि चर्चरी, द्विपदी आदि का महत्व सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में इतना बढ़ गया था कि राजसभा में इनका संमान होने लगा था।

इसी प्रसंग में ह्वानत्सांग का यह विवरण विचारणीय है कि नागानंद नाटक के नायक जीमूतवाहन के त्यागमय पावन चरित्र को लोकनाट्य के रूप में परिवर्तित करके जनसामान्य में अभिनीत किया गया था। अधिक संभावना यही है कि हर्षचरित्र में वर्णित कृष्ण की रासलीला की शैली पर यह नृत्यरूपक प्रदर्शित होता रहा हो। इस प्रकार रास के एक भेद चर्चरी का स्वाभाविक विकास होता जा रहा था।

रिपुदारण रास[1] की कथावस्तु से रासनृत्य की एक पद्धति अधिक स्पष्ट हो जाती है। उपमितिभवप्रपंचकथा में वर्णित इस रास का सारांश दिया हुआ है।

रिपुदारण रास में जिस ध्रुवक का वर्णन मिलता है उसका विवेचन करते हुए आचार्य वेद लिखते हैं—

गीयमाने ध्रुवपदे गीते भावमनोहरे।
नर्तनं तनुयात्पात्रं कान्ताहास्यादिदर्शिनम् ॥
नानागतिलसद्भाव मुखरागादि संयुतम्।
सुकुमाराङ्ग विन्यासं दन्तोद्योतितहावकम् ॥
खण्डमानेन रचितं मध्ये मध्ये च कम्पनम्।
यत्र नृत्यं भवेदेवं ध्रुपदाख्यं तदा भवेत् ॥
प्रायशो मध्यदेशीयभाषया यत्र धातवः।
उद्ग्राह ध्रुवकाभोगास्त्रय एते भवन्ति ते ॥
× × ×
स्यादक्षिभ्रू विकारादि शृंगाराकृति सूचके ॥

इससे प्रगट होता है कि रिपुदारण रास रासनृत्य को नवीनता की ओर ले जा रहा था और कृष्णरास की पद्धति के अतिरिक्त लौकिक विषयों को

---

१. रिपुदारण रास—रचनाकाल विक्रम संवत् ९६२।

कथावस्तु बनाकर एक नूतन पद्धति का विकास हो रहा था। इस रास से यह भी सिद्ध होता कि नवीं शताब्दी में कृष्णोचर रासों की रचना होने लगी थी।

रास नृत्य का उत्तरकालीन नाटकों पर प्रयोग

सौराष्ट्र के कवि रामकृष्ण ने 'गोपालकेलिचंद्रिका' नामक नाटक की रचना की। इस नाटक की एक विशेषता यह है कि इसमें प्राचीन संस्कृत नाट्यशैली का पूर्णतया अनुसरण न कर पश्चिमोत्तर भारत में प्रचलित स्वाँग शैली को ग्रहण किया है। नवीन शैली के अनुसार सूत्रधार के स्थान पर सूत्रक आता है जो आद्योपांत कथा की शृंखला को जोड़ता चलता है। दूसरी विशेषता यह है कि पात्र परस्पर वार्तालाप भी करते हैं और काव्यों का सस्वर पाठ भी। इसकी तीसरी विशेषता यह है कि इसमें अभिनय की उस शैली का अनुकरण हो जिसमें ब्राह्मण पात्रों के संवादों को स्वयं कहता चलता है और उसके कुमार शिष्य उसका अभिनय क्रिया रूप में दिखाते चलते हैं।

'गोपालकेलिचंद्रिका' के अंतिम अंक में कृष्ण योगमाया का आह्वान करते हैं। अपनी मधुर मुरलीध्वनि से वह गोपियों को रासक्रीड़ा के लिये आकर्षित करते हैं। देवसमाज उनके अभिनंदन के लिये एकत्रित होता है। अंत में कृष्ण गोपियों की प्रार्थना स्वीकार करते हैं और रास में उनका नेतृत्व करते हैं। इसका निर्देश वर्णनात्मक रूप से भी किया गया है। अंत में नाटक का संचालक (सूत्रधार अथवा सूत्रक) नृत्य की परिसमाप्ति नृत्य के मध्य में ही यह कहते हुए करता है कि परमेश्वर की महत्ता का पर्याप्त रूप से प्रत्यक्षीकरण असंभव है।

इस नाटक से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि धार्मिक नाटकों में रासनृत्य को प्रमुख स्थान देने की परंपरा स्थापित हो चुकी थी।

"रिपुदारण रास" के उपरांत संस्कृत राससाहित्य का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के उपरांत देश में सार्वभौम सत्ता की स्थापना के लिये विविध शक्तियों में प्रतिस्पर्धा बढ़ रही थी। गहड़वार, राष्ट्रकूट, चौहान, पाल, आदि राजवंश एक दूसरे को नीचा दिखाने के उद्योग में लगे थे। ऐसे अशांत वातावरण में रासलीला देखने का किसको उत्साह रहा होगा। देश में जब गृहयुद्ध छिड़ा हो, जनता के प्राणों पर आ बनी हो, कृष्ण की जन्मभूमि रक्तरंजित हो रही हो, उन दिनों रासलीला के द्वारा

परमार्थचिंतन की साध किसके मन में उठ सकती है। इन्हीं कारणों से ८ वीं शताब्दी से १५ वीं शताब्दी तक के मध्य कृष्ण रासलीला का प्रायः अभाव सा प्रतीत होता है। यह प्राकृतिक सिद्धांत है कि आमुष्मिकता और विनोदप्रियता के लिये देश में शांत वातावरण की बड़ी अपेक्षा रहती है।

उत्तर भारत में गुर्जर देश एवं सौराष्ट्र के अतिरिक्त प्रायः सर्वत्र अशांत वातावरण था। इस कारण संभवतः रासलीला के अनुकूल वातावरण न होने से जयदेव कवि तक वैष्णव रासों का निर्माण न हो सका। जयदेव के उपरांत मुगल राज्य के शांत वातावरण में रासलीला का पुनः प्रचार बढ़ने लगा। चैतन्य देव, वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास प्रभृति महात्माओं के योग से रासलीला साहित्य की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी। इस संग्रह में उसी काल के वैष्णव रास साहित्य का चयन किया गया है।

हम पहले विवेचन कर आए हैं कि रासनृत्य का बीज कतिपय मनीषियों ने श्रुतियों में ढूँढ निकाला है। कन्हैयालाल मुंशी का मत है कि रासनृत्य को आधृत मानकर भारोपीय काल का जन-साहित्य निर्मित हुआ। नरनारी शृंगारप्रधान उन काव्यों का गायन करते हुए उपयुक्त ताल, लय एवं गति के साथ मंडलाकार नृत्य करते थे। कभी केवल पुरुष कभी केवल स्त्रियाँ इस नृत्य में भाग लेतीं। इस नृत्य के मूल प्रवर्तक श्रीकृष्ण मथुरा राज्य के निवासी थे जिन्होंने ईसा से शताब्दियों पूर्व इस नृत्य को गोप-समाज में प्रचलित किया। वृष्णि, सात्वत, आभीर आदि जातियों ने इस नेता की आराधना की और रास को धर्मोन्मुखी नृत्य के पद पर प्रतिष्ठित किया।

रासनृत्य की प्राचीनता

मध्य देश के गेय पद (गीत) रासनृत्य की प्रेरणा से आविर्भूत हुए। इन गीतों की भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। इन गीतों को कुशल कलाकारों ने ऐसे लय एवं रागों में बाँधा जो रासनृत्य के साथ साथ सरलतापूर्वक प्रयुक्त हो सकें।[१] कन्हैयालाल मुंशी का मत है कि इन गीतों एवं नृत्यों ने संस्कृत नाटकों के नवनिर्माण में एक सीमा तक योग दिया।

---

१ Gujrat and its Literature, p. 135.

इसी रासनृत्य ने यात्रानाटकों को जन्म दिया। यात्रानाटक धार्मिक व्यक्तियों की प्रेरणा से पवित्र पर्वों एवं उत्सवों पर अभिनीत होने लगे।

रास और यात्रा हमारे देश के आपत्काल में जब संस्कृत नाटक ह्रासोन्मुख होने लगे तो ये यात्रानाटक जन सामान्य को धर्म की ओर उन्मुख करने एवं नृत्य वाद्य आदि ललित कलाओं में अभिरुचि रखने के लिये सहायक सिद्ध हुए।

यात्रानाटकों का प्रारंभ डा० कीथ वैदिक काल से मानते हैं। ललितविस्तर में बुद्ध के जिस नाट्यप्रदर्शन में दर्शक बनने का वर्णन मिलता है संभवतः वह यात्रानाटक ही थे। ये यात्रानाटक शक्ति और शंकर की कथाओं के आधार पर खेले जाते रहे होंगे। पूर्वी भारत में चंडी[१] शक्ति और शंकर की लीलाओं के आधार पर यात्रानाटकों का प्रचलन था तो मध्यभारत और सौराष्ट्र में कृष्णलीलाओं का प्रदर्शन रासनृत्य को केंद्र बनाकर किया जाता था।

यात्रासाहित्य के अनुसंधाताओं का मत है कि कृष्णयात्रा का प्रारंभ संभवतः जयदेव के गीतगोविंद के उपरांत हुआ होगा। इसके पूर्व शक्तियात्रा और चंडीउपासना के गीत यात्राकाल में गाए जाते रहे होंगे। इसी मत का समर्थन बंकिमबाबू के बंगदर्शन[२] एवं पं० द्वारकानाथ विद्याभूषण के 'सोमप्रकाश' में उद्धृत लेखों से प्राप्त होता है।

रास और यात्रा के उपलब्ध साहित्य का परीक्षण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव महाकवि के गीतगोविंद ने रास और यात्रा की नाट्य-पद्धतियों पर अभूतपूर्व प्रभाव डाला। रासनृत्य के यात्रानाटकों में संमिलित होने का रोचक इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है। महमूद गजनवी के

---

१ The ancient yatras that were prevalent in Bengal were about the cult of Sakti worship, and dealt mainly with the death of Shumbha and Nishumbha or of other Asuras. In one sense we can regard Chandi as a piece of dramatic literature. In this drama we find one Madhu, two Kaitabhas, three Mahishasuras, fourth Shumbha, fifth Nishumbha were killed.

At that time, there was no Krishna Jatra. —The Indian Stage Vol. I, page 112-

२ Bang Darshan, Falgun, 1289, B. S.

मथुरा और सोमनाथ के मंदिरों के धराशायी होने एवं देवविग्रह के खंड खंड होने के कारण मथुरा की रासलीला पद्धतियों को (यदि वे प्रचलित रही हों तो) धक्का पहुँचा होगा। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के दिल्ली-कन्नौज-विजय के उपरांत रासलीला की अवशिष्ट पद्धति भी विलीन हो गई होगी। ऐसी स्थिति में उन कलाकारों की क्या गति हुई होगी, यह प्रश्न विचारणीय है।

दैवयोग से इन्हीं दिनों उत्कल के पराक्रमी राजा अनंगभीमदेव द्वितीय सिंहासनासीन हुए और उन्होंने अपने पुत्रों एवं सेनापतियों के पराक्रम से एक विस्तृत स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। हुगली से गोदावरी तक विस्तीर्ण राज्यस्थापन में उन्हें अनंत धन हाथ लगा और १२०५ ई० में उन्होंने उसके एक अंश से जगन्नाथ जी का मंदिर निर्मित कराया। स्वप्न में भगवान् के आदेश से देवप्रतिमा समुद्रवेला की बालुकाराशि से उद्धृत हुई और बड़े उत्साह के साथ प्रतिमा जगन्नाथ जी के मंदिर में प्रतिष्ठित की गई। स्वभावतः उल्लास के कारण जनसमुदाय नृत्य के साथ संकीर्तन करता हुआ जलूस (यात्रा) के साथ आया होगा और नव-मंदिर-निर्माण से हिंदू जाति के हृदय में प्राचीन मंदिरों के भग्न होने का क्लेश तिरोहित होने लगा होगा।

जगन्नाथ जी की प्रतिमा की विभिन्न यात्रा (स्नानयात्रा, रथयात्रा) के अवसर पर नृत्य, संगीत एवं नाट्य अभिनय की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। मथुरा वृंदावन के कलाकार जीविका की खोज एवं भक्तिभावना से पूरित हृदय लिए जगन्नाथ जी की यात्रा को अवश्य पहुँचे होंगे। जगन्नाथ जी की यात्रा उस काल का एक राष्ट्रीय त्योहार बन गया होगा। जयदेव के कोकिलकंठ से उल्लसित गीतों, मधुर गायकों एवं रासधारियों के नर्तन के योग से गीत-गोविंद आकर्षक नृत्यनाट्य का रूप धारण कर गया होगा। जगन्नाथ में रासलीला के प्रवेश का यही विवरण संभव प्रतीत होता है।

जयदेव द्वारा प्रवर्तित रासलीला चैतन्यकाल में नवजीवन पाकर शताब्दियों तक पल्लवित होती रही। दूरस्थ देशों से दर्शनार्थ आनेवाले यात्रियों को कृष्णलीला का रासनृत्य द्वारा प्रदर्शन देखकर अत्यंत प्रसन्नता होती रही होगी। वह कृष्णयात्रा (कालियदमन) अब तक उत्कल देश को आनंदित करती रहती है।

इतिहास[१] इस तथ्य का साक्षी है कि मुसलमानों ने मध्यकाल में जहाँ

---

१ A History of Orissa, Vol. I, p. 16.

देश के विभिन्न देवमंदिरों का विध्वंस कर दिया, जगन्नाथ जी के मंदिर से प्रति वर्ष ६ लाख रुपया कर लेकर उसकी प्रतिमा को नष्ट नहीं होने दिया। इस प्रकार पुजारियों, वैष्णव भक्तों एवं यात्रियों से इतनी बड़ी धनराशि के प्रलोभन ने देवमंदिर की प्रतिष्ठा को स्थायी बनाए रखा। धर्मभीरु जनता मुसलमान शासकों को कर देकर देवदर्शन के साथ साथ भगवान् के रास-दर्शन से भी कृतार्थ होती रही। रासनृत्य की यही परंपरा चैतन्यकाल में अकबर का शांतिमय राज्य पाकर पुनः मथुरा वृंदावन के करीलकुंजों में गुंजरित हो उठी।

बौद्धधर्म के पतनोन्मुख होते समय उत्कल के बौद्ध विहारों से जनता की श्रद्धा हटती गई। शैवधर्म ने पुनः बल पकड़ा और छठी शताब्दी में भुवनेश्वर के शैवमंदिरों का निर्माण तेजी से होने लगा[१]। शक्तियात्रा के लिये उपयुक्त वातावरण मिलने से चंडीचरित्र प्रचलित होने लगा।

दसवीं शताब्दी में विरचित विष्णुपुराण इस तथ्य का साक्षी है कि वैष्णवों ने बौद्धधर्म की अवशिष्ट शक्ति का मूलोन्मूलन कर दिया और वासुदेव की उपासना संपूर्ण उत्तर भारत में फैलने लगी। रामानुज, रामानंद, चैतन्य, शंकरदेव, वल्लभ, हित हरिवंश आदि महात्माओं ने वैष्णव धर्म के प्रचार में पूरा योग दिया और रासनृत्य पुनः अपनी जन्मभूमि मथुरा में अधिष्ठित हो गया।

लास्य रास की परंपरा सौराष्ट्र में

'रास' गीत का नाट्योचित पद्यप्रकार सौराष्ट्र गुजरात के गोपजीवन से संबंधित है। इसका इतिहास भी श्रीकृष्ण के द्वारिकावास जितना ही पुराना है। गुजरात में रास के प्रचार का श्रेय कृष्ण के सौराष्ट्रनिवास को ही है।

शार्ङ्गदेव (१३वीं सदी) ने अपने ग्रंथ संगीतरत्नाकर के सातवें नर्तनाध्याय में नृत्यपरंपरा के संबंध में तीन श्लोकों में इस प्रकार विवरण दिया है—

लास्यमस्याग्रतः प्रीत्या पार्वत्या समदीदिशत् ॥६॥
पार्वती त्वनुशास्तिस्म लास्यं बाणात्मजामुषाम्।
तया द्वारवती गोप्यस्ताभिः सौराष्ट्रयोषितः ॥७॥

---

१ A History of Orissa, Vol. I, p. 13.

ताभिस्तु शिक्षिता नार्यो नानाजनपदास्पदाः ।
एवं परम्पराप्राप्तमेतल्लोके प्रतिष्ठितम् ॥८॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जनता में लास्य का प्रचार कैसे हुआ। 'अभिनयदर्पण' में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है। हेमचंद्र अपनी देशी नाममाला में और धनपाल अपनी 'पाइअलच्छी नाममाला' में कहते हैं कि प्राचीन विद्वान् जिसे 'हलीष(स)कम्' और रासक कहते हैं वे वस्तुतः एक ही हैं। नाट्यशास्त्र में हल्लीसक और रासक को नाट्यरासक के उपरूपक के रूप में स्वीकार किया गया है।

सौराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त नरसिंह महेता को शिव जी की कृपा से रासलीला देखने का अवसर प्राप्त हुआ था। रास सहस्रपदी में यह प्रसंगबद्ध कर लिया गया है। कृष्ण गोपी का रास सभी से प्राचीन रास है। इसमें सभी रसमय हो जाते हैं।

रास अथवा लास्य केवल रसपूर्ण गीत ही नहीं, इसमें नृत्य, गीत और वाद्य का भी समावेश होता है। अतः नृत्य, वाद्य और गीत इन तीनों का मधुर त्रिवेणी संगम है रास।

राजशेखर की 'विद्धशालभंजिका' नाटक में रास का स्पष्ट उल्लेख आया है—

"तवाङ्गणे खेलति दण्डरास"

जयदेव के गीतगोविंद में भी रास का उल्लेख पाया जाता है—

"रासे हरिरिह सरस विलासम्"

देश देश की रुचि के अनुसार रासनृत्य के ताल और लय में विविधता रहती थी। गति की दृष्टि से रास के दो प्रकार हैं—(१) मसृण अर्थात् कोमल प्रकार और (२) उद्धत अर्थात् उत्कृष्ट प्रकार।

हेमचंद्रसूरि के शिष्य रामचंद्र गुणचंद्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' में लास्य के अवांतर भेदों का वर्णन किया है। पं० पुंडरीक विट्ठल (१६ वीं सदी) के ग्रंथ "नृत्यनिर्णय" में दंडरास्य के संबंध में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।

असकृन्मंडली भूय गीततालखयानुगं ।
तदोदितं बुधैर्दंण्ड-रासं जनमनोहरम् ॥
दण्डैर्विना कृतं नृत्यं रासनृत्यं तदेव हि ।

श्री बिल्वमंगल स्वामी ने अपने "रासाष्टक" में रास का सुंदर वर्णन किया है। "बालगोपालस्तुति" नामक ग्रंथ की हस्तलिखित प्राप्त प्रतियों के कृष्ण के चित्रों से रासपरंपरा के उद्गम स्थान पर बहुत प्रकाश पड़ता है। यह चित्र 'रासाष्टक' के इन श्लोकों के आधार पर निर्मित है—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो।
माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना॥
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः।
संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

इस गीत का ध्रुवपद है—

"संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः।"

ऊषा अनिरुद्ध के विवाह के कारण द्वारिका के नारीसमाज में नृत्य-परंपरा का आरंभ हुआ और धीरे धीरे सौराष्ट्र भर में उसका प्रचार हुआ।

लास्य की दूसरी परंपरा भी है जिसके प्रणेता हैं अर्जुन। अर्जुन ने उत्तरा को नृत्य सिखाया था। उत्तरा अभिमन्यु की पत्नी हुई। सब सौराष्ट्र में आकर बस गए और यों उत्तरा के द्वारा सौराष्ट्र में नृत्य का प्रचार हुआ। इस बात का उल्लेख १४वीं सदी के संगीतसुधाकर, नाट्यसर्वस्वदीपिका और सुधाकलश विरचित संगीतोपनिषत्सार अथवा संगीतसरोद्धार में मिलता है।

इन सभी बातों से स्पष्ट है कि लास्य और रास नृत्य की परंपरा सौराष्ट्र में पाँच सहस्र वर्षों से भी प्राचीन है।

रास के गीतों का विषय प्रायः कृष्णगोपियों का विविध लीलाविहार था। प्रेमानंद कवि ने भी ऐसा ही वर्णन किया है।

जैन रास का विकास

पिछले अध्याय में वैष्णव रास के उद्भव और क्रमिक विकास का उल्लेख किया जा चुका है। रास संबंधी उपलब्ध साहित्य में जैन साहित्य का मुख्य स्थान है। इस साहित्य के रचनाकाल को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक शतशत जैन रासों की रचना हुई। इस अध्याय में मध्यकालीन जैन रासों के विकासक्रम का विवेचन किया जायगा।

जिस प्रकार वैष्णव रास का सर्वप्रथम नामोल्लेख एवं विवरण हरिवंश पुराण में उपलब्ध है उसी प्रकार प्रथम जैन रास का संकेत देवगुप्ताचार्य विरचित नवतत्वप्रकरण के भाष्यकार अभयदेव सूरि की कृति में विद्यमान है। अभयदेव सूरि ने नवतत्वप्रकरण का भाष्य संवत् ११२८ वि० में रचते हुए दो रासग्रंथों के अनुशीलन का विवरण इस प्रकार दिया है—

चतुर्दश्या रात्रि शेषे समुत्थाय शय्यायाः, स्नानादिशौचपूर्वं चन्दनादि चर्चित वदनः परिहितप्रवर नवादि वस्त्रो यथाविभवमाभरणादिकृत शृंगारोऽन्यस्य कस्यापि मुखमपश्यन्नुद्गत एव सूर्येऽखंडास्फुटित तंडुलभृताञ्जलि विनिवेशित नारङ्ग नारिकेर जातिफलो जिनभवनमागत्य विहित प्रदक्षिणात्रयस्तत्सम्भवाभावे चैवमेव जयादिशब्दपूर्वं जिनस्यनमस्कारं कुर्वंस्तदग्रे तन्दुलादीन्मुञ्चेत; ततो विहित विशिष्ट सपर्यो देववन्दनां कृत्वा गुरुवन्दनां च, साधूनां गुडघृतादिदानपूर्वं साधर्मिकान् भोजयित्वा स्वयं पारयतीति। अनयोश्चविशेषविधिर्मुकुटसप्तमी सन्धिबन्ध माणिक्यप्रस्तारिका प्रतिबन्ध रासकाभ्यामवसेय इति।—भाष्यविवरण, पृ० ५१।

अर्थात् चतुर्दशी को कुछ रात्रि शेष रहते शैया से उठकर स्नानादि से निवृत्त होकर, चंदनचर्चित शरीर पर नवीन वस्त्र और आभूषण धारण करके, अँधेरे मुँह सूर्योदय से पूर्व अंजली में चावल, नारियल, जातिफल इत्यादि लेकर जैनमंदिर में जाकर नियमानुसार प्रदक्षिणा करके, जिनप्रतिमा को नमस्कार करते हुए उसके आगे चावल आदि को सेवा में अर्पित कर दे। देववंदना और गुरुवंदना के उपरांत धार्मिक व्यक्तियों को भोजन कराके स्वयं भोजन करे और मुकुटसप्तमी एवं संधिबंध माणिक्यप्रस्तारिका नामक रासों का अवसेवन करे।

'मुकुटसप्तमी' एवं 'माणिक्यप्रस्तारिका' नामक रासों के अतिरिक्त प्राचीन रासों में 'अंबिकादेवी' नामक रास का दसवीं शताब्दी में उल्लेख-मिलता है। 'उपदेशरसायन' रास के पूर्व ये तीन रास ऐसे हैं जिनका केवल नामोल्लेख मिलता है किंतु जिनके वर्ण्य विषय के संबंध में निश्चित मत नहीं स्थिर किया जा सकता। हाँ, उद्धरण के प्रसंग से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये रास नीति-धर्म-विषयक रहे होंगे, तभी इनका अनुशीलन धार्मिक कृत्य के रूप में आवश्यक माना गया था। विचारणीय विषय यह है कि इन दोनों रासों—'मुकुटसप्तमी' और 'माणिक्यप्रस्तारिका'—का रचनाकाल क्या है और किस काल में इनका अनुशीलन इतना आवश्यक माना गया है।

जिन अभयदेव सूरि की चर्चा हम अभी कर आए हैं, उनका परिचय जिनवल्लभ सूरि ने इस प्रकार दिया है—"चंद्रकुल रूपी आकाश के सूर्य श्री वर्धमान प्रभु के शिष्य सूरि जिनेश्वर हुए जो दुर्लभराज की राज्यसभा में प्रतिष्ठित थे। मेधानिधि जिनचंद्र सूरि द्वारा संस्थापित श्री स्तंभनपुर में नवनवांग विवृतिवेधा जिनेंद्रपाल अभयसूरि उत्पन्न हुए। अर्थात् अभयदेवसूरि जिनवल्लभ से पूर्व और जिनचंद्र के उपरांत हुए। जिनवल्लभ को उनके गुरु जिनेश्वरसूरि ने श्री अभयदेवसूरि के यहाँ कुछ काल तक शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा। जिनवल्लभ ने अभयदेवसूरि के यहाँ विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। जिनवल्लभ का देवलोकप्रयाण संवत् ११६७ में कार्तिक कृष्णा द्वादशी को हुआ। अतः निश्चित है कि श्री अभयदेवसूरि सं० ११६७ से कुछ पूर्व ही हुए होंगे और यह भी निश्चित है कि उनके समय तक 'मुकुट-सप्तमी' एवं 'माणिक्यप्रस्तारिका' नामक रास सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुके थे। अतः इन रासों की रचना ११वीं शताब्दी या उससे पूर्व मानना उचित होगा।

'उपदेशरसायनरास' संभवतः उपलब्ध जैन रासग्रंथों में सबसे प्राचीन है। इस रास में पद्धटिका[1] छंद का प्रयोग किया गया है जो 'गीतिकोविदैः सर्वेषु रागेषु गीयत इति' के अनुसार सभी रागों में गाया जाता है।

इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि "उपदेशरसायन रास" को जैन रासपरंपरा की प्रारंभिक प्रवृत्ति का परिचायक माना जा

---

१ अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० ११५।

सकता है। "मुकुटसप्तमी" 'एवं माणिक्यप्रस्तारिका' का मंदिर में अव-सेवन इस तथ्य का प्रमाण है कि इनमें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं का अवश्य समावेश रहा होगा, और 'उपदेशरसायन रास' उसी परंपरा में विर-चित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

उपदेशरसायन रास के अनुशीलन से धार्मिक रास की उपयोगिता इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतीत होती है[1]—

धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं
भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि - बल - रायह चरियइँ
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइँ॥

अर्थात्—

"उन धार्मिक नाटकों को नृत्य द्वारा दिखाना चाहिए जिनमें भरतेश्वर बाहुबलि एवं सगर का निष्क्रमण दिखाया गया हो। उनका कथन करना चाहिए। बलदेव, दशार्णभद्रादि चरित को कहना चाहिए। ऐसे महापुरुष के जीवन को नर्तन के आधार पर दिखाना चाहिए जिनसे प्रव्रज्या के लिये संवेग वासना उत्पन्न हो।"

जंबूस्वामी चरित में 'अंबादेवी रास' का उल्लेख मिलता है। जंबू-स्वामी चरित की रचना सं० १०७६ वि० में हुई थी। उसमें 'अंबादेवी' का रास मिलता है। इस रास से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि अंबा-देवी के चरित के आधार पर जीवन को अध्यात्म तत्व की ओर उन्मुख करने के लिये इस रास की रचना हुई होगी।

इसी प्रकार अपभ्रंश में एक 'अंतरंग रास' की रचना का भी उल्लेख पाया जाता है। यह रास अभी तक प्रकाशित पुस्तक के रूप में नहीं आया

---

१ धार्मिकानि नाटकानि परं नृत्यन्ते
भरत-सगर निष्क्रमणानि कथ्यन्ते।
चक्रवर्ति-बलराजस्य चरितानि
नर्तित्वाऽन्ते भवन्ति प्रव्रजितानि॥
—उपदेशरसायन रास, ३७।

है। मुझे इसकी हस्तलिखित प्रति भी अभी तक देखने को नहीं मिली। बारहवीं शताब्दी तक उपलब्ध रासों की संख्या अब तक इतनी ही मानी जा सकती है।

१२ वीं शताब्दी के उपरांत विरचित उपलब्ध रास ग्रंथों की संख्या एक सहस्र तक पहुँच गई है। इनमें से अति प्रसिद्ध रासग्रंथों का सामान्य विवेचन इस संग्रह में देने का प्रयास किया गया है।

तेरहवीं शताब्दी के रास

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी रासरचना के लिये सर्वोत्कृष्ट मानी जाती है। इस युग में साहित्यिक एवं अभिनेयता की दृष्टि से उत्कृष्ट कई रचनाएँ दिखाई पड़ती हैं। जैनेतर रासकों में काव्यकला की दृष्टि से सर्वोत्तम रास 'संदेशरासक' इसी युग के आस पास की रचना है। वीररसपूर्ण 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' तथा 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' काव्य की दृष्टि से उत्तम काव्यों में परिगणित होते हैं। इस रास की भाषा परिमार्जित एवं गंभीर भावों के साथ होड़ लेती हुई चलती है। जैन रासों में 'जंबूस्वामि रास', 'रेवंतगिरि रास' एवं 'आबू रास' प्रभृति ग्रंथ प्रमुख माने जाते हैं। उनकी रचना इसी युग में हुई है।

'उपदेशरसायन रास' की शैली पर विरचित 'बुद्धिरास' गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग दिखाता है। आचार्य शालिभद्र सूरि सज्जन से विवाद, नदी सरोवर में एकांत में प्रवेश, जुवारी से मैत्री, सुजन से कलह, गुरुविहीन शिक्षा एवं धनविहीन अभिमान को व्यर्थ बताते हुए गार्हस्थ्य धर्म के पालन पर बल देते हैं। मातृ-पितृ-भक्ति पर बल देते हुए दानशीलता की महिमा बताना इस रास का लक्ष्य है। श्रावक धर्म की ओर भी संकेत पाया जाता है। इस प्रकार नैतिकता की ओर मानव मन को प्रेरित करने का रासकारों का प्रयास इस युग में भी दिखाई पड़ता है।

जैनधर्म में जीवदया पर बड़ा बल दिया जाता है। इसी युग में आसिग कवि ने 'जीवदया रास' में श्रावक धर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। 'बुद्धिरास' के समान इसमें भी मातापिता की सेवा, देवगुरु की भक्ति, मन पर संयम, सदा सत्यभाषण, निरंतर परोपकार-चिंतन पर बल दिया गया है। धर्म की महिमा बताते हुए कवि धर्मप्रेमियों में विश्वास उत्पन्न

कराना चाहता है कि धर्मपालन से ही लोक में समृद्धि और परलोक में सुख संभव है। आगे चलकर कवि धर्मात्माओं की कष्टसहिष्णुता का उल्लेख करके धर्मपालन के मार्ग की बाधाओं की ओर भी संकेत करता है। इस प्रकार ५३ श्लोकों में विरचित यह लघु रास अभिनेय एवं काव्यछटा से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है।

इसी युग में एक ऐसा जैन रास मिलता है जिसका कृष्ण बलराम से संबंध है। जैन संप्रदाय में मुनि नेमिकुमार का बड़ा माहात्म्य है। उन्हीं की जीवनगाथा के आधार पर 'श्रीनेमिनाथ रास' की रचना सुमति-गणि ने की। इस रास में कृष्ण के चरित्र से नेमिनाथ के चरित्रबल की अधिकता दिखाना रासकार को अभीष्ट है। कृष्ण नेमिनाथ के तेजबल को देखकर भयभीत हुए कि द्वारावती का राज्य उसे ही मिलेगा। अतः उन्होंने मल्लयुद्ध के लिये नेमिनाथ को ललकारा। नेमिनाथ ने युद्ध की निस्सारता समझाते हुए कृष्ण से मल्लयुद्ध में भिड़ना स्वीकार नहीं किया। इसी समय ऐसा चमत्कार हुआ कि कृष्ण नेमिनाथ के हाथों पर बंदर के सदृश झूलते रहे पर उनकी भुजाओं को झुका भी न सके। यह चमत्कार देखकर कृष्ण ने हार स्वीकार कर ली और वे नेमिनाथ की भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। इसके उपरांत उग्रसेन की कन्या राजमती के साथ विवाह के अवसर पर जीवहत्या देखकर नेमिनाथ के वैराग्य का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। यह लघु रास अभिनेय होने के कारण अत्यंत जनप्रिय रहा होगा क्योंकि इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ स्थान स्थान पर जैन भंडारों में उपलब्ध हैं।

कृष्णजीवन से संबंध रखनेवाला एक और जैन रास 'गयसुकुमाल' मिला है। गजसुकुमार मुनि का जो चरित्र जैनागमों में पाया जाता है वही इसकी कथावस्तु का आधार है।

इस रास में गजसुकुमार मुनि को कृष्ण का अनुज सिद्ध किया गया है। देवकी के ६ मृतक पुत्रों का इसमें उल्लेख है। उन पुत्रों के नाम हैं— अनीकसेन, अजितसेन, अनंतसेन, अनिहतरिपु, देवसेन और शत्रुसेन। देवकी के गर्भ से गजसुकुमार के उत्पन्न होने से बालक्रीड़ा देखने की उनकी अभिलाषा पूर्ण हो, यही इस रास का उद्देश्य है। ३४ श्लोकों में यह लघु रास समाप्त होता है और अंत में इस रास का अभिनय देखने और उसपर विचार करने से शाश्वत सुखप्राप्ति निश्चित मानी गई है।

यह प्रमाण है कि किसी समय इस रास के अभिनय का प्रचलन अवश्य रहा होगा।

जैनधर्म में तीर्थ स्थानों का अत्यंत माहात्म्य माना गया है। इसी कारण रेवंतगिरि एवं आबू तीर्थों के महत्व के आधार पर 'रेवंतगिरि रास' एवं 'आबू रास' विरचित हुए। रेवंतगिरि रास चार कड़वकों में और आबू रास भाषा और ठवणी में विभक्त है। जिन लोगों ने इन तीर्थों में देवालयों का निर्माण किया उनकी भी चर्चा पाई जाती है। स्थानों का प्राकृतिक दृश्य, धार्मिक महत्व, मंदिरों की छटा और तीर्थदान की महिमा का सरस वर्णन मिलता है। काव्यसौष्ठव एवं प्राकृतिक वर्णन की सूक्ष्मता की दृष्टि से रेवंतगिरि रास उत्कृष्ट रासों में परिगणित होता है। इसका अर्थ विस्तार के साथ पृ० ५१६ से ५२३ तक दिया हुआ है।

तात्पर्य यह है कि १३ वीं शताब्दी में जैन मुनियों, दानवीरों, तीर्थ-स्थान-महिमा की अभिव्यक्ति के लिये अनेक लघु एवं अभिनेय रास विरचित हुए।

१४ वीं शताब्दी के प्रमुख जैन रास

चौदहवीं शती का मध्य आते आते रासान्वयी काव्यों की एक नई शैली फागु के नाम से पनपने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि जब जैन देवालयों में रास के अभिनय की परंपरा ह्रासोन्मुख होने लगी तो बृहत् रासों की रचना होने लगी। इस तथ्य का प्रमाण मिलता है कि रास के अभिनेता युवक युवतियों के संगीतमाधुर्य से यत्रतत्र प्रेक्षकों के चारित्रिक पतन की आशंका उपस्थित हो गई। ऐसी स्थिति में विचारकों ने संगठन के द्वारा यह निर्णय किया कि जैन मंदिरों में रासनृत्य एवं अभिनय निषिद्ध घोषित किया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि रासकारों ने रास की अभिनेयता का बंधन शिथिल देखकर बृहत् रासकाव्यों का प्रणयन प्रारंभ किया। यह नवीन शैली इतनी विकसित हुई कि रास के रूप में पंद्रहवीं शती में और उसके उपरांत पूरे महाकाव्य बनने लगे और रास की अभिनेयता एक प्रकार से समाप्त हो गई।

१४ वीं शती में जनता ने मनोविनोद का एक नया साधन ढूँढ़ निकाला और फागु रचना का निर्माण होने लगा। ये फागु सर्वथा अभिनेय होने

और धार्मिक बंधनों से कभी कभी मुक्त होने के कारण भली प्रकार विकसित हुए। इसका उल्लेख फागु के प्रसंग में विस्तार के साथ किया जायगा।

इस शती की प्रमुख रचनाओं में 'कछूली रास' एवं 'सप्तक्षेत्रि रास' का महत्व है। 'कछूली रास' कछूली नामक नगर के माहात्म्य के कारण विरचित हुआ। यह नगर अग्निकुंड से उत्पन्न होनेवाले परमारों के राज्य में स्थित है। यह पवित्र तीर्थ आबू की तलहटी में स्थित होने के कारण पुण्यात्माओं का वासस्थल हो गया है। यहाँ पार्श्वजिन का विशाल मंदिर है जहाँ निरंतर पार्श्वजिन भगवान् का गुणगान होता रहता है। यहाँ निवास करनेवाले माणिक प्रभु सूरि अंबिलादि व्रतों का निरंतर पालन करते हुए अपना शरीर कृश बना डालते थे। उन्होंने अपना अंतकाल समीप जानकर उदयसिंह सूरि को अपने पट्ट पर आसीन किया। उदयसिंह सूरि ने अपने गुरु के आदेश का पालन किया और तप के क्षेत्र में दिग्विजय प्राप्त करके गुर्जरधरा, मेवाड़, मालवा, उज्जैन आदि राज्यों में श्रावकों को सद्धर्म का उपदेश किया। उन्होंने स्थान स्थान पर संघ की प्रभावना की और वृद्धावस्था में कमल सूरि को अपने पट्ट पर विभूषित करके अनशन द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध किया।

इस प्रकार इस रास में कछूली नगरी के तीन मुनियों की जीवनगाथा का संकेत प्राप्त होता है। इससे पूर्व विरचित रासों में प्रायः एक ही मुनि का माहात्म्य मिलता है। इस कारण यह रास अपनी विशेषता रखता है। प्रज्ञातिलक का यह रास वस्तु में विभाजित है और प्रत्येक वस्तु के प्रारंभ में ध्रुवपद के समान एक पदांश की पुनरावृत्ति पाई जाती है, जैसे—(१) तम्हि नयरी य तम्हि नयरी, (२) जित्त नयरी य जित्त नयरी, (३) ताव संधीउ ताव संधीउ। यह शैली जनकाव्यों में आज भी पाई जाती है। संभवतः एक व्यक्ति इनको प्रथम गाता होगा और तदुपरांत 'कोरस' के रूप में अन्य गायक इसकी पुनरावृत्ति करते रहे होंगे।

जैन मंदिरों में रास को नृत्य द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रणाली इस काल में भली प्रकार प्रचलित हो गई थी। सं० १३७१ वि० में अंबदेव सूरि विरचित 'समरा रासो' इस युग की एक उत्तम कृति है। बारह भाषों में विभक्त यह कृति रास साहित्य को नाटक की कोटि में परिगणित कराने के लिये प्रबल प्रमाण है। इस रास की एकादशी भाषा का चौथा श्लोक इस प्रकार है—

जलवट नाटकु जोइ नवरंग ए रास लउडारस ए।

जलाशय के समीप लकुटारास की शैली पर रास खेले जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

इसी कृति की द्वादशी भाषा में समरा रास को जिनवर के सामने नर्तन के माध्यम से अभिव्यक्त करनेवालों को पुण्यात्मा माना गया है। रास साहित्य के विविध उपकरणों की भी इसमें चर्चा पाई जाती है। रास के अंत में कवि कहता है—

रचियऊ ए रचियऊ ए रचियऊ समरारासो।
एहु रास जो पढइ गुणइ नाचिउ जिणहरि देइ।
श्रवणि सुणइ सो बयठऊ ए।
तीरथ ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई ॥ १० ॥

इससे सिद्ध होता है कि रास के पठन, मनन, नर्तन एवं श्रवण में से किसी एक के द्वारा तीर्थयात्रा का फल प्राप्त होता था। तीन बार 'तीरथ ए' का प्रयोग करके कवि इस तथ्य पर बल देना चाहता है।

इस युग की एक निराली कृति 'सप्तक्षेत्रि रास' है। जैनधर्म में विश्व-ब्रह्मांड की रचना, सप्तक्षेत्रों की सृष्टि एवं भरतखंड के निर्माण की विशेष प्रणाली पाई जाती है। 'सप्तक्षेत्रि रास' में ऐसे नीरस विषय का वर्णन सरस संगीतमय भाषा में पाया जाना कविचातुर्य एवं रासमाहात्म्य का परिचायक है। सप्तक्षेत्रों के वर्णन के उपरांत बारह मुख्य व्रतों का उल्लेख इस प्रकार है—

(१) प्राणातिपात व्रत (अहिंसा), (२) सत्यभाषण, (३) परधन परिहार (अस्तेय), (४) शीलता का संचार, (५) अपरिग्रह, (६) द्वेषत्याग, (७) भोगोपभोग त्याग, (८) अनर्थ दंड का त्याग, (९) सामायक व्रत, (१०) देसावगासी व्रत, (११) पोषध व्रत, (१२) अतिथि संविभाग व्रत।

११९ श्लोकोंवाले इस रास में जिनवर की पूजा का विस्तार सहित वर्णन मिलता है। स्वर्णशिविका, आभरणमय पूजा, विविधोपचार का अनावश्यक विवरण रास को अभिनेय गुणों से वंचित बना देता है। जैनधर्म पूजा, व्रत, उपवास, चरित्र आदि पर बड़ा बल देता है। इस रास में इन सबका स्थान स्थान पर विवेचन होने से यह रास पाठ्य सा प्रतीत होने लगता है किंतु संभव है, जैनधर्म की प्रमुख शिक्षाओं की ओर ध्यान आकर्षित करने

के लिये नृत्यों द्वारा इस रास को सरस एवं चित्ताकर्षक बनाने का प्रयास किया गया हो। यह तो निस्संदेह मानना पड़ेगा कि जैनधर्म का इतना विस्तृत विवेचन एकत्र एक रास में मिलना कठिन है। कवि इसके लिये भूरि भूरि प्रशंसा का भाजन है। कवि ने विविध गेय छंदों का प्रयोग किया है, अतः यह रागकाव्य अभिनेय साहित्य की कोटि में आ सकता है।

१४ वीं शताब्दी में जैनधर्म-प्रतिपालक कई महानुभावों के जीवन को केंद्र बनाकर विविध रास लिखे गए। इस युग की यह भी एक विशेषता है। ऐतिहासिक रासों की परंपरा इस शताब्दी के उपरांत भली प्रकार पल्लवित हुई।

१५ वीं शती के प्रमुख रासकार

(१) शालिभद्र सूरि—'पंडव चरित' की रचना देवचंद सूरि की प्रेरणा से की गई। यह एक रास काव्य है जिसमें महाभारत की कथा वर्णित है। केवल ७९५ पंक्तियों में संपूर्ण महाभारत की कथा सार रूप से कह दी गई है। कथा में जैनधर्मानुसार कुछ परिवर्तन कर दिया गया है, परंतु यह सब गौण है। काव्यसौष्ठव, काव्यबंध और भाषा, तीनों की दृष्टि से इस ग्रंथ का विशेष महत्व है। ग्रंथ का वस्तुसंविधान बड़ा ही आकर्षक है। इतिवृत्त के तीव्र प्रवाह, घटनाओं के सुंदर संयोजन और स्वाभाविक विकास की ओर हमारा ध्यान अपने आप आकर्षित होता है। दूसरी ठवणी से ही कथा प्रारंभ हो जाती है—

हथिणा-उरि पुरि कुरु-नरिंद केरो कुलमंडण।
सहजिहिं संतु सुहागसीलु हूउ नरवइ संतणु॥

कथानक की गति की दृष्टि से चतुर्थ ठवणी का प्रसंग विशेष उल्लेखनीय है। ऐसे अनेक प्रसंग इस ग्रंथ में मिलते हैं।

काव्यबंध के दृष्टिकोण से देखा जाय तो समस्त ग्रंथ १५ ठवणियों (प्रकरणों) में विभाजित है। प्रत्येक ठवणी गेय है। प्रत्येक ठवणी के अंत में छंद बदल दिया गया है और आगे की कथा की सूचना दी गई है। इस प्रकार इस ग्रंथ में बंधवैविध्य पाया जाता है।

(२) जयानंद सूरि—इनकी कृति 'क्षेत्रप्रकाश' है। १४१० के लगभग इसकी रचना हुई। यह भी एक रास ही है।

(३) विजयभद्रसूरि—कमलावती रास (१४११)। इसमें ३६ कड़ियाँ हैं। कलावती रास में ४६ कड़ियाँ हैं। इसमें तत्कालीन भाषा के स्वरूप का अच्छा आभास मिलता है।

(४) विनयप्रभ—गौतम रास (रचनाकाल १४१२)। ५६ कड़ियों का यह ग्रंथ ६ भासा (प्रकरण) में विभक्त है। प्रत्येक भासा के अंत में छंद बदल दिया गया है। इसकी रचना कवि ने खंभात में की—

चउदहसे बारोत्तर वरिसे गोयम गणधर।
केवल दिवसे, खंभनयर प्रभुपास पसाये कीधो॥
कवित उपगारपरो आदि ही मंगल एह भणीजे।
परब महोत्सव पहिलो दीजे रिद्धि सिद्ध कल्याण करो॥

इस ग्रंथ में काव्यचमत्कार भी कहीं कहीं पाया जाता है। अलंकारों का सुंदर प्रयोग झलकता है। चमत्कार का मूल भी यही अलंकारयोजना है।

काव्यबंध की दृष्टि से यह ग्रंथ ६ भासा (प्रकरण) में विभाजित है। छंदवैविध्य भी इसमें पाया जाता है और इसका गेय तत्व सुरक्षित है।

(५) ज्ञानकलश मुनि—श्री जिनोदय सूरि पट्टाभिषेक रास (रचनाकाल १४१५)। ३७ कड़ियों के इस ग्रंथ में जिनोदय सूरि के पट्टाभिषेक का सुंदर वर्णन है। आलंकारिक पद्धति में लिखित यह एक सुंदर एवं सरल काव्य है।

काव्यबंध की दृष्टि से इसमें वैविध्य कम ही है। रोला, सोरठा, घत्ता आदि छंदों का प्रयोग पाया जाता है।

संस्कृत की तत्सम शब्दावली इसमें पाई जाती है। साथ ही तासु, सीसु आदि रूप भी मिलते हैं। नीयरे, नीवउ, पाहि, परि, हारि, दीसई, लेखई जैसे रूप भी मिलते हैं।

(६) पहराज—इन्होंने अपने गुरु जिनोदय सूरि की स्तुति में ६ छप्पय लिखे हैं। प्रत्येक छप्पय के अंत में अपना नाम दिया है।

इन छप्पयों से ऐसा विदित होता है कि अपभ्रंश के स्वरूप को बनाए रखने का मानो प्रयत्न सा किया जा रहा हो। इम जाणिकरि, वखाणह आदि शब्द इसमें प्रयुक्त हुए हैं।

इसी युग में किसी अज्ञात कवि का एक और छप्पय भी जिनप्रभ सूरि की स्तुति का मिला है। संभव है, यह लघु रचना भी रास के सदृश गाई जाती

रही हो पर अब तक इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता, इसे रास कैसे माना जाय।

(७) विजयभद्र—हंसराज वच्छराज चउपई (रचनाकाल १४६६)। हंस और वच्छराज की लोककथा इसमें वर्णित है।

(८) असाइत—हंसाउली। इसमें हंस और वच्छराज की एक लोककथा है। हंसाउली का वास्तविक नाम 'हंसवच्छचरित' है। यह एक सुंदर रसात्मक काव्य है। इसका अंगी रस है अद्भुत। करुण और हास्य रस को भी स्थान मिला है। तीन विरह गीतों में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

छंद की दृष्टि से दूहा, गाथा, वस्तु, और चौपाई का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस ग्रंथ की विशेषता है इसका सुंदर चरित्रांकन। हंस और वच्छ दोनों का चरित्रचित्रण स्वाभाविक बन पड़ा है।

(९) मेरुनंदनगणी—श्री जिनोदय सूरि विवाहलउ। इसका रचनाकाल है १४३२ के पश्चात्। इसमें श्री जिनोदय सूरि की दीक्षा के प्रसंग का रोचक वर्णन है। रचयिता स्वयं श्री जिनोदय सूरि के शिष्य थे। ४४ कड़ियों का यह काव्य आलंकारिक शैली में लिखा गया है।

काव्यबंध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्व है।

झूलणा, वस्तु, घात, पादाकुल का विशेष प्रयोग पाया जाता है। इन्होंने ३२ झूलणा छंदों में रचना की।

इसी कवि का ३२ कड़ियों का दूसरा काव्यग्रंथ है 'अजित-शांति-स्तवन' कहा जाता है कि कवि संस्कृत का विद्वान् था, परंतु अब तक कोई प्रति प्राप्त नहीं हुई।

इस युग में मातृका और कक्का (वर्णमाला के प्रथम अक्षर से लेकर अंतिम वर्ण तक क्रमशः पदरचना) शैली में भी काव्यरचना होती थी। फारसी में दीवान इसी शैली में लिखे जाते हैं। जायसी का अखरावट भी इसी शैली में लिखा गया है।

देवसुंदर सूरि के किसी शिष्य ने ६६ कड़ियों की काकबंधि चउपइ की रचना की है। इस ग्रंथ में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं। कवि के

संबंध में भी कुछ ज्ञात नहीं होता। केवल इतना जाना जा सकता है कि आरंभ में वह देवसुंदर सूरि को नमस्कार करता है। देवसुंदर सूरि १४५० तक जीवित थे। अतः रचना भी उसी समय की मानी जा सकती है।

भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो तत्सम शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। साथ ही दीजइ, चिंतवइ, खाघइ, जिणवर आदि शब्दप्रयोग भी मिलते हैं।

इस युग में जैनों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी काव्यरचना की है जिसमें श्रीधर व्यास विरचित 'रणमल छंद' का विशेष स्थान है।

इस काव्य की कथावस्तु पृ० २४३-२४४ पर दी गई है। इसकी काव्यमहत्ता पर काव्यसौष्ठव के प्रसंग में विस्तार से वर्णन होगा।

(१०) हंस-शालिभद्र रास—रचनाकाल १४५५। कड़ियाँ २१६। इस काव्य की खंडित प्रति प्राप्त हुई है। हंस कवि जिनरत्न सूरि के शिष्य थे। आश्विन सुदी दशमी के दिन यह रास रचना पूर्ण हुई।

(११) जयशेखर सूरि—प्राकृत, संस्कृत और गुजराती के बड़े भारी कवि थे। इनके गुरु का नाम था महेंद्रप्रभ सूरि। इनकी मुख्य रचना है प्रबोध-चिंतामणि (४३२ कड़ियोंवाला एक रूपक काव्य)। रचनाकाल १४६२। इसकी रचना संस्कृत भाषा में भी की है।

इसी के साथ कवि ने 'त्रिभुवन-दीपक-प्रबंध' की रचना देशी भाषा में की है। उसके उपदेशचिंतामणि नामक संस्कृत ग्रंथ में १२ सहस्र से भी अधिक श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त शत्रुंजयतीर्थ द्वात्रिंशिका, गिरनारगिरि द्वात्रिंशिका, महावीरजिन द्वात्रिंशिका, जैन कुमारसंभव, छंदः शेखर, नवतत्व-कुलक, अजितशांतिस्तव, धर्मसर्वस्व आदि मुख्य हैं। जयशेखर सूरि महान् प्रतिभासंपन्न कवि थे। रास नाम से इनकी कोई पृथक् कृति नहीं मिलती। किंतु शत्रुंजय तथा गिरनार तीर्थों पर ३२ छंदों की रचना रास के सदृश गेय हो सकती है। इस प्रकार इसे रासान्वयी काव्य माना जा सकता है।

(१२) भीम—असाइत के बाद लोककथा लिखनेवालों में दूसरा व्यक्ति है भीम। उसने 'सदयवत्सचरित' की रचना १४६६ में की। कवि की जाति और निवासस्थान का पता नहीं मिलता।

यह एक सुंदर रसमय कृति है। ग्रंथारंभ में ही प्रतिज्ञा की गई है—

सिंगार हास करुणा रुद्दो,

वीरा भयान वीभत्थो।

अद्भुत शत नवइ रसि जंपिसु सुदय वच्छस्स।

फिर भी विशेष रूप से वीर और अद्भुत रस में ही अधिकांश रचना हुई है। शृंगार का स्थान अति गौण है। भाषा ओजपूर्ण एवं प्रसाद गुण युक्त है।

अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग इसमें पाया जाता है। दूहा, पद्धडी, चौपाई, वस्तु, छप्पय, कुंडलिया और मुक्तिदाम का इसमें आधिक्य है। पदों में भी वैविध्य है।

(१३) शालिसूरि नामक जैन साधु ने पौराणिक कथा के आधार पर १८२ छंदों की एक सुंदर रचना की। जयशेखर सूरि के पश्चात् वर्णवृत्तों में रचना करनेवाला यही व्यक्ति है। भाषा पर इसका पूर्ण अधिकार था। काव्य-बंध की दृष्टि से इस ग्रंथ का कोई मूल्य नहीं। परंतु विविध वर्णवृत्तों का विस्तृत प्रयोग इसकी विशेषता है।

गद्य और पद्य में साहित्य की रचना करनेवालों में सोमसुंदर सूरि का स्थान सर्वप्रथम है। अनेक जैन ग्रंथों का इन्होंने सफल अनुवाद किया। इनके गद्यग्रंथों में बालावबोध, उपदेशमाला, योगशास्त्र आराधना पताका नवतत्व आदि प्रमुख हैं। कहा जाता है कि इन्होंने आराधना रास की भी रचना की थी परंतु अब तक उक्त ग्रंथ अप्राप्य है। इनका दूसरा प्राप्त सुंदर काव्यग्रंथ है रंगसागर नेमिनाथ फागु। अन्य नेमिनाथ फागु से इस फागु में विशेष बात यह है कि इसमें नेमिनाथ के जन्म से इनका चरित्र आरंभ किया गया है।

यह काव्य तीन खंडों में विभक्त है जिनमें क्रमशः ३७, ४५, ३७ पद्य हैं। छंदों में भी वैविध्य है। अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, गाथा आदि छंदों का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस युग में खरतर-गुण-वर्णन छप्पय नामक एक और विस्तृत ग्रंथ भी किसी अज्ञात कवि का प्राप्त हुआ है। इतिहास की दृष्टि से इस काव्य का विशेष महत्त्व है। कई ऐतिहासिक घटनाएँ इसमें आती हैं। काव्यतत्त्व की दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता नहीं है।

इसकी भाषा अवहट्ठ से मिलती जुलती है। कहीं कहीं डिंगल का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

लोककथाओं को लेकर लिखे जानेवाले काव्यों—हंसवच्छ चउपइ, हंसाउली और सदयवत्सचरित के पश्चात् हीराणंद सूरि विरचित विद्याविलास पवाडु का स्थान आता है। इनकी अन्य कृतियाँ भी मिलती हैं, यथा—वस्तुपाल-तेजपाल-रास, कलिकाल, दशार्णभद्रकाल आदि। परंतु इन सब में श्रेष्ठ है विद्याविलास पवाडु। काव्यसौष्ठव, काव्यबंध और भाषा, इन तीनों की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व है। इसकी कथा लोककथा है जो मल्लिनाथ काव्य में भी मिलती है।

काव्यबंध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। इसमें सवैया देसी, वस्तुछंद, दूहे, चौपाई, राग भीमपलासी, राग संधूउ, राग वसंत आदि का विपुल प्रयोग मिलता है। समस्त ग्रंथ गेय है और यही इसकी विशेषता है। प्रत्येक छंद के अंत में कवि का नाम पाया जाता है।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से भी इसका महत्व है। राजदरबार, वाणिज्य, नारी को लेकर समाज में होनेवाले झगड़े, राज्य की खटपट, विवाह-समारोह आदि का सजीव वर्णन इसमें पाया जाता है।

पंद्रहवीं शताब्दी तक विरचित परवर्ती अपभ्रंश रासों के विवेचन एवं विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस काव्यप्रकार के निर्माता जैन मुनियों का आशय एकमात्र धर्मप्रचार था। जैनधर्म में चार प्रकार के अनुयोग मूल रूप से माने जाते हैं, जिनके नाम हैं—द्रव्यानुयोग, चरणकर्णानुयोग, कथानुयोग और गणितानुयोग। द्रव्यानुयोग के आधार पर अनेक रास लिखे गए जिनमें द्रव्य, गुण, पर्याय, स्याद्वाद, नय, अनेकांतवाद एवं तत्वज्ञान का उपदेश संनिहित है। ऐसे रासों में यशोविजय गणि विरचित 'द्रव्यगुण पर्याय नो रास' सबसे अधिक प्रसिद्ध माना जाता है। जैन-दर्शन-विवेचन के समय हम इसका विशेष उल्लेख करेंगे। चरणकर्णानुयोग के आधार पर विरचित रासों में महामुनियों के चरित, साधु गृहस्थों का धर्म, अनुव्रत, महाव्रत पालन की विधि, श्रावकों के इक्कीस गुण, साधुओं के सत्ताईस गुण, सिद्धों के आठ गुण, आचार्यों के छत्तीस और उपाध्याय के पचीस गुणों का वर्णन मिलता है। 'उपदेश-रसायन-रास' इसी कोटि का रास प्रतीत होता है। कथानुयोग रास में कल्पित और

ऐतिहासिक दो प्रकार की कथापद्धति पाई जाती है। यद्यपि कल्पित रासों की संख्या अत्यल्प है तथापि इनका महत्व निराला है। ऐसे रासों में अगड़दत्त रास, चूनड़ी रास, रोहिणीयाचोर रास, जोगरासो, पोसहरास, जोगीरासो आदि का नाम लिया जा सकता है[1]। यदि चतुष्पदिका को रासान्वयी काव्य मान लें तो विजयभद्र का 'हंसराज वच्छराज' एवं असाइत की 'हँसाउली' लोककथा के आधार पर विरचित हैं।

ऐतिहासिक रासों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। ऐतिहासिक रासों में भी रासकार ने कल्पना का योग किया है और अपनी अभीष्टसिद्धि के लिये काव्यरस का संनिवेश करके ऐतिहासिक रासों को रसाप्लुत कर देने की चेष्टा की है। किंतु ऐतिहासिक रासों में ऐतिहासिक घटनाओं की प्रधानता इस बात को सिद्ध करती है कि रासकार की दृष्टि कल्पना की अपेक्षा इतिहास को अधिक महत्व देना चाहती है। ऐतिहासक रासों में 'ऐतिहासिक राससंग्रह' के चार भाग अत्यंत महत्व के हैं।

गणितानुयोग के आधार पर विरचित रास में भूगोल और खगोल के वर्णन को महत्व दिया जाता है। इस पद्धति पर विरचित रास सृष्टि की रचना, ताराग्रहों के निर्माण, सप्तक्षेत्रों, महाद्वीपों, देशदेशांतरों की स्थिति का परिचय देते हैं। ऐसे रासों में विश्व के प्रमुख पर्वतों, नदी सरोवरों, वन-उपवनों, उपत्यकाओं और मरुस्थलों का वर्णन पाया जाता है। प्राकृतिक वर्णन एवं प्राकृतिक सौंदर्य की छटा का वर्णन रासों का प्रिय विषय रहा है। किंतु, गणितानुयोग पर निर्मित रासों में प्राकृतिक छटा की अपेक्षा प्रकृति में पाए जानेवाले पदार्थों की नामावली पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसे रासों में 'सप्तक्षेत्री रास' बहुत प्रसिद्ध है।

जिस युग में लघुकाय रास अभिनय के उद्देश्य से लिखे जाते थे उस युग में कथानक के उत्कर्ष एवं अपकर्ष, चरित्रचित्रण की विविधता एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की रक्षा पर उतना बल नहीं दिया जाता था जितना काव्य को रसमय एवं अभिनेय बनाने पर। आगे चलकर जब रास लघुकाय न रहकर विशालकाय होने लगे तो उनमें अभिनेय गुणों को सर्वथा उपेक्षणीय माना गया और उनके स्थान पर पात्रों के चरित्रचित्रण की

१—इनमें अधिकांश रास आमेर, राजस्थान एवं दिल्ली के शास्त्रभंडारों में उपलब्ध हैं।

विविधता, कथावस्तु की मौलिकता, चरित्रों की मनोवैज्ञानिकता पर बहुत बल दिया जाने लगा।

रस की दृष्टि से इस युग में वीर, शृंगार, करुणा, वीभत्स, रौद्र आदि सभी रसों के रास विरचित हुए। काव्यसौष्ठव के प्रसंग में हम इनकी विशेष चर्चा करेंगे।

———

फागु का विकास

फागु का साहित्यप्रकार

पद, श्राख्यान, रास, कहानी श्रादि की भाँति फागु भी प्राचीन साहित्य का एक प्रमुख प्रकार है। मूलतः वसंतश्री से संपन्न होने के कारण मानवीय भावों एवं प्राकृतिक छटाश्रों का मनोरम चित्रण इसकी एक विशेषता रही है। दीर्घ परंपरा के कारण इस साहित्यप्रकार में वैविध्य श्राना स्वाभाविक है। वस्तुनिरूपण, छंदरचना श्रादि को दृष्टि में रखकर फागु साहित्य के विकास का संक्षिप्त परिचय देने के लिये उपलब्ध कृतियों की यहाँ श्रालोचना की जायगी।

श्रद्यापि सुरक्षित फागों में श्रधिकांश जैनकृत है। जैन साहित्य जैन ग्रंथभंडारों में संचित रहने से सुरक्षित रहा किंतु श्रधिकांश जैनेतर साहित्य इस सुविधा के श्रभाव में प्रायः लुप्त हो गया। इस स्थिति में भी ९ ऐसे फागु प्राप्त हुए हैं जिनका जैनधर्म से कोई संबंध नहीं है। उन फागुश्रों के नाम हैं—

(१) श्रज्ञात कविकृत 'वसंत विलास फागु', (२) 'नारायण फागु', (३) चतुर्भुजकृत 'भ्रमरगीत', (४) सोनीरामकृत 'वसंत विलास', (५) श्रज्ञात कविकृत 'हरिविलास फाग', (६) कामीजन विश्रामतरंग गीत, (७) चुनड़ फाग, (८) फागु श्रौर (९) 'विरह देशाउरी फाग'।

इनमें भी 'वसंतविलास' के श्रतिरिक्त शेष सभी हस्तलिखित प्रतियाँ जैन साहित्य भंडारों से प्राप्त हुई हैं। फागु की जितनी भी शैलियाँ प्राप्य हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वसंतवर्णन का एक ही मूल प्रकार जैनेतर साहित्य में कुछ विभिन्नता के साथ विकसित हुश्रा है।

वसंतवर्णन एवं वसंतक्रीड़ा फागु के मूल विषय हैं। वसंतश्री के श्रतिरिक्त शृंगार के दोनों पक्ष, विप्रलंभ श्रौर संभोग, का इसमें निरूपण मिलता है। ऐसा साहित्य प्राचीनतर श्रपभ्रंशों में हमें नहीं मिलता। यद्यपि यह रासान्वयी काव्य है श्रौर रास प्राचीन श्रपभ्रंश साहित्य में विद्यमान है किंतु फागु साहित्य पूर्ववर्ती श्रपभ्रंश भाषा में श्रब तक नहीं मिला। श्रतः फागु के

साहित्यप्रकार को समझने के लिये हमें संस्कृत साहित्य के ऋतुवर्णन-पूर्ण काव्यों की ओर ही दृष्टि दौड़ानी पड़ती है।

"फागु" शब्द की व्युत्पत्ति सं० फल्गु (वसंत) > प्रा० फागु और > फाग (हिं०) से सिद्ध होती है। आचार्य हेमचंद्र ने "देशीनाममाला" (६–८२) के 'फग्गू महुच्छणे फलही ववणी फसुलफंसुला मुक्के' में "फागु" शब्द को वसंतोत्सव के अर्थ में ग्रहण किया है। [सं०] फाल्गुन > प्रा० > फग्गुण से इसकी व्युत्पत्ति साधने का प्रयत्न भाषाशास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है। हिंदी और मारवाड़ी में होली के अशिष्ट गीतों के लिये 'फाग" शब्द का प्रयोग होता है। हेमचंद्र ने "फग्गू" देशी शब्द इसी फागु (वसंतोत्सव) के अर्थ में स्वीकार किया होगा। कालांतर में इसी फागु को शिष्ट साहित्य में स्थान प्राप्त करने का सौभाग्य मिला होगा।

एक अन्य विद्वान् का मत है कि ब्रजभाषा में फाग को फगुआ कहते हैं। अपशब्द, अश्लील विनोद, अशिष्ट परिहास, गालीगलौज का जब उपयोग किया जाता है तब उसे बेफाग कहते हैं। उनके मतानुसार बेफाग अथवा फगुआ के विरोध में वसंत ऋतु के समय शिष्ट समुदाय में गाने के योग्य नवीन काव्यकृति फागु के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस नवीन शैली के फागु की भाषा अनुप्रासमय एवं आलंकारिक होने लगी और इसमें गेय छंदों का वैविध्य दिखाई पड़ने लगा। यह नवीन कृति फागुन और चैत्र में गाई जाने लगी। "रंगसागर नेमि फागु" के संपादक मुनि धर्मविजय का कथन है—'ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों में से असभ्य वाणी (बेफाग) दूर करने के लिये कच्छ, काठियावाड़, मारवाड़ और मेवाड़ आदि स्थानों में जैन मुनियों ने परिमार्जित, परिष्कृत एवं रसिक 'नेमि फागु' की रचना की।' और इसके उपरांत फागु में धार्मिक कथानकों का कथावस्तु के रूप में प्रयोग होने लगा।

शिष्ट फागु के उद्भव के संबंध में विभिन्न विद्वानों ने पृथक् पृथक् मत दिया है। किंतु सब मतों की एकसूत्रता के० एम० मुंशी के मत में है—

The rāsa sung in the spring festival or phāga was itself called phāga. The phāga poems describe the glories of the spring, the lovers and their dances, and give a glimpse of the free and joyous life……

—Gujrat and its Literature, p. 137

अर्थात् वसंतोत्सव के समय गाए जानेवाले रास 'फाग' कहलाने लगे। इस फाग काव्य में वसंत के सौंदर्य, प्रेमीजन और उनके नृत्य के वर्णन के द्वारा मानव मन के स्वाभाविक आनंदातिरेक की अभिव्यक्ति होती थी।

आचार्य लक्ष्मण ने फल्गुन नाम से देशी ताल की व्याख्या करते हुए लिखा है—'फल्गुने लपदागःस्यात्' अर्थात् फागु गीत का लक्षण है—।ऽ०ऽ

संभवतः इसी देशी ताल में गेय होने के कारण वसंतोत्सव के गीतों को फल्गुन>फग्गु अथवा फाग कहा गया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि वसंतोत्सव के समय नर्तन किए जानेवाले एक विशेष प्रकार के नृत्यरास को शारदोत्सव के रास से पृथक् करने के लिये इसको फागु संज्ञा दी गई। जैन मुनियों ने जैन रास के सदृश फागु काव्य की भी परिसमाप्ति शांत रस में करनी प्रारंभ की। अतः फागु काव्य भी ऋतुराज वसंत की पृष्ठभूमि में धर्मोपदेश के साधन बने और जैनाचार्यों ने उपदेशप्रचार के लिये इस काव्यप्रकार से पूरा पूरा लाभ उठाया। उन्होंने अपनी वाणी को प्रभावशालिनी बनाकर हृदयंगम कराने के लिये फागु काव्य में स्थान स्थान पर वसंतश्री की स्पृहणीयता एवं भोगसामग्री की रमणीयता को समाविष्ट तो किया, किंतु साथ ही उसका पर्यवसान नायकनायिका के जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण करने के उपरांत ही करना उचित समझा।

श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य कृत 'गुजराती साहित्य नी रूपरेखा' में फाग काव्यप्रकार की व्याख्या चार प्रकार के ऋतुकाव्यों में की गई है। श्री वैद्य का कहना है कि—"आ प्रकारना ('फाग' संज्ञावाला) काव्यो छंदवैविध्य झडझमक अने अलंकारयुक्त भाषा थी भरपूर होइछे। रग्मा जंमूस्वामी के नेमिनाथ जेवां पौराणिक पात्रों ने अनुलक्षी ने उद्दीपक शृंगाररस नूं वर्णन करेनूं होइछे, परंतु तेनो अंत हमेशा शील अने सात्विकता ना विजय मा अने विषयोपभोगना त्याग मा ज आवे छे।"

इस प्रकार यह रासान्वयी काव्य फागु छंदवैविध्य, अनुप्रास आदि शब्दालंकार एवं अर्थालंकार से परिपूर्ण सरस भाषा में विरचित होता है। जंमूस्वामी के 'नेमिनाथ फाग' में पौराणिक पात्रों को लक्ष्य करके उद्दीपक

शृंगार रस का वर्णन किया गया है किंतु उसके अंत में शील एवं सात्विक विचारों की विजय और विषयोपभोग का त्याग प्रदर्शित है।

"मूले वसंतऋतुना शृंगारात्मक फागु नो जैन मुनियो ये गमे ते ऋतु ने स्वीकारी उपशम ना बोधपरत्वे विनियोग करेलो जोवा मां आवे छे[१]।"

स्थूलिभद्र फाग की अंतिम पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि फाग काव्य चैत्र में गाया जाता था। इससे सिद्ध होता है कि फाग मूलतः वसंत ऋतु की शोभा के वर्णन के लिये विरचित होते थे और उनमें मानव मन का सहज उल्लास अभिव्यक्त होता था। किंतु स्थूलिभद्र फाग ऐसा है जिसमें वसंत ऋतु के स्थान पर वर्षा ऋतु का वर्णन बड़ा ही आकर्षक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिये देखिए—

झिरिमिरि झिरिमार झिरिमिरि ए मेहा वरिसंति,
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति,
झबझब झबझब झबझब ए बीजुलिय झबकइ,
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणिमणु कंपइ,
महुरगंभीरसरेण मेह जिम जिम गाजंते,
पंचबाण निय कुसुमबाण तिम तिम साजंते,
जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ,
तिम तिम कामिय चरण लगि नियरमणि मनावइ।

फागुओं में केवल एक इसी स्थल पर वर्षावर्णन मिलता है, अन्यत्र नहीं। अतः फागु काव्यों में इसे अपवाद ही समझना चाहिए, नियम नहीं, क्योंकि अन्यत्र सर्वत्र वसंतश्री का ही वर्णन प्राप्त होता है।

फागु रचना का उद्देश्य

साधारण जनता को आकर्षक प्रतीत होनेवाला वह शृंगारवर्णन जिसमें शब्दालंकार का चमत्कार, कोमलकांत पदावली का लालित्य आदि साहित्यरस का आस्वादन कराने की प्रवृत्ति हो और जिसमें "संयमसिरि" की प्राप्ति द्वारा जीवन के सुंदरतम पक्ष का चिंतन अभीष्ट हो, फागु साहित्य की आत्मा है। फागु साहित्य में चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी की सामान्य जनता के मुक्त उल्लासपूर्ण जीवन का सुंदर प्रतिबिंब है। रासो और

१—के० ह० ध्रुव-हाजीमुहम्मद स्मारक ग्रंथ, पृ० १८८।

फागु में धर्मकथा के पुरुष मुख्य रूप से नायक होते हैं। किंतु फागु में नायक नायिकाओं को केंद्र में रखकर वसंत के आमोद प्रमोद का आयोजन किया जाता है।

फागु मूलतः लोकसाहित्य होते हुए भी गीतप्रधान शिष्ट साहित्य माना जाता है। फागुओं में नृत्य के साथ संभवतः गीतों को भी संमिलित कर लिया गया होगा और इस प्रकार फागु क्रमशः विकसित होते गए होंगे। इसका प्रमाण अधोलिखित पंक्ति से लगाया जा सकता है—

'फागु रमिज्जइ, खेला नाचि'

नृत्य द्वारा अभिनीत होनेवाले फागु शताब्दियों तक विरचित होते रहे। किंतु काव्य का कोई भी प्रकार सदा एक रूप में स्थिर नहीं रहता। इस सिद्धांत के आधार पर रास और फागु का भी रूप बदलता रहा। एक समय ऐसा आया कि फागु की अभिनेयता गौण हो गई और वे केवल पाठ्य रह गए।

संडेसरा[1] जी का कथन है कि "फागु का साहित्यप्रकार उत्तरोत्तर परिवर्तित एवं परिवर्धित होता गया है। कालांतर में उसमें इतनी नीरसता आ गई कि कतिपय फागु नाममात्र के लिये फागु कहे जा सकते हैं। मालदेव का 'स्थूलिभद्र फाग' एक ही देशी की १०७ कड़ियों में रचित है। कल्याणकृत 'वासुपूज्य मनोरम फाग' में फागु के लक्षण विरले स्थानों पर ही दृष्टिगत होते हैं और 'मंगलकलश फाग' को कर्ता ने नाममात्र को ही फागु कहा है। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी से प्रारम्भ कर तीन शताब्दियों तक मानव भावों के साथ प्रकृति का गाना गाती, शृंगार के साथ त्याग और वैराग्य की तरंग उछालती हुई कविता इस साहित्यप्रकार के रूप में प्रकट हुई। आख्यान या रासा से इसका स्वरूप छोटा है, परंतु कुछ इतिवृत्त आने से होरी के धमार एवं वसंतखेल के छोटे पदों के समान इसमें वैविध्य के लिये विशेष अवकाश रहा है।"

फागु का वर्ण्य विषय

नेमिराजुल तथा स्थूलभद्र कोश्या को लेकर फागु काव्यों की अधिकांश रचना हुई है और ऐसे काव्य प्रायः जैनों में लोकप्रिय रहे हैं।

---

१ संडेसरा—प्राचीन फागु-संग्रह, पृष्ठ ७०–७१.

फागु में वसंतऋतु का ही वर्णन होने से नायक नायिका का शृंगार-वर्णन स्वतः आ जाता है। यौवन के उन्माद और उल्लास की समग्र रस-सामग्री इसमें पूर्णरूप से उडेल दी जाती है। काव्य के नायक नायिका को ऐसे ही मादक वातावरण में रखकर उनके शील, संयम और चरित्र का परीक्षण करना कवि को अभीष्ट होता है। ऐसे उद्दीप्त वातावरण में भी संयमश्री को प्राप्त करनेवाले नेमिनाथ और राजमती या स्थूलिभद्र और कोश्या अथवा इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध व्यक्तियों का महिमागान होता था। इस प्रकार का शृंगारवर्णन त्यागभावना की उपलब्धि के निमित्त वांछनीय माना जाता था। इसलिये कवि को ऐसे शृंगारवर्णन में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। यही कारण है कि जिनपद्मसूरि का 'सिरिथूलिभद्र फागु' जैनेतर अज्ञात कवि विरचित 'वसंतविलास' या 'नारायण फागु' से पृथक् हो जाता है। हम पहले कह आए हैं कि जैन फागु में उद्दीपक शृंगार का वर्णन संयमश्री और सात्विकता की विजय की भावना से किया गया है। प्रमाण के लिये 'स्थूलिभद्र फागु' देखिए। इसमें नायक साधु बनते हैं। इससे पूर्व उनके शीलपरीक्षण के लिये शृंगार रस का वर्णन किया गया है। साधुओं को चातुर्मास एक ही स्थल पर व्यतीत करने पड़ते हैं। इसी काल में उनकी परीक्षा होती है। इस लघुकाव्य में शकटाल मंत्री के पुत्र स्थूलिभद्र की वैराग्योपलब्धि का वर्णन किया गया है। युवक साधु स्थूलि गुरु की आज्ञा से कोश्या नामक वेश्या के यहाँ चातुर्मास व्यतीत करते हैं और वह वेश्या इस तेजस्वी साधु को काममोहित करने के लिये विविध हावभाव, भ्रूभंगिमा एवं कटाक्ष का प्रयोग करती है, परंतु स्थूलिभद्र के निश्चल मन पर वेश्या के सभी प्रयास विफल रहते हैं। ऐसे समय एक अद्‌भुत् चमत्कार हुआ। स्थूलिभद्र के तपोबल ने कोश्या में परिवर्तन उपस्थित किया। उसकी भोगवृत्तियाँ निर्बल होते होते मृतप्राय हो गईं। उसने साधु से उपदेश ग्रहण किया। उस समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई।

'स्थूलिभद्र फागु' की यही शैली 'नेमिनाथ', 'जंबूस्वामी' आदि फागों में विद्यमान है। विलास के ऊपर संयम की, काम के ऊपर वैराग्य की विजय सिद्ध करने के लिये विलासवती वेश्याओं और तपोधारी मुनियों की जीवन-गाथा प्रदर्शित की जाती है। रम्यरूपधारी युवा मुनियों को कामिनियों की भ्रूभंगिमा की लपेट में लेकर कटाक्ष के बाणों से वेधते हुए काम अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रयोग करता दिखाई पड़ता है। काम का चिरसहचर ऋतु-

राज अपने समग्र वैभव के साथ मित्र का सहायक बनता है। मनसिज की दासियाँ—भोगवृत्तियाँ—अपने मोहक रूप में नग्न नर्तन करती दिखाई पड़ती हैं। शृंगारी वासनाएँ युवा मुनिकुमार के समक्ष प्रणयगीत गाती दिखाई देती हैं। अप्सराओं को भी सौंदर्य में पराजित करनेवाली वारांगनाएँ माणिक्य की प्याली में भर भरकर मोहक मदिरा का पान कराने को व्यग्र हो उठती हैं, पर संपूर्ण कामकलाओं मे दक्ष रमणियाँ मुनि की संयमश्री एवं शांत मुद्रा से पराभूत रह जाती हैं। चमत्कार के ये ही क्षण फागुओं के प्राण हैं। इसी समय कथावस्तु में एक नया मोड़ उपस्थित होता है जहाँ शृंगार निर्वेद की ओर सरकता दिखाई पड़ता है। इस स्थल से आगे वासना का उद्दाम वेग तप की मरुभूमि में विलीन हो जाता है और अध्यात्म के गंगोत्री पर्वत से आविर्भूत पवित्रता की प्रतिमा पतितपावनी भागीरथी अधम वारवनिताओं के कालुष्य को सद्यःप्रक्षालित करती हुई शांतिसागर की ओर प्रवाहित होने लगती हैं।

फागु का रचनाबंध—फागु साहित्य के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि विशेष प्रकार की छंदरचना के कारण ही इस प्रकार की रचनाओं को 'फागु' या 'फाग' नाम दिया गया । साहित्य के अन्य प्रकारों की तरह फागु का भी बाह्य स्वरूप कुछ निश्चित है। जिनपद्म सूरि कृत 'स्थूलिभद्र फागु' और राजशेखर सूरि कृत 'नेमिनाथ फागु' जैसे प्राचीनतम फागु काव्यों में दोहा के उपरांत रोला के अनेक चरण रखने से 'भास' बनता है । एक फागु में कई भास होते हैं। जयसिंह सूरि का प्रथम 'नेमिनाथ फागु' (संवत् १४२२ के लगभग) प्रसन्नचंद्र सूरि कृत 'रावणि पार्श्वनाथ फागु (संवत् १४२२ के लगभग), जयशेखर सूरि कृत द्वितीय 'नेमिनाथ फागु' (संवत् १४६० के लगभग) 'पुरुषोत्तम पाँच पांडव फाग', 'भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग', 'कीर्तिरत्न सूरि फाग' आदि प्राचीन फागुओं का पद्यबंध इसी प्रकार का है। रोला जैसे सस्वर पठनीय छंद फागु जैसे गेय रूपक के सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार 'गरबा' के अंतर्गत बीच बीच में साखी का प्रयोग होने से एक प्रकार का विराम उपस्थित हो जाता है और काव्य की सरसता बढ़ जाती है, उसी प्रकार प्रत्येक भास के प्रारंभ में एक दूहा रख देने से फागु का रचनाबंध सप्राण हो उठता है और उसकी एकस्वरता परिवर्तित हो जाती है।

'वसंतविलास' नामक प्रसिद्ध फागु के रचनाबंध का परीक्षण करने से

सामान्यतः यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि आंतर अनुप्रास एवं आंतर यमक से रमणीय दूहा फागु काव्यबंध का विशिष्ट लक्षण माना जाना चाहिए।

संडेसरा का कथन है कि "उपलब्ध फागुओं में जयसिंह सूरि का द्वितीय 'नेमिनाथ फागु' (सं० १४२२ के लगभग) आंतर यमकयुक्त दूहे में विरचित फागु का प्राचीनतम उदाहरण है। जयसिंह सूरि की इस रचना और पूर्वकथित जिनपद्म और राजशेखर के प्राचीन फागुओं के रचनाकाल में इतना कम अंतर है कि भासवाले और आंतर यमकयुक्त दूहा वाले फागु एक ही युग में साथ साथ प्रचलित रहे हों, ऐसा अनुमान करने में कोई दोष नहीं। संभवतः इसी कारण जयसिंह सूरि ने एक ही कथावस्तु पर दोनों शैलियों में फागु की रचना की। जयसिंह सूरि के अज्ञात कवि कृत 'जंबुस्वामी फाग' (संवत् १४३०) मेरुनंदन कृत 'जीरापल्ली पार्श्वनाथ फागु' (संवत् १४३२) और जयशेखर सूरि कृत प्रथम 'नेमिनाथ फागु' इसी पद्यबंध शैली में रचे हुए मिलते हैं। 'वसंतविलास', 'नारीनिवास फाग' और 'हरिविलास' में छंदबंध तो यही है परंतु बीच बीच में संस्कृत श्लोकों का समावेश भी किया गया है। 'वसंतविलास' में तो संस्कृत श्लोकों की संख्या संपूर्ण श्लोकों की आधी होगी। "इस प्रकार एक ही छंद में रचे हुए काव्य में प्रसंगोपात्त श्लोकों को भरना एक नया तत्व गिना जाता है।"

फागु में संस्कृत श्लोकों का समावेश १४ वीं शताब्दी के अंत तक प्रायः नहीं दिखाई पड़ता। इस काल में विरचित फागुओं का विवेचन कर लेने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा।

१५वीं शताब्दी के फागों में संस्कृत श्लोकों का प्रचलन फागु के काव्यबंध का विकासक्रम सूचित करता है। इससे पूर्व विरचित फागु दूहाबद्ध थे और उनमें आंतर यमक की उतनी छटा भी नहीं दिखाई पड़ती। किंतु परवर्ती फागों में शब्दगत चमत्कार उत्पन्न करने के उद्देश्य से आंतर यमक का बहुल प्रयोग होने लगा। उदाहरण के लिये सं० १४३१ में विरचित 'जिनचंद सूरि फागु', पद्म विरचित 'नेमिनाथ फागु', गुणचंद्र गणि कृत 'वसंत फागु' एवं अज्ञात कवि कृत 'मोहनी फागु' सामान्य दूहाबद्ध हैं। इनमें संस्कृत श्लोकों की छटा कहीं नहीं दिखाई पड़ती। संस्कृत श्लोकों को फागु में संमिलित करने का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। हम आगे चलकर इसपर विचार करेंगे।

इन सामान्य फागुओं की तो बात ही क्या, केशवदास कृत 'श्रीकृष्ण-लीला काव्य' में कृष्णगोपी के वसंतविहार में भी संस्कृत श्लोकों का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है। इस काव्य के उपक्रम एवं उपसंहार की शैली से कृष्ण-गोपी-वसंत विहार एक स्वतंत्र भाग प्रतीत होता है। फागु की शैली पर दोहों में विरचित यह रचना आंतर यमक से सर्वथा असंपृक्त प्रतीत होती है। यह रचना १६वीं शताब्दी के प्रारंभ की है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि १५वीं शताब्दी और उसके अनंतर भी आंतर यमक से पूर्ण तथा आंतर यमक रहित दोनों शैलियों में फागुरचना होती रही। संस्कृत श्लोकों से फागुओं को समन्वित करने में कवि स्वतंत्र था। यदि प्रसंगानुसार संस्कृत श्लोक उपयुक्त प्रतीत होते थे तो उनको समाविष्ट किया जाता था अथवा अनुकूल प्रसंग के अभाव में संस्कृत श्लोकों को बहिष्कृत कर दिया जाता था।

प्रश्न यह उठता है कि फागु रचना में रोला और दूहा को प्रायः स्थान क्यों दिया गया है। इसका उत्तर देते हुए 'प्राचीन गुजराती छंदो' में रामनारायण विश्वनाथ पाठक लिखते हैं—'काव्य अथवा रोला माँ एक प्रकार ना अलंकार नी शक्यता छे, जेनो पण फागुकाव्यो अत्यंत विकसित दाखलो छे।'''घत्ता माँ आंतर प्रास आवे छे। बत्रीसा सवैया नी पंक्ति घणी लांबी छे एटले एमाँ आवा आंतर प्रास ने अवकाश छे। रोला नी पंक्ति एटली लाँबी न थी, छतां रोलामां पण वच्चे क्यांक यति मूकी शकाय एटली ए लांबी छे अने तेथी ए यति ने स्थाने कवि शब्दालंकार योजे छे।''[1]

तात्पर्य यह है कि काव्य और रोला नामक छंदों में एक प्रकार के अलंकरण की सामर्थ्य है जिसको हम फागु काव्यों में विकसित रूप में देखते हैं। घत्ता में आंतरप्रास (का बाहुल्य) है। सवैया की पंक्ति अत्यंत लंबी होने से आंतरप्रास का अवकाश रखती है। किंतु रोला की पंक्ति इतनी लंबी नहीं होती अतः कवि उसमें यति के स्थान पर शब्दालंकार की योजना करके उसे गेय बनाने का प्रयास करता है।

कतिपय फागुओं में दूहा रोला के आरंभ में ऐसे शब्दों तथा शब्दांशों का प्रयोग दिखाई पड़ता है जिनका कोई अर्थ नहीं और जो केवल गायन की सुविधा के लिये आबद्ध प्रतीत होते हैं। राजशेखर, जयशेखर सुमधुर एवं समर

१ रामनारायण विश्वनाथ पाठक—प्राचीन गुजराती छंदो, पृ० १५८

के 'नेमिनाथ फागु', पुरुषोत्तम के 'पांचपांडव फागु' गुणचंद सूरि कृत 'वसंत फागु' के अतिरिक्त 'हेमरत्न सूरि फागु' की छंदरचना में भी 'अहे', 'अहं' या 'अरे' शब्द गाने के लटके के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

इस स्थल पर कतिपय प्राचीनतर फागुओं का रचनाबंध देख लेना आवश्यक है। सं० १४७८ वि० में विरचित 'नेमीश्वरचरित फाग' में ८८ कड़ियाँ हैं जो १५ खंडों में विभक्त हैं। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में एक या इससे अधिक संस्कृत के श्लोक हैं। तदुपरांत रास की कड़ियाँ, अढैयुँ एवं फागु छंद आते हैं। किसी किसी खंड में फागु का और किसी में अढैयों का अभाव है। तेरहवें खंड में केवल संस्कृत श्लोक और रास हैं। इसी प्रकार पृथक् पृथक् खंडों में भिन्न भिन्न छंदों की योजना मिलती है। इतना ही नहीं, 'रास' शीर्षकवाली कड़ी एक ही निश्चित देशी में नहीं अपितु विविध देशियों में दिखाई पड़ती है।

१५वीं शताब्दी के अंत में विरचित 'रंगसागर नेमि फाग' तीन खंडों में विभक्त है। प्रत्येक खंड के प्रारंभ में संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश के छंदों में रचना दिखाई पड़ती है, तदुपरांत रासक, आंदोला, फाग आदि छंद उपलब्ध हैं। कहीं कहीं शार्दूलविक्रीडित (सट्टक) भी प्रयुक्त है।

इसी काल में 'देवरत्नसूरि फाग' भी विरचित हुआ। ६५ कड़ियों में आबद्ध इस लघुरास में संस्कृत श्लोक, रास (देशी), अढैयुँ और फागु पाए जाते हैं। १६वीं शताब्दी का 'हेमविमल सूरि फागु' तीन खंडों में विभक्त है और प्रत्येक खंड फाग और अंदोला में आबद्ध है।

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रत्नमंडन गणि कृत 'नारीनिरास फाग' ऐसा है जिसमें प्रत्येक संस्कृत श्लोक के उपरांत प्रायः उसी भाव को अभिव्यक्त करनेवाला भाषा छंद दिया हुआ है। इस फागु की भाषा परिमार्जित एवं रसानुकूल है। इस शैली के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृतज्ञ विद्वानों के मनोरंजनार्थ भी फागु की रचना होने लगी थी। फागु शैली की यह महत्ता है कि संस्कृत के दिग्गज विद्वान् भी इसका प्रयोग करने को उत्सुक रहते थे। इस फाग में उपलब्ध सरस संस्कृत श्लोकों की छटा दर्शनीय है। दो उदाहरण यहाँ परीक्षण के लिये रखना उचित प्रतीत होता है—

मयण पारधि कर लाकडि सा कडि लंकिहिं झीण।
इम कि कहइ जुवती वस, जीव सवे हुइं खीण॥

कामदेव रूप अहेरी ने लकुटी द्वारा नारी की कमर को क्षीण बना दिया। इस प्रकार वह कामदेव कह रहा है कि जो भी युवती के वश में होगा वह क्षीणकाय बन जायगा। इसी तात्पर्य को संस्कृत श्लोक के द्वारा स्पष्ट किया गया है—

युवमृगमृगयोत्कनंगयष्टेस्तरुण्या–
स्तनुदलनकलंकप्रापकश्रेणिलंकः।
पिशुनयति किमेवं कामिनीं यो मनुष्यः
श्रयति स भवतीत्थं तंतुशंकाशकायः॥

इसी प्रकार कामिनी के अंगप्रत्यंग के वर्णन द्वारा शांत रस का आस्वादन करानेवाला यह फागु इस प्रकार के साहित्य में अप्रतिम माना जायगा।

बंध की दृष्टि से जयवंत सूरि कृत 'स्थूलिभद्र-कोशा-प्रेम-विलास फाग' में अन्य फागों से कतिपय विलक्षणता पाई जाती है। इस फाग के प्रारंभ में 'फाग की ढाल' नामक छंद का प्रयोग किया गया है। इस छंद में सरस्वती की वंदना, स्थूलिभद्र और कोशा के गीत, गायन का संकल्प तथा वसंत ऋतु में तरुणी विरहिणी के संताप की चर्चा पाई जाती है। इस प्रकार मंगलाचरण में ही कथावस्तु का बीज विद्यमान है। अंतर्यमक की छटा भी देखने योग्य है। कवि कहता है[1]—

"ऋतु वसंत नवयौवनि यौवनि तरुणी वेश,
पापी विरह संतापइ तापइ पिउ परदेश।"

इस फागु का बंध निराला है। इसमें काव्य, चालि, दूहा और ढाल नामक छंदों का प्रयोग हुआ है। कई हस्तलिखित प्रतियों में चालि नामक छंद के स्थान पर फाग और काव्य के स्थान पर दूहा नाम दिया हुआ है। काव्य छंद विरहवेदना की अभिव्यक्ति के कितना उपयुक्त है उसका एक उदाहरण देखिए। वियोगिनी विरह के कारण पीली पड़ गई है। वैद्य कहता है कि इसे पांडु रोग हो गया है[2]—

देह पंडुर भइ वियोगिइँ, वइद कहइ पहनइँ पिंडरोग।
तुझ वियोगि जे वेदन मइँ सही, सजनीया ते कुण सकइ कही॥

---

१ जसवंत सूरि—स्थूलिभद्र-कोशा प्रेमविलास फाग—कडी २
२ वही, कडी २२

एक स्थान पर विरहिणी पश्चात्ताप कर रही है कि यदि मैं पक्षी होती तो भ्रमण करती हुई प्रियतम के पास जा पहुँचती; चंदन होती तो उनके शरीर पर लिपट जाती; पुष्प होती तो उनके शरीर का आलिंगन करती; पान होती तो उनके मुख को रंजित कर सुशोभित करती; पर हाय विधाता ! तूने मुझे नारी बनाकर मेरा जीवन दुःखमय कर दिया[1]—

(चालि)

हुं सिं न सरजी पंखिणी (पंपिणी) जे भमती प्रीउ पासि,
हउँ न सि सरजी चंदन, करती पिउ तन वास।
हुं सिं न सरजी फूलडाँ, लेती आलिंगन जाण,
मुहि सुरंग ज शोभताँ, हुँ सिइं न सरजी पान।

सत्रहवीं शताब्दी में फागु की दो धाराएँ हो जाती हैं। एक धारा अभिनय को दृष्टि में रखकर पूर्वपरिचित पथ पर प्रवाहित होती रही, किंतु दूसरी धारा विस्तृत और बृहदाकार होकर फैल गई। जहाँ लघु फागों में ५०–६० कड़ियाँ होती थीं, वहाँ ३०० से अधिक कड़ियोंवाले बृहद् फाग विरचित होने लगे। ऐसे फागों में कल्याणकृत 'वासुपूज्य मनोरम फाग' कई विशेषताओं के कारण उल्लेखनीय है। यह फाग रास काव्यप्रकार के सदृश ढालों में आबद्ध है। ढालों की संख्या २१ है। प्रत्येक ढाल के राग और ताल भी उल्लिखित हैं। २१ ढालों को दो उल्लासों में विभक्त किया गया है। गेय बनाने के उद्देश्य से प्रायः सभी ढालों में ध्रुवक का विवरण मिलता है। ध्रुवक के अनेक प्रकार यहाँ दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

१७वीं शती के फाग

(१) पुण्य करणी समाचरइ, सुख विलसि संसारि रे।[2]
(२) रे प्राणी रात्रिभोजन वारि, भारे दूषण ए निरधार ॥[3]

(३) सँभलि भविक जना।
(४) मेरउ लालमणी रे लालमणी,

---

१ वही, कड़ी ३१–३२
२ कल्याणकृत वासुपूज्य मनोरम फाग, ढाल ६
३ वही, ढाल ७

(५) मेरी वंदन वारंवार, मनमोहन मोरे जगपती हो ।
(६) करइ क्रीडा हो ऊडाडइ गलाल ।
(७) रँगीले प्राणीश्रा ।
(८) लालचित्त हंसा रे ।

इस फाग का अभिनय संभवतः दो रात्रियों में हुआ होगा । इसी कारण इसे दो उल्लासों में विभक्त किया गया है । इसके प्रयोग का काल इस प्रकार दिया हुआ है—

सोल छनूँ माघ मासे, सूदि अष्टमी सोमवार,
× × ×
गण लघु महावीर प्रसादि, थिर पुर कीड उच्छाहइ,
कटुक गछ सदा दीपयो, चंद सूर जिहाँ जगमाहइ ।

अर्थात् १६९६ की माघ सुदी अष्टमी, सोमवार को महावीरप्रसाद के प्रयास से थिरपुर नामक स्थान में इसका उत्सव हुआ ।[1]

इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि बृहत्काय फागु[1] भी कुछ काल तक अभिनेयता को दृष्टि में रखकर लिखे जाते थे। कालांतर में साहित्यिक गुणों को ही सर्वस्व मानकर पाठ्य फागुओं की रचना होने लगी होगी ।

फागु में प्रयुक्त छंद

हम पहले विवेचन कर चुके हैं कि अनेक फागुओं में भास तथा दूहा जैसे सरल छंदों को गेय बनाने के लिये उनमें प्रारंभ अथवा अंत में 'अहे' 'अहँ' या 'अरे' आदि शब्दों को संमिलित कर लिया जाता था। ज्यों ज्यों फागु लोकप्रिय होने के कारण शिष्ट समाज तक पहुँचता गया त्यों त्यों इसकी शैली उत्तरोत्तर परिष्कृत होती गई। शिष्ट समाज के संस्कृत प्रेमियों में देवभाषा के प्रति ममत्व देखकर विदग्ध कवियों ने फागु में संस्कृत श्लोकों को अधिक से अधिक स्थान देने का प्रयास किया। इसके कई परिणाम निकले—(१) संस्कृत के कारण फागुओं की भाषा सार्वदेशिक प्रतीत होने लगी—(२) शिष्ट समुदाय ने इस लोकसाहित्य को समादृत किया, (३) विदग्ध

१ श्री संडेसरा का मत है कि "यह फागु नाम मात्र को ही फागु है" क्योंकि इसकी रचनापद्धति फागुओं से भिन्न प्रतीत होती है। इस काव्य को यदि 'फागु' के स्थान पर 'रास' संज्ञा दी जाय तो अधिक उपयुक्त हो ।

श्रावकों के समाराधन से इस काव्यप्रकार में नवीन छंदों, गीतों एवं अभिनय के नवीन प्रयोगों को विकास का अवसर मिला।

अभिनेय होने के कारण एक ओर गीतों में सरसता और संगीतमयता लाने का प्रयास होता रहा और इस उद्देश्य से नवीन गेय छंदों की योजना होती रही, दूसरी ओर साहित्यिकता का प्रभाव बढ़ने से लघुकाय गेय फागुओं के स्थान पर पाठ्य एवं दीर्घकाय फागुओं की रचना होने लगी। ये दोनों धाराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती गईं। पहली अभिनयप्रधान होने से लोकप्रिय होती गई और दूसरी शिष्ट समुदाय में पाठ्य होने से साहित्यिक गुणों से अलंकृत होती रही।

विभिन्न फागों में प्रयुक्त छंदरचना का परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि फागु छंदों की तीन पद्धतियाँ हैं—(१) गीत और अभिनय के अनुकूल छंद, (२) संस्कृत श्लोकों के साथ गेय पदों के अनुरूप मिश्र छंदयोजना, (३) अपेक्षाकृत वृहद् एवं पाठ्य फागों में गेयता एवं अभिनेयता की सर्वथा उपेक्षा करते हुए साहित्यिकता की ओर उन्मुख छंदयोजना।

मिश्र छंदरचना

मिश्र छंदयोजनावाले फागों में धनदेव गणि कृत 'सुरंगाभिध नेमि फाग' (सं० १५०२ वि०) प्रसिद्ध रचना है। इसी शैली में आगम माणिक्य कृत 'जिनहंस गुरु नवरंग फाग', अज्ञात कवि कृत 'राणपुर मंडन चतुर्मुख आदिनाथ फाग' तथा कमलशेखर कृत 'धर्ममूर्ति गुरु फाग' आदि विरचित हुए हैं। मिश्र छंदयोजना में संस्कृत श्लोक, रासक, आंदोला, फाग आदि के अतिरिक्त शार्दूलविक्रीडित नामक वर्णवृत्त अधिक प्रचलित माना गया।

छंदवैविध्य फागु काव्यों की विशेषता है। संस्कृत के श्लोक भी विविध वृत्तों में उपलब्ध होते हैं। 'रास' शीर्षकवाली कड़ियाँ भी एक ही निश्चित 'देशी' में नहीं अपितु विविध 'देशियों' में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सारी छंदयोजना के मूल में संगीतात्मकता एवं अभिनेयता की प्रेरणा रही है। प्रसंगानुकूल नृत्य एवं संगीत के संनिवेश के लिये तदनुरूप छंदों का उपयोग करना आवश्यक समझा गया।

जब काव्य की फागु शैली अभिनेयता के कारण जनप्रिय बनने लगी तो इसके अवांतर भेद भी दिखाई पड़ने लगे। फागु का एक विकसित रूप 'गीता' नाम से प्रचलित हुआ। इस नाम से उपलब्ध फागु की 'गीता' शैली प्राचीनतम काव्य भ्रमरगीता[1] उपलब्ध हुआ है जिसकी कथावस्तु श्रीमद्‌भागवत के उद्धवसंदेश के आधार पर निर्मित है। कवि चतुर्भुज कृत इस रचना का समय सं० १५७६ वि० माना जाता है। इस शैली पर विरचित द्वितीय रचना 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' है जिसमें जैन समुदाय में चिरप्रचलित नेमिकुमार की जीवनगाथा वर्णित है। तीसरी प्रसिद्ध कृति उपाध्याय यशोविजय कृत 'जंबूस्वामी ब्रह्मगीता' है। जंबूस्वामी के इतिवृत्त के आधार पर इस फागु की रचना हुई है। इस रचना के काव्यबंध में झूलना छंद का उत्तरार्ध 'फाग' अथवा 'फाग की देशी' और तदुपरांत दूहा रखकर रचना की जाती है।

'गीता' शीर्षक से फागुओं की एक ऐसी पद्धति भी दिखाई पड़ती है जिसमें कोई इतिवृत्त नहीं होता। इस कोटि में परिगणित होनेवाली प्रमुख रचनाएँ हैं—(१) वृद्धविजय कृत 'ज्ञानगीता' तथा (२) उदयविजय कृत 'पार्श्वनाथ राजगीता।''

इन रचनाओं का छंदबंध फागु शैली का है, पर इनमें इतिवृत्त के स्थान पर 'दश वैकालिक सूत्र' के आधार पर पार्श्वनाथ का स्तवन किया गया है जिससे प्राणी मोह की प्रबल शक्ति से मुक्ति प्राप्त कर सके। 'ज्ञानगीता' और 'पार्श्वनाथ राजगीता' एक ही प्रकार के फागुकाव्य हैं जिनमें कोई इतिवृत्त कथावस्तु के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता।

इस प्रकार विवेचन के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'गीता' शीर्षक से 'फागु' की दो नई पद्धतियाँ विकसित हुईं। इन दोनों की छंदबंध पद्धति में साम्य है किंतु इतिवृत्त की दृष्टि से इनकी पद्धतियों में भेद पाया जाता है। एक का उद्देश्य कथा की सरसता के माध्यम से जीवन का उदात्तीकरण है किंतु द्वितीय पद्धति का लक्ष्य है एकमात्र संगीत का आश्रय लेकर उपदेशकथन।

---

१ भ्रमरगीता की पुष्पिका में इस प्रकार का उद्धरण मिलता है—'श्रीकृष्ण-गोपी-विरह-मेलापक फाग'। इससे सिद्ध होता है कि इस रचना के समय कवि की दृष्टि 'फागु' नामक काव्यप्रकार की ओर रही होगी।

हम यहाँ पर चतुर्भुजकृत 'भ्रमरगीता' का संक्षिप्त परिचय देकर इस पद्धति का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझते हैं। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है—जब श्रीकृष्ण और बलदेव गोकुल त्यागकर अक्रूर के साथ मथुरा चले गए तो नंद, यशोदा तथा गोपांगनाएँ विरहाकुल होकर रोदन करने लगीं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को संदेश देकर गोकुल भेजा। उद्धव के दर्शन से गोपांगनाओं को प्रथम तो बड़ा आश्वासन मिला किंतु उनका प्रवचन सुनकर वे व्याकुल हो गईं और उन्होंने अपनी विरहव्यथा की मार्मिक कथा सुनाकर उद्धव को अत्यंत प्रभावित कर दिया। इस उच्च कोटि की रचना में करुण रस का प्रवाह उमड़ा पड़ता है। नंद यशोदा के रुदन का बड़ा ही रोमांचकारी वर्णन सशक्त भाषा में किया गया है।

भ्रमरगीता की शैली पर विनयविजय कृत 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' भी विरचित हुई। जिस प्रकार चतुर्भुज ने 'भ्रमरगीता' में कृष्णविरह में गोपी-गीत की कथा सुनाई है, उसी प्रकार विनयविजय ने नेमिनाथ भ्रमरगीता में नेमिनाथ के वियोग में संतप्त राजुलि की व्यथा का वर्णन है। कवि ने नवयुवती राजुलि के शारीरिक सौंदर्य एवं विरहव्यथा का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। राजुलि की रूपमधुरिमा का चित्र देखिए—

(फाग)

ससिवयणी मृगनयणी, नवसति सजि सिणगार,
नवयौवन सोवनवन; अलि अपछर अवतार।

(फाग)

अंजन अंजित अंषडी, अधर प्रवाला रंग;
हसित ललित लीला गति, मदभरी अंग अनंग।
रतनजडित कंचुक कस, खंचित कुच दोइ सार,
एकाउलि मुगताउलि, टंकाउलि गलि हार।

ऐसी सुंदरी नवयौवना राजुलि नेमिनाथ के वियोग में तड़पती हुई रोदन कर रही है—

दोहिला दिन गया तुम्ह पाषइ, रपे ते सोहणि देव दाषइ,
आज हुँ दुपनु पार पांमी, नयन मेलावडि मिल्यउ स्वामी।
रयणी न आवी नींद्रडी, उदक न भावइ अन्न,
सुनी भमि ए देहडी, नेमि सुं लागुं मन्न।

इसी प्रकार नाना भाँति विलाप करती हुई राजुलि अपने आभूषणों को तोड़ फोड़कर फेंक देती है। क्षण क्षण प्रियतम नेमिनाथ की बाट जोहती हुई विलाप करती है—

कंत विना स्यां मन्दिर, कंत विना सी सेज,
कंत विना स्यां भोजन, कंत विना स्यां हेज।
× × ×
नींद न आवि विरहण, देपुं सुंहणे नाह,
बापीयडो पीउ पीउ करि, दूणु दि बली दाह।

राजुलि इसी प्रकार विलाप कर रही थी कि उसकी सत्यनिष्ठा से प्रसन्न होकर नेमिनाथ जी उसके संमुख विराजमान हो गए।

कवि कहता है—

(छंद)

नेमि जी राजुलि प्रीति पाली, विरहनी वेदना सर्व टाली,
सुष घणां मुगति वेगि दीधां, नेमि थी विनय'नां काज सीधां।

इस प्रकार इस फागु में विप्रलंभ एवं संभोग शृंगार की छटा कितनी मनोहारी प्रतीत होती है। यहाँ कवि ने 'नेमि भ्रमरगीता' नाम देकर भ्रमर-गीता की विरह-वर्णन-प्रणाली का पूर्णतया निर्वाह किया है। इसमें प्रयुक्त छंद है—दूहा, फाग, छंद। इन्हीं छंदों के माध्यम से राजुलि (राजमती) की यौवनस्थिति, विरहस्थिति एवं मिलन स्थिति का मनोरम वर्णन मिलता है। इस काव्य से यह स्पष्ट झलकता है कि कवि कृष्ण गोपी की विरहानुभूति का श्रीमद्भागवत के आधार पर अनुशीलन कर चुका था और यह फागु लिखते समय गोपी-गीत-शैली उसके ध्यान में विद्यमान थी। अतः उसने जैन कथानक को भी ग्रहण करके अपने काव्य को 'नेमिनाथ भ्रमरगीता' नाम से अभिहित करना उपयुक्त समझा।

फागु साहित्य में मध्यकालीन समाज की रसवृत्ति के यथार्थ दर्शन होते हैं। वसंतविलास में युवक नायक और युवती नायिका परस्पर आश्रय आलंबन हैं। ऋतुराज वसंत से स्थायी रतिभाव उद्दीप्त हो उठता है। इसका बड़ा ही मादक वर्णन मिलता है। तत्कालीन समाज की रसवृत्ति का यह परिचायक है। जिस भोगसामग्री का वर्णन इसमें पाया जाता है उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि तत्कालीन रसिक जन

फागु साहित्य में समाज की रसवृत्ति

अपना जीवन कितने वैभव और ठाटबाट से व्यतीत करते होंगे। पलाश के पुष्पों को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि ये फूल मानो कामदेव के अंकुश हैं जिनसे वह विरहिणियों के कलेजे काढ़ता है—

"केसु कली अति वाँकुड़ी, आँकुड़ी मयण ची जाणि।
विरहिणानां इणि कालिज, कालिज काढइ ताणइ॥"

कई प्रेमकथाओं में तो मंगलाचरण भी मकरध्वज रतिपति कामदेव की स्तुति से किया गया है और उसके बाद सरस्वती तथा गुरु की प्रार्थना कवि ने की है।

कुंयर कमला रतिरमण; मयण महाभड नाम।
पंकजि पूजीय पयकमल; प्रथमजी करउं प्रणाम॥

बिल्हणपंचाशिका का मंगलाचरण इससे भी बढ़कर रसात्मक है। वहाँ भी कवि सरस्वती से कामदेव को अधिक महत्व देकर प्रथम प्रणाम करता है—

मकरध्वज महीपति वर्णवुं, जेहनुं रूप अवनि अभिनवुं;
कुसुमवाण करि; कुंजरि चडइ, जास प्रयाणि धरा धडहडइ।
कोदंड कामिनी तणुं टंकार, आगलि अलि झंका झंकारि;
पाखलि कोइलि कलरव करई, निर्मल छत्र श्वेत शिर धरई।
त्रिभुवन मांहि पडावई साद: 'दई को सुरनर मांडइ वाद?'
अबला सैनि सबल परवरिऊ, हींडइ मनमथ मच्छरि भरिऊ,
माधव मास सोहई सामंत जास नणइ, जलनिधि-सुतमित: ,
दूतपणुं मलयानिल करइ; सुरनर पन्नग आण आचरई।
तासतणा पय हुं अणसरी, सरसति सामिणी हइडइ धरी,
पहिलुं कंदर्प करी प्रणाम, गाइउ ग्रंथ रचिसि अभिराम।

इस प्रकार जो कविगण मंगलाचरण में ही प्रेम के अधिष्ठाता कामदेव का आह्वान करते हैं और ग्रंथरचना में सहायता की सूचना करते हैं, उनकी रचनाएँ रस से क्यों न परिप्लुत होंगी। नर्बुदाचार्य नामक एक जैन कवि ने संवत् १६५६ में बरहानपुर में कोकशास्त्र चतुष्पादी लिखी है। फागु-रचना में कोकशास्त्र के ज्ञान को आवश्यक समझकर वे कहते हैं—

जिम कमल मांहि भमर रमइ, गंध केतकी छांडे किमइ ;
जे नर स्त्रीश्रालुबधा हसै, तेहना मन इणि ग्रंथे बसै।
जिहां लगे रविशशी गगनै तपै, जिहां लगे मेरु महिमध्य जपे;
तिहां लगे कथा रहिस्यै पुराण, कवि नरवुद कहे कथा बखाण।

फागु का कवि प्रेक्षकों एवं पाठकों को साहित्यिक रस में निमग्न करने को लालायित रहता है। वस्तु योजना में कल्पना से काम लेते हुए घटनाक्रम के उन महत्वमय क्षणों के अन्वेषण में वह सदा संलग्न रहता है जो पाठकों और प्रेक्षकों को रसानुभूति कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। फागु-कवि मनोविज्ञान की सहायता से ऐसे उपयुक्त अवसरों का अनुसंधान किया करता है।

भाषा के प्रति वह सदा जागरूक रहता है। भाषा को अलंकारमयी, प्रसादगुण संपन्न एवं सरस बनाने के लिये वह विविध काव्यकलाओं का प्रयोग करता है। 'वसंतविलास' फागु का कवि तो भाषा को रमणीय बनाने का संकल्प करके कहता है—

पहिलउँ सरसति अरचिस रचिसु वसंतविलास।
फागु पयडपयबंधिहिं, संधि यमक भल भास।

फागु काव्यों की भाषा संस्कृत एवं प्राकृत मिश्रित भाषा है वसंतविलास में तो संस्कृत के श्लोकों का अर्थ लेकर हिंदी में रचना हुई अतः भाषा की दृष्टि से भी ये काव्य मिश्र-भाषा-समन्वित हैं।

इन फागुओं में यत्र तत्र तत्कालीन जन प्रवृत्ति एवं घर घर रास के अभिनय का विवरण मिलता है। संभवतः रास और फाग क्रीड़ा के लिये मध्यकाल में पाटण नगर सबसे अधिक प्रसिद्ध था। एक स्थान पर 'विरह देसाउरी फाग' में उल्लेख मिलता है—

"धनि धिन पाटण नगर रे, धिन धिन फागुण मास,
हैयड रस गोरी घणा, घरि घरि रमीइ रास।"

अर्थात् पाटण नगर और फागुन मास धन्य है। जहाँ घर घर गौर वर्ण वाली स्त्रियाँ हृदय में प्रेमरस भरकर रास रचाती हैं।

इस प्रकार के अनेक उद्धरण फागु साहित्य में विद्यमान हैं जो तत्कालीन

जनरुचि एवं रास-फागु के अभिनय की प्रवृत्ति को प्रगट करते हैं। फाल्गुन एवं चैत्र के रमणीय काल में प्रेमरस से छलकता हृदय प्रेमगाथाओं के अभिनय के लिये लालायित हो उठता था। कविगण नवीन एवं प्राचीन कथानकों के आधार पर जन-मन-रंजक एवं कल्याणप्रद रास एवं फागों का सृजन करते, धनीमानी व्यक्ति उनके अभिनय की व्यवस्था करते, साधु-महात्मा उसमें भाग लेते और सामान्य जनता प्रेक्षक के रूप में रसमग्न होकर वाह वाह कर उठती। कालिदास के युग की वसंतोत्सव पद्धति इस प्रकार संस्कृत एवं हिंदी भाषा के सहयोग से फाग और रास के रूप में कलेवर बदलती रही।

अब हम यहाँ शिष्ट साहित्य में परिगणित होनेवाले प्रमुख फागुओं का संक्षिप्त परिचय देंगे—

(१) सिरिथूलिभद्र फागु—फागु काव्यप्रकार की यह प्राचीनतम कृति है। इसके रचयिता हैं जैनाचार्य जिनपद्म सूरि। संवत् १३६० में आचार्य हुए। संवत् १४०० में निर्वाण। यह चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण की रचना प्रतीत होती है। स्थूलिभद्र मगध के राजा नंद के मंत्री शकटार का पुत्र था। पाटलीपुत्र में कोश्या नामक एक विख्यात गणिका रहती थी। स्थूलिभद्र उसके प्रेम में पड़ गए और बारह साल तक वहीं रहे। पितृमृत्यु के बाद वे अपने घर आए। पितृवियोग के कारण विराग की उत्पत्ति हुई। गुरुदीक्षा लेकर चातुर्मास बिताने के लिये और अपने समय की कसौटी करने के लिये उसी वेश्या के यहाँ चातुर्मास रहे। वह बड़ी प्रसन्न हुई, परंतु स्थूलिभद्र अडिग रहे। अंत में कोश्या को भी ज्ञान हुआ और वह तर गई। कवि ने इसमें वर्षाऋतु का वर्णन किया है, वसंत का नहीं। परंतु विषय शृंगारिक होने से यह फागु काव्य है। अंतिम पंक्तियों से भी यह स्पष्ट हो जाता है—

खरतरगच्छि जिणपदमसूरि-किय फागु रमेवउ।
खेला नाचइँ चैत्रमासि रंगिहि गावेवउ।—२७

काव्यशास्त्र की दृष्टि से इस फागु में कुछ आलंकारिक कविता के उदाहरण मिलते हैं। २७ कड़ियों के इस काव्य के सात विभाग किए गए हैं। प्रत्येक विभाग में एक दूहा और उसके बाद रोला छंद की चार चरणोंवाली एक कड़ी आती है जो गेय है। शब्दमाधुर्य उत्पन्न करने में कवि सफल हुआ है। गुरु की आज्ञा से स्थूलिभद्र कोश्या के यहाँ भिक्षा के लिये आते

है। कवि उस समय कोश्या के मुख से वर्षा का वर्णन कराता है—जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

लौटकर आए हुए स्थूलिभद्र को रिझाने के लिये कोश्या का शृंगारवर्णन भी कवि उद्दीपन के रूप में ही सामने रखता है। शृंगार की ऐसी उद्दीपक सामग्री स्थूलिभद्र के संयम और तप के गौरव को बढ़ाने के लिये ही आई है। कोश्या के हावभाव सफल नहीं होते क्योंकि स्थूलिभद्र ने संयम धारण कर लिया है। अब उन्होंने मोहराय का हनन किया है और अपने ज्ञान की तलवार से सुभट मदन को समरांगण में पछाड़ा है—

आई बलवंतु सुमोहराऊ, जिणि नाणि निधाडिऊ।
आण खडग्गिण मयण-सुभंड समरंगणि पाडिऊ॥

श्री नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता राजशेखर सूरि हैं। रचनाकाल सं० १४०५ है। इसमें नेमिराजुल के विवाह का वर्णन है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों मे नेमिनाथ बाईसवें है। ये यदुवंशी और कृष्ण के चचेरे भ्राता थे। पाणिग्रहण राजुल के साथ संपन्न होना था। वरयात्रा के समय नेमिनाथ की दृष्टि वध्य भेड़ों और बकरियों पर पड़ी। विदित हुआ कि बारात के स्वागतार्थ पशुवध का आयोजन है। नेमिनाथ को इस पशुहिंसा से निर्वेद हुआ। उनके पूर्वसंस्कार जाग्रत हुए और वे वन में भाग निकले। जब राजुल को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसने भी तप प्रारंभ किया। इस फागु में भी वसंत-विहार का वर्णन है। कवि ने नेमि-गुण-कथन करने की प्रतिज्ञा की है। सत्ताइस कड़ियों के इस काव्य के भी सात खंड हैं। प्रत्येक खंड की प्रथम कड़ी दूहे में और दूसरी रोला में है। शैली प्राचीन आलंकारिक है। वरयात्रा, वर और वधू का वर्णन प्रसादगुणयुक्त कविता का सुंदर उदाहरण है—

मोहणवल्लि नवल्लिय, सोहइ सा जगि बाल,
रूपि कलागुणि पूरिय, दूरिय दूषण जाल।
विहु दिसि मंडप बाँधिय, सांधिय धयवडमाल,
द्वारवती घण उच्छव, सुंदर वंदुरवाल।
अह वरि जादरु पहिरिउ, सुभरिउ केतक पुंपु,
मस्तकि मुकुटु रोपिउ, ओपिउ निरुपम रूपु।
श्रवणिहि ससिरविमंडल कुंडल, कंठिहिं हारु,
भुजयुगि रंगद अंगद, अंगुलि मुद्दियभारु।

सहजिहि रूपि न दूषणु, भूषण भासुर अंगु,
एकु कि गोविंदु इंदु कि चंदु कि अहव अनंगु ।

राजमती के विवाहकाल के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि—

अरे कोइलि सादु सोहावणउ, मोरि मधुर वासंति,
अरे भमरा रणझण रुणु करइ, किंरि किन्नरि गायंति ।
अरे हरि हरिखिउ मनि आपणइ वासुलडी वाजंति,
अरे सिंगा सबदहि गोपिय सोल सहस नाचंति ।
अरे कान्हडु अन्नइ नेमि जिणु खड्डोखलि मिलि जाइं,
अरे सिंगीय जलभरे छांटियइ, एसिय रमलि कराइं ।

जंबूस्वामी फागु—इसके रचयिता कोई अज्ञात कवि हैं। इसका रचनाकाल सं० १४३० वि० है। समस्त काव्य में अंतर्यमकवाले दोहे स्पष्ट दिखाई पड़ जाते हैं। फागु रचनाबंध का यह प्रतिनिधि ग्रंथ है। जंबूस्वामी राजगृह नामक नगर के ऋषभदत्त नामक धनिक सेठ के एकमात्र पुत्र थे। इनका वैवाहिक संबंध एक ही साथ आठ कुमारियों से निश्चित हुआ। इसी समय सुधर्मा स्वामी गणधर के उपदेश से इनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ। जंबूस्वामी ने घोषणा कर दी कि विवाहोपरांत मैं दीक्षा ले लूँगा। फिर भी उन आठों कुमारियों के साथ लग्न हुआ। किंतु जंबूस्वामी ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसी रात को प्रभव नामक एक डाकू दस्युदल के साथ चोरी करने के लिये आया। उस डाकू पर कुमार के ब्रह्मचर्यमय तेज का इतना प्रभाव पड़ा कि वह शिष्य बन गया। जंबूकुमार ने अपनी आठों पत्नियों को भी प्रबुद्ध किया। इसी प्रकार अपने माता पिता, सास श्वसुर एवं दस्युदल सहित ५२६ शिष्यों ने सुधर्मा स्वामी से दीक्षा ली। जंबूस्वामी की आयु उस समय १६ वर्ष की थी। उनका निर्वाण ८० वर्ष की आयु में हुआ।

इस फागु में नायक और नायिका का प्रसाद शैली में वर्णन किया गया है। इस फागु का वसंतवर्णन भी अनोखा और मनोहर है। रचनाबंध और काव्य की दृष्टि से यह एक सुंदर कृति है।

वसंत-विलास-फागु—इसका रचनाकाल सं० १४०० से १४२५ के बीच है। 'वसंतविलासफागु' केवल प्राकृत बंध नहीं, अपितु इसमें दूहों के साथ संस्कृत और प्राकृत के श्लोक भी हैं। 'संस्कृत शब्दावली का इसमें बाहुल्य पाया जाता है।

इस काव्य की एक एक पंक्ति रस से सराबोर है। काव्यरस मानो छलकता हुआ फूट पड़ने को उमड़ता दिखाई पड़ता है। इसका एक एक श्लोक मुक्तक की भाँति स्वयं पूर्ण है। अंतर्यमक की शोभा अद्वितीय है। इसकी परिसमाप्ति वैराग्य में नहीं होती, इसीलिये यह जैनेतर कृति मानी जाती है। इस फागु में जीवन को उल्लास और विलास से ओतप्रोत देखा गया है। काव्य का मंगलाचरण सरस्वतीवंदना से हुआ है। तत्पश्चात् चार श्लोकों में वसंत का मादक चित्र चित्रित किया गया है। इसी मादक वातावरण में प्रियतमा के मिलन हेतु अधीर नामक का चित्र अंकित है। छः से लेकर पंद्रह दोहों में नवयुगल की वनकेलि का सामान्य वर्णन है। १६ से ३५ तक के दूहों में वनवर्णन है, जिसकी तुलना नगर से की गई है। यहाँ मदन और वसंत का शासन है। उनके शासन से विरहिणी कामिनियाँ अत्यंत पीड़ित हैं। एक विरहिणी की वेदना का हृदयविदारक वर्णन है किंतु उपसंहार होते होते प्रिय के शुभागमन की सुंदर छटा छिटकती है। अंतिम दोहे में अधीर पथिक घर पहुँच जाता है। ५१ से ७१ तक प्रिय-मिलन और वनकेलि का सुंदर वर्णन है। अब विरहिणी प्रियतम के साथ मिलनसुख में एकाकार हो जाती है। विविध प्रेमी प्रेमिकाओं के मिलन का पृथक् पृथक् सुखसंवाद है। किसी की प्रियतमा कोमल और अल्पवयस्का है तो कोई प्रियतम 'प्रथम प्रेयसी' की स्मृति के कारण नवीना के साथ अभिन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अनेक प्रकार के प्रेममाधुर्य से काव्य रसमय बन जाता है। प्रेम के विविध प्रसंगों को कवि ने अन्योक्तियों द्वारा इंगित किया है। इस फागु का जनता में बहुत प्रचार है। इस फागु में वसंतागमन विरहवेदना, वनविहार संयोग का सुंदर, संक्षिप्त, सुश्लिष्ट, तर्कसंगत एवं प्रभावोत्पादक वर्णन है। इसमें एक नहीं, अनेक युगल जोड़ियों की मिलनकथा अलग अलग रूप में मिलती है। अर्थात् इस फागु में अनेक नायक और अनेक नायिकाएँ हैं।

नेमिनाथ फागु—इसके रचयिता जयशेखर सूरि हैं। रचनाकाल १४६० के लगभग है। इसमें ११४ दोहे हैं। वसंत के मादक वातावरण का प्रभाव नेमिकुमार पर कुछ नहीं पड़ता। परंतु विरहिणी इसी वातावरण में अस्वस्थ है। यह बहुत ही रसपूर्ण कृति है। नेमिनाथ की वरयात्रा का भी सुंदर वर्णन है।

रंगसागर नेमि फागु—रचयिता सोमसुंदर सूरि हैं। रचनाकाल

१५वें शतक का उत्तरार्ध है। इसमें गेयता कम किंतु वर्णनात्मकता अधिक है। नेमिनाथ के संपूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत करनेवाली यह रचना महाकाव्य की कोटि में परिगणित की जा सकती है। फागु का आरंभ शिवा-देवी के गर्भ में नेमिनाथ के आगमन के समय उसके स्वप्नदर्शन से होता है। इस फाग के तीन खंड हैं जिनमें क्रमशः सैंतीस, तेंतालीस और सैंतीस कड़ियाँ हैं। कुल मिलाकर संस्कृत के १० श्लोक हैं। रचनाबंध की दृष्टि से भी यह सुंदर है।

नारायण फागु—रचनाकाल संवत् १४६५ के आसपास है। इस फागु के बहुत से अवतरणों पर बसंतविलास का प्रभाव लक्षित होता है। उसके रचयिता के संबंध में कुछ ज्ञात नहीं। काव्य के आरंभ में सौराष्ट्र और द्वारिका का वर्णन है। तदुपरांत कृष्ण के पराक्रम और वैभव का यशोगान है। पटरानियों सहित कृष्ण के वनविहार का इसमें शृंगार रसपूर्ण वर्णन है। कृष्ण का वेणुवादन, गोपांगनाओं का तालपूर्वक नर्तन बड़ा ही सरस बन पड़ा है। प्रत्येक गोपी के साथ अलग अलग कृष्ण की वनक्रीड़ा का वर्णन आकर्षक है। यह फागु ६७ कड़ियों का है और अंतिम तीन कड़ियाँ संस्कृत श्लोक के रूप में हैं। इसका आरंभ दूहे से और पर्यवसान संस्कृत श्लोक से होता है।

सुरंगाभिमान नेमि फाग—इस फाग की रचना संस्कृत और गुजराती दोनों भाषाओं में हुई है। इसके रचयिता धनदेव गणि हैं। मंगलाचरण शार्दूलविक्रीडित में संस्कृत और भाषा दोनों के माध्यम से है। उपसंहार भी शार्दूलविक्रीडित से ही किया गया है।

नेमीश्वरचरित फाग—यह फाग ६१ कड़ियों का है। १७ संस्कृत की कड़ियाँ हैं और ७४ भाषा की। रचयिता माणिक्यचंद्र सूरि हैं। इसमें चार प्रकार के छंद हैं—रासु, रासक, फागु, अड़ेउ है।

श्रीदेवरत्न सूरि फाग—यह फाग ६५ कड़ियों का है।

हेमविमल सूरि फाग—रचनाकाल सं० १५५४ है। रचयिता हंसधीर हैं। इसमें गुरुमहिमा का गान ५७ कड़ियों में मिलता है। इसमें फाल्गुन का वर्णन नहीं है। केवल रचना फागु के अनुरूप है।

वसंतविलास फागु (१)—इसमें ६६ कड़ियाँ हैं। इसकी रचना बड़ी ही सुंदर और रसपूर्ण है। गोपियों का विरह और नंद यशोदा का

रुदन, दोनों प्रसंग बहुत प्रभावोत्पादक हैं। कृष्ण का मथुरा जाना, गोपिकाओं का विरह, कंसवध, ऊधो का गोपियों को प्रबोधन आदि प्रसंग सुंदर बन पड़े हैं।

वसंतविलास फागु (२)—इसके रचयिता केशवदास हैं। रचनाकाल सं० १५२९ है। २६ दूहों में रचित है। यह एक स्वतंत्र कृति है। मंगलाचरण नवीन रीति का है। उपसंहार में भी नवीनता है। भाषा १६ वीं सदी के उत्तरार्ध की है। यह रचना पूर्णरूपेण फागु नाम को सार्थक करती है।

फागु के विविध उद्धरणों से इस काव्यप्रकार की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। सबसे अधिक आकर्षक तथ्य यह दिखाई पड़ता है कि फागु साहित्य अभिनय के उद्देश्य से विरचित होता था और इसके अभिनय में नृत्यगीत मुख्यरूप से सहायक होते थे। चैत्र[1] मास में इसके अभिनय का उपयुक्त अवसर समझा जाता था। मधुमास में भी सबसे अधिक रमणीक समय चैत्र पूर्णिमा का माना जाता था :

फागु की विशेषताएँ

फाग गाइ सब गोरडी जब आवइ मधुमास ॥

चैत्र के अतिरिक्त फाल्गुन[2] में भी कृष्णफागु खेलने का उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर कवि कहता है—

फागु ते फागुण मासि, लोक ते रमइ उहलासि,
रामति नवनवी ए, किम जांइ वर्णवी ए।

आगे चलकर एक स्थल पर फाल्गुन के रास में प्रयुक्त उपकरणों, वाद्ययंत्रों का भी उल्लेख पाया जाता है। प्रेमानंद ने एक स्थान पर तांबूल से अनुरंजित मुखवाली श्रेष्ठ सखियों के फागु गायन का वर्णन झाँझ और पखावज के साथ इस प्रकार किया है—

---

१ ए फागु उछरंग रमइ जे मास बसंते,
तिणि मणिनाग पहाण कोत्ति महियल पसरंते।
कीर्त्तिरत्नसूरि फाग, १५वीं शताब्दी, कड़ी २६

२ फागुणि पवन हिलोहलइ, फागु रवइ वर नारी हे,
संदेसडउ न पठवउ, वृन्दावनह मझारि हे।
कान्हडबारमास, कड़ी ६

फागण मासे फूली रह्यां केसुडां रातां चोल,
सखिवर रंगे राती रे, रातां मुख तंबोल।

× × ×

वाजे झांझ पखावज ने साहेली रमे फाग,
ताली देइ तारुणी गाय नवला रे राग।

गोपियों[1] के फागु खेलने का वर्णन कई स्थानों पर जैन फागों में भी विद्यमान है। ये उद्धरण इस तथ्य के प्रमाण हैं कि जैनाचार्यों ने रास एवं फागु की यह परंपरा वैष्णव रासों से उस समय ग्रहण की होगी जब जनता में इनका आदरसंमान रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन फागुओं का माहात्म्य १५ वीं शताब्दी तक इतने उत्कर्ष को प्राप्त हो गया था कि कृष्णरास के समान इसके अभिनेता एवं प्रेक्षक भी पूर्णरीति से अर्हतपद के अधिकारी समझे जाते थे। जयशेखर सूरि प्रथम 'नेमिनाथ फागु' में एक स्थान पर लिखते हैं—

कवितु विनोदिहि सिरि जय सिरिजय सेहर सूरि,
जे खेलइ ते अर्हंपद संपद पामइ पूरि।

फागों के पठन पाठन, चिंतन मनन का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। देवगण[2] भी इस साहित्य के सानुराग अनुशीलन एवं अभिनय के द्वारा नवनिधियों के अधिकारी बनने लगे। फागुगान करनेवाले के घर मंगल चार निश्चय माना गया।

'एह फाग जे गाइसिइं, तेह घरि मंगलच्चार[3]।'

कवि बार बार फाग में प्रयुक्त वेणु, मृदंग आदि वाद्ययंत्रों का वर्णन करता है और सुररमणियों के गान का उल्लेख करते हुए इस वसंतक्रीड़ा का माहात्म्य वर्णन करता है—

---

१ लाज विलोपिय गोपिय, रोपिय दृढ अनुरागु।
रसभरि प्रियतमु रेलइ, वेलइ खेलइ फागु।
—कृष्णवर्षीय जयसिंह सूरि कृत बीजो नेमिनाथ फागु, कड़ी १२

२ देव तणउ ए फाग, पढइ गुणइ अनुराग।
नवनिधि ते लहइ ए, जे पखि संभलइ ए।

३ अज्ञात कविकृत 'वाहणनु फागु', कड़ी १२

वेण यंत्र करइ आलि विधि, करइ गानि ते सवि सुररमणी,
मृदंग सरमंडल वाजंत, भरइ भाव करी रमइ वसंत[1]।

ऐसे मंगलमय गान का जब अभाव पाया जाता हो तब देश में किसी बड़े संकट का अनुमान लगाया जाता है। जब सुललित बालिकाएँ रास न करती हों, पंडित और व्यास रास का पाठ न करते हों, मधुर कंठ से जब कोई रास का गायन न करता हो, जब रास और फाग का अभिनय न होता हो तब समझना चाहिए कि कोई बड़ी अघटित घटना घटी है। नल जैसे पुण्यात्मा राजा ने अपनी पतिव्रता नारी दमयंती को अरण्यप्रदेश में असहाय त्याग दिया। यह एक विलक्षण घटना थी। इसके परिणामस्वरूप देश में ऐसी ही स्थिति आई—

सुललित बालिका न दीइ रास, क्षण नवि बांचइ पंडित व्यास,
रूडइ कंठि कोइन करइ राग, रास भास नवि खेलइ फाग[2]।

फाग खेलने की पद्धतियों का भी कहीं कहीं संकेत मिलता है। कहीं तो अनेक रमणियाँ एक साथ फाग खेलती दिखाई पड़ती हैं और कहीं दो दो की जोड़ी प्रियतम के रस में भरकर खेल रही है। इस प्रकार के खेल से वे निश्चय ही प्रेम के क्षेत्र में विजय-श्री-संपन्न बनती हैं। कवि कहता है—

फागु वसंति जि खेलइ, बेलइ सुगुण निधान,
विजयवंत ते छाजइ, राजइ तिलक समान।[3]

इस उद्धरण 'बेलइ खेलइ' से प्रमाणित होता है कि सखियों का युग्म नाना प्रकार के हावभावों से भरकर बसंत में फागु खेल रहा है। इस खेल में अधिक प्रिय राग श्रीराग[4] माना जाता है। इसी राग में अभिनव फागों का गायन प्रायः सुना जाता है। इसके अतिरिक्त राग सारिंग मल्हार, राग रामेरी, राग आसाउरी, राग गुडी, राग केदार टोड़ी, राग धन्यासी, आदि का भी उल्लेख मिलता है।[5]

१ अज्ञात कविकृत 'चुपइ फागु', कड़ी ३६
२ महीराज कृत 'नलदवदंती रास', कड़ी ३८६
३ अज्ञात कविकृत 'जंबुस्वामी फाग', कड़ी ५६
४ नारायण फागु, कड़ी ४३
५ वासुपूज्य मनोरम फागु

रूपवती रमणियों के द्वारा खेले जानेवाले वसंतोत्सव फागु के कौतुक का वर्णन दूसरा कवि इस प्रकार करता है—

रूपिइं कउतिग करति अ धरति अरंभ तगतागु,
वसंत ऋतुराय खेलइं, गेळिइं गाती फागु।[1]

कवि रूपवती नारियों के रूप एवं वय की ओर भी कहीं कहीं संकेत करता चलता है। रूप में वे नारियाँ अप्सरा के समान और वय में नवयुवती है। क्योंकि उनके पयोधर वय के कारण पीन हो गए हैं। ऐसी रमणियाँ नेमिजिणेश्वर का फाग खेलती हुई शोभायमान हो रही हैं। कवि कहता है—

पीन पयोहर अपच्छर गूजर धरतीय नारि,
फागु खेलइ ते फरि फरि नेमि जिणेसर बारि।[2]

फागु खेलनेवाली रमणियाँ हंसगमनी, मृगनयनी हैं और वे मन को मुग्ध करनेवाला फागु खेल रही हैं। कवि कहता है—

फागु खेलइ मनरंगिहि हंस गमणि मृगनयणि।

इस प्रकार अनेक उद्धरणों के द्वारा फागु का अभिनय करनेवाली रमणियों एवं उनकी क्रीडाओं का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त उद्धरणों से वैष्णव एवं जैन फागों की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। इनके अतिरिक्त शुद्ध लौकिक प्रेम संबंधी फागों की छटा भी निराली है। 'विरह देसाउरी फाग' में नायक नायिका लौकिक पुरुष स्त्री हैं और इसमें विप्रलंभ शृंगार के उपरांत संभोग शृंगार का निरूपण मिलता है।

मुनि श्री पुण्यविजय जी के संग्रहालय में एक 'मूर्ख फाग' मिला है जिसमें एक रूपवती एवं गुणवती नारी का दुर्भाग्य से मूर्ख पति के साथ पाणिग्रहण हो गया। ३३ दोहों में विरचित यह काव्य अभागिनी नारी की व्यथा की कथा बड़े हृदयहारी शब्दों में वर्णन करता है।

कवि कहता है कि यह विवाह क्या है (मानो) चंदन को चूल पर छिड़का गया है, सिंह को सियार के साथ जोड़ दिया गया है, काग को कपूर चुगने को दिया गया है, अंधे के हाथ में आरसी दे दी गई है—

---

१ 'हेमरत्न सूरि फागु, कडी १७

२ पद्मकृत 'नेमिनाथ फागु', कडी ५

चंदन वालू से चूलडि, संव सीयाला ने साथि;
काग कपूर सु जाये रे, अंध अरिसानी भाति।

काव्य के अंत में स्त्री-धर्म-पालन की ओर इंगित करते हुए कवि कहता है कि अरी पाप्ष्ठि, पति की उपेक्षा करना भोंड़ी टेव है। पति कोढ़ी भी हो तो भी देवतुल्य पूज्य है—

पापण पीड वगोइयो, ए तुझ भूडी टेव,
कोढीड कावडी घालीने, सही ते जानवो देव।
करिनि भगति पतिव्रता, साडलानी परि साँधि,
रूप कुरूप करइ नही, जानि तू ईश्वर आराधि।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्रकार के फागु में जीवन के उदात्तीकरण का प्रयास मुख्य लक्ष्य रहा है। प्रेक्षकों को साहित्यिक रस में शराबोर करके उनके चित्त को कर्त्तव्यपालन की ओर उन्मुख करना फागुकर्त्ता कवि अपना धर्म समझता रहा है। काव्य की इन विशेषताओं का प्रभाव परवर्ती लोककवियों पर पड़ा और परिणामतः स्वांग, रास आदि की शैली इस पथ पर शताब्दियों से चलती आ रही हैं।

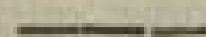
फागु साहित्य में ऐसी भी रचना मिली है जिसमें रूपकत्व का पूर्ण निर्वाह दिखाई पड़ता है। खरतरगच्छ के मुनि लक्ष्मीवल्लभ अपने युग के प्रसिद्ध आचार्य थे। उन्होंने 'रतनहास चौपाई', 'विक्रमादित्य पंचदंड रास', 'रात्रिभोजन चौपाई' 'अमरकुमारचरित्र रास' की रचना की। उन्होंने सं० १७२५ वि० के सन्निकट 'अध्यात्म फाग' की रचना की जिसमें रूपकत्व की छटा इस प्रकार दिखाई देती है—

शरीर रूपी वृंदावन-कुंज में ज्ञानरूपी वसंत प्रकट हुआ। उसमें मति-रूपी गोपी के साथ पाँच गोपों (इंद्रिय) का मिलन हुआ। सुमति रूपी राधा जी के साथ आत्मा रूपी हरि होली खेलने गए।

वसंत की शोभा का वर्णन भी रूपकत्व से परिपूर्ण है। सुखरूपी कल्पवृक्ष की मंजरी लेकर मन रूपी श्याम होली खेल रहे हैं। उनकी शशि-कला से मोहतुषार फट गया है। सत्य रूपी समीर बह रहा है। समत्व सूर्य की शोभा बढ़ गई है और ममत्व की रात्रि घट गई है। शील का पीतांबर शोभायमान हो रहा है और हृदय में संवेग का वनमाल लहलहा रहा है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना की त्रिवेणी बह रही है। उज्वल मुनिमन रूपी

हंस रमण कर रहा है। सुरत की बाँसुरी बज रही है और अनाहत की ध्वनि उठ रही है। प्रेम की झोली में भक्तिगुलाल भरकर होली खेली जा रही है। पुण्य रूपी अबीर सुरभि फैला रही है और पाप पददलित हो रहा है। कुमति रूपी कुबरी कुपित हो रही है और वह क्रोध रूपी पिता के घर चली गई है। सुमति प्रसन्न होकर पतिशरीर से आलिंगन कर रही है। त्रिकुटी की त्रिवेणी के तट पर गुप्त ब्रह्मरंध्र का कुंज है, जहाँ नवदंपति होली खेल रहे हैं। राधा के ऐसे वशीभूत कृष्ण हो गए हैं कि उन्होंने अन्य रसरीति त्याग दी है। वे अनंत भगवान् अहर्निश यही खेल खेल रहे हैं। मंदमति प्राणी इस खेल को नहीं समझते, केवल संत समझ सकते हैं। जो इस अध्यात्म फाग को उत्तम राग से गाएगा उसे जिन राजपद की प्राप्ति होगी।

जैन मुनि द्वारा राधाकृष्ण फाग के इस रूपकत्व से यह प्रमाणित होता है कि वैष्णव रास एवं फाग का प्रभाव इतर संप्रदायवालों पर भी पड़ रहा था। १६वीं शताब्दी के उपरांत हम वैष्णव रास एवं फागु का प्रसार समस्त उत्तर भारत में पाते हैं। कामरूप से सौराष्ट्र तक वैष्णव महात्माओं की रसभरी रास फाग वाणी से सारा भारत रसमग्न हो उठा। वैष्णव रास के प्रसंग में हम इसकी चर्चा कर आए हैं।



संस्कृति और इतिहास का परिचय

भारतीय इतिहास के अनेक साधनों में साहित्य का स्थान अनोखा है किसी किसी युग के इतिवृत्त के लिये साहित्य ही एकमात्र साधन है; किंतु भारत का कोई ऐसा युग नहीं है जिसमें साहित्य उसके इतिहास के लिये महत्व न रखता हो। देश का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास साहित्य के अध्ययन के बिना अधूरा है। साहित्य समाज का यथार्थ चित्र है। हम उसमें समाज के आदर्श, उसकी मान्यताओं और त्रुटियों, यहाँ तक कि उसके भविष्य को भी प्रतिबिंबित देख सकते हैं। किसी समय का जो सम्यक् ज्ञान हमें साहित्य से मिलता है, वह तथाकथित तवारीखों से न कभी मिला है और न मिल सकेगा। साहित्य किसी युगविशेष का सजीव चित्र उपस्थित करता है किंतु तथाकथित इतिहास अधिक से अधिक उस युग की भावना को केवल मृतक रूप में इजिप्शियन मम्मी के सदृश दिखाने में समर्थ होता है।

इस ग्रंथ में जिस युग के रास एवं रासान्वयी काव्यों का संकलन प्रस्तुत किया जा रहा है उस युग में विरचित संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश कृतियों का यदि इनके साथ अनुशीलन किया जाय को तत्कालीन समाज और संस्कृति के किसी अंग से पाठक अनभिज्ञ न रहे। यद्यपि रास एवं रासान्वयी काव्य उस चित्र की रूप रेखा का ही दिग्दर्शन मात्र करा पाएँगे, किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन रेखाओं में उपयुक्त रंग भरकर कोई कुशल कलाकार एक देश के वास्तविक रूप का आकर्षक चित्र निर्मित कर सकता है।

संग्रह के बहुत से रासों का लक्ष्य जैनधर्म का उपदेश है। इन रासों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास और उससे पूर्व भी अनेक कुरीतियाँ जैनधर्म में प्रवेश कर चुकी थीं। जिस प्रकार बौद्धधर्म संपत्ति, वैभव और मठाधिपत्य के कारण पतनोन्मुख हुआ था, उसी प्रकार जैनधर्म भी अधोगति की ओर अग्रसर हो रहा था। चैत्यवासी मठाधिपति बन चुके थे। वे कई राजाओं के गुरु थे; कई के यहाँ उनका अच्छा सम्मान था। जैन मंदिरों के अधिकार में संपत्ति

धार्मिक और नैतिक स्थिति

दौड़ी चली आ रही थी। चैत्यवासी इस देवद्रव्य का अपने लिये प्रयोग करने लगे थे। तांबूलभक्षण, कोमल शय्यासंवाराङ्गण नर्तन के द्वारा श्रावक वर्ग आमोद प्रमोद में तल्लीन रहता। कतिपय मठाधिपति इतने मूर्ख थे कि वे धर्म विषयक प्रश्न करने पर श्रावकों को यह कहकर बहकाने का प्रयत्न करते कि यह तो रहस्य है, इसे समझना तुम्हारे लिये अनावश्यक है। गुरु की आज्ञा का पालन ही तुम्हारा परम कर्तव्य है।

श्री हरिचंद्र सूरि ने इस अधोगामिनी प्रवृत्ति पर चोट की थी। खरतरगच्छ ने इसके समुन्मूलन का प्रयत्न किया। जैन साधुओं को अपने विहार और चतुर्मासादि में कहीं न कहीं ठहरने की आवश्यकता पड़ती। चैत्यवासियों के कथनानुसार चैत्य या चैत्यसंपत्ति ही इसके लिये उपयुक्त थी। साधुओं का गृहस्थों के स्थान में ठहरना ठीक न था। बात कुछ युक्तियुक्त प्रतीत होती थी; और इसी एक सामान्य सी युक्ति के आधार पर चैत्यवासी मठाधिपतियों ने लाखों की संपत्ति बना डाली। वे उसका उपयोग करते, उसके प्रबंध में अपना समय व्यतीत करते। वे प्रायः यह भूल चुके थे कि 'अपरिग्रह' जैनधर्म का मूल सिद्धांत है। कोई भी प्रवृत्ति जो इसके प्रतिकूल हो वह जैनधर्म के विरुद्ध है। श्री महावीर स्वामी इसीलिये अपने धर्म-विहार के समय अनेक बार गृहस्थों की बस्तियों (घरों) में ठहरे थे। इसी तीर्थंकरीय पद्धति को अपनाना खरतरगच्छ को अभीष्ट था। इसी कारण वे वसतिवासी के नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

चैत्यवासियों की तरह वसतिवासी भी मंदिरों में पूजन करते। किंतु उन्होंने मंदिरों से पुरानी कुरीतियों को दूर करने का बीड़ा उठाया था। ईसाई धर्म के प्यूरीटन (Puritan) संप्रदाय से हम इनकी किसी हद तक तुलना कर सकते हैं। वे हर एक ऐसी रीति के विरुद्ध थे जो जैन सिद्धांतानुमोदित न हो और विशेषकर उन रीतियों के जिनसे श्रावकों के नैतिक पतन की आशंका थी। मंदिर प्रार्थना के स्थान थे। उनमें घरबार की बातें करना, होड़ लगाना, या वेश्याओं को नचाना वास्तव में पाप था। "नवयौवना स्त्रियों का नृत्य श्रावकों को प्रिय था, किंतु उससे श्रावको के पुत्रों का नैतिक पतन होता और कालांतर में वे धर्मभ्रष्ट होते[१]।" इसलिये विधिचैत्य में यह वर्जित किया गया। विरुद्ध राग, विरुद्ध वाद्य और रासनृत्य के कुछ प्रकारों

---

१ उपदेशरसायन रास, २३

के विरुद्ध भी इसी कारण आवाज उठानी पड़ी। रात्रि के समय विधिचैत्यों में तालियाँ बजाकर रास न होता और दिन में भी स्त्रियाँ और पुरुष मिलकर डांडिया रास न देते[1]। चर्चरी में तो इसके सर्वथा वर्जन का भी उल्लेख है। धार्मिक नाटकों का अवश्य यहाँ प्रदर्शन हो सकता था; इनके मुख्य पात्र अंततः संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण करते दिखाए जाते।

विधिचैत्यों में रात्रि के समय न नांदी होती, न तूर्यरव। रात्रि के समय रथभ्रमण निषिद्ध था। देवताओं को न झूले में झुलाया जाता, न उनकी जलक्रीड़ा होती[2]। माघमाला भी प्रायः निषिद्ध थी[3]। विधिचैत्यों में श्रावक जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा न करते, रात्रि के समय युवतियों का प्रवेश निषिद्ध था। वहाँ श्रावक न तांबूल लेते और न खाते, न अनुचित भोजन था और न अनुचित शयन। वहाँ न संक्रांति मनाई जाती, न ग्रहण और न माघमंडल। मूल प्रतिमा का श्रावक स्पर्श न करते, जिनमूर्तियों का पुष्पों से पूजन होता, पूजक निर्मल वस्त्र धारण करते। रजस्वला स्त्रियाँ मंदिर में प्रवेश न करतीं। संक्षेप में यही कहना उचित होगा कि श्री जिनवल्लभसूरि जिनदत्त सूरि, अभयदेवसूरि आदि खरतरगच्छ के अनेक आचार्यों ने अपने समय में उत्सूत्रविधियों को बंद करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। यही विधिचैत्य आंदोलन क्रमशः अन्य गच्छों को प्रभावित करता गया और किसी अंश तक यह इसी आंदोलन का प्रताप है कि उत्तर भारत में राजाश्रय प्राप्त होने पर भी जैनधर्म अवनत न हुआ और उसके साधुओं का जीवन अब भी तपोमय है[4]।

जैन तीर्थों और प्रतिष्ठाओं के रासों में अनेकशः वर्णन हैं। तीर्थ दर्शन और पर्यटन की उत्कट भावना उस समय के धार्मिक जीवन का एक विशेष अंग थी। मनुष्य सोचते कि यह देह असार है। इसका साफल्य इसी में है कि तीर्थपर्यटन किया जाय। इसी विचार से थोड़ा सा सामान ले, यात्री सार्थ में संमिलित हो जाते और मार्ग में अनेक कष्ट सहकर तीर्थों के दर्शन करते[5]। तीर्थोद्धार एक महान कार्य था, रासादि द्वारा कवि और

१ वही, ३६
२ चर्चरी, १६
३ उपदेशरसायन, ३६ चर्चरी, १६
४ विशेष विवरण के लिये हमारे 'प्राचीन चौहान राजवंश' में विधिचैत्य आंदोलन का वर्णन पढ़ें।
५ देखिए—'चर्चरिका', पृष्ठ २०३-५

आचार्य तीर्थोद्धारक व्यक्ति की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करते। रेवंतगिरि रास, नेमिनाथ रास, आबू रास, कछूली रास, समरा रास आदि की रचना इसी भावना से अनुप्राणित है। जीवदया रास में ये तीर्थ मुख्य रूप से गणित हैं—(१) अष्टापद में ऋषभ (२) शत्रुंजय पर आदिजिन (३) उज्जयंत पर नेमिकुमार (४) सत्यपुर में महावीर (५) मोदेरा (६) चंद्रावती (७) वाराणसी (८) मथुरा (९) स्तंभनक (१०) शंखेश्वर (११) नागह्रद (१२) फलवर्द्धिका (१३) जालोर में 'कुमार विहार'।

अन्य धर्मों के विषय में इन रासों में अधिक सामग्री नहीं है। सरस्वती का अनेकशः वंदन है, किंतु यह तो जैन अजैन सभी भारतीय संप्रदायों की आराध्य देवी रही हैं। संदेशरासक में एक स्थान पर (पृष्ठ ३६, ८६) कापालिक और कापालिकाओं का सामान्य वर्णन है। उनके बाँए हाथ में कपाल होता है, वे खट्वांग धारण करते, समाधि लगाते और शय्या पर न सोते। उस समय के शिलालेखों से भी हमें राजस्थान में उनकी सत्ता के विषय में कुछ ज्ञात होता है[1]। आसिग के जीवदया रास में चामुंडा का नाम मात्र है (पृ० ९७, ३७)। आबू रास में आबू की प्रसिद्ध देवी श्रीमाता और अचलेश्वर के नाम वर्तमान हैं (पृ० १२२-६)। शकुन और अपशकुन में लोगों को विश्वास था। शालिभद्र सूरि ने अनेक अपशकुन गिनाए हैं। जब भरत का दूत बाहुबलि के पास चला, काली बिल्ली रास्ता काट गई और गधा दाहिनी ओर आया। उल्लू दाहिनी ओर धूत्कार करने लगा। गीदड़ बोले। काले साँप के दर्शन हुए। बुझे अंगारे सामने आए (भरतेश्वर बाहुबलिरास, पृष्ठ ६६)। इसी तरह शुभ शकुन भी अनेक थे (देखें पृष्ठ १६८, ४६, ४७)।

इस्लाम का प्रवेश रासकाल के मध्य में रखा जा सकता है। संदेश-रासक एक मुसलमान कवि की रचना है। रणमल्लछंद के समय मुसलमान उत्तर भारत को जीत चुके थे। समरा रासो उस समय की कृति है जब खिलजी साम्राज्य रामेश्वर तक पहुँच चुका था। तत्कालीन मुसलमानी इतिहासों से केवल धार्मिक विद्वेष की गंध आती है। किंतु राससंसार से प्रतीत होता है कि अत्याचार के साथ साथ सहिष्णुता भी उस समय वर्तमान थी। यह विषय अधिक विस्तार से गवेषणीय है।

---

१ 'प्राचीन चौहान राजवंश' में 'राजस्थान के धर्म और संप्रदाय' नाम का अध्याय देखें।

रासकाल की धर्मविषयक कुछ बातें अत्यंत अच्छी थीं। भारत की अमुस्लिम जनता, चाहे वह जैन हो या अजैन, अपने को हिंदू मानती। जब शत्रुंजयतीर्थ के मंदिरों को खिल्जियों ने तोड़ डाला तो अलप खाँ से निवेदन किया गया कि हिंदू[1] लोग निराश होकर भागे जा रहे हैं (पृ० २३३-३), और फरमान लेकर जैन संघ शत्रुंजय ही नहीं, सोमनाथ भी पहुँचा। संघ ने शिवमंदिर पर महाध्वज चढ़ाया और अपूर्व उत्सव किया। रास्ते में इसी प्रकार जैनसंघ ने ही नहीं, महेश्वरभक्त महीपाल और मांडलिक जैसे क्षत्रिय राजाओं ने भी उसका स्वागत किया। यह सद्भाव की प्रवृत्ति उस समय की महान् देन है[2]।

ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् सर्वतंत्रस्वतंत्र कहे जा सकते हैं। उनका अध्ययन गंभीर और व्यापक होता था। जिनवल्लभ 'षड्-दर्शनों को अपने नाम के समान जानते' (पृ० १७-२)। चित्तौड़ में उनके विद्यार्थीवर्ग में जैन और अजैन समान रूप से संमिलित थे और वैदिक धर्मा-नुयायी राजा नरवर्मा के दरबार में उन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की थी[3]। जैन और अजैन विद्वान् आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक जिन विषयों और पुस्तकों का अध्ययन करते थे उनका श्रीमद्विजयराजेन्द्र सूरि ग्रंथ के पृष्ठ ६४१-८६६ में प्रकाशित हमारे लेख से सामान्यतः ज्ञान हो सकता है। राससंग्रह में इसकी सामग्री कम है।

काल और क्षेत्र के अनुसार हमारे आदर्श बदला करते हैं। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हम किन बातों को ठीक या बेठीक समझते थे इसके विषय में हम शालिभद्र सूरि रचित 'बुद्धिरास' (पृष्ठ ८५-९०) से कुछ जानकारी कर सकते हैं। उसके कई बोल 'लोकप्रसिद्ध' थे और कई गुरु उपदेश से लिए गए थे। चोरी और हिंसा अधर्म थे। अनजाने घर में वास, दूसरे के घर में गोठ, अकेली स्त्री के घर जाना, ऐसे वचन कहना जो निभ

---

१ नाभिनन्दनोद्धार ग्रंथ में भी इस प्रसंग में 'हिंदुक' शब्द का प्रयोग है।

२ राजस्थान में इस प्रवृत्ति के ऐतिहासिक प्रमाणों के लिये 'प्राचीन चौहान राजवंश' नामक ग्रंथ पढ़ें।

३ इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, सन् १९५०, पृ० २२३ पर खरतरगच्छपट्टावली पर हमारा लेख पढ़ें।

न सकें, बड़ों को उत्तर देना—ये बातें ठीक न थीं। चुगली और दूसरों का रहस्योद्‌घाटन बुरी बातें थीं। किसी से सूद पर ऋण लेकर दूसरे को ब्याज पर देना अनर्थंकर समझा जाता। झूठी साक्षी देना पाप, और कन्या को धन के लिये बेचना बुरा था। मनुष्य का कर्तव्य था कि वह अतिथि का सत्कार करे और यथाशक्ति दान दे। धर्मवृद्धि के लिये ये बातें आवश्यक थीं—

(१) मनुष्य ऐसे नगर में रहे जहाँ देवालय और पाठशाला हों।
(२) दिन में तीन बार पूजन और दो बार प्रतिक्रमण करें।
(३) ऐसे वचन न बोले जिनसे कर्मबंधन न हो।
(४) नापने में कुछ अधिक दे, कम नहीं।
(५) राजा के आगे और जिनवर के पीछे न बसे।
(६) स्वयं हाथ से आग न दे।
(७) घरबार में नृत्य न कराए।
(८) न्याययुक्त व्यवहार करे।

ऐसे अन्य कई और उपदेश बुद्धिरास में हैं। जीवदयारास में विशेष रूप से दया पर जोर दिया गया है। दया परमधर्म है और धर्म से ही संसार की सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। मनुष्य इन तीर्थों का पर्यटन कर इस धर्म का अर्जन करे।

सामाजिक स्थिति

(१) वर्णव्यवस्था इस युग में पूर्णतया वर्तमान थी। परंतु रास काव्य में इसका विशेष वर्णन नहीं है। भरतेश्वर बाहुबलि रास में चक्री शब्द को चक्रवर्ती और कुम्हार के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। हरिश्चंद्र के डोम के घर में कार्य का भी एक जगह वर्णन है (६६, ३४) गंधर्व, भोज, चारण और भाट अकबर के समय धनी वर्ग को स्तुति आदि से रंजित कर अपना जीविकार्जन करते। चौदहवीं शताब्दी के रणमल्ल छंद में हमें राजपूती छटा के दर्शन होते हैं।[1]

जीवन में सुख और दुःख का सदा संमिश्रण रहा है। राससंसार में हमें सुखांश का कुछ अधिक दर्शन होता है और दुःख का कम। 'फागु'

---

१ सन् ८०० से १३०० तक के लोकजीवन के लिये 'प्राचीन चौहान राजवंश' का 'समाज' शीर्षक अध्याय पढ़ें।

वसंतोत्सव का सुंदर चित्र प्रस्तुत करते हैं। वसंत से प्रभावित होकर स्त्रियाँ नये शृंगार करती[1]। वे शिर पर मुकुट, कानों में कुंडल, कंठ में नौसर हार, बाहों पर चूड़ा और पैरों में झनकार करनेवाले नूपुर धारण करतीं। (१३१. ५) उनके कंठ मोतियों की माला से शोभित होते, मांग सिंदूर और मोतियों से भरी जाती, छाती पर सुंदर कंचुक और कटि पर किंकिणी-युक्त मेखला होती (पृष्ठ १९८-२००)। उनके पुष्पयुक्त धम्मिल्ल और कवरी विन्यास की शोभा भी देखते ही बनती थी। मार्ग उनके नृत्य से शब्दायमान होता। कदलीस्तंभों से तोरणयुक्त मंडपों की रचना होती। बावड़ियों में कस्तूरी और कपूर से सुवासित जल भरा जाता। केसर का जल चारो ओर छिड़का जाता और चंपकवृक्ष में झूले डाले जाते (१९५. ८-१०)। शरद् ऋतु में स्त्रियाँ मस्तक पर तिलक लगातीं और शरीर को चंदन और कुंकुम से चर्चित कर भ्रमण करतीं। उनके हाथ में क्रीड़ापत्र होते और वे दिव्य एवं मनोहर गीत गातीं। अश्वशालाओं और गोशालाओं में वे भक्तिपूर्वक गौओं और घोड़ों का पूजन करतीं। स्त्री पुरुष तालाबों के किनारे भ्रमण करते, घरों में आनंद होता। पटह बजते, गीत गाए जाते, लड़के गोल बाँधकर बाजारों में घूमते। इसी महीने में दीवाली मनाई जाती। उन्हीं दीपों से कज्जल भी तैयार होता। वे शरीर पर केसर लगातीं, सिर को पुष्पों से सजातीं, मुख पर कर्पूररज होता। सरदी में चंदन का स्थान कस्तूरी को मिलता। अगर की धूप दी जाती। शिशिर में स्त्रियाँ कुंदचतुर्थी का त्योहार मनातीं। माघ शुक्ल पंचमी के दिन वे अनेक दान देतीं। विवाहोत्सव में तोरण, बंदनवार और मंगलकलश की शोभा होती, वर को कुंडल, मुकुट, हारादि से भूषित किया जाता। सिर पर छत्र होता, मृगनयनी स्त्रियाँ छत्र डुलातीं, वर की बहनें लवण उतारतीं और भाट जयजयकार करते। वधू का शृंगार तो इससे भी अधिक होता। शरीर चंदन लेप से और अधिक धवल हो जाता, चमेली के पुष्पों से खुंप भरा जाता। नवरंग कुंकुम तिलक और रत्नतिलक होता। आँखों में काजल की रेखा, मुँह में पान, गले में रत्नयुक्त हार और खिले फूलों की माला, मरकतयुक्त कांचुक, हाथों में खनकनेवाला मणिवलय आलक्तक होता (१८०–१८१) दावत के लिये भी पूरी तैयारी की जाती।

---

१ विरह के समय धम्मिलादि केश विन्यास वर्जित थे (देखें, संदेश रासक २५)

रास नृत्य प्रायः सब उत्सवों में होता। रास की जनप्रियता इसी से सिद्ध है कि उत्सूत्र विधियों के परम विरोधी आचार्यों तक ने इसे उपदेश का साधन बनाया। श्रीजिनदत्त सूरि ने रास लिखा और चर्चरी भी। इसकी तुलना उन उपदेशों से की जा सकती है जिन्हें कई वर्तमान सुधारक होली और वसंत के रागों द्वारा जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। श्री जिनदत्त सूरि ने केवल आमोद प्रमोद के लिये रचित नाटकों का अभिनय विधिचैत्यों में बंद किया। चैत्यों में ताल और लकुट रास का भी निषेध किया गया। किंतु इनका यह निषेध ही इस बात का प्रमाण है कि मंदिरों में रास और नाटक हुआ करते थे। खरतरगच्छ के विधिचैत्यों में ये प्रथाएँ शायद किसी हद तक बंद हो गईं। किंतु आचार्यों का किसी नगर में जब प्रवेशोत्सव होता तो स्त्रियाँ गातीं और ताल एवं लकुट रास होते[1]। नगर की स्त्रियाँ भरत के भाव और छंदों के अनुसार नर्तन करतीं, गाँव की स्त्रियाँ ताल के सहारे (२८-१५)। नागरिक तंत्रीवाद्य का आनंद लेते। सामान्य स्त्रीनृत्यों में मर्दल् और करटी वाद्य बजते। सामोर नगर में चतुर्वेदी जहाँ वेदार्थ का प्रकाश करते, वहीं बहुरूपियों द्वारा निबद्ध रास भी सुनाई पड़ते (३१-४१)। अनेक नाटक भी होते। जिनके पति घर पर होते, वे स्त्रियाँ शरद ऋतु में विविध भूषा से सुसज्जित होकर रास रमण करतीं (४७-१६६-१६६)। वसंत में वे ताल देकर चर्चरी का नर्तन करतीं (६४-११६)। जीवदया रास में नट-प्रेक्षणक का नाम आया है (६४-११)। प्रेक्षणक भी एक उपरूपकविशेष था जिसके विषय में हम अन्यत्र लिख रहे हैं[2]। रेवंतगिरि रास में विजयसेन सूरि का कथन है कि जो कोई उसे रंगमंच पर खेलते हैं उनसे नेमिजिन प्रसन्न होते हैं और अंबिका उनके मन की सब इच्छाओं को पूर्ण करती हैं (११४-२०)। गजसुकुमार रास के रचयिता की यह भावना थी कि जो उस रास को देखता या पढ़ता है उसे शिवसुख की प्राप्ति होती है (१२०-२४)। कछूलीरास वि० सं० १३६३ में निर्मित हुआ। उसके अंतिम पद्य से स्पष्ट है कि ये धार्मिक रास जैनमंदिरों में गाए जाते और अभिनीत होते थे (पृ० १३७)। स्थूलिभद्र फाग में खेल और नाचकर फाग के रमण का उल्लेख और अधिक स्पष्ट है (पृ० १४३)। वसंतविलास में रास का

---

१ इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली में हमारा उपरिनिर्दिष्ट लेख देखें।

२ मरुभारती, वर्ष ५, अंक २

तीन बार उल्लेख है (१९६.१५; १९९.५४; २००.७०)। दीव में समरा द्वारा नवरंग 'जलवट नाटक' और 'रास लउडरास' देखने का उल्लेख है (पृ० २४०. ४)। समरारास भी तत्कालीन अन्य रासकाव्यों की तरह पाठ्य, मननीय और नर्त्य था[१] ।

रास की रचना इसके बाद भी होती रही। अभिनय परंपरा भी चलती रही (३०५. ७४)। किंतु जैन समाज में उसकी उपदेशमयी वृत्ति के कारण रास ने क्रमशः श्रव्य प्रबंधों का रूप धारण किया। इस संग्रह का पचपांडव रास इसी श्रेणी का है। उसका रचयिता इसके नर्तन का उपदेश नहीं करता है। वह केवल लिखता है—

पंडव तणउ चरी तु जो पठए जो गुणइ संभलए।
पाप तणउ विणासु तसु रहइ ए हेला होइसि ए॥

इसका दूसरा रूप उन वीररसप्रधान काव्यों का है जिसका कुछ संग्रह इस ग्रंथ में है। किंतु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस अभिनेयता को जनता ने नहीं भुलाया। गुजरात ने उसे नरसी जैसे भक्तों के पदों में रखा। जनता उन्हें गाती और नर्तन करती। और सब अभिनय भूलने पर भी कृष्ण और गोपी भाव को नर्तक और गायक नहीं भुला सके।

व्रज में भी कृष्णचरित अभिनयन, गान और नर्तन का मुख्य विषय बना। यह प्रवृत्ति गुजरात की देन हो सकती है। किंतु यह भी बहुत संभव है कि व्रज का रास गीतगोविंद से प्रभावित हुआ हो। गीतगोविंद का प्रभाव अत्यंत व्यापक था। इसपर तीस टीकाएँ मिल चुकी हैं। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम, सभी दिशाओं में उसका प्रभाव था। व्रज में रास अब तक अपने प्राचीन रूप में वर्तमान है। सभी प्रवृत्तियों को देखते हुए कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि रास अब अपने मूलभूत त्रितत्वों में विलीन हो गया है—गुजरात में वह गरबा नृत्य में, व्रज में रासलीला के रूप में और राजस्थान एवं हरियाना में वह स्वाँग आदि के रूप में ही रह गया है।

गृहस्थ जीवन प्रायः सुखी था किंतु सपत्नीद्वेष से शून्य नहीं। प्रवास सामान्य सी बात नहीं थी। पति को वापस आने में कभी कभी बहुत समय

---

१ एहु रासु जो पढ़इ, गुणइ, नाचिउ, जिणहरि देइ।
अवणि सुणइ सो बयठऊ ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई॥ (पृ० २४२. १०)

लग जाता। इस तरह "पति पत्नी का हमारे साहित्य में अनेक स्थलों पर वर्णन है।

रास साहित्य से तत्कालीन आर्थिक अवस्था पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। देश दरिद्र नहीं प्रतीत होता; कम से कम धार्मिक भावना से प्रेरित होकर अर्थव्यय करने की उसमें पर्याप्त शक्ति थी।

आर्थिक स्थिति

रेल और मोटर के न होने पर भी लोगों ने दूर दूर जाकर धनार्जन किया था। समरा रास के नायक समरा के पूर्वज पाल्हणपुर के निवासी थे। समरा ने गुजरात में अलप खाँ की नौकरी की। इसके बाद दक्षिण में वह गयासुद्दीन और उसके पुत्र का विश्वासपात्र रहा[1]। समरा का बड़ा भाई सहजपाल देवगिरि में वाणिज्य करता था। उसने वहाँ श्रीपार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की थी। दूसरा भाई साहणपाल खंबायत नगर में सामुद्रिक व्यापार करता। इससे स्पष्ट है कि 'तातस्य कूपोऽयम्' कहकर खारजल पीने की वृत्ति इस वर्ग में न थी। उपदेशरसायन की बहुत सी उपमाएँ सामुद्रिक जीवन से ली गई हैं (पृष्ठ २-३) और तत्कालीन ग्रंथों में समुद्रयात्रा का बहुत अच्छा वर्णन है[2]।

देश में अनेक नगर थे। अणहिलपाटन, सामोर, जालौर, पाल्हणपुर और कछूली आदि का इन रासों में अच्छा वर्णन है। प्रायः सब बड़े नगरों के चारों ओर प्राकार और वप्र होते, खाई भी रहती। कई दुर्गों मे एक के बाद दूसरी दीवारें होतीं, ऐसे दुर्ग शायद त्रिगढ़ कहलाते (पृ० ६७.६६)। गली, बाजार, मंदिर, कूप, धवलगृह, बाग और कटरे तो सब में होते ही थे[3]। नगरों के साथ ही गाँव भी रहते। ये स्वभावतः कृषिप्रधान रहे होंगे। किंतु हमें इनका कुछ विशेष वर्णन नहीं मिलता।

यात्राओं के वर्णन से हम वाणिज्य के स्थलमार्गों का अनुमान लगा सकते हैं। अणहिलपाटण से शत्रुंजय जाते समय संघ सेरीसा, क्षेत्रपाल, धोल्का, पिपलाली और पालिताना पहुँचा। उसके आगे का रास्ता अमरेली, जूना, तेजलपुर और उज्जयंत होता हुआ सोमेश्वर देवपत्तन जाता। वहाँ से

---

१ देखें, न्यू लाइट आन अलाउद्दीन खिलजीज ऐचीवमेंट्स, प्रोसीडिंग्ज ऑफ दी इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, १९५४, पृ० २४०

२ देखें 'प्राचीन चौहान राजवंश' में आर्थिक जीवन संबंधी अध्याय।

३ देखें 'राजस्थान के नगर और ग्राम' राजस्थान भारती, भाग ३, अंक १

लोग द्वीव और अजाहरि जाते। मुगलकाल में गुजरात से लाहौर का मार्ग मेहसाणा, सिंदूपुर, शिवपुरी, पाल्हणपुर, सिरोही, जालोर, विक्रमपुर, रोहिठ, लांबिया, सोजत, बिलाड़ा, जैतारण, मेड़ता, फलोधी, नागोर, पडिहारा, राजलदेसर, रीणी, महिम, पाटणसर, कसूर और हापाणा होता हुआ गुजरता।

देश भोजनसामग्री से परिपूर्ण था। आनंद के साधनों की भी उसमें कमी न थी।

संग्रह के अनेक रासों से उस समय के राजनीतिक जीवन और राज्य-संगठन का भी हमें परिचय मिलता है। कैमासवध में चौहान राज्य की अवनति का एक कारण हमारे सामने आता है।

राजनीतिक स्थिति

पृथ्वीराज के दो व्यसन थे, एक आखेट और दूसरा शृंगारिक जीवन। दोनों से राज्य को हानि पहुँची। कैमास या कदंबवास जाति का दाहिमा राजपूत पृथ्वीराज का अत्यंत विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद राज्य को बहुत कुछ उसी ने सँभाला था। पृथ्वीराज अपनी आखेटप्रियता के कारण राज्य की देखभाल न कर सका, तो कैमास ही सर्वेसर्वा बना। राजभक्त होने पर भी वह संभवतः अन्य वासनाओं से शून्य न था उसके वध की कथा (जिसका सामान्यतः प्रसंग के परिचय में निर्देश है) मूल अपभ्रंश 'प्रिथीराज रासउ' का अंग रही होगी। अनेक वर्ष पूर्व 'राजस्थान भारती' में हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में उद्धृत पद्य साकांक्ष हैं। उन्हें फुटकर छंद मानना ठीक नहीं है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त भी अब इसी निर्णय पर पहुँचे हैं।

जयचंद्र विषयक पद्य कवि जल्ह की कृति है। किंतु उनकी रचना भी प्रायः उसी समय हुई होगी। पृथ्वीराजरासो से उद्धृत यज्ञविध्वंस का विचार हम इन छप्पयों के साथ कर सकते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि जयचंद्र अपने समय का अत्यंत प्रतापी राजा था। उसकी सेना की अपरिमेयता के कारण उसे 'लगदल पंगुल' कहते थे और इसी अपरिमेयता का वर्णन जल्ह कवि ने जोरदार शब्दों में किया है। पृथ्वीराज और जयचंद्र साम्राज्यपद के लिये प्रतिद्वंद्वी थे। दोनों ने अनेक विजय भी प्राप्त की थीं। रासो के कथनानुसार जयचंद्र ने राजसूययज्ञ द्वारा अपने को भारत क

सम्राट् घोषित करने का प्रयत्न किया। 'पृथ्वीराजविजय' से हमें ज्ञात है कि वह अपने को भारतेश्वर मानता था। इसलिये इसमें आश्चर्य ही क्या कि उसने जयचंद्र के राजसूययज्ञ का विरोध किया। उद्धृत अंश में चौहानों के इस विरोध का अच्छा वर्णन है। कन्नौज और दिल्ली का यह विरोध भारत के लिये कितना घातक सिद्ध हुआ यह प्रायः सभी जानते हैं। पृथ्वीराज के अन्य दो विरोधी भी थे, महोबे के परमर्दी या परमाल और गुजरात के राजा भीम। इन दोनों से संघर्ष की कल्पनारंजित कथा अब भी 'पृथ्वीराज-रासो' में प्राप्त है।

संयोगिता स्वयंवर और संयोगिता को कुछ विद्वानों ने कल्पित माना है। किंतु जिन प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है वे स्वयं आधारशून्य हैं, यह हम अन्यत्र (राजस्थान भारती) प्रतिपादित कर चुके हैं। रासो की ऐतिहासिकता का संयोगिता की सत्ता से बहुत अधिक संबंध है। इसलिये हम उस लेख को यहाँ अविकल रूप से उद्धृत करते हैं (देखें राजस्थान भारती के पहले वर्ष का दूसरा अंक, पृ० २४-२५)।

इस संग्रह के अनेक रास इसी संघर्षयुग के हैं। उनमें ओज है और स्फूर्ति भी। संदेशरासक भी प्रायः इसी समय की कृति है। इसका कर्ता अब्दुररहमान नवागंतुक मुसलमान नहीं है। वह उतना ही भारतीय है जितने उस देश के अन्य निवासी। रास के आरंभ में उसने अपना नाम न दिया होता तो हमें यह ज्ञात ही न होता कि वह हिंदू नहीं है। इन बातों को और इसके अपभ्रंश के रूप को ध्यान में रखते हुए शायद यही मानना संगत होगा कि वह पश्चिमी भारत के किसी पुराने मुसलमान नागरिक की कृति है। जीवदयारास, बुद्धिरासादि उस समाज की कृति हैं जिसमें कवित्व की स्फूर्ति आपेक्षिक दृष्टि से कम थी।

संवत् १२४९ में पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद भारत का स्वातंत्र्यसूर्य अस्त होने लगा। इस संधिकाल का कोई ऐतिहासिक रास इस संग्रह में नहीं है। जनता को अपने पराजय के गीत गाने में आनंद भी क्या आता? अलाउद्दीन खिल्जी के समय जब प्रायः समस्त उत्तरी भारत मुसल-मानों के हाथों में चला गया और मुसलमानी सेनाएँ दक्षिण में रामेश्वर और कन्याकुमारी तक पहुँच गईं तब समरारास की रचना हुई। हिंदू पराजित होकर अपने मुसलमान शासकों से मानो हीनसंधि करने के लिये

उद्यत थे। धर्म और संस्कृति की रक्षा का साधन अब शास्त्र नहीं था। कवि को इसीलिये लिखना पड़ा—

> भरह सगर हुइ भूप चक्रवति त हूअ अतुलबल।
> पंडव पुहवि प्रचंड तीरथु उधरइ अति सबल ॥ ४ ॥
> जावड तणउ संजोग हूअउं सु दूसम तव उदए।
> समइ भलेरइ सोइ मंत्रि बाहडदेव उपनए ॥ ५ ॥
> हिव पुण नवीयउ बात जिणि दीहाडइ दोहलिए।
> खत्तिय खग्गुन लिति साहसियइ साहसु गलए ॥ ६ ॥
> तिणि दिणि दिनु दिरका उ समरसीह जिणधम्मवणि।
> तसु गुण करउं उद्योउ जिम अंधारइ फटिकमणि ॥ ७ ॥

सीधे शब्दों में इसका यही मतलब है कि दंड शक्तिहीन हिंदुओं को सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अपनी रक्षा का और ही उपाय सोचना था। अलाउद्दीन चतुर राजनीतिज्ञ था। उसने गुजरात में हिंदू मंदिरों को नष्ट कर इस्लाम की विजय का डंका बजाया किंतु साथ ही उसने ऐसे प्रांतीय शासक की नियुक्ति की जो हिंदुओं को प्रसन्न रख सके। इसलिये कवि ने अलपखान के लिये लिखा है—

> पातसाहि सुरताण भीवु तहिं राज्रु करेई।
> अलपखानु हींदूअइ लोय घणु मानु जु देई ॥ पृ० २३२.९
> साहु रायदेसलह पूतु तसु सेवइ पाय।
> कलाकरी रंजविउ खान बहु देइ पसाय ॥ पृ० २३१.१०

इसी अलपखाँ से फरमान प्राप्त कर समर ने शत्रुंजयादि के तीर्थों का उद्धार किया। अलाउद्दीन ने दिल्ली तक में हिंदुओं को अच्छे स्थान दिए थे। उसकी टंकशाला का निरीक्षक जैनमतावलंबी ठक्कुर फेरु था जिसके अनेक ग्रंथों पर इतिहासकारों का ध्यान अब तक पूरी तरह नहीं पहुँचा है। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद प्रथम दो तुलक सुलतानों ने भी इस नीति का अनुसरण किया।

तुगलक राज्य के अंतिम दिनों में अवस्था बदलने लगी। इधर उधर की अराजकता से लाभ उठाकर हिंदू राजा फिर स्वतंत्रता का स्वप्न देखने लगे। ईडर कोई बहुत बड़ा राज्य न था। किंतु उसके शूरवीर राजा रणमल्ल

ने मुसलमानों के दाँत खट्टे कर दिए। रणमल्ल छंद के रचयिता श्रीधर को अपने काव्यनायक के शौर्य पर गर्व था। वह न होता तो मुसलमान गुजराती राजाओं को बाजार में बेच डालते—

"यदि न भवति रणमल्लः प्रतिमल्लः पातशाहकटकानाम्।
विक्रीयन्ते धगडैर्बाजारे गुर्जराभूपाः" ॥ ७ ॥

किंतु रणमल्ल भी न रहा। कान्हडदे और हम्मीर जैसे वीर जिनके यशोगान में कान्हडदे प्रबंध और हम्मीर महाकाव्य आदि ग्रंथ लिखे गए, इससे पूर्व ही अस्त हो चुके थे।

हिंदुओं ने अपना स्वातंत्र्ययुद्ध चालू रखा। किंतु इस बीच के संघर्ष का ज्ञान हमें संस्कृत शिलालेखों द्वारा अधिक होता है और रासो से कम। मेवाड़वाले अच्छे लड़े, किंतु उनके शौर्य का वर्णन करने के लिये श्रीधर जैसा भाषाकवि उत्पन्न न हुआ।

सन् १५२६ में बाबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की। उसके पुत्र हुमायूँ के सन् १५३० में सिंहासनारूढ़ होने पर, मुगल केंद्रीय सत्ता कुछ दुर्बल पड़ गई। उसके भाइयों ने इतस्ततः अपनी शक्ति बढ़ाने और स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया। कामरान पंजाब और काबुल का स्वामी बन बैठा। उसने राजस्थान पर आक्रमण कर बीकानेर आदि राजस्थान के भूभागों का स्वामी बनने का प्रयत्न किया किया। बीकानेर के सं० १५६१ (सन् १५३४ ई०) के शिलालेख से सिद्ध है कि उसने बीकानेर तक पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध श्री चिंतामणि जी के मंदिर की मूर्ति को भग्न किया था। किंतु दुर्ग बीकानेर राज्य के संस्थापक बीका जी के पौत्र जैतसी के हाथ में ही रहा। रात के समय जब मुगल सेना अपनी विजय से मस्त होकर आराम कर रही थी, राव जैतसी और उसके सरदारों ने मुगल शिविर पर आक्रमण किया। मुगल परास्त हुए। उनकी बहुत सी युद्धसामग्री और छत्रादि चिह्न राजपूतों के हाथ आए। इस विजय से बीकानेर ही नहीं, समस्त राजस्थान भी कुछ समय के लिये मुगलों के अधिकार से बच गया।

इस शानदार विजय का बीकानेर के कवियों ने अनेक काव्यों और कविताओं में गान किया। सूजा नगर जोत का "छंद राउ जइतसी रउ" डॉ० टैसीटरी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुका है। उसी समय

का एक और काव्य श्री अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर, में है। इस संग्रह में प्रकाशित रास को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री अगरचंद्र नाहटा को है। रास सूजा नगरजोत की रचना से शायद यह रासो कुछ परवर्ती हो।[1]

रासो के जैतसी के अश्वारोहियों की संख्या तीन हजार बतलाई है, जो ठीक प्रतीत होती है (पृ० २६२)। युद्धस्थल 'राखीवाव' के पास था (२६४)। मुगल कामिन्नी ने मान किया था, मरुधर नरेश (जैतसी) उसे प्रसन्न करने के लिये पहुँचा (२६६)। मल्ल जैतसी ने मुगल सैन्य को भग्न कर दिया (२६८)।

हुमायूँ को पराजित कर शेरशाह दिल्ली की गद्दी पर बैठा। शेरशाह के राठोड़ों से संबंध की कुछ गद्य रचनाएँ प्राप्त हैं। सूरवंश की समाप्ति सन् १५५५ ई० में हुई। सन् १५५६ में अकबर सिंहासन पर बैठा। उसकी राजनीतिज्ञता ने राजपूतों और अन्य सब हिंदुओं को भी उसके हितैषियों में परिवर्तित कर दिया। जैनों से उसके संबंध बहुत अच्छे थे। तपागच्छ के श्री हीरविजय सूरि ने और खरतरगच्छ के श्री जिनचंद्र सूरि ने अकबर के दरबार में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

संवत् १६४८ (वसुयुगरसशशि) में इस रास की रचना हुई। अनेक कारणों से बीकानेर के मंत्री कर्मचंद बछावत को बीकानेर छोड़ना पड़ा। उसने लाहौर जाकर अकबर की सेवा की। जैन धर्म के विषय में प्रश्न करने पर कर्मचंद ने सामान्य रूप से उसके सिद्धांत बताए और विशेष जिज्ञासा के लिये अपने गुरु खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनचंद्र सूरि का नाम लिया। अकबर ने सूरि जी को बुला भेजा। चौमासा निकट आने पर श्री जिनचंद्र खंगपुर से रवाना हुए और अहमदाबाद पहुँचे। यहाँ फिर दूसरा फरमान मिला, और गुरु सिद्धपुर, पाल्हणपुर, शिवपुरी आदि होते जालोर पहुँचे। यहाँ चौमासा पूरा किया। फिर रोहीठ, पाली, लंबिया, बिलाड़ा, जैतारण, के मार्ग से ये मेड़ते पहुँचे। यहाँ फिर बादशाही फरमान मिला। फलोदी, नागोर, पड़िहारा, राजलदेसर, रीणी, महिम, पाटनसर, कसूर और हापाणा आदि नगर और ग्राम पारकर श्री जिनचंद्र सूरि अकबर के पास पहुँचे। उन्होंने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया। उसने गुरु जी को १०१ मुहर नजर की किंतु गुरु जी ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया। अक-

---

१ इस विषय में हम अन्यत्र लिख रहे हैं।

कर काश्मीर गया और साथ में मुनि मानसिंह को भी ले गया। लाहौर वापस आकर उसने सूरि जी को युगप्रधान की पदवी दी। यहीं अकबर के कहने पर उन्होंने मानसिंह को आचार्य पदवी देकर संवत् १६४८, फाल्गुन शुक्ला द्वितीया के दिन जिनसिंह नाम दिया। उत्सव हुआ। स्त्रियों ने उल्लास में भरकर गाते हुए रास दिया (पृ० २८५)।

इससे भी अधिक लाभ हिंदूधर्म को अकबर की अमारी घोषणा से हुआ। उसने स्तंभतीर्थ के जलजंतुओं की एक साल तक हिंसा बंद कर दी। इसी प्रकार आषाढ़ादि में समयविशेष के लिये अमारी की घोषणा हुई।

तपागच्छीय श्री हरिविजय सूरि इस समय के दूसरे प्रभावक जैन आचार्य थे। शिलालेखों, काव्यों और रासों में प्राप्त उनके चरित का श्री जिनचंद्र सूरि के चरित के साथ उपयोग किया जाय, तो हमें अकबरी नीति पर जैन प्रभाव का अच्छा चित्र मिल सकता है। नागोर के श्री पद्मसुंदर के अकबरशाहि-शृंगार दर्पण में इस विषय की कुछ सामग्री है। गोहत्यादि बंद करवाने में मुख्यतः जैन संप्रदाय का हाथ था। सूर्यपूजा भी अकबर ने संभवतः कुछ जैन गुरुओं से ग्रहण की थी। इस संग्रह के रासों से इनमें से कुछ तथ्यों की सामान्यतः सूचना मिल सकती है[१]।

युगप्रधान निर्वाण रास में मुगल नीति में परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। कुछ साधुओं के अनाचार से क्रुद्ध होकर जहाँगीर ने सभी साधुओं पर अत्याचार करना शुरू कर दिया था। श्री जिनचंद्र सूरि ने निर्भय होकर हिंदुओं की विज्ञप्ति जहाँगीर के सामने रखी और साधुओं को शाही कारागार से मुक्त करवाया। इस अत्याचार का विशेष विवरण भानुचंद्रगणि चरित और तुजुके जहाँगीरी से पाठक प्राप्त कर सकते हैं। श्री जिनचंद्र उस समय विशेष स्वस्थ न रहे होंगे। उन्होंने बिलाड़े में चौमासा किया। वहीं संवत् १६७० के आश्विन मास में आपने इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

---

१ द्रष्टव्य सामग्री—

(१) श्री अगरचंद्र नाहटा एवं भँवरलाल नाहटा, युगप्रधान श्री जिनचंद्रसूरि
(२) वी० ए० स्मिथ–अकबर दी ग्रेट मुगल; (३) भानुचंद्रचरितादि में श्री हीरविजय सूरि पर पर्याप्त सामग्री प्रकाशित है।

विजयतिलक सूरि रास अपना निजी महत्व रखता है। श्री हीरविजय सूरि के बाद तपागच्छ में कुछ फूट के लक्षण प्रकट हुए। परंपरा में श्री हीरविजय के बाद श्री विजयसेन, विजयदेव और विजयसिंह अभिषिक्त हुए। ये सभी आचार्य अत्यंत प्रभावक थे किंतु श्री हीरविजय के गुरु श्री विजयदान के समय और फिर श्री विजयसूरि के समय उनके सहाध्यायी धर्मसागर उपाध्याय ने कुछ ऐसे मतों की स्थापना की थी जिनसे अन्य तपागच्छीय विद्वान् सहमत नहीं थे। श्री विजयदेव सूरि ने किसी अंश में श्रीधर्मसागर के मत का समर्थन किया। इसलिये गच्छ के अनेक व्यक्तियों ने इनका विरोध किया। मुगल दरबार में प्रतिष्ठित श्री भानुचंद्र इस दल में अग्रणी थे। संवत् १६७२ में श्री विजयसेन के स्वर्गस्थ होने पर इन्होंने श्रीरामविजय को विजयतिलक नाम देकर पटाभिषिक्त किया। संग्रह में उद्धृत विजयतिलक सूरिरास इस कलह के इतिहास का एक प्रकार से उपोद्घात है।

गुजरात में बीसलनगर नाम का एक नगर था। उसके साह देव जी के दो पुत्रों को श्री विजयसेन सूरि ने दीक्षित किया और उनके नाम रतनविजय और रामविजय रखे। दोनों अच्छी तरह पढ़े। दोनों को गुरु ने पंडित पद दिया। श्री विजयसेन सूरि के गुरु श्री हीरविजय के सहाध्यायी और विजयदान के शिष्य उपाध्याय धर्मसागर और राजविमल वाचक भी अच्छे पंडित थे। धर्मसागर ने परमलकुद्दाल नाम का ग्रंथ बनाया (पृ० ३११-१५६) जिसमें दूसरों के धर्मों पर अनेक आक्षेप थे। श्री विजयदान सूरि ने उस ग्रंथ को जलसात् करवा दिया। किंतु श्री धर्मसागर राजनगर जाकर अपने मत का प्रतिपादन करते रहे और अनेक व्यक्तियों ने उनका साथ दिया। श्री विजयदान सूरि ने इसके विरोध में पत्र लिखकर राजनगर भेजा। किंतु धर्मसागर के अनुयायी संदेशवाहक को मारने पीटने के लिये तैयार हुए और वह कठिनता से गुरु के पास वापस पहुँच सका। श्रीविजयदान ने अपराध के दंड में अन्य आचार्यों का सहयोग प्राप्त कर श्री धर्मसागर को बहिष्कृत कर दिया श्री धर्मसागर को लिखित क्षमा माँगनी पड़ी। संवत् १६१६ में धर्मसागर को यह भी स्वीकार करना पड़ा कि वह परंपरागत समाचारी को मान्यता देंगे। संवत् १६२२ में श्री विजयदान स्वर्गस्थ हुए। इसके बाद हीरविजय सूरि का पट्टाभिषेक हुआ और उन्होंने जयविमल को आचार्य पद दिया।

इसके आगे की कथा उद्धृत अंश में नहीं है। किंतु इसके बाद भी श्री

धर्मसागर से विरोध चलता रहा और इसी के फलस्वरूप श्री विजयसेन सूरि के स्वर्गस्थ होने पर उनके दो पट्टधर हुए। एक तो विजयतिलक और दूसरे विजयदेव जो श्री विजयसेन के समय ही, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनके इतिहास के लिये गुणविजयकृत विजयसिंहसूरि विजय प्रकाश रास पढ़ना आवश्यक है।

इनके बाद में भी अनेक ऐतिहासिक रासों की रचना हुई है। किंतु इस संग्रह में प्रायः सत्रहवीं शताब्दी तक के रासों को स्थान दिया गया है। रासो में अनेक ऐतिहासिक सामग्री है। इन सबको एकत्रित करके प्रस्तुत किया जाय तो उस समय के जीवन का पूरा चित्र नहीं तो कुछ झाँकी अवश्य हमारे सामने आ सकती है। भारत का इतिहास अब तक बहुत अंधकारपूर्ण है। उसके लिये हर एक तथ्यस्फुलिंग का प्रकाश भी उपयोगी है और इनका एकत्रित प्रकाश सर्चलाइट का न सही, दिये का तो अवश्य काम देता है।

जनभाषा का स्वरूप और रास में उसका परिचय

जनभाषा या जनबोली का क्या लक्षण है? साहित्यिक भाषा और जनभाषा में मूलतः क्या अंतर है? स्कीट[1] नामक भाषाशास्त्री ने इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'केवल पुस्तकगत भाषा का अभ्यासी व्यक्ति जब ऐसी लोकप्रचलित भाषा सुनता है जिसकी शब्दावली एवं अभिव्यक्ति शैली से वह अपरिचित होता है और जिसकी उच्चारणध्वनि को वह समझ नहीं पाता तो वह ऐसी भाषा को जनपद की बोली नाम से पुकारता है। वह बोली यदि स्वरों एवं संयुक्त शब्दों की स्थानीय उच्चारणगत विशेषताओं को पृथक् करके लेखबद्ध बना दी जाय तो शिक्षित व्यक्ति को समझने में उतनी असुविधा नहीं प्रतीत होगी।'

जनभाषा की यह विशेषता है कि वह नवीन विचारों को प्रकट करने की सामर्थ्य बढ़ाने के लिये नवागत शब्दों को तो आत्मसात् कर लेती है किंतु अपनी मूल अभिव्यक्त शैली में आमूल परिवर्तन नहीं होने देती। जनकवि शब्द को अभिधा शक्ति की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजनार्थ से अधिक काम लेता है। इस दृष्टि से हमारे जनकाव्यों में लाक्षणिकता का बहुल प्रयोग प्रायः देखने में आता है।

इस राससंग्रह में जिन काव्यों को संग्रहीत किया गया है उनमें अधिकांश काव्यसौष्ठव से संपन्न हैं। इस विषय पर अलग अध्याय में प्रकाश डाला जा

1—When we talk of speakers of dialect, we imply that they employ a provincial method of speech to which the man who has been educated to use the language of books is unaccustomed. Such a man finds that the dialect speaker frequently uses words or modes of expression which he does not understand or which are at any rate strange to him; and he is sure to notice that such words as seem to be familiar to him are, for the most part strangely pronounced. Such differenecs are especially noticable in the use of vowels and diphthongs and in the mode of intonation.

(Skeat : English Dialects., pp.1,2)

रहा है। इस स्थान पर रास की भाषा का भाषाविज्ञान की दृष्टि से विवेचन अभीष्ट है। देखना यह है कि बारहवीं शताब्दी आते आते उत्तर भारत के विभिन्न भागों में जनभाषा किस प्रकार इन काव्यों की भाषा बन गई ? इस भाषा का मूल क्या है ? किस प्रकार आर्यों की मूल भाषा में परिवर्तन होते गए ? अपभ्रंश भाषा के इन काव्यों पर किन किन भाषाओं का प्रभाव पड़ा ? व्रजबुलि का स्वरूप क्या है ? वैष्णव रासों की रचना व्रजबुलि में क्यों हुई ? इन काव्यों की भाषा का परवर्त्ती कवियों पर क्या प्रभाव पड़ा ? ये प्रश्न विचारणीय हैं। सर्वप्रथम हम आर्य जनभाषा के विकासक्रम को समझने का प्रयास करेंगे। इस क्रमिक विकास का बीज वैदिक काल की जनभाषा में विद्यमान रहा होगा। अतः सर्वप्रथम उसी भाषा का निरूपण करना उचित प्रतीत होता है।

आर्य जाति किसी समय भारत के केवल एक भाग में रही होगी। ज्यों ज्यों यह फैली इसकी भाषाओं में विभिन्नताएँ उत्पन्न हुईं। इसका संपर्क द्रविड़ और निषाद जातियों से हुआ और आसुर्यविरोधिनी आर्य जाति को भी धीरे धीरे इन जातियों के अनेक शब्द ग्रहण करने पड़े। स्वयं ऋग्वेद से हमें ज्ञात है कि आर्यों ने अन्य जातियों से केवल कुछ वस्तुओं के नाम ही नहीं कुछ विचार भी ग्रहण किए ? जिन शब्दों से मंत्रस्रष्टा ऋषि भी प्रभावित हुए उनसे सामान्य जनता तो कहीं अधिक प्रभावित हुई होगी। इस तरह वैदिक काल में ही दो बोलियाँ अवश्य उत्पन्न हो गई होंगी। (१) वैदिक जिसमें द्रविड़ शब्दों और विचारों का प्रवेश सीमित था, (२) जनभाषा जिसने आवश्यकतानुसार खुले दिल से नए शब्दों की भर्ती की थी। इसी प्रकार की दूसरी भाषा को हम अपनी प्राचीनतम प्राकृत मान सकते हैं।

बोलचाल की भाषा सदा बदलती रहती है। उसमें कुछ न कुछ नया विकार आए बिना नहीं रहता। इसी कारण से ऋग्वेद के अंत तक पहुँचते पहुँचते वैदिक भाषा बहुत कुछ बदल जाती है। ऋग्वेद के दशम मंडल की भाषा दूसरे मंडलों की भाषा से कहीं अधिक जनभाषा के निकट है।

आर्यों के विस्तार का क्रम हम ब्राह्मण ग्रंथों से प्राप्त कर सकते हैं। वे सप्तसिंधु से उत्तर प्रदेश में और उत्तर प्रदेश से होते हुए सरयूपारीण प्रांतों में पहुँचे। इस तरह धीरे धीरे भारत की सीमा अफगानिस्तान से बंगाल तक पहुँच गई। इतने बड़े भूभाग पर आर्यभाषा का एक ही रूप संभव नहीं

था। ब्राह्मण ग्रंथों का अनुशीलन करने से, आर्यभाषा के तीन मुख्य भेदों की ओर निर्देश मिलता है—(१) उदीच्य या पश्चिमोत्तरीय, (२) मध्यदेशीय, (३) प्राच्य। उदीच्य प्रदेश की बोली अनार्य बोलियों से पृथक् रहने के कारण अपेक्षाकृत शुद्ध रूप में विद्यमान थी। कौषीतकि ब्राह्मण में इसके संबंध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी विज्ञता से बोली जाती है; भाषा सीखने के लिये लोग उदीच्य जनों के पास जाते हैं: जो भी वहाँ से लौटता है, उसे सुनने की लोग इच्छा करते हैं।'[1]

ब्राह्मण काल के मध्य देश की भाषा पर कोई टीका टिप्पणी नहीं है। किंतु प्राच्य भाषा के विषय में कटु आलोचना है। प्राच्य भाषाभाषियों को आसुर्य, राक्षस, बर्बर, कलहप्रिय संबोधित किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण में व्रात्य कहकर उनकी इस प्रकार निंदा की गई है—'व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे (वैदिक धर्म) में दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाए हुओं की भाषा बोलते हैं।'[2]

इन उद्धरणों से यह अनुमान लगाया गया है कि 'प्राच्य में संयुक्त व्यंजन समीकृत हो गए हों, ऐसी प्राकृत प्रवृत्तियाँ हो चुकी थीं।'[3]

मध्यदेशीय भाषा की यह विशेषता रही है कि वह नवीन युग के अनुरूप अपना रूप बदलती चलती है। उदीच्य के सदृश न तो सर्वथा रूढ़िबद्ध रहती है और न प्राच्यों के सदृश शुद्ध रूप से सर्वथा हटती ही जाती है। वह दोनों के बीच का मार्ग पकड़ती चलती है। प्राच्य बोली में क्रमशः परिवर्तन होते गए और ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी आते आते शुद्ध वैदिक बोली से प्राच्य भाषा इतनी भिन्न हो गई कि महर्षि पतञ्जलि को स्पष्ट कहना पड़ा—'असुर लोग संस्कृत शब्द 'अरयः' का 'अलयो' या 'अलवो' उच्चारण करते थे।'

१—तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग उद्यते; उदञ्च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्; यो वा तत आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति। (कौषीतकि ब्राह्मण, ७-६।)

२—अदुरुक्तवाक्यम् दुरुक्तम् आहुः; अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति—
(ताण्ड्य या पंचविंश ब्राह्मण, १७-४।)

३—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० ६२।

[भारतीय आर्य भाषा के विकास की द्वितीय अवस्था]

इस अवस्था में दंत्य के मूर्द्धन्यीकरण की प्रक्रिया परिपक्व हो चुकी थी। 'र' तथा 'ऋ' के पश्चात् दंत्य वर्ण मूर्द्धन्य हो जाता था। संस्कृत 'कृत' का 'कट', 'अर्थ' का 'अट्ठ' और 'अर्द्ध' का 'अड्ड' इसका प्रमाण है। किंतु ये ही शब्द मध्य देश में 'कत' (कित), 'अत्थ' और 'अद्ध' बन गए। 'र' का 'ल' तो प्रायः दिखाई पड़ता है। 'राजा' का 'लाजा', 'क्षीर' का 'खील', 'मृत' का 'म्लृत', 'भर्ता' का 'भल्ता' रूप इस तथ्य का साक्षी है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत है कि 'विकृति' का 'विकट', 'किम्-कृत' का 'कीकट', 'नि-कृत' का 'निकट', 'अन्द्र' का 'अण्ड' रूप इस बात को स्पष्ट करता है कि वैदिक काल में ही विकार की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। किंतु परिवर्तन का जितना स्पष्ट रूप इस काल में दिखाई पड़ता है उतना वैदिक काल में नहीं।

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या[१] का मत है कि इस प्रकार भारतीय आर्य-भाषा के विकास की द्वितीय अवस्था व्यंजनों के समीभवन आदि परिवर्तनों के साथ सर्वप्रथम पूर्व में आई। इस काल में भाषा के प्रादेशिक रूप त्वरित गति से फैलते जा रहे थे। प्रारंभ में विजित अनार्यों के बीच बसे हुए आर्यों की भाषा के मुख्य मुख्य स्थानों पर द्वीपों के समान केंद्र थे, परंतु जिस प्रकार अग्नि किसी वस्तु का ग्रास करती हुई बढ़ती जाती है, उसी प्रकार आर्यभाषा पंजाब से बड़े वेग से अग्रसर हो रही थी, और ज्यों ज्यों अधिकाधिक अनार्य भाषी उसके अनुगामी बनते जा रहे थे त्यों त्यों उसकी गति भी क्षिप्रतर होती जाती थी। धीरे धीरे अनार्य भाषाओं के केवल गंगातटवर्ती भारत में कुछ ऐसे केंद्र रह गए जिनके चारो ओर आर्यभाषा का साम्राज्य छाया हुआ था।

[ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी से २०० वर्ष पूर्व]

यदि अनार्य आर्यों के संपर्क में न आए होते तो भी वैदिक भाषा में परिवर्तन अवश्य होता। किंतु अनार्यों का सहवास होने पर भी आर्यभाषा अपरिवर्तनीय बनी रहे, यह संभव था ही नहीं। अनार्यों के उच्चारण की दूषित प्रणाली, उनके नित्यव्यवहृत शब्दों का प्रयोग, देश की जलवायु का प्रभाव, दूरस्थ स्थानों पर आर्यों के निवास, ऐसे कारण थे कि वैदिक भाषा में परिवर्तन द्रुत गति से होना स्वाभाविक हो गया। हाँ, इतना अवश्य था कि भाषापरिवर्तन का यह वेग पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में द्रुत गति से बढ़ने लगा।

१—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या—भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृ० ६४

ईसा से पूर्व ६ठी शताब्दी में शाक्य वंश में एक प्रतिभासंपन्न व्यक्ति उत्पन्न हुआ। उसने जनभाषा में एक क्रांति उत्पन्न की। संस्कृत की अपेक्षा जनभाषा का सम्मान बढ़ा। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों का वाहन संस्कृत को त्यागकर जनभाषा को ग्रहण किया। जनभाषा का इतना सम्मान और इतने बड़े भूभाग पर उसके प्रचार का प्रयास संभवतः बुद्ध से पूर्व आर्य देश में कभी नहीं हुआ था।

बुद्धजन्म से पूर्व उत्तर भारत के चार वंशों—मगध, कोशल, वत्स एवं अवंती—में सर्वाधिक शक्तिसंपन्न राज्य कोशल था। यह हमारे देश की परंपरा रही है कि शक्तिशाली जनपद की भाषा को अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक गौरव प्रदान करके उसे एक प्रकार की राष्ट्रभाषा स्वीकार किया जाता रहा है। अतः स्वाभाविक रीति से कोशल की जनभाषा को नित्य प्रति के कार्य-व्यवहार में प्रयुक्त किया गया होगा। इसका प्रभाव संपूर्ण उत्तर भारत की बोलियों पर पड़ना स्वाभाविक था।

ब्राह्मण और व्रात्य

प्रश्न उठता है कि बुद्ध से पूर्व कोशल एवं मगध की भाषा का क्या स्वरूप रहा होगा? ऐसा प्रमाण मिलता है कि वैदिक आर्य पूर्व के अवैदिक आर्यों को व्रात्य कहकर पुकारते और उनकी भाषा को अशुद्ध समझते थे। मगध तो ब्राह्मण काल में आर्य देश से प्रायः बाहर समझा जाता था[1]। किंतु बुद्धजन्म के कुछ पूर्व मगध एक शक्तिशाली राज्य बन गया था। यह निश्चित है कि उस समय तक आर्य मगध में जम चुके होंगे और उनकी भाषा व्रात्यों से प्रभावित हो रही होगी। यद्यपि पश्चिमी आर्य व्रात्यों के विचारों का सम्मान नहीं करते थे परंतु उनकी भाषा को आर्य परिवार के अंतर्गत मानते थे। यहाँ तक कि ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में मागधी का प्रभाव तांड्य ब्राह्मण में स्पष्ट झलकने लगा। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि 'Real Prakrit stage was first attained by I. A. in the east in कोशल and in मगध[2]।' सर्वप्रथम वास्तविक प्राकृत कोशल और मगध में बनी।

१—ऋग्वेद (३, ५३, १४) में मगध का नाम केवल एक बार आता है। अथर्ववेद में मागधों को विलक्षण मनुष्य कहा गया है।

२—S. K. Chatterjee—O. D. B. L., page 48.

इस काल में मगध में बौद्ध और जैन धर्म का प्रसार हुआ। धर्मप्रचार के लिये पूर्वी जनभाषा का प्रयोग हुआ। संस्कृत से अनभिज्ञ जनता ने इस आंदोलन का स्वागत किया। प्रश्न है कि इस जनभाषा का स्वरूप क्या रहा होगा[1]। महात्मा बुद्ध की मातृभूमि मगध होने से उन्हें जन्मभूमि की भाषा का ज्ञान स्वभावतः हो गया होगा। राजकुमार सिद्धार्थ ने पंडितों से संस्कृत का अध्ययन किया होगा। घरबार छोड़ने पर उस युवक ने दूर दूर तक भ्रमण करके जनभाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा। इस प्रकार कोशल, काशी एवं मगध की बोलियों से तो उन्हें अवश्य परिचय हो गया होगा। तात्पर्य यह है कि मध्यदेश और पूर्व की जनबोलियों का बुद्ध को पूरा अनुभव रहा होगा। बुद्ध ने उन सब के योग से अपने प्रवचन की भाषा निर्मित की होगी?

ईसा पूर्व ५०० के उपरांत

[बुद्ध के प्रवचन की भाषा अनिश्चित है किंतु वह कालांतर में लेखबद्ध होने पर पाली भाषा मानी गई।]

बुद्धकाल में बुद्धिवादी ब्राह्मणों का एक ऐसा वर्ग था जो अपने साहित्य को उच्च शिक्षाप्राप्त विद्वानों तक ही सीमित रखना चाहता था। वे लोग उदीच्य भाषा तक तो अपनी मातृभाषा को ले जाने को प्रस्तुत थे परन्तु प्राच्य बोली को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। बुद्ध के जीवनकाल में भाषा के क्षेत्र में यह भेदभाव स्पष्ट हो गया था। प्राच्य जनबोली में बुद्ध के उपदेश संस्कृत भाषा से इतने दूर चले गए थे कि बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यों को तथागत से उनकी वाणी का संस्कृत में अनुवाद करने के लिये अनुरोध करना पड़ा। बुद्ध भगवान् को यह अभीष्ट न जान पड़ा और उन्होंने यही निश्चय

---

1. But Buddhism and Jainism, two religions which had their origin in the East at first employed languages based on eastern vernaculars, or on a Koine that grew up on the basis of the Prakritic dialects of the midland, and was used in the early M. I. A. Period (B. C. 500 downwards) as a language of intercourse among the masses who did not care for the Sanskrit of Brahman and the Rajanya.

S. K. Chatterjee—O. D. B. L.,
Page 53

किया कि 'समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में ही ग्रहण करें'। "अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितु" [भिक्खुओ अपनी अपनी भाषा में बुद्धवचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ।]

इसका परिणाम यह हुआ कि देश्य भाषाओं का प्रभाव बढ़ने लगा और इसमें प्रचुर साहित्य निर्मित होने लगा। जिस भाषा में सिंहल देश में जाकर बुद्धसाहित्य लेखबद्ध हुआ उसे पालि कहते हैं।

संभवतः हमारे देश में लौकिक भाषा को संस्कृत के होड़ में खड़ा करने का यह प्रथम प्रयास था। इस प्रयास के मूल में एक जनक्रांति थी जो वैदिक संस्कृत से अपरिचित होने एवं वैदिक कर्मकांड के आडंबर से असंतुष्ट होने के कारण उत्पन्न हुई थी। उपनिषदों का चिंतक द्विजाति वर्ग जनसामान्य की उपेक्षा करके स्वकल्याणसहित ब्रह्मचिंतन में संलग्न हो गया था, किंतु बौद्ध भिक्षु और जैनाचार्य जनसामान्य को अपने नवीन धर्म का संदेश जनभाषा के माध्यम से घर घर पहुँचा रहे थे।

बुद्ध की विचारधारा को प्रकट करनेवाली भाषा का प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त है। किसी एक जनभाषा को आधार मानकर उसमें प्रदेशानुरूप परिवर्तन के साथ संपूर्ण देश में व्यवहार के उपयुक्त एक भाषा प्रस्तुत की गई। यह भाषा पालि तो नहीं, किंतु उसके पर्याप्त निकट अवश्य है।

शताब्दियों तक देश विदेश को प्रभावित करनेवाली पालिभाषा के उद्भव पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। इस प्रश्न पर भाषाशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं—पं० विधुशेखर भट्टाचार्य पालि का निर्वचन पंक्ति>पंति>पत्ति>पट्टि>पल्लि से बताते हैं। मैक्सवालेसर पाटलिपुत्र से पालि की उत्पत्ति मानते हैं। ग्रीक में 'पाटलि' के स्थान पर 'पालि' शब्द "किसी भारतीय-जनपदीय-भाषा के आधार पर ही लिखा गया होगा।" भिक्षु जगदीश काश्यप पालि की व्युत्पत्ति सं० पर्याय>परियाय>पलियाय>पालियाय से बताते हैं। डा० उदयनारायण तिवारी ध्वनिपरिवर्तन के नियमों के आधार पर उक्त सभी मतों का खंडन करते हुए कहते हैं कि "पालि शब्द की सीधी सादी व्युत्पत्ति 'पा' धातु में 'णिच' प्रत्यय 'लि' के योग से संपन्न होती है।" अतः 'पालि' का अर्थ हुआ—अर्थों की रक्षा करनेवाली। बुद्ध भगवान् के उपदेशप्रद अर्थों की रक्षा जिस भाषा में हुई वह पालि भाषा कहलाई।

पालि का नामकरण

कतिपय विद्वान् पालिभाषा को मगध की जनभाषा मानते हैं किंतु डा० ओल्डनवर्ग इसे कलिंग की जनभाषा बताते हैं। उनका मत है कि कलिंग में अशोक काल में मथुरा से धर्मोपदेशकों एवं विजेताओं का अनवरत आगमन होता रहा, अतः उत्तरी कलिंग को ईसा की प्रथम सहस्राब्दि के पश्चात् दक्षिण पश्चिम बंगाल तथा महाकोशल अथवा छत्तीसगढ़ से आर्यभाषा प्राप्त हुई। यही भाषा पालि नाम से प्रसिद्ध हुई।

पालि का जन्मस्थान

वेस्टरगार्ड पालिभाषा को उज्जैन की जनपदीय बोली कहते हैं और स्टेनकोनो ने उसे विंध्य प्रदेश की जनभाषा माना है। ग्रियर्सन ने इसे मगध की जनभाषा और प्रो० रीज डेविड्स ने कोशल की बोली स्वीकार किया है। डा० चैटर्जी का मत रीज डेविड्स से मिलता है। विंडिश और गायनर ने इसे वह साहित्यिक भाषा माना है जो विभिन्न जनपदों के स्थानीय उच्चारणों को आत्मसात् करने के कारण सभी जनपदों में समझी जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कोशल जनपद की बोली की भित्ति पर पालिभाषा का भवन निर्मित हुआ होगा और सबको बोधगम्य बनाने के लिये इसमें एक एक शब्द के कई रूप दिए गए होंगे।

एक ओर तो पालिभाषा उच्चारणगत एवं व्याकरण संबंधी विशेषताओं के कारण आर्षप्राकृत के समीप जा पहुँचती है किंतु दूसरी ओर उसमें वैदिक भाषा की भी कई विशेषताएँ विद्यमान हैं। वैदिक भाषा के समान इसमें भी एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं। वैदिक भाषा के सदृश ही देव शब्द के कर्ताकारक बहुवचन में ये रूप मिलते हैं—देवा, देवासे (वैदिक देवासः), करण कारक बहुवचन में देवेहि (वै० देवोभिः) रूप मिलते हैं। 'गो' का रूप संबंध कारक बहुवचन में गोनं या गुन्नं (वैदिक गोनाम्—सं० गवाम्) की तरह रूप बनता है। (२) वैदिक भाषा में लिंग एवं कारकों का व्यत्यय दिखाई पड़ता है। पालि में भी इसके उदाहरण मिल जाते हैं। (३) प्राचीन आर्यभाषा के सुप् प्रत्यय पालि भाषा में विद्यमान हैं। (४) पालि में सभी गणों के धातु रूप प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के सदृश विविध रूपों में विराजमान हैं। उदाहरण के लिये 'भू' धातु के 'होमि' एवं 'भवामि' दो रूप मिलते हैं। (५) सन्नंत, यङंत, णिजंत, नामधातु रूपों का प्रयोग पालि में भी संस्कृत से समान होता है। (६) संस्कृत के समान पालि में भी कृदंत

पालि और वैदिक भाषा

के रूप दिखाई पड़ते हैं। (७) तुमुन्नंत (Infinite) रूप बनाने के लिये पालि में संस्कृत के समान 'तुम-तवे-तये एवं तुये' का योग पाया जाता है।

हम आगे चलकर पालि भाषा और विभिन्न प्राकृतों का संबंध स्पष्ट करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में अश्वघोष विरचित नाटकों में गणिका अथवा विदूषक की बोली प्राचीन शौरसेनी के सदृश तो है ही, वह पालि से भी सादृश्य रखती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उस काल की जनबोली पाली अथवा शौरसेनी मानी जानी चाहिए। तात्पर्य यह है कि मध्यप्रदेश की बोली के रूप में प्रचलित भाषा प्राचीन शौरसेनी अथवा पाली दोनों मानी जा सकती है। दोनों एक दूसरे से इतनी अभिन्न हैं कि एक को देखते ही दूसरे का अनुमान लगाया जा सकता है।

पालि और मागधी

सिंहल निवासियों की यह धारणा रही है कि पालि मगध की भाषा थी क्योंकि बुद्ध भगवान् के मुख से उनकी मातृभाषा मागधी में ही उपदेश निकले होंगे। किंतु भाषाविज्ञान के सिद्धांतों द्वारा परीक्षण करने पर यह विचार भ्रामक सिद्ध होता है। सबसे स्पष्ट अंतर तो यह है कि मागधी में जहाँ तीनों ऊष्म व्यंजन श, स, ष के स्थान पर केवल 'श' का प्रयोग होता है वहाँ पालि में दंत्य 'स' ही मिलता है। मागधी में 'र', 'ल' के स्थान पर केवल 'ल' मिलता है किंतु पालि में 'र', 'ल' दोनों विद्यमान हैं। पुल्लिंग एवं नपुंसक लिंग अकारांत शब्दों के कर्ताकारक एकवचन में मागधी में 'ए' परंतु पालि में 'ओ' प्रत्यय लगता है। किंतु इसके विरुद्ध मध्य भारतीय आर्यभाषा के प्रारंभकाल की सभी प्रवृत्तियाँ पालि में पूर्णतया विद्यमान हैं। 'ऐ' 'औ' स्वर 'ए' 'ओ' में परिणत हो गए हैं। पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर ही आ सकता था। अतः संयुक्त व्यंजन से पूर्व 'ए', 'ओ' का उच्चारण भी ह्रस्व हो गया, यथा—मैत्री > मेत्री, औष्ठ > ओट्ठ।

पालिभाषा की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि इसमें अनेक शब्दों के वे वैदिक रूप भी मिलते हैं जिनको संस्कृत में हम देख नहीं पाते। वैदिक देवासः का पालि में देवासे और देवेभिः का देवेहि, गोनाम् का गोनं, पतिना का पतिना रूप यहाँ विद्यमान है। अतः मागधी प्राकृत पालिभाषा के स्वरूप से साम्य नहीं रखती। पालि पर मागधी की अपेक्षा मध्यदेशीय भाषा शौरसेनी का अधिक प्रभाव है। इस प्रकार हमें इस तथ्य का प्रमाण मिल

जाता है कि मध्यदेश की भाषा शौरसेनी का प्रभुत्व समकालीन प्राकृतों से अधिक महत्वपूर्ण था। इसका परिणाम आधुनिक भारतीय भाषाओं पर क्या पड़ा, इस पर आगे चलकर विचार करेंगे।

पालि और प्राकृत

कालांतर में पालि के सन्निकट भाषाएँ भी लुप्त होने लगीं और उनका स्थान अनेक ऐसी भाषाओं ने ग्रहण किया जिनके लिये हम अब 'प्राकृत' शब्द प्रयुक्त करते हैं।

प्राकृत भाषा के नामकरण के कारणों पर आचार्यों के विभिन्न मत मिलते हैं। सन् १०६९ ई० के आसपास नमिसाधु काव्यालंकार की टीका करते हुए लिखते हैं—सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। ··· ··· प्राक्पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादि सुबोधं सकलभाषा निबन्धनभूतं वचनमुच्यते।

जो सहजभाषा व्याकरणादि नियमों से विनिर्मुक्त अनायास वाणी से निकल पड़ती है वह प्राकृत कहलाती है। प्राकृत को संस्कृत का विकृत रूप समझना बुद्धिमानी नहीं। एक ही काल में विद्वान् संस्कृत भाषा का उच्चारण करते हैं। उसी काल में व्याकरणादि के नियमों से अपरिचित व्यक्ति सहज भाव से जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह प्राकृत कहलाती है। भाषाशास्त्री दोनों की तुलना करते हुए संस्कृत के शब्दों में नियम बनाकर प्राकृत भाषा की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि अपठित समाज संस्कृत शब्दों का यथावत् रूप में उच्चारण नहीं कर पाता और ध्वनिपरिवर्तन के साथ उन संस्कृत शब्दों को बोलता रहता है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में जहाँ एक ओर पठित समाज के प्रयोग के कारण कुछ कुछ विकास होता रहता है वहाँ प्राकृत भाषा भी अपठित अथवा अर्द्धशिक्षित समाज में विकसित होती रहती है। प्रतिभाशाली व्यक्ति शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं अशिक्षित सभी समाजों में उत्पन्न होते हैं। जब अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित समाज में कबीर, दादू जैसे महात्मा उत्पन्न होकर अपनी स्वाभाविक प्रतिभा से ऐसी जनभाषा में काव्यरचना करने लगते हैं तो प्राकृत भाषा श्रीसंपन्न हो जाती है और उसके शब्दपरिवर्तन के लिये नियम बनाते हुए संस्कृत शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन के सिद्धांत निर्णीत होते हैं।

आचार्य हेमचंद्र तथा अन्य प्राकृत वैयाकरण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ और लिखते हैं—

"प्रकृतिः संस्कृतम् , तत्रभवम् , तत आगतं वा प्राकृतम् ।"[1]

अर्थात्—'प्रकृति' शब्द का अर्थ 'संस्कृत' है और प्राकृत का अर्थ हुआ 'संस्कृत से आया हुआ'। इसके दो अर्थ निकाले जा सकते हैं—

(१) संस्कृत शब्दों का उच्चारण शुद्ध रीति से न होने के कारण जो विकृत रूप दिखाई पड़ता है वह प्राकृत है। इस प्रकार प्राकृत भाषा का मूल स्रोत संस्कृत भाषा है।

(२) "संस्कृत उत्पत्तिकारण नहीं अपितु प्राकृत भाषा को सीखने के लिये संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारणभेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य वैषम्य है उसको दिखाते हुए प्राकृत भाषा के वैयाकरणों ने प्राकृत व्याकरण की रचना की। अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत सिखलाने का उन लोगों का यत्न है। इसीलिये और इसी आशय से उन लोगों ने प्राकृत की योनि—उत्पत्तिक्षेत्र कहा है[2] ।"

नाटकों में सबसे प्राचीन प्राकृत भाषा का दर्शन अश्वघोष के नाटकों में होता है। अश्वघोष ने तीन प्रकार की प्राकृत (१) दुष्ट पात्र द्वारा (२) गणिका एवं विदूषक द्वारा (३) गोभम् द्वारा प्रयुक्त कराया है। इनमें प्रथम प्रकार की प्राकृत का रूप प्राचीन मागधी से, दूसरे प्रकार की प्राकृत का रूप प्राचीन शौरसेनी एवं तीसरी प्राकृत का रूप प्राचीन अर्धमागधी से मिलता-जुलता है।

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

इसी युग के आसपास भाषा में एक नवीन प्रवृत्ति दिखाई पड़ी जिसने देशी भाषा का स्वरूप ही परिवर्तित कर दिया। इस काल में स्वर मध्यम अघोष स्पर्श व्यंजन सघोष होने लगे। इस प्रवृत्ति के कतिपय उदाहरण देखिए—

हित>हिद>हिद॰>हिअ; कथा>कधा>कधा॰>कहा; शुक> सुग॰> सुग>सुअ; मुख>मुघ>मुघ॰>मुह।

भाषापरिवर्तन की इस प्रवृत्ति ने भाषा के रूप में आमूल परिवर्तन कर दिया। ईसा के उपरांत प्राकृत भाषाओं का भेदभाव क्रमशः अधिक स्पष्ट होने लगा।

---

१. हेमचंद्र—प्राकृत व्याकरण, ८-१-१।

२. अध्यापक बेचारदास जोशी—जिनागम कथा संग्रह, पृष्ठ ४

ईसा के २०० वर्ष पूर्व से २०० ई० तक प्राचीन भारतीय भाषाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। (१) सभी शब्दों के रूप प्रायः अकारांत शब्द के समान दिखाई पड़ने लगे। (२) संप्रदान और संबंध कारक के रूप समान हो गए। (३) कर्ता और कर्म कारक के बहुवचन का एक ही रूप हो गया। (४) आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त सा हो गया। (५) लङ्, लिट्, विविध प्रकार के लुङ् समाप्त हो गए। (६) कृदंत रूपों का व्यवहार प्रचलित हो गया।

भाषा की नई प्रवृत्तियाँ

इसी काल में **कार्यक>केरक>केर** का उद्भव होने लगा जो वैष्णव भक्तों की भाषा में खूब प्रचलित हुआ। इस काल में रामस्य गृहम् के स्थान पर "रामस्स केरक (कार्यक) घरम्" रूप हो गया।

शूरसेन (मथुरा) प्रदेश का वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। यह स्थान मध्यदेश में आर्य संस्कृति का केंद्र माना जाता था। आर्यभाषा संस्कृत इस प्रदेश की भाषा को सदैव अपने अनुरूप रखने का प्रयास करती आ रही है। स्वर के मध्यस्थित 'द्' 'थ्' यहाँ तद्वत् रूप में विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिये देखिए—

शौरसेनी प्राकृत

कथयतु>कधेदु, कृत>किद-कद, आगतः>आगदो। इसमें क्ष का क्ख हो जाता है, जैसे—कुक्षि>कुक्खि, इक्षु>इक्खु इस प्राकृत में संयुक्त व्यंजनों में से एक के लुप्त होने पर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने का नियम नहीं पाया जाता।

शकुंतला नाटक के शौरसेनी प्राकृत के एक उद्धरण से इसकी विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँगी—

इमं अवत्थतरं गदे तादिसे अणुराए किं वा सुमराविदेण। अत्ता दाणिं मे सोअणीओत्ति ववसिदं एदं।

संस्कृत रूपांतर—इदमवस्थांतरं गते तादृशेऽनुरागे किं वा स्मारितेन। आत्मेदानीं मे शोचनीय इति व्यवसितमेतत्।

[शकुंतला, अंक ५]

शौरसेनी की अपेक्षा मागधी[1] प्राकृत में वर्णविकार कहीं अधिक दिखाई पड़ते हैं। इसमें सर्वत्र 'र' का 'ल' और 'स', 'ष्', 'श' के स्थान पर 'श', 'ज' के स्थान पर 'य', 'ज्झ' के स्थान पर य्ह्, य्य; ग्र् के स्थान पर ज्र्; र्य के स्थान पर य्य; ण्य् के स्थान पर न्य्; ञ् के स्थान पर ञ्ञ् हो जाता है। जैसे, राजा> लाजा, पुरुषः> पुलिशे, समर>शमल, जानाति>याणादि, जायते> यायदे, झटिति> य्हति, अद्य> अय्य, आर्य> अय्य, अर्जुन> अय्युण, कार्य> कय्य, पुण्य> पुञ्ञ, अन्य> अञ्ञ, राज्ञः> लञ्ञो, अञ्जलि> अञ्ञलि, शुष्क> शुश्क, हस्त> हश्त, पक्ष> पश्क

कोशल और काशी प्रदेश की जनभाषा अर्धमागधी कहलाती थी। मगध और शूरसेन के मध्य स्थित होने के कारण दोनों की कुछ कुछ प्रवृत्तियाँ इसमें विद्यमान थीं। कर्ताकारक एकवचन का रूप मागधी के समान 'एकारांत', और शौरसेनी के समान 'ओकारांत' हो जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि स्वरमध्यग स्पर्श व्यंजन का लोप होने पर उसके स्थान पर 'य्' हो जाता है, जैसे—सागर> सायर, स्थित> ठिय, कृत> कय।

अर्ध मागधी

अर्धमागधी में अन्य प्राकृतों की अपेक्षा दंत्य वर्णों को मूर्धन्य बनाने की प्रवृत्ति सबसे अधिक पाई जाती है। तीसरी प्रवृत्ति है पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्यय 'त्वा' एवं 'त्य' को 'त्ता' एवं 'च्च' में बदल देने की। 'तुमुन्नन्त' शब्दों का प्रयोग पूर्वकालिक क्रिया के समान होता है, जैसे—'कृत्वा' के लिये 'काउँ' का प्रयोग देखा जाता है। यह काउँ> कर्तुम् से बना है।

अर्धमागधी का एक उद्धरण देकर उक्त प्रवृत्तियाँ स्पष्ट की जाती हैं—

तेणं कालेणं तेणं समएणं सिंधुसोवीरेसु जणवएसु वीयभए नामं नयरे होत्था, उदायणे नामं राया, पभावई देवी।

१—मागधी प्राकृत का उदाहरण—

अले कुम्भीलआ, कहेहि कहिं तुए एशे मणिबंधणुक्किण्णणामहेए लाअकीलए अंगुलीअए शमाशादिए ?

संस्कृत रूपांतर

अरे कुंभीरक, कथय, कुत्र त्वयैतन्मणिबंधनोत्कीर्णं नामधेयं राजकीयमंगुलीयकं समासादितम्।

संस्कृत रूपांतर—

तस्मिन् काले तस्मिन् समये सिंधुसौवीरेषु जनपदेषु वीतभयं नाम नगरं आसीत्। उदायनो नाम राजा प्रभावती देवी।

भाषाशास्त्रियों का मत है कि महाराष्ट्री-शौरसेनी एक प्राकृत के दो भेद हैं। वास्तव में शौरसेनी प्राकृत का दक्षिणी रूप महाराष्ट्री है। इस प्रकार शौरसेनी से महाराष्ट्री में यत्र तत्र अंतर दिखाई पड़ता है। इस प्राकृत के प्रमुख काव्य हैं—'गउड़-वहो', 'सेतुबंध', 'गाथासत्तसई'। इस प्राकृत की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

महाराष्ट्री प्राकृत

स्वरमध्यग अल्पप्राण व्यंजन समाप्त हो गए हैं और महाप्राण में केवल 'ह्' ध्वनि बच गई है, जैसे—प्राकृत> पाउअ, प्राभृत>पाहुड, कथयति> कहेइ, पाषाण>पाहाण

महाराष्ट्री में कारकों के प्रत्यय अन्य प्राकृतों से भिन्न हैं। अपादान कारक एकवचन में 'आहि' प्रत्यय प्रायः मिलता है, जैसे—'दूरात्' का 'दूराहि' रूप मिलता है। अधिकरण के एकवचन में 'म्मि' अथवा 'ए' प्रत्यय दिखाई पड़ता है, जैसे 'लोकस्मिन्' का 'लोअम्मि' रूप।

'आत्मन्' का रूप शौरसेनी एवं मागधी में 'अत्त' होता है किंतु महाराष्ट्री में 'अप्प' रूप मिलता है। कर्मवाच्य में 'य' प्रत्यय का रूप 'इज' हो जाता है, जैसे—पृच्छ्यते> पुच्छिजइ; गम्यते > गमिजइ।

महाराष्ट्री प्राकृत का उद्धरण

ईसीसिचुम्बिआइं भमरेहिं सुउमार केसर सिहाइं।
ओदंसयन्ति दअमाणा पमदाओ सिरीसकुसुमाइं।

संस्कृत रूपांतर—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।

प्राकृत के इन विभिन्न भेदों के होते हुए भी इनमें ऐसी समानता थी कि एक को जाननेवाला औरों को समझ लेता था। सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी प्रत्येक प्राकृत को सरलता से बोधगम्य बना लेता था। आरंभ में तो इन प्राकृतों में और भी कम अंतर था। भाषा प्रायः एक थी जिसमें उच्चारणभेद

के कारण अंतर होता जाता था। डा० वुलनर इसी को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"In the older stage the difference was still less marked. Still further back we should find only the difference between 'correct' and 'incorrect' pronunciation, grammatical speech and ungrammatical, standard speech and dialectical the differences between the speech of educated and uneducated people speaking substantially the sane language.

—Dr. A. C. Woolner, Introduction to Prakrit, Page 9.

संस्कृत नाटकों में प्राप्य शौरसेनी प्राकृत के संबंध में हम पहले कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। ईसा की दूसरी शती से इस प्राकृत का प्रयोग होने लगा था और इसका क्रम शताब्दियों तक चलता रहा।

अपभ्रंश का उद्भव

प्रारंभ में शौरसेनी प्राकृत जनभाषा पर पूर्णतया निर्भर रही किंतु कालांतर में वह शिष्ट साहित्य के अनुसार बोलचाल की भाषा से असंपृक्त होकर व्याकरणसंमत भाषा पर सर्वथा अवलंबित रहने लगी। संभवतः चौथी शताब्दी तक तो जनभाषा और नाटक की प्राकृत में तादात्म्य सा बना रहा किंतु चौथी शताब्दी के उपरांत जनभाषा का स्वाभाविक रूप साहित्यिक रूप से बहुत दूर जा पड़ा। इस मध्य भारतीय आर्यभाषा के विकास ने शौरसेनी का एक नवीन रूप प्रस्तुत कर दिया जिसमें जनसामान्य का लोकसाहित्य विरचित होने लगा। भाषा का यह नवीन प्राकृत रूप विकसित होकर अपभ्रंश के नाम से प्रख्यात हुआ।

अपभ्रंश के उद्भव काल के संबंध में विविध मत हैं। वररुचि ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश भाषा का कहीं उल्लेख नहीं किया। संभवतः उस काल तक इस भाषा का अस्तित्व नहीं बन पाया

उद्भव काल

था। जैकोबी महोदय ने शिलालेखों एवं भामह, दंडी की रचनाओं के आधार पर यह मत स्थापित किया है कि ६ठी शताब्दी में अपभ्रंश नामक भाषा का उपयोग साहित्यिक रूप में होने लगा था।

जैकोबी ने द्वितीय तृतीय शताब्दी के मध्य विरचित 'पउमचरिउ' में अपभ्रंश भाषा का अंश ढूँढ़ निकाला है। किंतु प्रायः सभी भाषाशास्त्रियों ने इस मत का खंडन किया है। 'मृच्छकटिक नाटक' के द्वितीय अंक में कुछ कुछ अपभ्रंश भाषा के समान प्राकृत का रूप दिखाई पड़ता है। 'विक्रमोर्वशी' नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश भाषा की छंदयोजना और शैली प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चौथी पाँचवीं शताब्दी में अपभ्रंश का स्वरूप बन चुका था।

डा० चैटर्जी[१] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पाँचवीं शताब्दी में गांधार, टक आदि उत्तरी पंजाब के भूभागों एवं सिंध, राजस्थान, मध्यदेश स्थित आभीरों में अपभ्रंश भाषा का विधिवत् प्रचलन हो चला था। यह जनभाषा शौरसेनी प्राकृत से दूर हटकर अपभ्रंश का रूप धारण कर चुकी थी।

अपभ्रंश के नामकरण का इतिहास

ईसा पूर्व दूसरी शती में सर्वप्रथम पतंजलि[२] ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने 'गो' शब्द का गावी, गोणी, गोता आदि रूप अपभ्रंश माना है। भर्तृहरि[३] ने भी व्याडि नामक आचार्य का मत देते हुए अपभ्रंश शब्द का उल्लेख किया है।

शब्द संस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छंति विशिष्टार्थ निवेशिनम्॥

भरत मुनि ने अपभ्रंश भाषा का उल्लेख तो नहीं किया है किंतु एक स्थान पर उन्होंने उकारबहुला भाषा का उल्लेख इस प्रकार किया है।

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥

नाट्य० ११, ६२

१. Dr. S. K. Chatterjee—O. D. B. L., Page 88.

२. एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

३. वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातंत्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभंते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्तया प्रमादिभिर्वा गव्याद-यस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते।

उकारबहुला भाषा का नाम कालांतर में अपभ्रंश हो गया। अतः भरत मुनि के समय एक ऐसी भाषा निर्मित हो रही थी जो आगे चलकर अपभ्रंश के नाम से विख्यात हो गई। भरत मुनि ने संस्कृत और प्राकृत को तो भाषा कहा किंतु शक, आभीरादि बोलियों को विभाषा नाम से अभिहित किया। अतः हम अपभ्रंश को उस काल की विभाषा की संज्ञा दे सकते हैं।

भामह[1] ने छठी शताब्दी में अपभ्रंश की गणना काव्योपयोगी भाषा के रूप में किया। इसके उपरांत दंडी (७वीं शताब्दी) उद्योतन सूरि (वि० सं० ८३५), रुद्रट (नवीं शताब्दी), पुष्पदंत (१०वीं शताब्दी) आदि अनेक आचार्यों ने इस भाषा का उल्लेख किया है। राजशेखर ने तो काव्य-पुरुष के अवयवों का वर्णन करते हुए लिखा है—

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः,
जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्।

अ० ३, पृ० ६

इसके उपरांत मम्मट (११वीं शताब्दी), वाग्भट (११४० वि०) रामचंद्र गुणचंद्र (१२वीं शताब्दी) अमरचंद्र (१२५० ई०) ने अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत के समकक्ष साहित्यिक भाषा स्वीकार किया।

उक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पतंजलि[2] काल में जिस अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भ्रष्ट बोली के लिये होता था वही छठी शताब्दी में काव्यभाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पाली, शौरसेनी तथा अन्य मध्य आर्यभाषाओं की स्थापना के उपरांत पश्चिमी एवं उत्तर पश्चिमी भारत के अशिक्षित व्यक्तियों के मुख से अपभ्रष्ट उच्चारण होने के कारण अपभ्रंश शब्द का आविर्भाव हुआ था। जब अपभ्रष्ट शब्दों की सूची इतनी विस्तृत हो गई कि भाषा का एक नया रूप निखरने लगा तो

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

काव्यालंकार १. १६.-८

२. No one would suggest that the word Apabhramsa, as used by Patanjali, means anything but dialectal, ungrammatical or vulgar speech, or that it can mean anything like the tertiary development of M.I.A.

S. K. Chatterjee—O. D. B. L., Page 89

इस नवीन भाषा को प्राकृत से भिन्न सिद्ध करने के लिये अपभ्रंश नाम से पुकारा गया। नाटकों की प्राकृत एवं आधुनिक भाषाओं के मध्य शृंखला जोड़ने के कारण भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस भाषा का बड़ा महत्व माना गया है। इस भाषा का उत्तरोत्तर विकास होता गया और चौदहवीं शताब्दी में शौरसेनी अपभ्रंश ने अवहट्ट का रूप धारण कर लिया। इस भाषा में कीर्तिलता, प्राकृतपैंगलम् आदि ग्रंथों की रचना हुई जिनका प्रभाव परवर्ती कवियों पर स्पष्ट झलकता है।

बाण कवि ने अपने मित्र भाषाकवि ईशान का उल्लेख किया है। साथ ही प्राकृत कवि वायुविकार के उल्लेख से स्पष्ट है कि ईशान अपभ्रंश भाषा का कवि रहा होगा। महाकवि पुष्पदंत ने अपने अपभ्रंश महापुराण की भूमिका में ईशान का बाण के साथ उल्लेख किया है।

प्राकृत और अपभ्रंश का अंतर

जहाँ प्राकृत के अधिकांश शब्द दीर्घस्वरांत होते हैं, अपभ्रंश के अधिकांश शब्द ह्रस्वस्वरांत देखे जाते हैं। जैकोबी[1] और अल्सडार्फ[2] ने इस अंतर पर बड़ा बल दिया है। यद्यपि इसनियम में कहीं कहीं अपवाद भी मिलता है किंतु इसके दो ही कारण होते हैं—(१) या तो साहित्यिक प्राकृत के प्रभाव से अपभ्रंश के शब्द दीर्घस्वरांत बन जाते हैं, (२) अथवा जब ह्रस्व स्वर अंत में आ जाते हैं तो उन्हें दीर्घ करना आवश्यक हो जाता है।

अपभ्रंश में भाषा के सरलीकरण की प्रक्रिया प्राकृत से आगे बढ़ी। इस प्रकार प्राकृत की विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ यहाँ आकर भली प्रकार विकसित हो उठीं। क्रियापदों के निर्माण, सुबंत, तिङन्त रूपों एवं कारक संबंध की अभिव्यक्ति में अपभ्रंश ने प्राकृत से सर्वथा स्वतंत्र पथ अपनाया। इस प्रकार अपभ्रंश में प्राकृत से कई मूल अंतर धातुरूपों, शब्दरूपों, परसर्गों के प्रयोग आदि में दिखाई पड़ता है।

(१) अपभ्रंश में कृदंतज रूपों का व्यवहार बढ़ने से तिङन्त रूपों का प्रयोग अत्यंत सीमित हो गया। हम आगे चलकर इसपर अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

---

१. जैकोबी—सनत्कुमार चरितम्, पृष्ठ ६।

२. अल्सडार्फ—अपभ्रंश स्टूडिएन, पृष्ठ ६-७।

(२) लिंगभेद को प्रायः मिटाकर अपभ्रंश ने शब्दरूपों को सरल बना दिया। स्त्रीलिंग शब्दों की संख्या नगण्य करके नपुंसक लिंग को सर्वथा बहिष्कृत कर दिया गया। अतः पुल्लिग रूपों की प्रधानता हो गई।

(३) आठ कारकों के स्थान पर तीन कारकसमूह—(क) कर्ता-कर्म-संबोधन, (ख) करण अधिकरण, (ग) संप्रदान, अपादान एवं संबंध रह गए।

(४) अपभ्रंश की सबसे बड़ी विशेषता परसर्गों का प्रयोग है। लुप्त-विभक्तिक पदों के कारण वाक्य में आनेवाली अस्पष्टता का निवारण करने के लिये परसर्गों का प्रयोग अनिवार्य हो गया।

(५) देशज शब्दों एवं धातुओं को अपनाने से तथा तद्भव शब्दों के प्रचलित रूपों को ग्रहण करने से प्राकृत से भिन्न एक नई भाषा का स्वरूप निखरना।

(६) डा० टेस्सिटोरी ने एक अंतर बहुत ही स्पष्ट किया है। प्राकृत के अंतिम अक्षर पर विद्यमान अनुस्वार को उसके पूर्ववर्ती स्वर को ह्रस्व करके अपभ्रंश में अनुनासिक कर दिया जाता है।

(७) व्यंजनद्वित्व के स्थान पर एक व्यंजन लाने के लिये क्षतिपूर्ति के हेतु आद्य अक्षर का दीर्घीकरण।

(८) अंत्य स्वरों का ह्रास एवं समीपवर्ती स्वरों का संकोच—जैसे, प्रिया > पिय।

(९) उपांत्य स्वरों की मात्रा को रक्षित रखना। गोरोचण > गोरोअण।

(१०) पुरुषवाचक सर्वनामों के रूप में कमी।

(११) शब्द के आदि अक्षर के स्वर को सुरक्षित रखना, जैसे—ग्राम > गांम; ध्यान > झाण। पर कहीं कहीं लोप भी पाया जाता है, जैसे—अरण्ण > रण्ण।

(१२) 'य', 'व' श्रुति का सन्निवेश पाया जाता है, जैसे,—सहकार > सहयार।

(१३) आदि व्यंजन को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। आदि व्यंजन का महाप्राणकरण भी पाया जाता है, जैसे—स्तब्ध > ढड्ढ, भगिनी > बहिणि।

प्राकृत एवं आधुनिक आर्य भाषाओं के मध्य संबंध जोड़नेवाली श्रृंखला के विषय में विद्वानों के दो वर्ग बन गए हैं। पिशेल, ग्रियर्सन, भंडारकर, चैटर्जी तथा वुलनर का मत है कि प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के मध्य अपभ्रंश नामक जनभाषा थी जिसकी विभिन्न बोलियों में कुछेक विकसित होकर देशभाषा का रूप धारण कर सकीं। दूसरा वर्ग जैकोबी, कीथ और आल्सफोर्ड का है जो इस मत से सहमत नहीं। उनका मत है कि अपभ्रंश किसी जनभाषा का साहित्यिक रूप नहीं अपितु प्राकृत का ही रूपांतर है जो सरलीकरण के आधार पर बन पाया था। इसकी शब्दावली तो प्राकृत की है केवल देशी भाषा के आधार पर संज्ञा एवं क्रियारूपों की छटा इसमें दिखाई पड़ती है। कभी कभी तो इस भाषा में प्राकृत जैसी ही रूपरचना देखने में आती है।

परवर्ती अपभ्रंश

उक्त दोनों प्रकार के विचारक अपने अपने मत के समर्थन में युक्ति एवं प्रमाण उपस्थित करते हैं। संभवतः सर्वप्रथम सन् १८४६ ई० में विक्रमोर्वशी नाटक का संपादन करते हुए बोल्लेनसेन (Bollensen) ने चतुर्थ अंक की अपभ्रंश को बोलचाल की भाषा (Volksdialekt, Volksthu-) mliche Skrache) घोषित किया। उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश के सुबंत, तिङन्त, समास और तद्धित की विशेषताएँ दिखाकर यह सिद्ध किया कि अपभ्रंश उस काल की बोलचाल की भाषा थी। इस भाषा की विशेषताओं को आगे चलकर ब्रजभाषा ने आत्मसात् कर लिया।

दूसरे भाषाशास्त्री हार्नली (Hornle) ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जिस समय शौरसेनी प्राकृत नितांत साहित्यिक भाषा बन गई थी उस समय उसकी अपेक्षा अधिक विकृत होकर अपभ्रंश सामान्य जनता के व्यवहार का वाहन बन रही थी। आपका निश्चित मत है कि आर्यभाषाओं के विकासक्रम में प्राकृत कभी जनसामान्य की बोलचाल की भाषा नहीं रही, किंतु इसके विपरीत मागधी एवं शौरसेनी अपभ्रंश ऐसी बोलचाल की भाषाएँ रही हैं जिन्होंने आगे चलकर आधुनिक आर्यभाषाओं को जन्म दिया।

पिशेल का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि शुद्ध संस्कृत से भ्रष्ट होनेवाली भाषा अपभ्रंश है। उन्होंने पतंजलि[1] और दंडी[2] के मतों में

---

१. एकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः।

२. शास्त्रेषु संस्कृतादनयदपभ्रंशयोऽदितम्।

समन्वय स्थापित करते हुए अपना मत स्थिर किया है। उनका मत है कि अपभ्रंश भारत की जनबोली रही है और इसे एक प्रकार की देशभाषा समझना चाहिए। पिशेल ने प्राकृत के टीकाकार रविकर[1] और वाग्भट[2] के मतों को समन्वित करते हुए अपना यह मत बनाया है। उन्होंने यह घोषित किया कि कालक्रम से प्राकृत एवं आधुनिक भाषाओं के मध्य शृंखला जोड़नेवाली भाषा अपभ्रंश है। आगे चलकर ग्रियर्सन, भांडारकर एवं चैटर्जी ने इसका समर्थन किया।

जैकोबी ने पिशेल के उक्त मत का बलपूर्वक खंडन किया। उन्होंने कहा कि अपभ्रंश कभी देशभाषा हो नहीं सकती। उनका कथन है कि यद्यपि प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश में देशी शब्दों की कहीं अधिक संख्या है किंतु देशी शब्दों से ही अपभ्रंश भाषा नहीं बनी है। यह ठीक है कि देशी और अपभ्रंश शब्दों में बहुत अंतर नहीं होता और हेमचंद्र ने अनेक ऐसे शब्दों को अपभ्रंश माना है जो देशीनाममाला में भी पाए जाते हैं। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि अपभ्रंश एवं ग्रामीण शब्दों में बहुत ही सामीप्य रहा है। किंतु दोनों को एक समझना भी बुद्धिमानी नहीं होगी। उन्होंने दंडी के इस मत का समर्थन किया कि "आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृतः" अर्थात् आभीरादि की बोलियाँ काव्य में प्रयुक्त हों तो वे अपभ्रंश कहलाती हैं।

जैकोबी का समर्थन और ग्रियर्सन का खंडन करते हुए डा० कीथ ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अपभ्रंश एकमात्र साहित्यिक भाषा थी जिसका उद्भव सिंधु देश के प्राकृत काव्य में आभीरों की पदावली के संमिलन से हुआ। आभीरों ने तत्कालीन (३०० ई० से ६०० ई० तक) पंजाब की प्राकृत में अपनी जनबोली का मिश्रण कर अपनी सभ्यता के प्रचारार्थ पंजाब से बिहार तक अपभ्रंश साहित्य को विकसित किया। कीथ के इस सिद्धांत के अनुसार अपभ्रंश वास्तव में जनभाषा नहीं अपितु साहित्यिक प्राकृत में पश्चिमी बोली की चाशनी देकर बनी काव्यभाषा है। उनके मतानुसार अपभ्रंश कभी देशभाषा नहीं रही। अतः प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य वह शृंखला कभी नहीं बन सकती।

---

१. अपभ्रंश दो प्रकार का है। प्रथम तो प्राकृत से विकसित हुई और सुबन्त और तिङन्त में उससे बहुत दूर नहीं हटी। दूसरी देशभाषा के रूप में थी।

२. किसी भी प्रांत की शुद्ध बोलचाल की भाषा है और साहित्यिक रूप धारण करने पर संस्कृत, प्राकृत और पैशाची के सदृश बन जाती है।

आल्सफोर्ड ने भी जैकोबी के मत का समर्थन करते हुए कहा कि अपभ्रंश एकमात्र काव्यभाषा थी क्योंकि गद्य में उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं। उन्होंने अपभ्रंश को (Weiler fortgeschrittenen volks-sprache) प्राकृत एवं जनभाषा का मिश्रण माना। उनका कथन है कि जब प्राकृत साहित्य जनभाषा से बहुत दूर हटने के कारण निष्प्राण होने लगा तो उसे जनभाषा का शीतल छींटा डालकर पुनरुजीवित किया गया। अतः अपभ्रंश को जनभाषा कहना धृष्टता होगी क्योंकि प्राकृत की शब्दावली एवं भाषाशैली तद्वत् बनी रही उसमें केवल जनभाषा के सुबंत तिङन्त का ही समावेश हो पाया।

ग्रियर्सन ने अपभ्रंश के उद्भव का मूल सिद्धांत पिशेल से ग्रहण करके उसे भली प्रकार विकसित किया। उन्होंने प्रमाणित किया कि अपभ्रंश वास्तविक जनभाषा ही थी जो क्रमशः विकसित होती हुई बोलचाल की प्राकृत एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के मध्य शृंखला स्थापित करनेवाली बनी। ग्रियर्सन का कथन है कि जब द्वितीय प्राकृत (मागधी, शौरसेनी आदि) साहित्यिक भाषा बनकर व्याकरण के नियमों एवं विविध विधि विधानों से जकड़ने के कारण इतनी रूढ़ हो गई कि प्रचलित बोलचाल की भाषा से इसने सर्वथा संबंध विच्छेद कर लिया, उस समय सप्राण जनभाषाएँ निरंतर विकसित होती गईं और कालांतर में उन जनभाषाओं से अधिक संपन्न होती गईं जिनके आधार पर प्राकृत भाषाएँ निर्मित हुई थीं। इन्हीं सप्राण जन-भाषाओं का साहित्यिक स्वरूप अपभ्रंश विकसित होकर आधुनिक आर्य-भाषाओं के रूप में परिणत हो गया। इस प्रकार अपभ्रंश भाषाएँ एक ओर तो प्राकृत के समीप पहुँचती हैं और दूसरी ओर आधुनिक आर्यभाषाओं को स्पर्श करती हैं।

ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'लैंग्वेजेज आफ इंडिया' में अपभ्रंश का बड़ा व्यापक लक्षण किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने उस जनभाषा को भी संनिविष्ट कर लिया है जो प्राकृत भाषाओं का आधार थी। इस प्रकार उन्होंने प्रारंभिक अपभ्रंश और साहित्यिक अपभ्रंश कहकर अपभ्रंश के दो भेद किए हैं। जन-भाषाएँ स्थानभेद के कारण भिन्न भिन्न अपभ्रंश रूपों में विकसित होती गईं। किंतु सबका नाम देशभाषा रखा गया। ग्रियर्सन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि देशभाषाएँ अनेक थीं किंतु उनमें नागर जनभाषा ही सबसे अधिक विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण कर सकी। मार्कंडेय एवं राम तर्कवागीश

ने जिन २७ प्रकार के अपभ्रंशों का उल्लेख किया है वे वास्तव में केवल नागर अपभ्रंश के विविध रूप हैं जिन्होंने दूरी के कारण अल्प परिवर्तित रूप धारण कर लिया। यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि नागर के अतिरिक्त अन्य देशभाषाओं ने भी वर्णनात्मक कविता का साहित्य सृजन किया तथापि नागर अपभ्रंश की उत्कृष्टता के संमुख वे साहित्य संचय के योग्य नहीं प्रतीत हुए। अतः उनका उल्लेख अनावश्यक प्रतीत हुआ।

भंडारकर, चैटर्जी और बुलनर ने ग्रियर्सन के इस मत का समर्थन किया। इन भाषाशास्त्रियों ने प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्य अपभ्रंश को शृंखला की एक कड़ी माना। भंडारकर ने स्पष्ट किया कि आधुनिक आर्यभाषाओं के शब्द एवं उनकी व्याकरण संबंधी रूपरचना या तो अपभ्रंश से साम्य रखती है अथवा उससे उद्भूत है। अपभ्रंश में व्याकरण के जिन प्रारंभिक रूपों का दर्शन होता है वे ही आधुनिक आर्यभाषाओं में विकसित दिखाई पड़ते हैं।

चैटर्जी ने ग्रियर्सन के अपभ्रंश संबंधी मत का पूर्णतया विवेचन करके यह सिद्ध किया कि शौरसेनी अपभ्रंश भाषा इतनी अधिक शक्तिशाली बन गई कि अन्य सभी अपभ्रंशों ने उसकी प्रभुता स्वीकार करके उसके संमुख माथा टेक दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक एवं सांस्कृतिक भाषा के रूप में शौरसेनी अपभ्रंश का समस्त उत्तर भारत में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। मध्य देश में स्थित राजपूती केंद्रों की राजसभाओं में समादृत होने के कारण शौरसेनी अपभ्रंश की वैभववृद्धि हुई ही, पश्चिमी भारत में भी जैन मुनियों के प्रभूत साहित्य के कारण इसकी पावनता निखर उठी।

लकोट[1] (Lacote) ने भी यह स्वीकार किया है कि अपभ्रंश प्रारंभ में बोलचाल की जनभाषा थी किंतु कालांतर में वही साहित्यिक भाषा में परिणत हो गई। लकोट का मत है कि प्राकृत कभी बोलचाल की स्वाभाविक भाषा नहीं थी, वह केवल कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी जिसका निर्माण रूढ़िबद्ध नियमों के आधार पर होता रहा। उनका कथन है कि प्राकृत भाषा का मूलाधार अपभ्रंश थी जो जनभाषा रही पर भारतीय भाषाओं के क्रमिक विकास में प्राकृत भाषा का उतना महत्व नहीं जितना अपभ्रंश का क्योंकि अपभ्रंश स्वाभाविक बोलचाल की भाषा थी पर प्राकृत कृत्रिम।

---

१. Lacote—Essay on Gunadhya and the Brihat Katha.

प्रो० सुकुमार सेन[1] भी इस विषय में लकोट के मत से सहमत हैं। वे प्राकृत के उपरांत अपभ्रंश का उद्भव नहीं मानते। उनका कथन है कि प्राकृत के मूल में विभिन्न अपभ्रंश भाषाएँ थीं जो बोलचाल के रूप में व्यवहृत होती थीं।

विविध भाषाशास्त्रियों के उपर्युक्त मतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रंश किसी न किसी समय में देशभाषा अर्थात् प्रचलित बोलचाल की भाषा थी जिसका विकसित रूप आधुनिक आर्यभाषाओं में दिखाई पड़ता है। इसके विकासक्रम के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत का समन्वय करते हुए संक्षेप में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

(१) भरतमुनि के समय में अपभ्रंश जनबोली थी।

(२) इस भाषा के आधार पर संस्कृत नाटकों के उपयुक्त कृत्रिम प्राकृत भाषाएँ निर्मित होती गईं।

(३) जब प्राकृत भाषा ने जनसंपर्क त्याग कर एकमात्र साहित्यिक रूप धारण कर लिया और जनसामान्य के लिये वह नितांत दुर्बोध होती गई तो (प्राकृत काल में) जनभाषा में निर्मित होनेवाली स्वाभाविक काव्यधारा फूट पड़ी और ६ठी शताब्दी में वह काव्य के रूप में प्रकट हो गई। ६ठी शताब्दी के उपरांत कृत्रिम प्राकृत काव्यधारा एवं अपभ्रंश की स्वाभाविक काव्यधारा साथ साथ चलती रहीं। अपभ्रश काव्य ने जनसंपर्क रखने का प्रयास किया किंतु साहित्यशास्त्र के विधि विधानों से बँध जाने के कारण वह भी क्रमशः जटिलता की ओर झुकने लगा। बारहवीं शताब्दी तक आते आते वह भी राजसभा की विद्वन्मंडली तक परिसीमित हो चला और सामान्य जनसमुदाय के लिये सरल एवं सुबोध नहीं रह पाया।

(४) ६ठी शताब्दी पूर्व से जनभाषा अपभ्रंश अपने स्वाभाविक पथ पर शताब्दियों तक चलती रही। जनकवियों ने साहित्यिक कवियों का मार्ग

---

१. The Prakrits do not come into the direct line of development of the Indo-Aryan speech, as these were the artificial generalisations of the second phase of the N I A., which is sepresented by early Apabhramsas. Thus, the spoken speeches at the basis of the Pkts are the various Aps.—J. A. S., Vol. XXLL, p. 31.

त्याग कर सरल पद्धति में अपनी रचना जारी रखी थी। बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक आते आते अपभ्रंश साहित्य की दुर्बोधता के कारण जनता ने इन सहज कवियों को प्रोत्साहन दिया जो जनभाषा के विकसित रूप में गेय पदों की प्रभूत रचना कर रहे थे। इन गेय पदों का जनता ने इतना संमान किया कि उमापति एवं विद्यापति जैसे संस्कृत के धुरंधर पंडितों को भी अपने नाटकों में गीतों के लिये स्थान देना पड़ा।

(५) बारहवीं शताब्दी के मध्य से ही हमें अपभ्रंश के ऐसे कवि मिलने लगते हैं जो अपभ्रंश के उस परवर्ती रूप को जिसमें शब्द-रूप-रचना की सरलता एक पग आगे बढ़ी हुई दिखाई पड़ती है, स्वीकार किया। यहीं से आधुनिक भाषाओं का बीजारोपण प्रारंभ हो गया और अवहट्ठ भाषा का रूप निखरने लगा।

सारांश यह है कि जनबोलियाँ अपने स्वाभाविक रूप में चलती गईं, यद्यपि उन्हीं के आधार पर निर्मित काव्य की कृत्रिम भाषाएँ अपना नवीन रूप ग्रहण करती रहीं। इस प्रकार वैदिक काल की जनभाषा, पाली-प्राकृत एवं अपभ्रंशकाल की काव्यभाषाओं को जन्म देती हुई स्वतः स्वाभाविक गति से अवहट्ट में विद्यमान दिखाई पड़ती है। यद्यपि इसमें दहमुहु, भुवणमयंकरु, तोसिय, संकरु, णिग्गउ, णिग्गअ, चडिउ, चउमुह, लाइवि, सायर, तल, रयण, अग्गिअ, जग, वाअ, पिअ, अज्ज, कज्ज आदि अनेक शब्द प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनों में विद्यमान हैं तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि अपभ्रंश ने इन शब्दों को प्राकृत से उधार लिया है। तथ्य तो यह है कि ये शब्द सरलता की ओर इतने आगे बढ़ चुके थे कि इनमें अधिक सरलीकरण की प्रक्रिया संभव थी ही नहीं।

अपभ्रंश के प्रमुख भेद

भाषावैज्ञानिकों ने पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनी) और पूर्वी अपभ्रंश के साम्य एवं वैषम्य पर विचार करके इनकी तुलना की है। ग्रियर्सन, चैटर्जी

पश्चिमी और पूर्वी

आदि का मत है कि उक्त दोनों प्रकार के अपभ्रंशों में कोई तात्विक भेद नहीं। अब यह प्रश्न उठता है कि यदि पूर्वी अपभ्रंश मागधी प्राकृत से उद्भूत है और पश्चिमी अपभ्रंश शौरसेनी से तो दोनों में अंतर कैसे न होगा? हम पहले देख चुके हैं कि शौरसेनी प्राकृत की प्रकृति मागधी प्राकृत से बहुत ही भिन्न

है। ऐसी स्थिति में दो परिवार की भाषाओं में अंतर होना स्वाभाविक है। फिर इन दोनों मतों का सामंजस्य कैसे किया जाय ?

ग्रियर्सन ने इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि पश्चिमी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप केवल शौरसेन देश तक सीमित नहीं था। यह तो संपूर्ण भारत की सांस्कृतिक भाषा मान ली गई थी। अतः आंचलिक संकीर्णता को पारकर यह सार्वदेशिक भाषा बन चुकी थी। यद्यपि दूरी के कारण उसपर स्थानीय भाषाओं का प्रभाव कहीं कहीं परिलक्षित होता है, पर वह प्रभाव इतना क्षीण है कि पश्चिमी अपभ्रंश के महासागर में स्थानीय भाषाओं की सरिताएँ विलीन होती दिखाई पड़ती हैं और वे एक महती भाषा की उपभाषाएँ प्रतीत होती हैं।

डा० चैटर्जी ने पश्चिमी अपभ्रंश के महत्वशाली बनने के कारणों पर प्रकाश डाला है। उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि पूर्वी भारत में पश्चिमी अपभ्रंश के प्रचार का कारण था ९वीं से १२वीं शताब्दी के मध्य उत्तर भारत में राजपूतों का राजनैतिक प्रभाव। उन राजपूतों के घरों में शौरसेनी अपभ्रंश से साम्य रखनेवाली जनभाषा बोली जाती थी और राजदरबारों में राजकवि साहित्यिक अपभ्रंश की काव्यरचना सुनाते थे। राजपूतों के प्रभाव एवं राजकवियों के साहित्यसौष्ठव से मुग्ध पूर्वी भारत भी इसी अपभ्रंश में काव्यसृजन करने लगा। अतः पंजाब से बंगाल तक इस भाषा का प्रचार फैल गया। पूर्वी भारत के कवियों ने प्राकृत और संस्कृत के साथ साथ शौरसेनी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का अध्ययन किया। इस प्रकार शौरसेनी अपभ्रंश पूर्वी भारत में भी सर्वत्र साहित्यिक भाषा मान ली गई[1]।

---

1. Duing the 9th-12th centuries, through the prestige of North Indian Rajput princely houses, in whose courts dialects akin to this late form of Sauraseni were spoken, and whose bards cultivated it, the Western or Sauraseni Apabhramsa became current all over Aryan India, from Gujrat and Western Punjab to Bengal, probably as a Lingua Franca, and certainly as a polite language, as a bardic speech which alone was regarded as suitable for poetry of all sorts.

—Chatterjee, 'The Origin and Development of the Bengali Language', Page 113

जैकोबी ने भी पूर्वी भारत में शौरसेनी अपभ्रंश का महत्व स्वीकार किया है। उन्होंने यही निर्णय किया है कि गौड़देश की साहित्यिक रचना पर मागधी प्राकृत का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। डा० घोषाल ने जैकोबी से भिन्न प्रतीत होनेवाले मतों का सामंजस्य करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'पूर्वी अपभ्रंश वास्तव में पश्चिमी भारत से पूर्व देश में आई। इस अपभ्रंश का मूल भी अन्य अपभ्रंशों की भाँति प्राकृत में विद्यमान था और वह प्राकृत शौरसेनी थी जो पश्चिमी भारत की मान्य साहित्यिक भाषा थी। यद्यपि गौड़ देश में मागधी प्राकृत विद्यमान थी किंतु पूर्वी अपभ्रंश पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार मागधी प्राकृत से उत्पन्न मागधी अपभ्रंश पूर्वी अपभ्रंश से सर्वथा भिन्न रही[1]।'

अवहट्ट का स्वरूप

हम पहले संकेत कर चुके हैं कि गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश किस प्रकार राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन थी। जनसामान्य के कार्यव्यवहार से लेकर राजसभा की मंत्रणा तक यही भाषा—स्थानीय विशेषताओं को आत्मसात् करती हुई—सर्वत्र प्रयोग में आती थी। पंद्रहवीं शताब्दी आते आते इस भाषा के एकच्छत्र अधिकार पर विवाद उठने लगा और मैथिली, राजस्थानी, बंगाली, गुजराती, महाराष्ट्रीय आदि आधुनिक भाषाओं को क्रमशः शौरसेनी अपभ्रंश का एकाधिकार असह्य होने लगा। अतः पश्चिमी अपभ्रंश में अधिकाधिक आंचलिक भाषाओं को संमिश्रित कर एक नई भाषा निर्मित हुई जो 'अवहट्ट' नाम से अभिहित हुई। डा० चैटर्जी कहते हैं—

---

1. "Eastern Ap. was a literary speech imported from Western India and was, in fact, foreign to the eastern region. The basis of this Ap., as of all other kinds, was Pkt. which was current as a literary dialect in the West. In the kingdom of Gauda there was another Pkt. which was called Magadhi. But this Mag. had nothing to do with the Eastern or Buddhist Ap. As such, the Mag. Ap. or the actual descendant of the Mag. Pkt. was absolutely different from this Eastern Ap. and had no ostensible contribution to the formation of the latter."

J. A. S., Vol. XXII, Page 19

A younger form of this Sauraseni Apabhramsa, intermediate in forms and in general spirit to the genuine Apabhramsa of times before 1000 A. C. and to the Braj Bhakha of the Middle Hindi period say, of the 15th. century, is sometimes known as 'Avahattha'

स्थूलिभद्र फाग, चर्चरिका, संदेशरासक, कीर्तिलता, वर्णरत्नाकर, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, प्राकृतपैंगलम्, मूल पृथ्वीराजरासो, आदि में इसी भाषा का दर्शन होता है। रासों की यही भाषा थी क्योंकि हिंदू राजदरबारों में भाटगण इसी भाषा का मूलतः प्रयोग करते थे। हमारे अधिकांश रासों की यही भाषा रही है।

इस अवहट्ट भाषा का प्रयोग काशी, मिथिला, बंगाल एवं आसाम के कवि भी किया करते थे। बँगला भाषा के गर्भकाल में बंगाल के सभी कवि, जिनकी यह मातृभाषा नहीं थी, प्रसन्नतापूर्वक इस भाषा का उपयोग करते। परिणामतः बंगाल में विरचित सहजिया (बौद्ध) साहित्य इसी अवहट्ट में विरचित हुआ। मातृभाषा अवहट्ट न होने से बंगाल के कवियों ने स्वभावतः आंचलिक शब्दों का खुल्लमखुल्ला प्रयोग किया है जिससे भाषा और भी रसमयी बन गई है।

मिथिला में इस अवहट्ट का प्रयोग विद्यापति के समय तक तो विधिवत् पाया जाता है। विद्यापति ने अवहट्ट में व्रजभाषा एवं मैथिली का स्वेच्छा-पूर्वक प्रयोग किया। इस महाकवि का प्रभाव परवर्ती वैष्णव कवियों पर भली प्रकार परिलक्षित होता है। अतः वैष्णव रास की भाषा समझने के लिये मिथिला की अवहट्ट का रूप स्पष्ट हो जाना चाहिए। बिहार के अन्य कवियों में सरहपाद ने दोहाकोश में इसी भाषा को अपनाया है। इस भाषा की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए राहुलजी कहते हैं—(१) "इस भाषा में भूतकाल के लिये 'इल' का प्रयोग मिलता है। फुल्लिल्ल, गेल्लिअहुं, झंपाविल्ल जैसे इल प्रत्ययांत शब्द मौजूद हैं, जिनका इस्तेमाल आज भी भोजपुरी, मगही, मैथिली, बँगला में प्रायः वैसा ही होता है। (२) विनयश्री प्राकृत अपभ्रंश की चरम विकारवाली 'व्यंजन स्थाने स्वर' की परंपरा को छोड़ तत्सम रूप की ओर लौटते दिखाई देते हैं।"

इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। हम परवर्ती अपभ्रंश के प्रसंग में इन विशेषताओं का उल्लेख कर आए हैं। इनका प्रभाव वैष्णव रासों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

रासों की भाषा में ध्वनिपरिवर्तन के नियम प्राकृत से कहीं कहीं भिन्न दिखाई पड़ते हैं। यहाँ संदेशरासक के निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

१. ह्रस्व को कई प्रकार से दीर्घ बना देना—	प्रवास > पावास
	प्रसाधन > पासाहरण
	कणति > कुणाइ
	हृत > हीय
	सभय > सब्भय
	परवश > परवस > परव्वस
	तुषार > तुसार > तुस्सार
दीर्घ को ह्रस्व बनाना—	ज्वाला > झल
	शीतल > सियल
	भूत > हुय
	निर्भ्रांत > निभंति
	संमुख > समुह
२. स्वर में परिवर्तन—	शशधर > ससिहर
	अक्षोट > ईखोड
अ का उ होना—	अंजलि > अंजुलि
	पद दंडक > पउदंडउ
इ का अ होना—	विरहिणि > विरहणि
	धरित्री > धरत्ति
उ का अ होना—	कुसुम > कुसम
३. इ का य और य का इ होना—	रति > रय
	रति > रय
	आयन्नहिं > आइन्निहिं
४. उ का व होना—	नूपुर > णेउर > णेवर
	गोपुर > गोउर > गोवर
५. ए का इ होना—	पेक्खइ > पिक्खइ
	ऐम > इम

६. ओ का उ होना— मौक्तिक > मोक्तिक > मुत्तिय

७. प्रारंभिक स्वर का लोप— अरण्य > अरण्ण > रन्न
अरविंद > रविंद

व्यंजन में परिवर्तन

१. न् का ण् और क् का ग् होना— अनेक > अणेग

२. म् का व् होना— रमणीय > रवणिज्ज
मन्मथ > वम्मह

३. स् का ह् होना— संदेश > संदेस > संनेह
दिवस > दियह

४. ह् का लोप होना— तुहुँ < तूँ
तुह > तुअ

५. थ् का ह् होना— पथिक > पहिय

संयुक्ताक्षर में परिवर्तन— आश्चर्य > अचरिय
चतुष्क > चउकय
शष्कुलिका > सक्कुलिय
> सकुलिय
निद्रा > निंद
मुग्धा > मुंध
एकत्र > एकत्ति
एकस्थ > इकट्ठ
उच्छ्वास > ऊसास

रास की भाषा में लुप्तविभक्तिक पदों का बहुल प्रयोग मिलता है।

कारकरचना

उदाहरण के लिये संदेशरासक के उद्धरण देखिए—

कर्त्ता कारक—लहि छिद्दु वियंभिउ **विरह** घोर—रौद्रो विरहः छिद्रं लभित्वा।

कर्मकारक—तूरारवि तिहुयण बहिरयंति—तूर्य रवेण त्रिभुवनं वधिरयंति।

करण कारक—णियघरणिय सुमरंत **विरह** सवसेय कय—निज गृहिणी [:]
स्मरंतः विरहेण
वशीकृताः।

संबंध कारक—**अवर** कहव वरमुद्ध हसंतिय अहरयलु–अपरस्या वरमुग्धाया
हसंत्या अधर दलं

अधिकरण—णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय

[नूपुर चरणाभ्यां विलग्य निर्बलत्वात् पतिता]

निर्विभक्तिक कारक रूपों में भ्रम से बचने के लिये तणि[1], रेसि, लग्गि तहुं[2] का होंतओ, तणेण, करेअ, केर, मज्झि आदि परसर्गों का प्रयोग मिलता है।

पूर्वकालिक क्रिया बनाने के लिये इति, अवि, एवि, एविणु, अप्पि, इय, इ प्रत्यय लगाए जाते हैं। उदाहरण के लिये संदेशरासक के उदाहरण देखिए—छुट्टिवि, भंमवि, मन्नाएवि लेविणु, दहेविकरि इत्यादि।

तव्यार्थ क्रिया बनाने के लिये—इव्वउ,[3] इय, इज्ज प्रत्यय लगाते हैं। कर्मवाच्य बनाने के लिये 'आण'[4] का प्रयोग करते हैं—

पुरुषवाचक सर्वनाम

सर्वनाम का रूप

		उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष
एकवचन	कर्ता	हउ (हउँ)	तुहु, तूँ
	कर्म	मइ	
	करण	मइ	—तइ
	संबंध	मइ	—पइ
	अधिकरण	मह, महु	तुअ (तुय), तुह, तुज्झ,
बहुवचन	करण	अम्हिहि	तुम्हेहिं, तुम्हि
	अधिकरण	अम्ह	

———

१. संबंध वाचक के अर्थ में—तसु लइ मइ तणि खिद गहु। (सं० रा०, ६४)

२. अपादान के अर्थ में—तिह हुंतउ हउँ इक्कि लेहउ पेसियउ। (सं० रा०, ६५)

३. तिह पुरउ पढिव्वउ गहु वि ए उ। (सं० रा०, २०)

४. वे वि समाणा इत्था (सं० रा०, ८०)

वैष्णव रास की भाषा

बारहवीं शताब्दी में जयदेव नामक एक ऐसा मेधावी वैष्णव कवि आविर्भूत हुआ जिसने जनभाषा के साहित्य में क्रांति उत्पन्न कर दी। बंगाल के इस कवि की दो कविताएँ सोलहवीं शताब्दी में 'गुरुग्रंथ' में संकलित मिलती हैं। भाषाशास्त्रियों ने उनकी भाषा का परीक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ये संभवतः पश्चिमी अपभ्रंश में विरचित हुई होंगी क्योंकि अधिकांश शब्दों का प्रथमांत उकारबहुल है जो पश्चिमी अपभ्रंश की विशेषता रही है। दूसरा प्रमाण यह है कि 'गीतगोविंद' की शैली एवं मात्रावृत्त संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक समीप है। पिशेल का तो मत है कि गीतगोविंद के गीत मूलतः उस पश्चिमी अपभ्रंश में लिखे गए जिनका पूर्वी भारत में प्रचलन था। तीसरा प्रमाण यह है कि 'प्राकृतपैंगलम्'[1] में गीत-गोविंद की पदशैली एवं भावविधान में विरचित कई ऐसे पद हैं जो अवहट्ट भाषा के माने जाते हैं। अतः भाषाशास्त्रियों[2] ने यही अनुमान लगाया है कि जयदेव ने इन गीतों की रचना परवर्ती अपभ्रंश में की होगी। जगन्नाथ-पुरी देवालय के एक शिलालेख (१४९९ ई०) से यह ज्ञात होता है कि गीतगोविंद के गीतों का गायन जगन्नाथ की प्रतिमा के संमुख बड़े धूमधाम से होता था। संभव है, रथयात्रा के समय इनका अभिनय भी होता रहा हो क्योंकि चैतन्य महाप्रभु ने उसी परंपरा में आगे चलकर रासलीला का अभिनय अपनी साधुमंडली के साथ किया था।

गीतगोविंद की भाषा को यदि अपभ्रंश स्वीकार कर लें तो इसके संस्कृत रूपांतर एवं अपभ्रंश में अनुपलब्ध वैष्णव रास के कारणों का अनुमान लगाना दुष्कर नहीं रह जाता। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव विद्वान् रास का रहस्य अत्यंत गुह्य समझकर राधा कृष्ण की घोर शृंगारी लीला को सामान्य जनता के संमुख रखने के पक्ष में नहीं थे। अतः उन्होंने रास को अपभ्रंश में विरचित नहीं होने दिया और जयदेव जैसे कवि ने प्रयास भी किया तो उनकी रचना का पंडितों ने संस्कृत में रूपांतर कर दिया।

---

१. प्राकृत पैंगलम्—पृष्ठ ३३४, ५७०, ५७६, ५८१, ५८६
2. Dr. S. K. Chatterjee. O. D. B. L. Page 126

हमें वैष्णव रास के प्राचीन उद्धरण नरसिंहमेहता, सूरदास, नंददास तथा बंगाली कवियों के प्राप्त हुए हैं। हम उन्हीं के आधार पर वैष्णव रास की भाषा का विवेचन करेंगे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वैष्णव कवियों को धर्मोपदेश के लिये संतसिद्धों की भाषा पैतृक संपत्ति के रूप में मिली थी। संपूर्ण उत्तर भारत में सिद्ध-संत-महात्माओं ने किस प्रकार एक जनभाषा का निर्माण किया इसका मनोरंजक इतिहास संक्षेप में देना उचित होगा।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना यथेष्ट होगा कि ब्रजबुलि में उपलब्ध रास-साहित्य पर हिंदी, बँगला, गुजराती आदि देशी भाषाओं का उसी प्रकार समान अधिकार है जिस प्रकार सिद्ध संतों के साहित्य पर। सोलहवीं शताब्दी में पंजाब में संकलित मराठी, गुजराती, हिंदी, बंगाली संत महात्माओं की वाणियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि उस काल तक आधुनिक भाषाएँ एक दूसरे से इतनी दूर नहीं चली गई थीं जितनी आज दिखाई पड़ती हैं। इसी तथ्य को प्रकट करते हुए राहुल जी कहते हैं—"हम जब इन पुराने कवियों की भाषा को हिंदी कहते हैं तो इसपर मराठी, उड़िया, बँगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषाभाषियों को आपत्ति हो सकती है। लेकिन हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है, कि यह पुरानी भाषा मराठी आदि की अपनी साहित्यिक भाषा नहीं। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है, जितना हिंदी भाषाभाषियों को। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दिखाई पड़ती हैं। जिस समय (आठवीं सदी में) अपभ्रंश का साहित्य पहले पहल तैयार होने लगा था, उस वक्त बँगला आदि उससे अलग अस्तित्व नहीं रखती थीं। यह भाषा वस्तुतः सिद्ध सामंतयुगीन कवियों की उपर्युक्त सारी भाषाओं की संमिलित निधि है।'

आधुनिक[1] भारतीय भाषाओं के जन्मकाल की तिथि निकालना सहज नहीं। किंतु प्रमाणों द्वारा इनका वह शैशवकाल ढूँढ़ा जा सकता है जब इन्होंने एक दूसरे से पृथक् होकर अपनी सत्ता सिद्ध करने का प्रयास किया हो। प्रायः प्रत्येक प्रमुख भारतीय भाषा का भाषाविज्ञान के आधार पर

---

१. डा० सुनीतिकुमार आधुनिक देशीभाषाओं का उद्भवकाल १४वीं शताब्दी के लगभग मानते हैं।

परीक्षण करके एक दूसरे के साथ संबंध निश्चित किया जा चुका है। उन्हीं नवीन शोधों के आधार पर हम आसामी, बँगला, हिंदी, गुजराती एवं महाराष्ट्री के उद्भव पर प्रकाश डालकर सबकी संमिलित पैतृक संपत्ति का निर्णय करना चाहेंगे।

एक सिद्धांत सभी भाषावैज्ञानिकों को मान्य है कि अपभ्रंश भाषा के परवर्ती युग में तीन प्रकार के साहित्य का अनुसंधान किया जा सकता है। जिस प्रकार हेमचंद्र के युग में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश तीनों भाषाओं में काव्यरचना होती रही, एक ही व्यक्ति तीनों भाषाओं में साहित्य सृजन करता रहा, उसी प्रकार परवर्ती कवियों में साहित्यिक अपभ्रंश अवहट्ट (मध्यभाषा) एवं जनभाषा के माध्यम से रचना करने की प्रवृत्ति बनी रही। यही कारण है कि विद्यापति जहाँ गोरक्षविजय नाटक संस्कृत में लिखते हैं वहीं कीर्तिलता एवं कीर्तिपताका अवहट्ट में और पदावली जनभाषा में। इसी प्रकार तत्कालीन बंगाल, उड़ीसा आदि भागों के कवियों की भी प्रवृत्ति रही होगी।

नवीं से तेरहवीं शताब्दी तक भाषा एवं विचारों में एक क्रांति और दिखाई पड़ती है। इस क्रांति का कारण है नवीन राजनैतिक व्यवस्था। बौद्धधर्म के ह्रासोन्मुख होने पर शैवधर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ और वज्रयानी सिद्धांतों को आत्मसात करता हुआ नाथ संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। इस संप्रदाय में मत्स्येंद्रनाथ तथा गुरु गोरखनाथ जैसे महात्मा उत्पन्न हुए जिन्होंने अपने तप एवं त्याग, सिद्धि एवं योगबल से निराश जनता के हृदयों में आशा की झलक दिखाई। मुसलमानों के अस्त्र शस्त्र से पराजित, बौद्ध साधुओं के भारतत्याग से हताश जनता इन त्यागी सिद्ध पुरुषों के चमत्कारपूर्ण कृत्यों से आश्वस्त हुई। शताब्दियों से स्वतंत्र आर्य जाति को बर्बर विदेशियों की क्रूरता से हतप्रभ होकर घुटने टेकने को बाध्य होने पर नाथपंथी सिद्ध महात्माओं के योगबल पर उसी प्रकार सहसा विश्वास हुआ जिस प्रकार किसी हँसते खेलते बालक के सर्पदंशन से मूर्च्छित होने पर अभिभावकों को मंत्रबल का ही भरोसा होने लगता है।

बौद्ध भिक्षुओं के देशद्रोह का दुष्परिणाम भारतवासी देख चुके थे। पश्चिमी भारत में हिंदू शासकों को पराजित करने के लिये बौद्धों ने विदेशियों को आमंत्रित किया था। सिंध के बौद्धों ने आक्रमणकारी यवनों की खुल्लमखुल्ला सहायता की थी। फलतः जनता में बौद्धों के प्रति भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उसका परिमार्जन करने एवं अपने संप्रदाय की त्रुटियों से लज्जित

होने के कारण वज्रयानी सिद्धों ने तुर्कों का विरोध किया। कहा जाता है कि विरूपा के चमत्कारों से दो बार म्लेच्छों को पराजित होना पड़ा।

सम्राट् रामपाल के समय वनबादल नामक हाथी को विरूपा का चरणामृत पिलाया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके साहस के बल पर म्लेच्छों को पराजित कर दिया गया। इसी प्रकार सिद्ध शांतिगुप्त ने पश्चिम भारत में तुरुष्क, मुहम्मदी एवं ताजिकों को अपनी सिद्धि के बल से पराजित किया। एक बार पठान बादशाह ने इन सिद्धों को सूली पर लटकाने का प्रयास किया, पर मंत्रों से अभिषिक्त सरसों का प्रयोग करने से जल्लाद उन्हें फाँसी पर लटकाने में असमर्थ होकर पागल हो गए[1]।

इन लोकवार्ताओं से राजनैतिक तथ्य का उद्घाटन तो नहीं होता किंतु लोकप्रचलित धारणा का आभास अवश्य मिलता है। इस लोकधारणा से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि सिद्ध महात्माओं एवं नाथपंथी योगियों के प्रति जनता की श्रद्धाभावना बढ़ी। आमुष्मिकता की दृष्टि से ही नहीं अपितु निराशामय राजनैतिक परिस्थिति में सांत्वना की दृष्टि से भी इन महात्माओं ने जनता का कल्याण किया। लोकहित की कामना से प्रेरित इन महात्माओं के कंठ से जो वाणी उद्भूत हुई वह काव्य का शृंगार बन गई। जिस भाषा में इनके उपदेश लेखबद्ध हुए वह भाषा देश की मान्य भाषा बन गई। जिस शैली में उन्होंने उपदेश दिया वह शैली भविष्य की पथ-प्रदर्शिका सिद्ध हुई।

हम पहले कह आए हैं कि बुद्ध के शिष्यों ने जिस प्रकार पाली भाषा को व्यापक रूप देकर उसे जनभाषा उद्घोषित किया, उसी प्रकार इन सिद्धों और योगियों ने ६वीं से १३वीं शताब्दी तक एक जनभाषा को निर्मित करने में बड़ा योगदान दिया। इन लोगों ने अपने प्रवचन के लिये मध्यदेशीय अपभ्रंश को स्वीकार किया। हमारे देश की सदा यह परंपरा रही है कि मध्य देश की भाषा को महत्व देने में बहुमत को कभी संकोच नहीं हुआ। इन महात्माओं में अधिकांश का संबंध नालंदा, विक्रमशील एवं उदांदपुर के विश्वविद्यालयों से रहा। किंतु इन्होंने अपनी रचनाओं का माध्यम उस काल की आंचलिक भाषा को न रखकर मध्यदेश की सार्वदेशिक भाषा को ग्रहण किया। इनका संमान इसी देश में नहीं, अपितु तिब्बत, ब्रह्मा, आदि

---

१. मिस्टिक टेल्स, पृ० ६६-७०।

बाहरी देशों में भी होता रहा। इनकी रचनाएँ विदेशी भाषाओं में आज भी लेखबद्ध मिलती हैं जिनके आधार पर तत्कालीन जनभाषा की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

इस काल की जनभाषा का परिचय पाने के हमारे पास मुख्य साधन ये हैं—(१) सिद्धों एवं नाथपंथियों की बानी, (२) उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, (३) वर्णरत्नाकर (४) प्राकृतपैंगलम्। सिद्धों की बानियों को उस काल की जनभाषा केवल इसीलिये नहीं मानते कि उन्होंने निम्न स्तर की जनता के लिये बोधगम्य भाषा में अपने उपदेश दिए; इसका दूसरा कारण यह भी है कि ये सिद्ध योगी किसी एक आंचलिक बोली का ही उपयोग नहीं करते थे, अपितु विभिन्न भागों की जनभाषा का समन्वयात्मक अनुशीलन करने पर इनके कंठों से ऐसी साधु भाषा फूट निकलती थी जिसका श्रवण पुण्य और जिसका पठन-पाठन धर्म समझा जाता था। नालंदा, विक्रमशील, उदांदपुर आदि विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्रदान करते हुए भी इनकी दृष्टि कल्याण की ओर सतत लगी रहती थी और इसी कारण इनकी भाषा सरल एवं सुबोध बनी रहती। इन योगियों के शिष्यसंप्रदाय ने राजस्थान,[1] बंगाल,[2] कर्नाटक,[3] पूना,[4] गिरनार,[5] मद्रास,[6] नासिक,[7] आगरा,[8] बीकानेर,[9] जंमू,[10] सतारा,[11] जोधपुर,[12] मैसूर,[13] जयपुर,[14] सरमौर,[15] कपिलानी,[16] आदि दूरस्थ स्थानों पर मठों की स्थापना की जहाँ इनके उपदेश की पावन सरिता में स्नान करने के लिये दूर दूर से यात्री आते और सिद्ध योगियों का आशीर्वाद एवं आदेश पाकर तृप्त होते।

पश्चिमी भारत में गोरखनाथ का प्रभाव डा० मोहनसिंह दिवाना के निम्नलिखित उद्धरण से और भी स्पष्ट हो जाता है—

"Of places specially associated with Gorakh as seats of his sojourns are Gorakh Hatri in Peshawar

---

१. अगना मठ, और लादवास उदयपुर में, २. चंद्रनाथ गोरखवंशी, योगिभवन बंगाल में, ३. कादिमठ कर्नाटक में, ४. गभीर मठ पूना में, ५. गोरक्षक्षेत्र और भर्तृगुफा गिरनार में, ६. चंचुलगिरि मठ मद्रास में, ७. त्र्यंबक मठ नासिक में, ८. नीलकंठ एवं पचमुखी आगरे में, ९. नोहरमठ बीकानेर में, १०. पीर सोहर जम्मू में, ११. बत्तीस सराला सतारा में, १२. महामंदिर मठ जोधपुर में, १३ झांडी भरंगनाथ मैसूर में, १४. हिंगुआ मठ जयपुर में, १५. गरीबनाथ काटिला सारमौर में, १६. कपिलानी का आश्रय गंगासागर में।

City, Gorakh Nath Ka Tilla in Jhelum district, Gorakh ki Dhuni in Baluchistan (Las Bela state).

Dr. Mohan Singh—"An Introduction to Punjabi Literature.

डा० मोहनसिंह का कथन है कि गोरखनाथ का प्रभाव भारत के अतिरिक्त सीलोन तक फैला हुआ था। वे भ्रमणशील व्यक्ति थे और सर्वत्र विचरण करते रहते थे।

"He is our greatest Yogin, who probaly personally went and whose influence certainly travelled as far as Afghanistan, Baluchistan, Nepal, Assam, Bengal, Orissa, Central India, Karnatak, Ceylon, Maharashtra and Sind. He rightly earned the title of Guru, Sat Guru and Baba.

इन योगमार्गियों की भाषा में एक ओर तो सांख्य एवं योग दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली मिलती है दूसरी ओर जैन साधना की पदावली भी। एक ओर वज्रयानी सिद्धों की बौद्ध परंपरागत पदावली मिलती है तो दूसरी ओर शैव साधना के दार्शनिक शब्दसमूह। प्रश्न उठता है कि इसका मूल कारण क्या था ? इस नए साहित्य में इतनी सामर्थ्य कैसे आ गई ?

वज्रयानियों एवं नाथपंथियों के साहित्य का अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मत्स्येंद्रनाथ एवं गोरक्षनाथ के पूर्व प्रायः जितनी प्रमुख साधना पद्धतियाँ उत्तर भारत में प्रचलित थीं उनकी विशेषताओं को आत्मसात् करता हुआ सिद्धों का दल देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जनता को उपदेश देता हुआ भ्रमण करता। मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, जलंधरनाथ प्रभृति सिद्ध महात्माओं ने देखा कि प्रत्येक संप्रदाय का योग में दृढ़ विश्वास जमा हुआ है। उन्होंने इस ऐक्य सूत्र को पकड़ लिया और इसी के आधार पर सबको संगठित करने का प्रयास किया। प्रमाण के लिये देखिए कि निरीश्वर योग में विश्वास करनेवाले कपिल मुनि के अनुयायी कालांतर में वैष्णव[1] योगी होकर गोरखनाथ के संप्रदाय में आ मिले।

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथसिद्धों की बानियाँ, भूमिका, पृ० १८।

गोरक्षनाथ को गुरु रूप में स्वीकार करनेवाले प्रथम सिद्ध संभवतः चाँदनाथ थे जिनमें नागनाथी अनुयायी नेमिनाथ एवं पारसनाथी अनुयायी पार्श्वनाथ नामक संप्रदायों का समन्वित रूप पाया जाता था। ये दोनों महात्मा गोरक्षनाथ से पूर्व हो चुके थे और योग की आवश्यकता निरूपित कर चुके थे। जैन संप्रदाय में भी योगाभ्यास का माहात्म्य स्वीकार किया गया है अतः जैन पदावली का इसमें प्रवेश होना स्वाभाविक ही था। चाँदनाथ के गोरक्ष संप्रदाय में संमिलित होने से जैन धर्म की पदावली स्वतः आ धमकी।

कहा जाता है कि जालंधरपाद वज्रयानी[1] सिद्ध थे। उनके शिष्य कृष्णपाद कापालिक थे। उनके दोहाकोष की मेखला टीका से उनकी कापालिक साधना का पूरा परिचय मिल जाता है। कान्हपाद (कृष्णपाद) के उपलब्ध साहित्य के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि वे हठयोगी भी थे। इस प्रकार अनेक संप्रदायों का उस काल में गुरु गोरक्षनाथ को गुरु स्वीकार करना इस तथ्य का परिचायक है कि वे तेजस्वी महात्मा प्रतिभा के बल से सभी संप्रदायों की साधनागत विशेषताओं को जनभाषा के माध्यम से जनता तक पहुँचा सके और वैष्णव कवियों को धर्मप्रचारार्थ एक सार्वदेशिक भाषा पैतृक संपत्ति के रूप में दे गए।

विभिन्न आचार्यों एवं गुरुओं की एकत्र बंदना इस तथ्य का प्रमाण है कि इन योगियों में समन्वयात्मक शक्ति थी जिससे तत्कालीन विभिन्न संप्रदायों को एक स्थान पर एकत्रित होने का अवसर मिला और सबने सामूहिक रूप से देश को दुर्दिन के क्षणों में आश्वासन प्रदान किया। प्रेमदास ने सभी संप्रदायों के योगियों की इस प्रकार बंदना की है। इस बंदना से उस काल की नवीन साधना पद्धति एवं भाषाशक्ति का परिचय मिलता है—

नमः नमो निरंजनं भरम कौ विहंडनं। नमो गुरदेवं अगम पंथ भेवं।
नमो आदिनाथं भए हैं सुनाथं। नमो सिद्ध मछिन्द्रं बड़ो जोगिन्द्रं॥
नमो गोरख सिधं जोग जुगति विधं। नमो चरपट रायं गुरु ग्यान पाय।
नमो भरथरी जोगी ब्रह्मरस भोगी। नमो बाल गुंदाई कीयौ क्रम घाई॥
नमो पृथीनाथं सदानाथ हाथं। नमो हांडी भड़ंगं कीयौ क्रम षंडं॥

---

१. "इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जालंधरपाद का पूरा का पूरा संप्रदाय बौद्ध वज्रयान से संबद्ध था।" हजारीप्रसाद द्विवेदी—नाथ सिद्धों की बानियाँ, पृष्ठ १८

नमो ठीकर नाथं सदानाथ साथं। नमो सिध जलंधरी ब्रह्मबुधि संचरी ॥
नमो कान्ही पायं गुरु सबद भायं। नमो गोपीचंदं रमत्त ब्रह्मनंदं ॥
नमो औघड़देवं गोरख सबद लेवं। नमो बालनाथं निराकार साथं ॥
नमो अजैपालं जीत्यौ जमकालं। नमो हनूनामं निरंजनं पिछानं ॥

इस काल की जनभाषा का परिचय करानेवाले दूसरे साधन उक्त-व्यक्ति-प्रकरण प्राकृतपैंगलम एवं वर्णरत्नाकर से अवहट्ट भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अवहट्ट की कतिपय विशेषताएँ उक्त ग्रंथों के अनुशीलन से सामने आती हैं।

वैष्णव परिव्राजकों के लिये मुसलिम युग में मथुरा वृंदावन सबसे बड़ा तीर्थ बन गया था। इसके कारण थे—महमूद गजनवी के समय से ही देव-विग्रह-विद्रोही एवं धनलोलुप विदेशी आक्रमणकारियों की क्रूर दृष्टि हिंदू देवालयों पर रहा करती थी। काशी, अयोध्या, मथुरा आदि तीर्थ उनकी आँखों में खटकते थे। ये ही तीर्थ हिंदू संस्कृति के केंद्र और धर्मप्रचारकों के गढ़ माने जाते थे। इनके विध्वंस का अर्थ था इसलाम की विजय। इन तीर्थों में मथुरा, वृंदावन, ऐसे स्थान हैं जो इंद्रप्रस्थ एवं आगरा के समीप होने से सबसे अधिक संकट में रहे। यह स्वाभाविक है कि सबसे संकटापन्न तीर्थ की रक्षा के लिये सबसे अधिक प्रयास किया गया होगा। इतिहास यही कहता है कि उत्तर भारत ही नहीं, दक्षिण भारत से भी रामानुज, वल्लभ, रामानंद प्रभृति दिग्गज आचार्य वृंदावन में आकर बस गए और शंकर, चैतन्य सदृश महात्माओं ने यहाँ वर्षों निवास करके धर्मप्रचार किया और जाते समय अपने शिष्यों को इस पावन कार्य के लिये नियुक्त किया। इसी उद्देश्य से साधु महात्माओं ने मथुरा वृंदावन में विशाल मंदिरों की स्थापना की और वहाँ की पावन रज के साथ यहाँ की भाषा को भी संमानित किया। वैष्णव महात्माओं ने सारे देश के परिभ्रमण के समय शौरसेनी अपभ्रंश मिश्रित ब्रजबोली के माध्यम से इस धर्म के सिद्धांतों को समझाने का प्रयास किया और शताब्दियों तक यह प्रयास चलता रहा। गुजरात, राजस्थान तो शौरसेनी अपभ्रंश एवं ब्रज की बोली से परिचित थे हीं, आसाम और बंगाल में भी शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्य सरहपा आदि संतों से प्रचार पा चुका था। इस प्रकार सुदूरपूर्व में भी वैष्णव पदावली की भाषा के लिये ब्रजबोली को स्थान मिला। तात्पर्य यह कि मध्यकाल में कृष्ण की जन्मभूमि, उस भूमि की भाषा और उस भूमि में होनेवाली कृष्णलीला के आधार पर वैष्णव धर्म

एवं संस्कृति का निर्माण होने लगा। तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में मिथिला के हिंदू राजा भारतीय संस्कृति के परिपोषक रहे। महाराज शिवसिंह ने वैष्णव धर्म की रक्षा की। उनके राज्य में शौरसेनी अपभ्रंश के साथ साथ मैथिल एवं भोजपुरी बोली को आश्रय मिला। मिथिला के संस्कृत के दिग्गज विद्वानों ने संस्कृत के साथ साथ जनपदीय बोली में अपभ्रंश की शैली पर पदावली की रचना की। विद्यापति के कोकिलकंठ से सबसे अधिक मधुर स्वर फूट पड़ा। उसे सुनने को अनेक विद्वान् आचार्य, संत महात्मा मिथिला में एकत्रित हुए।

जब विदेशी विजेताओं की कोपाग्नि में समस्त उत्तर भारत की राज्य-शक्ति होमी जा रही थी उस समय भी मिथिला और उत्कल भौगोलिक स्थिति के कारण सुरक्षित रहकर भारतीय धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिये प्रयत्नशील थे और वहाँ की विद्वन्मंडली के आकर्षण से कामरूप से कन्नौज तक के ज्ञानपिपासु आकर्षित हो रहे थे। ज्योतीश्वर और विद्यापति की कृतियाँ उत्तर भारत में सर्वत्र संमानित हो रही थीं। जयदेव के गीतगोविंद की ख्याति जगन्नाथपुरी के दर्शनार्थियों के द्वारा सारे देश में फैल रही थी और सभी देवालयों में कीर्त्तन का प्रधान साधन बन रही थी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गीतगोविंद की शैली पर प्रत्येक जनपदीय बोली में कीर्तन पदावली निर्मित हुई जिसके गान से वैष्णव धर्म के प्रसार में आशातीत सहायता मिली।

ब्रजबुलि का उद्भव

मध्ययुग की विषम परिस्थितियों ने जब संत हृदयों का मंथन किया तो आवश्यकताओं के अनुरूप नवीन दर्शन नवनीत के रूप में प्रस्फुटित हो उठे। उन नवीन विचारों के प्रचार की भावना ने संत महात्माओं का एक ऐसा समाज तैयार कर दिया जो समस्त देश का परिभ्रमण करते हुए अधिकाधिक जनसंपर्क में आते गए। इन महात्माओं ने लक्ष लक्ष अनाश्रित जनता की मूक वाणी को सुनकर चिंतन किया और राजनैतिक एवं धार्मिक आपदाओं के निवारणार्थ प्रभु का आश्रय लेकर जनता को वैष्णव धर्म का संदेश सुनाना प्रारंभ किया। इस नवसंदेश को सर्वत्र प्रसारित करते हुए अनायास एक नवभाषा का निर्माण होने लगा जिसके प्रादुर्भाव में ब्रज एवं मैथिली मूल रूप से किंतु अन्य उपभाषाएँ गौण रूप से योग दे रही थीं। यही भाषा आगे चलकर 'ब्रजबुली' के नाम से प्रख्यात हुई। इसके निर्माण में विद्यापति के

गीतों का विशेष योगदान मिलता है। 'ब्रजबुली'[1] की निर्माणपद्धति पर विचार करते हुए डा० चैटर्जी कहते हैं कि "विद्यापति के राधाकृष्ण प्रेम संबंधी गीतों ने बंगाल में नवजागरण उत्पन्न किया। बंगाल के कविवृंद ने मैथिली के अध्ययन के बिना ही मैथिली, बंगाली और ब्रजभाषा के मेल से एक मिश्रित भाषा का प्रयोग किया जो आगे चलकर 'ब्रजबुली' के नाम से प्रख्यात हुई। इसी भाषा का उपयोग करके गोविंददास, ज्ञानदास आदि वैष्णव कवि अमर साहित्य की सृष्टि कर गए।"

हम पहले कह आए हैं कि सिद्धों एवं नाथपंथियों ने योग के आधार पर एक नवीन जीवनदर्शन की स्थापना करके उसके प्रसार के लिये नवीन साहित्यिक भाषा का निर्माण किया था, जिसको सभी प्रचलित दार्शनिक पद्धतियों की पदावली तथा संपूर्ण उत्तरी भारत की जनभाषा का सहयोग प्राप्त हुआ था। न्यूनाधिक दो तीन शताब्दियों तक इन सिद्धों एवं नाथ-योगियों ने जनसाहित्य को समृद्ध किया। किंतु तुर्कों का आधिपत्य स्थापित होने पर जनता शुष्क ज्ञान से संतुष्ट न रह सकी। सिद्धों एवं नाथपंथियों का जीवनदर्शन तत्कालीन स्थिति में अनुपयोगी प्रतीत होने लगा। इधर वैष्णव महात्माओं ने संतप्त हिंदू जनता को भक्तिधारा में अवगाहन कराना प्रारंभ कर दिया और जनभाषा भी दो तीन शताब्दियों में सिद्धों की साहित्यिक भाषा से बहुत आगे बढ़ चुकी थी। परिस्थिति की विवशता के कारण ब्रज को ही हिंदू संस्कृति का केंद्र बनाना उचित समझा गया था। अतः वैष्णव आचार्यों ने यहाँ निवास करके यहाँ की भाषा में कृष्णलीलाओं का कीर्तन प्रारंभ किया।

आचार्यों ने कृष्ण की ब्रजलीला का प्रसार ब्रज तक ही सीमित नहीं रखा। देश के कोने कोने में घूम घूमकर उस लीलामृत का पान कराना वैष्णव भक्तों ने अपना कर्त्तव्य समझा। इस प्रकार ब्रजाधिपति की लीलाओं को ब्रजभाषा के साथ अन्य भाषाओं के मिश्रण से काव्यरस में आप्लुत करने का स्थान स्थान पर प्रयत्न होने लगा। पश्चिमी एवं उत्तरी पश्चिमी भारत की धर्मपिपासा की शांति का केंद्र तो ब्रज को बनाया गया किंतु पूर्व भारत-स्थित मिथिला, बंगाल, आसाम तथा उत्कल में अनेक महात्माओं एव कवियों ने स्वतंत्र रूप से प्रयास किया। इस प्रयास के मूल में एक मुख्य धारणा यह कार्य कर रही थी कि भाषा सार्वदेशिक एवं सार्वजनीन हो। आंचलिक

1. Dr. S. K. Chatterji, O. D. B. L., Page 103

बोलियों का प्रयोग ब्रज एवं मैथिल भाषा में ऐसे कौशल के साथ किया जाय कि संकीर्णता की झलक न आने पावे। उस काल में ब्रजाधिपति की लीला को उन्हीं की बोली में सुनना पुण्य समझा जाता था।

हम यह भी देख चुके हैं कि सिद्धों एवं नाथपंथियों ने परवर्ती शौरसेनी अपभ्रंश को अपनी काव्यभाषा स्वीकार कर लिया था। अतः यह भाषा जनता में समादृत हो चुकी थी। पूर्वी भारत में परवर्ती अपभ्रंश का परिचय होने से वैष्णवों की नई भाषा ब्रजबुलि का समादर स्वाभाविक था।

इन वैष्णव कवियों में सबसे अधिक मधुर स्वर विद्यापति का सुनाई पड़ा था। पूर्व में मिथिला उस समय प्राचीन संस्कृति की रक्षा का केंद्र बन गया था। आसाम का सीधा संपर्क होने से मैथिली मिश्रित ब्रजभाषा शंकरदेव प्रभृति महात्माओं की काव्यभाषा बनी। बंगाल और उत्कल में भी वैष्णव महात्माओं के प्रयास से कृष्णकीर्तन के अनुरूप भाषा अनायास ही बनती गई। इस कृत्रिम भाषा में विरचित साहित्य इतना समृद्ध हो गया कि कालांतर में उसे एक नई भाषा का साहित्य स्वीकार करना पड़ा और ब्रजभाषा से पृथक् करने के लिये इसका नाम ब्रजबुलि रख गया।

बंगाल में ब्रजबुलि के निर्माण का कारण बताते हुए सुकुमार सेन लिखते हैं[१]।

Sanskrit students from Bengal, desiring higher education, especially in Nyaya and Smriti, had to resort to Mithila. When returned home they brought with them, along with their Sanskrit learning, popular vernacular songs, mostly dealing with love in a conventional way, that were current in Mithila. These songs were the composition of Vidyapati and his predecessors, and because of the exquisite lyric charm and the appeal of the music of an exotic dialect, soon became immensely popular among the cultured community.

मिथिला का वैष्णव साहित्य ब्रज से प्रभावित था और बंगाल और

---

१. Sukumar Sen–A history of Brajbuli Literature.

आसाम का मिथिला और ब्रज दोनों से। इस प्रकार बंगाल और आसाम के ब्रजबुलि के साहित्य में एक कृत्रिम भाषा का प्रयोग स्वाभाविक था। इसी कारण सुकुमार सेन कहते हैं—[1] "There is no wonder that a big literature grew up in Brajbuli which is a mixed and artificial language."

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार पालि, गाथा, प्राकृत एवं अवहट्ट भाषाएँ कृत्रिम होते हुए भी विशाल साहित्य की सृष्टि कर सकीं उसी प्रकार ब्रजबुलि नामक कृत्रिम भाषा में १५वीं शताब्दी के यशोराज खान से लेकर रामानंदराय, नरहरिदास, वासुदेव, गोविंददास, नरोत्तमदास, राधा-मोहनदास, बलरामदास, चंडीदास, अनंतदास, रामानंद वसु, गोविंददास, ज्ञानदास, नरोत्तम प्रभृति कवियों की प्रभूत रचनाएँ हुईं। इस राससंग्रह में ब्रज के कवियों की रास रचनाएँ सर्वत्र प्रचलित होने के कारण नहीं संमिलित की गई हैं। सूरदास, नंददास प्रभृति कवियों की कृतियों से प्रायः सभी पाठक परिचित हैं।

इनके अतिरिक्त शोधकर्ताओं को अनेक रासग्रंथ मिले हैं जिनका संक्षिप्त परिचय शोध रिपोर्ट से ज्ञात होता है। ऐसी रचनाओं में निम्नलिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनकी भाषा परिमार्जित ब्रजभाषा है—

(१) श्रीरास-उत्साह-वर्द्धन वेलि, रचयिता वृंदावनदास
(२) रास के पद (अष्टछाप के कवियों का राससंग्रह)
(३) रासपंचाध्यायी, रचयिता कृष्णदेव
(४) रासदीपिका जनकराज किशोरीशरण, रचयिता
(५) रास पंचाध्यायी, आनंद कविकृत।

शोध द्वारा प्राप्त वैष्णव रासग्रंथों में रामरास की निजी शैली है।

कतिपय रास दोहा चौपाई में आबद्ध हैं किंतु अधिकांश के छंद सवया और कवित्त हैं। एक रामरास का उद्धरण यहाँ भाषापरीक्षण के लिये देना आवश्यक प्रतीत होता है—

छलिकै छबीली नव नायिका को दूतिका लै,
अटा पै चढ़ाय छटा चंद्रिका सी लसी है।

---

१. वही।

उतरि कै झपाक दिए जीना के किवार त्यौं,
दूती करताल देके मोद मन हँसी है।
तैसेइ भीतर के किवारा खोलि राघव जू,
देखि के नवोढा बाल जकी चकी ससी है।
लीनी भरि अंक पिया लाज साज दबी तिया,
फबी धुनि रसना की मानो देत दसी है।

एक पुरुष श्रीराम है, इस्त्री सब जग जानि।
सिव ब्रह्मादिक को मतो, समुझि गहो हित मानि॥
वाद विवाद न कीजिए, निरविरोध भजु राम।
सब संतन को मत यही, तब पावो विश्राम॥

तात्पर्य यह है कि कृष्णरास के सदृश रामरास का भी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है जिसकी भाषा प्रायः ब्रजभाषा है। इस प्रकार ब्रजभाषा और ब्रज बुलि के प्रभूत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन भाषा की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वमय है।

रास के छंद

रास काव्यों की छंदयोजना संस्कृत, पाली एवं प्राकृत से प्रायः भिन्न दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रत्येक भाषा की प्रकृति पृथक् होती है उसी प्रकार उसका छंदविधान भी नवीन होता है। छंदयोजना काव्यप्रकृति के अनुरूप हुआ करती है। अपभ्रंश का राससाहित्य प्रारंभ में अभिनय एवं गायन के उद्देश्य से विरचित हुआ था अतः इसमें संगीत को प्रधानता दी गई और जो छंद संगीत को अपने अंतस्तल में बिठला सका उसी को आदर मिला। आगामी पृष्ठों में हम रास में प्रयुक्त छंदों का लक्षण एवं उदाहरण देख सकेंगे।

रास स्वरूप का छंद

हम पहले कह आए हैं कि रास या रासक नामक एक छंदविशेष रास ग्रंथों में प्रयुक्त हुआ है। 'रास' छंद का लक्षण विरहांक के 'वृत्तजातिसमुच्चय'[1] में इस प्रकार मिलता है—

वित्थारिअ आणुमएण कुण। दुवईछन्दोणुमएव्व पुण।
इअ रासअ सुअणु मणोहरए। वेआरिअसंमत्तक्खरए ॥४-३७॥
अडिलाहिं दुवहएहिंव मत्तारड्डाहिं तहअ ढोसाहिं।
बहुएहिं जो रइज्जई सो भण्णइ रासऊ णाम ॥३८॥

अर्थात् कई द्विपदी अथवा विस्तारित के योग से रासक बनता है और इसके अंत में विचारी होता है।

द्विपदी, विस्तारित और विचारी के लक्षण आगामी पृष्ठों पर पृथक् पृथक् दिए जायँगे।

डा० वेलंकर ने भाष्यकार के आधार पर इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"A रासक is made up of several (?) द्विपदी S or विस्तारित S ending in a विचारी or of several अडिला S, द्विपद S, मात्रा S, रड्डा S or ढोसा S।

१—विस्तारितकानुमतेन कुरु। द्विपदीच्छन्दोनुमते वा पुनः।
एतद रासकं सुतनु मनोहरम्। विदारी समाप्ताक्षरम ॥३७॥
अडिलाभिर्द्विपथकैर्वा मात्रारथ्याभिस्तथा च ढोसाभिः।
बहुभिर्यो रच्यते स भण्यते रासको नाम ॥३८॥

विरहांक ने वृत्तजातिसमुच्चय में ही दूसरे स्थान पर 'रासा' नाम देकर छंद का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

रासा—मात्रावृत्तम्

चतुर्मात्रास्त्रयः ग ग

अथवा

पढमगइन्दणिऊइअएहिं । बीअअतइअ तुरंगमएहिं ।
जाणसु कण्णविरामअएहिं । सुन्दरि रासाअ पाअएहिं[१] ॥८५॥

गजेंद्र=४
तुरंग=४
कर्ण=SS

अर्थात् प्रत्येक पद में ४+४+४+SS=१६ मात्राएँ

डा० वेलंकर ने भाष्यकार के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'रासा—Four Padas, each having 4+4+4+SS. This is differet from the रासक mentioned at IV–37,-38 and also from the रास mentioned by Hemacandra at P. 36a, line 7. This metre is very frequently employed in the old Gujrati poems called 'Rasas'

'प्राकृतपैंगलं' नामक ग्रंथ में अपभ्रंश में प्रयुक्त होनेवाले अडिल्ला, रड्डा, घत्ता, आदि छंदों के लक्षण तो विद्यमान हैं किंतु रासा या रासक छंद की कहीं चर्चा भी नहीं है। संभव है, प्राकृत भाषा के छंदों की ओर ही मूलतः ध्यान होने और रासक का केवल अपभ्रंश में ही प्रयोग देखकर आचार्य ने इस छंद का लक्षण न दिया हो।

स्वयंभूछंदस् में रासक का लक्षण स्वयंभू ने इस प्रकार दिया है—

घत्ता छड्डणिआहिं पद्धडिआ [हिं] सु = अण्णरूएहि ।
रासाबंधो कव्वे जण-मण-अहिरामो (मओ ?) होइ ॥

अर्थात् काव्य में घत्ता, छड्डणिया, पद्धडिआ और दूसरे सुंदर छंद बड़े युक्तिपूर्वक रासाबंध होकर लोगों को सुंदर लगते हैं।

१—प्रथमगजेन्द्र नियोजितैः । द्वितीय तृतीय तुरङ्गैः ।
जानीहि कर्ण विरामैः । सुन्दरि रासां च पादैः ॥

इसी के उपरांत स्वयंभू ने (१४+७)=२१ मात्रा के छंद की व्याख्या की है जिससे प्रतीत होता है कि रासकबंध में रासा छंद विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे।

हेमचंद्र ने छंदानुशासन में रास की व्याख्या करते हुए लिखा है—

सयलाओ जाईओ पत्थारवसेण एत्थ बज्झंति।

रासाबन्धो नूणं रसायणं बुद्ध गोठीसु॥

रासा का लक्षण इससे भिन्न है। रासा में चार पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में ४+४+४+ — — =१६ मात्राएँ होती है।[1]

रास, रासक

हेमचंद्र ने छंदानुशासन में रासक और आभाणक को एक ही छंद स्वीकार किया है। हेमचंद्र ने रासक का लक्षण देते हुए कहा है—

(१) दामाम्नानो रासके दै

टीका—दा इत्यष्टादशमात्रा नगणश्च रासकः। दैरिति
चतुर्दशभिर्मात्राभिर्यतिः।

अर्थात् रासक छंद में १८ मात्रा+ललल=२१ मात्रा होती है और १४ पर यति होती है।

हेमचंद्र के रासक के लक्षण से सर्वथा साम्य रखनेवाला लक्षण छंदः-कोष में आभांणक का मिलता है। आभाणक का लक्षण इस प्रकार है—[2]

(२) मत्तहु, वइ चउरासी, चउपइ चारि क, लं
तेसठ, जोनि नि, बंधी, जाणहु, चहुयद, ल
पंच, कलव, ज्जिउ्रहु, गणुसु, द्दुवि गण, हु
सोविश्र, हाणउ, छंदुजि, महियलि बुह मुण, हु

[मत्त होहि चउरासी चहुपय चारिकल
ते सठि जोणि निबद्धी जाणहु चहु अ दल।
पंचक्कलु वज्जिउ्रहु गणु सुद्धि वि गणहु
सो वि आहाणउ छंदु केवि रासउ मुणहु॥]

१—वृत्तजातिसमुच्चय-(विरहांक)-४।८५

२—प्रत्येक पद में २१ मात्रा होती हैं अतः कुल ८४ मात्राएँ हैं। प्रारंभ में ६ मात्राएँ, तदुपरांत चार चार, अंत में ३ मात्रा। पाँच मात्रा वर्जित है। यही रासक छंद का भी लक्षण है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में रासक और आभाणक एक ही प्रकार के छंद थे किंतु कालांतर में इनके विकास के कारण अंतर आ गया। संदेशरासक में इन दोनों में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। प्रमाण यह है—

सो वि आभाणउ, छंदु केवि रासऊ सुणहु[1]।

अर्थात् कोई आभाणक छंद और कोई रासक छंद गा रहा था।

श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक ने 'प्राचीन गुजराती छंदो' में इसका विवेचन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है—

'अर्थात् रासक अने आभाणक अेक ज छंद नुं नाम छे आ बे नामो मां रासक नाम बधी जाति रचनाओ नुं सामान्य नाम छे, ते उपरांत बीजु विशेष रचनाओ नुं पण छे, तेथी उपरनी रचनीने आपणे आभाणक कही अे तो सारुं। अे रीते जोतां भविसयत्त कहानी उपर उतारेली रचना आभाणक गणावी जोईअे।'[2]

आभाणक : दादा दादा दादा दादा दाालल ल

(३) रासा से सर्वथा साम्य रखनेवाला एक और छंद रासावलय है। इसमें भी २१ मात्राएँ होती हैं। रासावलय का लक्षण इस प्रकार है—

६+४+६+५=२१ मात्राएँ

रासावलय और आभणक या रास में अंतर यह है कि आभणक में पंच-कल वर्जित है—

(४) रासक के अन्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(१८ मात्रा+ललल) १४ मात्रा पर यति

अथवा

(५) पाँच चतुष्कल के उपरांत लघु गुरु मिलाकर कुल २२ मात्राएँ होती हैं।[3]

अब अपने संग्रहीत रास काव्यों के रासक, रास या रासा छंद पर विचार कर लेना आवश्यक है—

१—संदेशरासक, पृष्ठ १२

२—प्राचीन गुजराती छंदो—गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, पृ० ८०

३—वही, पृ० ३७७

संदेशरासक के प्रायः तृतीयांश में रास छंद का प्रयोग हुआ है। इस छंद का सामान्य रूप इस प्रकार मिलता है—

VV +४+ VV VV +V/२+ VV VV +V V V=२१ मात्राएँ

अथवा

VV+४+VV VV+V V/VV+VV VV+V V V=२१ मात्राएँ

हम पहले देख आए हैं कि रासक में द्विपदी विस्तारितक एवं विचारी का प्रयोग होता है। इन छंदों का विवेचन कर लेना आवश्यक है।

द्विपदी—

द्विपदी (दुवई) नाम से यही प्रतीत होता है कि इस छंद में २ पद अथवा चरण होंगे किंतु अपभ्रंश काव्यों का अनुशीलन करने पर ५७ प्रकार की चार पादवाली द्विप्रदी प्राप्त होती है। परीक्षण करने पर डा० भयाणी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब अपभ्रंश महाकाव्य की संधि के प्रारंभ में द्विपदी का प्रयोग होता है तो उसमें दो ही पाद होते हैं। किंतु गीतों में प्रयुक्त द्विपदी के चार पाद होते हैं। छंदानुशासन के अनुसार द्विपदी इस प्रकार है।

६+V VV V+४+४+४+V VV V+—=२८ मात्राएँ

वृत्तजातिसमुचय में द्विपदी छंद का उल्लेख नहीं मिलता। किंतु इस राससंग्रह में संदेशरासक में इसका प्रयोग मिलता है।

इस छंद का प्रयोग अधिकांश रासग्रंथों में हुआ है।[1] वृत्तिजातकसमुच्चय अडिल (अडिल्ला) में इसका लक्षण इस प्रकार है—

श्रुति सुखानि पर्यालोच्य इह प्रस्तार सागरे
सुतनु विविध वृत्तानि सुसंचित गुण मनोहरे।
अडिला भवति आभीर्या नताङ्गि भाषया
सयमकैः पादैः समार्धसमैः कुरु सदा ॥
स्यन्दनो रथाङ्गं संजानीत। हार संजानीत।
यमक विशुद्धैः संजानीत। अडिला लक्षणे संजानीत॥

कोई भी वह सुंदर छंद अडिल्ल माना जाता है जिसकी भाषा (अपभ्रंश)

१—केवल संदेशरासक के १०४, १८२; १५७-१७०, १७४ से १८१ तक

आभीरी हो और यमक का प्रयोग हो इसी के उपरांत दूसरा लक्षण विरहांक इस प्रकार लिखते हैं—

६ + V — V + — — + V V + यमक। प्रत्येक पंक्ति में ये ही लक्षण होते हैं।

भयाणी जी का मत है कि प्रारंभ में अडिल्ल किसी छंद विशेष का नाम नहीं प्रत्युत टेकनिकल शब्द था और कोई भी सामान्य छंद अपभ्रंश में विरचित होकर यमक के साथ संयुक्त होने से अडिल्ल बन जाता था। कालांतर में १६ मात्राओं का छंद (६+४+४+V V) अडिल्ल के नाम से अभिहित हुआ। यमक का प्रतिबंध भी निकाल दिया गया। अंत में प्रथम और द्वितीय का तथा तृतीय और चतुर्थ का तुकांत आवश्यक बन गया।

संदेशरासक के कतिपय छंदों में यमक का पूर्ण निर्वाह मिलता है। शरद्वर्णन के प्रारंभ में (पाइउ, पाइउ) (रमणीयव, रमणीयव) यमक पाया जाता है। कहीं केवल तीसरे एवं चौथे चरण में यमक है।

कहीं कहीं ६ चरणों में यमक का प्रयोग पाया जाता है। ऋषभदास कृत कुमारपालरास में ६ पंक्तियों में 'सल्लइ' यमक का प्रयोग पाया जाता है।

संदेशरासक की टिप्पणी में पद्धडिया छंद का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

सोल समत्तउँ जहिं पउदीसइ,
अक्खर गत्तु न किं पि सलीसइ।
पायउ पायउ यमक विसुद्धउ
पद्धडि यह इहु छंदु मडिला पसिद्धउ॥

अडिल्ल एवं मडिला में बहुत ही सूक्ष्म अंतर है। ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचंद्र ने इन्हें एक ही छंद के दो प्रकार मान लिए हैं।

संदेशरासक के टीकाकार ने १११ वाँ छंद मडिल्ल नाम से घोषित किया है और उसका लक्षण इस प्रकार है—[3]

जमक्कु होइ जहिं बिहु पय जुत्तउ। मडिल्ल छंदु तं अज्जुणि वुत्तउ॥

दो पादों के अंत में यमक हो तो अडिल्ल एवं चारो पादों में यमक हो तो मडिल्ल होगा। अडिल्ल छंद का प्रयोग आगे चलकर लुप्तप्राय हो गया।

१. संदेश रासक छंद १५७
२. वही, छंद १६१
३. वही, छंद १११

रामनारायण विश्वनाथ पाठक का मत है कि 'अने आपणा विषय ने अंगे ओ कशा महत्व नो प्रश्न न थी। आपणी प्रस्तुत वात ओछे के आ अलिल्लह के अडयल मात्र ओक कौतुक नो छंद रह्यो हतो अने ते आपणा जातिवद्ध प्रबंधो मांथी लुप्त थाय छे।'[१]

पद्धडिका (पज्झटिका)

अपभ्रंश महाकाव्य का मुख्य छंद होने के कारण प्रायः सभी आचार्यों ने इस छंद पर विचार किया है। इस छंदकी महत्ता इतनी है कि अकेले संदेश रासक के ६४ पादों में इसका प्रयोग किया गया है।

इस छंद में चतुर्मात्र गण (४+४+४+४) १६ मात्राएँ होती हैं। कतिपय छंदशास्त्रियों का मत है कि चतुर्मात्रा का क्रम (∨∨—) होना चाहिए। संदेशरासक के २०, २१, ५६–६३१, २००–२०३, २०५–२०७, २१४–२२० आदि छंदों में पद्धडिया छंद दिखाई पड़ता है। पद्धडिया छंद का लक्षण संदेशरासक की अवचूरिका में इस प्रकार मिलता है—

सोलसमत्तउ जहि पउ दीसइ, अक्खरु अंतु न किं पि सालीसइ।
पायउ पायउ जमक विसुद्धउ, पद्धडीअइ इइ छंद विसुद्धउ॥
चत्वारोऽपि पदाः षोडश मात्रिकाः। आद्यार्धे उत्तरार्धे च यमकम्।

रामनारायण विश्वनाथ पाठक का मत है कि 'आमां घणी पंक्तिओ मां अंते लगाल (∨ — ∨) आवे छे, जे पद्धडी नुं खास लक्षण छे। वाकी मात्रा संख्या अने संधि नुं स्वरूप जोतां आकृति मूल थी पण पद्धडी गणाय ओवी न थी।'[२]

रड्डा

रड्डा अपभ्रंश साहित्य के प्रमुख छंदों में है। प्राकृतपैङ्गलम् में इसका लक्षण देते हुए लिखते हैं कि इसके प्रथम चरण में पंद्रह, द्वितीय में बारह, तृतीय में पंद्रह, चतुर्थ में ग्यारह, पंचम में पंद्रहमात्राएँ होती हैं। इस प्रकार कुल ६८ मात्राओं का रड्डा छंद होता है। इसके अंत में एक दोहा होता है।

---

१. प्राचीन गुजराती छंदो पृ० १५१
२. प्राचीन गुजराती छंदो—रामनारायण विश्वनाथ पाठक पृ० १४६
पढम विरमइ मत्त दह पंच, पअ बीअ बारह ठवहु,
त्तीअ ठाँइ दहपंच आणहु, चारिम एग्गारहहि,
पंचमे हि दहपंच आणहु।

संदेशरासक की टिप्पनक रूपा व्याख्या में रड्डा का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—जिसके प्रथम पाद में १५ द्वितीय में ११, तृतीय में १५, चतुर्थ में ११, पंचम में १५ मात्राएँ होती हैं और अंत में दोधक छंद होता है उसे रड्डा कहते हैं।

संदेशरासक के १८, १६, २२२, २२३, इन चार छंदों में रड्डा पाया जाता है।

वृत्तजातिसमुच्चय में रड्डा का लक्षण देते हुए विरहांक लिखते हैं—

पअद्दु मत्तहु अन्तिमउ। जव्विहि दुवहउ भोदि।
तो तहु णामें रड्ड फुडु। छन्दइ कइअणु भोदि॥

अर्थात् जब 'मात्रा' के विविध भेदों में से किसी एक के अंत में दोहा आता है तो उसे रड्डा कहते हैं।

यह ऐसा छंद है जिसका उपयोग केवल अपभ्रंश भाषा में होता है।

मात्रा

अर्थात् अपभ्रंश का यह विशेष छंद है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

विषमच्छन्दसः पादा मात्राणां। द्वीत्रयश्च सौम्यमुखि।
मणिरूपसगणविनिर्मिताः। तेषां पादानां मध्यमानां।
निपुणैः लक्षणं निरूपितम्॥

अर्थात् विषम मात्राओं के इस छंद में पाँच पाद होते हैं। प्रथम, तृतीय और पंचम में करही मात्रा में १३, मोदनिका में १४, चारुनेत्री में १५, राहुसेनी में १६ मात्राएँ होती हैं। दूसरे और चौथे पाद में इनमें क्रमशः ११, १२, १३, १४ मात्राएँ होती हैं।

हेमचंद्र ने इसके अनेक भेद किए हैं। इनमें मुख्य मात्रा छंद के पाँचों पादों में क्रमशः १६, १२, १६, १२, १६ मात्राएँ होती हैं।

इस छंद का अपभ्रंश में बड़ा ही महत्व है। मात्रा के किसी भेद के अंत में द्विपदक (दोहा) रख देने से रड्डा बन जाता है।

विस्तारितक

वृत्तजातिसमुच्चय में विस्तारितक का लक्षण देते हुए विरहांक लिखते हैं—

अट्ठासट्ठी पूरवहु अग्गे दोहा देहु।
राअसेण सुपसिद्ध इअ रड्डु भणिज्जइ एहु।

—प्राकृतपैङ्गलम्, पृ० २२८

दुवईय जो य छन्दो सारिच्छं वहइ जं च दुअईण।
महुरं च कइअएहिं वित्थारिअअंति तं जाण।

अर्थात् विस्तारितक वह छंद है जो कुछ सीमा तक द्विपदी से सादृश्य रखता है और कुछ सीमा तक असादृश्य। रचनापद्धति तो द्विपदी के समान ही होती है किंतु विस्तार में अंतर होता है। द्विपदी में चार पद होते हैं किंतु विस्तारितक में एक, दो या तीन।

इस छंद का उल्लेख हेमचंद्र के छंदानुशासन में कहीं नहीं मिलता। हमारे राससंग्रह में भी इस छंद का प्रयोग नकारात्मक ही है। केवल रासक छंद को स्पष्ट करने के लिये इसकी व्याख्या आवश्यक समझी गई।[1]

ठवणी

ठवणी की उत्पत्ति स्थापनिका शब्द से हुई है। यही शब्द प्राकृत में ठवणिआ बन गया। काव्य के शुद्ध वर्णनखंड को ठवणी कहते हैं। इसी कारण यह कड़वक से साम्य रखता है। वस्तु का प्रयोजन है पूर्वस्थित और परस्थित ठवणी को संयोजित करना। इसके द्वारा पूर्व कड़वक का सारांश तो स्पष्ट हो ही जाता है आगामी कड़वक के स्वरूप का अल्प आभास सा मिलने लगता है।

ठवणी और वस्तु की गेयता

ठवणी में ऐसे छंदप्रयोग की आवश्यकता पड़ती है जो सरलता से गाया जा सके। इनके मूल में चउपई, पद्धड़ी, दुहा, सुरठा इत्यादि छंद पाए जाते हैं। वस्तु छंद की कतिपय विशेषताएँ हैं। वस्तु शब्द का अर्थ ही है **कथानक की रूपरेखा का गान।**[2] यह एक प्रकार से कड़वक का संक्षिप्त रूप है। इसके प्रथम चरण के प्रथम अर्द्धांश की बारंबार पुनरावृत्ति होती है। इसी से यह सिद्ध होता है कि यह ध्रुवपद की भाँति प्रयुक्त होता है। वस्तु के मूल शरीर में दो ही चरण होते हैं, यद्यपि हेमचंद्र एवं प्राकृतपिंगल के अनुसार इसमें चार चरण माने जाते हैं—हेमचंद्र ने इसका नाम रड्डा

---

१. वृत्तजातिसमुच्चय, २।६

२. The वस्तु metre as its very name expresses is a song of the outline of the story. It is a miniature कड़वक itself the first half of the first line always being repeated to signify that it is a ध्रुवपद."—गुर्जररासावलि, P. 7.

बताया है किंतु रास काव्यों में इसे सर्वत्र छंद कहकर घोषित किया गया है। इस छंद की रचना इस प्रकार है। प्रथम पंक्ति में ७ मात्राएँ +७ (जिसकी मात्राएँ ध्रुवपद की भाँति बार बार पुनरावृत्ति होती है)। इसके उपरांत आठ मात्राएँ जिनमें अंतिम मात्रा लघु होती है। इस प्रकार प्रथम चरण में २२ मात्रा, द्वितीय एवं तृतीय में १२+१६ अर्थात् २८ मात्राएँ होती हैं। प्राकृतपिंगल के अनुसार चतुर्थ चरण में (११+१६) मात्राएँ होती हैं और सबसे अंत में २४ मात्रा का दोहा होता है। यही वस्तु चरण ठवणी का प्राण स्वरूप है।

विचारी

वृत्तजातिसमुच्चय २।५

(या वस्तुकाललघ्वी सा विदारीति संज्ञिता छन्दसि।
द्वौ पादौ भण्यते द्विपथकमिति तथा एक्ककं एकः ॥)

द्विपदीनां यत्र छन्दसि सादृश्य वहति; यत्र द्विपदीनाम्।
मधुरं च कृतकैर्विस्तारितकमिति तज्जानीहि ॥
या अवलम्बते चतुर्वस्तुकानामर्थं पुनः पुनर्भणिता।
विचार्येवासौ विषधराम्यां ध्रुवकेति निर्दिष्टा ॥

विचारी का एक चरण द्विपदी की पूर्ति करते हुए ध्रुवक कहलाता है इसी प्रसंग में विरहांक ने विस्तारिक का भी लक्षण दे दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि विस्तारिक, द्विपदी एवं विचारी एक ही कोटि के छंद हैं।

द्विपदी (द्विपथक) की व्याख्या की जा चुकी है। इसमें केवल दो पद होते हैं और प्रत्येक पद में ४+४+४+गुरु+४+४+गुरु गुरु मात्राएँ होती हैं। पिंगल के दोहे के समान यह छंद होता है।

रमणीयक

वृत्तजाति समुच्चय ४।२६

(ध्वजियुक्तशरतोमरयोधतुरंगं । विरामे दूरोज्वलवर्णध्वजाग्रम्।
तं विजानीहि सुपरिष्ठितयतिरमणीयं । छन्दसि शातोदरि रमणीयकम् ॥)

ध्वज ।ऽ
शर =५
तोमर=५
योध =४
तुरंग=४

इस प्रकार २१ मात्राओं का रमणीयक (रमणिज्ज) छंद होता है।
संदेशरासक का २०८ वाँ छंद यही है।

मालिनी

वृत्तजातिसमुचय ३।४४

(यस्याः पादे पङ्कजवदने दूरं श्रवणसुखावहे
सुललितबन्धे सललबाहुके मुग्धे अतिमरस्ने ।
प्रथमद्वितीयौ तृतीयचतुर्थौ पञ्चमः षष्ठश्च सप्तमश्च
भवति पुरोहित इति बिम्बोष्ठि छन्दसि जानीहि मालिनीति ॥)

जिसमें ७ गण हों और पुरोहित प्रत्येक गण में (४–५ मात्राएँ) हों उसे मालिनी छंद कहते हैं ।

संदेशरासक के १०० वें पद में मालिनी छंद है जिसका लक्षण है—

पञ्चदशाक्षरं मालिनीवृत्तम् ।
द्वौ नगणौ तदनु मगणः तदनु द्वौ यगणौ ।

अर्थात् प्रत्येक पाद में १५ अक्षर हों और उनका क्रम हो—दो नगण, मगण, दो यगण । इस प्रकार १५ अक्षरों का मालिनी छंद होता है ।

खडहडक

वृत्तजातिसमुचय ४.७३ ॥

(भ्रमरावल्या अन्ते गाथा यदि दीयते प्रयोगेषु ।
तज्जानीत खडहडकं पूर्वं कवीभिर्विनिर्दिष्टम् ॥)

भ्रमरावली के अंत में यदि गाथा छंद प्रयुक्त हो तो प्राचीन कवियों ने उसे खडहडक नाम से निर्दिष्ट किया है ।

गाथा

वृत्तजातिसमुचय ४।२

(गाथा प्रस्तारमहोदधेस्त्रिंदक्षराणि समारम्भे ।
जानीहि पञ्चपञ्चादशक्षराणि तस्य च विरामे ॥)

गाथा वृत्त के प्रस्तार में ३० तीस अक्षरों से लेकर ५५ पचपन अक्षरों तक पर विराम होता है ।

चतुष्पद

वृत्तजातिसमुचय ४।६६

(पक्षिनाथौ द्वौ कर्णः । पटह-रस-रव-करम् ।
चापविहगाधिपौ । द्वयोश्च चतुष्पदे ॥)

इस छंद में चार पद होते हैं । प्रथम चरण में गुरु, लघु, गुरु+गुरु, लघु, गुरु+गुरु, गुरु, दूसरे चरण में लघु, लघु, लघु+लघु, लघु+लघु+लघु, लघु, गुरु, और तीसरे और चौथे चरणों में ५+गुरु, लघु, गुरु होते हैं ।

नंदिनी

वृत्तजातिसमुच्चय ३।२

(**सुविदग्ध कवीनां सुखापथिके । ललिताक्षरपङ्क्ति प्रसाधनिके ।**

कुरु नन्दिनी मनोहरपादे । रसनूपुरयोर्युगस्य युगम् ॥)

नंदिनी छंद के एक पद में रस और नूपुर के चार युग्म (जोड़े) होते हैं अर्थात् ॥ऽ+॥ऽ+॥ऽ+॥ऽ। इस प्रकार चतुर कवियों ने ललित अक्षरों द्वारा नंदिनी के मनोहर पादों की रचना का निर्देश किया है।

भ्रमरावलि

वृत्तजातिसमुच्चय ४।६१

(**रसनूपुरभावमणीनां युगस्य युगं**

नियमेन नियुङ्क्ष्व रूपयुगं समणिम् ।

भ्रमरावल्याः सुदूरमनोहरे

ललिताक्षरपंक्ति प्रसाधन शोभिते ॥)

रस, नूपुर, भाव और मणि के युग्मों (जोड़ों) से नियमपूर्वक ललित अक्षरों से बना हुआ छंद **भ्रमरावली** कहलाता है, जिसका रूप यों है—॥ऽ+।ऽऽ+॥ऽ+॥ऽ+॥ऽ।

स्कंधक

वृत्तजातिसमुच्चय ४।९–१२

पंचानां सदा पुरतो द्वयोश्चाग्रे वारणयोर्नियमितः ।

यथा दयिते पूर्वार्धे तथा पश्चार्धेऽपि स्कन्धकस्य नरेंद्रः ॥ ९

षड्विंशतिर्यथा गाथा रत्ने लुप्ते रसे वर्धमाने ।

एकोनत्रिंशत् स्कन्धकस्य नामानि तथा च प्रिये ॥ १०

पवन-रवि-धनद-हुतवह-सुरनाथ-समुद्र-वरुण-शशि-शैलाः ।

मधु-माधव-मदन-जयन्त-भ्रमर-शुक-सारस-मार्जाराः ॥ ११

हरि-हरिण-हस्ति-काकाः कूर्मो नय विनय-विक्रमोत्साहाः ।

धर्मार्थकामसहिता एकोनत्रिंशत् स्कन्धका भवन्ति ॥] १२

स्कंधक छंद में ८ चतुर्मात्राएँ होती हैं जिसमें छठी चतुर्मात्रा सदा ।ऽ। होती है। इस प्रकार स्कंधक में ३४ से ६२ तक अक्षर होते हैं। इसके २९ प्रकार होते हैं जिनके नाम वृत्तजातिसमुच्चय में पवन से काम तक गिनाए गए हैं। इस छंद के अनेक नाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि इसका बहुल प्रचार रहा होगा। स्कंधक का इसी प्रकार का लक्षण एक स्थान पर और मिलता है—

चउमत्ता अट्ठगणा पुब्बद्धे उत्तरद्ध होइ समरुआ।
सा खंधआ विआणहुँ पिंगल पभणेहि मुद्धि बहु संभेहा ॥

अर्थात् चतुर्मात्रा के आठ गण होने से ३२ मात्रावाला खंधआ छंद होता है जिसके बहुत भेद हैं।

खंधहा स्कंधक का अपभ्रंश रूप है। संदेशरासक में कवि ११६ वें पद्य का खंधउ कहता है जो इस प्रकार है—

मह हिययं रयणनिही, महियं गुरुमंदरेण तं णिच्चं।
उम्मूलियं असेसं, सुहरयणं कड्ढियं च तुह पिम्मे ॥

इस प्रकार (१२ + १८)= ३० मात्राओं द्वारा कुल ६० मात्राओं का भी स्कंधक छंद हो सकता है।

सवंगम

पेयड रास में इस छंद का उपयोग हुआ है। इस छंद का लक्षण प्राकृत-पैंगलम् में इस प्रकार मिलता है—

जत्थ पढम छअ मत्त पअप्पअ दिज्जए
पंच मत्त चउमत्त गणाहि किज्जए।
संभलि अंत लहू गुरु एक्कक चाहए।
मुद्धि पअंगम छंद बिअक्खण सोहए ॥

—प्रा० पै० १८६

जहाँ प्रत्येक पद में पहले छकल गण हो, पंचमात्रा अथवा चतुर्मात्रा गण न आवें, अंत में लघुगुरु आवे, ऐसा छंद प्लवंगम होता है। कुछ लोगों का मत है कि प्रत्येक पद आदि में गुरु हो और ११ मात्राएँ हों।

इस छंद का उदाहरण रास से इस प्रकार दिया जा सकता है—

जलहर संहरु एहु कोवि आइत्तओ
अविरल धारा सार दिसामुह कन्तओ।
ए मई पुहवि भमन्तो जइ पिअ पेक्खिमि
तव्वे जं जु करीहिसि तंतु सहीहिमि ॥

काव्य

इस छंद का उपयोग दो प्रकार से होता है—(१) स्वतंत्र रूप से, (२) वस्तु के रूप में उल्लाला के साथ। इस छंद के प्रत्येक पाद में २४ मात्राएँ होती हैं। प्राकृतपैंगलम् में इसका लक्षण इस प्रकार है—

आइ अंत दुहु छक्कलउ तिणि तुरंगम मज्झ।
तीए जगण कि बिप्पगणु कव्वइ लक्खण बुज्झ ॥

अर्थात् प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। आदि अंत में दो षट्कल होते हैं। शेष रचना इस प्रकार होती है—

(६+४+ह्रस्व दीर्घ ह्रस्व+४+६)। द्वितीय और चतुर्थ गण में जगण वर्जित है।

इस छंद का प्रयोग स्वतंत्र रूप से संदेशरासक के १०७ वें छंद में हुआ है और वस्तुक के रूप में संदेशरासक में १४८, १८३, १९१, १९६ छंद में मिलता है।

वत्थु (वस्तु)

इसे षट्पद भी कहते हैं। इस छंद की रचना काव्य और उल्लाला के योग से प्रायः मानी जाती है। किंतु संदेशरासक के उद्धरणों के आधार पर भयाणी जी ने यह सिद्ध किया है कि वस्तु के तीन प्रकार होते हैं—

(१) काव्य और उल्लाल, (२) रासा और उल्लास, (३)—काव्य-रासासंकीर्ण और उल्लाल के योग से बना हुआ।

दुम्मिल

'रणमल्लछंद' नामक काव्य में दुमिला छंद का सुंदर प्रयोग हुआ है। इस छंद का लक्षण प्राकृतपैंगलम् में इस प्रकार मिलता है—

दह वसु चउदह विरइ करु बिसम कणगण देहु।
अंतर विप्प पइक्क गण दुम्मिल छंद कहेहु॥
—प्रा० पै०, १९७

इससे सिद्ध होता है कि ३२ मात्रा का यह छंद है। इसमें १०+८+१४ मात्राएँ आती हैं। रणमल्लछंद[१] में दुम्मिल दिखाई पड़ता है।

उपर्युक्त छंदों के अतिरिक्त चुप्पई, पंच चामर, सारसी, हाँटकी, सिंह विलोकित आदि विविध छंदों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इन छंदों का हिंदी पर प्रभाव पड़ा और हिंदी ने संस्कृत के अतिरिक्त अपभ्रंश के इन छंदों को भी प्रयुक्त किया। अपभ्रंश के कवियों ने रसानुकूल छंदों की योजना की। गेय पदों के छंदों में पाठ्य से विशेषता दिखाई पड़ती है। अधिक संगीतात्मक होने से अपभ्रंश छंदों का हिंदी में बहुल प्रयोग हुआ।

---

१. गौरांबल गाहवि दिठ्ठ दहुदिसि गढि मढि गिरिगहरि गढियं।
हसहणि हक्कन्तउ हूं हुं हव हय हुक्कारवि हबमरि चढियं।
धडहडतउ धडि कमधज्ज धरातलि धसि धगडाबय धूंसधरइ।
ईडरवइ पक्खर वेस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ।

ऐतिहासिक रास तथा रासान्वयी ग्रंथों की उत्पत्ति और विकास का विवेचन

किसी काव्य के रूपविशेष की उत्पत्ति को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति आजकल प्रायः सार्वत्रिक है। किंतु अधिक से अधिक गहराई तक पहुँचने पर भी यह उत्पत्ति हमें प्रायः मिलती नहीं। मानव स्वभाव की कुछ प्रवृत्तियाँ इतनी सनातन हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी इतनी प्राचीन है कि यह बताना प्रायः असंभव है कि यह अभिव्यक्ति इस समयविशेष में हुई होगी। भारतीय सभ्यता को आर्य-द्रविड़-संस्कृति कहा जाय तो असंगत न होगा। द्रविड़ भाषा की प्राचीन से प्राचीन शब्दावली को लिया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस काल के बंदीजन (पुळवन) रणवीर द्रविड़ राजाओं का यशोगान किया करते थे। ऋग्वैदिक ऋषि 'इंद्रस्य वीर्याणि प्रोवाचम्' कहते हुए जब इंद्र के महान् कार्यों का वर्णन करने लगते हैं तो वर्तमान पवाड़ों की स्मृति स्वतः हो आती है। इंद्र और वृत्र का युद्ध वीर-काव्य के लिये उपयुक्त विषय था, और इसका समुचित उपयोग केवल वैदिक ऋषियों ने ही नहीं, अनेक परकालीन कवियों ने भी किया है।

प्राचीन कालीन अनेक आर्य राजाओं के कृत्य भी उस समय काव्य के विषय बने। दशराज्ञ युद्ध अनेक क्षत्रिय जातियों का ही नहीं, वसिष्ठ और विश्वामित्र के संघर्ष का भी सूत्रपात करता है। देवता केवल स्तुतियों से ही नहीं, इतिहास, पुराण और नराशंसी गाथाओं से भी प्रसन्न होते हैं। नराशंसी गाथाओं में हमारे पूर्वपुरुषों के वीर्य और पराक्रम का प्रथम गुणानुवाद है। इन्हीं गाथाओं ने समय पाकर अनेक वीरकाव्यों का रूप धारण किया होगा। ये काव्य प्रायः लुप्त हो चुके हैं। किंतु उनके रूप का कुछ आभास हमें रामायण और महाभारत से मिलता है। रामायण और महाभारत से पूर्व भी संभवतः अनेक छोटे मोटे काव्यों में राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुनादि का गुणगान हो चुका था। अन्य अनेक राजाओं के वीरकृत्यों का भी कवियों ने गुणगान किया होगा। महाभारत में नहुष, नलदमयंती, शकुंतला दुष्यंत, और विपुलादि के उपाख्यान इन्हीं वीरकाव्यों के अवशेष हैं।

शनैः शनैः इन गुणगान करनेवालों की जातियाँ भी बन गईं। सूत

और मागध राजाओं का गुणगान करते। वेदों के द्रष्टा ऋषि हैं, किंतु पुराणों के वक्ता सूत और मागध। शौनकादि मुनि भी इतिहास के विषय में आदरपूर्वक सूत से प्रश्न करते हैं। रामायण श्रीवाल्मीकि की कृति रही है, किंतु उसके गायक संभवतः कुशीलव थे। इन्हीं जातियों के हाथ आरंभिक वीरकाव्यों की श्रीवृद्धि हुई।

वीरकाव्यों में अनेक संभवतः प्राकृत भाषा में रहे। किंतु जनता की स्मृति मात्र में निहित होने के कारण उनका स्वरूप समय, देश, और परिस्थिति के अनुसार बदलता गया। शिवि आदि की कथा बौद्ध, हिंदू और जैन ग्रंथों में प्रायः एक सी है, किंतु रामकथा विभिन्न रूप धारण करती गई है। यह बताना कठिन है कि वास्तव में किसी कथाविशेष का पूर्वरूप क्या रहा होगा। किंतु ऐसे काव्यों की सत्ता का अनुमान अवश्य हम पौराणिक उपाख्यानों से कर सकते हैं।

अभिलेखों में वीरकाव्य की प्रवृत्ति किसी अंश में प्रशस्तियों के रूप में प्रकट हुई। सीमाविशेष में सीमित होने के कारण स्वभावतः उनमें कुछ लंबा चौड़ा वर्णन नहीं मिलता, किंतु वीरकाव्य के अनेक गुण उनमें मिलते हैं। इन्हें देखते कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि संभवतः प्राचीन वीरकाव्यों में गद्य और पद्य दोनों प्रयुक्त होते रहे। राजस्थान के वीरकाव्यों में इसी प्रथा को हम दूर तक देख सकते हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति चंपू काव्य का आनंद देती है। चंद्र का महरोली स्तंभाभिलेख सुंदर वीरगीत है। यशोधर्म विष्णुवर्धन के तिथिरहित मंदसोर के अभिलेख की रचना उसके गुणगान के लिये ही हुई थी। छंद और शब्द दोनों ही इस प्रशस्ति में उपयुक्त रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

सामान्यतः लोग समझने लगे हैं कि प्राचीन भारतीय प्रायः अध्यात्म विषय के प्रेमी थे। उन्हें सांसारिक और भौतिक समृद्धि से कुछ विशेष प्रेम न था। इसलिये उन्होंने वीरकाव्यों की विशेष रचना नहीं की; और यदि की तो उस समय जब वे बहिरागंतुक रीति रस्मों से प्रभावित हो चुके थे। किंतु उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों से यह स्पष्ट है कि वीरकाव्य भारत की अनादि काल से संचित संपत्ति है और किसी न किसी रूप में यह लगातार वर्तमान रही है। पुराणों और प्रशस्तियों से होती हुई यह हर्षचरितादि में पहुँचती है, और उसके बाद वीर-काव्य-लता को हम अनेक रूपों में प्रस्फुटित और प्रफुल्लित होते पाते हैं। गौडवहो, विक्रमांकदेवचरित, राजतरंगिणी,

नवसाहसांकचरित, द्व्याश्रय महाकाव्य, पृथ्वीराजविजय महाकाव्य, कीर्ति-कौमुदी, वंसतविलास, सुकृतसंकीर्तन, हम्मीर महाकाव्य आदि इसी काव्यलता के अनेक विविधवर्ण प्रसून है।

कालिदास के शब्दों में भारतीय कह सकते हैं कि यशोधन व्यक्तियों के लिये यश ही सबसे बड़ी वस्तु है। इस यश को स्थायी बनाना ऐतिहासिक काव्यरचना का मुख्य हेतु रहा है। प्रतिहारराज बाउक का मत था कि जब तक उसके पूर्वपुरुषों की कीर्ति वर्तमान रहेगी, तब तक वे स्वर्ग से च्युत नहीं हो सकते। शिक्षण प्रवृत्ति भी हम आरंभ से देख पाते हैं। मम्मट ने काव्यरचना के कारणों का विवेचन करते समय इस बात का ध्यान रखा कि मनुष्य काव्यों को पढ़कर राम का सा आचरण करे, रावण का सा नहीं। धन की प्राप्ति भी समय समय पर ऐतिहासिक काव्यों की रचना का कारण बनती रही है। निस्पृह आदिकवि वाल्मीकि ने राम के चरित का ग्रथन किया, तो राजाओं से संमानित और वृत्तिप्राप्त कवि उनके यशोगान में किस प्रकार उदासीन हो सकते थे। वे किसी अंश में राजाओं के ऋणी थे, और राजा किसी अंश में कवियों के, क्योंकि उनके यशःकाय का अजरत्व और अमरत्व कवियों पर ही आश्रित था। इसी परस्पराश्रय से अनेक काव्यों की रचना हुई है। किंतु कुछ ऐतिहासिक काव्य अपनी काव्यशक्ति का परिचय देने के लिये भी रचित हैं। तोमर राजा वीरम के सभ्यों के यह कहने पर कि उस समय पूर्व कवियों के समान कोई रचना नहीं कर सकता था, नयचंद्र सूरि ने हम्मीर महाकाव्य की रचना की। साथ ही साथ उसने अंत में यह प्रार्थना भी की—'युद्ध में विक्रमरसाविष्ट राजा प्रसन्नता से राज्य करें और उनके विक्रम का वर्णन करने के लिये कवि सदा समुद्यत हों। उनकी रसामृत से सिक्त वाणी सदा समुल्लसित होती रहे और रसास्वाद का आनंद लेनेवाले व्यक्ति उसका आस्वादन करते हुए पान किया करें।'

इस दृष्टिकोण से रचित ऐतिहासिक काव्यों में कुछ दोष और गुण अवश्यंभावी थे। ये रचनाएँ काव्य हैं, शुद्ध इतिहास नहीं। इनका उद्भव भी क्रौंच क्रौंची की सी हृदयस्पर्शिणी घटना से नहीं हुआ है। अतः इनमें पर्याप्त जोड़ तोड़ हो तो आश्चर्य ही क्या है? कवि को यह भी छूट रहती है कि वह वर्णन को सजीव बनाने के लिये नवीन घटनाओं की कल्पना करे। ऐसी अवस्था में यह मालूम करना कठिन होता है कि काव्य का कौन सा भाग कल्पित है और कौन सा सत्य। वाक्पति ने गौड़राज के वध का वर्णन करने

के लिये अपने काव्य की रचना की; किंतु अपने संरक्षक यशोवर्मा को महत्व प्रदान करने के लिये झूठ मूठ की दिग्विजय का वर्णन कर डाला, और कवि महोदय इस कार्य में इतने व्यस्त हुए कि गौड़राज के विषय में दो शब्द लिखना भी भूल गए। इस दिग्विजय के वर्णन पर कालिदास की दिग्विजय की स्पष्ट छाप है। सभी उसकी नकल है, या कुछ तथ्य भी है, यह गवेषणा का विषय बन चुका है। नवसाहसांकचरित में कवि पद्मगुप्त ने नवसाहसांक सिंधुराज की असली कथा कम और नकली बहुत कुछ दी है। हमें सिंधुराज की ऐतिहासिक सत्ता का ज्ञान न हो तो हम इस काव्य को अलिफलैला का किस्सा मात्र समझ सकते हैं। विक्रमांकदेवचरित में तथ्य की मात्रा कुछ विशेष है; किंतु यह भी निश्चित है कि उसकी अनेक घटनाएँ सर्वथा कल्पित हैं। हेमचंद्र के द्व्याश्रय महाकाव्य में एक और रोग है। उसका ध्येय केवल चौलुक्य वंश का वर्णन करना ही नहीं, विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत व्याकरण भी सिखाना है। फिर यह काव्य नीरसता दोष से किस तरह मुक्त रह सकता है। प्राचीन पद्धति का अनुसरण कर कल्पित स्वयंवर और दिग्विजयादि का वर्णन करना तो सामान्य सी बात है। पृथ्वीराजविजय काव्य अपूर्ण है, किंतु अवशिष्ट भाग से यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि ने उसे काव्य का रूप देने का ही मुख्यतः प्रयत्न किया है। यही बात प्रायः अन्य ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक संस्कृत काव्यों के विषय में कही जा सकती है।

यद्यपि इन काव्यों के विषय में शायद कवि यह सच्चा दावा नहीं कर सकते कि उन्होंने किसी नृपतिविशेष के गुणों से प्रमुदित होकर अपने काव्य की रचना की है, तो भी काव्य की दृष्टि से ये अधम नहीं है। हम उनपर यह दोषारोप कर सकते हैं कि जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा, पुष्पचयन आदि का वर्णन कर उन्होंने कथाचरित् के प्रवाह को प्रायः रुद्ध कर दिया है; किंतु हम कथा मात्र को ध्येय न मानें तो उनकी कथा का समुचित आस्वादन कर सकते हैं। गौडवहो में अनेक प्रकाशित दृश्यों का सुंदर वर्णन है। नवसाहसांकचरित के वर्णन भी कवित्वपूर्ण हैं। बिल्हण तो वास्तव में कवि है। विक्रमांकदेवचरित के चतुर्थ सर्ग में आहवमल्ल की मृत्यु का वर्णन संस्कृत साहित्य में अतुल्य है। अंतिम सर्ग में कवि के वृत्त की तुलना भी हर्षचरित में बाण के आत्मचरित से की जा सकती है। कवि का स्वाभिमान और स्वदेशप्रेम भी दर्शनीय है। पृथ्वीराजविजय भी काव्यदृष्टि से सुंदर है। कवि में कल्पनाशक्ति

है और संस्कृत शब्दावली पर पूर्ण अधिकार। यही बात कुछ कम या अधिक अंश में संस्कृत के अनेक वीरकाव्यकारों के संबंध में कही जा सकती है। केवल राजतरंगिणी में इतिहास तत्व को हम विशेषांश में प्राप्त करते हैं।

देश्यभाषा के कवियों को संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों की यह पद्धति विरासत में मिली थी। इसके साथ ही देश्यभाषाओं में अपना भी निजी वीरकाव्य साहित्य था। कवि पंप ने विक्रमार्जुनविजय में अरिकेसरी द्वितीय के युद्धों का ओजस्वी वर्णन किया है। अपभ्रंश के महान् कवि स्वयंभू ने हरिवंश-पुराण, पउमचरिय आदि धार्मिक ग्रंथ लिखे। किंतु इनमें वीररस का भी यथासमय अच्छा निर्वाह हुआ है। कवि पुष्पदंत की भी निवृत्तिपरक कृतियाँ ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। किंतु उनके राजदरबार, देशविजय, युद्धादि के वर्णनों से यह भी निश्चित है कि उनमें वीरकाव्यग्रथन की पूर्ण क्षमता थी। वास्तव में अपना कविजीवन संभवतः उन्होंने ऐसे वीरकाव्यों द्वारा ही आरंभ किया था। निवृत्तिपरक ग्रंथों की बारी तो कुछ देर से आई। इस प्रसंग में आदिपुराण की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं—

देवी सुएण कइ भणिउ ताम।
भो पुष्फयंत! ससि लिहिय णाम।
णिय-सिरि-विसेस-णिज्जिय सुरिंदु। गिरि-धीर-वीरु भइरव-णरिंदु।
पइं मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ। उप्पराणउ जो मिच्छत्त राउ।
पच्छित्त तासु जइ करहि अज्जु। ता घडइ तुज्झु परलोय कज्जु॥

जिस भैरव नरेंद्र की वीरता का गान पुष्पदंत ने किया था, उसके विषय में हमें कुछ ज्ञान नहीं है। किंतु यह गुणानुवाद इस परिमाण में और इतना सरस रहा होगा कि इससे लोगों को मिथ्यात्व में अनुराग उत्पन्न हुआ और इसके प्रायश्चित्त रूप में कवि को निवृत्तिपरक काव्य आदिपुराण की रचना करनी पड़ी। काश हमें कहीं यह काव्य प्राप्त होता! णायकुमारचरिउ की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी शायद पृथ्वीराजरासो की याद दिलाएँगी—

चरण-चार चालिय-धरायलो। धाइयो भुवा-तुलिउ-मयगलो।
ताकयंतेहिं तेण दारुणं। परियलंत-वण-सहिण-सारुणं।
मलिय-दलिय-पडिखलिअ-संदणं। खिविउ गय-घडा-वीढ-मद्दणं।
अरिदमणु पधायउ साहिमाणु। 'हणु हणु' भणंतु कड्ढिवि किवाणु।

धनपाल, कनकामर, आमभर आदि ने भी शौर्य का अच्छा वर्णन किया है, और हेमचंद्र ने ऐसे अनेक पद्य उद्धृत किए हैं जिनसे अपभ्रंश में वीरकाव्य का अनुमान किया जा सकता है। मंत्री विद्याधर के जयचंद विषयक अनेक अपभ्रंश पद्य मिले हैं। शायद वे किसी वीरकाव्य के अंग हों। जज्जल रणथंभोर के राजा हम्मीर का प्रसिद्ध सेनापति था। उसके शौर्य का वर्णन करनेवाले पद्य शायद हम्मीर संबंधी किसी काव्य के भाग रहे हैं। ग्वालियर में एक अन्य राजपूत जाति के दरबार में रहते हुए भी नयचंद्र सूरि हम्मीर के जीवन का प्रामाणिक वृत्त उपस्थित कर सके। यह भी इस बात का निर्देश करता है कि हम्मीर महाकाव्य से पूर्व हम्मीर के कुछ प्रामाणिक वृत्तांत लिखे जा चुके थे। प्राचीन काल से उद्भूत वीरकाव्य की धारा अनेक भाषा-स्रोतों से बहती हुई १२वीं शताब्दी तक पहुँच चुकी थी।

हमें यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है कि यह धारा देश के किसी भागविशेष में कुछ समय के लिये सूख गई थी या हमारे देश में यह नवीन काव्यरूप किसी अन्य देश से पहुँचा। वीरों के गुण गाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, यह न भारतीय है और न ईरानी। कालिदास ने रघुवंश के गुणों से मुग्ध होकर उसका अनुकीर्तन किया। हरिषेण समुद्रगुप्त के अचिंत्य चरित से प्रभावित था। बाण ने हर्ष का चरित लिखना आरंभ किया। बाण की अनैतिहासिकता का आरोप करनेवाले यह भूल जाते हैं कि हर्षचरित अपूर्ण है। उसकी कथा केवल हर्ष के सिंहासनारूढ़ होने तक ही पहुँचती है। वहाँ तक के लिये यह हर्ष के जीवन का ही नहीं, हर्षकालीन समाज का भी संपूर्णांग चलचित्र है। कथा समाप्ति तक पहुँचती तो हमें हर्षविषयक बातें और मिलतीं। खेद केवल इतना ही है कि परवर्ती कवियों ने बाण की बराबरी तक पहुँचने के प्रयास में इतिहास को बहुत कुछ छुट्टी दे दी है। बाण में यह दोष नहीं है। कथा के ऐतिहासिक भाग तक पहुँचने के बाद हर्षचरित प्रभाकरवर्धन और हर्षवर्धन कालीन युग का सजीव चित्र है।

राजस्थान और गुजरात में इस परंपरा के सजीव रहने के हमें अनेक प्रमाण प्राप्त हैं। मध्यदेश में भी यह परंपरा कुछ विशृंखल सी प्रतीत होती हुई भी बनी रही होगी। इसी प्रदेश में गौडवहो की रचना हुई। भोज की प्रशस्ति भी प्रायः इसी देश की है। प्रचंडपांडवादि के रचयिता राजशेखर से भी हमें ज्ञात है कि दसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य तक मध्यदेशीय कवि सर्वभाषानिषण्ण थे। स्वयंभू मध्यदेशीय थे। भद्रपा को राहुल जी ने

श्रावस्ती का माना है। तिलकमंजरी (संस्कृत), पाइलच्छीनाममाला (प्राकृत कोश), ऋषभपंचाशिका (प्राकृत) और सत्यपुरीय श्रीमहावीर उत्साह (अपभ्रंश) के रचयिता, राजा मुंज और भोज की सभा के भूषण धनपाल भी सांकाश्य के थे। संवत् १२३० में कवि श्रीधर ने चंदवाड़ में भविष्यदत्तचरित की अपभ्रंश में रचना की। जयचंद्र के मंत्री के अनेक अपभ्रंश पद्य प्राप्त हैं ही। फिर यह कहना किस प्रकार ठीक माना जा सकता है कि गाहडवालों के प्रभाव के कारण कुछ समय तक देश्यभाषा को धक्का लगा था। गाहडवालों ने संस्कृत को संरक्षित अवश्य किया; किंतु यह मानना कि उन्होंने बाहरी जाति का होने के कारण देश्यभाषा की अवज्ञा की, संभवतः ठीक नहीं है। यह कुछ संशयास्पद है कि गाहडवाल बाहर से आए, और यदि कुछ समय के लिये यह मान भी लिया जाय कि गाहडवाल दक्षिणी राष्ट्रकूटों की एक शाखा थे तो भी हम यह समझ नहीं पाते कि उन्होंने अपभ्रंश की इस कारण से अवज्ञा की। अपभ्रंश काव्य तो दक्षिणी राष्ट्रकूटों के संरक्षण में फला फूला था। जिस वंश के राजाओं का संबंध स्वयंभू और पुष्पदंत जैसे अपभ्रंश कवियों से रहा हो, उनके वंशजों से क्या यह आशा की जा सकती है कि उन्होंने जान बूझकर अपभ्रंश की अवज्ञा की होगी। दामोदर भट्ट के उक्तिव्यक्तिप्रकरण के आधार पर भी हमें यह अनुमान करना ठीक प्रतीत नहीं होता कि राजकुमारों को घर पर मध्यदेशीय भाषा से भिन्न कोई अन्य भाषा बोलने की आदत थी। यदि वास्तव में यह स्थिति होती तो उसी भाषा द्वारा राजकुमारों को बनारसी या कन्नौजी भाषा की शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता। किंतु वस्तुस्थिति तो कुछ और ही है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए यही मानना होगा कि काव्यधारा सर्वत्र गतिशील थी। यह भी संभव है कि अनेक वीरकाव्यों की इस समय प्रायः सर्वत्र रचना हुई, यद्यपि उनमें से अधिकांश अब नष्ट हो चुके हैं। उनके साथ ऐसी धार्मिक भावना नहीं जुड़ी थी जो उन्हें सुरक्षित रखे। पुष्पदंत विनिर्मित भैरवनरेंद्रचरित कालकवलित हो चुका है। उनके आदिपुराणादि ग्रंथ वर्तमान हैं। देश्यभाषा में रचित वीरकाव्य के बचने के लिये एक ही उपाय था। उसका जीवन न राजाओं के संरक्षण पर निर्भर था और न जनता की धर्मभीरुता या धर्मप्राणता पर। उसकी स्वयंभू सप्राणता, सरसता, एवं अमर वर की तरह नित्यनवीन रहने की शक्ति ही उसे बचा सकती थी।

इस स्वयंभू सप्रमाणता का सबसे अच्छा उदाहरण पृथ्वीराजरासो है। किंतु पृथ्वीराजरासो रासो काव्यरूप का प्रथम उदाहरण नहीं, यह तो इसका पूर्णतया पल्लवित, पुष्पित, विविध-वर्ण-रंजित रूप है। रास शब्द, जिसका प्रथमांत अपभ्रंश रूप रासउ या रासो है, उस समय तक घिस घिसाकर अनेकार्थों में प्रयुक्त होने लगा था। रास का सबसे प्राचीन प्रयोग एक मंडलाकार नृत्यविशेष के लिये है। अब भी जब हम गुजरात के रास और गर्बा के विषय में बातचीत करते हैं तो यही रूप अधिकतर हमारे सामने रहता है। किंतु बहुधा मानव नृत्य अधिक समय तक सर्वथा मूक नहीं रहता। जैसा हमने रिपुदारण रास को जनता के संमुख उपस्थित करते हुए लिखा था, 'जब आनंदातिरेक से जनसमूह नृत्य करता है तो अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये स्वभावतः वह गान और अभिनय का आश्रय लेता है। उसकी उमंग के लिये सभी द्वार खुले हों तभी उसे संतोष होता है। उसे संपूर्णांग नृत्य चाहिए; केवल मूक नृत्य उसकी भावाभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। श्रीमद्भागवत पुराण का रास कुछ इसी तरह का है। उसमें गान, नृत्य और काव्य का मधुर मिश्रण है। पश्चिमी भारत के अनेक रास चिरकाल तक संभवतः इसी शैली के रहे। रिपुदारण रास (रचना संवत् ९६२ वि०) में रास को हम अभिनेय रूप में प्राप्त करते हैं। इसी अभिनेयांश ने शनैः शनैः बढ़कर रास को उपरूपक बना दिया। किंतु इसी तरह गेयांश भी जनप्रिय होता जा रहा था। उसमें भी जनता को प्रसन्न और आकृष्ट करने की शक्ति थी। उसमें भी वह सरस्वती शक्ति थी जो कवि को अमरत्व प्रदान करती है।'

रास के साथ गाई जानेवाली कृतियाँ आरंभ में लघुकाय रही होंगी। अंगविज्जा में निर्दिष्ट 'रासक' जाति नाचती और साथ में गाती भी होगी। छंद भी संभवतः प्रायः वही एक रहा होगा जिसे रास छंद कहते हैं। उसका ताल ही ऐसा है जो नर्तन के लिये सर्वथा उपयुक्त है। शनैः शनैः लोगों ने अडिल्ल, दोसा, पद्धडिका आदि छंदों को भी प्रयुक्त करना आरंभ कर दिया। किंतु इससे उसकी नर्त्यता में कोई बाधा नहीं पड़ी। प्राचीन अपभ्रंश छंदों की रचना ताल और लय पर आश्रित है। इनका समुचित प्रयोग भी वही कर सकता है जिसका कान अच्छी तरह से सधा हो। हेमचंद्र ने तो सभी मात्रिक छंदों तक के लिये रासक शब्द प्रयुक्त करनेवाले विद्वानों का मत भी उद्धृत किया है।

रास के गेयांश के जनप्रिय होने पर उसका अनेक रूप से प्रयुक्त होना स्वाभाविक था। धार्मिक आचार्यों ने रास द्वारा अपना संदेश जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। रास नाचने के बहाने से मोहसक्त पाँच सौ चोरों को प्राकृत चर्चरी द्वारा प्रतिबोधित करने का उल्लेख 'उत्तराध्ययन सूत्र' (कपिलाध्ययन ८) में तथा 'प्राकृत कुवलयमाला' में मिलता है। उसी प्रकार वादी सूरि को सिद्ध सेन दिवाकर के साथ लाट भरुच के बाहर गवालों के समक्ष जो वाद करना पड़ा, उसमें रास की पद्धति से ताल देते हुए उन्होंने ये पद्य गाए थे :—

नवि मारियइ नवि चोरियइ, परदारह गमण निवारियइ।
थोवा थावँ दाइयइ, सग्गि दुगु दुगु जाइयइ॥

अब भी अनेक जैन आचार्य अपभ्रंश में रचना करते हैं, और उन्हें उपयुक्त रागों में गाते भी हैं। तेरह पंथ के क्षेत्र में यह पद्धति बहुत जनप्रिय रही है। जनता में वीरत्व, देशभक्ति आदि के भावों को जाग्रत करने के लिए भी रास उपयुक्त था। अतः उस क्षेत्र में रास का प्रयोग भी शायद नवीं दसवीं शताब्दियों तक होने लगा हो।

इस प्रकार के काव्यों के विकास का मार्ग इससे पूर्व ही प्रशस्त हो चुका था। संस्कृति की प्रशस्तियाँ, संस्कृत के ऐतिहासिक काव्य और नाटक, अपभ्रंश की अनेक कृतियाँ जिनमें इतस्ततः छोटे मोटे वीर काव्य समाविष्ट हैं, रासो-वीर-काव्य के मार्ग प्रदर्शक रहे होंगे। उनमें जिन कृतियों को कराल काल कवलित न कर सका है, हम उसका कुछ परिचय यहाँ दे रहे हैं :—

१. भरतेश्वर बाहुबलि घोरः—इसकी रचना संवत् १२२५ के लगभग वज्रसेन सूरि ने की। कथा प्रसिद्ध है। भरतेश्वर ने सर्वत्र दिग्विजय की। किंतु उसका छोटा भाई बाहुबली अपने को भरतेश्वर का अधीनस्थ राजा मानने के लिये तैयार न था। इसलिये चक्र दिग्विजय के बाद भी आयुधशाला में न घुसा। भरतेश्वर ने बाहुबलि पर आक्रमण किया; किंतु अंततः द्वंद्वयुद्ध में उससे हार गया। स्वगोत्री पर चक्र प्रहार नहीं करता, इसलिये चक्र भी बाहुबली का कुछ न बिगाड़ सका। विजय के पश्चात् बाहुबली को ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने स्वाभिमान का त्याग कर दिया। इस रास में सेना के प्रयाण आदि का वर्णन सामान्यतः ठीक है, किंतु उसमें कुछ विशेष

नवीनता नहीं है। संभवतः जैन मंदिरों में गान और नर्तन के लिये इसकी रचना हुई हो।

२. भरतेश्वर बाहुबलि-रास (रचनाकाल, सं० १२४१)—इसके रचयिता शालिभद्र सूरि आचार्य श्री हेमचंद के समकालीन रहे होंगे। काव्य के सौष्ठव के देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि तत्कालीन देशी भाषाओं में उस समय उत्कृष्ट काव्य लिखे जा रहे थे। दिग्विजय के लिये प्रस्थान करने से पूर्व भरतेश्वर ऋषभदेव को प्रणाम करने के लिये चला;—

चलीय गयवर चलीय गयवर गुडिर गज्जंत।
हुंकइ हसमस हणहणइ तरवरंत हय-घट्ट चल्लीय;
पायल पयभरि टलटलीय मेरु-सेस-सीस-मणि मउड डुल्लीय।
सिउं मरुदेविहिं संचरीय कुंजरि चडीयनरिंद
समोसरणि सुरसरि सहिय वंदिय पढमजिणंद ॥१॥ (कं० १६)

चक्र ने पहले पूर्व दिशा में प्रयाण किया। साथ में चतुरंग सेना थी। सर्वत्र भरतेश्वर की विजय हुई। किंतु अयोध्या वापस आने पर चक्र ने आयुधशाला में प्रवेश न किया। इस पर भरत ने एक दूत बाहुबली के पास भेजा। रास्ते में सर्वत्र अपशकुन हुए—

काजल काल बिडाल, आवीय आडिइं ऊतरइए।
जिमणउ जम विकराल, खर खर खर-रव ऊछलीय ॥१५॥ (कं० ५७)

सूकीय बाडल-डालि, देवि बइठि य सुर करइ ए।
झंपी य झाखम झालि, वूक पोकारइ दाहिणइ ए ॥१६॥ (कं० ५८)

बाहुबली की राजधानी पोयणपुर पहुँच कर दूत ने अनेक तरह समझाते हुए अंत में कहा—

सरवसु सुंपि मनाविन भाई।
कहि कुणि कूडी कुमति बिलाई?
मूंझि म मूरख! मरि म गमार?
पय पणमीय करि करि न समार ॥२१॥ (कं० ११०)

किंतु बाहुबली ने उत्तर में कहा कि मनुष्य को उतना ही प्राप्त होता है जितना भाग्य में लिखा है—

नेसि निवेसि देसि घरि मंदिरि
जलि थलि श्रृंगलि गिरि सुइ कंदरि ।
दिसि दिसि देसि देसि दीपंतरि
लहीडं लाभइ जुगि सचराचरि ॥९४॥

साथ ही दूत से यह भी कहा कि वह भरत से कम बली नहीं है। दूत अयोध्या पहुँचा, भरत की सेना पोयणपुर पहुँची। भयंकर युद्ध हुआ दोनों पक्ष के बहुत से योद्धा मारे गये। अंत में सुरेंद्र के कहने पर दोनों भाइयों का द्वंद्व युद्ध हुआ। भरत हारा; किंतु विजयोन्मत्त न होकर बाहुबली ने कहा—

तइं जीतउं मइं हरिउं भाइ ।
अम्ह सरणि रिसहेसर पाय ॥ (छं० १९१)

और मन में पश्चात्ताप करते हुए—

सिरि वरि ए लोच करेउ
का सगि रहेउ बाहु बले ।
आसूंइ ऐ अंखि भरेड
तस पय पणमए भरह भडो ॥ (१९५)

भाई को कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित देख कर भरत ने बार बार क्षमा माँगी। किंतु बाहुबली को केवल ज्ञान उत्पन्न हो चुका था। भरत अयोध्या आये, और चक्र ने आयुधशाला में प्रवेश किया।

दो सौ पाँच छंदों का यह छोटा सा काव्य भारतीय वीर गाथाओं में निजी स्थान रखता है। इसके कथानक के गाथन में कहीं शिथिलता नहीं है। युद्ध, सेना - प्रयाण, दूतोक्ति, बाहुबली की मनस्विता आदि के चित्र सजीव हैं। शब्दों का चयन अर्थानुरूप है। उक्ति वैचित्र्य भी द्रष्टव्य है। भरतेश्वर के चक्रवर्तित्व की हँसी उड़ाता हुआ बाहुबली कहता है—

कहिरे भरहेसर कुण कहीइ ।
मइ सिउं रणि सुरि असुरि न रहीइ ।
चक्र धरइ चक्रवर्ति विचार ।
तउ अम्ह पुरि कुंभार अपार ॥ (११२)

भरतेश्वर ही केवल मात्र चक्री न था। बाहुबली के नगर में भी अनेक चक्रवर्ती, यानि, कुम्हार थे। बाहुबली का बल चक्रादि आयुधों पर आश्रित न था—

परइ आस किणि कारणि कीजइ ?
साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ ।
हीडं अनइं हाथ हत्थीयार
पहुजि वीर-तखाड परिवार ॥१०४॥

इस रास की भाषा की हम 'रास और रासान्वयी काव्य' में प्रकाशित आबूरास, रेवंतगिरि रास आदि की भाषा से तुलना कर सकते हैं। राजस्थानी और गुजराती भाषा के विद्वानों के लिये यह मानों अपनी निजी भाषा है। प्राचीन हिंदी के जानकारों के लिये भी यह सुज्ञेय है।

पृथ्वीराज रासो

'भारत बाहु बलिरास' के कुछ समय बाद हम पृथ्वीराज रासो को रख सकते हैं। यह निश्चित है कि इसकी रचना सोलहवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। अकबर के समय में रचित 'सुर्जन चरित' 'आईने-अकबरी' आदि ग्रंथों से सिद्ध है कि तत्कालीन समाज चंद और उसके काव्य से भली भाँति परिचित था। इसलिये प्रश्न केवल इतना ही रहता है कि सोलहवीं शताब्दी से कितने समय पूर्व पृथ्वीरासो की रचना हुई होगी।

रचनाकाल की प्रथम कोटि निश्चित की जा सकती है। संयोगिता स्वयंवर और कइमास वध रासो के प्राचीनतम अंश हैं। स्वयंवर की तिथि अनिश्चित है। किंतु कइमास वध की तिथि निश्चित की जा सकती है। खरतरगच्छ पट्टावली के उल्लेख से सिद्ध है कि संवत् १२३६ तक मंडलेश्वर कइमास पृथ्वीराज के दरबार में अत्यंत प्रभावशाली था। 'पृथ्वीराजविजय' की रचना के समय भी उसका प्रभाव प्रायः वही था। हम अन्यत्र सिद्ध कर चुके हैं कि 'पृथ्वीराजविजय' की रचना सन् ११९१ और ११९२ के बीच में हुई होगी। उसके नाम से ही सिद्ध है कि वह पृथ्वीराज की महान् विजय का काव्य रूप में स्मारक है। यह विजय सन् ११९१ में हुई। एक वर्ष बाद यही विजय पराजय में परिणत हो चुकी। कइमास-वध को हम ऐतिहासिक घटना मानें, तो हमें इसे पृथ्वीराजविजय की रचना के बाद, अर्थात् सन् ११९२ के आरंभ में रखना होगा। पृथ्वीराजविजय को यह घटना अज्ञात है; रासो के कथानक का यह प्रमुख भाग है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हम रासो की रचना की प्रथम कोटि को सन् ११९२ में रख सकते हैं।

निश्चित रूप से इससे अधिक कहना कठिन है। रासो के अपभ्रंशरूप

वाले पद्य 'पुरातन प्रबंध संग्रह' की जिस प्रति में मिले हैं, उसका लिपिकाल संवत् १५२८ है। इसलिये जिस पुस्तक से ये पद्य लिये गए हैं वह निश्चित ही वि० १५२८ (सन् १४७१) से पूर्व बनी होगी किंतु इसी संग्रह में निम्न-लिखित ये शब्द भी मिले हैं:—

सिरि वत्थु पाल मंतीसर जयतसिंहभणणत्थं।
नागिंदगच्छमंडण उदयप्पह सूरि सी सेयं॥
जिणभद्देण य विक्कमकालाउ नवइ अहियबारसए।
नाणा कहाणपहाणा एस पबंधावली रईआ॥

इससे यह स्पष्ट है कि प्रबंधसंग्रह के अंतर्गत कुछ प्रबंध संवत् १२८६ से पूर्व के भी हैं। क्या पृथ्वीराज प्रबंध उन्हीं प्राचीन प्रबंधों में है? कहना कुछ कठिन है। प्रबंध में एकाध बात वर्तमान है जो इतिहास की दृष्टि से ठीक नहीं है। पृथ्वीराज ने सात बार सुल्तान को हराकर नहीं छोड़ा, न उसने कभी गजनी से कर उगाहा। किंतु साथ ही कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें कोई जानकार ही कह सकता था। हांसी से आगे जाकर मुसलमानों से युद्ध करना ऐसी ही एक घटना है। युद्ध के समय पृथ्वीराज का सोना भी वैसी ही तथ्यमयी दूसरी घटना है। पृथ्वीराज का बंदी होकर अंत में मारा जाना भी इसी प्रकार सत्य है। गुर्जर देश में रहनेवाला कोई व्यक्ति सपाद-लक्षाधिपति पृथ्वीराज के विषय में यदि इतनी बातें जानता हो तो उसका समय पृथ्वीराज से बहुत अधिक दूर न रहा होगा। पर 'पुरातन प्रबंध संग्रह' के छप्पयों की भाषा के आधार पर भी रासो के काल का कुछ विचार किया जा सकता है। छप्पय निम्नलिखित हैं:—

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पइं कइंबासह मुक्कओ
उर भिंतरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउं भंमइ सूमेरनंदण ?
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरि वणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
न जाणउं चंदबलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह॥ २७५॥
अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु
कूडु मंत्रु मम ठवओ एहु जं बूय मिलि जग्गरु।
सह नामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झई,
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।

पहु पहुविराय सइं-भरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि,
कइंबास बिश्रास बिसट्ठविणु मच्छिबंधिबद्धश्रो मरिसि ॥

भाषा स्पष्टतःअपभ्रंश है; किंतु सर्वथा टकसाली अपभ्रंश नहीं। जिस अपभ्रंश का वर्णन हमें 'हेम व्याकरण' में मिलता है, यह उससे कुछ अधिक विकसित और कुछ अधिक घिसी है। इस बात को ध्यान में रखते हुए डॉ॰ माता-प्रसाद ने मूल रासो की रचना को सन् १४०० के लगभग रखने का प्रयत्न किया है। किंतु भाषादि के विषय में 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' का संपादन करते समय मुनि जिनविजयजी ने जो शब्द लिखे थे वे पठनीय हैं:—इकार उकार के ह्रस्व दीर्घ का निश्चित नियम अपनी भाषा के पुराने लेखक नहीं रखते।...इसके सिवाय शब्दों की वर्ण संयोजना के बारे में भी अपने पुराने लेखक एकरूपता नहीं रखते। अकेले 'हवे' शब्द को 'हिवं' 'हिवु'। वर्ण संयोजना की इस अवस्था के कारण कोई भी पुरानी देशभाषा के लेखक की रचना में हमें उसकी निजी निश्चित भाषाशैली और लोगों की उच्चारण पद्धति का निश्चित परिचय नहीं मिलता। कोई ऐसी पुरानी कृति परिमाण में विशेष लोकप्रिय बनी हो और उसका पठन पाठन में अधिक प्रचार हुआ हो, तो उसकी भाषा रचना में जुदा जुदा जमानों के अनेक जाति, रूप और पाठभेद उत्पन्न होते हैं, और वह अत्यधिक अनवस्थित रूप धारण करती है। और उसी के साथ किसी भाषातत्वानभिज्ञ संशोधक विद्वान् के हाथ यदि वह उसके शरीर का कायाकल्प हो जाय तो वह उसी दम नया रूप भी प्राप्त कर लेती है।' यदि इन्हीं शब्दों को हम वि॰ सं॰ १५२८ में लिपि की हुई पुस्तक पर लागू करें तो रासो के उद्धृत छंदों की भाषा हमें रासो को लगभग सन् १४०० के लगभग रखने के लिये बाध्य नहीं करती। उसकी अपेक्षाकृत परवर्तिता भाषा उपर्युक्त अनेक कारणों से हो सकती है।

मूल अपभ्रंश रासो इस समय उपलब्ध नहीं है। किंतु उसके अनेक परवर्ती रूप अब प्राप्त हैं। आरंभ में केवल रासो के लगभग ४०,००० श्लोक परिमाण वाले बृहद् रूप की ओर लोगों का ध्यान गया। श्यामसुंदरदास और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या आदि ने १९०४-१९१२ में नागरीप्रचारिणी सभा से इस रूपांतर को प्रकाशित किया, और कई वर्ष तक इसी के आधार पर रासो की ऐतिहासिकता के विषय में विचार और विमर्श चलता रहा। कुछ समय के बाद उसके अन्य रूपांतर भी सामने आए। किंतु विद्वान् उन्हें रासो के संक्षिप्त रूप मानते रहे। सन् १९३८ में मथुराप्रसाद जी दीक्षित ने

असली पृथ्वीराज रासो के नाम से रासो के मध्यम रूपांतर के एक समय को लाहौर से प्रकाशित किया। इस रूपांतर का परिमाण लगभग १०,००० श्लोक है। सन् १६३६ में हमने इसके तीसरे रूपांतर के विषय में 'पृथ्वीराजरासो एक प्राचीन प्रति और प्रामाणिकता नाम का एक लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, में प्रकाशित किया। इस रूपांतर का परिमाण लगभग ४,००० श्लोक है। इस रूपांतर की प्रेस-कॉपी भी हमने तैयारी की थी। किंतु हमारे सहयोगी प्रोफेसर मीनाराम रंगा का अकस्मात् देहावसान हो गया। और उसके बाद उस प्रति का कुछ पता न लग सका। रासो के चौथे रूपांतर का अंशतः संपादन 'राजस्थान भारतीय' में श्रीनरोत्तमदास स्वामी ने किया है। कन्नौज समय का संपादन डॉ० नामवर सिंह ने किया है। इस रूपांतर का परिमाण लगभग १३०० श्लोक है।

पाठों की छानबीन करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि छोटे रूपांतर बड़े रूपांतरों के संक्षिप्त संस्करण नहीं हैं। डॉ० माताप्रसाद ने सपरिश्रम परीक्षण के बाद बतलाया है कि बृहद् तथा मध्यम रूपांतरों में ४६ स्थानों में से केवल १६ स्थानों पर बलाबल संबंधी समानता है, शेष स्थानों में विषमता है। मध्यम और लघु में ५१ स्थानों में से २४ में विषमता है। यदि छोटे रूपांतर वास्तव में दूसरों के संक्षेप होते तो ऐसी विषमता न होती।

यह विषमता स्पष्टतः परवर्ती कवियों की कृपा है। रासो की जनप्रियता ही उसकी ऐतिहासिकता की सबसे बड़ी शत्रु रही है। समय के प्रवाह के साथ ही अनेक काव्य-स्रोतस्विनी इसमें आ घुसी है, और अब उसमें इतनी घुल मिल गई कि मुख्य स्रोत को ढूँढना कठिन हो रहा है। अपभ्रंश-काल से लघुतम संस्करण तक पहुँचते-पहुँचते इसमें पर्याप्त विकृति आ चुकी थी; किंतु तदनंतर यह विकृति शीघ्र गति से बढ़ी। चारों रूपांतरों में पाए जाने वाले खंड केवल सोलह हैं। मध्यम रूपांतर में २१ समय और अधिक हैं। तेतीस खंड केवल बृहद् रूपांतर में वर्तमान है; और इनमें से भी पाँच इस रूपांतर की प्राचीनतम प्रतियों में नहीं मिलते। लोहाना आजनबाह, नाहर रायकथा, मेवाती मुगल कथा, हुसेनखाँ चित्ररेखा पात्र, प्रिथा विवाह, देवगिरि युद्ध, सोमवध, मोरा राइ भीमंगवध आदि अनैतिहासिक प्रसंग छोटे रूपांतरों में वर्तमान ही नहीं हैं।

यह स्थूलकायता किस प्रकार आई उसका अनुमान भी कठिन नहीं

है। केवल कनवज्ज समय में लघुतम रूपांतर की अपेक्षा बृहद् रूपांतर में २१०७ छंद अधिक और उसकी काया लघुतम से सतगुनी है। इधर उधर की सामान्य वृद्धि के अतिरिक्त कन्नौज यात्रा के वर्णन में निम्नलिखित प्रसंग अधिक हैं:—

१. जमुना किनारे पड़ाव	२. अपशकुनों की लंबी सूची
३. सामंत-वर्णन	४. देवी, शिव, हनुमान आदि का प्रत्यक्ष होकर आशीर्वाद प्रदान
४. नागा साधुओं की फौज	५. शंखध्वनि साधुओं का वर्णन

डॉ॰ नामवरसिंह ने ठीक ही लिखा है, यह विस्तार स्पष्ट रूप से अनावश्यक और अप्रासंगिक है। अपशकुनों की कल्पना केवल प्रमुख सामंतों की मृत्यु को पुष्ट करने के लिये बाद में की गई और पूर्व सूचना के रूप में जोड़ी गई प्रतीत होती है। अलौकिक और अतिमानवीय घटनाओं के लिये भी ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।' हमने भी इसी प्रकार की वृद्धि को ध्यान में रखते हुए कई वर्ष हुए लघुकाय रूपांतरों को ही अधिक प्रामाणिक मानने का विद्वानों से अनुरोध किया था।

रासो का परिवर्धन-क्रम

मूल रासो के ठीक रूप का अनुमान असंभव है। किंतु इसमें तीन कथानक अवश्य रहे होंगे। संयोगिता स्वयंवर की कथा रासो का मुख्य भाग रही है। यही इसकी मुख्य नायिका है। इसी से यह काव्य सप्राण है। अन्यत्र हमने संयोगिता स्वयंवर की भाषा के आपेक्षिक प्राचीनत्व का भी कुछ दिग्दर्शन किया है। कइमास-वध का वर्णन पृथ्वीराज प्रबंध के अपभ्रंश पद्यों में हैं। अतः उसका भी रासो का मूलभाग होना निश्चित है। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी से युद्ध और पृथ्वीराज का उसका अंततः वध भी मूल रासो के भाग रहे होंगे। इस घटना का उपक्षेप ऊपर उद्धृत 'कइंबास विश्रास विसट्ठ विणु मच्छिबंधिबद्धओ मरिसि' पंक्ति में स्पष्टतः वर्तमान है।

लघुतम की धारणोज की प्रति संवत् १६६७ की है। लगभग चार सौ वर्ष तक भाटों की जबान पर चढ़े इस काव्य में स्वतः अनेक परिवर्तन हुए होंगे। पुरातन कवियों की रचना में संभवतः अधिक भेद नहीं हुआ है। व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास आदि प्राचीन कवि हैं। भोजदेशीय प्रवरसेन का

सेतुबंध भी प्राचीन ग्रंथ है। दंडमाली के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना कठिन है ? शायद दंडी को ही दंडमाली संज्ञा दी गई हो। वंशावली दीर्घकाय नहीं है। उत्पत्ति की कथा केवल इतना ही कह कर समाप्त कर दी गई है कि माणिक्यराज ब्रह्मा के यज्ञ से उत्पन्न हुआ। इसी के वंश में कामांधबीसल हुआ। उसकी मृत्यु के बाद ढुंढ दानव की उत्पत्ति का वर्णन है। जिसके अत्याचार से सोमर की प्रजा में हाहाकार मच गया। अनल्ल का जन्म मातृगृह में हुआ। अंत में ढुंढ को प्रसन्न कर उसने राज्य प्राप्त किया। आनल्ल का पुत्र जयसिंह हुआ। जयसिंह के पुत्र आनंदमेव ने राज्य करने के बाद तप किया और राज्य अपने पुत्र सोम को दिया। सोमेश्वर के अनंगपाल तंवर की पुत्री से पृथ्वीराज ने जन्म लिया।

इसके बाद रासो के मुख्य छंद, कवित्त, जाति, साटक, गाथा दोहा आदि का निर्देश कर कवि ने रास का परिमाण 'सहस पंच' दिया है जिसका अर्थ '१००५' या '५०००' हो सकता है। इसके बाद मंगलाचरण का पुनः आरंभ है। पृथ्वीराज का वर्णन इसके बाद में शुरू होता है। एक कवित्त में सामान्य दिल्ली किल्ली कथा का भी निर्देश है। यह भविष्यवाणी भी इसमें वर्तमान है कि दिल्ली तंवरों के हाथ से चौहानों के हाथ में और फिर तुर्कों के अधीन होगी। तंवरों का एक बार यहाँ राज्य होगा और अंत में यह मेवाड़ के अधीन होगी।

इस रूपांतर के अनुसार अनंगपाल ने अपने दौहित्र को राज्य दिया और स्वयं तीर्थयात्रा के लिये निकल पड़ा। १११५ वि० सं० में पृथ्वीराज ने राज्य की प्राप्ति की। कन्नौज के पंगराय (जयचंद्र) ने मंत्रियों की मंत्रणा के विरुद्ध राजसूय यज्ञ का आरंभ किया। पृथ्वीराज उसमें संमिलित न हुआ। जयचंद्र ने दिल्ली दूत भेजा। किंतु गोविंद राजा से उसे कोरा करारा जवाब मिला—

तुम जानहु छत्रिय है न कोइ, निरबीर पुहमि कबहू न होइ।
(हम) जंगलिह वास कालिंदि कूल, जानहिं न राज जैचंद मूल॥
जानहिं न देस जोगिनि पुरेसु, सुर इंदु वंस प्रिथिवी नरेसु।
तिहं बारि साहि बंधियौ जेन भंजियो भूप भिडि भीमसेन॥

जयचंद ने पृथ्वीराज की प्रतिमा द्वार पर लगाई और यज्ञ आरंभ कर दिया। इसके बाद संयोगिता के सौंदर्य क्रीड़ादि का और पृथ्वीराज द्वारा यज्ञ के

विध्वंस का वर्णन है। संयोगिता ने भी कथा सुनी और वीर पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय किया। राजा ने और ही वर का निश्चय किया था और हुआ कुछ और ही। राजा ने पुत्री के पास दूती भेजी। उसने संयोगिता को बहुत मनाया; किंतु संयोगिता अपने निश्चय से न टली। राजा ने उसे गंगा के किनारे एक महल में रखा।

उधर अजमेर में अन्य घटनाएँ घट रही थीं! पृथ्वीराज अजमेर से बाहर शिकार के लिये गया था। दुर्भाग्यवश कैमास इस समय पृथ्वीराज की कर्णाटी के प्रणय-पाश में फँस गया। पृथ्वीराज को भी सूचना मिली, और उसने रात्रि के समय लौट कर उसे बाण का लक्ष्य बनाया। लाश गाड़ दी गई। किंतु सिद्ध सारस्वत चंदबरदाई से यह बात न छिपी रही।

११९१ की चैत्र तृतीया के दिन सौ सामंत लेकर पृथ्वीराज ने कन्नौज के लिये यात्रा की। किंतु वे कहाँ जा रहे हैं यह पृथ्वीराज और जयचंद ही जानते थे। रास्ते में राजा ने गंगा का दृश्य देखा और कन्नौज नगरी को देखते हुए राजद्वार पर पहुँचे। चंद के आने की सूचना प्रतिहार ने जयचंद्र को दी। चंद ने जयचंद्र की प्रशंसा में कुछ पद्य कहे, किंतु उनमें साथ ही पृथ्वीराज की प्रशंसा की पुट थी। दासी पान देने आई और पृथ्वीराज को देखते ही सिर ढक लिया। जयचंद उसके रहस्य को पूरी तरह न समझ पाया। किंतु प्रातःकाल जब चंद को द्रव्यादि देने के लिये पहुँचा तो पृथ्वीराज को उसकी राजोचित चेष्टाओं से पहचान गया। किंतु पृथ्वीराज भयभीत न हुआ। वह नगर देखने गया और गंगा के किनारे पहुँचा। वहीं संयोगिता ने उसे देखा। पृथ्वीराज संयोगिता का वरण करके दिल्ली के लिये रवाना हुआ। महान् युद्ध हुआ। पृथ्वीराज यथा-तथा दिल्ली पहुँचा और विलास में मग्न हो गया।

अंतिम भाग में शिहाबुद्दीन से संघर्ष का वर्णन है। मुसलमानी आक्रमण से स्थिति शनैः शनैः भयानक होती गई। सामंतों ने चामुण्ड राज को छुड़-वाया। अंतिम युद्ध में बाकी सामंत मारे गाये। पृथ्वीराज को पकड़ कर शिहाबुद्दीन गजनी ले गया और अंधा कर दिया। चंद यथा-तथा वहाँ पहुँचा। उसने राजा को उत्साहित किया, और शिहाबुद्दीन को मारने का उपाय निकाल लिया। शिहाबुद्दीन के आज्ञा देते ही शब्दवेधी पृथ्वीराज ने उसे मार डाला। चंद ने खंजर से आत्मघात किया।

लघु रूपांतर में कुछ परिवर्धन हुआ। मंगलाचरण के बाद दशावतार की स्तुति आवश्यक प्रतीत हुई। पुनः दिल्ली राज्याभिषेक कथा के बाद भी यह प्रसंग रखा गया। कैमास मंत्री द्वारा भीम की पराजय, सामंत सलख पंवार द्वारा 'गोरीसाहबदीन' का निगाह, द्रव्यलाभ, संयोगिता उत्पत्ति, द्विजद्विजी संवाद, गंधर्व गंधर्वी संवाद, चंदविरोध, आदि कुछ नए प्रसंग इस रूपांतर में आए हैं। इनसे रासो की ऐतिहासिक सामग्री नहीं बढ़ती। द्विज-द्विजी संवाद, गंधर्व गंधर्वी संवाद आदि तो स्पष्टतः ऊपर की जोड़तोड़ हैं। दो दशावतार स्तुतिओं में एक के लिये ग्रंथ में वास्तव में कोई स्थान नहीं है।

मध्यम रूपांतर की कथा लघु रूपांतर से द्विगुण या कुछ अधिक है। स्वभावतः उसकी परिवृद्धि भी तदनुरूप है। नाहर राज्य पराजय, मूगल पराजय, इछिनी विवाह, आखेटक सोलंकी सारंगदेह स्तेन मूगल ग्रहण, भूमि सुपन सुगन कथा, समरसी प्रिथा कुमारी विवाह, सखिव्रता विवाह, राठौर निड्डर डिल्ली आगमन, पीपजुद्ध विजय हंसावती विवाह, वरुण दूत सामंत उभयो युद्ध वर्णन, मोराराइ विजय युद्ध वर्णन, मोराराइ भीमंग दे वधन, संजोगिता पूर्व जन्म कथा, विजयपाल दिग्विजय, बालुकाराय वधन, पंगसामंत युद्ध, राजा पानी पंथ मृगया केदार संवाद, पाहार हस्तेन पाति साहिग्रहण, सपली गिधिनी संजोतिको सूर सामंत पराक्रम कथन आदि नव्य नव्य प्रसंगों के सृजन द्वारा रासो की अनैतिहासिकता इसमें दशगुणित हो चुकी है। किंतु इससे रस के काव्य सौष्ठव में कमी नहीं होती। कुछ नवीन प्रसंग तो काव्य दृष्टि से पर्याप्त सुंदर है।

बृहद् रूपांतर में बहुत अधिक पाठ वृद्धि है। कन्ह अंख पट्टी, आखेटक वीर वरदान, खट्टू आखेट, चित्ररेखा पूर्व जन्म, पुंडीर दाहिमो विवाह, देवगिरि युद्ध, रेवातटयुद्ध अनंगपाल युद्ध, घघ्घर की लड़ाई, करहेड़ा युद्ध, इंद्रावती विवाह, जैतराई पातिसाह साहब, कांगुरा विजय, पहाड़राइ पातिसाह साहब, पज्जूनक छवाहा, चंद द्वारका गमन, कैमास पातिसाहग्रहण, सुकवर्णन, हांसी के युद्ध, पज्जून महुवा युद्ध, जंगम सोफी कथा, राजा आखेटक चख-श्राप, रैनसी युद्ध आदि इसमें नवीन प्रसंग हैं। डॉ० नामवरसिंह के विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि सबके बाद की जोड़ तोड़ में लोहाना आजानु बाहु पद्मावती विवाह, होली कथा दीपमाला कथा और प्रथिराज विवाह हैं। संभव है कि इनमें से कुछ स्वतंत्र काव्यों के रूप में वर्तमान रहे हों, और अठारहवीं शताब्दी में ही इनकी रासो में अंतर्भुक्ति हुई हो।

कुछ ऊहापोह

रूपांतरों के परिवर्धन क्रम के आधार पर रासो के विषय में कुछ ऊहापोह किया जा सकता है। रासो की मुख्य कथा पृथ्वीराज से संबंध रखती है। उसका आदि भाग, चाहे हम उसे आदि पर्व कहे या आदि प्रबंध, वास्तव में रासो की पूर्वपीठिका मात्र है। हम 'मुद्राराक्षस' दशकुमाचरितादि की पूर्वपीठिकाओं से परिचित हैं। इनमें सत्य का अंश अवश्य रहता है; किंतु कल्पना सत्य से कहीं अधिक मात्रा में रहती है। यही बात पृथ्वीराजरासो के आदि भाग की है। उसमें सब बीसल एक हैं, पृथ्वीराज भी एक बन चुका है। ढुंढा दानन की विचित्र कथा भी है, और उसके बाद आनल्ल की। वास्तव में आनल्ल के पिता के समय सपादलक्ष को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। शायद इसी सत्य की स्मृति ने ढुंढा को जन्म दिया हो। दिल्ली प्राप्ति इस भाग के रचयिता को ज्ञात थी। किंतु उस समय तक लोग किसी अंश तक यह भूल चुके थे कि यह प्राप्ति विजय से हुई थी। अनंगपाल ने खुशी खुशी दिल्ली चौहानों को न दी थी। धारणोज की प्रति में यह आदि भाग वर्तमान है। निश्चित रूप से इसलिये यही कहा जा सकता है कि आदि पर्व की रचना वि० सं० १६६७ में हो चुकी थी। इसकी तिथि तालिका कल्पित है, और उसी के आधार पर रासो के अवशिष्टांश में भी तिथियां भर दी गई हैं।

स्वल्पसी प्रस्तावना के बाद संभवतः रासो का आरंभ पंगयज्ञ विध्वंश से होता है। उसके बाद संयोगिता को पृथ्वीराज को वरण करने का निश्चय, कैमासवध, कन्नौज प्रयाण, कन्नौज वर्णन, संयोगिता विवाह, पंग से युद्ध और दिल्ली आगमन आदि के प्रसंग रहे होंगे। इनमें यत्र तत्र परिवर्धन और परिवर्तन तो संभव ही है। पुरातन-प्रबंध-संग्रह में उद्धृत भविष्यवाणीसे यह भी संभव है कि रासो में पृथ्वीराज के युद्ध और मृत्यु के भी प्रसंग रहे हों। किंतु उस अंतिम भाग का गठन अवश्य कुछ भिन्न रहा होगा। पृथ्वीराज का शब्दबेध द्वारा मुहम्मद गोरी को मारना किसी परतर कवि की सूझ है। मूल के शब्द 'मच्छिवंधिवंदूओ मरिसि' से तो अनुमान होता है कि पृथ्वीराज की मृत्यु कुछ गौरवपूर्ण न रही होगी। उत्तर पीठिका का बानवेध प्रसंग संभव है मूल रासो में न रहा हो।

इसके बाद भी जो जोड़ तोड़ चलती रही उसका ज्ञान हमें लघु रूपांतरों से चलता है। इस रूपांतर की एक प्रति का परिचय देते हुए हमने लिखा

था कि इसमें अनेक प्रसंग अनैतिहासिक हैं। लघु और लघुतर रूपातरों की तुलना से इनमें कुछ अनैतिहासिक प्रसंग आसानी से चुने जा सकते है।

मध्य और बृहत् रूपांतरों का सृजन संभवतः मेवाड़ प्रदेश में हुआ। इनमें मेवाड़ विषयक कथानक यत्र तत्र घुस गये हैं, और पृथ्वीराज के समय मेवाड़ को कुछ विशेष स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। समरसिंह पृथ्वीराज का साला नहीं, बहनोई है मध्यरूपांतर में समरसिंह जयचंद से युद्ध करता है। बृहदरूपांतर में वह शिहाबुद्दीन के विरुद्ध भी दिल्ली की सहायता करता है। इस रूपांतर में कविकल्पना ने रासो के आकार की खूब वृद्धि की है। इस रूपांतर का सृजन न हुआ होता तो संभवतः न रासो को इतनी ख्याति ही प्राप्त होती और न उसकी ऐतिहासिकता परही इतने आक्षेप होते। पडिहार, मुगल, सोलंकी, पंवार, दहिया, यादव, कछवाहादि सभी राजपूत जातियों को इसमें स्थान मिला है। कथा-वार्ताओं की सभी रूढ़ियों का भट्टदेवों ने इसकी कथा को विस्तृत करने में उपयोग किया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जिन कथानक रूढ़ियों का निर्देश किया है, उनमें कुछ ये हैं —

(१) कहानी कहनेवाला सुग्गा
(२) (i) स्वप्न में प्रिय का दर्शन
(ii) चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना
(iii) भिक्षुओं या बंदियों से कीर्ति वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना इत्यादि
(३) मुनि का शाप
(४) रूप परिवर्तन
(५) लिंग परिवर्तन
(६) परकाय प्रवेश
(७) आकाशवाणी
(८) अभिज्ञान या सहिदानी
(९) परिचारिका का राजा से प्रेम और अंत में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान
(१०) नायक का औदार्य
(११) षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरहवेदना
(१२) हंस कपोत आदि से संदेश भेजना

इनमें अनेक रूढ़ियां रासो के बृहद रूपांतर में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुई हैं। हमारा अनुमान है कि मूल रासो शृंगाररसानुप्राणित वीर काव्य था और उनमें इन रूढ़ियों के लिये विशेष स्थान न था। रासो में रूढ़ियों का आश्रय प्रायः इसी लक्ष्य से लिया गया है कि प्रायः आलक्षित रूप से नई कथाओं को प्रक्षित किया जा सके। यही अनुमान लघुकाय रूपांतरों के अध्ययन से दृढ़ होता है। लघु और लघु रूपांतर में दिल्ली किल्ली की कथा का उल्लेख मात्र है। राज-स्वप्न की रूढ़ि द्वारा उसे मध्यम रूपांतर में विस्तृत कर दिया गया है। शुक और शुकी के वार्तालाप से इंछिनी और शशिव्रता के विवाह उपस्थित किये गये हैं। संभवतः यह किसी अच्छे कवि की कृति हैं। किंतु ये रासो में कुछ देर से पहुँची। संयोगिता की कथा राजसूय यज्ञ की तैयारी से हुई होगी। उसमें 'मदनवृद्धवंमनी गृहे' सकलकला पठनार्थ द्विज-द्विजी संवाद गंधर्व-गंधर्वी संवाद, और बृहदरूपांतर का शुकवर्णन प्रक्षेप मात्र हैं। शुक संदेश वाली पद्मावती की कथा शायद सतरहवीं शताब्दी से पूर्व वर्तमान रही हो। किंतु बृहद रूपांतर की प्राचीन प्रतियों में भी यह कथा नहीं मिलती। इसलिये रासो में इस कथानक का प्रवेश पर्याप्त विलंब से हुआ है।

संयोगिता की कथा का आरंभ होते ही अन्य रस गौण हो जाते हैं। उसके विवाह से पूर्व बृहद रूपांतर में 'हांसी पर प्रथम युद्ध पातिसाह पराजय' हांसीपुर द्वितीय युद्ध पातिसाह पराजय', 'पज्जून महुवायुद्ध पातिसाह पराजय' पज्जून कछवाहा पातिसाह ग्रहण, जैचंद समरसी युद्ध, दुर्गा केदार, जंगम सोफी कथा आदि प्रसंग स्पष्टतः असंगत हैं। इनसे न मुख्य रस की परिपुष्टि होती है और न कोई ऐसा कारण उत्पन्न होता है जिससे पृथ्वीराज कन्नौज जाने की तैयारी करे। इसके विपरीत कैमास वध प्रेरक और षट्ऋतु वर्णन विलंब के रूप में यहाँ संगत कहे जा सकते हैं।

इसी तरह जब बृहद् रूपांतर के ६३ खंड 'सुकविलास' पर पहुँचते हैं तो स्वभावतः यह भावना उत्पन्न होती है कि प्रक्षेप की फिर तैयारी की जा रही है। राजा आखेटक चखश्राप, प्रथिराज विवाह, समरसी दिल्ली सहाई आदि इस प्रक्षेप के नमूने हैं। जिस प्रकार रासो में एक कल्पना प्रधान पूर्वपीठिका है, उसी तरह उसमें एक उत्तरपीठिका भी वर्तमान है। यह किस समय जुड़ी यह कहना कठिन है। कुछ अंश शीघ्र ही और कुछ पर्याप्त विलंब से इसमें संमि-

लित किये गए हैं। रैनसी जुद्ध, जै चंद गंगासरन आदि प्रसंग इसके मध्य-रूपांतर में भी नहीं हैं।

भाषा

पृथ्वीराज प्रबंध के अंतर्गत रासो पद्यों के मिलने के बाद हमारी यह धारणा रही है कि मूल रासो अपभ्रंश में रहा होगा। अब उसका कोई भी रूपांतर यदि अपभ्रंश का ग्रंथ न कहा जा सके तो उसका कारण इतना ही है कि जनप्रिय अलिखित काव्यों की भाषा सदा एक सी नहीं रहती। उनमें पुरानेपन की झलक मिल सकती है, यत्र तत्र कुछ अपभ्रंश-प्राय स्थल भी मिल सकते हैं। किंतु भाषा बहुत कुछ बदल चुकी है। साहित्यिक अपभ्रंश किसी समय मुख्यतः टक्क, भादानक, मरुस्थलादि की बोलचाल की भाषा थी, इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमने राजस्थान में रचित, राजस्थान-शौर्य-प्रख्यापक इस पृथ्वीराजरासो काव्य के मूलस्वरूप को तेरहवीं शताब्दी में प्रयुक्त राजस्थानी भाषा, अर्थात् अपभ्रंश का ग्रंथ माना था। इस विकसित राजस्थानी या पश्चिमी राजस्थानी का ग्रंथ मानने की भूल हमने नहीं की है।

पृथ्वीराज प्रबंध में उद्धृत रासो के पद्यों में अपभ्रंश की उकार बहुलता है, जैसे इंक्कु, वाणुं, पहुवीस, तु, चंदबलद्दिउ। फईबासह, गुलह, पइं, जेपइ आदि भी अपभ्रंश की याद दिलाते है। क्तांत क्रियाओं के मुक्कओ, खंडहडिउ आदि भी द्रष्टव्य हैं।

लघुतम संस्करण की भाषा अपभ्रंश नहीं है। किंतु यह बृहद् और लघु रूपांतरों की भाषा से प्राचीन है। इसमें फारसी भाषा के शब्दों का बृहद् रूपांतरों से कम प्रयोग है। रेफ का विपर्यय (कर्म>कम्म, धर्म>धम्म) लघुतम रूपांतर में अधिक नहीं है। व्यंजनों का द्वित्व प्राकृत और अप्रभ्रंश की विशेषता है। लघुतम रूप में यह व्यंजनद्वित्व प्रायशः रक्षित है। अंत्य 'आइ' अभी 'ऐ' में परिवर्तित नहीं हुआ है 'ऋ' के लिये प्रायः 'रि' का प्रयोग है। कर्ताकारक में अपभ्रंश की तरह रूप प्रायः उकारांत है। संबंधकारक में अपभ्रंश के 'ह' का प्रयोग पर्याप्त है। पुरानी ब्रज के परसर्ग 'ने' का रासो में प्रायः अभाव है। ब्रज का 'कौ' इसमें नहीं मिलता। अन्य भी अनेक प्राचीन ब्रज के तत्त्व इसमें नहीं है। किंतु चौहानों का मूलस्थान मत्स्य प्रदेश था। पूर्वी राजस्थान में पृथ्वीराज के वंशज सन् १३०१ तक राज्य करते रहे। अतः इन्हीं प्रदेशों में शायद रासो का आरंभ में विशेष प्रचार रहा हो।

रासो के जिन भाषा तत्वों को हम व्रज का पूर्वस्वरूप मानते हैं वे संभवतः पूर्व राजस्थानी के रूप हैं जो हिंदी के पर्याप्त सन्निकट हैं।

लघुरूपांतर की भाषा यत्र-तत्र इससे अधिक विकसित है। इसके दशावतारवंदन में कंसवध पर्यंत कृष्णचरित संमिलित है। इसके प्रक्षिप्त होने का प्रमाण निम्नलिखित पद्यों की नवीन भाषा है—

सुनौ तुम चंपक चंद चकोर, कहौ कहुं स्याम सुनौ खग मोर।
कियो हम मान तज्यो उन संग, सह्यो नहीं गर्व रहयो नहीं रंग॥
सकल लोक ब्रजवासि जहँ, तहँ मिलि नंदकुमार।
दधि तंदुल मंजुल सुखहिं, किय बहु विद्धि अहार॥

किंतु इसके पुराने अंश की भाषा अपभ्रंश के पर्याप्त निकट है।

रासो

हम जंगलहं वास कालिन्दि कूल
जांनहि न राज जैचन्द मूल।
जानहिं तु एक जुग्गिनि नरेस
सुर इंद वंस पृथ्वी नरेस॥

अपभ्रंश

जंगलइ वासि कालिन्दि-कूल, जाणइ ण रज्ज जइचंदमूल।
जाणइ तु इक्कु जोग्गिणि-णरेसु, सुरिंदवंसहिं पुहविणरेसु॥

मध्यम और बृहद् रूपांतरों में भाषा का विकास और स्पष्ट है। फारसी शब्दों का प्राचुर्य द्वित्व युक्त व्यंजनों का सरलीकरण, स्वरसंकोचन, 'ण' के स्थान पर 'न' का और 'आइ' के स्थान पर 'ए' का प्रयोग विशेष रूप से दर्शनीय है। भाषाविभेद, प्रसंग विभेद, प्रकरण संगति आदि को ठुकरा कर ही हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि रासो में कोई रूपांतर नहीं है। बृहद् रूपांतर की प्राचीनतम प्रति संवत् १७६० की है। इसके संकलयिता ने इस बात का ध्यान रखा है कि उस समय की सभी प्रसिद्ध जातियाँ उसमें आ जायँ और हर एक के लिये कुछ न कुछ प्रशंसा के शब्द हों।

रासो में ऐतिहासिक तथ्य

रासो की कथाओं के ऐतिहासिक आधार का हमने कई वर्ष पूर्व विवेचन

किया था। बृहद् रूपांतर में अनेक अनैतिहासिक कथाओं का समावेश स्पष्ट रूप में वर्तमान है। उसके संवत् अशुद्ध हैं। वंशावली कल्पित है। प्रायः सभी वर्णन अतिरंजित हैं। सभी रूपांतरों के विशेष विचार एवं विमर्श के बाद हम तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रासो का मूल भाग संभवतः पंग-यज्ञ-विध्वंस, संयोगिता नेम-आचरण, कैमास वध, षट्रितु वर्णन, कनवज्जकथा और बड़ी लड़ाई मात्र है। इसमें आदि पर्व, दिल्ली किल्ली दान और अनंगपाल दिल्ली दान पूर्व पीठिका के रूप में जोड़ दिये गये हैं। इस पीठिका में कुछ ऐतिहासिक तथ्य वर्तमान हैं, किंतु तीन पृथ्वीराजों के एक पृथ्वीराज और चार बीसलों के एक बीसल होने से पर्याप्त गड़बड़ हो गई है। अनल और बीसल के संबंध में भी अशुद्धि है। ढुंढा दानव की कल्पना यदि सत्याश्रित मानी जाँय तो उसे मुहम्मद बहलिम मानना उचित होगा। इसके हाथों अनल के पिता के समय सपाद लक्ष देश को काफी कष्ट उठाना पड़ा था। बाणवेध मूल रासो की उत्तर पीठिका है। इसमें भी कल्पना मिश्रित कुछ सत्य है। पृथ्वीराज प्रबंध और ताजुल मासीर से स्पष्ट है कि पृथ्वीराज की मृत्यु युद्ध स्थल में नहीं हुई। कोई षड्यंत्र ही उसकी मृत्यु का कारण हुआ।

इतिहास की दृष्टि से रासो के बृहद् रूपांतर में दी हुई निम्नलिखित कथाएँ सर्वथा असत्य हैं—

१. लोहाना आजानबाहु—बृहत् रूपांतर के प्राचीन प्रतियों में यह खंड नहीं मिलता। भाषा देखिये—

तब तबीब तसलीम करि लै धरि आइ लुहान ॥ ४ ॥
हज्जार पंच सेना समथ, करि जुहार भर चल्यौ ॥ ७ ॥

तबीब, तसलीम आदि विदेशी शब्द हैं। तंवर वंशी आजानु बाहु का कच्छ पर आक्रमण भी असंभव है। पृथ्वीराज के साम्राज्य का कोई भूभाग कच्छ से न लगता था।

२. नाहरराय कथा—पृथ्वीराज अपने पिता की मृत्यु के समय केवल १०–११ साल का था। सोमेश्वर के जीवन काल में मंडोर राज नाहरराय को हराना और उसी की कन्या से विवाह करना पृथ्वीराज के लिये असंभव था।

३. मेवाती मूगल कथा—सोमेश्वर के जीवन काल में पृथ्वीराज द्वारा मेवाती मूगल की पराजय भी इसी तरह असंभव है। कविराज मोहनसिंहजी

मूगल शब्द को मेवाती सरदार का नाम माना है। किंतु उसके सपत्नीय बाजिद खाँ पठान, खुरासान खान मर्गद मरदान आदि के नामों से प्रतीत होता है कि इस प्रसंग के रचयिता ने मूगल को मुसलमान ही माना है। पृथ्वीराज के समय मुसलमानों के मेवात में न होने का ज्ञान उसे न था।

४. हुसेन कथा
५. आखेट चूक
६. पुंडीर दाहिमी विवाह
७. पृथा विवाह
८. ससिव्रता विवाह
९. हंसावती विवाह
१०. इंद्रावती विवाह
११. कांगुरा युद्ध

इन सब में अनेक ऐतिहासिक असंगतियों के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने के योग्य है कि यह सब घटनाएँ सोमेश्वर के जीवन काल में अर्थात् पृथ्वीराज के शैशवकाल में रखी गई हैं। पृथ्वीराज का जन्म सं० १२२२ में हुआ और सोमेश्वर की मृत्यु सं० १२३४ में। पृथ्वीराज की आयु इतनी कम थी कि राजका कपूर देवी को संभालना पड़ा।

१२. खड्वन मध्ये कैमास-पातिसाह ग्रहण
१३. भीमरा वध

भीम वास्तव में पृथ्वीराज के बाद भी चिरकाल तक जीवित रहा।

(१४) पृथ्वीराज के शिहाबुद्दीन से कुछ युद्ध—

इन युद्धों की संख्या शनैः-शनैः बढ़ती गई है। कुछ इनमें से अवश्य कल्पित हैं।

(१५) समरसी दिल्ली सहाय

(१६) रैनसी युद्ध

समरसी को सामंतसिंह का विरुद मानकर ऐतिहासिक आपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। किंतु सामंतसिंह स्वयं सं० १२३६ से पूर्व मेवाड़ का राज्य खो बैठा था। संवत् १२४२ के पूर्व बागड़ का राज्य भी उसके हाथ से निकल गया। इसलिये यह संभव नहीं है कि उसने सं० १२४८ के लगभग पृथ्वीराज की कुछ विशेष सहायता की हो। मेरा निजी विचार है कि परिवर्धित संस्करणों की उत्पत्ति मुख्यतः मेवाड़ जनपद में हुई है, और इसी कारण उनमें मेवाड़ के माहात्म्य को विशेष रूप से बढ़ाया चढ़ाया गया है;

परिवर्धित भाग सभी शायद अनैतिहासिक न रहा हो। पूर्व पीठिका, और उत्तरपीठिका की अर्ध-ऐतिहासिकता के विषय में हम कुछ कह चुके हैं, भीम चौलुक्य और पृथ्वीराज का वैमनस्य कुछ ऐतिहासिक आधार रखता है। यद्यपि न भीम ने सोमेश्वर को मारा और न स्वयं पृथ्वीराज के हाथों मारा गया। कन्ह, अखपट्टी, पद्मावती विवाह आदि में भी शायद कुछ सत्य का अंश हो। वास्तव में यह मानना असंगत न होगा कि वर्तमान रासो का बृहद् रूपांतर एक कवि की कृति नहीं है। बहुत संभव है कि पृथ्वीराज के विषय में अनेक कवियों की रचनाएँ वर्तमान रही हों। महाभारत-व्यास की तरह किसी रासो-व्यास ने इन्हें एकत्रित करते समय सभी को चंदवरदाई की कृतियाँ बना दी हैं। शुक शुकी, द्विज द्विजी आदि की प्रचलित रूढ़ियों द्वारा इन कथाओं को रासो के अंतर्गत करना भी विशेष कठिन न रहा होगा। जब रासो ने कुछ विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की, तो इसमें अन्य जातियों के नाम भी जोड़ दिये गए। पज्जून कछवाहा, नाहडराय पडिहार, धीरपुंडीर, संभव है कि ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हों। किंतु उनका पृथ्वीराज से संबंध संदिग्ध है।

रासो के मूलभाग में संयोगिता स्वयंवर, कैमासवध और पृथ्वीराज शिहाबुद्दीन-संघर्ष-प्रसंग हैं। इन तीनों की ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकती है। केवल रंभामंजरी और हम्मीर महाकाव्य में संयोगिता का नाम न आने से संयोगिता की अनैतिहासिकता सिद्ध नहीं होती। रंभामंजरी प्रायः सर्वथा ऐतिहासिक तथ्यों से शून्य है। हम्मीर महाकाव्य में भी पृथ्वीराज के नागार्जुन भादानक जाति, चंदेलराज परमर्दिन्, चौलुक्य राज भीमदेव द्वितीय एवं परमारराज धारावर्षादि के साथ के युद्धों का वर्णन नहीं है। हम्मीरमहाकाव्य का पृथ्वीराज के जीवन की इन मुख्य घटनाओं के विषय में मौन यदि इन्हें अनैतिहासिक सिद्ध न कर सके तो संयोगिता के विषय में मौन ही उसे अनैतिहासिक सिद्ध करने की क्या विशेष क्षमता रखता है? पृथ्वीराज प्रबंध से जयचंद्र और पृथ्वीराज का वैमनस्य सिद्ध है। 'पृथ्वीराज-विजय' में भी गंगा के किनारे स्थित किसी राजकुमारी से पृथ्वीराज के प्रणय का निर्देश है। काव्य यहीं त्रुटित न हो जाता तो यह विवाद ही सदा के लिये शांत हो जाता। 'सुर्जन चरित' और 'आइने अकबरी' में संयोगिता की कथा अपने पूर्ण रूप में वर्तमान है। संयोगिता के विषय में अनेक वर्षों के बाद भी हम निम्नलिखित शब्द दोहराना अनुचित नहीं समझते—

"जो राजकुमारी 'रासो' की प्रधान नायिका है, जिसके विषय में अबुल-फज्ल को भी पर्याप्त ज्ञान था, जिसकी रसमयी कथा चाहमानवंशाश्रित एवं चाहमान वंश के इतिहासकार चंद्रशेखर के 'सुर्जनचरित' में स्थान प्राप्त कर चुकी है, जिसे सोलहवीं शती में और उससे पूर्व भी पृथ्वीराज के वंशज अपनी पूर्वजा मानते थे; जिसका सामान्यतः निर्देश 'पृथ्वीराज विजय' महाकाव्य में भी मिलता है; जिसके पिता जयचंद्र और जयचंद्र का वैमनस्य इतिहासानु-मोदित एवं तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अनुकूल है; जिसकी अपहरण-कथा अभूतपूर्व एवं असंगत नहीं है; जिसकी सत्ता का निराकरण 'हम्मीर-महाकाव्य' और 'रंभामंजरी' के मौन के आधार पर कदापि नहीं किया जा सकता; जिसकी ऐतिहासिकता के विरुद्ध सभी युक्तियाँ हेत्वाभास मात्र हैं, उस कांतिमती संयोगिता को हम पृथ्वीराज की परमप्रेयसी रानी मानें तो इसमें दोष ही क्या है ? यह चंद्रमुखी भ्रम-राहु द्वारा अब कितने समय तक और ग्रस्त रहेगी ?"

कैमास की ऐतिहासिकता भी इसी तरह सिद्ध है। पृथ्वीराजविजय में यह पृथ्वीराज के मंत्री के रूप में वर्तमान है। खरतरगच्छपट्टावली में इसे महामंडलेश्वर कहा गया है और राजा की अनुपस्थिति में यह उसका प्रतिनिधित्व करता है। जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थ कल्प में भी कैमास का जिन प्राकृत के शब्दों में उल्लेख है। उनका हिंदी अनुवाद निम्नलिखित है:—'जब विक्रम संवत्सर १२४७ में चौहानराज श्रीपृथ्वीराज नरेंद्र सुल्तान शिहाबुद्दीन के हाथों मारा गया, तो राज-प्रधान परमश्रावक श्रेष्ठी राम-देव ने श्रावक संघ के पास लेख भेजा कि तुर्कराज्य हो गया है। श्री महाबीर की प्रतिमा को छिपा कर रखना। तब श्रावकों ने दाहिमाकुल मंडन कयंबास मंडलिक के नाम से अंकित कयंबास स्थल में बहुत सी बालुका ढेर में उसे दबा दिया।' रासो में भी कैमास को दाहिमा ही कहा गया है। कवि ने कथा को अतिरंजित भी कर दिया हो तो भी मूलतः वह ठीक प्रतीत होती है।

शिहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के युद्ध के विषय में हमें कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वसंमत ऐतिहासिक घटना है। इसके बाद की उत्तरपीठिका की अर्ध ऐतिहासिकता के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं।

काव्यसौष्ठव—

काव्यसौष्ठव की दृष्टि से रासो में स्वाभाविक विषमता है। जब सब रासो एक कवि की कृति ही नहीं है, तो उसमें एक सा काव्यसौष्ठव ढूँढना व्यर्थ है। लघुतम रूपांतर में जाह्नवी का अच्छा वर्णन है। कन्नौज की सुंदरियों का भी यह वर्णन पढ़ें—

भरन्ति नीर सुन्दरी ति पान पत्त अंगुरी।
कनंक बक्क अज्जुरी ति लग्गि कड्ढि जे हरि॥
सहज सोभ पंडरी सु मीन चित्रहीं भरी।
सकोल लोल जंघया ति लीन कच्छ रंभया॥
करिब्ब सोभ सेसरी मनो जुवान केसरी।
अनेक छबि छत्तिया कहूँ तु चंद रत्तिया॥
दुराइ कुच्च उच्छरे मनो अनंग ही भरे।
हरंत हार सोहाए विचित्र चित्त मोह ए॥
अधर अद्द रत्तए सुकील कीर वद्दए।
सोहंत देत आलमी कहंत बीय दालमी॥

जयचंद के यज्ञ का वर्णन, पृथ्वीराज के सामंतों का जयचंद को उत्तर, यज्ञ-विध्वंस आदि प्रकरण कवि की प्रतिभा से सजीव हैं। वसंत का वर्णन भी पढ़ें—

लुट्टति भमर सुभ गंध वास।
मिलि चंद कुंद फुल्लयउ अगास॥
बनि बग्ग मग्ग बहु अंब मौर।
सिरि हरइ मनु मनमत्थ चौर॥
चलि सीत मंद सुगंध वात।
पावक मनहु विरहिनि निपात॥
कुह - कुह करंति कलयंठि जोटि
दल मिलहिं मनहुँ आनंग कोटि
तरु पल्लव फुल्लहिं रत्त नील
हलि चलहि मनहु मनमथ्थ पील

मूलरासो का अंत भी ग्रंथ के उपयुक्त रहा होगा। यह काव्य वास्तव में दुःखांत है, उसे सुखांत बनाना या उसके निकट तक पहुँचाना

संभवतः परवर्ती कवियों की सूझ है। शत्रुओं से घिर जाने पर भी पृथ्वीराज ने स्वाभिमान न छोड़ा।

दिन पलट्ठ पलट्ठ न मन भुज बाहत सब शस्त्र
अरि भिटि भिट्यो न कोइ लिख्यु विधाता पत्र॥

जिस क्षत्रिय वीर से सब मुसलमान सशंकित थे, जिसकी आज्ञा सर्वत्र शिरोधार्य थी उसी को मुसलमान पकड़कर गजनी ले गए।[1]

रासो के परिवर्धित कुछ अंश काव्य-सौष्ठवयुक्त हैं। किंतु उन्हें चंद के कवित्व के अंतर्गत नहीं, अपितु महारासो के काव्यत्व के अंतर्गत मानना उचित होगा। इच्छिनी और शशिव्रता के विवाहों का वर्णन कवित्वयुक्त है। चंद की परंपरा में भी अनेक अच्छे कवि रहे होंगे। वे चंद न सही, चंद-पुत्र कहाने के अवश्य अधिकारी हैं।

जल्ह

परंपरा से जल्ह चंद के पुत्र हैं। यह बात सत्य हो या असत्य, यह निश्चित है कि उनमें भी काव्यरचना की अच्छी शक्ति थी। 'पुरातनप्रबंध-संग्रह' में उद्धृत जयचंद विषयक पद्य जल्ह की रचना है। जल्ह और चंद के समय में अधिक अंतर न रहा होगा।

पश्चिमी प्रांतों में ऐतिहासिक काव्यधारा का प्रसार

भारत के पश्चिमी प्रांतों में यह ऐतिहासिक काव्यधारा अनेक रूप से प्रसृत हुई। गुजरातियों और राजस्थानियों ने मनभर कर धर्मवीरों, दानवीरों और युद्धवीरों की स्तुति की। कुमारपालचरित, नवसाहसांकचरित (संस्कृत) कीर्तिकौमुदी (संस्कृत), सुकृतसंकीर्तन (संस्कृत), बसंतविलास (संस्कृत) धर्माभ्युदय काव्य (संस्कृत), रेवंतगिरिरासु (गुजराती), जगड - चरितं (संस्कृत), पेथडरास (गुजराती) आदि इसी प्रवृत्ति के फल हैं। जैनियों में धार्मिक कृत्य, जैसे जीर्णोद्धार आदि करनेवालों का विशेष महत्व है। साथ ही ऐसा व्यक्ति राज्य में प्रभावशाली रहा हो तो तद्विषयक रास आदि बनने की अधिक संभावना रहती है।

---

१ इसके बाद में उत्तरपीठिका है, और उसका अवतरण एक प्रसिद्ध साहित्यिक रूढ़ि द्वारा हुआ है।

संवत् १३६६ में अलाउद्दीन की सेना ने शत्रुञ्जय के तीर्थनाथ ऋषभदेव की मूर्ति को नष्ट कर दिया था। पाटण के समरासाह ने अलफखाँ से मिलकर फरमान निकलवाया कि मूर्तियों को नष्ट न किया जाय। उसने शत्रुञ्जय में नवीन मूर्ति की स्थापना की और संवत् १३७२ में संघसहित शत्रुञ्जयादि तीर्थों की यात्रा की। इस धर्मवीरता के प्रख्यापन के लिये अम्बदेव सूरि ने सं० समरारास की रचना की। रास की भाषा सरस है। यात्रा के बीच में वसंतावतार हुआ—

रितु अवतरियउ तहिजि वसंतो, सुरहि कुसुम परिमल पूरंतो
समरह वाजिय विजय ढक्क।
सागु सेलु सल्लइ सच्छाया, के सूय कुडय कयंब निकाया
संघसेनु गिरिमाहइ वहए।
वाळीय पूछइं तरुवरनाम, बाटइ आवइं नव नव गाम
नय नीझरण रमाडळइं॥

जब संघ पाटण वापस पहुँचा, उस समय का दृश्य भी दर्शनीय रहेगा।

मंत्रिपुत्रह भीरह मिलीय अनु ववहारिय सार।
संघपति संघु बधावियउ कंठिहि एकंठिहि घालिय जयमाल।
तुरिय घाट तरवरि य तहिं समरउ करइ प्रवेसु।
अणहिलपुरि वद्धामणउ ए अभिनव ए अभिनवु।
ए अभिनवु पुन्ननिवासो॥

यह रास भाषा, साहित्य और इतिहास इन तीनों दृष्टियों से उपयोगी है। खिल्जीकालीन भारतीय स्थिति का इतना सुंदर वर्णन अन्यत्र कम मिलता है।

कुमारपाल, वस्तुपाल, विमल आदि के विषय में अनेक रास ग्रंथों की रचना हुई। किंतु इनमें शुद्ध वीर काव्य का आनंद नहीं मिलता। न इनके काव्य में कुछ मौलिकता ही है और न रमणीयता।

इनसे भिन्न युद्ध वीर काव्यों की परंपरा है। चौदहवीं शताब्दी में किसी कवि ने संभवतः अपभ्रंश भाषा में रणथंभोर के राजा हठी हम्मीर का चरित लिखा है। नयचंद के संस्कृत में रचित 'हम्मीर महाकाव्य' को संभवतः इससे कुछ सामग्री मिली हो और 'प्राकृतपैंगलम्' में उद्धृत अपभ्रंश पद्य संभवतः इसी देश्यकाव्य से हों। राहुलजी ने इसके रचयिता का नाम जज्जल दिया

है जो ठीक नहीं है।[1] जयचंद्र के मंत्री विद्याधर के जो पद्य मिले हैं वे भी इसी तरह अपभ्रंश में रचित हैं।[2] वे किसी काव्य के अंश हो सकते हैं, किंतु उन्हें मुक्तक मानना ही शायद ठीक होगा।

हमने अखण्डित रूप में प्राप्त 'रणमल्ल काव्य' को इस संग्रह में स्थान दिया है। इसकी रचना सन् १३६८ के लगभग हुई होगी। श्रीधर ने इसमें ईडर के स्वामी राठौड वीर रणमल्ल के यश का गायन किया है। भाषा नपी तुली और विषयानुरूप है। प्राचीन देश्य वीरकाव्यों में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। रणमल्ल ने गुजरात के सूबेदार मुफर्रह को कर देने से बिल्कुल इनकार कर दिया :—

जा अम्बर पुडतलि तरणि रमइ, ता कमधजकंध न धगइ नमइ।
वरि वडवानल तण झाल शमइ, पुण मेच्छन चास आपूं किमइ ॥३०॥
पुण रणरस जाण अरद् अडी, गुण सींगणि खंचि खन्ति चडी।
छत्तीस कुलह बल करि सु घणूं, पय भग्गिसुरा हम्मीर तणू ॥३१॥

मीर मुफर्रह और रणमल्ल की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। रणमल्ल ने खूब म्लेच्छों का संहार किया और अंत में उसकी विजय हुई :—

कडक्कि मूंछ भींछ मेच्छ मल्ल मोलि सुग्गरि।
चमक्कि चल्लि रणमल्ल भल्ल फेरि संगरि।
धमक्कि धार छोडि धान धाडि धग्गडा।
पडक्कि वारि पक्कडंत मारि मीर मक्कडा ॥४५॥

सींचाणउ रा कमधज्ज निरग्गल झड्पइ चडवड धगड चिडा।
भडहड करि खत्तिरि सहस भडक्कइ कमधज्जभुज भड्वाय झडा।
खत्तिरिण खयंकरि खप्पर खूंदिअ खान मान खयडन्त हुया।
रणमल्ल भयंकर वीरविडारण टोडरमलि टोडर जडिया ॥६१॥

जैसा हमने अन्यत्र लिखा है, साहित्य की दृष्टि से 'रणमल्ल छंद' उज्ज्वल रत्न है। पृथ्वीराजरासो के युद्ध-वर्णन से आकृष्ट और मुग्ध होनेवाले साहित्यिक उसी कोटि का वर्णन छंद में देख सकते हैं। वही शब्दाडंबर है, किंतु साथ ही वह अर्थानुरूपता जो रासो के युद्ध वर्णनों में है हमें उस अंश में

१—देखें हमारी Early Chauhan Dynasties पृष्ठ ११६
२—JBRS, १६४६, पृष्ठ १५५-१६० पर हमारा लेख देखें।

नहीं मिलती। इस सत्तर पद्यों के काव्य में शिथिलता कहीं नाममात्र को नहीं दिखाई पड़ती। इसके कथावतार में गंगावतार के प्रबल प्रताप का वेग, गुञ्जन और साथ ही अद्भुत सौंदर्य है।'

भाषा की दृष्टि से छंद में पर्याप्त अध्येय सामग्री है। पृथ्वीराजरासो में फारसी शब्दों से चकित होनेवाले विद्वान् ७० पद्यों के इस छोटे से पुराने काव्य में फारसी शब्दों की प्रचुरता से कुछ कम चकित न होंगे। सामान्यतः इस ग्रंथ की भाषा को पश्चिमी राजस्थानी कहा जा सकता है।[1]

पूर्वी प्रदेश में इस वीरकाव्य-धारा के अंतर्गत विद्यापति की कीर्तिलता मुख्यरूप से उल्लेख्य है। इसमें कवि ने केवल कीर्तिसिंह के युद्धादि का ही वर्णन नहीं किया। उस समय का सजीव चित्र भी प्रस्तुत किया है। इसकी भाषा को अनेक विद्वानों ने प्राचीन मैथिली माना है। किंतु उसे परवर्ती अपभ्रंश कहना अधिक उपयुक्त होगा। कीर्तिलता पर हम अन्यत्र कुछ विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। पुस्तक का रचनाकाल सन् १४०२ के आसपास रखा जा सकता है।

इससे लगभग पचास वर्ष बाद कवि पद्मनाभ ने 'कान्हडदे प्रबंध' की रचना की। पुस्तक का विषय कान्हडदे का अलाउद्दीन से संघर्ष है, वीरव्रती धर्मप्राण कान्हडदे ने किस प्रकार सोमनाथ का उद्धार किया, किस प्रकार सिवाने के गढ़पति वीर सातलदेव ने खिल्जियों के दाँत खट्टे किए। और किस तरह कान्हडदे ने कई वर्ष तक खिल्जी सेना का सामना किया—इन सब बातों का कान्हडदे प्रबंध ने अत्यंत ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है।[2] इतिहास की दृष्टि से पुस्तक बहुमूल्य है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से इसका पर्याप्त महत्व है और इससे भी अधिक महत्व है इसके काव्यत्व का। पुस्तक चार खंडों में पूर्ण है। सेना के प्रमाण, नगर, प्रेम इन सबका इस काव्य में वर्णन है। किंतु इनसे कथा की गति कहीं रुद्ध नहीं होती। वीररस प्रधान इस काव्य के प्रणेता पद्मनाभ में वह शक्ति है जो अन्य सब रसों को, अन्य सब वर्णनों को, काव्य के मुख्यरस और विषय के परिपोषक बना सके। मुनि जिनविजय जी ने

१ छंद के ऐतिहासिक महत्व और सार के लिये संग्रह के अंतर्गत भूमिका देखें।

२ शोधपत्रिका, उदयपुर, भाग ३, अङ्क १ में कान्हडदे प्रबंध पर हमारा लेख देखें। कान्हडदे के जीवनवृत्त के लिये Early chauhan Dynasties पृष्ठ १५६-१७० पढ़ें।

बहुत सुंदर शब्दों में इस काव्य के विषय में कहा है—'इस प्रबंध में, कुछ तो राजस्थान-गुजरात के गौरवमय स्वर्णयुग की समाप्ति का वह करुण इतिहास अंकित है जिस पद पर हम खिन्न होते हैं, उद्विग्न होते हैं और रुदन करते हैं; पर साथ ही में इसमें कराल कालयुग में देवांशी अवतार लेनेवाले ऐसे धीरोदात्त वीर पुरुषों का आदर्श जीवन चित्रित है जिसे पढ़कर हमें रोमांच होता है, गर्व होता, हर्षाश्रु आते हैं।' कान्हडदे प्रबंध का बहुत सुंदर संस्करण, राजस्थान पुरातत्व मंदिर ने प्रस्तुत किया है।

इन्हीं वीरचरितानुकीर्तनक काव्यों में राससंग्रह में प्रकाशित 'राउ जैतसीरो रासो' है। वीर जैतसी बीकानेर के राजा थे। जब हुमायूँ बादशाह के भाई कामरान ने बीकानेर पर आक्रमण कर देवमंदिरों को नष्टभ्रष्ट करना शुरू किया तो जैतसी ने अपनी सेना एकत्रित की और रात्रि के समय अचानक मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। कामरान अपना बहुत सा फौजी सामान और तंबू आदि छोड़कर भाग खड़ा हुआ। इस विजय का कीर्तन अनेक ओजस्वी काव्यों में हुआ है। बीठू सूजा के 'छंद राउ जइतसीरो' को डा० तैसीतरी ने संपादित और प्रकाशित किया था। इसके मुगल सेना के वर्णन की तुलना अमीर खुसरो के मुगलो के वर्णन से की जा सकती है :—

> जोड़ाल मिलइ जमदूत बोध, काइरा कपीमुक्खो सक्रोध।
> कुवरत्त केविकाला किरिट्ठ, गदद्नी गोल गाँजा गिरिट्ठ॥
> वेसे विचित्र सिन्दूर व्रन, कूंडी कपाल के छाज कन्न।

इसी विषय पर एक अज्ञात कविकृत एक अन्य काव्य भी अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय में है। इस संग्रह में प्रकाशित रास भी समसामयिक कृति है। कवि ने जैतसी और कामरान के संग्राम को अवश्यंभावी माना है—

> खंडहियां बांका भडां प्रगटी हुवै परसिध्ध।
> राठौड़ां अर मुग्गलां नहु चूकै भाविध्ध॥

जैतसी ने कामरान को मरुदेस पर आक्रमण करने की चुनौती दी और कामरान ने सदलबल बीकानेर पर कूच किया। ऐसा मालूम हुआ मानों महोदधि ने अपनी सीमा छोड़ दी है। यह जानकर कि मुसलमान 'जौधधर' को जीतने जा रहे हैं गिद्धनियों ने मंगलगान शुरू किया। जैतसी ने भी अपने तीन हजार योद्धाओं के साथ घोड़ों पर सवारी की। मुगल कामिनी

ने मान किया था, मरुराज उसे प्रसन्न करने के लिये पहुँचा। युद्ध एक चौगान बन गया—

चढे रिणथंग सरीखा संग, त्रुटे हय तंग मचै चौरंग।
खिचै रिण डाखि पडंतखुआण, खिडे निरवाखि वधै वाखाण॥

अंततः युद्धक्षेत्र में जैतसी ने मुगल को पछाड़ दिया—

अणभंग तुंग करतंग रहरछां वढो प्रव लौढियो।
जैतसी जुड़े बलि मल्ल ज्यूं मुगलां दल मचकौढियो॥

मांडउ व्यास की कृति **'हम्मीरदेव चौपई'** की भी हम वीरकाव्यों में गणना कर सकते हैं। 'चौपई' संवत् १५३८ की रचना है। काव्य की दृष्टि से इसका स्थान सामान्य है।

बीसलदे-रासो को हम ऐतिहासिक रासों में सम्मिलित नहीं कर सके हैं। इसका नाममात्र बीसल से संबद्ध है। कथा अनैतिहासिक है। रचना भी संभवतः सोलहवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है।[२]

इसी प्रकार **आल्हा** का रचनाकाल अनिश्चित है। किंतु संभव है कि पृथ्वीराजरासो की तरह यह भी किसी समय छोटा सा ग्रंथ रहा हो। इसके कर्ता जगनिक का नाम 'पृथ्वीराज विजय' के रचयिता जयानक की याद दिलाता है। जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, कि चंदेलराज परमर्दिन् और चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय का संघर्ष सर्वथा ऐतिहासिक है। किंतु जिस रूप में यह अब प्राप्त है उसमें ऐतिहासिकता बहुत कम है। अपने रूप रूपांतरों में आल्हाः ऊदल की कथा अब भी बढ़ घट रही है। बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित **'परमाल रासो'** आल्हा का एक अर्वाचीन रूपांतर मात्र है।

खुम्माण रासो की रचना सं० १७३० से सं० १७६० के बीच में शांतिविजय के शिष्य दलपत (दलपत विजय) ने की। इसमें बप्पा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के शासकों का वर्णन है। खोम्माण वंश के वर्णन की वजह से इस रासो का शायद इसका नाम 'खुम्माण रासो' रख दिया गया है। इसे नवीं शताब्दी की रचना भ्रांति मानना है।

१—देखें Earlc Chauhan Dynasties, पृ० ३४२।
२—वही, पृ० ६३६।

विजयपाल रासो भी इसी तरह अधिक पुरानी रचना नहीं है। इसका निर्माणकाल पृथ्वीराजरासो के बृहद् रूपांतर की रचना के बाद हम रख सकते हैं। इतिहास की दृष्टि से पुस्तक निरर्थक है, किंतु काव्य की दृष्टि से यह बुरी नहीं है।

इसी प्रणाली से रचित 'कर्णसिंहजी री छंद', 'राजकुमार अनोप सिंहजी री वेल', 'महाराज सुजान सिंघ जी रासो' आदि के विषय में दयालदास-रीख्यात की प्रस्तावना में कुछ शब्द लिखे हैं। शिवदास चारण रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' संपादित है किंतु अब तक प्रकाशित नहीं हुई। कवि जान का 'क्याम खां रासो' नाहटा बंधुओं और हमारे सयुक्त संपादकत्व में राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर से प्रकाशित हुआ है। इसमें फतेहपुर (शेखावाटी) के कायम खानी वंश का वर्णन है। जान अच्छा कवि था। इसी ग्रंथ के परिशिष्ट रूप में अलिफ खां की पैड़ी प्रकाशित है। इतिहास की दृष्टि से भी 'क्याम खां रासो' अच्छा ग्रंथ है। इसकी समाप्ति वि० सं० १७१० (सन् १६५३ ई०) के आस पास हुई होगी। इसके कुछ पद्य देखिये :—

> **बांके बांकेहि बने, देखहु जियहि विचार।**
> **जो बांकी करवार है तो बांको परवार ॥**
> **बांके सौं सूधो मिलो तो नांहिन ठहराइ।**
> **ज्यों कमांन कवि जान कहि, बानहिं देत चलाइ ॥**

दिल्ली का वर्णन भी पठनीय है :—

> **अनंत भतारहि भखि गइ, नैकु न आई लाज।**
> **येक मरै दूजै धरै, यही दिल्ली को काज ॥**
> **जात गोत पूछत नहीं, जोई पकरत पान।**
> **ताहि सौं ढिलि मिलि चलै, पै भखि जार निदान ॥**

संवत् १७१५ के लगभग प्रणीत जग्गाजी का 'रतनरासो' भी उत्कृष्ट वीरकाव्य है। कवि वृंद सं० १७६२ में इसी शाहजहाँ के पुत्रों के संघर्ष में मारे गए। किशनगढ के महाराजा रूपसिंहजी की वीरता का ओजस्वी भाषा में वर्णन किया है। सं० १७८५ में समाप्त जोधराव का 'हम्मीररासो' नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है। बांकीदास, सूरजमल मिश्रण, केसरीसिंह जी आदि होती हुई यह वीरगाथा धारा वर्तमान काल तक पहुँच गई है।

असाधारण वीरत्व से रोमांचित होकर आशुकाव्य द्वारा इस वीरत्व को अमर बनानेवाले कवि अब तक राजस्थान में वर्तमान हैं।

किंतु जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, वीरत्व एक प्रकार का ही नहीं अनेक प्रकार का है। इसमें दानवीरत्व और धर्मवीरत्व का ख्यापन जैन कवियों ने बहुत सुंदर किया है। मुगल-सम्राट् अकबर ने सब धर्मों को प्रतिष्ठा दी। जैन साधुओं में से उसने विशेष रूप से तपागच्छ के श्रीहरिविजय सूरि और खरतरगच्छ के श्रीजितचंद्र सूरि को संमान दिया। इन दोनों प्रभावक आचार्यों ने धर्म की उन्नति के लिये जो कार्य किया वह जैन संप्रदाय के लिये गौरव की वस्तु है। 'रास और रासान्वयी काव्य' में संगृहीत 'अकबर-प्रतिबोधरास' में खरतराचार्य श्रीजितचंद्र के अकबर से मिलने और उन्हें प्रतिबुद्ध करने का वर्णन है। रास का रचना काल 'वसु युग रस शशि वत्सर' दिया जिसका मतलब १६२८ या १६४८ हो सकता है। इसमें सं० १६४८ ठीक है। उस समय कर्मचंद बीकानेर छोड़ चुका था। श्रीजिनचंद्र अति लंबा मार्ग तय करके अकबर से लाहौर में मिले, और उन्हें धर्म का उपदेश दिया। काव्यत्व की दृष्टिसे रास सामान्य है।

श्रीजिनचंद्र के देहावसान के समय लिखित 'युग-प्रबंध' में उनके मुख्य कार्यों का वर्णन है। सलीम के जैन साधुओं पर क्रोध करते ही सर्वत्र खलबली मच गई। कई पहाड़ियों में जा घुसे कई जंगलों और गुफाओं में। इस कष्ट से श्री जिनचंद्र ने उन्हें बचाया। बादशाह ने सबको छोड़ दिया। किंतु आचार्य का वृद्ध शरीर यात्रा कष्ट से क्षीण हो चुका था और सं० १६५२ में उनका देहावसान हुआ।

'श्रीविजयतिलक सूरि रास' के विषय हम भूमिका और सामाजिक जीवन में कुछ लिख चुके हैं। जंबूद्वीप का वर्णन अच्छा है। जंबूद्वीप में सोरठ, सोरठ में गुर्जरदेश और गुर्जरदेश में सुंदर वीसलनगर था। उसके भवनों की तुलना देवताओं के विमान भी न कर सकते थे—

सपतभूमि सोहइ आवासि देखत अमरहुआ उदास।
अहम विमान सोभी अछही भरी जाये तिहांथी आणीहरी।

स्थान स्थान पर लोग नाटक देखते। कोई नाचता, कोई गाता, कोई कथा कह कर चित्त रिझाता। कहीं पञ्च शब्द का घोष था कहीं शहनाई का। कहीं मल्लयुद्ध होता, कहीं मेढों का युद्ध।

बाणादि की कृतियों को अनुसरण करते हुए अकबर के राज्य में कवि ने केवल ध्वजाओं में दंड, धोबी की शिला पर मार, शूर (बहादुर, सूर्य) का पर्व पर ग्रहण, पाप का विरह, बंधन केशों का, दुर्व्यसन को देश निकाला, और दोहती समय गायों का दमन देखा है।

इस बीसलनगर में साहु देव के रूपजी और रामजी नाम के पुत्र हुए। इन्हीं पुत्रों का नाम रतनविजय और रामविजय हुआ। इसके बाद में उत्पन्न कलहादि का कुछ वर्णन जिसका सामान्यतः निर्देश रास की भूमिका और रासकालीन समाज नामक अनुच्छेदों में कर दिया गया। स्वभावतः रासो के इस अग्रिम भाग कुछ विशेष काव्य-सौष्ठव नहीं है।

धार्मिक रासों की, विशेषकर आचार्यों को दीक्षा, निर्वाण और जीवन से संबंध रखनेवाले रासों की, संख्या बहुत बड़ी है। इनके प्रकाशन से तत्कालीन समाज, भाषा, और इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। किंतु इस संग्रह में हमने प्रायः उन्हीं ऐतिहासिक रास काव्यों को स्थान दिया है जिनमें इतिहास के साथ कुछ काव्य-सौष्ठव भी हो और जो किसी समय-विशेष का प्रतिनिधित्व कर सकें।

रास का जीवन दर्शन

[रास के पूर्व वैदिक और अवैदिक उपासना]

वैष्णव और जैन रास ग्रंथों का जीवन-दर्शन समझने के लिए प्रथम इस भक्ति-साधना के मूल स्रोत का अनुसंधान आवश्यक है। यह साधना-पद्धति किस प्रकार वैदिक एवं अवैदिक साधना परंपराओं के विकास क्रम को स्पर्श करती हुई बारहवीं शताब्दी के उपरांत सारे देश में प्रचलित होने लगी और हमारी धर्म-साधना पर इसने क्या प्रभाव डाला ? इसका विवेचन करने से मूल-स्रोत का अनुसंधान सुगम हो जायगा। हमारे देश में आर्य जाति की वैदिक कर्मकांड की परंपरा सबसे प्राचीन मानी जाती है। किसी समय इसका अपार माहात्म्य माना जाता था। किंतु प्रकृति का नियम है कि उत्तम से उत्तम सिद्धांत भी काल-चक्र से चूर-चूर हो जाता है और उसी भूमि पर एक नया पौदा लहराने लगता है। ठीक यही दशा यज्ञ और कर्मकांड की हुई।

वैदिक और अवैदिक उपासना

जब वैदिक काल की यज्ञ और कर्मकांड पद्धति में ज्ञान और उपासना के तत्वों का सर्वथा लोप हो जाने पर भारतीय समाज के जीवन में संतुलन बिगड़ने लगा और वैदिक ब्राह्मणों का जीवन स्वार्थपरक होने के कारण सर्वथा भौतिक एवं सुखाभिलाषी होने लगा तो मनीषियों ने संतुलन के दो मार्ग निकाले। कतिपय मनीषी उपनिषद्-रचना के द्वारा परमार्थतत्वचिंतन पर बल देने लगे और वैदिक ज्ञानकांड से उसका संबंध जोड़ कर वेद की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए यज्ञों का अध्यात्मपरक अर्थ करने लगे। कई ऐसे भी महात्मा हुए जिन्होंने व्रात्यों का विशाल समाज देखकर और उन्हें वैदिक भाषा से सर्वथा अपरिचित पाकर यज्ञमय वैदिक धर्म का खुल्लम खुल्ला विरोध किया। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दूसरे वर्ग के मनीषी ऋषि माने जाते हैं।

उपनिषदों में यज्ञ की प्रक्रिया को आध्यात्मिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। ऊषा को अश्वमेध यज्ञ के अश्व का सिर, सूर्य को उसका चक्षु, पवन को श्वास, वैश्वानर को मुख, संवत्सर को आत्मा, स्वर्ग को पीठ, अंतरिक्ष को उदर, पृथ्वी को पुट्ठा, दिशाओं को पार्श्व, अवांतर दिशाओं को पार्श्व की

अस्थियाँ, ऋतुओं को अंग, मास और पक्ष जोड़, दिवारात्रि पग, नक्षत्रगण अस्थियाँ, आकाश मांस पेशियाँ, नदियाँ, स्नाय, पर्वत यकृत और प्लीहा; वृक्ष और वनस्पतियाँ लोम के रूप में स्वीकृत हुए। इस प्रकार यज्ञशाला के संकीर्ण स्थान से ध्यान हटाकर विराट विश्व की ओर साधकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय उपनिषदों को है। वैदिक परंपरा की यह पद्धति गीता, वेदांत सूत्र सात्वत मत एवं भागवत मत से पुष्ट होती हुई हमारे आलोच्य काल में श्रीमद्भागवत में परिणत हो गई।

वैदिक यज्ञों के विरोध में व्रात्य-धर्म की स्थापना करने वाली वेदविरोधी दूसरी पद्धति वैदिकेतर धर्मों के उन्नायकों से परिपुष्ट होती हुई आलोच्यकाल में सिद्ध कापालिक, शाक्त आदि मतों में प्रचलित हुई। संक्षेप में इनके क्रमिक विकास का परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है—

"वेदविरोधी इन मनीषियों ने लोकधर्म के प्रचार के लिए लोकभाषा का आश्रय लिया। बौद्ध धर्म दसवीं शताब्दी के पूर्व ब्राह्मण धर्म की प्रगतिशील शक्ति से प्रभावित होकर विविध रूपों में परिवर्चित होता हुआ नैपाल, तिब्बत और दक्षिण भारत में अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ रहा। अकेले नैपाल में जहाँ सात शैवों और चार वैष्णवों के तीर्थ थे वहाँ ९ तीर्थस्थान बौद्धधर्म प्रचारकों के अधिकार में थे। पर बौद्धधर्म का मूलस्वरूप कालगति से इतना परिवर्चित हो चुका था कि बुद्धवाणी के स्थान पर तांत्रिक साधना और काया-योग का महत्व बढ़ रहा था। इसी प्रभाव से प्रभावित 'शैव योगियों का एक संप्रदाय नाथ पंथ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तांत्रिक बौद्धधर्म की अनेक साधनाएँ भी अंतर्भुक्त थीं[1]।"

डा० हजारी प्रसाद ने अनेक प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है—जो युक्ति संगत भी जान पड़ता है—कि 'इन योगियों से कबीरदास का सीधा संबंध था।' इस प्रकार हमारा भक्ति साहित्य किसी न किसी रूप में बौद्धधर्म से प्रभावित अवश्य दिखाई पड़ता है। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि पूर्वी भारत जहाँ वैष्णव रास का निर्माण और अभिनय १५वीं शताब्दी के उपरांत प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है, बौद्धधर्म के प्रच्छन्न रूप निरंजन पूजा को पूर्ण रीति से अपना चुका था। वैदिक विद्वान् रमाई पंडित ने इस पूजा को वैदिक सिद्ध करने के लिए शून्य पुराण की रचना कर डाली।

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ८६

शून्य पुराण में एक स्थान पर निरंजन की स्तुति करते हुए रमाई पंडित कहते हैं—

शून्यरूपंनिराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम् ।
सर्वंपरः परदेवः तस्मात्त्वं वरदो भव ॥ निरंजनाय नमः ॥

एक और ग्रंथ निरंजन - स्तोत्र पाया गया है जिसमें एक स्थान पर लिखा है—

'ओं न वृक्षं न मूलं न बीजं न चांकुरं शाखा न पत्रं न च स्कन्धपल्लवं ।
न पुष्पं न गंधं न फलं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय ॥

इस निरंजन मत का प्रचार पश्चिमी बंगाल, पूर्वी विहार, उड़ीसा के उत्तरी भाग, छोटा नागपुर आदि भूभागों में उल्लेखनीय रूप में हो गया था। यद्यपि विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि निरंजन-पूजा बौद्धधर्म का ही विकृत रूप है। कतिपय विद्वान् निरंजन देवता को आदिवासियों का ग्राम-देवता मानते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जब बौद्ध-धर्म किन्हीं कारणों से मूलबुद्ध वाणी का अवलंब लेकर जीवित न रह सका, तो वह बंगाल-बिहार में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने मत के समीपवर्ती आदिवासियों के निरंजन धर्म को आत्मसात् करने को बाध्य हुआ और उनके ग्राम देवता को पूज्य मानकर उन पर अपने मतों का उसने आरोप किया। कालांतर में जब वैदिक धर्म की शक्ति अत्यंत प्रबल होने लगी और वेद-विरोधी धर्म अपने धर्म को वैदिक धर्म कहने में गौरव मानने लगे तो निरंजन धर्मावलंबी पंडितों, अथवा वैदिक धर्म में उन्हें आत्मसात् करने के अभिलाषी वैदिक धर्मानुयायी विद्वानों ने निरंजन स्तोत्र, शून्यपुराण आदि की रचना के द्वारा उन पर वैदिक धर्म की मुद्रा लगा दी।

निरंजन और जैन मत

अक्षय निरंजन की उपासना बौद्ध-धर्म से ही नहीं अपितु नवीं-दशवीं शताब्दीमें जैन धर्म से भी संबद्ध हो गई थी। जैन-साधक जोइंदु ने एक स्थान पर अक्षयनिरंजन ज्ञानमय शिव के निवास स्थान का संकेत करते हुए लिखा है—

देउण. देउले णवि सिलए
णवि लिप्पइ ण वि चित्ति।

अखय णिरञ्जणु णाणघणु,
सिउ संठिउ समचित्ति ॥

अर्थात् देवता न तो देवालय में है न शिला में, न लेप्यपदार्थों (चंदनादि) में है और न चित्र में। वह अक्षय निरंजन ज्ञानघनशिव तो समचित्त में स्थित है।

जैन-साधकों के सिद्धांत भी इस युग के प्रचलित बौद्ध, शैव, शाक्त, योगियों एवं तांत्रिकों के सिद्धांतों से प्रायः मिलते जुलते दिखाई पड़ते हैं। इस युग में चित्त शुद्धि पर अधिक बल दिया गया और बाह्याडंबर का विरोध खुल्लमखुल्ला किया गया। जैनियों ने भी समरसता की प्राप्ति के लिए शुद्ध आचार-विचार के नियमों का पालन करना और तपके द्वारा पवित्र शरीर को साधना के योग्य बनाना अपना लक्ष्य रखा। इस प्रकार जैनमत योग, तंत्र, बौद्ध, निरंजन आदि मतों के (इस युग में) इतना समीप आ गया था कि यदि डा० हजारीप्रसाद के कथनानुसार 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे (रचनाएँ) योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं प्रतीत होंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव, और वे ही प्रयोग घूमफिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते हैं।

भागवत धर्म ने इसमें आवश्यक परिवर्त्तन किया। उसमें अच्युत भाव-वर्जित अमल निरंजन ज्ञान को अशोभनीय माना गया।

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।

शिवशक्ति मिलन

शाक्त और शैव साधना के अनुसार समरसता की प्राप्ति तब तक संभव नहीं जब तक शिव और शक्ति का मिलन नहीं हो जाता। शक्ति तो शिव से भिन्न है ही नहीं। शक्ति और कुछ नहीं वह तो शिव की सिसृक्षा अथवा सृष्टि की इच्छा शक्ति है। यदि इच्छा को अभाव का प्रतीक स्वीकार किया जाय तो शक्ति रहित शिव का अर्थ हुआ विषमी भाव अथवा द्वंद्वात्मक स्थिति। अतः समरसता की स्थिति तभी संभव है जब शिव और शक्ति का एकीकरण हो जाए। शरीर में यह स्थिति जीवात्मा के साथ मन के एकमेक हो जाने में है।

शाक्तों का सिद्धांत है—

ब्रह्मांडवर्ति यत्किंचित् तत् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।[1]

अर्थात् ब्रह्मांड में जो कुछ है वह सब इसी शरीर में विद्यमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मांड में व्याप्त शक्ति इस शरीर में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है। शाक्तों का मत है कि शरीर-स्थित कुंडलिनी शक्ति का जब साधक को भान हो जाता है और वह उद्बुद्ध होकर सहस्रार-स्थित शिव से एकाकार कर लेता है तो साधक में समरसता आ जाती है। उसकी सारी इच्छाओं का तिरोभाव हो जाता है क्योंकि शिव में उसकी इच्छा शक्ति विलीन हो जाती है।

गत-स्पृहा की इस स्थिति का विवेचन करते हुए सिद्धसिद्धांत सार कहता है—

समरसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोनिरिदानीम्।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥[2]

अर्थात् इस पिंड योनि में योगनिष्ठा के अनुभव बल से जब साधक गत-स्पृहा हो जाता है तो उसको समरसता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में उसके मन का संकल्प-विकल्प, तर्क-वितर्क शांत हो जाता है और मन, बुद्धि और संवित् की क्रिया स्थगित हो जाती है।[3]

शाक्तों का मत है कि यह जीव ही शिव है। अतः मुक्त केवल विविध विकारों से आच्छादित हो जाने के कारण वह अपने को अशिव और बद्ध मानता है।[4]

तंत्र साधना

हम पूर्व कह आए हैं कि तंत्र के दो वर्ग हैं—आगम और निगम। सदाशिव ने देवी को जो उपदेश दिया है उसे आगम कहते हैं और देवी जो

१—सिद्धसिद्धान्त सार ३।२
२—,, ,, ७।५।१
३—यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता संवित् पराकला।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥
४—शरीरकञ्चुकितः शिवो जीवः निष्कञ्चुकः परमः शिवः।
(परशुराम कल्प १, ५)

कुछ सदाशिव या महेश्वर से कहती है वह निगम कहलाता है। तंत्र-शास्त्र में उपलब्ध षट्चक्रों का भेदन प्रश्नोपनिषद में भी पाया जाता है और तंत्र की कतिपय प्रक्रियाओं का उद्गम अथर्ववेद से माना जाता है। तंत्र का प्रमुख ओंकार वेदों में पाया जाता है।

उक्त धारणा को स्वीकार करते हुए भी तंत्र-साधना को महाभारत से बहुत प्राचीन नहीं माना जाता। इसका उद्भव चाहे जिस काल में हुआ हो पर इतना निश्चि है कि इसका बहुल प्रचार उस काल में हुआ, जब वैदिक ब्राह्मणों की यज्ञ-क्रिया से उदासीन होकर वेदभक्त जनता या तो उपनिषदों की ज्ञान-चर्चा में शांति ढूँढ़ रही थी अथवा पौराणिकों की भक्ति साधना की ओर आकर्षित हो रही थी। उक्त दोनों साधना-पद्धतियों में बृहद् यज्ञ-क्रियाओं को निम्नस्थान दिया जा रहा था। तंत्र साधना ने ऐसे समय में उन सिद्धांतों का प्रचार किया जिनमें यज्ञ-हवन के साथ उपनिषदों का ब्रह्मवाद, पुराणों की भक्ति, पतंजलि ऋषि का योग, अथर्वण वेद का मंत्रबल विद्यमान था। तात्पर्य यह कि उस समय तांत्रिक साधना में योग और भक्ति, मंत्र और हवन, ज्ञान और कर्म के सामंजस्य के कारण जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति का सर्वोच्चम मार्ग दिखाई पड़ा।

तंत्र-सिद्धांत की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक प्रवृत्ति के अनुरूप इसमें सफलता के साधन विद्यमान हैं। इसमें मुक्ति के साथ भुक्ति की सफलता भी पाई जाती है। कुलार्णव तंत्र कहता है—

अत्र भुक्तिश्च मुक्तिश्च लभते नात्र संशयम्।
(कु० तं० ३, १६)

अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की सिद्धि का पथ होने से तंत्र-साधना स्वभावतः संमान्य बनी। इसके प्रचार का एक और कारण था। जब शंकर के अद्वैत सिद्धांत को देश की अधिकांश जनता बुद्धि से अग्राह्य मान बैठी और जगत् को मिथ्या प्रपंच मानने से संतोष न हुआ तो तंत्र--साधना ने एक मध्य मार्ग निकाला।

मथित्वा ज्ञानदंडेन वेदागममहार्णवम्।
सारज्ञेन मया देवी कुलधर्मः समुद्धृताः॥
(कुलार्णव तंत्र २, १६ २, २१)

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम् ॥
(कुलार्णव, १।११०)

अर्थात् अद्वैत और द्वैत दोनों से विवर्जित एक नए तत्त्व का अनुसंधान तंत्र-साधना की विशेषता है। इस साधना-पद्धति में कुंडलिनी[1] शक्ति को जाग्रत करके जीव के आच्छादक आवरण को अनावृत कर दिया जाता है। आवरण निवारण में गुरु-कृपा अनिवार्य है। आवरण हटते ही जीव शिव बन जाता है। एक प्रकार से देखा जाय तो उपनिषदों का ब्रह्म ही शिव है।

जीव और शिव के अस्तित्व को तांत्रिकों ने बड़े सरलशब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि जीव ही शिव है, शिव ही जीव है। वह जीव केवल शिव है। जीव जब तक कर्म बंधन में है तब तक जीव है और जब वह कर्ममुक्त हो जाता है तो सदाशिव बन जाता है।[2]

तंत्र-साधना में शिव बनने के लिए वैदिक हवन क्रियाओं, भक्ति-संबंधी प्रार्थनाओं, और योग प्रक्रियाओं (प्राणायाम आदि) की सहायता अपेक्षित है। उपनिषद् के एकांत चिंतन से ही तांत्रिक साधना सिद्ध नहीं होती। इसकी एक विशेषता यह है कि उपर्युक्त साधना-पद्धतियों में प्रत्येक का सार भाग ग्रहण कर उसे सरल बना दिया गया है और इस प्रकार एक ऐसा पंचामृत बनाने का प्रयास किया गया है जो अधिकांश जनता की रुचि को संतुष्ट करता हुआ भुक्ति और मुक्ति दोनों का दाता हो। इस मार्ग को लघुतम मार्ग कहा गया है। प्रमाण के लिए देखिए—

The Tantric method is really a short cut and an abbreviation. It seeks to penetrate into the inner meaning of the rituals prescribed by the Vedas and only retains them in the smallest degree

---

१—सुप्ता गुरु प्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।

२—(क) जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः।
(ख) कर्मबद्धः स्मृतो जीवः कर्ममुक्तः सदा शिवः।
कुलार्णव ६, ४२-४३

in order that they may serve symbols helping to remind one of the secret mysteries embodied in them,[१]

तंत्र साधना में वैदिक हवन का बड़ा महत्व है, पर हवन का रहस्यात्मक अर्थ संपूर्ण समर्पण ग्रहण किया जाता है। बाह्य प्रक्रिया को प्रतीक मानकर आंतरिक अर्थ को स्पष्ट करने का उद्देश्य होता है।

पुराण की देव-उपासना पद्धति का इसमें समावेश है। देवपूजा, मंत्र-जाप, कवच का महत्व पौराणिक धर्म एवं तंत्र-साधना दोनों में पाया जाता है। मंत्र-जाप की महत्ता लिखते हुए पिंगला[२] तंत्र कहता है—

मननं विश्वविज्ञानं त्राणं संसारबन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धं मंत्र इत्युच्यते ततः॥

अर्थात् जो मनन के द्वारा संसार-बंधन से रक्षा करके सिद्धि प्रदान करे वह मंत्र कहलाता है।

मंत्र केवल शब्द या अभिव्यक्ति का साधन ही नहीं है। यह मंत्रद्रष्टा ऋषि की उस शक्ति से समन्वित है जो ऋषिवर ने ब्रह्मसाक्षात्कार के क्षणों में ज्ञानप्रकाश द्वारा प्राप्त किया। मंत्रजाप और चिंतन द्वारा जब साधक विचार के उस स्तर पर पहुँच जाता है जिसमें पूर्वऋषियों ने उसे (मंत्र को) पाया था तो साधक उसी प्रकाश का अनुभव करता है जिसे मंत्रद्रष्टा ऋषि ने देखा था।

मंत्र-जाप का प्रभाव तंत्र-पद्धति के शाक्त, शैव, वैष्णव सभी मतों में पाया जाता है। सब में शब्दब्रह्म और परब्रह्म को एक और अनश्वर स्वीकार किया गया है।

सिद्धों की युगनद्ध उपासना

वैष्णवों की माधुर्य उपासना के प्रचार से पूर्व पूर्वी भारत में विशेषरूप से सिद्धों की युगनद्ध उपासना प्रचलित थी। महायान संप्रदाय में बाह्य बुद्ध के

१—Nalini Kant Brahma, Philosophy of Hindu Sadhana Page, 278,

२—शारदा तिलक में उद्धृत पिंगला तंत्र से—

दिव्य स्वरूप की कल्पना का चरम विकास सिद्धों के युगनद्ध रूप में दिखाई पड़ता है। बुद्ध की तीन कायाओं—निर्माण काय (धातुनिर्मित) संभोग-काय (कामधातु निर्मित) धर्मकाय (धर्मधातु निर्मित) का अंतिम विकास सहजकाया (महासुख काया) के रूप में माना गया। इस रूप में बुद्ध मलावरण आदि दोषों से मुक्त अतः नितांत शुद्ध माने जाते हैं। सिद्धों ने साधक को इस महासुख की अनुभूति कराने के लिए विभिन्न रूपकों का आधार लिया है। ये विविध रूपक प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होते हैं।

सिद्ध-साधना में प्रज्ञा का भग प्रतीक है और उपाय का लिंग प्रतीक है।

प्रज्ञोपाय

भगवान वज्रधर हैं और भगवती नैरात्मा। 'ये सब युगनद्ध रूप में है। इनका स्वरूप मिथुन-परक है।···महाप्रज्ञा और महाउपाय के युगनद्ध का प्रतिपादन करने से इसका नाम महायान पड़ा।'

'प्रज्ञा तथा उपाय को पुरुष और नारी के रूप में परिकल्पित करने की प्रवृत्ति उसी तांत्रिक प्रवृत्ति का बौद्धरूप था जो तत्कालीन प्रत्येक संप्रदाय में परमतत्व और उसकी परम शक्तियों की युग्म कल्पना के रूप में प्रकट हो रही थी।'[1]

कुछ लोगों के मत से उक्त साधना-पद्धति का संबंध अथर्ववेद से जोड़ा जा सकता है। अथर्ववेद में पर्जन्य को पिता और पृथ्वी को माता के रूप में विभिन्न स्थानों पर प्रतिपादित किया गया है। इस आधार पर मिथुन-परक-साधना का मूलस्रोत अथर्ववेद माना जाता है।

वैदिक और अवैदिक परंपराओं का मिलन

यद्यपि वैदिक और अवैदिक परंपराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती गईं, पर एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना न रह सकीं। हम आगामी पृष्ठों में देखेंगे कि किस प्रकार श्रीमद्भागवत् ने भगवान् बुद्ध और ऋषभदेव को अवतारों में परिगणित कर लिया। बौद्ध और जैन दोनों धर्मों की विशेषताओं को आत्मसात् करता हुआ वैष्णव धर्म सारे देश में व्याप्त होने लगा। यहाँ

१—डा० धर्मवीर भारती, सिद्धसाहित्य पृ० १८२

हम भगवान् बुद्ध के त्रिकाय सिद्धांत और कृष्ण के तीन स्वरूप का विवेचन करके उक्त मत को प्रमाणित करने का प्रयास करेंगे।

महायान का त्रिकाय सिद्धांत और कृष्ण के स्वरूप

वैष्णव धर्म में भगवान् के मुख्य तीन स्वरूप माने जाते हैं—(१) स्वयं रूप (२) तदेकात्मरूप (३) आवेश रूप। भगवान् का शरीर प्राकृतिक न होकर चिन्मय है, अतः आनंदमय है। उनके शरीर और आत्मा में अन्य व्यक्तियों के समान भेद भाव नहीं। श्रीमद्भागवत् में इस रूप का विवेचन करते हुए कहा गया है गोपियाँ भगवान् के जिस लावण्य-निकेतन-रूप का प्रतिदिन दर्शन किया करती हैं वह रूप—अनन्य[1] सिद्ध (स्वयमुद्भूत रूप) है। यह केवल लावण्यसार ही नहीं, यश, श्री तथा ऐश्वर्य का भी एकमात्र आश्रय है। उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ रूप की कल्पना नितांत असंभव है। योगशास्त्र में इस रूप को निर्माण-काय कहा गया है। भगवान् ने इसी एक शरीर से द्वारका में १६ सहस्र रानियों से एकसाथ विवाह किया था। यह रूप परिच्छिन्नवत् प्रतीत होते हुए भी सर्वव्यापक है। स्वयंरूप में चार गुण ऐसे हैं जो अन्यत्र नहीं मिलते। वे हैं—(१) समस्त लोक को चमत्कृत करनेवाली लीला (२) अतुलित प्रेम (३) वंशी निनाद (४) रूप माधुरी।

(२) भगवान् का दूसरा रूप तदेकात्म रूप है। इस रूप में स्वयं रूप से चरित के कारण भेद पाया जाता है। इसके भी दो भेद हैं—विलास और स्वांश। विलास में भगवान् की शक्ति स्वांश से कम होती है। विलास-रूप नारायण में ६० गुण और स्वांशभूत ब्रह्म शिव आदि में और भी कम।

भगवान् का तीसरा रूप आवेश कहलाता है। वैकुंठ में नारद, शेष, सनत्कुमार आदि आवेश रूप माने जाते हैं।

निर्विवाद रूप से मान्य प्रथम ऐतिहासिक व्यक्ति (बुद्ध) को अवतार मानकर उसके तीन रूपों का वर्णन महायान संप्रदाय में पाया जाता है। भगवान् बुद्ध के द्विकाय—रूपकाय और धर्मकाय—की अभिव्यक्ति अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता में हो चुकी थी किंतु त्रिकाय का सिद्धांत महायान में सिद्ध हुआ। रूपकाय और धर्मकाय के साथ संभोग काय को और भी संमिलित कर लिया गया।

---

१. श्रीमद्भागवत १०।४४।१४

रूपकाय भगवान् का भौतिक शरीर, धर्मकाय भौतिक के साथ मिश्रित धर्म अर्थात् आध्यात्मिक शरीर है। संभोगकाय तथागत का आनंदमय शरीर है। 'इस प्रकार इस काय के द्वारा बुद्ध को प्रायः देवताओं का सा स्वर्गीय शरीर दे दिया गया है। संभोगकाय संबंधी सिद्धांत के निर्माण में योगाचारी महायानी आचार्यों का विशेष हाथ था। उन्होंने इसे श्रौत-परंपरा के ईश्वर की समानता पर विकसित किया है। निर्गुण निर्विकार तत्त्व धर्मकाय और नाम रूपमय ईश्वर संभोग काय है,"[1]

भगवान् बुद्ध ने अपने धर्मकाय को स्पष्ट करते हुए वकलि से कहा था—'वकलि! मेरी इस गंदी काया के देखने से तुझे क्या लाभ! वकलि, जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है।'[2]

इससे यह प्रमाणित होता है कि कृष्ण के संभोग शरीर की कल्पना महायान संप्रदाय से पूर्व हो चुकी थी जिसके अनुकरण पर महायान संप्रदाय ने बुद्ध के तृतीय शरीर का निर्माण किया। श्रौत धर्म की बौद्ध धर्म पर यह छाप प्रेमाभक्ति के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई होगी। बौद्ध धर्म में मारविजय के चित्र एवं साहित्य पर कृष्ण के काम विजय का प्रभाव इस रूप में दिखलाया जा सकता है।

मध्ययुग में आगम प्रभाव

हमारे देश में बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के उपरांत एक ऐसी साधना-पद्धति की प्रबल धारा दिखाई पड़ती है जो पूर्ववर्ती सभी धार्मिक आंदोलनों की धारा को समेट कर शताब्दियों तक अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित होती चली जा रही है। इस नए आंदोलन की गति-विधि से चमत्कृत होकर डा० ग्रियर्सन लिखते हैं—"कोई भी मनुष्य जिसे पंद्रहवीं तथा बाद की शताब्दियों का साहित्य पढ़ने का मौका मिला है उस भारी व्यवधान को लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकता जो पुरानी और नई धार्मिक भावनाओं में विद्यमान है। हम अपने को ऐसे धार्मिक आंदोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आंदोलनों से कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह

---

१. डा० भरत सिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृष्ठ ५८४

२. अलं वकलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वकलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति (संयुक्त निकाय)

बौद्ध धर्म के आंदोलन से भी अधिक विशाल है। क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्त्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं और ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति के नहीं बल्कि जिनकी समता मध्ययुग के यूरोपियन भक्त बर्नर्ड आफ क्लेयर वाक्स, थामस ए केम्पिन और सेंट थेरिसा से है।"

निश्चय ही डा० ग्रियर्सन का संकेत उस भक्ति-साधना-पद्धति से है जिस का प्रभाव उत्तर और दक्षिण भारत की प्रायः सभी लोक-भाषाओं के ऊपर दिखाई पड़ता है।

प्रत्येक प्रमुख भारतीय भाषा में श्री मद्भागवत् का अनुवाद[1] और उन के आधार पर भक्ति-परक पद-रचना का प्राधान्य इस काल की विशेषता है। इस काल में दशावतारों की महत्ता और विशेषतः कृष्ण की लीलाओं का वर्णन प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। श्री मद्भागवत् के नवनीत रूप रास पंचाध्यायी ने भारतीय साधना-पद्धति को एक नई दिशा में मोड़ दिया जिसे माधुर्योपासना कहा जाता है और जिसके अंतर्गत द्वैत एवं अद्वैत सभी प्रचलित उपासना पद्धतियों को आत्मसात् करने की क्षमता दिखाई पड़ती है। उसके पूर्व प्रचलित साधना-पद्धतियों का संक्षेप में उल्लेख कर देने से रास के जीवन-दर्शन का माहात्म्य स्पष्ट हो जायगा।

शंकराचार्य का आविर्भाव हमारे देश की चिंतनप्रणाली में क्रांतिकारी सिद्ध हुआ। अद्वैत सिद्धांत की प्रच्छन्न धारा इस आचार्य के तपोबल से प्रस्फुटित हो उठी और उसके प्रवाह से उस काल के तंत्र, आगम, बौद्ध, जैन, आदि सिद्धांत दो किनारों पर विभक्त हो गए। एक तो वेदविहित अतः ग्राह्य माने गये दूसरे वेदबाह्य अतः अग्राह्य समझे गये। 'सिद्धांत चंद्रोदय' में ६ नास्तिक संप्रदायों की गणना की है—(१) चार्वाक (२) माध्यमिक (३) योगाचार (४) सौत्रांतिक (५) वैभाषिक (६) दिगंबर।

वेदविहित संप्रदायों में शैव, शाक्त, पाशुपत, गाणपत्य, सौर आदि प्रमुख हैं।

१—तेलगू महाकवि पोताना (१४००–१४७५) (तेलगू भागवत श्रीमद्भागवत का तेलगू अनुवाद। कन्नड़ चाटु विट्ठलनाथ (१५३० ई०) भागवत का कन्नड़ अनुवाद। मलयालम तुंजन कवि (१६वीं शताब्दी) भागवत का मलयालम अनुवाद।

इन धर्मों और संप्रदायों के मूल आधार ग्रंथ हैं—पुराण, आगम, तंत्र और संहिताएँ। पुराणों के आधार पर पंचदेव (विष्णु, शिव, दुर्गा, गणपति और सूर्य) की उपासना प्रचलित थी। कहीं अठारह पुराणों में केवल दो वैष्णव दो शाक्त, चार ब्राह्म और दस शैव पुराणों का उल्लेख मिलता है। और कहीं चार वैष्णव पुराण (विष्णु, भागवत, नारदीय और गरुड़) का नामोल्लेख है। शैव पुराणों में शिव, भविष्य, मार्कंडेय, लिंग, वाराह, स्कंद, मत्स्य, कूर्म, वामन, और ब्रह्मांड प्रसिद्ध हैं। ये तो पुराण हुए। अब आगमों पर विचार कर लेना चाहिए।

उस शास्त्र का नाम आगम है जो भोग और मोक्ष दोनों के उपाय बताए। आगमों के तीन वर्ग हैं—(१) वैष्णव (२) शैव (३) शाक्त।

तंत्र आगम

तंत्र का अर्थ शैव सिद्धांत के अनुसार है—साधकों का त्राणकर्त्ता। श्री मद्भागवत् में पांचरात्र अथवा सात्वत संहिताएँ सात्वत तंत्र के नाम से अभिहित हैं। शैवों के कई संप्रदाय हैं—माहेश्वर, नकुल, भैरव, काश्मीर शैव इत्यादि। इसी प्रकार शाक्तों के चार संप्रदाय हैं—केरल, कश्मीर, विलास और गौड़।

यद्यपि शाक्त सारे देश में फैले हुए थे किंतु बंगाल और आसाम इनके मुख्य केंद्र थे। किसी समय शाक्तों का प्रधान स्थान काश्मीर था किंतु वहाँ से हट कर बंगाल और आसाम में इनका प्रभुत्व फैल गया।

यद्यपि आगम अनेक हैं जिनके आधार पर विविध संप्रदाय उत्तर एवं दक्षिण भारत में फैल गए पर उन सब में कुछ ऐसी समानताएँ हैं जिनको केंद्र बनाकर मध्यकाल में वैष्णव धर्म सारे देश में व्यापक बन गया। सर जान उडरफ के अनुसार सबसे बड़ी विशेषता इन आगमों में यह थी कि "वे अपने उपास्य देव को परम तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं।...ईश्वर की इच्छा-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति में विश्वास करते हैं, जगत् को परमतत्त्व का परिणाम मानते हैं, भगवान् की क्रमिक उद्भूति (व्यूह[1] आभास) आदि का समर्थन करते हैं, शुद्ध और शुद्धेतर पर आस्था रखते हैं; माया के कोश-कंचुक की कल्पना करते हैं, प्रकृति से परे परमतत्व को समझते हैं; आगे चलकर सृष्टिक्रम में प्रकृति को स्वीकार करते हैं; सांख्य के सत्व रज और तम गुणों को मानते

१—चतुर्व्यूह-वासुदेव से संकर्षण (जीव) संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (=अहंकार) की उत्पत्ति चतुर्व्यूह कहलाती है।

हैं; भक्ति पर जोर देते हैं; उपासना में सभी वर्णों और पुरुष तथा स्त्री दोनों का अधिकार मानते हैं; मंत्र, बीज, यंत्र, मुद्रा, न्यास, भूत सिद्धि और कुंडलिनी योग की साधना करते हैं; चर्या (धर्मचर्या) क्रिया (मंदिर निर्माण आदि) का विधान करते[1] हैं।"

पांचरात्रों में लक्ष्मी, शक्ति, व्यूह और संकोच वहीं हैं जो शाक्तों की भाषा में त्रिपुर सुंदरी, महाकाली, तत्व और कंचुक हैं।[2]

भागवत धर्म

भागवत धर्म पांचरात्र संहिताओं पर आश्रित है। संहिताओं की संख्या १०८ से २१० तक बताई जाती है। इनमें कतिपय संहिताएँ उत्तर भारत में विरचित हुईं और कुछ का निर्माण दक्षिण भारत में। फर्कुहर ने विविध प्रमाणों के आधार पर अनुमान लगाया है कि प्रायः सभी संहिताओं की रचना आठवीं शताब्दी तक हो चुकी थी। इन संहिताओं में ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या का विवेचन मिलता है।

यद्यपि इन चारों विषयों का प्रतिपादन संहिताओं का लक्ष्य रहा है पर ज्ञान और योग की अपेक्षा क्रिया और चर्या पर ही अधिक बल दिया गया है। उदाहरण के लिए 'पाद्मतंत्र नामक संहिता में योग के विषय में ११ और ज्ञान के विषय में ४५ पृष्ठ मिलते हैं किंतु क्रिया के लिए २१५ और चर्या के लिए ३७८ पृष्ठ खर्च किए गए हैं। देवालय का निर्माण, मूर्ति स्थापन क्रिया कहलाती है और मूर्तियों की पूजा-अर्चा, पर्व-विशेष के उत्सव चर्या के अंतर्गत माने जाते हैं।

वैष्णव धर्म का प्रचार

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हर्ष और उसके सेनापति भंडि की मृत्यु के उपरांत उत्तर भारत में कान्य-कुब्ज के मौखरी राजाओं की शक्ति क्षीण हो गई। पूर्व बंगाल में पालवंश राज्य करता था और उत्तर पश्चिम भारत में प्रतिहार वंशी क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। सन् ८१५ ई० में कान्यकुब्ज पर प्रतिहार राज नागभट्ट ने आक्रमण किया और वह विजयी होकर वहीं राज्य करने लगा। दक्षिण भारत में चालुक्य राजा

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ३

२—सर जान वुडरफ कृत "शक्ति एंड शाक्त" पृष्ठ २४

राज्य करते थे। इन तीनों प्रबल शक्तियों ने एक प्रकार से बौद्ध और जैन धर्मों को निर्बल कर दिया और शैवधर्म का सर्वत्र प्रचार होने लगा।

सन् १०१८ ई० में एक राजनैतिक क्रांति हुई। महमूद गजनवी ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और प्रतिहारों की पराजय हुई। राज्य में अंतर्विद्रोह और बाह्य आक्रमण के कारण फैली हुई दुर्व्यवस्था देखकर अनेक विद्वान् ब्राह्मण दक्षिण भारत चले गए। राष्ट्रकूटों ने जब-जब उत्तर भारत पर आक्रमण किया था तब-तब दक्षिण भारत से अनेक विद्वान् ब्राह्मण उनके साथ उत्तर भारत आए थे। इस प्रकार विद्वानों के आवागमन से उत्तर और दक्षिण भारत की भक्ति-साधन-परंपरा एक दूसरे के समीप आती गई, और मध्यदेश की संस्कृति का प्रचार दक्षिण भारत में योग्य विद्वानों के पांडित्य द्वारा बढ़ता गया।

बंगाल के राजा बल्लाल सेन ने १२वीं शताब्दी में कान्यकुब्ज के विद्वान् ब्राह्मणों को अपने देश में बसाया और गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं ने भी अपने राज्य में मध्यदेश के योग्य विद्वानों को आमंत्रित किया। उत्तर भारत को सर्वथा अरक्षित समझ कर उत्तर भारत के विद्वान् दक्षिण और पूर्व भारत में शरण लेने चले गए। इसका एक शुभ परिणाम यह हुआ कि मुसलमानी राज्य में—भारत का यातायात संकटापन्न होने पर भी—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम भारत में मध्यदेश की संस्कृति, रामकृष्ण की जन्मभूमि के माहात्म्य के सहारे फैलती गई जो कालांतर में भारतीय एकता में बड़ी सहायक सिद्ध हुई।

दक्षिण भारत में पांचरात्र वैखानस संहिता

तमिल देश में आजकल पांचरात्र संहिता का प्रचार है। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य से पूर्व वैखानस संहिताओं का ही प्राधान्य था। तिरुपति के वेंकटेश्वर तथा कांजीवरम् के मंदिरों में अद्यापि वैखानस संहिता के अनुसार मंदिर में पूजा अर्चा होती है। अप्पय दीक्षित तो पांचरात्र संहिता को अवैदिक और वैखानस को वैदिक उद्घोषित करते रहे। वैखानस संहिता के अनुसार शिव और विष्णु दोनों देवताओं का समान आदर होता था किंतु रामानुजाचार्य ने उसके स्थान पर विष्णु पूजा को प्रधानता देकर वैष्णव धर्म का दक्षिण में माहात्म्य बढ़ाया।

कतिपय विद्वान् शाक्त मार्ग को शैव धर्म की ही एक शाखा मानते हैं, किंतु किसी निश्चित प्रमाण के अभाव में इसे केवल अनुमान ही कहा जा सकता है। दसवीं शताब्दी में शाक्तमत और शैवमत में विभेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है। गुप्त-कालीन लिपि में विरचित 'कुब्जिका मत-तंत्र', संवत् ६०१ में निर्मित 'परमेश्वर मत तंत्र' तथा 'महाकुलांगना विनिर्णय तंत्र' तथा बाणभट्ट की रचनाओं से शाक्तमत की स्पष्ट अलग सत्ता प्रमाणित होती है। यद्यपि यह सत्य है कि शैव तंत्र के आठवें अध्याय के आधार पर शक्ति और नारायण को एक ही माना जा सकता है और आदि नारायण ही निर्गुण ब्रह्म एवं शिव हैं तथापि शैव और शाक्त मत में एक अंतर यह है कि शाक्त तंत्रों में आद्या ललिता महाशक्ति को ही राम और कृष्ण के विग्रह के रूप में स्वीकार किया गया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा है कि राम और शिव में भेद भाव रखना मूर्खता है। किंतु इन दोनों धर्मों में एक समानता ऐसी है जो एक को दूसरे के समीप ला देती है—वह है अद्वैत की प्रधानता। दोनों जीवात्मा और ब्रह्म की एकता स्वीकार करते हैं।[1]

पूर्वी भारत में शाक्त और शैव

कालांतर में शैव सिद्धांत से नाथ, कापालिक[2], रसेश्वर आदि संप्रदाय निकले जिनका प्रभाव उत्तर और दक्षिण भारत पर सर्वत्र दिखाई पड़ता है। एक ओर तो नाथ संप्रदाय का बोलबाला था दूसरी ओर पाशुपत,[3] पांचरात्र, भैरव, एवं जैन और बौद्धमत चल रहे थे। श्री पर्वत बौद्ध धर्म के अंतिम रूप वज्रयान, शैव-शाक्त एवं तांत्रिक साधनाओं का पीठ माना जा रहा था।

१—शिव ज्ञेय है और उपास्य है उसकी शक्ति। शक्ति का दूसरा नाम कुंडलिनी है। शक्ति रहित शिव शव सदृश है—'शिवोऽपि शवतां याति कुंडलिन्या विवर्जितः।'

२—'मालती माधव' नाटक के आधार पर कापालिक साधना को शैव मत साधना कह सकते हैं।

३—जीव मात्र पशु है और शिव पशुपति। पशुपति ही समस्त कार्यों के कारण हैं। दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति और परमेश्वर्य प्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था।

[मध्यकालीन धर्म साधना पृ० ४५]

माधुर्य उपासना में उड़ीसा और चीन का योग

उत्तर भारत में माधुर्य उपासना-पद्धति के प्रचार-केंद्र मथुरा-वृंदावन एवं जगन्नाथपुरी तीर्थ माने जाते हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर पुरी का मंदिर वृंदावन की अपेक्षा प्राचीनतर माना जाता है। मथुरा-वृंदावन के वर्तमान मंदिर पुरी के मंदिरों की अपेक्षा नए प्रतीत होते हैं। मध्यदेश में स्थित होने के कारण मथुरा-वृंदावन पर निरंतर विदेशियों के आक्रमण होते रहे। अतः बारबार इनका विध्वंस होता रहा। इसके विपरीत पुरी तीर्थ हिंदुओं के हाथ में प्रायः बना रहा[1]। अल्पकाल के लिये ही मुसलमानों का अधिकार हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम में हिंदू मंदिरों के ध्वंस होने पर हिंदू राजाओं के अधिकार में स्थित पूर्वी तीर्थों का विस्तार स्वाभाविक रूप से होने लगा। प्रमाण के लिये मूलस्थान (मुल्तान) के सूर्य मंदिर के विध्वस्त होने पर कोणार्क में रथ पर सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ। पर उसमें एक विशेषता यह आई कि पूर्व के तांत्रिकों और शाक्तों के प्रभाव के कारण सूर्य की विभिन्न निर्माण शक्ति को विभिन्न आसनों के द्वारा दिखाया गया। इस प्रकार मूर्तिकला के माध्यम से युगनद्ध उपासना की जनरुचि को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया।

वैष्णवधर्म विशेषतः रागानुगा भक्ति में आर्य-अनार्य, उच्चावच, धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख का भेदभाव सर्वथा विलुप्त रहता है। खानपान में वैष्णवजन अन्यत्र भेदभाव भले ही रखते हों पर जगन्नाथपुरी में इसका सर्वथा तिरोधान पाया जाता है। यह नवीनता कब और कैसे आई, इसका निश्चय कठिन है। पर उड़ीसा में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है—

1—Tughral Tughan Khan was no doubt out-generalled by the king of Orissa who had drawn the enemy far away from their frontier. A greater disaster had not till then befallen the Muslims in any part of Hindustan. "The Muslims", Says Mintaj. "sustained an overthrow, and a great number of those holy warriors attained martyrdom."

—Y. N.Sarcar, The History of Bengal Part II. Page 49.

उक्त घटना सन् १२४३ ई० की है। उस समय तक प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत पर मुसलमानों की विजयपताका फहरा रही थी।

मालवा महाराज इंद्रद्युम्न ने अपने राज्य के उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम में विष्णुदेव के अनुसंधान के लिए ब्राह्मणों को भेजा। अन्य दिशाओं से ब्राह्मण लौट आए किंतु पूर्व दिशा का ब्राह्मण-उत्कल में वसु नामक अनार्य शबर की कन्या से विवाह करके जगन्नाथदेव के दर्शन में तल्लीन हो गया। जीवन की दुर्बलताओं से क्षुब्धहृदय जगन्नाथ की करुणाभरी शक्ति का परिचय एक कौवे की मुक्ति के रूप में पाकर भक्ति-भावना से उमड़ उठा। उसके श्वसुर जगन्नाथ के बड़े पुजारी थे और जंगल से फल-फूल लाकर नील वर्ण की प्रस्तर प्रतिमा को अर्पण किया करते थे। एक दिन ब्राह्मण की भक्तिभावना से प्रसन्न होकर जगन्नाथदेव ने स्वप्न में आदेश दिया कि मालवराज से कहकर समुद्र तक मेरे मंदिर का निर्माण कराओ और वन्य फल फूलों से अब मैं ऊब गया हूँ मेरे पूजन में ५६ प्रकार के भोजन की व्यवस्था कराओ। मेरे मंदिर में जाति-भेद का सर्वथा लोप होगा और बौद्ध, तांत्रिक शैव आदि सभी पद्धतियों के समन्वय में वैष्णव धर्म की उपासना होगी। मालवराज ने जगन्नाथ के आदेशानुसार जगन्नाथ-मंदिर का निर्माण किया।

नीलाद्रि महोदय ने उस काल की नवीन पूजा पद्धति का वर्णन करते हुए लिखा है—

न मे भक्ताश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथाह्यहम्॥

जगन्नाथ के मंदिर में ब्राह्मण से शूद्र तक आर्य-अनार्य सभी को प्रवेश का अधिकार मिला। आदिवासी जातियों की बलिदान की पद्धति और आर्यों की अहिंसामय पूजा पद्धति दोनों का इसमें समावेश हुआ। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता हंटर ने उस नवीन उपासनापद्धति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

The worship of Jagannath aims at a Catholocism which embraces every form of Indian belief, and every Indian conception of the Deity. Nothing is too high, and nothing is too low to find admission into his temple. The fetishism and bloody rites of the aboriginal races, the mild flower-worship of the Vedas, and every compromise

between the two, along with the lofty spiritualities of the great Indian Reformers, have here found refuge.

\+ + + +

The disciple of every Indian sect can find his beloved rites, and some form of his chosen deity, within the sacred precincts.

\+ + + +

The very origin of Jagannath proclaims him not less the god of the Brahmans than of low caste-aboriginal races.

अर्थात् 'जगन्नाथ जी की पूजा का लक्ष्य भारत की सभी विश्वास परंपराओं और पूजा-पद्धतियों को समेट लेने का रहा है। इस मंदिर में ऊँचनीच का भेद भाव नहीं। आदिवासियों की हिंसामय पूजा तथा वैदिकों की पुष्पपूजा का संमिलन यहाँ दिखाई पड़ता है। भारत के प्रमुख सुधारवादी महात्माओं की आध्यात्मिकता का यहाँ समय समय पर अन्य उपासना पद्धतियों से सामंजस्य होता रहा है।

\+ + +

सभी मतमतांतरों के माननेवाले यहाँ अपने सिद्धांत के अनुसार साधना करने के अधिकारी हैं।

\+ + +

जगन्नाथ मंदिर का उद्भव ही इस तथ्य का प्रमाण है कि वे ब्राह्मण, शूद्र एवं आदिवासी सभी के देवता हैं।'

इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस मंदिर के संमुख राधा-कृष्ण-प्रेम का कीर्तन करते हुए चैतन्य महाप्रभु प्रेमविभोर हो उठते थे और जहाँ से माधुर्यभक्ति की धारा कीर्तनों एवं यात्रा-नाटकों के अभिनयों द्वारा उत्तर भारत में प्रचलित हुई वही हिंदूधर्म का केंद्र बन सका। जगन्नाथ-पुरी के मंदिरों पर उत्कीर्ण मूर्तियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि वैष्णव धर्म की मध्ययुगीन धर्मसाधना में तांत्रिक, शैव, शाक्त आदि सभी सिद्धांतों

का समन्वय करने, सूफियों की भावनामयी शृंगारपरक भक्तिपद्धति को मूर्तरूप देने के लिए राधाकृष्ण की शृंगारिक चेष्टाओं की भित्ति पर रागानुगा भक्ति का निर्माण हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि इस साधना के मूल में तिब्बत द्वारा हमारे देश में आई हुई चीनी शृंगार-साधना भी विद्यमान है।

चीनी साहित्य का प्रभाव

यद्यपि सहसा विश्वास नहीं होता कि हमारे देश की माधुर्य उपासना पर चीनी साहित्य का प्रभाव पड़ा होगा, पर भारत और चीन की प्राचीन मैत्री देखकर अविश्वास का कारण भी उचित नहीं प्रतीत होता। कुछ विद्वानों का मत है कि चीन में 'याङ्ग' और 'इन' का युग्म साधना के क्षेत्र में ईसा पूर्व से महत्त्वमय माना जा रहा था। वहाँ इन दोनों का मिलन सृष्टि विधायक और जीवनदायिनीशक्ति का विवर्द्धक माना जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि तांग वंशी राजाओं के राज्य में (६१८ ई० से ६०७ ई० तक) 'याङ्ग' और 'इन' देवताओं पर आधृत शृंगारी उपासना तंत्रागम के माध्यम से भारत में पहुँची। उसने कालान्तर में भारतीय माधुर्य उपासना पद्धति को प्रभावित किया। ज्यों ज्यों हम चीनी साहित्य के सम्पर्क में अधिकाधिक आते जाते हैं, यह मत और दृढ़ होता जा रहा है। चीन की शृंगारी उपासना पद्धति को तान्त्रिक टवोइस्टिक कहते हैं। इसके सिद्धांत 'याङ्ग' और 'इन' के यौन संबंध पर आधारित हैं। 'याङ्ग' पुरुष है और 'इन' स्त्री। इन दोनों का एकीकरण जीवात्मा का विश्वात्मा से मिलन माना जाता है। प्रमाण के लिए देखिए—

The whole theory had been based on the fundamental concept of Chinese Cosmology, the dualism between yang (the male principle Sun, fire, light) and yin (the female principle moon, water, Darkness) as the interaction of yang and yin represent the macrocosmic process, the sexual act in its microcosmic reproduction, the creation in the flesh but also the experience by self - identification of the macrocosmus.

Annal of Bhandarker Oriental Research (1957)

रासक का जीवन दर्शन

वैष्णव एवं जैन दोनों प्रकार के रासकों में विश्वविजय की कामना से प्रेरित कामदेव किसी योगी महात्मा पर अभियान की तैयारी करता दिखाई पड़ता है। सृष्टि की सबसे अधिक रूपवती रमणियों को ही इस सेना में सैनिक बनने का सौभाग्य मिलता है। वे रमणियाँ काम की आयुधशाला से अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वतः मन्मथदेव से युद्धकला सीखती हैं। कामदेव इन्हीं की सेना बनाकर कामविजिगीषु तपस्वियों पर आक्रमण करने चलता है। विश्वविजयिनी यह वीरवाहिनी अनेक बार समरांगणों में विजयध्वजा फहराती हुई अपने रणकौशल का परिचय दे चुकी है। वसुधामंडल में कोई ऐसा स्थान नहीं, जहाँ इन्होंने अपना राज्य स्थापित न कर लिया हो। इनकी अमोघशक्ति से ऋषि-मुनि तो क्या ब्रह्मा तक काँप उठे थे। शिव को अपने दुर्ग से बाहर आकर इनसे युद्ध करने का साहस न हुआ था, अतः उन्होंने अपने बाह्य नेत्रों को बन्द कर लिया और समाधिस्थ होकर काम के कुसुमशरों को तृतीय नेत्र की ज्वाला में भस्म करने लगे। उन बाणों की शक्ति से वे इतने आतंकित थे कि उनमें से एक का भी शरीरस्पर्श उन्हें असह्य प्रतीत हो रहा था। अतः उन्होंने शरीर-दुर्ग का द्वार बंद कर लिया और व्यूह के अंदर बैठकर प्रहारों का निराकरण करने लगे।

ठीक यही दशा श्री महावीर स्वामी की थी। उन्होंने भी काम के अभियान से भयभीत होकर समाधि लगाई। काम की सेना ने भरपूर शक्ति संकलित कर उन पर आक्रमण किया पर अपने दुर्ग के अंदर सुरक्षित महावीर स्वामी कामशक्ति से विचलित नहीं हुए। दुर्ग के बाहर सेना संगठित कर काम प्राचीर से बाहर उनके निकलने की प्रतीक्षा करता रहा पर उन्होंने ऐसी दीर्घ समाधि लगाई कि कामदेव अधीर हो उठा और अंत में हार मानकर उसे घेरा हटाना पड़ा। उसके पराजित होते ही देवताओं में उल्लास उमड़ उठा। अब भगवान् की अभ्यर्चना के लिए देव-अप्सराओं में आगे बढ़ने के लिए होड़ लग गई। किसी ने पुष्पमाला गूँथी, कोई चामर ढारने लगी। भगवान् के महिमस्तवन का आयोजन होने लगा। इस आयोजन में जिन्हें भाग लेने का अवसर मिला वे धन्य हो गए। नृत्य-संगीत की लहरियों पर भक्तों का मन नाच उठा। भगवान् के काम-विजय की रसमय लीला का गान होने लगा और इस प्रकार रास का प्रवर्तन हुआ।

भगवान् की समाधि-वेला समाप्त हुई। उन्होंने भक्तों का समुदाय सामने

देखा जिनके नेत्रों से श्रद्धा और विश्वास टपक रहा था। जिनकी मुखमुद्रा से जिज्ञासा झलक रही थी। भक्तों ने भगवान् से कामविजय की कथा श्रीमुख से सुनाने का आग्रह किया। भगवान् उनकी भक्ति से विभोर होकर काम के अभियान का विवेचन करने लगे। उन्होंने काम से रक्षा के लिए अपनी व्यूह-रचना की कहानी सुनाकर भक्तों का मन मोहित कर लिया। भक्तों में देवेंद्र नामक अत्यंत प्रवीण अभिनेता इस घटना से इतना प्रभावित हुआ कि भगवान् के प्रवचन को नृत्य-संगीत के माध्यम से जनता के संमुख प्रदर्शित किये बिना उससे रहा न गया। उसने अभिनेताओं की सहायता से ३२ शैलियों में इसे अभिनीत करने का प्रयास किया। उनमें एक थी रास की शैली जो सबसे अधिक प्रचलित हुई। इस प्रकार काम की पराजय और जैनाचार्यों की विजय जैन रास का मूल विषय बनी।

जैन रास की कथावस्तु की दो शैलियाँ थीं। एक शैली में भगवान् के केवल उपदेश भाग को ही ग्रहण कर गीतों की रचना हुई। दूसरी शैली में काम के अभियान की तैयारी, कामिनियों के प्रसाधन, काम की युद्ध-प्रणाली एवं उसकी पराजय का विशद चित्रण पाया जाता है। इस प्रणाली में कोई विरक्त जैनाचार्य अथवा धर्मनिष्ठ गृहस्थ नायक के रूप में स्वीकृत होते हैं।

वैष्णव रासों में भी कामदेव अपनी प्रशिक्षित सेना का संचालन करता दिखाई पड़ता है। पर उसकी पद्धति जैन रास से पृथक् है। पद्धति के पृथक् होने का कारण यह है कि वैष्णव रास (विशेषतः कृष्ण रास) में कामदेव का खुले मैदान में युद्ध दिखाया जाता है, दुर्ग के अंदर नहीं। मैदान में होनेवाले इस युद्ध का प्रयोजन 'गर्ग संहिता' में निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

कामदेव ने ब्रह्मा और शिव से युद्ध समाप्त करके विष्णु को संग्राम के लिए आमंत्रित किया। उसने यह भी अभिलाषा प्रकट की कि यह युद्ध समाधि रूपी दुर्ग के भीतर न होकर खुले मैदान में हो जिससे मैं अपनी सेना का पूर्णरीति से सदुपयोग कर सकूँ। विष्णु भगवान् ने कामदेव के आह्वान को स्वीकार किया पर युद्ध का समय द्वापर में कृष्णावतार के समय निश्चित किया।

कृष्णावतार में भगवान् ब्रज में आविर्भूत हुए। बाल्यकाल से ही उनके अनुपम सौंदर्य पर गोपियाँ रीझने लगीं। कामदेव प्रसन्न होकर यह लीला

देखने लगा। भगवान् की चीरहरण लीला के उपरांत उसने शरद् पूर्णिमा की रात्रि को उपयुक्त समय समझकर सैन्य-संग्रह प्रारंभ किया। प्रकृति ने कामदेव के आदेशानुसार विश्वब्रह्मांड के सुधाकर का सार लेकर एक नये चंद्रमा का आविष्कार किया। उस पूर्ण चंद्र को स्वतः लक्ष्मी ने अपनी मुख-श्री प्रदान की। कामदेव के संकेत से चंद्रदेव प्राची दिशा के मुखमंडल पर अपने कर कमलों से लालिमा की रोली-केशर मलने लगा। प्राची के मुख-संस्पर्श से रागरंजित लाल केशर झड़झड़ कर पृथ्वी मंडल को अनुराग-रंजित करने लगी। धवल चाँदनी से व्रजभूमि के सिकता प्रदेश में अमृत-सागर लहराने लगा। परिणाम यह हुआ कि व्रज का कोना-कोना उस रस से आप्लावित हो उठा। कामदेव ने व्यूह-रचना प्रारंभ की। मल्लिकादि पुष्पों की भीनी-भीनी सुगंध से वनप्रदेश सुवासित हो उठा। त्रैलोक्य के सौरभसार से सिक्त पवन मंथर गति से चलता हुआ कलिकाओं का मुख चूम चूम कर मस्त होने लगा। ऐसे मादक वातावरण में योगिराज कृष्ण ने कामयुद्ध संबंधी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार प्यारी मुरलिका को अधरों पर धारण किया। वंशी स्मरदेव के आमंत्रण को उद्घोषित करने लगी। उस आह्वान को विश्वविमोहक मंत्र से निर्मित किया गया था। कौन ऐसी रमणी थी जो इस विमुग्धकारी काम मंत्र को सुनकर समाहित रह सके और अपने शयनकक्ष में उद्विग्न न हो उठे। वंशी ध्वनि से रमणी हृदय रमणको विकंपित हो उठा।

[श्री मद्भागवत् में यह दृश्य शरदकालीन शोभा के कारण निर्मित हुआ था किंतु जयदेव ने इसमें आमूल परिवर्तन कर दिया है और शरद् के स्थान पर वसंत श्री का प्रभाव गीत[1]गोविंद में प्रदर्शित हुआ। इसके उपरांत जैन, वैष्णव तथा ऐतिहासिक रासों में कामोद्दीपक स्थिति लाने के लिए शरद के स्थान पर वसंत सुषमा का ही प्रायः उपयोग हुआ है।]

ऐसी मनोहारी ऋतु की पूर्णिमा की मचलती ज्योत्स्ना में रास का आमंत्रण पाकर यूथ-यूथ गोपियाँ गुरुजनों की अवहेलना करती हुई लोक-

---

१—विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।...

इसी स्थान पर बकुल कलाप एवं विविध कुसुमों पर मँडराने वाले भ्रमरों, किंशुक जाल, केशर कुसुम का विकास, पाटल पटल की छटा, माधवी का परिमल, नवमल्लिका सुगंधि, लता परिरंभण से मुकुलित एवं पुलकित आम्र मंजरी, कोकिल काकली आदि कामोद्दीपक पदार्थों एवं घटनाओं का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रथम सर्ग तृतीय प्रबंध

लजा त्याग कर उस यमुना-पुलिन पर पहुँचती हैं जहाँ अर्द्धरात्रि की चाँदनी की फिसलन पर बड़े बड़े योगियों का मन भी फिसल जाने को आकुल हो उठता है। कृष्ण के चतुर्दिक् व्रज सुंदरियों का व्यूह बनाकर कामदेव एक कोने में खड़ा मुस्कराने लगता है। ज्यों ज्यों गोपियों की सेना कृष्ण के समीप पहुँचती है काम का उल्लास बढ़ता जाता है। उसे गर्व होने लगा, और अपने विश्वविजय का संकल्प पूर्ण होता दिखाई पड़ने लगा। अंतर्यामी भगवान् मन्मथ का अहंभाव ताड़ गए। उन्होंने उसे आमंत्रित किया और अपने मनोराज के किसी स्थान पर आसीन होने का संकेत किया। भगवान् ने उसे स्थान देकर उन गोपियों की ओर दृष्टि फेरी जिनको अपने घर से निकलने का या तो साहस न हुआ अथवा कोई मार्ग न मिला। ऐसी गोपियों ने अपने नेत्र मूँद लिए और बड़ी तन्मयता से वे श्रीकृष्ण के सौंदर्य, माधुर्य और लीलाओं का ध्यान करने लगीं। शुकदेवजी परीक्षित से कह रहे हैं कि अपने परम प्रियतम श्री कृष्ण के असह्य विरह की तीव्र वेदना से उनके हृदय में इतनी ज्वाला उत्पन्न हुई कि हृद्गत अशुभ संस्कारों का अवशिष्ट अंश भी भस्म हो गया।

इसके बाद तुरंत ही ध्यान लग गया! ध्यान में उनके सामने भगवान् श्री कृष्ण प्रगट हुये। उन्होंने मन ही मन बड़े प्रेम एवं आवेग से उनका आलिंगन किया। इस समय उन्हें इतना सुख, इतनी शांति मिली कि उनके पूर्व संस्कार भस्मसात् हो गये और उन्होंने पाप और पुण्य कर्मों के परिणाम से बने हुये गुणमय शरीर का परित्याग कर दिया। अब उन्होंने भगवान् की लीला में अप्राकृत देह द्वारा भाग लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर ली।

गृह-निवासिनी गोपियों की मनोकामना पूर्ण करके भगवान् ने यमुना की श्वेत सिकता के रंगमंच पर पदार्पण करनेवाली गोपियों को सन्निकट आते देखा। उन्होंने उनका कुशल समाचार पूछकर तुरंत गृह लौटने का परामर्श दिया और साथ ही साथ कुलीन स्त्रियों का धर्म समझाते हुये पतिसेवा और मातृपितृसेवा का मर्म समझाया। उन्होंने यह भी कहा 'गोपियो, मेरी लीला और गुणों के श्रवण से, रूप के दर्शन से, उन सबके कीर्तन और ध्यान से मेरे प्रति जैसे अनन्य प्रेम की प्राप्ति होती है, वैसे प्रेम की प्राप्ति पास रहने से नहीं होती इसलिये तुम लोग अभी अपने-अपने घर लौट जाओ[१]।'

१—श्री मद्भागवत—दशम स्कंध उन्नीसवाँ अध्याय श्लोक २७

यहाँ स्त्री-धर्म की एक बड़ी समस्या उठाई गई है। गोपियों ने कृष्ण से कहा—

'नाथ, स्त्री धर्म क्या पतिपुत्र या भाई-बंधुओं की सेवा तक ही परिसीमित है? क्या यही नारी जीवन का लक्ष्य है? क्या नश्वर की उपासना से अनश्वरता की प्राप्ति संभव है? क्या हमारे पति देवता, माता-पिता या भाई-बंधुओं के आराध्य तुम नहीं हो? हमारा पूरा विश्वास है कि तुम्हीं समस्त शरीरधारियों के सुहृद् हो, आत्मा हो और परमप्रियतम हो; तुम नित्य प्रिय एवं साक्षात् आत्मा हो। मनमोहन! अब तक हमारा चित्त घर के काम-धंधों में लगता था। इसीसे हमारे हाथ भी उनमें रमे हुए थे। परंतु तुमने देखते देखते हमारा वह चित्त लूट लिया। हमारे पैर तुम्हारे चरण-कमलों को छोड़कर एक पग भी हटने के लिए तैयार नहीं है, नहीं हट रहे हैं। प्राणवल्लभ! तुम्हारी मुसकान और प्रेम भरी चितवन ने मिलन की आग धधका दी है। उसे तुम अपने अधरों की रसधारा से बुझा दो। भक्तों ने जिस चरण-रज का सेवन किया है उन्हीं की शरण में हम गोपियाँ भी आई हैं। हमने इसी की शरण ग्रहण करने को घर, गाँव, कुटुंब सबका त्याग किया है।

जिस मोहनी मूर्ति का अवलोकन करने पर जड़ चेतन [गौ, पक्षी, वृक्ष तथा हरिणादि भी] पुलकित हो उठाते हैं उसे अपने नेत्रों से निहार कर कौन आर्यमर्यादा से विचलित न हो उठेगा। प्रियतम, तुम्हारे मिलन की आकांक्षा की आग से हमारा वक्षस्थल जल रहा है। तुम हमारे वक्षःस्थल और सिर पर कर-कमल रखकर हमें जीवन दान दो।'

भगवान् ने भक्तों को ठोंक बजाकर देख लिया। गोपियाँ अंत तक अपनी प्रतिज्ञा पर डटी रहीं। अब तो भगवान् गोपियों के अनन्य प्रेम और अलौकिक सौंदर्य का गुणगान करने लगे। उन्होंने शृंगारसूचक भावभंगिमा से गोपियों को रमण के लिये संकेत किया। कामदेव यह देखकर पुलकित हो गया। अपनी विजय को समीप समझ उसने गोपियों के सौंदर्य को अप्रतिम एवं मिलन-उत्कंठा को अत्यधिक वेगवती बना डाला। अंतर्यामी भगवान् कृष्ण काम का अभिप्राय समझ रहे थे। उन्होंने काम-कला को भी आमंत्रित किया। शत्रु-शिविर में घुस कर उसी के अस्त्रों से सम्मुख समर में यदि स्मर को परास्त न किया तो कामविजय नामक युद्ध की महत्ता क्या! भगवान् ने अपनी भावभंगिमा तथा अन्य सभी चेष्टाएँ गोपियों के मनोनुकूल कर डाली

थीं। अब तो कामदेव को अपनी कामनाएँ पूर्ण होती दिखाई देने लगीं। उसने पवनदेवता को और भी शक्ति संकलित करने का आदेश दिया। कपूर के समान चमकीली बालुका-राशि पर फिसलती हुई चाँदनी में यमुना-तरंगों से सिक्त एवं कुमुदिनी मकरंद से सुवासित वायु इस मंडली के मन को आलोडित करने चली। कामदेव पूर्ण शक्ति के साथ मन का मंथन करने के उद्देश्य से भगवान् के अंतःकरण का कोना कोना झाँकने लगा। उसने देखा कि योगमाया ने साराप्रदेश इस प्रकार आवृत कर रखा है कि उसमें कहीं अणु रखने का स्थान नहीं। निराश होकर उसने गोपियों के हृद्प्रदेश को मथने का विचार किया, पर वहाँ तो उसे उज्ज्वल रस की निर्मल धारा के प्रवल प्रवाह में अपने सभी सेनापति बहते हुए दिखाई पड़े। वे स्वतः त्राहि-त्राहि मचा रहे थे, मन्मथ की सहायता क्या करते।

मनसिज ने नैराश्य पूर्णनेत्रों से अपनी राजधानी मनःप्रदेश पर शत्रु का अधिकार देखा। इतना ही नहीं उसके सम्मुख एक और विचित्र घटना घटित हुई। योगिराज कृष्ण ने अनेक रूप धारण करके प्रत्येक गोपी के साथ क्रीड़ा प्रारंभ की। उन्होंने गोपियों के कोमलकरों को स्पर्श किया। वस्त्रावरण को निरावृत कर वक्षस्थल का मर्दन एवं अन्य क्रीड़ाएँ करते समय कामकलाएँ परिचारिका के रूप में उनकी सेवा करने लगीं। अपनी कला-सेना को कृष्ण के सहायक रूप में देखकर कामदेव विस्मय विभोर हो उठा। अपने ही स्कंधावार के सैनिक एवं सेनापति शत्रु के सहायक बन जायें तो विजय की आशा दुराशा मात्र नहीं तो और क्या हो! उसे अब अपनी यथार्थ स्थिति का स्फुरण हुआ।

अपनी कामना को विफली कृत देख वह सिसकने लगा। इसका एक ही अर्द्ध मित्र बचा था विरह। उभयपक्षी होने के कारण उस पर काम का पूर्ण विश्वास न था, पर और कोई मार्ग न देखकर उसने विरह से अपनी व्यथा सुनाई। उसने कामदेव को आश्वासन दिया। इधर कृष्ण की संमानित गोपियाँ नारीसमाज में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं। अंतर्यामी भगवान् ने गोपियों की मनोगति को पहचान लिया और भक्त की इस अंतिम दुर्बलता का परिहार करने के लिये वे अंतर्धान हो गए।

भगवान् के अदृश्य होने पर गोपियों की विरहव्यथा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। विरहाग्नि में उनकी अवशिष्ट दुर्बलता भस्मीभूत होने लगी। प्रत्येक गोपी अपने को सर्वथा भूलकर भगवान् के लीलाविलास का अनुकरण करती

हुई कृष्ण बन गई और कहने लगी 'श्रीकृष्ण मैं ही हूँ'। किंतु यह स्थिति अधिक काल तक न रह सकी। गोपियों को पुनः कृष्ण विरह की अनुभूति होने लगी और वे तरु वल्लरियों, कीट पतंगों, पशुपक्षियों से अपने प्रियतम का पता पूछने लगीं। इसी विरहावस्था में वे कृष्ण की अनेक लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। गोवर्धन धारण की लीला करते हुए एक ने अपना उत्तरीय ऊपर तान दिया। एक कालीनाग बन गई और दूसरी उसके सिरपर पैर रखकर नाचते हुए बोली—'मैं दुष्टों का दमन करने के लिए ही उत्पन्न हुआ हूँ।' इस प्रकार विविध लीलाओं का अनुकरण करते हुए एक स्थान पर भगवान् के चरणचिह्न दिखाई पड़े।

एक गोपी के मन में अभी अहंकार भाव बच गया था। भगवान् उसे ही एकांत में ले गये थे। अपना यह मान देखकर उसने सभी गोपियों में अपने को श्रेष्ठ समझा था। भगवान् अवसर देखकर वनप्रदेश में तिरोहित हो गए। भगवान् को न देखकर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। गोपियाँ भगवान् को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उस गोपी के पास पहुँची जो अचेतन पड़ी थी। उसे चेतना में लाया गया। अब सभी गोपियों का मन कृष्णमय हो गया था। वे भगवान् के गुणगान में इतनी तन्मय थीं कि उन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही। सुधि आने पर वे रमण रेती (जहाँ भगवान् ने रास किया था) पर एकत्रित होकर भगवान् को उपालंभ देने लगीं। जब विरह-वेदना असह्य हो उठी तो वे फूट-फूट कर रोने एवं विलाप करने लगीं। यही रोदन और विलाप रास-काव्यों का मूल स्रोत है। इसीको कॅंद्र बनाकर कथासूत्र ग्रथित होते हैं। रास काव्य का व्यावर्तक धर्म विरह के द्वारा आत्मशुद्धि मानना अनुचित न होगा।

भगवान् करुणासागर हैं। अश्रुजल में जब गोपियों का विविध विकार बह गया तो वे सहसा आविर्भूत हो गये। मिलन-विरह का मनोवैज्ञानिक कारण बताते हुए उन्होंने गोपियों को समझाया कि "जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन की चिंता से भर जाता है, वैसे ही मैं भी मिल-मिलकर छिप-छिप जाता हूँ।"

इसके उपरांत महारास की अपूर्व छटा दिखाई पड़ती है। महारास का वर्णन करते हुए शुकदेव जी कहते हैं—'हे परीक्षित! जैसे नन्हा सा शिशु निर्विकार भाव से अपनी परछाईं के साथ खेलता है, वैसे ही रमारमण भगवान् श्री कृष्ण कभी उन्हें (गोपियों को) अपने हृदय से लगा लेते, कभी

हाथ से उनका अंग स्पर्श करते, कभी प्रेमभरी तिरछी चितवन से उनकी ओर देखते तो कभी लीला से उन्मुक्त हँसी हँसने लगते।'

श्रीमद्भागवत की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी कंदर्प-विजय का महत्व इस प्रकार वर्णन करते हैं—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालों को जीत लेने के कारण जो अत्यंत अभिमानी हो गया था, उस कामदेव के दर्प को दलित करनेवाले, गोपियों के रासमंडल के भूषण स्वरूप श्री लक्ष्मीपति की जय हो।

रास का प्रयोजन

दार्शनिकों का एक वर्ग तो प्रस्थान-त्रयी को ही मोक्ष प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम साहित्य समझता है किंतु दूसरा वर्ग—दार्शनिकता को विकासोन्मुख मानकर—श्रीमद्भागवत् को उपनिषदों से भी उच्चतर घोषित करता है। वैष्णवों का मत है कि निराकार ब्रह्म की उपासना से योगियों को आनंदानुभूति केवल सूक्ष्म शरीर से होती है किंतु हमारे देश में ऐसा भी साहित्य है जो इसी स्थूल शरीर एवं इंद्रियों के द्वारा उस अध्यात्म-तत्व का बोध कराने में समर्थ है।

कहा जाता है कि एक बार योगियों ने ब्रह्मानंद के समय यह आकांक्षा प्रगट की कि निराकार ब्रह्म के उपासना-काल में सूक्ष्म शरीर से जिस आनंद का अनुभव होता है उसी की अनुभूति यदि स्थूल शरीर के माध्यम से हो जाती तो भविष्य के साधकों को इतना क्लेश सहन न करना पड़ता'। अतः भगवान् ने योगियों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये कृष्णावतार धारण किया। इस पूर्णावतार में उन्होंने श्रुति-सूत्रों का मर्म लीला के द्वारा दिखा दिया। इसका विवेचन आगे चलकर किया जायगा।

कतिपय आचार्यों का मत है कि योगियों ने स्थूल शरीर की सर्वथा उपेक्षा करके तुरीयावस्था में ब्रह्मानंद की प्राप्ति की। किंतु उन्होंने एक बार यह सोचा कि स्थूल शरीर के ही बल पर यह सूक्ष्म शरीर बना जिससे हमने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। अतः यदि इस स्थूल शरीर को ब्रह्म-संस्पर्श न कराया गया तो इसके साथ बड़ी कृतघ्नता होगी। इसी उद्देश्य से मुनिगणों ने

परमेश्वर की उपासना की कि किसी प्रकार स्थूल शरीर को ब्रह्म-स्पर्श का सुख प्राप्त कराया जा सके। परमेश्वर ने कृष्णावतार में योगियों के भी मनोरथ को पूर्ण करने के लिये रासमंडल की रचना की।

रास का रहस्यमय प्रयोजन समझने के लिए विविध आचार्यों ने विविध रीति से प्रयत्न किया है। श्रीमद्भागवत् के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह[1] करके भगवान् अनेक लीलायें करते हैं जिनको सुनकर जीव भगवद् परायण हो जाए। किंतु उन सभी लीलाओं में रास-लीला का सर्वाधिक महत्व है। भगवान् कृष्ण को स्वतः इस लीला पर सबसे अधिक अनुरक्ति है। वे कहते हैं कि यद्यपि व्रज में अनेक लीलायें हुईं किंतु रासलीला को स्मरण करके मेरा मन कैसा हो जाता है[2]।

किसी न किसी महद् प्रयोजन से ही अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य एवं अव्यपदेश्य ब्रह्म को दिव्य रूप धारण कर गोपीगण के साथ विहार करने को वाध्य होना पड़ा होगा। इस गोपी - विहार का प्रयोजन था— सनकादिक एवं शुकादिक ब्रह्मनिष्ठ महामुनींद्रों को ब्रह्म-सुख से भी बढ़ कर अलौकिक आनंद प्रदान करना। जिन परमहंसों ने संसार के संपूर्ण रसों को त्यागकर समस्त नामरूप क्रियात्मक प्रपंचों को मिथ्या घोषित किया था उनको उज्ज्वल रस में सिक्त करना सामान्य कार्य नहीं था।

वेदांत सिद्धांत के चिंतकों को परमात्मा प्रथम तो विश्व-प्रपंच-सहित दिखाई पड़ता है और वे प्रयास के द्वारा त्याग-भाग लक्षणा से परमात्मा का यथार्थ स्वरूप देख पाते हैं। किंतु इसके प्रतिकूल रास में गोपियों को कृष्ण भगवान् का प्रपंच रहित शुद्ध परमात्मा के रूप में सद्यः प्रत्यक्षीकरण हुआ। अतः साधना की इस नई पद्धति का प्रयोजन हुआ—अपठित ग्रामीण स्त्रियों को भी ब्रह्म साक्षात्कार का सरल मार्ग दिखाना।

दार्शनिकों की बुद्धि ने जिस 'सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त-निरतिशय प्रेमास्पद और परमानंद रूप ब्रह्म का निरूपण किया भक्तों के अंतःकरण ने उसी ब्रह्म

१—अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा या श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ १०।३३।३६ ॥
श्रीमद्भागवत

२—सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्तामनोहराः।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत् ॥
श्रीमद्भागवत

को इतने स्पष्ट रूप से देखा जैसे नेत्र से सूर्य देखा जाता है। उसी दिव्य भगवत्तत्व रूपी सूर्य को माधुर्य उपासना रूपी दूरवीक्षण यंत्र की सहायता से दिखाने के प्रयोजन से रासलीला का अनाविल उपस्थापन हुआ, ऐसा मत भी किसी किसी महात्मा का है[1]।

श्रीमद्भागवत् ने एक सिद्धांत निरूपित किया कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, ईर्ष्या आदि मनोविकारों के साथ भी यदि कोई भगवान् का एकांत चिंतन करे तो उसे तन्मयता की स्थिति प्राप्त हो जाती है, और करुणाकर भगवान् उसकी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। गोपियों को रासलीला में उसी तन्मयता की स्थिति में पहुँचाकर भक्तों के हृदय में इसकी पुष्टि कराना रासक्रीड़ा का प्रयोजन प्रतीत होता है।

कामविकार से व्याकुल अधोगति में पड़े सांसारिक प्राणी को अति शीघ्र ही हृद्रोग-काम-विकार से मुक्ति दिलाना रासलीला का प्रमुख प्रयोजन है। भक्त इस हृद्रोग से ऐसी मुक्ति पा जाता है कि पुनः उसे यह रोग कभी सन्तप्त नहीं कर पाता। यही रासलीला का सबसे महत्त्वमय प्रयोजन है। श्रीमद्भागवत् रासलीला दर्शन का लाभ दर्शाते हुए कहता है—

'जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न होकर व्रजबालाओं के साथ की हुई भगवान् विष्णु की इस क्रीड़ा का श्रवण या कीर्त्तन करेगा, वह परम धीर भगवान् में परा-भक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोगरूप काम से मुक्त हो जायगा।'[2]

सारांश यह है कि उपनिषदों से भी उच्चतर एक दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना रासलीला का उद्देश्य है। हम कह आए हैं कि उपनिषद् में प्रत्येक दृश्यपदार्थ की नश्वरता प्रमाणित की गई है किंतु रासलीला में ऐसे कृष्ण की स्थापना की गई है जो दृश्य होते हुए भी अनश्वर है। इतना ही नहीं काम-क्रोधादि किसी भी विकार की प्रेरणा से उसके संपर्क में आनेवाला

१—करपात्री—श्री भगवत्तत्व, पृष्ठ ६४

२— विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेच्च।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

प्राणी अनश्वर बन जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् के एक मंत्र की प्रत्यक्ष सार्थकता रासलीला का प्रयोजन प्रतीत होता है। बृहदारण्यक में ऋषि कहते हैं—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति'—

'पति के काम के लिए पति प्रिय नहीं होता, वह आत्मा के लिये प्रिय होता है।'

पतिव्रता गोपियाँ कृष्ण से भी यही कहती हैं कि हमें पति प्रिय हैं किंतु आप तो साक्षात् आत्मा हैं। आपके लिए ही हमें पति प्रिय हैं। रासलीला में इसी सिद्धांत का प्रयोग दिखाया गया है।

आत्मा को उपनिषदों में जहाँ अरूप, अदृश्य, अगम्य बताया गया है वहीं उसे द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य एवं निदिध्यासितव्य भी कहा गया[1] है। रासलीला में उस परम आत्मा को जीवात्मा से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। उसे आलिंग्य एवं विक्रीड्य भी दिखाना रास का प्रयोजन जान पड़ता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्मसुख की अनुभूति बताते हुए यह संकेत किया गया है कि 'जिस प्रकार अपनी प्यारी स्त्री के आलिंगन में हम बाह्य एवं आंतरिक संज्ञा से शून्य हो जाते हैं। केवल एक प्रकार के सुख की ही अनुभूति करते हैं। उसी प्रकार सर्वज्ञ आत्मा के आलिंगन से पुरुष आंतरिक एवं बाह्य चेतना शून्य हो जाता है। जब उसकी संपूर्ण कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं जब केवल आत्मप्राप्ति की कामना रह जाती है तो उसके सभी दुख निर्मूल हो जाते हैं'—

'यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्[2]।'

१—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।
बृहदारण्यकउपनिषद्–चतुर्थ अध्याय–पंचम ब्राह्मण ६ वां मंत्र

२—बृहदारण्यकउपनिषद्–चतुर्थ अध्याय—तृतीय ब्राह्मण–२१ वां मंत्र

रासलीला में उसी सर्वज्ञानमय आत्मा रूपी कृष्ण के परिष्वंग से गोपियाँ आंतरिक एवं बाह्यचेतना शून्य होकर विलक्षण प्रकार की आनंदानुभूति प्राप्त करती हैं। इसी को चरितार्थ करना रासलीला का प्रयोजन प्रतीत होता है।

वैष्णव महात्माओं का सिद्धांत है कि रासलीला का प्रयोजन प्रेमरस का विकास है। यहाँ एक ही तत्व को भगवान् श्रीकृष्ण और राधा रूप में आविर्भूत कराना उद्देश्य रहा है इसीलिए उन्हें नायक एवं नायिका रूप में रखने की आवश्यकता पड़ी। उज्ज्वल रस के अमृत सागर में सभी प्रकार की जनता को अवगाहन कराना इस रासलीला का मूल प्रयोजन प्रतीत होता है। इसीका संकेत गीता में भगवान् करते हैं—

मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परं।
बोधयन्तश्च प्रण मां नित्यं तुष्यंति च रमन्तिच।

अर्थात् निरंतर मेरे अंदर मन लगानेवाले मुझे ही प्राणों को अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझमें निरंतर रमण करते हैं।

इसी रमण क्रिया की स्थिति में पहुँचाना रासलीला का मुख्य प्रयोजन है। इसी रमण स्थल को सूचित करनेवाली रमण रेती आज भी वृंदावन में विद्यमान है। इस रमणलीला का रहस्योद्घाटन समय-समय पर आचार्य करते आए हैं।

राधावल्लभीय दृष्टि से रासलीला का प्रयोजन भोगविलास को ही जीवन का सार समझने वाले विलासी व्यक्तियों के मन में कामविजय की लालसा जाग्रत कर मुक्तिपथ की ओर अग्रसर करना है। इस संप्रदाय के आचार्यों का कथन है कि "श्रीकृष्ण सदा राधिका को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा को प्रमुदित रखना ही उनका परमध्येय है। राधिका की अंशभूता अन्यान्य गोपिकाओं को रास में एकत्र कर प्रकारांतर से इष्ट देवी राधा को प्रमुदित करने का यह एक क्रीड़ा कौतुक है। इस लीला में 'तत्सुख सुखित्व' भाव की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण अपने आमोद का विस्तार करते हैं। इस 'तत्सुख सुखित्व' का पर्यवसान भी लोक कल्याण में ही होता है। अतः इस लीला की भावना करना ही पर्याप्त नहीं अपितु इसका भौतिक रूप

में अनुकरण करना भी अभीष्ट है। अनुकरण द्वारा राधा के प्रति कृष्णानुराग का स्वरूप सांसारिक जीवों को भी व्यक्त हो जाता है।"[1]

वल्लभ संप्रदाय रास के तीन रूप मानता है—(१) नित्यरास (२) नैमित्तिक रास (३) अनुकरणात्मक रास। भगवान् गोलोक अथवा वृंदावन में अपने आनंद विग्रह से अपनी आनंद प्रसारिणी शक्तियों के साथ नित्यरास-मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि एवं अनंत है। कृष्ण और गोपियाँ संसार से निवृत्त एवं लौकिक काम से विनिर्मुक्त हैं। इस लीला के श्रवण एवं दर्शन से भक्त अपनी कामनाओं की आहुति बनाकर भगवान् के भक्ति-यज्ञ को समर्पित कर देता है। इससे मन कल्मष-रहित बन जाता है।

माधुर्य उपासना का स्वरूप

वेदांत के अनुसार साधक जब ब्रह्म के साथ अभेद स्थापित कर लेता है तो ब्रह्ममय हो जाता है। ब्रह्म आनंद स्वरूप है अतः ज्ञानी भी आनंद रूप हो जाता है। भक्त का कथन है कि यदि साधक आनंदमय हो गया तो उसे क्या मिला। भक्त की अभिलाषा रहती है कि मैं आनंद का रसास्वादन करता रहूँ। वह भगवान् के प्रेम में मस्त होकर भक्तिरस का आनंद लेना चाहता है; स्वतः आनंदमय बनना नहीं चाहता। जीवगोस्वामी और बलदेव विद्याभूषण ने रागानुगा भक्ति की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि यद्यपि जीव और ब्रह्म में अंतर नहीं है तथापि जीव की जन्म-जन्मांतर की वासनाएँ आशा और आकांक्षाएँ उसे पूर्णकाम भगवान् से पृथक् कर देती हैं। जब भगवान् की भक्त पर कृपा होती है तो उसका (भक्त) मन भगवान् के लीलागान में रम जाता है। इस प्रकार निरंतर नाम-जपन और लीलागान-श्रवण से उसमें भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। उसे प्रेम से आनंद की अनुभूति होती है। इस आनंदानुभूति के दो प्रकार हैं—

(१) भगवद्विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगतस्पृहादिमयो ज्ञानविशेषस्तत्प्रीतिः।

अर्थात् भगद्विषयक अनुकूलता होने से स्पृहा के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त होता है। भगवद्-विषयक ज्ञान ही आनंद का हेतु है क्योंकि ज्ञान आनंद का स्वरूप है। यह भगवद् प्रीति कहलाती है। दूसरे प्रकार की आनंदानुभूति भगवान् में रति के द्वारा होती है। इसे प्रेमा भक्ति कहते हैं। जिस प्रकार संसार में हम किसी वस्तु को सुंदर देखकर स्वभावतः उसकी उपयोगिता का

१—डा० विजयेन्द्र स्नातक—राधावल्लभ सम्प्रदायः सिद्धांत और साहित्य पृ० २७१

बिना विचार किए ही आकर्षित हो जाते हैं उसी प्रकार भगवान् के अलौकिक सौंदर्य पर हम सहज ही मुग्ध हो जाते हैं। भगवान् आनंद स्वरूप हैं और वह आनंद दो प्रकार का है—(१) स्वरूपानंद (२) स्वरूप शक्त्यानंद। स्वरूपशक्त्यानंद दो प्रकार का होता है—(१) मानसानंद (२) ऐश्वर्यानंद। जब तक भक्त का मन भगवान् के ऐश्वर्य के कारण उनकी ओर आकर्षित होता रहता है तब तक उसे केवल ऐश्वर्यानंद ही प्राप्त हो सकता है। किंतु जब भक्त का मन भगवान् में ऐसा आसक्त हो जाता है जैसा प्रेमिका का मन अपने प्रेमी में, पुत्र का पिता में या पिता का पुत्र में, मित्र का मित्र में तो उस भक्ति को प्रीति की संज्ञा दी जाती है।

प्रीति की यह विशेषता है कि यदि प्रेमपात्र का बाह्य सौंदर्य भी आकर्षक हो तो प्रेमी की सारी मनोवृत्तियाँ प्रेमसागर में निमज्जित हो जाती हैं। ईश्वर से इतर के साथ प्रेम में भौतिक तत्त्वों से निर्मित पदार्थों का आभास बना रहता है, पर परमेश्वर का विग्रह तो पंचभूतों से परे है। अन्य पदार्थ भौतिक नेत्र के विषय हैं पर परमात्मा को अध्यात्म नेत्रों से देखना होता है। भक्त की ऐसी स्वाभाविक स्थिति एकमात्र भगवत्कृपा से बनती है। यह श्रम-साध्य नहीं। यह तो एकमात्र भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर है। भक्त इस स्थिति को जीवन्मुक्त से उच्चतर समझता है।[1] वह भगवान् के प्रेम में इतना विभोर हो जाता है कि वह अपनी भौतिक सत्ता को विस्मृत करके अपने को ईश्वर के साथ एकाकार समझने लगता है।

प्रेमी की इस स्थिति और ज्ञानी की शांत स्थिति में अंतर है। जहाँ भक्त ईश्वर को अपना समझता है वहाँ ज्ञानी अपने को ईश्वर का मानता है।

गीता में भक्तों की चार कोटियाँ मानी गई हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। कृष्ण भगवान् ज्ञानी भक्त को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हैं किंतु श्री मद्भागवत् के आधार पर विरचित 'भक्ति रसामृत सिंधु' में उत्तम भक्त का लक्षण भिन्न है—

---

१. बौद्धधर्म के महायान संप्रदाय में भी निर्वाण से ऊपर बुद्ध की कृपा से प्राप्त स्थिति मानी जाती है। 'निर्वाण के ऊपर बोधिका स्थान महायान ने रखा है।' निर्वाण अंतिम नहीं है उसके बाद तथागतज्ञान के द्वारा सम्यक् संबोधि की खोज करनी चाहिए।'

सद्धर्मपुंडरीक ३१०।१-४

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्[१]।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

अर्थात् उत्तमा भक्ति में अभिलाषाओं एवं ज्ञान कर्म से अनावृत एक मात्र कृष्णानुशीलन ही ध्येय रहता है। इसकी सिद्धि भगवत्कृपा से ही हो सकती है। अतः भगवत्कृपा के लिए ही भक्त प्रयत्नशील रहता है।

उत्तम भक्त उस मनस्थिति वाले साधक को कहते हैं जो कृष्ण की अनुकूलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वह मुक्ति और भुक्ति दोनों से निस्पृह हो जाता है—

'भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।'

भक्त के लिए तो भुक्ति और मुक्ति दोनों पिशाची के समान हैं। इन्हें हृदय से निकाल देने पर ही भक्ति-भावना बन सकती है।

प्रेमाभक्ति की दूसरी विशेषता है कि भक्त का मन मैत्री की पावन भावना से इतना ओतप्रोत हो जाता है कि वह किसी प्राणी को दुखी देख ही नहीं सकता। बुद्ध[२] के समान जिसके मन में करुणा भर जाती है वह निर्वाण को तुच्छ समझकर दीन-दुखी के दुख निवारण में अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति करता है। वहाँ आत्मकल्याण और परकल्याण में कोई विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं होता। प्रेमपूर्ण हृदय में किसी के प्रति कटुता कहाँ। प्रेमाभक्ति की यह दूसरी विशेषता है।

तीसरी विशेषता है मुक्तित्याग की। भक्त अपने आराध्य देव कृष्ण के सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। उसकी अहैतुकी भक्ति में किसी प्रकार के स्वार्थ के लिए अवकाश ही नहीं। इस कारण इसकी बड़ी महत्ता है। चौथी विशेषता है कि पुरुषार्थ से यह प्राप्य है ही नहीं। भगवत्कृपा के बिना प्रेमाभक्ति का उदय हो नहीं सकता। अर्चन-पूजन-वंदन आदि साधन अन्य भक्ति प्रकार में भले ही लाभप्रद हों पर प्रेमाभक्ति में इनकी शक्ति सीमित होने से वे पूर्ण सहायक सिद्ध नहीं होते।

१—रूपगोस्वामी—भक्तिरसामृत सिन्धु १, १, ६

२. मार ने तथागत से कहा—'अब तो आपने निर्वाण प्राप्त कर लिया। आपके जीवन की साध पूरी हुई। अब आप परिनिर्वाण में प्रवेश करें।'

तथागत बोले—'लोक दुखी है। हे समन्तचक्षु! दुखी जनता को देखो। जब तक एक भी प्राणी दुखी है, तबतक मैं कार्य करता रहूँगा॥'

भक्त को प्रेमा भक्ति से उस आनंद की उपलब्धि होती है जिसके संमुख मुक्तिसुख तुच्छ है। इसी कारण भक्ति साहित्य में ज्ञान और प्रेमा भक्ति का विवाद उद्धव गोपी संवाद के द्वारा प्रगट किया गया है। प्रेमाभक्ति की छठी विशेषता कृष्ण भगवान् को सर्वथा वशीभूत करके भक्तों के लिए उन्हें विविध लीलायें करने को वाध्य करना।

रूप गोस्वामी ने साधन भक्ति के दो भेद—(१) वैधी (२) रागानुगा का विवेचन किया है। वैधी भक्ति उन व्यक्तियों को उपयुक्त है जिनकी मनोवृत्ति तार्किक है और जो शास्त्रज्ञान से अभिज्ञ हैं। ऐसे भक्त को वैदिक क्रियाओं को अनिवार्य रूप से करने की आवश्यकता नहीं। भक्ति-सिद्धांत के अनुसार भक्त पर आचार नीति और यज्ञक्रियाओं का कोई अंकुश नहीं रहता। वैधीपद्धति के पालन करनेवाले भक्त को शास्त्रीय विवाद में उलझने की आवश्यकता नहीं। वह तो भगवान् के सौंदर्य का ध्यान पर्याप्त समझता है। वह भगवान् को स्वामी और अपने को दास समझता है। वह अपने सभी कर्म कृष्ण को समर्पण कर देता है।

इस स्थिति पर पहुँचने के उपरांत रागानुगा वैधी भक्ति के योग्य साधक बनता है। रागात्मिका भक्ति में प्रेमी के प्रति स्वाभाविक आसक्ति अपेक्षित है। अतः रागानुगा भक्ति का अर्थ है रागात्मिका भक्ति का कुछ अनुकरण।

रागात्मिका भक्ति में स्वाभाविक कामभाव के लिए स्थान है। पर रागानुगा भक्ति इससे भिन्न है। वहाँ कामासक्ति के लिए कोई अवकाश नहीं। उस दशा में तो स्वाभाविक कामवृत्ति की स्थिति की अनुकृति का प्रयास पाया जाता है स्वाभाविक कामवृत्ति वहाँ फटकने भी नहीं पाती।

रागात्मिका भक्ति की भाँति रागानुगाभक्ति भी दो प्रकार की होती है—(१) कामानुगा (२) संबंधानुगा। साधन भक्ति की रागानुगादशा के उपरांत भक्त भावभक्ति के क्षेत्र में पदार्पण करता है। भाव का अर्थ है भगवान् कृष्ण के प्रति स्वाभाविक आसक्ति। इस दशा में रोमांच और अश्रु के द्वारा शारीरिक स्थिति प्रेमभाव को अभिव्यक्त करती है। भक्त का स्वभाव प्रेमानंद के कारण इतना मधुर बन जाता है कि जो भी संपर्क में आता है वह एक प्रकार के आनंद का अनुभव करने लगता है। यह प्रेमभाव आनंद (रति) का मूल बन जाता है, अतः रतिभाव की इसे संज्ञा दी गई है। यद्यपि वैधी और रागानुगा में भी भाव की सृष्टि हो जाती है पर वह भाव इस

भाव से निम्नकोटि का माना जाता है। कभी कभी साधनभक्ति के बिना भी उच्च रतिभाव की अनुभूति भक्त को होती है पर वह तो ईश्वर का प्रसाद ही समझना चाहिए।

इस उच्च प्रेमभाव के उदय होने पर भक्त दुखसुख से कभी विचलित नहीं होता। वह भावावेश के साथ भगवान् का नामोच्चारण करने लगता है। वह इंद्रियजन्य प्रभावों से मुक्त, विनम्र होकर भगवत्प्राप्ति के लिए सदा उत्कंठित रहता है[1]। वह इस स्थिति पर पहुँचने के उपरांत मुक्ति को भी हेय समझता है। हृदय में कोई आशा-आकांक्षा नहीं रहती। उसका हृत्प्रदेश शांत महासागर के समान निस्तब्ध बन जाता है। यदि किसी भी प्रकार की हलचल बनी रहे तो समझना चाहिए कि उसमें रति नहीं रत्याभास का उदय हुआ है।

रतिभाव की प्रगाढ़ता प्रेम कहलाती है। इसमें भक्त भगवान् पर एक प्रकार का अपना अधिकार समझने लगता है। इसकी प्राप्ति भाव के सतत दृढ़ होने अथवा भगवान् की अनायास कृपा के द्वारा होती है। आचार्यों का मत है कि कभी तो पूर्व जन्म के पवित्र कर्मों के परिणाम-स्वरूप अनायास मनः स्थिति इस योग्य बन जाती है और कभी यह प्रयत्नसाध्य दिखाई पड़ती है। सनातन गोस्वामी ने अपने ग्रंथ 'बृहद् भागवतामृत' में ऐसे अनेक भक्तों की कथाएँ उद्धृत की हैं।

जो भक्त रतिभाव द्वारा ईश्वर प्राप्ति का इच्छुक है उसे राधा भाव या सखि भाव में से एक का अनुसरण करना पड़ता है।

"But it is governed by no mechanical Sastric rules whatever, even if they are not necessarily discarded; it follows the natural inclination of the heart, and depends entirely upon one's own emotional capacity of devotion.

The devotee by his ardent meditaton not only seeks to visualise and make the whole vrindavan-Lila of krishna live before him, but he enters into it imaginatively, and by playing the part of a bel-

---

१—भक्ति रसामृत सिंधु-१. ३. ११-१६

oved of Krishna, he experiences vocariously the passionate feelings which are so vividly pictured in the literature."

अर्थात् रतिभाव की उपासना किसी शास्त्रीय विधि-विधान से संभव नहीं। यद्यपि विधि-विधानों का बहिष्कार जानबूझकर नहीं किया जाता तथापि यह साधना साधक की अभिरुचि पर ही पूर्णतया निर्भर है। वह चाहे तो शास्त्रीय नियमों का बंधन स्वीकार करे चाहे उनको तोड़ डाले। इस साधना-पद्धति का अवलंबन लेनेवाला साधक कृष्ण की वृंदावन लीला के साक्षात्कार से ही संतुष्ट नहीं होता, वह तो अपने भावलोक में होनेवाली वृंदावन लीला में अपना प्रवेश भी चाहता है। वह कृष्ण की प्रिया बनना चाहता है। उस अभिलाषा में वह एक विशेष प्रकार की प्रेम भावना का अनुभव करता है जिससे रास साहित्य ओतप्रोत है।

भाव और महाभाव

रासलीला की दार्शनिकता का विवेचन करते हुए आचार्यों ने उपासकों के तीन वर्ग किए हैं—एक सखी भाव से उपासना करता है और दूसरा गोपी भाव से और तीसरा राधाभाव से। सखी भाव का उपासक, राधाकृष्ण की रासक्रीड़ा की संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करके किसी ओट से विहार की छटा देखना चाहता है, दूसरे उपासक गोपी भाव से उपासना करते हैं। गोपियाँ रासेश्वरी राधा का शृंगार कर उन्हें रास-मंडल में ले जाती हैं। राधा कृष्ण के साथ विहार करती हैं और राधिका जी का संकेत पाकर वे गोपियों को भी रासमंडल में संमिलित कर लेते हैं। इसी प्रकार ऐसे भी उपासक हैं जो राधाकृष्ण मूर्त्तियों का शृंगार करके रास की कल्पना करते हैं और उस कल्पना में यह अभिलाषा करते हैं कि हम भी गोपी रूप होकर भगवान् के साथ रास रचा सकें।

ऐसी अभिलाषा करनेवाले भक्तों के वर्ग गोपीगीत के अनुसार इस प्रकार किए जा सकते है। एक वर्ग के भक्तों की अभिलाषा है कि जिस प्रकार एक गोपी ने बड़े प्रेम और आनंद से श्रीकृष्ण के कर-कमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया उसी प्रकार वे भक्त भगवान् की कृपारूपी कर का स्पर्श पाने के अभिलाषी होते हैं। उनकी तृप्ति इसी की प्राप्ति से हो जाती है। दूसरे वर्ग के वे भक्त हैं जिनकी अभिलाषा उन गोपियों के समान है जो

भगवान् के चन्दन-चर्चित-भुजदंड को अपने कंधे पर रखना चाहती है अर्थात् जो भगवान् के अधिक आत्मीय बनकर उनके सखा के रूप में कृपा रूपी हाथों को प्रेम पूर्वक अपने स्कंध पर रखने की अभिलाषिणी हैं।

तीसरे प्रकार के भक्त भगवान् के और भी सन्निकट आना चाहते हैं। वे उन गोपियों के समान भगवान् के कृपा-प्रसाद के अभिलाषी हैं जो भगवान् का चबाया हुआ पान अपने हाथों में पाकर मुग्ध हो जाती है। आज भी कई संप्रदायों में इस प्रकार की गुरुभक्ति पाई जाती है। चौथे प्रकार के भक्त वे हैं जिनके हृदय में उस गोपी के समान विरह की तीव्र व्यथा समाई हुई है जो भगवान् के चरण-कमलों को स्कंध पर ही नहीं वक्षस्थल पर रखकर संतुष्ट होने की अभिलाषिणी है। पाँचवीं कोटि में वे भक्त आते हैं जिनका अहंभाव बना हुआ है। वे भगवान् की उपासना करते हुए मनः सिद्धि न होने पर उस गोपी के समान जो भौंहें चढ़ाकर दाँतों से होंठ दबाकर प्रणय कोप करती है—क्रोधावेश में आ जाते हैं।

छठें प्रकार के भक्त उस गोपी के समान हैं जो निर्निमेष नेत्रों से भगवान् के मुख कमल का मकरंद पीते रहने पर भी तृप्त नहीं होती। श्रीमद्भागवत् में उस भक्त का वर्णन करते हुए शुकदेव जी लिखते हैं—संत-पुरुष भगवान् के चरणों के दर्शन से कभी तृप्त नहीं होते, वैसे ही वह उसकी मुख माधुरी का निरंतर पान करते रहने पर भी तृप्त नहीं होती थी।'

सातवें प्रकार के भक्त उस गोपी के समान हैं जो नेत्रों के मार्ग से भगवान् को हृदय में ले गई और फिर उसने आँखें बंद कर लीं[१]। अब वह मन ही मन भगवान् का आलिंगन करने से पुलकित हो उठी। उसका रोम रोम खिल उठा। वह सिद्ध योगियों के समान परमानंद में मग्न हो गई। शुकदेव जी यहाँ भक्ति के इस प्रगाढ़ भाव की महत्ता गाते हुए कहते हैं कि 'जैसे मुमुक्षुजन परमज्ञानी संत पुरुष को प्राप्त करके संसार की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही सभी गोपियों को भगवान् श्री कृष्ण के दर्शन से परम आनंद और परम उल्लास प्राप्त हुआ।'

भावभक्ति की प्राप्ति दो मार्गों से होती है—(१) साधन परिपाक द्वारा

१—गोस्वामी जी ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया—

नयनन्ह मग रामहि उर आनी।
दीन्हीं पलक कपाट सयानी॥

(२) कृष्ण प्रसाद से। अतः इनका नाम रखा गया है साधनाभिनिवेशज और कृष्ण-प्रसादज। कृष्ण-प्रसादज तीन प्रकार का होता है—(१) वाचिक कृष्ण की कृपा वाणी द्वारा (२) आलोक दान द्वारा (३) कृष्णभक्त प्रसाद द्वारा।

भावभक्ति

भावभक्ति का संबंध हृद्गत राग से तब तक माना जाता है जब तक भाव का प्रेम रस में परिपाक नहीं हो जाता। इस भक्ति में बाह्य साधनों का बहुत महत्त्व नहीं है। यह तो व्यक्ति के हृदय-बल पर अवलंबित है। जिसके हृदय में भगवान् का रूप देखकर जितना अधिक द्रवित होने की शक्ति है वह उतना ही श्रेष्ठ भक्त बन सकता है। माधवेंद्रपुरी कृष्ण मेघाडंबर देखकर भगवान् के रूप की स्मृति आते ही समाधिस्थ हो जाते थे। चैतन्य महाप्रभु भगवान् की मूर्ति के सामने नृत्य करते करते मूर्छित हो उठते थे। रूप-गोस्वामी इस प्रेमाभक्ति को सर्वोत्तम भक्ति मानते हैं। यह प्रेमाभक्ति वास्तव में भावभक्ति के परिपाक से प्राप्त होती है। जब राग सांद्र बनकर आत्मा को सम्यक् मसृण बना देता है तब प्रेमाभक्ति का उदय होता है।

भगवान् का निरंतर नाम जपने से कुछ काल के उपरांत साधक पर करुणासागर भगवान् दयार्द्र होकर गुरु रूप में मंत्रोपदेश करते हैं। उसके निरंतर जाप से साधक की पूर्वसंचित मलिन कामवासना भस्म हो जाती है और उसे मनोभाव के अनुसार शुद्ध सात्विक शरीर प्राप्त हो जाता है। इसी सात्विक शरीर को भावदेह कहते हैं। भौतिक शरीर के प्राकृत धर्म इस सात्विक शरीर में संभव नहीं होते। इस भावदेह की प्राप्ति होने पर सच्ची साधना का श्री गणेश होता है। जब साधक इस भावदेह के द्वारा भगवान् की लीलाओं का गुणगान गाते गाते गलदश्रु हो जाता है तो साधन भक्ति भावभक्ति का रूप धारण करती है। कभी कभी यह भावभक्ति प्रयास बिना भी भगवान् के परम अनुग्रह से प्राप्त हो जाती है। पर वह स्थिति विरलों को ही जन्मजन्मांतर के पुण्यबल से प्राप्त हो सकती है।

स्थूलदेह और भाव देह

इस भावदेह की प्राप्ति के लिए मन की एक ऐसी दृढ़ भावना बनानी पड़ती है जो कभी विचलित न हो। आज भी कभी कभी ऐसे भक्त मिल जाते

हैं जो मातृभाव के साधक हैं। वे सभी मानव में माता की भावना कर लेते हैं और अपने को शिशु मानकर जीवन बिता देते हैं। उनका शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर अत्यंत वृद्ध एवं जर्जरित हो जाता है पर उनका भावशरीर सदा शिशु बना रहता है। वे अपने उपास्यदेव को प्रत्येक पुरुष अथवा नारी में मातृरूप से देखकर उल्लसित हो उठते हैं। जब ऐसी स्थिति में कभी व्यवधान न आये तो उसे भावदेह की सिद्धि समझना चाहिए। इस भाव-सिद्धि का विकसित रूप प्रेम कहलाता है। जिस प्रकार भाव का विकसित रूप प्रेम कहलाता है उसी प्रकार प्रेम की परिपक्वावस्था रस कहलाती है। इसी रस को उज्ज्वलरस की संज्ञा दी गई है जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

राधा की आठ सखियाँ—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंगदेवी, सुंदरी, तुंगदेवी और इंदुरेखा हैं। भगवान् इन गोपियों के मध्य विराजमान राधा के साथ रासलीला किया करते हैं। ये गोपियाँ राधा-कृष्ण की केलि देख कर प्रसन्न होती हैं। दार्शनिक इन्हीं सखियों को अष्टदल मानते हैं।

रासलीला के दार्शनिक विवेचन के प्रसंग में महाभाव का माहात्म्य सबसे अधिक माना जाता है। यह स्थिति एक मात्र रसिकेश्वरी राधा में पाई जाती है। भाव-सिद्धि होने पर भक्त की प्रवृत्ति अंतर्मुखी हो जाती है। वह अपने अंतःकरण में अष्टदल कमल का साक्षात्कार करता है। एक एक दल (कमलदल) को एक एक भाव का प्रतीक मानकर वह कर्णिका में महाभाव की स्थिति प्राप्त करता है। 'साधक का चरम लक्ष्य है महाभाव की प्राप्ति और इसके लिए आठों भावों में प्रत्येक भाव को क्रमशः एक एक करके उसे जगाना पड़ता है, नहीं तो कोई भी भाव अपने चरमविकास की अवस्था तक प्रस्फुटित नहीं किया जा सकता। विभिन्न अष्टभावों का समष्टि रूप ही 'महाभाव' होता है[१]।'

महाभाव

कविराज गोपीनाथ जी का कथन है—'अष्टदल की कर्णिका के रूप में जो बिंदु है, वही अष्टदल का सार है। इसी का दूसरा नाम 'महाभाव' है। वस्तुतः अष्टदल महाभाव का ही अष्टविध विभक्त स्वरूप मात्र है···महाभाव का स्वरूप ही इन अष्टभावों की समष्टि है[२]।'

१—पं० बलदेव उपाध्याय—भागवत संप्रदाय पृ० ६४५

२—भक्ति रहस्य पृ० ४४६

राधिका की आठ सखियों में से एक एक सखी एक एक दल पर स्थित भाव का प्रतीक बनकर आती है। कर्णिका में स्थित बिंदु महाभाव का प्रतीक होकर राधा का प्रतिनिधित्व करता है। भगवान् तो आनंद के प्रतीक हैं और राधा प्रेम की मूर्त्ति। प्रेम और आनंद का अन्योन्याश्रय संबंध होने से एक दूसरे के बिना व्याकुल और अपूर्ण हैं। पुरुष रूपी कृष्ण आराध्य हैं, प्रकृति रूपी राधा आराधिका। कहा जाता है—

> **भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव।**
> **महाभावस्वरूपा श्री राधा ठकुरानी।**
> **सर्वंगुण खानि कृष्ण कान्ता शिरोमनी।**

भगवान् बुद्ध ने हृदय की करुणा के विकास द्वारा प्राणी मात्र से मैत्री का संदेश सुनाया था किंतु प्रेमाभक्ति के उपासकों और श्रीमद्भागवत् ने क्रमशः साधु संग, भजनक्रिया, अनर्थ निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति भाव की सहायता से हृद्गत् श्रद्धा को कृष्ण प्रेम की परिपूर्णता तक पहुँचाने का मार्ग बताया है। भक्त कवियों और आचार्यों ने भक्तिभाव को भाव तक ही सीमित न रखकर रसदशा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है[१]। उस स्थिति में भजन का उसका ऐसा स्वभाव बन जाता है जिससे सर्वभूतहित का भाव उसमें अनायास आ जाता है[२]।

आचार्यों ने महाभाव का अधिकारी एक मात्र राधा को माना है। उस महामाया की अचिंत्य शक्ति है। उसका विवेचन कौन कर सकता है? भगवान् कृष्ण जिसकी प्रसन्नता के लिए रासलीला करें उसके मनोभाव (महाभाव) का क्या वर्णन किया जाय। योगमाया का उल्लेख करते हुए एक आचार्य कहते हैं—

'युज्यते इति योगा सदा संश्लिष्टरूपा या वृषभानुनंदिनी तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य रन्तुं मनश्चक्रे'—

स्वस्वरूपभूता वृषभानुनंदिनी (योगमाया) की प्रसन्नता के लिए रमण करने को मन किया। अतः इस महामाया का महाभाव अचिन्त्य और अवर्णनीय है। उसका अधिकारी और कोई नहीं।

१—माधुर्य रस का विवेचक काव्य सौष्ठव के प्रसंग में किया जायगा।

२—मधुसूदन सरस्वती।

काम और प्रेम

भगवान् को सच्चिदानंद कहा जाता है। वास्तव में सत् और चित् में कोई अंतर नहीं है। जिसकी सत्ता होती है उसीका भान होता है और जिसका भान होता है उसकी सत्ता अवश्य होती है। सच्चित् के समान ही आनंद भी प्रपंच का कारण है। आनंद से ही सारे भूत उत्पन्न होते हैं, और उसी में विलीन भी हो जाते हैं।'[1]

आनंद दो प्रकार का माना जा सकता है—(१) जो आनंद किसी उत्तम वस्तु को आलंबन मानकर अभिव्यक्त होता है उसे प्रेम कहते हैं और जो बंधनकारी निकृष्ट पदार्थों के आलंबन से होता है उसे काम या मोह कहा जाता है।' मधुसूदन स्वामी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
> मनोगतस्तदाकारो रसतामति पुष्कलाम्॥

भगवान् स्वयं रसस्वरूप हैं। जिनका चित्त उस रस रूप में तन्मय हो जाता है वह रसमय बन जाता है। करपात्री जी ने रासलीला रहस्य में इसका विवेचन करते हुए शास्त्रीय पद्धति में लिखा है—

'प्रेमी के द्रुतचित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदावच्छिन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर लाक्षा पिघल जाता है उसी प्रकार स्नेहादि रूप अग्नि से भी प्रेमी का अंतःकरण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलंबन सात्विक हैं, इसलिए जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुतचित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे प्रेम कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य स्वरूप है तथा काम दुःख और अपुण्य स्वरूप है।'

श्रीमद्भागवत् तथा उसके अनुवादों में गोपियों के कामाभिभूत होने का बारबार वर्णन आता है। इससे पाठक के मन में स्वभावतः भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि काम से प्रेरित गोपियों का एकांत में अर्द्धरात्रि को कृष्ण से रमण किस प्रकार उचित सिद्ध किया जा सकता है। इसका उत्तर विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न शैली में देने का प्रयास किया था। एकमत तो यह है कि 'रसो

१—आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

वै सः' के अनुसार ब्रह्मरस आनंद है जो सर्व विशेषण शून्य है। साक्षात्मन्मथ का भी मन्मथ है। वही श्री कृष्ण है। काम भी उसीका अंश है 'कामस्तु वासुदेवांशः।' अतः श्रीमद्भागवत् में काम वर्णन भगवान् कृष्ण की ही लीला का वर्णन है। उनके भक्तों में काम और रमण स्पृहा, भूति आदि शब्दों का प्रयोग उनके प्रेम के प्रबल वेग को बोधगम्य कराने के लिए किया गया है। वास्तव में गोपियों के निष्कपट प्रेम को काम और कृष्ण के आत्मरमण को रति कहा गया है।

"वस्तुतः श्रीकृष्णचंद्र के पदारविंद की नखमणि-चंद्रिका की एक रश्मि के माधुर्य का अनुभव करके कंदर्प का दर्प प्रशांत हो गया और उसे ऐसी दृढ़ भावना हुई कि मैं लक्ष - लक्ष जन्म कठिन तपस्या करके श्री व्रजांगना-भाव को प्राप्त कर श्री कृष्ण के पदारविंद की नखमणि-चंद्रिका का यथेष्ट सेवन करूँगा, फिर साक्षात् कृष्ण रस में निमग्न व्रजांगनाओं के सन्निधान में काम का क्या प्रभाव रह सकता था। यह भी एक आदर्श है। जिस प्रकार साधकों के लिए चित्रलिखित स्त्री को भी न देखना आदर्श है, उसी प्रकार जो बहुत उच्चकोटि के सिद्ध महात्मा हैं उनके लिए मानो यह चेतावनी है कि भाई, तुम अभिमान मत करना; जब तक तुम ऐसी परिस्थिति में भी अविचलित न रह सको तब तक अपने को सिद्ध मान कर मत बैठना।"[1]

पर स्मरण रखना होगा कि यह आदर्श कामुकों के योग्य नहीं। जिस प्रकार ऋषभ के समान सर्वकर्म-संन्यास का अधिकार प्रत्येक साधक को नहीं उसी प्रकार रासलीला का आदर्श कामुक के लिए नहीं। भगवान् श्री कृष्ण का आचरण अनुकरणीय तो हो नहीं सकता क्योंकि कोई भी व्यक्ति साधना के द्वारा उस स्थिति पर पहुँच नहीं सकता। श्री मद्भागवत् में इसकी अनुकृति को भी वर्जित किया गया है। यहाँ तक कि इसे सुनने का भी अधिकार उस व्यक्ति को नहीं दिया गया है जिसे 'छठी भावना रास की' न प्राप्त हो गई हो। जिस व्यक्ति में कामविजय की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो गई हो और भगवान् कृष्ण की अलौकिक बाललीलाओं के कारण जिनके मन में श्रद्धा-भक्ति का उदय हो गया हो उन्हें भगवान् की इस काम-विजय लीला से काम विजय में सहायता मिल सकती है। जिस प्रकार भगवान् की माया का वर्णन सुनने से मन माया-प्रपंच से विरक्त बनता है उसी प्रकार भगवान्

१—करपात्रीजी—श्री रासलीला रहस्य—पृ० २३०

पतंजलि के सूत्र 'वीतरागविषय' वा चित्तम्' के अनुसार कृष्ण की कामविजय लीला से मन काम पर विजय प्राप्त कर लेता है।

स्वकीया परकीया

रासलीला के विवेचन में स्वकीया और परकीया प्रेम की समस्या बार बार उठती रहती है। विभिन्न विद्वानों ने गोपी प्रेम को उक्त दोनों प्रकार के प्रेम के अंतर्गत रखने का प्रयास किया है। स्वकीया और परकीया शब्द लौकिक नायक के आलंबन के प्रयोग में जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करता है वह कामजन्य प्रेम का परिचायक होता है। वास्तव में वैष्णव कवियों और आचार्यों ने लौकिक और पारलौकिक प्रेम का भेद करने के लिए काम और प्रेम शब्द को अलग अलग अर्थों में लिया है। जब लौकिक नायक को आलंबन मानकर स्वकीया और परकीया नायिका का वर्णन किया जाता है तो लोकमर्यादा और शास्त्राज्ञा के नियमों के अनुसार–परकीया में कामवेग का आधिक्य होते हुए भी–स्वकीया को विहित और परकीया को अवैध स्वीकार किया जाता है। वैष्णव कवियों ने अलौकिक पुरुष अर्थात् कृष्ण के आलंबन में इस क्रम का विपर्यय कर दिया है।

वहाँ परकीया और स्वकीया किसी में कामवासना नहीं होती। क्योंकि कामवासना की विद्यमानता में कृष्ण जैसे अलौकिक नायक के प्रति प्राणी का मन उन्मुख होना संभव नहीं। वैष्णवों में परकीया गोपांगना को अन्य पूर्विका अर्थात् अपने विहित कर्म (अर्थ) को त्याग कर अन्य में रुचि रखनेवाली ऋचा माना गया है। जो ऋचा अपने इष्टदेवता की अर्थ सीमा को त्यागकर ब्रह्म का आलिंगन करे वह अन्यपूर्विका कहलाती है। इसी प्रकार जो व्रजांगनाएँ अपने पति के अतिरिक्त कृष्ण (ब्रह्म) का आलिंगन करने में समर्थ होती हैं वे परकीया अर्थात् अन्य पूर्विका कहलाती है। जो व्रजांगनाएँ अपने पतिप्रेम तक ही संतुष्ट हैं लोकमर्यादा के भीतर रहकर कृष्ण की उपासना करती हैं वे भी मान्य है पर उनसे भी अधिक (आध्यात्मिक जगत में) वे गोपांगनाएँ पूज्य है जो सारी लोकमर्यादा का अतिक्रमण कर कृष्ण (ब्रह्म) प्रेम में रम जाती हैं।

पारलौकिक प्रेम के आस्वाद का अनुमान कराने के लिये लौकिक प्रेम का

१—अर्थात् विरक्त पुरुषों के विरक्त चित्त का चिंतन करनेवाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त करता है।

उदाहरण संमुख रखना उचित समझा गया। जिस प्रकार समाधि सुख का अनुभव कराने के लिए उपनिषदों में कामरस की उपमा दी गई।

पारलौकिक प्रेम की प्रगाढ़ता स्पष्ट करने के लिए भी परकीया नायिका का उदाहरण उपयुक्त प्रतीत होता है। 'स्वकीया नायिका को नायक का सहवास सुलभ होता है, किंतु परकीया में स्नेह की अधिकता रहती है। कई प्रकार की लौकिक-वैदिक अड़चनों के कारण वह स्वतंत्रता पूर्वक अपने प्रियतम से नहीं मिल सकती, इसलिए उस व्यवधान के समय उसके हृदय में जो विरहाग्नि सुलगती रहती है उससे उसके प्रेम की निरंतर अभिवृद्धि होती रहती है। इसीलिए कुछ महानुभावों ने स्वकीया नायिकाओं में भी परकीयाभाव माना है, अर्थात् स्वकीया होने पर भी उसका प्रेम परकीया नायिकाओं का-सा था। वस्तुतः तो सभी व्रजांगनाएँ स्वकीया ही थीं, क्योंकि उनके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही थे, परंतु उनमें से कई अन्य पुरुषों के साथ विवाहिता थीं और कई अविवाहिता।...इस प्रकार प्रेमोत्कर्ष के लिए ही भगवान् ने यह विलक्षण लीला की थी।'[1]

परकीया नायिका का प्रेम जारबुद्धि से उद्भूत माना जाता है। रास में जारभाव से भगवान् कृष्ण को प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। यहाँ कवि को केवल प्रेम की अतिशयता दिखाना अभिप्रेत है। जिस प्रकार जार के प्रति स्वकीया नायिका की अपेक्षा परकीया में प्रेम का अधिक वेग होता है उसी प्रकार गोपांगनाओं के हृदय में पतिप्रेम की अपेक्षा कृष्ण प्रेम अधिक वेगवान् था। श्री मद्भागवत् में इसको स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

'जारबुद्ध्यापिसंगताः' अपि शब्द यह सूचित करता है कि सारे अनौचित्य के होते हुए भी कृष्ण भगवान् के दिव्य आलंबन से गोपांगनाओं का परम मंगल ही हुआ।

कामं क्रोधं भयं स्नेहं सौख्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो तन्मयतांलभते नरः॥

—श्रीमद्भागवत

काम, क्रोध, भय, स्नेह, सौख्य अथवा सुहृद भाव से जो नित्य भगवान् को स्मरण करता है उसे तन्मयता की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

१—करपात्री–रासलीला रहस्य पृ० २६२

प्रश्न उठता है कि भगवान् कृष्ण में गोपाङ्गनाओं ने जार-बुद्धि क्यों की ? यदि उन्होंने भगवान् को सबका अंतर्यामी परमेश्वर माना तो पति-बुद्धि से उनसे प्रेम क्यों नहीं किया ? जारबुद्धि से किया हुआ सोपाधिक प्रेम तो कामवासनापूर्ति तक ही रहता है अतः गोपाङ्गनाओं को उचित था कि वे भगवान् को सर्वभूतांतरात्मा मानकर उनसे निरुपाधिक प्रेम करती। उन्होंने जारबुद्धि क्यों की ? इन प्रश्नों का उत्तर करपात्रीजी ने श्रीमद्भागवत् के 'जारबुद्ध्यापिसंगताः'[1] के अपि शब्द के द्वारा दिया है। उनका कथन है कि आलंबन कृष्ण के माहात्म्य का प्रभाव है कि गोपाङ्गनाओं के सभी अनौचित्य गुण बन गए। 'उस जार बुद्धि से यह गुण हो गया कि जिस प्रकार जार के प्रति परकीया नायिका का स्वकीया की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है वैसे ही इन्हें भी भगवान् के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इससे उपासकों को बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटि-पूर्ण होने पर भी उन्हें भगवत्कृपा की आशा बनी रहती है। और प्रेममार्ग में आशा बहुत बड़ा अवलंबन है, क्योंकि जीव आशा होने पर ही प्रयत्नशील हो सकता है। उस प्रकार भगवान् ने अन्यपूर्विका और अनन्य पूर्विका दोनों की प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखलाकर प्रेम-मार्ग को सबके लिए सुलभ कर दिया है।"

आचार्यों का मत है कि भगवान् ने यह रासलीला श्री राधिकाजी को प्रसन्न करने के लिए की। भगवान् के कार्य राधिकाजी के लिए और राधिका जी के कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होते हैं। अन्य गोपांगनाएँ तो एक मात्र राधिकाजी की अंशांशभूता है। राधिकाजी के प्रसन्न होने से वे स्वतः प्रसन्न हो जाती हैं। इसी से गोपांगनाओं का भाव 'तत्सुख सुखित्व' भाव कहलाता है। ये गोपांगनाएँ स्वसुख की अभिलाषा नहीं करतीं। राधिका जी के सुख से इन्हें अंशांशी भाव के कारण स्वतः सुख प्राप्त हो जाता है।

रासलीला की उपासना पद्धति से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भक्त को भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए श्री राधिकाजी को प्रसन्न करना होता है। क्योंकि भगवान् के सभी कार्य राधिकाजी की प्रसन्नता के लिए होते हैं। जिस कार्य से राधिकाजी को आनन्द मिलता है कृष्ण वही कार्य करते हैं। और राधिका जी को प्रसन्न करने के लिए गोपाङ्गनाओं की कृपा

१—करपात्रीजी-श्री भगवत्तत्त्व

वांछनीय है। क्योंकि राधिका जी सभी कार्य गोपाङ्गनाओं के आह्लाद के लिए करती हैं। गोपाङ्गनाओं की कृपाप्राप्ति गुरु कृपा से होती है। अतः मधुर भाव की उपासना में सर्वप्रथम गुरुकृपा अपेक्षणीय है। गुरु ही इस उपासना-पद्धति का रहस्य समझा सकता है। उसी के द्वारा गोपाङ्गना का परकीया भाव भक्त में उत्पन्न हो सकता है और नारी पति पुत्र, धन सम्पत्ति सब कुछ गुरु को अर्पित कर सकती है। गोपाङ्गना भाव की दृढ़ता होने से वे गोपाङ्गनाएँ प्रसन्न होती हैं और वे राधिका जी तक भक्त को पहुँचा देती हैं। अर्थात् राधिका के सदृश सत्यनिष्ठा भक्त में उत्पन्न हो जाती है। उस अवस्था में राधिका प्रसन्न हो जाती हैं और भगवान् कृष्ण भक्त को स्वीकार कर लेते हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् में सत्यनिष्ठा सहज में नहीं बनती। तुलसी ने अपनी 'विनयपत्रिका' हनुमान के द्वारा लक्ष्मण के पास भेजी। लक्ष्मण ने सीताजी को दी और सीता ने राम को प्रसन्न मुद्रा की स्थिति में तुलसी की सुधि दिला दी। यह तो वैधी उपासना है। पर रागात्मिका में राधाभाव अथवा सखीभाव प्राप्त करने के लिए प्रथम लोक-मर्यादा त्याग कर सब कुछ आचार्य को अर्पण करना पड़ता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—

व्रजलीला परिकर्षत श्रृंगारादिभाव माधुर्यं श्रुते इदंममापि भूयादिति लोभोत्पत्तिकाले शास्त्रयुक्त्यपेक्षा न स्यात्।

राधा स्वकीया हैं या परकीया ? यह प्रश्न सदा उठता रहता है। हिंदी के भक्त कवियों ने राधा को स्वकीया ही स्वीकार किया है, किंतु गौड़ीय वैष्णवों में राधा परकीया मानी जाती है। सूरदास प्रभृति हिंदी के भक्त कवि रास प्रारंभ होने के पूर्व राधा कृष्ण का गांधर्व[1] विवाह संपन्न करा देते हैं। हिंदी के भक्त कवि भी परकीया प्रेम की प्रगाढ़ता भक्ति क्षेत्र में लाने के लिए गोपांगनाओं में कतिपय को स्वकीया और शेष को परकीया[2] रूप से वर्णन करते हैं।

१—जाकौं व्यास बरनत रास।
है गंधर्व विवाह चित्त दै सुनौ विविध विलास॥
सू० सा० १०।१०७१ पृ० ६२६

२—कृष्ण तुष्टि करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
फल बिभिचार न होइ, होइ सुख परम अपारा॥
नंददास (सिद्धांत पंचाध्यायी) पृ० १८६

कृष्ण कवियों के मन में भी बारबार परकीया प्रेम की स्वीकृति के विषय में प्रश्न उठा करता था। कृष्णदास, नंददास, सूरदास प्रभृति भक्तों ने बारबार इस तथ्य पर बल दिया है कि गोपांगनाओं का प्रेम कामजन्य नहीं। वह तो अध्यात्म प्रेरित होने से शुद्ध प्रेम की कोटि में आता है। प्राकृत जन अर्थात् भक्तिभाव से रहित व्यक्ति उसे नहीं जान सकते—

गरबादिक जे कहे काम के अंग आहिं ते।
सुद्ध प्रेम के अंग नाहिं जानहिं प्राकृत जे।

[नंददास]

नंददास ने एक मध्यम मार्ग पकड़ कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यद्यपि कृष्ण के रूपलावण्य पर मुग्ध हो गोपांगनाएँ काम से वशीभूत बनकर भगवान् के सान्निध्य में आई थीं किंतु आलंबन के माहात्म्य से कामरस शुद्ध प्रेमरस में परिवर्त्तित हो गया। सौराष्ट्र के भक्तों में मीरा और नरसी मेहता का भी यही मत जान पड़ता है[१]।

श्री कृष्ण की दृष्टि से तो सभी गोपियाँ अथवा गोपांगनाएँ स्वरूपभूता अंतरंगा शक्ति हैं। ऐसी स्थिति में जारभाव कहाँ! जहाँ काम को स्थान नहीं, किसी प्रकार का अंगसंग या भोगलालसा नहीं, वहाँ औपपत्य (जार) की कल्पना कैसे की जा सकती है! कुछ विचारकों का मत है कि 'गोपियाँ परकीया नहीं स्वकीया थीं; परंतु उनमें परकीया भाव था। परकीया होने में और परकीया भाव होने में आकाश-पाताल का अंतर है। परकीया भाव में तीन बातें बड़े महत्त्व की हैं—अपने प्रियतम का निरंतर चिंतन, मिलन की उत्कट उत्कंठा और दोष दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीयाभाव में निरंतर एक साथ रहने के कारण ये तीनों बातें गौण हो जाती हैं, परन्तु परकीयाभाव में ये तीनों भाव बने रहते हैं।'

स्वकीया की अपेक्षा चौथी विशेषता परकीया में यह है कि स्वकीया अपने पति से सकाम प्रेम करती है। वह पुत्र, कन्या और अपने भरण-पोषण की पति से आकांक्षा रखती है परंतु परकीया अपने प्रियतम से निःस्वार्थ प्रेम करती है। वह आत्म-समर्पण करके संतुष्ट हो जाती है। गोपियों में उक्त

---

१. It is only the married women who surrendered their all to him, who loved him for love's sake. Thoothi, V. G. Page 80

चारो भावों की उत्कृष्टता थी और वासना का कहीं लेश भी न था। ऐसी भक्ति को सर्वोत्तम माना गया। किंतु उत्तम से उत्तम सिद्धांत निकृष्ट व्यक्तियों के हाथों में सारी महत्ता खो बैठता है। गांधी जी के सत्याग्रह और अनशन सिद्धांत का आज कितना दुरुपयोग देखा जाता है। ठीक यही दशा मधुर भावना की हुई और अंत में स्वामी दयानंद को इसका विरोध करना पड़ा।

इस परकीया भाव की मधुर उपासना का परिणाम कालांतर में वही हुआ जिसकी भक्त कवियों को आशंका थी। गोस्वामी गुरुओं में जब वल्लभाचार्य या विट्ठलदास के सदृश तपोबल न रहा तो उन्होंने भक्तों की अंध श्रद्धा से अनुचित लाभ उठाया। जहाँ बुद्धि रूपी नायिका कृष्ण रूपी ब्रह्म को समर्पित की जाती थी वहाँ स्थिति और ही हो गई। एक विद्वान् लिखते हैं[1]—

"Instead of Krishna, the Maharajas are worshipped as living Krishna, to whom the devotee offers his body, mind and wealth as an indication of the complete self surrender to which he is prepared to render for the sake of his love for Krishna. In practice, therefore, such extreme theories did great harm to the moralitdy of some folks during the seventeenth and the eighteenth centuries. And in the middle of the nineteenth century a case in the High conrt of Bombay gave us a clue to the extent to which demoralization came about owing to such beliefs."

रास का अधिकारी पात्र

रास साहित्य का रहस्य समझने के लिए भगवान् के साथ क्रीड़ा में भाग लेनेवाली गोपियों की मनोदशा का मर्म समझना आवश्यक है। भगवान् को गोपियाँ अधिक प्रिय हैं अतः उन्होंने रास का अधिकारी और किसी को न समझ कर गोपियों के मन में वीणा से प्रेरणा उत्पन्न की। भगवान् को

1. Thoothi—The Vaishnavas of gujrat Page 86

मथुरा से अधिक गोकुल निवासी अंतरंग प्रतीत होते हैं। उनमें श्रीदामा आदि सखा अन्य मित्रों से अधिक प्रिय हैं। नित्यसखा श्रीदामा आदि से गोप गोपांगनाएँ अधिक अंतरंग हैं। गोपांगनाओं में भी ललिता-विशाखा आदि विशेष प्रिय हैं। उन सब में रासरसेश्वरी राधा का स्थान सर्वोच्च है। भगवान् ने रासलीला में भाग लेने का अधिकार केवल गोपांगनाओं को दिया और उनमें भी नायिका पद की अधिकारिणी तो श्री राधा ही बनाई गई। गोपगण तो एक मात्र दर्शक रूप में रहे होंगे। वे दर्शक भी उस स्थिति में बने जब छठी भावना प्राप्त कर चुके।

'भगवान् कृष्ण ने तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, प्रलंबासुर, आदि के वध, कालियनाग, दावानल आदि से व्रज की रक्षा, गोवर्धन-धारण आदि अनेक अतिमानवीय लीलाओं के द्वारा गोप-गोपियों के मन में यह विश्वास बिठा दिया था कि कृष्ण कोई पार्थिव पुरुष नहीं। वरुण-लोक से नंद की मुक्ति के द्वारा कृष्ण ने अपने भगवदैश्वर्य की पूर्ण स्थापना कर दी। अंत में भगवान् ने अपने योगबल से उन्हें अपने निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराया और फिर वैकुंठ में ले जाकर अपने सगुण स्वरूप का भी दर्शन कराया।' इस प्रकार उन्होंने गोपों को रास-दर्शन का अधिकारी बनाया। यह अधिकार स्वरूप-साक्षात्कार के बिना संभव नहीं। आज कल व्रज में इसे छठी भावना कहते हैं—'छठी भावना रास की'। पाँचवीं भावना तक पहुँचते पहुँचते देह-सुधि भूल जाती है—'पाँचे भूले देह सुधि'। अर्थात् 'इस भावना में ब्रह्मस्थिति हो ही जाती है। ऐसी स्थिति हुए बिना पुरुष रास दर्शन का अधिकारी नहीं होता।' यह रास दर्शन केवल कृष्णावतार में ही उपलब्ध हुआ।

महारानी कुंती के शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है कि परमहंस, अमलात्मा मुनियों के लिए भक्तियोग का विधान करने को कृष्णावतार हुआ है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः॥

भगवान् की कृपा से गोप - गोपियों का मन प्राकृत पदार्थों से सर्वथा परांमुख होकर 'प्रकृति प्राकृति प्रपंचातीत परमतत्व में परिनिष्ठित' हो गया

था। परमहंस का यही लक्षण है कि उसकी दृष्टि में संपूर्ण दृश्य का बाध हो जाता है और केवल शुद्ध चेतन ही अवशिष्ट रह जाता है।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि रासलीला के पूर्व जब गोप-गोपियाँ एवं गोपांगनाएँ परमहंस की स्थिति पर पहुँच गईं तो रासलीला का प्रयोजन क्या रहा? हंस के समान जो व्यक्ति आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य अथवा पुरुष-प्रकृति का विवेक कर सकता है वह परमहंस कहलाता है। जब व्रजवासियों को यह स्थिति प्राप्त हो गई थी तो रासलीला की आवश्यकता ही क्या थी? इसका उत्तर दुर्गासप्तशती के आधार पर इस प्रकार मिलता है—

तत्त्वज्ञानी हो जाने पर भी भगवती महामाया मोह की ओर ज्ञानी को बलात् आकृष्ट कर लेती है।[1] आचार्यों ने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि "तत्त्वज्ञ लोग यद्यपि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद शून्य शुद्ध परब्रह्म का अनुभव करते हैं परंतु प्रारब्धशेष पर्यंत निरुपाधिक नहीं होते। यद्यपि उन्होंने देहेंद्रियादि का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है तथापि व्यवहार काल में इनकी सत्ता बनी ही रहती है।" इसी कारण तत्त्व-ज्ञान होने पर भी निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, उसका अनुभव तो प्रारब्धक्षय के उपरांत उपाधि का नाश होने पर ही संभव है, किंतु भगवान् परमहंसों को प्रारब्ध क्षय से पूर्व ही निरुपाधिक ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए "कोटिकाम कमनीय महामनोहर श्री कृष्ण मूर्ति में प्रादुर्भूत' हुए और निर्विशेष ब्रह्म-दर्शन की अपेक्षा अधिक आनंद देने और योगमाया के प्रहार से बचने के लिए अपना दिव्य रूप दिखाने लगे। जनक जैसे महात्मा को ऐसे ही परमानंद की स्थिति में पहुँचाने के लिए ये लीलाएँ हैं—राम को देखकर जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥
सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥

रासलीला के योग्य अधिकारी सिद्ध परमहंसों को पूर्ण प्रशांति प्रदान कराने के लिये भगवान ने इस लीला की रचना की। उसका कारण यह है

१—ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति।

कि ब्रह्मतत्त्वज्ञों की भी उतनी प्रगाढ़ स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती जैसी विषयी पुरुषों की विषयों में होती है। 'इस स्वारसिकी प्रवृत्ति के तारतम्य से ही तत्त्वज्ञों की भूमिका का तारतम्य होता है। चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम भूमिकावाले तत्त्वज्ञों में केवल बाह्य विषयों से उपरत रहते हुए तत्त्वोन्मुख रहने में ही तारतम्य है। ज्ञान तो सबमें समान है। जितनी ही प्रयत्नशून्य स्वारसिकी भगवदुन्मुखता है उतनी ही उत्कृष्ट भूमिका होती है। जिनकी मनोवृत्ति अत्यंत कामुक की कामिनी-विषयक लालसा के समान ब्रह्म के प्रति अत्यंत स्वारसिकी होती है वे ही नारायण - परायण है।'[1] वे उसकी अपेक्षा भिन्न भूमिकावाले जीवन्मुक्तों से उत्कृष्टतम हैं।

रास के नायक और नायिका

रासलीला के नायक हैं श्रीकृष्ण और रासेश्वरी हैं राधा। इन दोनों की लीलाओं ने रास - साहित्य के माध्यम से कोटि-कोटि भारतीय जनता को तत्त्वज्ञान सिखाने में अन्य किसी साहित्य से अधिक सफलता पाई है। मध्यकाल के भक्त कवियों ने समस्त भारत में उत्तर से दक्षिण तक श्री कृष्ण और राधा की प्रेमलीलाओं से भक्ति साहित्य को अनुप्राणित किया। अतः भक्ति विधायक उक्त दोनों तत्त्वों पर विचार करना आवश्यक है।

कृष्ण की ऐतिहासिकता का अनुसंधान हमारे विवेच्य विषय की सीमा से परे है अतः हम यहाँ उनके तात्त्विक विवेचन को ही लक्ष्य बनाकर विविध आचार्यों की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। भक्तिकाल के प्रायः सभी आचार्यों एवं कवियों ने श्री कृष्ण की आराधना सगुण ब्रह्म मानकर की। किंतु शंकर ब्रह्म को उस अर्थ में सगुण स्वीकार नहीं करते, जिस अर्थ में रामानुजादि परवर्ती आचार्यों ने निरूपित किया है। उनका तो कथन है कि श्रुतियों में जहाँ जहाँ सगुण ब्रह्म का वर्णन आया है, वह केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपासना की सिद्धि के लिये है। अतः ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप निर्गुण ही है।

सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के वर्णन मिलने पर भी समस्त विशेषण और विकल्पों से रहित निर्गुण स्वरूप ही स्वीकार करना चाहिए, सगुण नहीं।

---

१. मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

क्योंकि उपनिषदों में जहाँ कहीं ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है वहाँ अशब्द अस्पर्श, अरूप, अव्यय आदि निर्विशेष ही बतलाया गया है।'

अतश्चान्यतरलिंग परिग्रहेऽपि समस्त विशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनपरेषुवाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्येवमादिषु अपास्त समस्त विशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते।

(भाष्य ३।२।११)

रामानुजाचार्य ने शंकर के उक्त सिद्धांत से असहमति प्रकट की। उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण स्वरूप को अधिक श्रेयस्कर घोषित किया। उनका ब्रह्म सर्वेश्वर, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, निखिल कारण कारण, अंतर्यामी, चिदचिद्विशिष्ट, निराकार, साकार, विभवव्यूह-अर्चा आदि के रूप में अवतार ग्रहण करनेवाले हैं। जहाँ भगवान् को 'निर्गुण' कहा गया है, वहाँ उसको दिव्य अप्राकृत गुणों से युक्त समझना चाहिए। जीव और जगत् उसके शरीर हैं, और उन दोनों से नित्य युक्त ब्रह्म है।

'इस विषय में तत्व इस प्रकार है। ब्रह्म ही सदा 'सर्व' शब्द का वाच्य है, क्योंकि चित् और जड़ उसीके शरीर या प्रकारमात्र हैं। उसकी कभी कारणावस्था होती है और कभी कार्यावस्था। कारण अवस्था में वह सूक्ष्म दशापन्न होता है, नामरूपरहित जीव और जड़ उसका शरीर होता है। और कार्यावस्था में वह (ब्रह्म) स्थूलदशापन्न होता है, नामरूप के भेद के साथ विभिन्न जीव और जड़ उसके शरीर होते हैं। क्योंकि परब्रह्म से उसका कार्य जगत् भिन्न नहीं है।'

अत्रेदं तत्त्वं चिदचिद् वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्वशब्दाभिधेयम्। तत कदाचित् स्वस्मात् स्वशरीरतयापि पृथग् व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्न चिदचिद् वस्तुशरीरं तत्कारणावस्थं ब्रह्म। कदाचिच्च विभक्त नामरूप व्यवहारार्हं स्थूल दशापन्न चिदचिद् वस्तु शरीरं तच्च कार्यावस्थामिति कारणात् परस्मात् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदनन्यत्।

(श्रीभाष्य ५।१।१५)

इस प्रकार रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। इसी संप्रदाय में कालांतर में रामभक्त कवियों की अमरवाणी से कृष्ण की लीलाओं का भी

गान हुआ। तुलसी जैसे मर्यादावादी ने भी रासरमण करनेवाली गोपियों की प्रशंसा करते हुए कहा—

'बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितनि भये सब मंगलकारी।'

रासरमण में भाग लेनेवाली गोपियों ने अपने भौतिक पतियों को त्यागकर अनुचित नहीं किया अपितु अपने जीवन को मंगलकारी बना लिया।

द्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य रामानुज के इस मत का विरोध करते हैं कि ईश्वर ही जगत् रूप में परिणत हो जाता है। उनका कथन है कि जगत् और भगवान् में सतत पार्थक्य विद्यमान रहता है। 'भगवान् नियामक है और जगत नियम्य। भला नियामक और नियम्य एक किस प्रकार हो सकते हैं। रामानुज से मध्व का भेद जीव और जगत् के संबंध में भी दिखाई पड़ता है। रामानुज जीव और जगत् में ब्रह्म से विजातीय और स्वजातीय भेद नहीं केवल स्वगतभेद मानते हैं। मध्व जीव और ब्रह्म को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् मानते हैं। वे दोनों का एक ही संबंव मानते हैं, वह है सेव्य सेवक भाव का। मध्व ने श्रीकृष्ण को ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप और गोपियों को सेविका मानकर लीलाओं का रहस्योद्घाटन किया है।

निंबार्क ने मध्व का मत स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ब्रह्म और जीव में भिन्नाभिन्न संबंध स्थापित किया। वे ब्रह्म को ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण मानकर जीव और जगत् दोनों को ब्रह्म का परिणाम बताते हैं।

जगत् गुण है और ब्रह्म गुणी। गुणी और गुण में कोई भेद नहीं होता, और गुणी गुण से परे होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। इन दोनों का विरोध केवल शाब्दिक है, वास्तविक नहीं। गुणी कहने पर भी गुणातीत का बोध हो जाता है। ब्रह्म का स्वरूप अचिंत्य, अनंत, निरतिशय, आश्रय, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वेश्वर है। श्रीकृष्ण कोई अन्य तत्त्व नहीं वह ब्रह्म के ही नामांतर है।

रासमाहित्य की प्रचुर रचना जिस संप्रदाय में हुई उसके प्रवर्चक श्री वल्लभाचार्य हैं जो कृष्ण को समस्त विरुद्ध धर्मों का अधिष्ठान मानते हैं।

वे (ब्रह्म) निर्गुण होने पर भी सगुण हैं, कारण होने पर भी कारण नहीं हैं, अगम्य होने पर भी सुगम हैं, सधर्मक होने पर भी निधर्मक हैं, निराकार होने पर भी साकार हैं, आत्माराम होने पर भी रमण हैं, उनमें माया भी नहीं है और सब कुछ है भी। उनमें कभी परिणाम नहीं होता और होता भी है।

वे अविकृत हैं, उनका परिणाम भी अविकृत है। वे शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप हैं। वे नित्य साकार हैं।

नित्य विहार-दर्शन में विश्वास करने वाले राधावल्लभ संप्रदाय के आचार्य हितहरिवंश के अनुयायियों ने सिद्धाद्वैत मत की स्थापना करने का प्रयास किया है। इस संप्रदाय की सैद्धांतिक व्याख्या करते हुए डा० स्नातक ने तर्क और प्रमाणों के बल पर यह सिद्ध किया है कि "जो अर्थ सिद्धाद्वैत शब्द से गृहीत होता है वह है : सिद्ध है अद्वैत जिसमें या जहाँ वह सिद्धद्वैत। अर्थात् राधावल्लभ संप्रदाय में राधा और कृष्ण का अद्वैत स्वतःसिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिये माया आदि कारणों के निराकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ न तो शंकराचार्य के अभ्यास की प्रतीति है और न किसी मिथ्या आवरण से अज्ञान होता है। अतः सिद्धाद्वैत शब्द से नित्य सिद्ध अद्वैत स्थिति समझनी चाहिए। किंतु यह शब्द यदि इस अर्थ का द्योतक माना जाय तो राधाकृष्ण का अद्वैत स्वीकार किया जायगा या जीव और ब्रह्म का? साथ ही यदि अद्वैत है तो लीला में द्वित्व प्रतीति के लिये क्या समाधान प्रस्तुत किया जायगा? अतः इस शब्द को हम केवल अनुकरणात्मक ही समझते हैं।"

किंतु आज दिन वृंदावन में इस संप्रदाय के अनुयायियों की प्रगाढ़ श्रद्धा रासलीला में दिखाई पड़ती है और इस संप्रदाय के साधुओं ने रासलीला के उत्तम पदों की रचना भी की है। इसी कारण सिद्धाद्वैत के श्रीकृष्ण तत्त्व पर प्रकाश डालना उचित समझा गया।

विभिन्न आचार्यों के मत की समीक्षा करने पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कृष्ण के विग्रह के विषय में सब में मतैक्य है। वास्तव में भगवान् में शरीर और शरीरी का भेद नहीं होता। जीव अपने शरीर से पृथक् होता है; शरीर उसका ग्रहण किया हुआ है और वह उसे छोड़ सकता है। परंतु भगवान् का शरीर जड़ नहीं; चिन्मय होता है। उसमें हेय-उपादेय का भेद नहीं होता, वह संपूर्णतः आत्मा ही है। शरीर की ही भाँति भगवान् के गुण भी आत्मस्वरूप ही होते हैं। इसका कारण यह है कि जीवों के गुण प्राकृत होते हैं; वे उनका त्याग कर सकते हैं। भगवान् के गुण निज स्वरूपभूत और अप्राकृत हैं, इसलिये वे उनका त्याग नहीं कर सकते। एक बात बड़ी विलक्षण है कि भगवान के शरीर और गुण जीवों की ही दृष्टि में

होते हैं, भगवान् की दृष्टि में नहीं। भगवान् तो निज स्वरूप में, समत्व में ही स्थित रहते हैं, क्योंकि वहाँ तो गुणगुणी का भेद है ही नहीं।

कृष्ण की रासलीला के संबंध में उनके वय का प्रश्न उठाया जाता है। कहा जाता है कि कृष्ण की उस समय दस वर्ष की अवस्था थी किंतु गोपियों के सामने पूर्ण युवा रूपमें वे दिखाई पड़ते थे। एक ही शरीर दो रूप कैसे धारण कर सकता है ? इसका उत्तर कई प्रकार से दिया जा सकता है। तथ्य तो यह है कि ईसाई धर्म में भी इस प्रकार का प्रसङ्ग पाया जाता है। भक्त की अपनी भावना के अनुसार भगवान् का स्वरूप दिखाई पड़ता है। तुलसीदास भी कहते हैं—'जाकी रही भावना जैसी। हरि मूरति देखी तिन जैसी।"

चौदहवीं शती में जर्मनी में सुसो नामक एक भक्त ईसा मसीह को एक काल में दो स्थितियों में पाता था—

Suso, the German mystic, who flourished in the 14th Century, kissed the baby christ of his vision and uttered a cry of amazment that He who bears up the Heaven is so great and yet so small, so beautiful in Heaven and so child like in earth[1]

रहस्यवादियों का कथन है कि केवल बुद्धि बल से कृष्ण या ईसा की इस स्थिति की अनुभूति नहीं हो सकती। उसे सामान्य चैतन्य शक्ति की सीमाओं का उत्क्रमण कर ऐसे रहस्यमय लोक में पहुँचना होता है जहाँ का सौंदर्य सहसा उसे विस्मय विभोर कर देता है। वहाँ तो आत्मतत्त्व साक्षात् सामने आ जाता है। "It is the sublime which has manifested itself"—Lacordaire

रासेश्वरी राधा

मध्यकालीन राससाहित्य को सबसे अधिक जयदेव की राधा ने प्रभावित किया। जयदेव के राधातत्त्व का मूल स्रोत प्राचीन ब्रह्मवैवर्त्तपुराण को माना जाता है। गीतगोविंद का मंगलाचरण ब्रह्मवैवर्त्त की कथा से पूर्ण संगति रखता जान पड़ता है। कथा इस प्रकार है—

1—W. R. Inge (1913) Christian Mysticism P. 176

एक दिन शिशु कृष्ण को साथ लेकर नंद वृंदावन के भांडीरवन में गोचारण-हित गए। सहसा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और वज्रपात की आशंका होने लगी। कृष्ण को अत्यंत भयभीत जानकर नन्द उन्हें किसी प्रकार भेजने को आकुल हो रहे थे कि किशोरी राधिका जी दिखाई पड़ीं। राधिका की अलौकिक मुख श्री देखकर विस्मय - विभोर नन्द कहने लगे—'गर्ग ऋषि के मुख से हमने सुना है कि तुम पराप्रकृति हो। हे भद्रे, हमारे प्राणप्रिय पुत्र कृष्ण को गृह तक पहुँचा दो। राधा प्रसन्न मुद्रा से कृष्ण को अंक में लेकर गृह की ओर चलीं। मार्ग में क्या देखती हैं कि शिशु कृष्ण किशोर वय होकर कोटि कंदर्प कमनीय बन गए। राधा विस्मित होकर उन्हें निहार ही रही थी कि किशोर कृष्ण पूर्ण युवा[1] बन गए। अब राधिका का मन मदनातुर हो उठा। राधा की चित्त शांति के उपरांत कृष्ण पूर्ववत् शिशु बन गए। वर्षा से आर्द्र - वसना राधा रोरुह्यमान कृष्ण को क्रोड़ में लेकर यशोदा के पास पहुँची और बोली—

'गृहाण बालकं भद्रे ! स्तनं दत्वा प्रबोधय ?'

हे भद्रे, बालक को ग्रहण करो और अपना दूध पिला कर शांत करो। ब्रह्म-वैवर्त्त के इसी प्रसंग को लेकर जयदेव मंगलाचरण करते हुए कहते हैं[2]—

मेघ भरित अंबर अति श्यामल तरु तमाल की छाया,
कान्ह भीरु ले जा राधे ! गृह, व्याप्त रात की माया।
पा निर्देश यह नंद महर का हरि-राधा मदमाते,
यमुना-पुलिन के कुंज-कुंज से क्रीड़ा करते जाते।

वंकिमचंद ने ठीक ही कहा था कि 'वर्त्तमान आकारेर ब्रह्मपुरान जयदेवेर पूर्ववर्ती अर्थात् खृष्टीय एकादश शतकेर पूर्वगामी।' नवीन ब्रह्मवैवर्त्त से बहुत ही भिन्न है।

१—क्रोडं बालकरूपञ्च दृष्ट्वा तं नवयौवनं।
सर्वस्मृति स्वरूपा सा तथापि विस्मयं ययौ॥

२—मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः॥ १॥
गीतगोविन्द

बंकिमचंद्र ने यह भी सिद्ध किया है कि वर्त्तमान युग में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण जो प्रचलित है—जो पुराण जयदेव का अवलंबन था—वह प्राचीन ब्रह्मपुराण नहीं। वह एक प्रकार का अभिनव ग्रंथ है क्योंकि मत्स्य पुराण में ब्रह्मवैवर्त्त का जो परिचय है उसके साथ प्रचलित ब्रह्मपुराण की कोई संगति नहीं। मत्स्यपुराण में उल्लिखित ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में राधा रासेश्वरी हैं पर आलिंगन, कुचमर्दन आदि का उसमें वर्णन नहीं।[1]

इससे यह प्रमाणित होता है कि पुराणों में उत्तरोत्तर राधा-कृष्ण की रति क्रीड़ा का वर्णन अधिकाधिक शृंगारी रूप धारण करता गया। और जयदेव ने उसे और भी विकसित करके परवर्त्ती कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

साहित्य के अंतर्गत राधा का उद्भव रहस्यमयी घटना है। राधा को यदि जनमानस की सृष्टि कह कर लोक-परिधि के बाहर का तत्व स्वीकार कर लिया जाय तो भी यह प्रश्न बना रहेगा कि किस काल और किस आधार पर लोक मानस में इस तत्व के सृजन का संकल्प उठा। कतिपय आचार्यों का मत है कि सांख्य शास्त्र का पुरुषप्रकृतिवाद ही राधा-कृष्ण का मूल रूप है। 'पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को विवृत करने के लिए कृष्ण पुरुष और राधा प्रकृति की कल्पना की गई।' इसका आधार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का यह उद्धरण है—'ममार्द्धस्वरूपात्वं मूलप्रकृतिरीश्वरी।'

राधा का उद्भव

कतिपय आचार्यों ने राधा का उद्भव तंत्र मत के आधार पर सिद्ध किया है। वे लोग शाक्तों की शक्ति देवी से राधा का उद्भव मानते हैं। शिव तथा शक्ति को कालांतर में राधा कृष्ण का रूप दिया गया[2]। इसी प्रकार सहजिया संप्रदाय से भी राधा-कृष्ण का संबंध जोड़ने का प्रयास किया जाता है। सहजिया संप्रदाय की विशेषता है कि वह लौकिक काम की भूमि पर

१—श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त–रासलीला पृ० ८०

२—डा० शशिभूषण गुप्त ने 'श्री राधा का क्रम विकास' में एक स्थान पर लिखा है "राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है; वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न भिन्न युगों और भिन्न भिन्न देशों में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। उसी क्रम परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति ही राधावाद है।'

श्री राधा का क्रमविकास पृष्ठ ३

अलौकिक प्रेम की स्थापना करना चाहता है। इस संप्रदाय की साधन-क्रियायें कामलीला अर्थात् बाह्य शृंगार पर अवलंबित हैं। भोग कामना के प्राधान्य के कारण इसके अनुयायियों ने परकीया प्रेम को सर्व श्रेष्ठ माना।

सहजिया संप्रदाय ने स्त्री के चौरासी अंगुल के शरीर को ही ८४ कोस वाला व्रजमंडल घोषित किया।

राधा भाव के स्रोत का अनुसंधान करते हुए डा० दास गुप्त ने शक्ति तत्व से इसका उद्भव मानकर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शक्ति तत्व तो बीच की एक शृंखला है। वास्तव में इसका मूल स्रोत श्री सूक्त है। काश्मीर शैव दर्शन के आधार पर भी यह प्रमाणित किया जाता है कि राधातत्त्व शक्तितत्त्व का ही परवर्ती रूप है जो देश काल की अनुकूल परिस्थिति पाकर विकासोन्मुख बनता गया। शाक्तों में वामापूजा का बड़ा महत्त्व है। त्रिपुर सुंदरी की आराधना का यह सिद्धांत है कि स्त्रियों को ही नहीं अपितु पुरुषों को भी अपने आप को त्रिपुर सुंदरी ही मानकर साधना करनी चाहिए। संभवतः वैष्णवों में सखीभाव की धारणा इसी सिद्धांत का परिणाम हो। कविराज गोपीनाथ का तो यहाँ तक कहना है कि सूफियों के प्रेमदर्शन एवं वैष्णवों की प्रेमलक्षणा भक्ति का बीज इसी त्रिपुरसुंदरी की आराधना में निहित था।

हित हरिवंश, चैतन्य, वल्लभाचार्य और रामानंद के संप्रदायों में सखी भाव तथा राधाभाव की उपासना की पद्धति का मूलस्रोत श्री ए० वार्थ इसी शाक्त मत की सीमा के अंतर्गत मानते हैं। उनका कथन है—

Such moreover are the Radhaballabhis who date from the end of the sixteenth century and worship krishna, so far as he is the lover of Radha and the Sakhi bhavas those who identify themselves with the friend, that is to say with Radha who have adopted the costume, manners and occupations of woman. These last two sects are in reality Vaishnavite Shakts among whom we must also rank a great many individuals and even

entire communities of the Chaitanya, the Vallabha-charya and Ramanandis.[१]

कविराज गोपीनाथ[२] जी ने शाक्त सिद्धांत का स्वरूप और उसका प्रभाव दिखाते हुए कहा है—"तीन मार्ग ही त्रिविध उपास्य स्वरूप हैं। क्रमशः आणवोपाय, संभवोपाय और शक्तोपाय के साथ इनका कुछ अंश में सादृश्य जान पड़ता है। दूसरा सिद्धांत भारत में बहुत दिनों का परिचित मत है। इस मत से भगवान् सौंदर्य स्वरूप और चिर सुंदर हैं। आनंदस्वरूप आनंदमय हैं। सूफी लोग नरस्वरूप में इनकी पराकाष्ठा देख पाते हैं। जिन लोगों ने सूफी लोगों की काव्य ग्रंथमाला का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि सूफी सुंदर नरमूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा करना ही परमानंद प्राप्ति का साधन मानतें हैं। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि मूर्त किशोरावस्था ही तो रस स्फूर्ति में सहायक होती है। किसी के मत में पुरुषमूर्ति श्रेष्ठ है तो किसी के मत में रमणी मूर्ति श्रेष्ठ है। परंतु सूफी लोग कहते हैं कि इस वस्तु में पुरुष प्रकृति भेद नहीं है। वह अभेद तत्त्व है। यहीं क्यों, उनके गजल रुबाइयात, मसनवी आदि में जो वर्णन मिलता है उससे किशोर वयस्क पुरुष किंवा किशोर वयस्क स्त्री के प्रसंग का निर्णय नहीं किया जा सकता +++। आगम भी क्या ठीक बात नहीं कहते? नटनानंद या चिद्वल्ली या काम कला की टीका में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुंदर राजा अपने सामने दर्पण में अपने ही प्रतिबिंब को देखकर उस प्रतिबिंब को 'मैं' समझता है परमेश्वर भी इसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को देख 'मैं पूर्ण हूँ' इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णअहंता है। इसी प्रकार परम शिव के संग से पराशक्ति का स्वातंत्र्य प्रपंच उनसे निर्मित होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं। सौंदर्य का स्वभाव ही यही है। 'श्री चैतन्य चरितामृत' में आया है—

'सब हेरि आपनाप कृष्णे आगे चमत्कार आलिंगिते मने उसे काम।'

यह चमत्कार ही पूर्णअहंता चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश

१—A. Barth the Hindu Religions of India, page 236

२—कविराज गोपीनाथ—कल्याण (शिवांक) काश्मीरीय शैव दर्शन के संबंध में कुछ बातें।

है। यही शिवशक्ति संमिलन का प्रयोजक और कार्यस्वरूप है—आदि रस या शृंगाररस है। विश्व सृष्टि के मूल में ही यह रस-तत्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो पैंतीस और छत्तीस तत्त्व अथवा शक्ति हैं—त्रिपुरा सिद्धांत में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं। और गौड़ीय वैष्णव दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिवशक्ति, कामेश्वर-कामेश्वरी, कृष्ण राधा एक और अभिन्न हैं। यही चरम वस्तु त्रिपुर मत में सुंदरी है। अथवा त्रिपुर सुंदरी है। + + +। 'सौंदर्य लहरी' के पंचक श्लोक और वामकेश्वर महातंत्र की 'चतुःशती' में भी यही बात कही गई है।

इस सुंदरी के उपासक इसकी उपासना चंद्ररूप में करते हैं। चंद्र की सौलह कलाएँ हैं। सभी कलाएँ नित्य हैं, इसलिये संमिलित भाव से इनका नित्य षोडशिका के नाम से वर्णन किया जाता है। पहली पंद्रह कलाओं का उदयअस्त होता रहता है। सोलहवीं का नहीं। वही अमृता नाम की चंद्रकला है। वैयाकरण इसी को पश्यन्ती कहते हैं। दर्शनशास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आख्या है। मंत्रशास्त्र में इसी को मंत्र या देवताओं का स्वरूप कहा गया है। + + +। इसी कारण उपासक के निकट सुंदरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौड़ीय संप्रदाय में भी ठीक यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडशवर्षीय नित किशोर हैं—

'नित्य किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तक।'

इस उद्धरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि काश्मीरीय शैवदर्शन की शक्तिपूजा को गौड़ीय संप्रदाय ने ग्रहण कर किया।

राधा को कृष्णवल्लभा निरूपित करनेवाले बृहद्गौतमीय तंत्र से भी उक्तमत प्रमाणित होता है—

'त्रितत्व रूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा, प्रकृतेः परा इवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी, तयासार्धं त्वया न सायं देवता ह्यहम्'

राधिका का माहात्म्य यहाँ तक स्पृहणीय बना कि उनमें कृष्ण की आह्लादिनी, संधिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि अनेक शक्तियों का समावेश सिद्ध करने के लिए एक नए ग्रंथ राधिकोपनिषद् की रचना की गई। इस उपनिषद् का मत है कि कृष्ण की विविध शक्तियों में से आह्लादिनी शक्ति राधा को अत्यंत प्रिय है। कृष्ण को यह शक्ति इतनी प्रिय है कि वे राधा की इसी कारण आराधना करते हैं। और राधा इनकी आराधना करती है।

राधाकृष्ण की लीलाओं को शिलाओं पर उत्कीर्ण करने का प्रथम प्रयास चौथी शताब्दी के मंदसौर के मंदिरों में हुआ। इस मंदिर के दो स्तंभों पर गोवर्धन लीला के चित्र उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त शिला लेखों पर राधा माखनलीला, शकटासुर लीला, धेनुक लीला, कालीय नागलीला के भी दृश्य विद्यमान है। इन लीलाओं में राधिका की कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं दिखाई पड़ती। डा० सुनीतिकुमार का मत है कि पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त एक मूर्त्ति पर राधा का चित्र एक गोपी के रूप में उत्कीर्ण है। यह मूर्त्ति पाँचवीं शताब्दी में निर्मित हुई थी। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी तक राधा साहित्य तक ही नहीं, अन्य ललित कलाओं के लिए भी ग्राह्य बन गई थी।

काव्य-साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम आर्यासप्तशती में राधा का वृत्तांत पाया गया। यह ग्रंथ ईसा की प्रथम अथवा चतुर्थ शतांब्दी में विरचित हुआ। इस ग्रंथ में राधा का स्वरूप अस्पष्ट रूप से कुछ इस प्रकार है—

'तुमने (कृष्ण ने) अपने मुख के श्वास से राधिका के कपोल पर लगे हुए धूलिकणों को दूरकरके अन्य गोपियों के महत्त्व को न्यून कर दिया है।'[1]
मूल पाठ इस प्रकार है—

'मुहमारुएण तं कह्न गोरश्रं राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बलवीणं अण्णाणं वि गोरश्रं हरसि॥'

यदि इसे प्रक्षिप्त न माना जाए और गाहासत्तसई की रचना चौथी शताब्दी की मानी जाए तो न्यूनाधिक दो सहस्र वर्ष से भारतीय साहित्य को प्रभावित करनेवाली राधा का अक्षुण्ण महत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा।

गाथा सतसई, दशरूपक, वेणीसंहार, ध्वन्यालोक, नलचंपू (दसवीं शताब्दी) शिशुपालवध की वल्लभदेव कृत टीका, सरस्वती कंठाभरण से होते हुए राधा का रूप गीतगोविंद में आकर निखर उठा। यही परंपरागत राधा

---

१ गाहासत्तसई १।२६
गाय के खुर से उड़ाई हुई धूल राधा के मुखपर छाई हुई है। कृष्ण उसे फूँककर हटाने के बहाने मुँह सटाये हुए है। (कवि का कलात्मक इंगित चुंबन की ओर है।) जिस सुख का अनुभव दूसरी गोपियाँ न कर सकने के कारण अपने को अधन्य समझ सकती हैं।

हमारे रास साहित्य के केंद्र में विद्यमान है। माधुर्य-भक्ति और उज्ज्वल रस की स्थापना का यही आधार है।

प्रायः रास पंचाध्यायी रास साहित्य का आदि स्रोत माना जाता है। किंतु मूल श्रीमद्भागवत् के रास पंचाध्यायी में राधा का नाम स्पष्ट रूप से नहीं दिखाई पड़ता। मध्यकालीन वैष्णव भक्तों ने श्री मद्भागवत् की टीका करते हुए राधा का अनुसंधान कर डाला है। श्री सनातन गोस्वामी ने अपनी 'वैष्णव तोषिणी टीका' में 'अनयाराधितो'[1] पद का अर्थ करते हुए विशिष्ट गोपी को राधा की संज्ञा दी है। उस विशिष्ट गोपी को कृष्ण एकांत में अपने साथ ले गए थे। उसने समझा कि 'मैं ही सब गोपियों में श्रेष्ठ हूँ। इसीलिए तो हमारे प्यारे श्रीकृष्ण दूसरी गोपियों को छोड़कर, जो उन्हें इतना चाहती हैं, केवल मेरा ही मान करते हैं। मुझे ही आदर दे रहे हैं।'

भागवत और राधा

विश्वनाथ चक्रवर्ती एवं कृष्णदास कविराज ने भी सनातन गोस्वामी के मत का अनुसरण किया है और भागवत् में राधा की उपस्थिति मानी है। पश्चिम के विद्वान् फर्कुहर ने भागवत् के इस अर्थ की पुष्टि की है किंतु प्रो० विल्सन और मौनियरविलियम ने इसका विरोध किया है। फर्कुहर राधा भक्ति का आरंभ भागवत् पुराण से मानते हैं किंतु प्रो० विल्सन इसे अभिनव ब्रह्म वैवर्त्त की सूझ समझते हैं। मौनियर विलियम का मत है—

"Krishna and Radha, as typical of the longing of the human soul for union with the divine."

राधिका के संबंध में विभिन्न मत उपस्थित किए जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि नारद पांचरात्र में जिस राधिका का वर्णन मिलता है वही राधा है। राधिका का अर्थ है राधना करने वाली[2]।

The Indians were always ready to associate new ideas with, or to creat new 'personalizations' of ideas to those forms or concepts with which

---

१—अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद्रहः॥
भागवत पुराण १०, ३०, २८

२—अदिति देवकी, वेदकी राधस् (सफलता, समृद्धि) राधिका, लक्ष्मी सीता है।

they were, at a given moment, already familiar. Taking into account their belief in the continuation of life and in ever recurring earthly existence it was only natural that all those defenders of mankind and conquerors of the wicked and evil powers were considered to be essentially identical. And also that their consorts and female complements were reincarnations of the same divine power.

J. Gonda-Aspects of Early Visnuism, Page 162

रास की प्रतीकात्मक व्याख्या

विभिन्न आचार्यों ने रास की प्रतीकात्मक रूप में व्याख्या की है। आधुनिककाल में वंकिमचंद ने इस पर विस्तार के साथ विचार किया है। उन्होंने अपने कृष्ण चरित्र के रास प्रकरण में इस पर आधुनिक ढंग से प्रकाश डाला है। प्राचीन काल में भी आचार्यों ने इसका प्रतीकात्मक अर्थ निकाला है।

अथर्ववेद का एक उनिषत् कृष्णोपनिषत् नाम से उपलब्ध है जिसमें परमात्मा की सर्वांगीण विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कृष्ण जीवन की शृंगार मयी घटनाओं का औचित्य प्रमाणित किया गया है। कहा जाता है कि रामावतार में राम के अनुपम सौंदर्य से 'मुनिगण' मोहित हो गए।

राम से मुनि-समुदाय निवेदन करता है—

प्रभु, आपके इस सुंदर रूप का आलिंगन हम अपने नारी शरीर में करना चाहते हैं। हम रासलीला में आप परमेश्वर के साथ उन्मुक्त क्रीड़ा करने के अभिलाषी हैं। आप कृपया ऐसा अवतार धारण करें कि हमारी अभिलाषायें पूर्ण हों। भगवान् राम ने उन्हें आश्वस्त[1] किया और कृष्णावतार में उनकी इच्छा पूर्ति का वचन दिया। कालांतर में भगवान् ने

---

1 रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान् स्वयम्।
अंग संग करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम्।
यो रामः कृष्णतामेत्य सार्वात्म्यं प्राप्य लीलया।
अतोषयद्देवमौनिपटलं तं नतोऽस्म्यहम्॥

अपनी समस्त सौंदर्य और शक्ति के साथ कृष्ण रूप में अवतरित होने के के लिए परमानंद, ब्रह्मविद्या को यशोदा, विष्णु माया को नंद पुत्री, ब्रह्म पुत्री को देवकी, निगम को वसुदेव, वेद ऋचाओं को गोप गोपियाँ, कमलासन को लकुट, रुद्र को मुरली, इंद्र को शृंग, पाप को अघासुर, वैकुंठ को गोकुल, संत महात्माओं को लताद्रुम, लोभ क्रोधादि को दैत्य, शेषनाग को बलराम बनाकर पृथ्वी पर भेजा। और व्रजमंडल को कल्मषों से सर्वथा मुक्त कर दिया।

स्वेच्छा से मायाविग्रहधारी साक्षात् हरि गोप रूप में आविर्भूत हुए। उनके साथ ही वेद और उपनिषद् की ऋचाएँ १६१०८ गोपियों के रूप में अवतरित हुईं।

वे गोपियाँ ब्रह्मरूप वेद की ऋचायें ही हैं, इस तथ्य पर इस उपनिषद् में बड़ा बल दिया गया है। द्वेष ने चाणूर का, मत्सर ने मल्ल का, जय ने मुष्टि का, दर्प ने कुवलय पीड का, गर्व ने बक का, दया ने रोहिणी का, धरती माता ने सत्यभामा का, महाव्याधि ने अघासुर का, कलि ने राजा कंस का, राम ने मित्र सुदामा का, सत्य ने अक्रूर का, दम ने उद्धव का, विष्णु ने शंख (पांच जन्य का) का रूप धारण किया। बालकृष्ण ने गोपी गृह में उसी प्रकार क्रीड़ा की जिस प्रकार वे श्वेतद्वीप से सुशोभित क्षीरमहासागर में करते थे।

भगवान् हरि की सेवा के लिए वायु ने चमर का, अग्नि ने तेज का, महेश्वर ने खड्ग का, कश्यप ने उलूख का, अदिति ने रज्जु का, सिद्धि और विंदु (सहस्रारस्थि) ने शंख और चक्र का, कालिका ने गदा का, माया ने शार्ङ्ग धनुष का, शरत्काल ने भोजन का, गरुड़ ने वट भांडीर का, नारद ने सुदामा का, भक्ति ने वृंदा (राधा) का, बुद्धि ने क्रिया का रूप धारण कर लिया। यह नवीन सृष्टि भगवान् से न तो भिन्न थी न अभिन्न, न भिन्नाभिन्न; भगवान् इनमें रहते हुए भी इनसे भिन्न हैं।

इस दृष्टि से कृष्ण और गोपियों का रास जीवात्मा और परमात्मा का मिलन है जिसका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है। कुछ लोग सांख्यवादियों की चितिशक्ति को ही भगवान् कृष्ण मानते हैं।[1] यह संपूर्ण प्रकृति

१—क्षयपरिणामिनो हि भावा ऋते चिति शक्तेः।

चिद्रूप श्रीकृष्ण के ही चारो ओर घूम रही है। ब्रह्मांड का गतिशीलभाव प्रकृति देवी का नृत्य अर्थात् राधा कृष्ण का नित्य रास है। "यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो हमारे शरीर में भी भगवान् की यह नित्यलीला हो रही है। हमारा प्रत्येक अंग गतिशील है। हाथ, पाँव, जिह्वा, मन, प्राण सभी नृत्य कर रहे हैं। सब का आश्रय और आराध्य केवल शुद्ध चेतना ही है। यह सारा नृत्य उसी की प्रसन्नता के लिए है, और वही नित्य एकरस रहकर इन सबकी गतिविधि का निरीक्षण करता है। जब तक इनके बीच में वह चैतन्य रूप कृष्ण अभिव्यक्त रहता है तब तक तो यह रास रसमय है, किंतु उसका तिरोभाव होते ही यह विषमय हो जाता है। इसी प्रकार गोपांगनाएँ भी भगवान् के अंतर्हित हो जाने पर व्याकुल हो गईं थी। अतः इस संसार रूप रास क्रीड़ा में भी जिन महाभागों को परमानंद श्री ब्रजचंद्र की अनुभूति होती रहती है उनके लिए तो यह आनंदमय है।"[1]

इसी प्रकार का अध्यात्म-परक अर्थ सर्वप्रथम श्रीधर स्वामीने किया और रासलीला का माहात्म्य वेदांतियों को भी स्वीकृत हुआ।

रासलीला की व्याख्या करते हुए विद्वान् आलोचक लिखते हैं[2]—

" The Classical case is of course the symbolism of the sports and dalliances of Radha and Krishna which is probably the greatest spiritual allegary of the world but which in later - times and as handled by erotic writers—even Vidyapati and Krishnadas Kaviraj are not free from this taint becomes a mass of undiluted sexuality.

अर्थात् राधाकृष्ण की रासलीला संसार की आध्यात्मिकता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। किंतु कालांतर में कवियों के हाथों से इस लीला के आधार पर अनेक कुचेष्टापूर्ण रचनाएँ हुईं।

आधुनिक काल में रासलीला की अध्यात्मपरक व्याख्या करते हुए अनेक ग्रंथ हिंदी, बँगला और गुजराती में लिखे गए हैं। हमने अपने ग्रंथ 'हिंदी नाटकः उद्भव और विकास' में इसका विस्तार के साथ विवेचन किया है।

१—करपात्री—भगवत्तत्त्व—पृ० ५८८-५८९
२ श्री हीरेन्द्रनाथ दत्त—रासलीला-पृ० ११४

दसवीं शताब्दी में प्रचलित विविध साधना-पद्धति के विवरण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला जा सकता है:—

उपसंहार

(१) देश वैदिक और अवैदिक दो धार्मिक परंपराओं में विभक्त था। संस्कृतज्ञ जनता शास्त्रीयता की दोहाई दे रही थी किंतु निम्नवर्ग शास्त्रों का खुल्लमखुल्ला विरोध कर रहा था।

(२) धर्म का सामूहिक जीवन छिन्नभिन्न हो गया था, और साधना समष्टि से हटकर व्यष्टिमुखी हो गई थी।

(३) मूर्तिकला साहित्य और समाज में सर्वत्र काम का साम्राज्य फैल गया था।

(४) दक्षिण भारत में निम्न कहलानेवाले आलवार साधना का नया मार्ग निकाल चुके थे और नाथमुनि जैसे आचार्य ने उनका विधिवत् विवेचन करके वैष्णव धर्म की नवीन व्याख्या उपस्थित कर दी थी। प्रपत्तिवाद का नया सिद्धांत जिसमें भगवान् को सर्वस्व समर्पण करने की तीव्र भावना पाई जाती है, लोगों के सामने आ चुका था। आचार्य नाथमुनि ने भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा की सपरिवार यात्रा की। और सन् ९१६ में यहीं उनके एक प्रपौत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम यामुन रखा गया। यही यामुन आगे चलकर रामानुज के श्री संप्रदाय के आदि प्रवर्तक हुए। अतः उत्तर भारत और दक्षिण भारत में वैष्णवधर्म के द्वारा ऐक्य स्थापित करने का श्रेय नाथमुनि को ही दिया जाता है। राय चौधरी ने लिखा है—

"He had infused fresh energy into the heart of Vaishnavism, and the sect of Srivaishnavas established by him was destined to have a chequered career in the annals of India."

—Early History of the Vaishnava sect—Page 113

(५) दक्षिण में नाथमुनि और आलवारों के द्वारा वैष्णव धर्म की स्थापना हो रही थी तो पूर्वी भारत में महायान नामक बुद्ध-संप्रदाय वज्रयान और सहजयान का रूप धारण कर सहजिया वैष्णव धर्म के रूप में विख्यात हो रहा था। सहजिया लोगों का विश्वास था कि गुरु युगनद्ध रूप है। उनका रूप मिथुनाकार है। गुरु उपाय और प्रज्ञा का समरस विग्रह है। "शून्यता

सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है। करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिए महती दया दिखलाना है। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है"।[१] "सच्चा गुरु वही हो सकता है जो रति (आनंद) के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे।"[२] वज्रयान के सिद्धांत के अनुसार शरीर एक वृक्ष है और चित्त अंकुर। जब चित्त रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय रस के द्वारा सिक्त कर दिया जाता है तो वह कल्पवृक्ष बन जाता है। और तभी आकाश के समान निरंजन फल की प्राप्ति होती है।

"तनुतरचित्तांकुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते॥

(६) तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी तक सूफी संप्रदाय सारे उत्तर भारत में फैल चुका था। सूफीफकीर अपने को खुदा का प्रिय मानते थे और खुदा की मैत्री का दावा करते थे। उनलोगों ने ईश्वर के साथ सखी भाव का संबंध स्थापित कर लिया था। हमारे देश के संतों पर उन मुसलमान फकीरों के प्रेम की व्यापकता का बड़ा प्रभाव पड़ा। जहाँ कट्टर शासक मुसलमान-जाति हिंदुओं की धार्मिक भावना का उपहास करती थी वहाँ ये फकीर हिंदुओं के देवताओं का प्रेम के कारण आदर करते। वे फकीर प्रेम के प्रचारक होने से हिंदुओं में संमान्य बने। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि "चैतन्य, रामानंद, कबीर, नानक, जायसी आदि उसी प्रेम प्रेरणा के प्रचारक और साधना के विधायक थे। वैष्णवों में सखी समाज की अनोखी भावना भी उसी का परिणाम थी।"[३]

(७) उत्तर भारत में जयदेव, माधवेंद्र पुरी, ईश्वरपुरी, विद्यापति, चैतन्य देव, षट् गोस्वामियों ने माधुर्य उपासना का शास्त्रीय विवेचन करके उज्ज्वल रस का अनाविल उपस्थापन प्रस्तुत किया। आसाम में शंकरदेव माधवदेव, गोपालअता ने पूर्वी भारत में वैष्णव नाटकों के अभिनय द्वारा राधाकृष्ण के पावन प्रेम की गंगा में जनता को अवगाहन कराया।

१—न प्रज्ञाकेवल मात्रेण बुद्धत्वं भवति, नाप्युपायमात्रेण। किन्तु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समता स्वभावौ भवतः, एतौ द्वौ अभिन्न रूपौ भवतः तदा भुक्तिमुक्तिर्भवति।

२—सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति।

३—हिंदी साहित्य का बृहद् इतिहास पृ० ७२५।

(८) व्रज में वल्लभाचार्य, हित हरिवंश, अष्टछाप के भक्त कवियों ने इस उपासनापद्धति से विशाल जनसमूह को नवीन जीवन प्रदान किया। सूरदास प्रभृति हिंदी कवियों के रास-साहित्य से हिंदी जनता भली प्रकार परिचित है। अतः उसका विशेष उल्लेख व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया गया है।

(९) महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर से पूर्व श्रीमद्भागवत् पुराण में आस्था रखने वाला एक महानुभाव नामक संप्रदाय मिलता है। मराठी भाषा में विरचित 'वत्सहरण' 'रुक्मिणी स्वयंवर' आदि ग्रंथ वैष्णव धर्म के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में वारकरी नामक वैष्णव धर्म प्रचलित हो रहा था, जिसका केंद्र पंढरपुर था, जहाँ रुक्मिणी की मूर्त्ति का बड़ा ही मान था। दोनों पंथों में श्रीमद्भागवत् को प्रमाण माना जाता था। श्रीचक्रधर को महानुभाव पंथी कृष्ण का अवतार मानते हैं।

(१०) महाराष्ट्र में समर्थरामदास जैसे महात्मा भी मनमोहन कृष्ण के प्रेमरंग में ऐसे रम जाते कि और सब नीरस दिखाई पड़ता।

माई रे मोरे नैन शाम सुरंग ॥
तरु तमाल······
खग मृग कीट पतंग।
गगन सघन धरती सु संग।
जीन दिखत मोहन रंग
रामदास प्रभु रंग लागा।
(और) सब भये विरंग[1] ॥

(११) आंध्र प्रदेश में तंजौर के महाराजा का 'राधावंशी विलास' नामक ऐसा दृश्य काव्य मिला है, जिसकी रचना सत्रहवीं शताब्दी में हुई। और तेलगू लिपि में व्रजभाषा में भगवान् कृष्ण की शृंगारमय लीलाओं का वर्णन पाया जाता है। इस प्रकार माधुर्य उपासना का प्रभाव आंध्र के नाटकों पर भी दिखाई पड़ता है।

(१२) पंजाब में सिक्ख जैसी युद्धप्रिय जाति और गुरुगोविंद सिंह जैसे योद्धा महात्मा ने कृष्णावतार में रास का विस्तार पूर्वक काव्यमय वर्णन किया। गुरुमुखी लिपि में व्रजभाषा की यह रचना अभी तक प्रकाश में नहीं

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६३ अंक १

आई थी। गुरु गोविंदसिंह व्रजभाषा के सफल कवि और देश के अग्रगराय नेता थे। उनकी रचना का गान पंजाब में अवश्य ही व्यापक रूप से होता रहा होगा। उनके रास के दो एक उदाहरण देखिए—

"अब आई है कातक की रुत सीतल कान्ह तबै अति ही रसिया।
सँग गोपिन खेल विचार कर्यो जु हुतो भगवान महा जसिआ॥
अपवित्रन लोगन के जिह के पग लागत पाप सबै नसिआ।
तिह को सुनि तीयन के सँग खेल निवारहु काम इहै बसिआ॥
मुख जाहि निसापति कै सम है बनमै तिन गीत रिझयो अरु गायो।
तासुर को धुन स्रवनन मै ब्रिज हूँ की त्रिया सभ ही सुन पायो॥
धाइ चली हरि के मिलबे कहु तौ सभ के मन मै जब भायो।
कान्ह मनो म्रिगनी जुवती छलबे कहु घंटक हेर बनायो[1]॥"

(१३) हम पूर्व कह आए हैं कि उड़ीसा ने प्रेमाभक्ति के प्रचार में बड़ी सहायता दी। जगन्नाथ पुरी दीर्घकाल तक बौद्धों का केंद्र था किंतु सन् १००० ई० के उपरांत वहाँ पर वैष्णव धर्म का प्रचार बढ़ने गया। किंतु इससे पूर्व उत्कल महायान, वज्रयान और सहजयान आदि का गढ़ माना जाता था। आज मयूरभंज के नाना स्थानों पर बौद्ध देवता वज्रपाणि, आर्यतारा, अवलोकितेश्वर आदि के दर्शन होते हैं। किसी समय उत्कल सहजयान का प्रधान धर्म मानता था। कुछ विद्वान् तो जगन्नाथपुरी को वैष्णव और सहजयान के साथ-साथ शबर संस्कृति का भी केंद्र मानते हैं। ऐसा माना जाता है कि पुरी में भेदभाव बिना महाप्रसाद का ग्रहण शबर सभ्यता का द्योतक है। इतिहास से प्रमाण मिलता है कि सन् १०७८ ई० में गंगवंश का राज्य उत्कल में स्थापित हो जाने पर आलवारों की मधुर भाव की उपासना का यहाँ की साधनापद्धति पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सहजिया और आलवार दोनों वैष्णव धर्म की मधुर उपासना के प्रेरक माने जा सकते हैं। उत्कल विशेषकर जगन्नाथपुरी चैतन्य समकालीन राय रामानंद के द्वारा वैष्णव धर्म से परिचित हो चुका था। चैतन्य देव के निवास के कारण यह स्थान माधुर्य उपासना के लिए उत्तरोत्तर प्रसिद्ध होता गया। उनके प्रभाव से उत्कल साहित्य के पाँच प्रसिद्ध वैष्णव कवि (१) बलराम दास (२) अनंतदास (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास (५) अच्युतानंद दास,

---

१—दसम ग्रंथ-गुरु गोविंद सिंह ४४१, ४४६
[डा० भल्ला के थीसिस से उद्धृत]

पंद्रहवीं शताब्दी में माधुर्य भक्ति के प्रचारक प्रमाणित हुए। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्कल और विशेषकर जगन्नाथपुरी शबर संस्कृति, बौद्ध धर्म, आलवार और प्राचीन वैष्णव धर्म के संमिलन से नवीन वैष्णव धर्म का प्रवर्त्तक सिद्ध हुआ।

(१४) गुजरात स्थित द्वारका नगरी वैष्णव धर्म की पोषक रही है। सन् १२६२ ई० का एक शिलालेख इस तथ्य का प्रमाण है कि यहाँ मंदिर में निरंतर कृष्णपूजा होती थी। वल्लभाचार्य के समकालीन नरसी मेहता ने माधुर्य भक्ति का यहाँ प्रचार किया था। द्वारका जी के मंदिर में मीराबाई के पदों का गान उस युग की माधुर्य उपासना के प्रचार में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। विट्ठलदास के द्वारा भी माधुर्य उपासना गुजरात में घर घर फैल गई। यहाँ वैष्णव रास के अनेक ग्रंथ मिलते हैं जिनमें वैकुंठदास की रासलीला काव्य और दर्शन की दृष्टि से उच्चकोटि की रचना मानी जाती है। स्थानाभाव से इस संकलन में उसे संमिलित नहीं किया जा सका।

(१४) ऐसी स्थिति में जहाँ काम और रति को साधना के क्षेत्र में भी आवश्यक माना जा रहा हो, विचारकों को ऐसे लोक-नायक का चरित्र जनता के सामने रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो मानव की कामवासना का उदात्तीकरण कर सके और जिसकी लीलाएँ हृदय को आकर्षित कर सकें। ऐसी दशा में श्रीमद्भागवत् की रासक्रीड़ा की ओर मनीषियों का ध्यान गया और उसी के आधार पर प्रेम-दर्शन की नई व्याख्या उपस्थित की गई। साधना की इस पद्धति में भारत में प्रचलित सभी मतों, संप्रदायों को आत्मसात् करने की क्षमता थी। इसी के द्वारा जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ एकीकरण किया जा सकता था। इसमें व्यक्ति के पूर्ण विकास के साथ सामूहिक चेतना को जाग्रत करने की शक्ति थी।

श्रीमद्भागवत् के आधार पर प्रेम की नई व्याख्या तत्कालीन जन जीवन के अनुकूल प्रतीत हुई। प्रेम और सेवा के द्वारा कृष्ण ने वृंदावन में गोलोक को अवतरित किया। जहाँ अन्य साधनाएँ मृत्यु के उपरांत मुक्ति और स्वर्ग प्राप्ति का पथ बताती हैं वहाँ कृष्ण ने मुक्ति और स्वर्ग को पृथ्वी पर सुलभ कर दिया। प्रेम के बिना जीवन निस्सार माना गया। इस धर्म की बड़ी विशेषता यह रही कि इसमें शुद्ध प्रेम की अवस्था को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया।

वैष्णव धर्म में प्रत्येक मनुष्य को उसकी रुचि योग्यता और शक्ति के अनुसार पूर्ण विकास की स्वतंत्रता दी गई। सबको अपनी रुचि के अनुसार

जीवन बिताने का पूरा अधिकार मिला। भगवान् के नाम स्मरण को जीवन का लक्ष्य समझा गया। प्रेम की नई परिभाषा की गई। मानव प्रेम में जिस प्रकार दो प्रेमी मिलने को उत्सुक रहते हैं उसी प्रकार भगवान् में भी भक्त से मिलने की उत्कंठा सिद्ध की गई। पापी से पापी के उद्धार की भी आशा घोषित की गई।

प्रेमपूर्ण सेवा की भावना वैष्णवधर्म का प्राण है। कृष्ण ने अनेक विपत्तियों से जनता की रक्षा की। जिसमें ये दोनों गुण सेवा और प्रेम पूर्णता को प्राप्त कर जाएँ वही जीवात्मा को विश्वात्मा के साथ मिला देने में सफल होता है। यही मानव के व्यक्तित्व की पूर्णता है आज का मनोवैज्ञानिक भी यही मानता है।

कृष्णप्रेम श्रीमद्भागवत् का सार है। इस प्रेम के द्वारा श्रीमद्भागवत् मानव जीवन को परिपूर्ण बनाना चाहता है। लौकिक व्यक्तियों का भी परस्पर स्वार्थरहित प्रेम धन्य माना जाता है। गोपियों का प्रेम कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण की भावना से प्रेरित तो है ही उसमें कुछ और भी विशेषता है जो मानवीय कोटि से ऊपर है। वह विशेषता क्या है? वह विशेषता है गोपियों की ऐसी स्वाभाविकी ऋजुता जिसके कारण वे कृष्ण को ब्रह्माविष्णु शिव आदि का साक्षात् स्वामी मानती है। और उनके साथ तदाकार स्थापित करना चाहती हैं। उनके नेत्रों में कृष्ण के अतिरिक्त कोई पुरुष है ही नहीं। कृष्णप्रेम-रहित ज्ञान और कर्म उनके लिए निस्सार है। वह ऐकांतिक होते-हुए भी एकांगी नहीं। उसमें मानव जीवन को परिपूर्ण बनाने की क्षमता है। प्रश्न उठता है कि मानव की परिपूर्णता क्या है? किस मनुष्य को परिपूर्ण कहा जाय? आधुनिक युग का मनोवैज्ञानिक जीवन की परिपूर्णता का क्या लक्षण बताता है? एक मनोविज्ञानवेत्ता[१] का कथन है कि 'किसी के

१—The final stage in the development of one's personality is reached in that organisation of activities by which an individual adjusts his own life, and so far as he can, the life of society, to the ultimate goal or purpose of the universe. The achievement of this end is what is meant by the realisation of one's universal self. Since human beings are conscious of the universe just as much as they are concious of thier fellow-men, it is possible for them to select as the supreme object of

व्यक्तित्व का चरम विकास उस अवस्था को कहते हैं जब वह अपने विचारों का समाज और विश्व के उद्देश्यों के साथ सामंजस्य कर लेता है। इस स्थिति में जीवात्मा को विश्वात्मा के साथ एक कर देना पड़ता है। मानव अपनी अभिलाषाओं की अंतिम परिधि उस भंडार का साक्षात्कार मानता है जो सत्य, सौंदर्य और शिवता का स्रोत है। इस स्थिति की उपलब्धि जगत् से ऊपर आध्यात्मिक जगत् में ही संभव होती है। उसी जगत् में वैयक्तिक जीवन के सभी अवयव संवलित होकर मनुष्य को पूर्णता का भान करा ही सकते हैं। जब तक हम भौतिक जगत में रह कर यहाँ की ही कल्पना करते रहेंगे तब तक मानव जीवन अपूर्ण ही बना रहेगा। अध्यात्मलोक के पदार्थ सत्य और सौंदर्य को जब भौतिक जगत के पदार्थों, भौतिक सत्यों एवं सुषमा से अधिक महत्त्व देंगे तभी मानव जीवन की परिपूर्णता संभव होगी।'

गोपीप्रेम की महत्ता का आभास श्रीमद्भागवत् में स्थान-स्थान पर मिलता है। मानव जीवन की परिपूर्णता का यह ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देवता भी इस स्थिति के लिए लालायित रहते हैं। वे अपने देवत्व को गोपियों के व्यक्तित्व के संमुख तुच्छ समझते हैं। देवत्व में तमोगुण और रजोगुण किसी न किसी अंश में अवशिष्ट रह जाता है, पर प्रेममयी गोपियों में सात्त्विकता की परिपूर्णता दिखाई पड़ती है। इसीलिए उद्धव जैसा ज्ञानी, नारद जैसा मुनि एवं विविध देव समुदाय इनके दर्शन से अपने को कृतार्थ मानता है। यही प्रेम श्रीमद्भागवत् का सार है, यही जीवन का नया दर्शन

---

their desire a life that is in harmony with the ultimate source of all truth, beauty, and goodness. The attainment of this object carries one into the field of religion, which provides that type of experience that can give unity to all the various phases of an individual's life.

The development of personality takes place through the continuous selection of larger and more inclusive goals which serve as the object of one's desire.

Spiritual goods, truth, beauty in preference to material possession.

—Charls H. Patterson, Prof of Philosophy, The University of Nebraska Moral Standard—Page 270

है जो व्यक्तित्व की परिपूर्णता का परिचायक है। गोपियों की साधना देखकर ही धर्म और दर्शन चकित रह जाते हैं। वैदिक एवं अवैदिक सभी साधना पद्धतियाँ भिन्न भिन्न दिशाओं से आकर इस साधना पद्धति में एकाकार हो जाती हैं। कहा जाता है—

The practical philosophy of the Bhagavata aims at the development of an all-round personality through a synthesis of various spiritual practices, approved by scriptures, which have to be cultivated with effort by aspirants, but which are found in saints as the natural external expression of their perfection. Due recognition is given to each man's tastes, capacities, and qualifications; and each is allowed to begin practice with whatever he feels to be the most congenial.

The Cultural Heritage of India, Page 289

मानव जीवन की परिपूर्णता का उल्लेख पातंजल योगदर्शन में भी मनोवैज्ञानिक शैली में किया गया है। उसके अनुसार भी जब मानव भुक्ति और मुक्ति से ऊपर उठ कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो वह सभी प्राकृतिक गुणों से परे दिखाई पड़ता है। महर्षि पतंजलि उस स्थिति का आभास देते हुए कहते हैं—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः-
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

अर्थात्—गुणों की प्रवृत्ति पुरुष की भुक्ति और मुक्ति के संपादन के लिए है। प्रयोजन से वह इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार मन और तन्मात्राओं के द्वारा कार्य में लगा रहता है। जो पुरुष भुक्ति और मुक्ति की उपलब्धि कर लेता है उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। प्रयोजन को सिद्ध करने वाले गुणों के साथ पुरुष का जो अनादि सिद्ध अविद्याकृत संयोग होता है उसके अभाव होने पर पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

गोपीकृष्ण प्रेम में हम भक्त और भगवान् को इसी स्थिति में पाते हैं। इसी कारण हम गोपियों का व्यक्तित्व विकास की पूर्णता का द्योतक मानते हैं।

इस स्थान पर हम श्री मद्भागवत् का रचनाकाल जानने और उसकी महत्ता का आभास पाने के लिए उक्त ग्रंथ के विषय में संकेत देनेवाले पुराणों एवं शिलालेखों का किंचित उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जायगा कि मध्ययुग में इसी नवीन जीवन दर्शन के प्रयोग की क्या आवश्यकता आ पड़ी थी।

[श्रीमद्भागवत् का माहात्म्य और रचनाकाल]

गरुड़पुराण में श्रीमद्भागवत की महिमा का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

> अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णय:।
> गायत्री-भाष्यरूपोऽसौ वेदार्थ परिबृंहित:॥
> पुराणानां साररूप: साक्षाद् भागवतोदित:।
> ग्रंथोऽष्टादशसाहस्र: श्रीमद्भागवताभिध:॥

अर्थात् यह ब्रह्मसूत्रों का अर्थ है, महाभारत का तात्पर्य निर्णय है, गायत्री का भाष्य है और समस्त वेदों के अर्थ को धारण करनेवाला है। समस्त पुराणों का सार रूप है, साक्षात् श्री शुकदेवजी के द्वारा कहा हुआ है, अठारह सहस्र श्लोकों का यह श्रीमद्भागवत् नामक ग्रंथ है।

इसी प्रकार पद्मपुराण भी श्रीमद्भागवत् की प्रशंसा में कहता है— 'पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद्भागवतं परम्।' अर्थात् सभी पुराणों में श्रीमद्भागवत् श्रेष्ठ है।

इस ग्रंथ का इतना महत्त्व बढ़ गया कि जो दाता श्रीमद्भागवत् ग्रंथ की लिखी प्रति को हेमसिंहासन सहित पूर्णिमा या अमावस्या को दान देता है वह परम गति को प्राप्त करता माना जाता था।

उक्त पुराणों का मत इतना स्पष्ट है और ब्रह्मसूत्र और भागवत् की भाषा में इतना साम्य है कि कई स्थान पर तो सूत्र के सूत्र तद्वत् भागवत् में मिलते हैं। कहा जाता है कि एक बार चैतन्य महाप्रभु से किसी ने ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखने का आग्रह किया तो महाप्रभु ने कहा—"ब्रह्मसूत्र का भाष्य श्रीमद्भागवत् तो है ही। अब दूसरा भाष्य क्या लिखा जाय।" तात्पर्य यह है कि मध्ययुग में श्रीमद्भागवत् का माहात्म्य ब्रह्मसूत्र के समान हो गया था। मध्वाचार्य ने 'भागवत् तात्पर्य निर्णय' नामक ग्रंथ भागवत् की टीका के रूप

में लिखा और उन्होंने गीता की टीका में श्रीमद्भागवत् को पंचमवेद घोषित किया ।

श्री रामानुजाचार्य ने अपने वेदांतसार में श्रीमद्भागवत् का आदर पूर्वक उल्लेख किया है। इससे पूर्व प्रत्यभिज्ञा नामक संप्रदाय के प्रधान आचार्य अभिनव गुप्त ने गीता पर टीका लिखते समय चौदहवें अध्याय के आठवें श्लोक की व्याख्या करते हुए श्री मद्भागवत् का नाम लेकर कई श्लोक उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त का समय दसवीं शताब्दी है अतः श्रीमद्भागवत् की प्रतिष्ठा दसवीं शताब्दी से पूर्व अवश्य स्थापित हो गई होगी।

इससे भी प्राचीन प्रमाण श्रीगौड़पादाचार्य—शंकर के गुरु गोविंदपाद थे और उनके भी गुरु थे श्रीगौड़पादाचार्य—के ग्रंथ उत्तरगीता की टीका में मिलता है। उन्होंने 'तदुक्त भागवते' लिखकर श्री मद्भागवत् का निम्न-लिखित श्लोक उद्धृत किया है—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

इससे भी प्राचीन प्रमाण चीनी भाषा में अनूदित ईश्वरकृष्ण विरचित सांख्य कारिका पर माठराचार्य की टीका से प्राप्त होता है। उक्त ग्रंथ का अनुवाद सन् ५५७ ई० के आसपास हुआ माना जाता है। इस ग्रंथ में श्रीमद्भागवत् के दो श्लोक मिलते हैं।[1]

यदि पहाड़पुर ग्राम के भूमिगर्भ में दबी श्रीराधाकृष्ण की युगल मूर्त्ति पाँचवीं शताब्दी की मान ली जाय तो श्रीमद्भागवत् की रचना उससे भी पूर्व की माननी होगी क्योंकि उस समय तक राधा तत्त्व श्रीमद्भागवत् में स्वीकृत नहीं हुआ था।

श्रीमद्भागवत् की रचना चाहे जिस काल में भी हुई हो उसके जीवन दर्शन तथा साधना पद्धति का प्रचारकाल जयदेव के आसपास ही मानना होगा। इससे पूर्व साहित्य के अंतर्गत कहीं उल्लेख भले ही आया हो पर

१—प्रथम स्कन्ध के छठें अध्याय का पैंतीसवाँ श्लोक और आठवें अध्याय का बावनवाँ श्लोक।

अनुराग रूप से इसकी धारा जयदेव के उपरांत ही प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। संभव है कि गुप्त-साम्राज्य के विध्वंस के बाद शताब्दियों तक देश के विक्षुब्ध वातावरण, हिंदू राजाओं के नित्य के पारस्परिक विरोध में इस बीज को पल्लवित होने का अवसर न मिला हो। मध्ययुग की विविध साधनाओं को अंतर्भूत करनेवाले इस धार्मिक ग्रंथ का प्रचार देशकाल के वातावरण के अनुकूल होने से बढ़ गया होगा। इस उपस्थापन को हम यहाँ स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार महाभारत-काल में श्रीकृष्ण ने पूर्ववर्ती सभी सिद्धांतों का समन्वय गीता में किया था उसी प्रकार मध्ययुग के सभी धार्मिक मतों का सामंजस्य करनेवाला श्रीमद्भागवत् ग्रंथ समाज का प्रिय बन गया और घर घर में उसका प्रचार होने लगा। ब्रह्मसूत्र के ब्रह्म और गीता के पुरुषोत्तम को श्रीमद्भागवत् में श्रीकृष्ण रूप से स्वीकार किया गया है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

मध्यकाल में एक समय ऐसा आया कि उपनिषद्, भगवद्‌गीता तथा ब्रह्मसूत्र जैसे प्रस्थानत्रयी के समान ही श्रीमद्भागवत भी विभिन्न संप्रदायों का उपजीव्य प्रमाण ग्रंथ बन गया। वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी के स्थान पर प्रमाण चतुष्टय का उल्लेख करते हुए लिखा—

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि[1]।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तत् चतुष्टयम् ॥ ७१ ॥

प्रश्न है कि आचार्य वल्लभ का अभिप्राय समाधिभाषा से क्या हो सकता है? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि व्यास देव को समाधि दशा में जिस जीवनदर्शन की अनुभूति हुई थी उसी का सरस वर्णन श्रीमद्भागवत्में पाया जाता है। इस प्रकार इस नए जीवन दर्शन का अनाविल उपस्थापन श्रीमद्भागवत् के आधार पर हुआ यही इसका माहात्म्य है।

जिस प्रकार मध्ययुग में कृष्णगोपीप्रेम को प्रधान मानकर हिंदू समाज ने विश्व को एक नया जीवन दर्शन दिया था उसी प्रकार आधुनिक काल में बालगंगाधर तिलक ने कृष्ण के कर्म योग और महात्मा गांधी ने उनके

१—वल्लभाचार्य—शुद्धाद्वैतमार्तंड, पृ० ४६

अनासक्ति योगपर बल देकर इस युग के अनुसार कृष्ण जीवन की नई व्याख्या उपस्थित की। उक्त दोनों राजनैतिक पुरुषों की कृष्ण जीवन की व्याख्या के साथ कृष्णगोपीप्रेम को संयुक्त किया जा सकता है। स्वामी विवेकानंद ने उस पावन प्रेम का दिग्गदर्शन कराते हुए लिखा है—

"Krishna is the first great teacher in the history of the world to discover and proclaim the grand truth of love for love's sake and duty for duty's sake. Born in a prison, brought-up by cow-herds, subjected to all kinds of tyranny by the most despotic monarchy of the day, and derided by the orthodox, 'Krishna still rose to be the greatest saints, philosopher, and reformer of his age. ... In him we find the ideal householder, and the ideal sanyasin, the hero of a thousand battles who knew no defeat. He was a friend of the poor, the weak, and the distressed, the champion of the rights of women and of the Social and spiritual enfranchisement of the Sudra and even of the untouchables, and the perfect ideal of detachment.

And the Bhagwata which records and illustrates his teachings is, in the words of Sri Ramkrishna, 'sweet as cake fried in the butter of wisdom and Soaked in the honey of love."

Philosophy of the Bhagwat



जैन रास का जीवन दर्शन

हम पूर्व कह आए हैं कि ब्राह्मणों के आडंबरमय यज्ञों के विरुद्ध दो रूप में आंदोलन उठ खड़े हुए थे। एक ओर वैदिक आचार्यों ने बृहदारण्यक में यज्ञों का अध्यात्मपरक अर्थ किया और दूसरी ओर महावीर और बुद्ध ने सच्चरित्र को श्रेष्ठ यज्ञ घोषित किया। जैनागम में उद्धरण मिलता है कि श्री महावीर स्वामी एक बार विहार करते हुए पावापुरी पहुँचे। वहाँ धमिल नामक ब्राह्मण विशालयज्ञ कर रहा था। उसकाल के धुरंधर विद्वान् इंद्रभूति और अग्निभूत उस यज्ञशाला में उपस्थित थे। विद्वान् ब्राह्मणों और याज्ञिकों से यज्ञशाला जनाकीर्ण बनी थी।

भगवान् महावीर उसी यज्ञशाला के समीप होकर विहार करने निकले। उनके तपोमय जीवन और तेजोपुञ्ज आकृति से प्रभावित होकर यज्ञ की दर्शक-मंडली यज्ञशाला त्यागकर मुनिवर का अनुसरण करने लगी।

अपने पांडित्य से उन्मत्त इन्द्रभूति ईर्ष्या और कुतूहल से प्रेरित होकर महावीर जी से शास्त्रार्थ करने चला। उसने आत्मा के अस्तित्व के विषय में अनेक आशंकाएँ उठाई जिनका समुचित उत्तर देकर भगवान् ने उसका समाधान किया। भगवान् महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इंद्रभूति और उसके साथी ब्राह्मण भगवान् के शिष्य बन गए।

इंद्रभूति आदि विद्वान् ब्राह्मणों की आत्मा-परमात्मा, देवता, यज्ञ-विषयक शंकाओं से यह प्रतीत होता है कि यज्ञ संचालकों के हृदय में भी यज्ञ की उपादेयता के प्रति संदेह उठने लगा था। आज भी गंगा स्नान, ग्रहणस्नान, गोदान आदि संस्कार करने वाले ब्राह्मणों के मन में क्रियाकांड की उपादेयता के विषय में संदेह उठता है पर वे आजीवका के साधन के रूप में उसे चलाते जाते हैं। संभवतः इसी प्रकार स्थिति उस समय यज्ञकर्ता ब्राह्मणों की रही होगी और यज्ञ के नवीन अर्थ से प्रभावित होकर ईमानदार व्यक्तियों ने महावीर के नवीन सिद्धांत को स्वीकार किया होगा। भगवान् महावीर कहते हैं कि अहिंसा आदि पाँच यमों से संवृत्त, वैषयिक जीवन की आकांक्षा एवं शरीरगत मोह-ममता से रहित तथा कल्याणरूप

सत्कर्मों में शरीर का समर्पण करनेवाले चरित्रवान् व्यक्ति सच्चरितरूप विजय कारक श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।[1]

तपोमय जीवन की यज्ञ से उपमा देते हुए श्री महावीर जी कहते हैं— "तप ज्योति (अग्नि) है, जीवात्मा अग्निकुंड है, मन वचन, कार्य की प्रवृत्ति कलछुल (दर्वी) है, जो पवित्र संयम रूप होने से शक्तिदायक तथा सुखकारक है और जिसकी ऋषियों ने प्रशंसा की है।[2]"

जैन रासों में इस नवीन जीवन दर्शन की व्याख्या, स्थान स्थान पर मिलती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ की नई परिभाषा प्रतीक के रूप में संस्कृत के माध्यम से की गई थी अतः उसका प्रचार केवल संस्कृतज्ञ विद्वानों तक ही सीमित रहा किंतु जैन रास जन भाषा में विरचित एवं गेय होने के कारण सर्वसाधारण तक पहुँच सके।

भगवान् महावीर ने संयमश्री पर बड़ा बल दिया। इसका विवेचन हमें गौतमरास में उस स्थल पर मिलता है जहाँ भगवान् पावापुरी पधार कर इंद्रभूतिको उपदेश देते हैं—

चरण जिणेसर केवल नाणी, चउविह संघ पइट्ठा जाणी ;
पावापुर सामी संपत्तो, चउविह देव निकायहि जत्तो ॥
उपसम रसभर भरि वरसंता, योजनवाणि बखाण करंता ;
जाणिअ वर्धमान जिन पाया, सुरनर किंनर आवे राया ॥
कांति समूहे झलझलकंता, गयण विमाण रणरणकंता ;
पेखवि इंद्र भूई मन चिंते, सुर आवे अम्ह यज्ञ होवंते ॥
तीर तरंडक जिमते वहता, समवसरण पहुता गहगहता ;
तो अभिमाने गोयम जंपे, तिणे अवसरे कोपे तणु कंपे ॥
मूढा लोक अजाण्यो बोले, सुर जाणंता इम कांइ डोले ;
मू आगल को जाण भणीजे, मेरू अवर किम ओपम दीजे ॥

अर्थात् भगवान् महावीर से वेद के पदों द्वारा उसका संशय मिटा दिया गया। फिर उसने मान को छोड़कर मद को दूर करके भक्ति से मस्तक नवाया

१—सुसंवुडा पंचहि संवरेहिं इह जीविअं अणवकंखमाणा।
वो सट्ठकाया सुइचत्तदेहा महाजयं जयइ जण्णसिट्ठं ॥
२—तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुआ सरीरं कारिसंगं।
कम्मे इहा संजमजोगसंती होम हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

श्रौर पाँच सौ छात्रों सहित प्रभु के पास व्रत (चरित्र) स्वीकार किया। गौतम (सब में) पहला शिष्य था।

मेरे बांधव इंद्रभूति ने संयम की बात स्वीकार की यह जानकर अग्निभूति, महावीर के पास आया। प्रभु ने नाम लेकर बुलाया। उसके मन में जो संशय था उसका अभ्यास कराया अर्थात् वेदपद का खरा अर्थ समझाकर संशय दूर किया, इस प्रमाण से अनुक्रम से ग्यारह गणधर रूपी रत्नों की प्रभु ने स्थापना की और इस प्रसंग से भुवन-गुरू ने संयम (पांच महाव्रत रूप) सहित श्रावकों के बारह व्रत का उपदेश किया। गौतम स्वामी निरंतर ही दो-दो उपवास पर पारण करते हुए विचरण करते रहे। गौतम स्वामी के संयम का सारे संसार में जयजयकार होने लगा।'

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने स्नान, दान, विजय आदि की नई व्याख्या साधारण जनता के संमुख उपस्थित की जिसका विश्लेषण हम रास ग्रंथों में स्थान स्थान पर पाते हैं। स्नान, दान युद्ध के विषय में वे कहते हैं—

धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य निर्मल एवं प्रसन्न शांतितीर्थ है। उसमें स्नान करने से आत्मा शांत निर्मल और शुद्ध होता है[१]।

प्रतिमास दस लाख गायों के दान से भी, किसी (बाह्य) वस्तु का दान करने वाले संयमी मनुष्य का संयम श्रेष्ठ है[२]।

हजारों दुर्जय संग्रामों को जीतने वाले की अपेक्षा एक अपने आत्मा को जीतने वाला बड़ा है। सब प्रकार के बाह्य विजयों की अपेक्षा आत्मजय श्रेष्ठ है[३]।

इन जैन सिद्धांतों का स्पष्टीकरण हमें रास ग्रंथों में स्थान स्थान पर मिलता है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में भरत और बाहुबली के घोर युद्ध के उपरांत रासकार ने शस्त्रबल और बाहुबल से अधिक शक्ति आत्मजय में दिखलाई है। उदाहरण के लिए देखिए—

१—धम्मे हरए बंभे संतितित्थे अणाइले अत्तपसन्नले से।
जहिंसि ण्हाओ बिमलो विसुद्धो सुसीति भूओ पजहामि दोसं॥

२—जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदितस्सावि किंचन॥

३—जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥

बलवंत बाहुबली (भरत से) बोला कि तुम लोह खंड (चक्र) पर गर्वित हो रहे हो। चक्र के सहित तुमको चूर्ण कर डालूँ। तुम्हारे सभी गोत्रवालों का शल्य द्वारा संहार कर दूँ।

भरतेश्वर अपने चित्त में विचार करने लगे। मैंने भाई की रीति का लोप कर दिया। मैं जानता हूँ, चक्र परिवार का हनन नहीं करता। (भ्रातृवध के) मेरे विचार को धिक्कार है। हमने अपने हृदय में क्या सोचा था ! अथवा मेरी ममता किस गिनती में है।

तब बाहुबली राजा बोले—हे भाई, आप अपने मन में विषाद न कीजिए। आप जीत गए और मैं हार गया। मैं ऋषभेश्वर के चरणों की शरण में हूँ।

उस समय भरतेश्वर अपने मन में विचार करने लगे कि बाहुबली के (मन में) ऊपर वैराग्यमुमुक्षता चढ़ गई है। मैं बड़ा भाई दुखी हूँ जो अविवेकवान् होकर अविमर्श में पड़ गया।

भरतेश्वर कहने लगे—इस संसार को धिक्कार है, धिक्कार है। रानी और राजऋद्धि को धिक्कार है। इतनी मात्रा में जीवसंहार विरोध के कारण किसके लिए किया ?

जिससे भाई पुनः विपत्ति में आ जाय ऐसे कार्य को कौन करे ? इस राज्य, घर, पुर, नगर और मंदिर (विशाल महल) से काम नहीं। अथवा कल कौन ऐसा कार्य किया जाय कि भाई बाहुबली पुनः (हमारा) आदर करे। इस प्रकार बाहुबली के आत्मविजय का गौरव युद्धविजय की अपेक्षा अधिक महत्त्वमय सिद्ध हुआ।

जैन धर्म में संयम-श्री की उपलब्धि पर बड़ा बल दिया जाता है। जिसने वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली वही सबसे बड़ा वीर है। जैन रासों में मनोबल को पुष्ट करने के लिए विविध प्रकार के धार्मिक कथानकों का सहारा लेकर रसमय रास और फाग काव्यों की रचना की गई है। स्थूलभद्र नाम के एक मुनि जैन साहित्य में विलक्षण प्रतिभावाले व्यक्ति हुए है। वे वैष्णव के कृष्ण के समान ही आत्मविजयी माने जाते हैं। जैन आगमों में

संयम श्री

१—भरतेश्वर बाहुबली रास-छंद १८७ से १९२ तक।

उनका बड़ा माहात्म्य है। जैन धर्म में मंगला चरण के लिए यह श्लोक प्रसिद्ध है—

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमः प्रभुः।
मंगलं स्थूल भद्राद्या, जैन धर्मोस्तु मंगलम्॥

स्थूलभद्र के संयममय जीवन का अवलंब लेकर अनेक रास-फाग निर्मित हुए। प्राचीन कथा है कि पाटलिपुत्र नगर में नंद नाम का राजा था। शकटाल के स्थूलभद्र और श्रीपथ दो पुत्र थे। स्थूलभद्र नगर की प्रसिद्ध वेश्या कोशा में इतना अनुरक्त हो गया कि शकटाल की मृत्यु के उपरांत उसने राजा के प्रधान सचिव पद के आमंत्रण को भी अस्वीकार कर दिया। कालांतर में स्थूलभद्र ने विलासमय जीवन को निस्सार समझकर संभूतिविजय के पास दीक्षा ले ली।

चातुर्मास आने पर मुनियों ने आचार्य संभूतिविजय से वर्षावास के लिए अनुज्ञा मांगी। अन्य मुनियों की भाँति स्थूलभद्र ने कोशा वेश्या की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने की अनुमति मांगी। अनुमति मिलने पर स्थूलभद्र कोशा के यहाँ जाकर संयमपूर्वक रहने लगा। धीरे धीरे कोशा को विश्वास हो गया कि अब उन्हें कोई शक्ति विचलित नहीं कर सकती। अनुराग का स्थान भक्ति ने ले लिया और वह अपने पतित जीवन पर अनुताप करने लगी।

चातुर्मास के पूरा होने पर सब मुनि वापस आए। गुरु ने प्रत्येक का अभिवादन किया। जब स्थूलभद्र आए तो वे खड़े हो गए और 'दुष्कर से भी दुष्कर तप करनेवाले महात्मा' कहकर उनका सत्कार किया। इससे दूसरे शिष्य ईर्ष्या करने लगे।

दूसरे वर्ष जब चातुर्मास का समय आया तो सिंह की गुफा में चातुर्मास बितानेवाले एक मुनि ने कोशा की चित्रशाला में रहने की अनुमति माँगी। और गुरु के मना करने पर भी वह कोशा की चित्रशाला में चला गया और पहले दिन ही विचलित हो गया। उसे व्रतभंग से बचाने के लिए कोशा ने कहा, 'मुझे रत्नकंबल की आवश्यकता है। नेपाल के राजा के पास जाकर उसे ला दो तो मैं तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगी', साधु कामवश चातुर्मास की परवाह किए बिना नेपाल पहुँचा और वहाँ से रत्नकंबल लाया। मार्ग में अनेक संकटों का सामना करता हुआ वह किसी प्रकार कोशा के पास पहुँचा। कोशा ने

रत्नकंबल लेकर गंदे पानी में डाल दिया। साधु उसे देखकर कहने लगा, 'इतने परिश्रम से मैं इस रत्न कंबल को लाया और तुमने नाली में डाल दिया।'

कोशा ने उत्तर दिया—'इतने वर्ष कठोर तपस्या करके तुमने इस संयम रूपी रत्न को प्राप्त किया है। अब वासना से प्रेरित होकर क्षणिक तृप्ति के लिए इसे नष्ट करने जा रहे हो, यह क्या नाली में डालना नहीं है? इसपर साधु के ज्ञानचक्षु खुल गए और वह प्रायश्चित करने लगा।

कुछ दिनों उपरांत राजा की आज्ञा से कोशा का विवाह एक रथकार के साथ हो गया। परंतु वह सर्वथा जीवन से विरक्त हो चुकी थी और उसने दीक्षा ले ली।

इस आख्यायिका ने अनेक कवियों को रास एवं फाग रचना की प्रेरणा दी। प्रस्तुत संग्रह के 'स्थूलभद्र फाग' में संयम श्री का आनंद लेनेवाले स्थूलभद्र कोशा[१] के आग्रह पर कहते हैं—

\+ + +

चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थरु गिह थेइ
तिम संजम-सिरि परिचयवि बहु-धम्म समुज्जल
आलिंगइ तुह कोस! कवणु पसरत महाबल ॥

अर्थात् चिंतामणि को त्यागकर कौन प्रस्तर खंड (ठीकरी) ग्रहण करना चाहेगा। उसी प्रकार धर्मसमुज्ज्वल संयम श्री को त्यागकर कौन तेरा आलिंगन करेगा'', तात्पर्य यह है कि 'उत्तराध्ययन' में कोशा गौतमसंवाद को रासग्रंथों में अत्यन्त सरस बनाकर सामान्य जनता के उपयुक्त प्रदर्शित किया गया है।

हम पूर्व कह आये हैं कि जैन रास एवं फाग ग्रंथ जैनागमों की व्याख्या उपस्थित करके सामान्य जनता को धर्मपालन की ओर प्रेरित करते हैं।

१—कोशा के रूपलावण्य और शृंगार का वर्णन कवि रसमय शैली में करता हुआ स्थिति की गंभीरता इस प्रकार दिखाता है—

जिनके नखपल्लव कामदेव के अंकुश की तरह विराजमान हैं। जिनके पादकमल में घूंघरी रमझुम-रमझुम बोलती है। नवयौवन से विलसित देहवाली अभिनव से (पागल) गढ़ी हुई, परिमल लहरी से मगमगती (महकती), पहली रतिकेलि के समान प्रवाल-खंड-सम अधर बिंबवाली, उत्तम चंपक के वर्णवाली, हावभाव और बहुत रस से पूर्ण नैनसलोनी शोभा देती है।

सिरिथूलिभद्द फागु पृ० १४१-४२

जैनागमों में स्थान स्थान पर धर्म की व्याख्या के रूप में भगवान् महावीर के साथ इन्द्रभूति और गौतम का संवाद मिलता है। उववाई रायपसेणइस, जंबूदीप पश्नात्ति, सूरपल्लत्ति आदि ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। प्रसिद्ध आकर ग्रंथ 'भगवती' के अधिकांश भाग में गौतम एवं महावीर के प्रश्नोत्तर मिलते हैं। 'परायवसासूत्र' एवं 'गौतम प्रपृच्छा' नामक ग्रंथ इसी शैली के परिचायक हैं।

चित्तशुद्धि

जैन परंपरा में आध्यात्मिक विभूतियों के लिए गौतम स्वामी, बुद्धिप्रकर्ष के लिए अभयकुमार और धनवैभव के लिए शालिभद्र अत्यंत प्रसिद्ध माने जाते हैं। इन व्यक्तियों के चरित्र के आधार पर विविध रासों की रचना हुई जिनमें जैनदर्शन के सिद्धांत स्पष्ट किए गए। जैन परंपरा में चित्तशुद्धि का सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। यह कठिन-तपस्या-साध्य है। जब तक चित्त में किसी प्रकार का राग विद्यमान है तब तक चित्त पूर्णतया शुद्ध नहीं होता और जब तक चित्त में अशुद्धि है तब तक केवल-ज्ञान संभव नहीं।

राग को परम[1] शत्रु मानकर उसके त्याग की बारबार घोषणा की गई है। इस राग परित्याग का यहाँ तक विधान है कि अपने पूज्य गुरु एवं आचार्य में भी राग बुद्धि का लेश अक्षम्य है। इस सिद्धांत को हम 'गौतमस्वामी रास' में स्पष्ट देख पाते हैं। गौतम ने अपने माता पिता गृह-परिवार आदि को त्यागकर मन में विराग धारण कर लिया। विरागी बनकर उसने घोर तपस्या की। भगवान् महावीर की कृपा से उन्हें शास्त्रों का विधिवत् ज्ञान हो गया, किंतु उनके मन में गुरु के प्रति राग बना रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि वे, जिनको दीक्षा देते थे उन्हें तो 'केवल ज्ञान' हो जाता था किंतु वे स्वयं 'केवल ज्ञान' से वञ्चित रहे।

वलता गोयम सामि, सवि तापस प्रतिबोध करे;
लेइ आपणे साथ चाले, जिम जुथाधिपति।

१— भावयेच्छुद्धचिद्रूप स्वात्मान नित्यमुद्यतः।
रागाद्युदग्र शत्रूणामनुत्पत्त्यै क्षयाय च॥

अध्यात्म रहस्य श्लोक ३६।

अर्थात्—रागादि अति उग्र शत्रुओं की अनुत्पत्ति और विनाश के लिए नित्य ही उद्यमी होकर शुद्ध-चिद्रूप स्वात्मा की भावना करनी चाहिए।

खीर खांड घृत आण, अमिअवूठ अंगुठं ठवि,
गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवि ॥
पंचसयां शुभ भावि, उजल भरिओ खीरमसि;
साचा गुरु संयोगे, कवल ते केवल रूप हुआ ॥[१]

अर्थात्—गौतम स्वामी अपने ५०० शिष्यों को दीक्षा देकर अपने साथ लेकर यूथाधिपति की भाँति चल पड़े। दूध, चीनी और घी एक ही पात्र में मिलाकर उसमें अमृतवर्षीय अंगूठा रखकर गौतम स्वामी ने सभी तापसों को क्षीरान्न का पान कराया। सच्चे गुरु के संयोग से वे सभी क्षीर चखकर केवल ज्ञानरूप हो गए। किंतु गौतम स्वामी स्वयं केवल ज्ञानी नहीं बन सके। इसका कारण यह था कि श्री महावीर जी में उनका राग बना हुआ था। जिस समय वे गुरु के आदेशानुसार देवशर्मा ब्राह्मण को दीक्षा देकर लौटे उस समय श्री महावीर जी का निर्वाण हो चुका था। गौतम स्वामी सोचने लगे कि "स्वामी जी ने जानबूझकर कैसे समय में मुझे अपने से दूर किया। लोक व्यवहार को जानते हुए भी उस त्रिलोकीनाथ ने उसे पाला नहीं। स्वामिन्! आपने बहुत अच्छा किया। आपने सोचा कि वह मेरे पास 'केवल ज्ञान' माँगेगा।"[२]

"इस प्रकार सोच विचार कर गौतम ने अपना रागासक्तचित्त विराग में लगा दिया। राग के कारण जो केवल ज्ञान दूर रहता था वह राग के दूर होते ही सहज में ही प्राप्त हो गया।"[३]

यहाँ जैन और वैष्णव रास सिद्धांतों में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। कृष्ण रास में भगवान् के प्रति राग और संसार से विराग अपेक्षित है किंतु जैन रास में भगवान् महावीर के प्रति भी राग वर्जित है। विरागिता की चरम सीमा जैन रासों का मूलमंत्र है।

जैन रासकार जगत् को प्रपंचमय जानकर गुरु के प्रति भी विरागिता का उपदेश देता है। इंद्रियरस से दूर रहकर एकमात्र आत्मशुद्धि करना ही

कृष्णरास और जैनरास में राग का दृष्टिकोण

जैन रास का उद्देश्य रहता है किंतु वैष्णव रास में मन को कृष्ण प्रेम रस से आप्लावित करना अनिवार्य माना जाता है। केवल ज्ञान के द्वारा जहाँ मुक्तिप्राप्ति जैनरासकारों ने अपने जीवन का ध्येय

१—गौतम स्वामी रास—पृ० १८६–छंद ३६–४१
२— " "
३— " पृ० १६० छंद ४६

बनाया वहाँ मुक्ति को भी त्याग कर रासरस का आस्वादन कृष्णरास-कर्ताओं का लक्ष्य रहा है। किंतु इस रास की प्राप्ति एकमात्र हरिकृपा से ही संभव है। सूरदास रास का वर्णन करते हुए कहते है—

रास रसरीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, इहै चित जिय भ्रम भुलावै॥
जो कहौं कौन माने, निगम अगम, हरिकृपा बिनु नहिं या रसहिं पावै।
भाव सों भजै, बिन भाव में ए नहीं, भाव ही माँहिं भाव यह बसावै॥
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान, यह ध्यान है दास दंपति भजन सार गावै।
यहै माँगौ बार बार प्रभु सूर के नयन दोऊ रहैं नर देह पावै॥

तात्पर्य यह कि जैन रास का जीवन दर्शन विरागिता के द्वारा जन्म मरण से मुक्ति दिलाना है और वैष्णव रास का लक्ष्य राधा कृष्ण के दांपत्य रस का आस्वादन करने के लिए बारबार नरदेह धारण करना है।

जहाँ जैन रासों में वैराग्य आवश्यक माना जाता है वहाँ वैष्णवों के प्रेमदर्शन में भगवान् के प्रतिराग अनिवार्य समझा जाता है। देवर्षि नारद भक्तिसूत्र में कहते हैं—

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।[1]

अर्थात्—"इस प्रेम को पाकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और और प्रेम का ही चिंतन करता है।"

वैष्णवरास रचयिता कवियों ने भगवान् के प्रति राग का इतना अधिक वर्णन किया है कि उनका एक क्षण का वियोग गोपियों को असह्य हो जाता है। उनको तो "भगवान् के चरणों में इतना आनंद प्राप्त होता है कि उन्हें अपने चरणों में मोक्ष साम्राज्य श्री लोटती दिखाई पड़ती है।"[2] संपूर्ण वैष्णव रास कृष्णराग एवं राम राग से परिपूर्ण है। गोपियाँ कृष्णराग में इतनी विह्वल हैं कि नृत्य के समय उनके चंद्रमुख को निहारने की अभिलाषा सदा उनके मन को गुदगुदाती रहती है।

१—नारदभक्तिसूत्र—५५
२—यदि भवति मुकुंदे भक्तिरानन्द सान्द्रा
विलुठति चरणाग्रे मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीः॥

नाच श्याम सुखमय।
देखि, ताले माने केमन ज्ञानोदय ॥
ए तो बाटे माठे दान साधनाय।
एखाने गाइते बाजाते जाने गोपी समुदाय ॥
एकबार नाच हे श्याम फिरि फिरि।
संगे संगे नाचब मोरा चाँद वदन हेरि ॥[१]

वैष्णव और जैन रास पदों के उक्त उद्धरणों से राग विराग की महत्ता स्पष्ट हो जाती है।

जैन रासो में विरागिता के साथ विद्यादान पर भी बल दिया गया है। एक स्थान पर विद्यादान की महिमा वर्णन करते हुए रासकार लिखते हैं कि विद्यादान के पुण्य का अपार फल है—

विद्यादानु जउ दीजइं सारु जिणु भणइ तेह पुन्य नहीं पारु

साध्वियों का भी संमान साधुओं के समान करना आवश्यक बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि १३ वीं १४ वीं शताब्दी में साधु और साध्वियों का समान संमान होता था।[२]

इस रास में एक स्थान पर श्रावक के शरीर के सप्तधातु के समान महत्त्व रखनेवाले अध्यात्म शरीर के सात तत्त्व सदाचार, सुविचार, कुशलता निरहंकार भाव, शील, निष्कलंकता, और दीनजनसहाय बतलाये गये हैं।[3]

वह श्रावक शिवपुर में निवास करता है जो तीन प्रकार की शुद्धि और अंतःकरणमें वैराग्य को धारण करता है। उसके लिए जिन-वचनों का पढ़ना, श्रवण करना, गुनना आवश्यक माना गया है। जिसने शील रूपी कवच धारण कर रखा है उसके लिए संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं।[४]

जैन और वैष्णव रास सिद्धांत में दूसरा बड़ा अंतर ईश्वर-संबंधी धारणा में पाया जाता है। जैन शास्त्र के अनुसार जिसके संपूर्ण कर्मों का आमूल क्षय हो गया हो वह ईश्वर है। 'परिक्षीण सकल कर्मा ईश्वरः' जैन धर्म के अनुसार ईश्वरत्व और मुक्ति का एक ही लक्षण है। 'मुक्ति प्राप्त करना ही

१—रास और रसान्वयी काव्य पृ० ३६४
२—सप्तक्षेत्रिय रास छंद सं० ६०
३—वही ,, ८६
४—वही ,, १०१

ईश्वरत्व की प्राप्ति है।' ईश्वर शब्द का अर्थ है समर्थ। अतः अपने ज्ञानादि पूर्ण शुद्ध स्वरूप में पूर्ण समर्थ होने वाले के लिए 'ईश्वर' शब्द बराबर लागू हो सकता है[१]।

जैन शास्त्र का मत है कि मोक्ष प्राप्ति के साधन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का अभ्यास जब पूर्ण स्थिति पर पहुँच जाता है तब संपूर्ण आवरण का बंधन दूर हट जाता है और आत्मा का ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। इसी स्थिति का नाम ईश्वरत्व है।

ईश्वर एक ही व्यक्ति नहीं। पूर्ण आत्म-स्थिति पर पहुँचने वाले सभी सिद्ध भगवान् या ईश्वर बनने के अधिकारी हैं। कहा जाता कि 'जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों अथवा कूपों का एकत्रित किया हुआ जल एक में मिल जाता है तो उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता उसी प्रकार प्रकृति में भी भिन्न भिन्न जलों की भाँति एक दूसरे में मिले हुए सिद्धों के विषय में एक ईश्वर या एक भगवान का व्यवहार होना भी असंगत अथवा अघटित नहीं है[२]।'

हमें इसी सिद्धांत का प्रतिपादन जैन रासों में मिलता है। गौतम स्वामी से दीक्षित ५०० शिष्य जब केवली बन गए तो उन्होंने भगवान् महावीर के सामने मस्तक झुकाने की आवश्यकता नहीं समझी क्योंकि वे स्वतः ईश्वर बन गए थे। इसी कारण जैन परंपरा में भगवान् महावीर और उनसे पूर्व होने वाले २३ तीर्थंकर[३] भगवान् पद के अधिकारी माने जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार कलियुग में भगवान् बनने का अधिकार अब किसी को नहीं है।

किंतु वैष्णव रास में एकमात्र कृष्ण अथवा राम ही ईश्वर अथवा भगवान पद के अधिकारी हैं। गोपियों को कृष्ण के अतिरिक्त और कोई भगवान् सूझता ही नहीं। उद्धव-गोपी-संवाद में श्रीमद्भागवद्कार ने इस तथ्य को

१—मुनि श्री न्यायविजय जी, जैनदर्शन, पृ० ४७।

२—मुनि श्री न्यायविजय जी, जैनदर्शन, पृ० ४८।

३—२४ तीर्थंकर–१. ऋषभ, २. अजित, ३. संभव, ४. अभिनंदन, ५. सुमति, ६. पद्म, ७. सुपार्श्व, ८. चंद्र, ९. सुविधि, १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनंत, १५. धर्म, १६. शांति, १७. कुंथु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनि सुव्रत, २१. नमि, २२. अरिष्टनेमि, २३. पार्श्व, २४. भगवान् महावीर।

और भी स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार जैन रास (गौतम स्वामी रास) में गौतम की रागवृत्ति और गोपियों की रागवृत्ति में अंतर पाया जाना स्वाभाविक है। जैन रास पुत्र-कलत्र आदि के राग-त्याग के साथ साथ गुरु में भी राग निषिद्ध मानता है किंतु वैष्णव रास में भगवान् कृष्ण के प्रति राग अनिवार्य माना जाता है। उस राग के बिना भगवद्-भक्ति की पूर्णता संभव नहीं।

भोग कामना तृप्ति

'उत्तराध्ययन सूत्र' में स्थान स्थान पर यह प्रश्न उठाया गया है कि युवावस्था में काम भोगों का आनंद लेकर वृद्धावस्था में विराग धारण करना श्रेयस्कर है अथवा भोगों से दूर रहकर प्रारंभ से ही वैराग्य अपेक्षित है। यशा ने अपने पति भृगु पुरोहित से कहा था—'आपके कामभोग अच्छे संस्कार युक्त, इकट्ठे मिले हुए, प्रधान रसवाले और पर्याप्त हैं। इसलिए हम लोग इन काम भोगों का आनंद लेकर तत्पश्चात् दीक्षारूप प्रधान मार्ग का अनुसरण करेंगे[1]।' भृगुपुरोहित प्रारंभ से वैराग्य के पक्ष में था।

ठीक इसी प्रकार का प्रश्न सती राजमती के भी जीवन में उठ खड़ा होता है। रथनेमि नामक राजपुत्र उस सती से कहता[2] है—'तुम इधर आओ। प्रथम हम दोनों भोगों को भोगें क्योंकि यह मनुष्य जन्म निश्चय ही मिलना अति कठिन है। अतः भुक्त भोगी होकर पीछे से हम दोनों जिन मार्ग को ग्रहण कर लेंगे। किंतु राजमती ने इस समस्या का उत्तर दिया है। वह सती रथनेमि को फटकारते हुए कहती है—

'हे अयश की कामना करने वाले! तुझे धिक्कार हो जो कि तू असंयत जीवन के कारण से वमन किये हुए को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है[3]।'

१—सुसंभिया काम गुणा इमे ते,
संपिण्डिआ अग्गरसप्पभूया।
भुंजामु ता कामगुणो पगामं,
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं॥ उत्तराध्ययन—१४।३१

२—एहि ता भुंजिमो भोए, माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुक्त भोगा तओ पच्छा, जिणमग्गं चरिस्समो॥ उत्तराध्ययन—२२।३८

३—उत्तराध्ययन।

इस फटकार का बड़ा ही सुखद परिणाम हुआ। राजनेमि ने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतकर पाँचों इंद्रियों को वश में करके प्रमाद की ओर बढ़े हुए आत्मा को पीछे हटाकर धर्म में स्थित किया। इस प्रकार राजमती और रथनेमि ने उग्रतप के द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्षगति प्राप्त की। नेमिनाथ जैन मुनियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। कदाचित् सबसे अधिक रास काव्य और स्तोत्र इन्हीं के जीवन का अवलंब लेकर लिखे गए हैं। नेमिनाथ और श्रीकृष्ण का संबंध जैन रास (नेमिनाथ रास) में स्पष्ट किया गया है। नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई कहा गया है। नेमिनाथ बाल्यकाल से ही विरक्त थे। संसार के सुखविलास में इनकी तनिक भी स्पृहा न थी। वे कहा करते थे।

"विषय सुक्खु कहि नरयदुवारू कहि अनंत सुहुसंजमारू।
भाउ बुरउ जाणंतु विचारइ, कागिणि कारणि कोडि कु हारइ॥
पुरण भणइ हरिणाह करेवी, नेमिकुमारइ पय लग्गेवी।
सामिय इक्कु पसाउ करिजउ, बालिय काविसरूव परणिज्जउ॥"

अर्थात् विषय सुख नरक का द्वार है और संयम अनंत सुख का मार्ग है।

नेमकुमार के विरोध करने पर भी उनका विवाह उग्रसेन की लावण्यमयी कन्या राजमती के साथ निश्चित किया गया। जब बरात उग्रसेन के द्वार पर पहुँची तो नेमिनाथ को पशु-पक्षियों का क्रंदन सुनाई पड़ा। उनका हृदय दयार्द्र हो आया और वे विवाह-मंडप में जाने के स्थान पर गिरनार पर्वत पर पहुँच गए।

अइ अवलोयणि देवी देविहि देविंदु।
मेरु गिरम्मि रम्मी गउ गहिय जिणंदु॥ १७॥

इससे सिद्ध होता है कि युवावस्था में ही विराग की प्रवृत्ति जैन धर्म में महत्त्वमय मानी जाती है। नेमिकुमार के वैराग्य लेने पर उनकी वाग्दत्ता पत्नी राजमती भी संयमश्री धारण करके आजन्म अविवाहित रह जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जैन रास सांसारिक भोगों को तुच्छ समझकर युवावस्था में ही पूर्ण संयम का परिपालन आवश्यक मानता है।

१—रास और रासान्वयी काव्य पृष्ठ १०२।

अहिंसा का सिद्धांत भी इस रास के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। उत्सवों में भी जीव हिंसा के द्वारा आतिथ्य को घृणित माना गया है। इस प्रकार रास ग्रंथ अहिंसा और ब्रह्मचर्य के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण करने में समर्थ हुए हैं।

मुक्ति-मार्ग

अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही जैन जीवन-दर्शन में भी मुक्ति प्राप्ति ही मानव का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के भिन्न २ मार्गों का निर्देश विभिन्न दर्शन शास्त्रों का प्रयोजन रहा है। जैन धर्म में एक स्थान पर कहा गया है—

"श्रद्धा को नगर बनाकर, तप संवर रूप अर्गला, क्षमा रूप कोट, मन वचन तथा काया के क्रमशः बुर्ज, खाई तथा शतघ्नियों की सुरक्षापंक्ति से अजेय दुर्ग बनाओ और पराक्रम के धनुष पर, इर्या समिति रूपी प्रत्यंचा चढ़ाकर; धृति रूपी मूठ से पकड़, सत्य रूपी चाप द्वारा खींचकर, तप रूपी बाण से, कर्म रूपी कंचुक कवच को भेदन कर दो, जिससे संग्राम में पूर्ण विजय प्राप्त कर, मुक्ति के परमधाम को प्राप्त करो।"[1]

रास की नायिका

न केवल पुरुषों अपितु स्त्रियों को भी नायिका बनाकर रासकारों ने मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति मोक्ष-प्राप्ति को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। विषयासक्ति के पंक में फँसे हुए व्यक्ति को किस प्रकार अध्यात्म-रत्न की प्राप्ति कराई जा सकती है? यही इन रासकारों का उद्देश्य रहा है। चंदनबाला, शीलवती, अंजना सुंदरी, कमलावती, चंद्रलेखा, द्रौपदी, मलय सुंदरी, लीलावती, सुरसुंदरी आदि स्त्रियों के नाम पर अनेक रास ग्रंथों की रचना हुई। इस स्थान पर केवल चंदनबाला और शीलवती रास के आधार पर जीवन दर्शन का विश्लेषण करने का प्रयास किया जायगा।

चंदनबाला रास

चंदनबाला रास की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ जैनपुस्तक भंडारों में मिलती हैं। कदाचित् यह रास मध्ययुग का अतिप्रसिद्ध रास रहा होगा।

१—जैन धर्म पृष्ठ ४६

इसकी कथा भी मर्मस्पर्शिनी और त्रिकाल सत्य है। कथानक इस प्रकार है।

राजकुमारी चंदनवाला ने युवावस्था में जैसे ही प्रवेश किया और विवाह के लिये योग्य वर की चिंता ज्योंही राजा को होने लगी कि सहसा शत्रु ने राज्य पर आक्रमण कर दिया और सैन्यशक्ति में निर्बल होने के कारण राजा पराजित हो गया। विजेता शत्रु ने राजप्रासाद को रौंद डाला और राजपरिवार भयभीत होकर इतस्ततः पलायन करते हुए शत्रुओं के हाथ आ गया। चंदनवाला एक गुल्म नायक के अधिकार में आ गई और उसके रनिवास में रहने को बाध्य हुई। गुल्मनायक की विवाहिता पत्नी ने उस राजकुमारी का रनिवास में रहना अपने हित में बाधक समझा और उसे खुले बाजार में विक्रय करने की योजना बनाई। राजकुमारी पशु के समान शृंखला में आबद्ध चौहट्टे में विक्रयार्थ लाई गई और विक्रेता उसका मूल्यांकन करने लगे। अंत में एक वेश्या ने उसे खरीद लिया और अपने घर में उसका विधिवत् शृंगार करके वेश्यावृत्ति के लिये बाध्य करने का प्रयत्न करने लगी।

राजकुमारी चंदनबाला उसकी घोर प्रतारणा पर भी शीलधर्म का त्याग करने को प्रस्तुत न हुई और सत्याग्रह के द्वारा प्राणार्पण को सन्नद्ध हो गई। अंत में वेश्या ने भी उसे अपने घर से बहिष्कृत कर दिया और एक सेठ के हाथ उसे बेंच दिया। सेठ संतानरहित था और उसकी अवस्था भी अधेड़ हो चुकी थी। उसने चंदनवाला को अपनी कन्या मानकर अपने घर में रखा किंतु उसकी पत्नी को इससे संतोष न हुआ वह पति के आचरण के प्रति सशंक रहने लगी।

एक दिन सेठ की माल से लदी गाड़ी कीचड़ में फँस गई। सेठ के कर्मचारियों के विविध प्रयास के उपरांत भी गाड़ी कीचड़ से बाहर न निकल सकी। सेठ ने धनहानि की आशंका और कर्मचारियों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से कीचड़ में घुसकर गाड़ी को बाहर निकाल लिया और उन्हीं पैरों से सारी घटना सुनाने के लिए अपने भवन में प्रवेश किया। पितृस्नेह से उमड़कर चंदनबाला पिता का पाद प्रक्षालन करने लगी। उसी समय उसकी केश राशि मुख के संमुख आ गई और सेठ ने वात्सल्यवश उसको सिर के ऊपर टाल दिया। सेठानी यह कृत्य देखकर क्षुभित हो उठी और वह अपने पति को उसे निकाल देने के लिए विवश करने लगी।

यह रास शताब्दियों से भारतीय समाज-विशेषकर जैन वर्ग का अति प्रिय अभिनेय काव्य रहा है। पवित्र पर्वों पर इसका अभिनय अब भी होता है। गत वर्ष इसी दिल्ली नगरी के नये बाजार मुहल्ले में कई दिन तक इसके अभिनय से जनता का मनोरंजन होता रहा। इसके इतिवृत्त में ऐसा आकर्षण है और करुण रस के परिपाक की इतनी प्रचुर सामग्री है कि सामाजिक सहज ही करुणार्द्र हो उठता है। नारी की निर्बलता से अनुचित लाभ उठानेवाले वेश्यावृत्ति के संचालकों के हृदयकालुष्य और शील प्रतिपालकों की घोर यंत्रणा का दृश्य देखकर किस सहृदय का कलेजा न काँप उठेगा।

विजेता की बर्बरता, समाज की क्रूरता, वेश्या की विवशता, कामुक की रूपलिप्सा मानव की शाश्वत समस्या है। धर्मनिष्ठा का माहात्म्य दिखाकर आपत्ति में धैर्य की क्षमता उत्पन्न करना और शीलरक्षा के यज्ञ में सर्वस्व होम देने की भावना को बलवती बनाना इस रास का उद्देश्य है। नृत्यसंगीत के आधार पर इसका अभिनय शताब्दियों से स्पृहणीय रहा है और किसी न किसी रूप में भविष्य में भी इसका अस्तित्व अक्षुण्ण बना ही रहेगा। इस रास के आधार पर जैन आगमों के कई सिद्धांत प्रतिपादित किए जा सकते हैं—प्रथम सिद्धांत तो यह है कि राज्यशक्ति परिमित है अतः इसका गर्व मिथ्या है। जिनमें केवल पार्थिव बल है और जो अध्यात्म बल की उपेक्षा करते हैं उन्हें सहसा आपत्ति आ पड़ने पर पश्चाताप करना पड़ता है और धैर्य के अभाव में धर्म तो क्या जीवन से भी हाथ धोना पड़ता है।

दूसरा सिद्धांत सत्याग्रह का है। सत्याग्रह में पराजय कभी है ही नहीं। सत्य-पालन के लिए प्राण विसर्जन को प्रस्तुत रहनेवाले अध्यात्मचिंतक को कभी पराजय हो ही नहीं सकती। पर इस स्थिति में पहुँचना हँसी खेल नहीं। साधक को वहाँ तक पहुँचने के लिए १४ मानसिक भूमियों को पार करना पड़ता है। दार्शनिकों ने इसे आत्मा की उत्क्रांति की पथरेखा माना है। मोक्षरूपी प्रासाद तक पहुँचने के लिए इन्हें १४ सोपान भी कहा गया है। उन १४ सोपानों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरतिसम्यग-दृष्टि, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त (८) अपूर्वकरण (९) अनिवृत्तिकरण (१०) सूक्ष्मसम्पराय (११) उपशांतमोह, (१२) क्षीण-मोह, (१३) संयोग केवली और (१४) अयोगिकेवली। इनका विवेचन हम पूर्व कर आए हैं।

शीलवतीनो रास

पातिव्रत धर्म की अपार महिमा का ज्ञान कराने के लिए कतिपय नायिका-प्रधान रासग्रंथों की रचना हुई जिनमें 'शीलवती रास' जनता में विशेष रूप से प्रचलित बना। इस रास में पतिव्रता शीलवती को निरपराध ही अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। किंतु अंत में शील-पालन के कारण उसे पति सुख की प्राप्ति हुई। इस रास में देवदानवों का रोमांचकारी वर्णन और अनेक नारियों की विपदामय कथा का उल्लेख मिलता है। इस रास के अंत में जीवन दर्शन की व्याख्या इस प्रकार संक्षिप्त रूप से की हुई है—'जो व्यक्ति शमदमशील रूपी कवच धारण करता है, साधुसंग में विचरण करता है, जिन वचनों का पालन करता है, क्रोधादिक मान को त्याग कर कामाग्नि से बचा रहता है, सम्यक्त्वरूपी जल में अवगाहन करता है, धर्मध्यान रूपी लता के मूल में आबद्ध रहता है, मन, वचन और शरीर से योग साधन करता है, कवि विरचित ग्रंथों का अनुशीलन करता है वह चरित्र बल से अवश्य ही मुक्ति प्राप्ति कर लेता है। कवि कहता है।[1]

चरित्र पाली मुक्तिए पो त्या, हुवा द्रव गुणयुक्ता हे;
धन्य धन्य नारी जे गुण युक्ता, पवित्र थई नाम कवता हे।

इस रास में विभिन्न स्वभाव वाली स्त्रियों की प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। राजकुमारी से वेश्या तक, पट्टमहिषी से दासी तक अनेक स्तर में जीवन व्यतीत करनेवाली स्त्रियों की उत्कृष्ट एवं निकृष्ट प्रवृत्तियों का व्यष्टि जीवन एवं समष्टि जीवन पर प्रभाव दिखाकर सदाचरण की ओर मन को प्रेरित करने का प्रयास किया गया है।

जैन रासकारों ने सांसारिक व्यक्तियों के उद्धार के लिए तीर्थंकरों एवं प्रमुख साधकों के संपूर्ण जीवन की प्रमुख घटनाओं को गेय पदों के रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। तीर्थंकरों के जीवन में शास्त्रोक्त १४ सोपानों को किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है। किंतु अन्य साधकों में प्रायः सात ही सोपान देखने को मिलते हैं।

प्रथम सोपान मिथ्यात्वगुण स्थान कहलाता है। इस गुणस्थान में कल्याणकारक सद्गुणों का प्रारंभिक प्रकटीकरण होता है। इस भूमिका में यथार्थ सम्यक् दर्शन प्रकट नहीं होता, केवल सम्यक् दर्शन की भूमि पर

१—नेमविजय—शीलवतीनो रास—पृ० २७२

पहुँचानेवाले सद्गुणों की कुछ कुछ प्राप्ति होने लगती है। इस स्थिति में मिथ्यात्व भी विद्यमान रहता है किंतु मोक्षमार्ग के प्रदर्शन करनेवाले कतिपय गुणों का आभास मिलने लगता है इसलिए इसे मिथ्यात्वगुणस्थान कहा गया है। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' में युद्ध से वितृष्णा और नेमिनाथ रास में विवाह के समय भोज्य पशुओं का करुणक्रंदन सुनकर वैराग्य इसका प्रमाण है।

सासादनगुणस्थान दूसरा सोपान माना जाता है। इस स्थान पर पहुँचने पर क्रोधादि कषायों के वेग के कारण सम्यक् दर्शन से गिरने की संभावना बनी रहती है। प्रमाण के लिए कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास बितानेवाले आचार हीन जैनमुनि का जीवन देखा जा सकता है।

मिश्रगुणस्थान यह तीसरा सोपान है। इस स्थिति में सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व का मिश्रण पाया जाता है। इस स्थिति में पहुँचानेवाला साधक डोलायमान स्थिति में पड़ा रहता है। कभी तो वह मिथ्यात्व की ओर झुकता है और कभी सम्यक्त्व की ओर साधक की यह स्थिति साधना के क्षेत्र में सबसे अधिक महत्वमय मानी जाती है। इस स्थिति में उसकी चित्तवृत्ति कभी विकासोन्मुखी कभी कभी पतनोन्मुखी बनी रहती है। इस गुणस्थान में डोलायमान अवस्था अल्पकाल तक ही बनी रहती है। इस स्थिति में अनंतानुबंधी कषाय न होने के कारण यह उपर्युक्त दोनों गुणस्थानों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है।

चौथे सोपान का नाम अविरतिसम्यक् दृष्टि है। यह गुणस्थान आत्मविकास की मूल आधारभूमि माना जाता है। यहाँ मिथ्या दृष्टि और सम्यक् दृष्टि का अंतर समझना आवश्यक है। मिथ्यादृष्टि में स्वार्थ एवं प्रतिशोध की भावना प्रबल रहती है किंतु सम्यक्दृष्टि में साधक सबकी आत्मा को समान समझता है। मिथ्या दृष्टिवाला व्यक्ति पाप मार्ग को अपावन न समझकर "इसमें क्या है?" ऐसी स्वाभाविकता से ग्रहण करता है किंतु सम्यक् दृष्टिवाला व्यक्ति परहित साधन में अपना समस्त समर्पण करने को तैयार रहता है।

पाँचवाँ सोपान देशविरति नाम से प्रख्यात है। सम्यक् दृष्टि पूर्वक गृहस्थ धर्म के नियमों के यथोचित पालन की स्थिति देशविरति कहलाती है। इसमें सम्यक् विराग नहीं अपितु अंशतः विराग अपेक्षणीय है। अर्थात् गार्हस्थ्य

जीवन के विधि विधानों का नियमित पालन देशविरति अथवा मर्यादित विरति कहलाता है।

प्रमत्तगुण स्थान नामक छठा सोपान साधु जीवन की भूमिका है। यहाँ सर्व विरति होने पर भी प्रमाद की संभावना बनी रहती है। विरक्त व्यक्ति में भी कभी कभी कर्तव्य कार्य की उपेक्षा देखी जाती है। इसका कारण प्रमाद माना जाता है। प्रमाद नामक कषाय दसवें सोपान तक किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है किंतु सातवें गुणस्थान के उपरांत उसकी शक्ति इतनी क्षीण हो जाती है कि वह साधक पर आक्रमण करने में असमर्थ हो जाता है। किंतु छठे स्थान में कर्त्तव्य कर्म के प्रति आलस्य के कारण अनादर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण प्रमत्त गुणस्थान कहा जाता है।

सातवाँ सोपान अप्रमत्त गुणस्थान है। कर्त्तव्य के प्रति सदा उत्साह रखनेवाले जागरूक व्यक्ति की यह अवस्था मानी जाती है।

आठवाँ सोपान अपूर्वकरण कहलाता है। इस स्थिति में पहुँचनेवाला साधक या तो चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम करता है अथवा क्षय। उपशम का अर्थ है दमन कर देना और क्षय का अर्थ है क्रमशः क्षीण करते हुए विलुप्त कर देना।

अनिवृत्ति करण नवाँ सोपान है। आत्मिक भाव की निर्मलता का यह स्थल आठवें स्थल से उच्चतर है। यहाँ पहुँचा हुआ साधक आगामी सोपानों पर चढ़ने में प्रायः समर्थ होता है।

सूक्ष्मसंपराय नामक दसवाँ सोपान साधक के अन्य कषायों को मिटा देता है किंतु एक मात्र लोभ का सूक्ष्म अंश अवशिष्ट रहता है। संपराय का अर्थ है कषाय। यहाँ कषाय का अभिप्राय केवल लोभ समझना चाहिए। इस स्थिति में लोभ के अतिरिक्त सभी कषाय सपरिवार या तो उपशांत हो जाते हैं, अथवा क्षीण।

उपशांत मोह नामक एकादश सोपान है। इस स्थिति में साधक कषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय नहीं कर पाता केवल उपशम ही कर सकता है। संपूर्ण मोह का उपशमन होने से इसे उपशांत मोह गुणस्थान कहा जाता है।

इसके उपरांत क्षीण मोह की स्थिति आती है। यह बारहवाँ सोपान साधक को केवल ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ होता है। इस गुणस्थान में

आत्मा संपूर्ण मोहावरण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अंतराय चक्र का विध्वंस कर देती है।

एकादश और द्वादश सोपान के अंतर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पानी के द्वारा अग्नि शांत कर देने का नाम क्षय है और राख से उसे ढक देने का नाम उपशम है। उपशमन की हुई अग्नि के पुनः उद्दीप्त होने की संभावना बनी रहती है किंतु जल-निमग्न अग्नि सर्वथा शांत हो जाती है। इसी प्रकार उपशांत मोह का साधक पुनः कषाय का शिकार बन सकता है। किंतु क्षीण मोह की स्थिति में साधक कषाय से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

संयोग-केवली नामक तेरहवाँ सोपान है। देहादि की क्रिया की विद्यमानता में साधक संयोगकेवली कहलाता है। केवल ज्ञान होने के उपरांत भी शरीर के अवयव अपने स्वाभाविक व्यापार से विरत नहीं होते। इसी कारण केवल ज्ञान प्राप्त करनेवाले ऐसे साधक को संयोगकेवली कहते हैं।

अयोगिकेवली साधना की सर्वोच्च अवस्था है। इस अवस्था में देह के समस्त व्यापार शिथिल ही नहीं समाप्त हो जाते हैं। साधक परमात्म-ज्योतिः स्वरूप परम कैवल्य धाम को प्राप्त कर लेता है।

कतिपय रासों में साधु-साध्वी श्रावकादि सभी प्रकार के व्यक्तियों के उपयुक्त आचार-विचार की व्याख्या मिलती है पर कई ऐसे भी रास हैं जिनमें केवल श्रावक धर्म या केवल मुनि-आचरण का विवरण मिलता है।

गुणाकर सूरि कृत 'श्रावकविधिरास' संवत् १३७१ वि० की रचना में श्रावक धर्म का विधिवत् विवेचन मिलता है। इस रास में प्रातःकाल उठने का आदेश देते हुए रासकार कहते हैं—

'तिहिं नर आह न ओह जिहिं सूता रवि ऊगाइ ए'[१]। 'जिस श्रावक की शयनावस्था में सूर्योदय हो गया उसे न इस जीवन में सुख है और न उस जीवन में!' इसी प्रकार प्रातःकाल के जागरण से लेकर रात्रि शयन तक के श्रावक धर्म का ५० पदों में विवेचन मिलता है। सभी जातियों के सामान्य धर्म का व्याख्यान रासकार का उद्देश्य है। वह लिखते हैं—

१—गुणाकर सूरि श्रावक विधि रास, छंद ४

लोहकार सानार ढंढार, भाडभुंज अनइ कुंभार।

× × ×

खंडण पीसण दलण जु कीजइ, वणजीविया कंमसु कहीजइ।

× × ×

कूव सरोवर वावि खणंते अन्नुवि डड्डइ कम्म करंते।
सिला कुट्ट कम्म हल एडण फमेडि बक्कनि भूमिह फोडण।
दंत केस नह रोमइ चम्मइ, संख कवड्डइ पोसय सुम्मइ।
सोनर सावय धम्म विसाहइ[1] ॥

तात्पर्य यह है कि जीविका के लिए किसी भी व्यवसाय में तल्लीन श्रावक यदि पर-पीड़ा-निवारण के लिए सन्नद्ध रहता है तो वह पापकर्म से मुक्त है वही सुजन है—

जेव पीडा परिहरइ सुजाण।

इसी प्रकार व्यवहार में सरलता प्रत्येक श्रावक का धर्म है—

जाणवि सूधउ करिव ववहारू।

कुत्ता, बिल्ली, मोर, तोता-मैना आदि पशु-पक्षियों को बंधन में रखना भी श्रावक धर्म के विरुद्ध बताया गया है। इस प्रकार न्यायपूर्वक अर्जित धन का चतुर्थांश धर्म में, शेष अपने व्यवहार में व्यय करने की शिक्षा रासकार ने मधुर शब्दों में दी है। संपूर्ण दिन अपने व्यवसाय में बिताकर रात्रि का प्रथम प्रहर धर्म चर्चा में व्यतीत करना श्रावक का कर्त्तव्य है—

रयणिहि बीतइ पढम पहरि नवकार भणेविण।
अरिहंत सिद्ध सुसाध धम्म सरणाइ पइसेविण[2] ॥

यदि कुगुरु से कोसों दूर रहने की शिक्षा दी जाती है तो सद्गुरु की नित्य वंदना का भी उपदेश है—

'नितु नितु सहगुरु पाय वंदिजए, संभलउ साविया सीख तुम दिजए।' कुम्हार, लोहार, सोनार आदि अशिक्षित वर्ग के वे श्रावकजन जिन्हें

१—गुणाकर सूरि-श्रावक विधि रास, छंद २६।
२— ” ” छंद ३२-४२

धर्म के गूढ़ सिद्धांतों के अध्ययन का कभी अवसर नहीं मिलता श्रावक धर्म के सामान्य विचारों को रासगायकों के मुख से श्रवण कर जीवन को सफल बनाने की प्रेरणा पाते रहे हैं। रासकार कवियों और रास के अभिनेता एवं गायक समाज को सुव्यवस्थित एवं धर्मपरायण बनाने में इस प्रकार महत् योगदान देते चले आ रहे हैं। इन्हीं के प्रयास से भारतीय जनता आपत्तिकाल में भी अपने कर्त्तव्य से विचलित न होने पायी। रास काव्य की यह बड़ी महिमा है।

पौराणिक आख्यान पर आद्धृत रासों में जैन दर्शन

रासकर्त्ता जैन कवियों ने कतिपय हिंदू पौराणिक गाथाओं का अवलंबन लेकर रासों की रचना की है। उदाहरण के लिए नल-दवदंती रास, पंच पांडव चरित रास, हरिश्चंद्रराजानुरास आदि।

उक्त रासों में पौराणिक गाथाएँ कहीं कहीं परवर्तित रूप में पाई जाती हैं। यद्यपि मूलभित्ति पुराणों में प्रचलित आख्यान ही होते हैं किंतु घटना-क्रम के विकास में जहाँ भी जैन दर्शन के विवेचन एवं विश्लेषण का कवि को अवकाश मिला है वहीं वह दार्शनिकता का पुट देने के लिए घटना को नया मोड़ देकर उसमें स्वरचित लघु (प्रकरी) घटनाएँ सम्मिश्रित करता हुआ पुनः मूल घटना की ओर आ जाता है। इस प्रकार अति प्रचलित पौराणिक घटनाओं के माध्यम से रासकार अपने पाठकों और प्रेक्षकों के हृदय पर अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि सद्‌गुणों का प्रभाव डालने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए 'नल दवदंती' रास लीजिए। इस रास में कवि ने मूल कथा के स्वरूप को तो अविकृत ही रखा है किंतु उसमें एक नई घटना इस प्रकार सम्मिश्रित कर दी है—

एक बार सागरपुर के मम्मण राजा अपनी राजमहिषी वीरमती के साथ आखेट करते हुए नगर से दूर एक निर्जन स्थान में पहुँच गया। वहाँ उसे एक ऋषि तीर्थाटन करते हुए दिखाई पड़े। राजा ने अकारण ही उस ऋषि की भर्त्सना की, किंतु उदारचेता ऋषि ने अपने मन में किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य न आने दिया। इसका राजा पर बड़ा-प्रभाव पड़ा और राजा ने ऋषि से क्षमा याचना के साथ साथ उपदेश की याचना की।

रासकार को जैन दर्शन के विश्लेषण का यहाँ सुंदर अवसर मिल गया और उस मुनि के माध्यम से उन्होंने राजा को इस प्रकार उपदेश दिलाया—१

सुपात्रिइ दान दीजीइ, गृही तणु धरम ।
यती व्रती नवि साचवइ, ये जाणेवु अधर्म ॥
चुमासु मुनि राषीया, श्राद्धधर्म कहिउ तेह ।
समकित शुद्ध प्रतिपालइ, बार व्रत छइ जेह ॥

इसी प्रकार 'पंचपांडवचरितरास' में पांडवों की मूल कथा का अवलंब लेकर रासकर्ता ने जैन धर्म के अनुरूप यत्र तत्र प्रकरी के रूप में लघु कथाओं को समन्वित कर दिया है। इस रास की प्रथम ठवनि में जह्नु कन्या गंगा का शांतनु के साथ विवाह दिखलाया गया है। शांतनु को इसमें जीव-हिंसक ऐसे आखेटक के रूप में प्रदर्शित किया गया है कि उसकी हिंसक प्रवृत्ति से वितृष्णा होने के कारण गंगा को अपने गांगेय के साथ पितृगृह में २४ वर्ष बिताना पड़ा। इस स्थल पर रासकार को अहिंसा के दोषप्रदर्शन का सुंदर अवसर प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार ठवनि आठ में जैन सिद्धांत के अनुसार भाग्यवाद का विवेचन किया गया है। वारणावत नगर में लाक्षागृह के भस्म होने और विदुर के संकेत द्वारा कुंती एवं द्रौपदी सहित पांडवों के सुरंग से निकल जाने के उपरांत रासकार को जैन दर्शन के भाग्य-वाद सिद्धांत के विश्लेषण का सुअवसर प्राप्त हो गया है। ठवनि १५ में नेममुनि के उपदेश से पांडवों के जैन धर्म स्वीकार की कथा रासकार की कल्पना है जो हिंदू पुराणों में अनुपलब्ध है। इस रास के अनुसार पांडव जैन धर्म में दीक्षित हो मुनि बन जाते हैं और जैनाचार्य धर्मघोष उन्हें पूर्व जन्म की कथा सुनाते हुए कहते हैं कि वे पूर्व जन्म में सुरति, शंतनु, देव, सुमति और सुभद्र नाम से विद्यमान थे।

राजा हरिश्चंद्र का कथानक काव्य और नाटक के अति उपयुक्त माना जाता है। इसी पुण्यश्लोक महाराज के पुराण-प्रचलित कथानक को लेकर जैन कवि कनक सुंदर ने श्री 'हरिश्चंद्र राजानु रास' विरचित किया। इसमें राजा हरिश्चंद्र का सत्य की रक्षा के लिए चांडाल के घर बिकना, महारानी शैव्या का अपने मृतक पुत्र का शव लेकर श्मशान पर आना, पुत्र का नाम ले लेकर माता का विलाप करना, राजा का रानी से कर के रूप में कफन माँगना आदि बड़े ही मार्मिक शब्दों में दिखलाया गया है। अंत में एक जैन मुनिवर उपस्थित होकर हरिश्चंद्र और शैव्या को उनके पूर्व जन्म की घटना सुनाकर दुख का कारण समझाते हैं। उद्धरण के लिए देखिए—

१—महीराज कृत—नल दवदंती रास पृष्ठ ६

साधु कहे निज जीवने सँभल मन वीर।
भोगव पूर्व भमे किया ए दुख जंजीर॥
करम कमाई आपनी छूटे नहिं कोय।
सुर नरकर में विडंबिवा चीत बीचरी जोय॥
करम कमाई प्रमाण ते केहनो नहिं दोष।

मुनिवर के इस आश्वस्त वचन को सुनकर—

'पाय लगी प्रणिपत्य करे हूँ पापी दुष्ट'
× + ×
'समकीत व्रत बेहु आदरे भागो मिथ्यात्व'

राजा हरिश्चंद्र के ऊपर मुनि के उपदेश का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अपने पुत्र को राज्य समर्पित कर धन का दान देकर चारित्रव्रत ले लिया। कवि अंत में कहता है—

'बड़ो रे वैरागी हरिश्चंद्र वन्दिए धन धन करणी रे तास
सत्यवन्त संजमधारी निर्मलु चारित्र पवित्र प्रकाश
पंचमहाव्रत सुध आदरे थयो साधु निर्ग्रंथ'

इस प्रकार पौराणिक कथानकों के आधार पर जैनधर्म के सिद्धांतोंकी ओर पाठक का मन प्रेरित करना रासकारों का उद्देश्य रहा है।

हम पूर्व कह आए हैं कि राम और कृष्ण की पौराणिक आख्यायिकाओं, रामायण और महाभारत की कथाओं का अवलंबन लेकर जैन रासकारों ने अनेक काव्यों की रचना की है। ऐसे रास ग्रंथों में 'रामयशोरसायन रास' प्रसिद्ध माना जाता है, जिसका गान आज तक धार्मिक जनता में पाया जाता है। जैन और वैष्णव दोनों धर्मों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने वाला यह रास साहित्य का शृंगार है। इसमें 'राम' नाम की महिमा के विषय में एक स्थान पर मिलता है कि जब 'रा' का उच्चारण करने के लिए मुख खुलता है तो पाप का भंडार शरीर के बाहर मुख के मार्ग से निकल जाता है और 'म' का उच्चारण करते ही जब मुख बंद होता है तो पाप को पुनः शरीर में प्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता। इस रास की १२ वीं ढाल में अयोध्या के राजाओं का नामोल्लेख किया गया है किंतु यह

केशराज मुनि—आनंद काव्य महोदधि, पृ० ५६

वर्णन संभवतः किसी जैन पुराण से लिया गया है। इसमें आदीश्वर स्वामी, भरतेश्वर बाहुबलि आदि का वर्णन मिलता है। इस 'ढाल' में राजाओं के संयमव्रत का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

समता रस साथे चित्तधरी, राय वरी तवसंजम श्री ॥
ऐ बारस भी ढाल अनूप, संयम व्रत पाले भल भूप।
केशराज ऋषिराज बखाण, कर्ता थाए जनम प्रमाण ॥

काव्य के मध्य में स्थान स्थान पर चरित्र - निर्माण के लिए उपदेश मिलता है। २८ वीं ढाल में कथा के अंत में कवि पतिव्रता नारी का वर्णन करते हुए कहता है—

पतिव्रता व्रत सा चवी पतिसुं प्रेम अपार।
ते सुंदरी संसार में दीसे छै दो चार ॥
खावे पीवे पहिरवे करिवे भोग विलास।
सुन्दर नो मन साथ वो जब लग पूरे आस ॥
सुख में आवे आसनी दुःख में अलगी जाय।
स्वारथणी सा सुन्दरी सखरियाँ में नगिणाय ॥

ढाल के प्रारंभ में टेक भी प्रायः उपदेशप्रद है। जैसे ३० वीं ढाल के आरंभ में है—

धन धन शीलवन्त नर-नारी।
रे भाई सेवो साधु सयाणा हेतु जुगति भला भाव बतावे
तारे जीव अयाणा रे भाई, सेवो साधु...

रामकथा के मध्य में तुलसी के समान ही स्थान स्थान पर इस रास में सूक्तियाँ और उपदेश मिलते हैं। एक स्थान पर देखिए—

पर उपदेशी जग घणो आप न समझे कोय।
राम मदे मोहि रहा ताम कहे सुर सोय ॥
डूंगर बल तो देखिये पग तलि नवि पेखन्त।
छिद्र पराया पेखिये पोते नवि देखन्त ॥[1]

अंत में राम की स्तुति नितांत वैष्णव स्तुति के समान प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए देखिए—

१—केशराज मुनि—आनंद काव्य महोदधि, ढाल ६० पृ० ३६०

धन प्रभु रामजु धन परिणाम जु
पृथ्वीमाहि प्रशंसवे धन तुझ मातु जो
धन तुझ तात जो धन तेरा कुल वंश बे ॥
मुनि सुव्रत ने तीरथ वरते सुव्रत जु गण धार बे ।
अरह दास बताबियो सतगुरु भव जल तारण हार बे॥[1]

प्रशस्ति से पूर्व इस रास का अंत इस प्रकार है कि राम को केवली ज्ञान हो जाता है और वे भक्तों का कल्याण करने में समर्थ होते हैं। अंत में ऋषीश्वर बनकर जरा-मृत्यु से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करते हैं।[2]

पौराणिक कथानक को लेकर एक प्रसिद्ध रास 'देवकी जीना षट्पुत्रनो' मिलता है। इसमें देवकी के छः पुत्रों की पूर्वकथा का वर्णन किया गया है।

हनुमान की माता अंजना का कथानक लेकर 'अंजना सतीनुरास' की रचना की गई है। यह कुल १० लघु ढालों में विरचित है और संभवतः अभिनय की दृष्टि से लिखा गया है। इसमें हनुमान जन्म की कथा इस प्रकार है—

प्राक्रम पूर्ण प्रकटियो कपि के लाखण माम ।
दुति शशि सम दीपतो थयो बजरंगी नाम ॥[3]

हनुमान के प्रति जैनमुनि की इतनी श्रद्धा वैष्णव और जैन धर्म को समीप लाने में बड़ी ही सहायक हुई होगी।

नायिका प्रधान अनेक रासों की उपलब्धि भी खोज करने पर हो सकती है। मुनिराज श्री चतुर्विजय द्वारा संपादित 'लींबड़ी जैन ज्ञान भंडारनी हस्तलिखित प्रतिओनुं सूचीपत्र' में निम्नांकित रास ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—

१— " " "

२— पचीसहि बरसां लगि पालो प्रभु केवल पर्याय ।
भविक जनाना काज समन्या मिथ्या मति मेटाय ॥
पन्द्रह हजार बरसनों आयो पूरोहि प्रतिपाल ।
राम ऋषिश्वर मोक्ष सिधाया जन्म जरा भयटार ॥
नमों नमों श्रीराम ऋषीश्वर अचर अमर कहिवाय ।
तीन लोक ने माथे बैठा सासता सुख लहाय ॥

३—पृ० ३१ ढाल ११ अंजनास तीनु रास

अंजना सुंदरी रास, कमलावती रास, चन्द्रलेखा रास, द्रौपदीरास, मलयसुंदरीरास, शील वतीनो रास, लीलावती रास, सुरसुंदरी चतुष्पदी रास। इन रासों में द्रौपदी रास पौराणिक कथानक के आधार पर विरचित है जिसके माध्यम से जैनधर्म के सिद्धांतों का निरुपण करना कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है। इससे प्रमाणित होता है कि जैन मुनियों ने अपनी दृष्टि व्यापक रखी और उन्होंने वैष्णव और जैनधर्म को समीप लाने का प्रयास किया।

कतिपय जैन रास ऐसे भी उपलब्ध है जिनमें कथा-वस्तु का सर्वथा अभाव पाया जाता है। ये रास केवल धार्मिक सिद्धांतों के विवेचन के निमित्त विरचित हुए जिनमें रासकार का उद्देश्य जैन-मत की मूल मान्यताओं को गेयपदों के द्वारा जनसामान्य को हृदयंगम कराना प्रतीत होता है। ऐसे रासों में 'उपदेश रसायन रास', ('सतद्वेत्रिय रास' 'द्रव्य गुण पर्यायनु रास') 'कर्म विपाकनो रास' 'कर्म रेख अनेभावनी रास' 'गुणावली रास' 'मोह विवेकनो रास' 'हित शिक्षारास' आदि प्रसिद्ध हैं। उपदेश रसायन रास का उद्देश्य बताते हुए वृत्तकार लिखते हैं—"कुगुरु-सुपथ-कुपथ-विवेचकं लोक प्रवाह-चैत्य-विधि-निरोधकं विधि चैत्य-विधि धर्म स्वरूपाव बोधकं श्रावक श्राविकाऽऽदिशिक्षाप्रदं धर्मोपदेशपरं द्वादशशताब्द्या उत्तरार्धं प्रणीतं संभाव्यते।"

इससे प्रमाणित होता है कि जिनिदत्त सूरि का उद्देश्य गेयपदों में जैन धर्मतत्त्व विवेचन है। इस रास में भगवान् महावीर के आचार - विचार संबंधी वचनों को जानना आवश्यक बतलाया गया है। साधक के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल का ज्ञान अनिवार्य माना गया है। और उस ज्ञान के अनुकूल आचरण भी धर्म का अंग बतलाया गया है। जिनिदत्त सूरि एक स्थान पर कहते हैं जो ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को जानता है वह ईर्ष्या नहीं करता। इसके विपरीत प्रतिनिविष्ठ चित्तवाला व्यक्ति जब तक जीवित रहता है ईर्ष्या नहीं छोड़ता।

परस्पर स्नेह भाव की शिक्षा देते हुए रासकार कहते हैं—"जो धार्मिक धन सहित अपने बंधु बांधवों का ही भक्त रहकर अन्य सद्दृष्टि प्रधान श्रावकों से विरक्त रहता है वह उपयुक्त कार्य नहीं करता क्योंकि जैन शासन में प्रतिपन्न व्यक्ति को परस्पर स्नेह भाव से रहना उचित है।"[१] धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश देते हुए मुनि जिनिदत्त सूरि कहते हैं कि भिन्न धर्मावलंबियों को भी

१—जिनिदत्त सूरि—उपदेश रसायन रास, छंद २१

प्रयत्न पूर्वक भोजन वस्त्र आदि देकर संतुष्ट करना चाहिए। दुष्ट वचन बोलने वालों पर भी रोष करना अनुचित है और उनके साथ विवाद में न पड़कर क्षमाशील होना ही उचित है।[1]

इसी प्रकार 'सप्त क्षेत्रिय रास' में जिनवर कथित ९ तत्त्वों पर सम्यकत्व के लिए बड़ा बल दिया गया है। वे नौ तत्त्व हैं १—अहिंसा २, सत्य ३, अस्तेय, ४, शील, ५, अपरिग्रह, ६, दिक्प्रमाण, ७, भोगउपभोगव्रत ८, अनर्थदंड का त्याग, ९, सामयक व्रत।

प्राणातिपातव्रतु पहिलउँ होई बीजउ सत्यवचनु जीव जोई।
त्रीजइ व्रति परधनपरिहारो चउथइ शीलतणउ सचारो॥
परिग्रहतणउँ प्रमाणु व्रतु पाचमइ कीजइ।
इणपरि भवइ समुद्दो जीव निश्चय तरीजई॥
छट्ठउँ व्रतु दिसितणउ प्रमाणु भोगुवभोगव्रत सातमइ जाणु।
अनरथ व्रत-दंड आठमउँ होइ नवमउँ व्रत सामायकु तोइ॥

द्रव्यगुण पर्यायनो रास

उत्तराध्ययन नामक दार्शनिक ग्रंथ में जैन धर्म संबंधी प्रायः सभी तथ्यों का विवरण पाया जाता है। 'द्रव्य गुण पर्यायनों रास' में उक्त दर्शन ग्रंथ के सूक्ष्म विवेचन को रास के गेय पदों के माध्यम से समझाने का प्रयास पाया जाता है। यह संसार जड़ और चेतन का समवाय है। जैन दर्शनों में ये दोनों जीव और अजीव के नाम से प्रख्यात हैं। जीव की व्याख्या आगे चलकर पृथक् रूप से विस्तार के साथ की जायगी। अजीव के ५ भेद किये जाते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल का शास्त्रीय नाम देने के लिए इनमें प्रत्येक के साथ अस्तिकाय जोड़ दिया जाता है जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल।[1] रासकार इनका उल्लेख 'द्रव्यगुण पर्यायनो रास' में इस प्रकार करता है।

धर्म अधर्म ह गगन समय वली,
पुद्गल जीव ज एह।
षट् द्रव्य कहियाँ रे श्री जिनशासनी,
जास न आदि न छेह॥[2]

१—जिनदत्त सूरि—उपदेश रसायन रास, छंद सं० ७९।
२—यशोविजय गणि विरचित 'द्रव्य गुण पर्यायनो रास' पृष्ठ १०४ छंद १६३

धर्म वह पदार्थ कहलाता है जो गमन करनेवाले प्राणियों को तथा गति करनेवाली जड़ वस्तुओं को उनकी गति में सहायता पहुँचाये। जिस प्रकार पानी मछलियों को तैरने में सहायता पहुँचाता है, जिस प्रकार अवकाश प्राप्त करने में आकाश सहायक माना जाता है उसी प्रकार गति में सहायक धर्म तत्त्व माना जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—"स्थले झषक्रिया व्याकुलतया चेष्टाहेत्विच्छाभावादेव न भवति, न तु जलाभावादिति गत्यपेक्षाकारणे माना-भावः।" इति चेत्-रासकार इसी सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

गति परिणामे रे पुद्गल जीवनइं
झष नइं जल जिम होइ।
तास अपेक्षा रे कारण लोकमां,
धरम द्रव्य गइं रे सोय ॥[2]

जैन शास्त्रों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि जब मनुष्य के संपूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वह मुक्त बनकर ऊर्ध्व गमन करता है। जिस प्रकार मिट्टी से आच्छादित तूँबा जल के वेग से मिट्टी धुल जाने पर नीचे से ऊपर स्वतः आ जाता है, उसी प्रकार कर्म रूपी मल से आच्छादित यह आत्मा मैल निवारण होते ही स्वभावतः मुक्त होकर ऊर्ध्वगामी होता है।

धर्मास्तिकाय के द्वारा वह मुक्त आत्मा गतिशील जगत् के अग्र भाग तक पहुँच जाता है। अधर्मास्तिकाय अब उसको लोक से ऊपर ले जा सकता है। अधर्मास्तिकाय की गति भी एक सीमा तक होती है। उस सीमा के ऊपर पुद्गल माना जाता है। पुद्गल का अर्थ है पुद् और गल। पुद् का अर्थ है संश्लेष (मिलन) और गल का अर्थ है विश्लेष (बिछुड़न)। प्रत्येक शरीर में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। अणुसंघातरूप प्रत्येक छोटे बड़े पदार्थ में परमाणुओं का ह्रास विकास हुआ करता है। एक परमाणु दूसरे से संयुक्त अथवा वियुक्त होता रहता है। इसी कारण पुद्गल का मूल तत्त्व परमाणु माना जाता है। शब्द, प्रकाश, धूप, छाया, अंधकार पुद्गल के अंतर्गत हैं। मुक्त जीव पुद्गल

१—काल अस्तिकाय नहीं कहलाता क्योंकि अतीत विनष्ट हो गया भविष्य असत् है केवल वर्तमान क्षण ही सद्भूत काल है। अतः काल क्षणमात्रा का होने से अस्तिकाय नहीं है।

२—यशोविजयगणि-द्रव्यगुण पर्यायनो रास, छंद संख्या १६४

की सीमा को भी पार करता है। अब वह काल के क्षेत्र में प्रवेश करता है। बालक का युवा होना, युवक का वृद्ध होना और वृद्ध का मृत्यु को प्राप्त करना काल की महिमा से होता है। रूपांतर, वर्तन परिवर्तन और नाना प्रकार के परिणाम काल पर ही अवलंबित रहते हैं। मुक्त प्राणी पुद्गल के उपरांत इस काल क्षेत्र को भी उत्तीर्ण कर उच्चप्रदेश में प्रविष्ट होता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अजीव पदार्थ माने जाते हैं। मुक्त जीव इन चारों के बंधन से छूटकर परम सूक्ष्म अविभाज्य सबसे अंतिम प्रदेश में प्रविष्ट होता है। 'द्रव्यगुणपर्यायनोरास' में इसका सम्यक् विवेचन मिलता है।

आत्मा

जैन शास्त्रों के अनुसार आत्मा में राग-द्वेष का परिणाम अनादि काल से चला आ रहा है। जिस प्रकार मलीन दर्पण मलविहीन होने पर निर्मल एवं उज्ज्वल होकर चमकने लगता है उसी प्रकार कर्म मल से आच्छादित आत्मा निर्विकार एवं विशुद्ध होने पर प्रकाशमान हो उठती है। आत्मा और कर्म का संबंध कराने वाला कारण आस्रव कहलाता है। जिन प्रवृत्तियों से कर्म के पुद्गल आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं वे प्रवृत्तियाँ आस्रव कहलाती हैं अर्थात् ऐसा कार्य जिससे आत्मा कर्मों से आबद्ध हो जाय आस्रव कहलाता है। कार्य के तीन साधन-मन, वचन और शरीर हैं। मन दुष्ट चिंतन अथवा शुभ चिंतन करता रहता है। वाणी दुष्ट भाषण अथवा शुभ भाषण में तल्लीन रहती है और शरीर असत्य, हिंसा, स्तेय आदि दुष्कर्मों तथा जीव रक्षा, ईश्वर-पूजन, दान आदि सत्कार्यों में व्यस्त रहता है। इस प्रकार कर्म और आत्मा का नीर-क्षीर के समान संबंध हो गया है। इसी संबंध का नाम बंध भी है। इन दोनों को पृथक् करने के लिए हंस के समान विवेक बुद्धि की आवश्यकता होती है। आत्मा रूपी शुद्ध जल से जब राग द्वेष रूपी कल्मष पृथक् कर लिया जाता है तो शुद्ध स्वरूप आत्मा प्रोद्भासित हो उठता है। उस पर आवरण डालने वाले कर्म आठ प्रकार के माने जाते हैं। ज्ञानावरण कर्म आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवृत करता है और दर्शनावरण दर्शन शक्ति को। सुख दुख का अनुभव कराने वाले वेदनीय कर्म कहलाते हैं और स्त्री-पुत्र आदि में मोह उत्पन्न कराने वाले मोहनीय कर्म कहलाते हैं। आयुष्य कर्म चार प्रकार के हैं—देवता का आयुष्य, मनुष्य का आयुष्य, तिर्यंच का आयुष्य और नारकीय जीवों का आयुष्य।

नामकर्म के अनेक प्रकार हैं। जिस प्रकार चित्रकार विविध चित्रों की रचना करता है उसी प्रकार नाम-कर्म नाना प्रकार के देहाकार और रूपाकार की रचना करते हैं। शुभ नामकर्म से बलिष्ठ और मनोरम कलेवर मिलता है और अशुभ कर्म से दुर्बल और विकृत।

गोत्र कर्म के द्वारा यह जीव उत्कृष्ट और निकृष्ट स्थान में जन्म ग्रहण करता है। अंतराय कर्म सत्कर्मों में विघ्न उपस्थित करते हैं। विविध प्रकार से प्रयास करने पर और बुद्धि का पूरा उपयोग करने पर भी कार्य में असफलता दिलाने वाले ये ही अंतराय कर्म होते हैं। जैन शास्त्र का कहना है कि जिस प्रकार बीज वपन करने पर उसका फल सद्यः नहीं मिलता; समय आने पर ही प्राप्त होता है उसी प्रकार ये आठो प्रकार के कर्म नियत समय आने पर फलदायी होते हैं। यही जैन-धर्म का कर्म सिद्धांत कहलाता है।

संवर

संवर (सम्+वृ) शब्द का अर्थ है रोकना, अटकाना। 'जिस उज्ज्वल आत्म परिणाम से कर्म बँधना रुक जाय, वह उज्ज्वल परिणाम संवर है।' जैसे जैसे आत्म-दशा उन्नत होती जाती है वैसे वैसे कर्म बंध कम होते जाते हैं। आस्रव का निरोध जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे गुणस्थान की भूमिका भी उन्नत से उन्नततर होती जाती है। जिस समय साधक की आत्मा उक्त आठ प्रकार के कर्मों के मलदोष से शुद्ध हो जाती है उस समय वह शुद्धात्मा बन जाती है।

रास के द्वारा अध्यात्म जीवन की शिक्षा जनसामान्य को हृदयंगम कराना रासकार कवियों एवं महात्माओं का लक्ष्य रहा है। अध्यात्म जीवन का

आत्मा परमात्मा

तात्पर्य है आत्मा के शुद्ध स्वरूप को लक्ष्य में रखकर तदनुसार जीवन यापन करना। और उस पावन जीवन के द्वारा अंत में केवल ज्ञान तथा मोक्ष की उपलब्धि करना। इस प्रकार अध्यात्म तत्त्व के परिचय एवं उपयोग से संसार के बंधन से मुक्त होकर जीव मोक्ष प्राप्ति कर लेता है। रासकारों ने काव्य की सरस शैली में जीवन के इसी अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने का सुगम मार्ग बताया है।

वैदिक साहित्य में आत्मा को सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट, स्वयंभू माना गया है।

उसी ने नित्यसिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिए यथायोग्य रीति से अर्थों (कर्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है।

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥'

ईशावास्योपनिषद्–मंत्र ८

उपनिषदों ने आत्मा का स्वरूप समझाने का अनेक प्रकार से प्रयत्न किया है। कहीं कहीं सिद्धांत-निरूपण की तर्क शैली का अनुसरण किया गया है और कहीं कहीं संवाद - शैली का। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य ऋषि आरुणि उद्दालक को आत्मा का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—जो पृथ्वी, जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, दिशा, चंद्रमा, सूर्य, अंधकार, तेज, सर्वभूत, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत, मन, वाणी, ज्ञान, बीज सब में विद्यमान है, पर उसे कोई नहीं जानता। जो सबका अंतर्यामी एवं अमृत तत्त्व है वही आत्मा है। वह आत्मा अदृष्ट का द्रष्टा, अश्रुत का श्रोता, अमत का मंता, अविज्ञात का विज्ञाता है। उसके अतिरिक्त देखने सुनने मनन करने वाला अन्य कोई नहीं।

जैन दर्शन आत्मा का उक्त स्वरूप नहीं मानते। उनके अनुसार प्रत्येक शरीर की भिन्न भिन्न आत्मा उसी शरीर में व्याप्त रहती है। शरीर से बाहर आत्मा का अस्तित्व कहाँ। उनका तर्क है कि जिस वस्तु के गुण जहाँ दृश्यमान हों वहीं उस वस्तु का अस्तित्व है। हेमचंद्राचार्य का कथन है कि 'यत्रैव यो दृष्ट गुणः स तत्र कुंभादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत्' अर्थात् जिस स्थान पर घट का रूप दिखाई पड़ रहा हो उस स्थान से भिन्न स्थान पर उस रूप वाला घट कैसे हो सकता है? आचार्य का मत है कि 'ज्ञान, इच्छा आदि गुणों का अनुभव केवल शरीर में ही होने कारण उन गुणों का अधिष्ठाता आत्मा भी केवल शरीर में ही होना चाहिए।'

जैन दर्शन और आत्मा

१—अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्यामृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम–बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, सप्तम ब्राह्मण।

जहाँ उपनिषद् आत्मा को केवल साक्षी मानते है उसे कर्त्ता और भोक्ता नहीं मानते वहाँ जैन दार्शनिक का कथन है—

'चैतन्यस्वरूपः, परिणामी, कर्ता साक्षाद्भोक्ता, स्वदेह परिमाणः, प्रतिक्षेत्रं भिन्नः, पौद्‌गलिकादृष्टवांश्चाऽयम्[१] ।'

सांख्य जहाँ आत्मा को कमलपत्र की भाँति निर्लेप—परिणाम रहित, क्रिया रहित, बताता है वहाँ जैन दर्शन उसे कर्ता, भोक्ता और परिणामी मानता है। सांख्य, वैशेषिक और न्याय आत्मा को सर्वव्यापी इंगित करते हैं वहाँ जैन दर्शन उसे 'स्वदेह परिमाण' सिद्ध करता है। जैन रासकारों ने जैन दार्शनिक सिद्धांतों का अनुसरण तो किया है पर इन पर बहुत बल नहीं दिया है। जैन रासकारों को 'द्रव्यानुयोग' पर बल न देकर 'चरणकरणानुयोग' को महत्व देना अभीष्ट रहा है। वे लोग श्रावकों, साधु साध्वियों के उत्तम चरित्र का रसमय वर्णन करते हुए श्रोताओं, दर्शकों एवं पाठकों का चरित्र-निर्माण करना चाहते हैं। अतएव धार्मिक विभिन्नता की उपेक्षा करते हुए एकता को ही स्पष्ट किया गया है।

आत्मा सुख दुख का कारण

भगवान् महावीर ने मानव जीवन के सुख-दुख का कारण आत्मा को बताया है। उनका कथन है कि जब आत्मा पवित्र कर्तव्य कार्यों के साथ सहयोग करती है तो मनुष्य सुखी होता है और जब दुष्कर्मों के साथ सहयोग देती है तो मनुष्य दुखी बनता है। उनका कथन है कि आत्मा के नियंत्रण से मनुष्य का विकास होता है।

जैन दार्शनिकों की यह विशेषता है कि वे एक ही पदार्थ का अनेक दृष्टियों से परीक्षण आवश्यक समझते हैं। जहाँ एक स्थल पर आत्मा को देह तक सीमित एवं विनाशी मानते हैं वहाँ दूसरे स्थल 'भगवती सूत्र' में उसे शाश्वत, अमृत, अविकृत एवं सदा स्थायी माना गया है। तीसरे स्थल पर भगवान् महावीर ने आत्मा को नश्वर और अनश्वर दोनों बताया है। एक बार गौतम ने महावीर स्वामी से पूछा—'भगवन्, आत्मा अमर है या मरणशील ?

महावीर बोले—गौतम, आत्मा मर्त्य और अमर्त्य दोनों है।[१] इन दोनों

१—प्रमाणनयतत्वालोक-७, ५६।
२—भागवत शतक ७·४

विरोधी मतों की संगति विठानेवाले आचार्यों का मत है कि चेतना की दृष्टि से आत्मा स्थायी एवं अमर्त्य है क्योंकि अतीत में चेतना थी, वर्तमान में है और भविष्य में भी इसकी स्थिति है। किंतु शरीर की दृष्टि से वह परिवर्तनशील एवं मर्त्य है। बाल्यकाल से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त होनेवाले शरीर के साथ आत्मा भी परिवर्तित होने के कारण वह परिवर्तनशील एवं मर्त्य है। जैनाचार्यों के अनुसार आत्मा का लक्ष्य है जन्ममरण के आवर्त से पार अमरत्व को प्राप्त करना। 'आत्मा को मुक्ति तभी प्राप्त होती है जब वह पूर्णरीति से शुद्ध हो जाती है।'[1]

आधुनिक जैन दार्शनिकों ने विभिन्न आचार्यों के मत की अन्विति करते हुए आत्मा का जो स्वरूप स्थिर किया है वह विभिन्न धर्मों को समीप लाने वाला सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए देखिए—

The form of soul according to jain philosophy can be summed up as 'The soul is an independent, eternal Substance. In the absence of a material and imminent causes it cannot be said to have been originated, One which is not originated cannot bc destroyed. Its main characteristic is knowledge'[2]

जैनधर्म की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि वह सामयिक भाषा के साथ समय के अनुसार नवीन दार्शनिक सिद्धांतों का प्राचीन सिद्धांतों के साथ समन्वय करता चलता है। जब जब समाज में नवीन वातावरण के अनुसार नवीन विचारों की आवश्यकता प्रतीत हुई है तब तब जैन मुनियों ने जीवन के उस नवीन प्रवाह को प्राचीन विचार धारा के साथ संयुक्त कर दिया है। इस संग्रह में १७ वीं शताब्दी तक के रास संमिलित किए गए हैं किंतु रास की धारा आज भी अक्षुण्ण है। जैनधर्म में साधुओं के आचार विचार पर बड़ा बल दिया जाता है। १७ वीं शताब्दी के उपरांत जैन मुनियों के आचार विचार में शैथिल्य आने लगा। स्थानक वासी जैन मुनि परंपरागत आचार विचारों की उपेक्षा करते हुए एक आसन

1—दशवैकालिक ४, १६

२ Muni shri Nagrag ji Jain philosophy and Modern Science. Page 135

पर स्त्री के साथ बैठने लगे। स्त्रियों के निवास स्थान पर रात्रि व्यतीत करने लगे। सरस भोजनों में रस लेने लगे। रात्रि में कक्ष का द्वार बंद करके शयन करने लगे। आवश्यकता से अधिक वस्त्रों का उपयोग होने लगा। नारी रूप को काम दृष्टि से देखने को जैनमुनि लालायित रहने लगे। इन कारणों से मुनिसमाज का चरित्र शैथिल्य देखकर जनता को क्षोभ हो रहा था। श्रावकों ने जैनमुनियों की वंदना भी त्याग दी थी।

ऐसी स्थिति में जैनाचार्यों और जनता के बीच मनोमालिन्य की खाई बढ़ती जा रही थी। जैन मुनि अपनी त्रुटि स्वीकार करने को प्रस्तुत न थे। उधर जनता ने भी स्थानक वासी मुनियों की उपेक्षा ही नहीं अवमानना आरंभ कर दी थी। किसी भी धार्मिक समाज में जब ऐसी अराजकता चरम-सीमा को पहुँचने लगती है तो कोई न कोई तपस्वी सुधारक उत्पन्न होकर अव्यवस्था निवारण के लिए कटिबद्ध हो जाता है। श्वेतांबरों में एक वर्ग का विश्वास है कि इस सुधार का श्रेय भीषण स्वामी को है जिन्होंने जनता की पुकार पर ध्यान देकर स्थानक वासी जैन मुनियों की ओर सबका ध्यान आकर्षित किया और संघ से पृथक् होकर केवल अपने तपोबल से उन्होंने १३ मुनियों को साथ लेकर गाँव गाँव भ्रमण करते हुए चारित्र शैथिल्य के निवारण का प्राणपण से प्रयत्न किया। उन्होंने प्रवचनों और रचनाओं से एक नवीन धार्मिक आंदोलन का संचालन किया जिसका परिणाम मंगलकारी हुआ और जैन समाज में एक नई शक्ति का संचार हो गया।

भीखण स्वामी जन्मजात कवि थे ही उन्होंने संस्कृत प्राकृत और भाषा का अध्ययन भी जमकर किया। परिणाम स्वरूप उनकी काव्य प्रतिभा प्रखर हो उठी और उन्होंने ६१ ग्रंथों की रचना की। उन ग्रंथों में काव्यमय उपदेश की दृष्टि से 'शील की नौ बाड़' 'सुदर्शण सेठ का बाखाण' 'उदाई राजा को बखाण' और 'ब्यावलो' प्रमुख रासान्वयी काव्य हैं। उनके जीवन को आधार मान कर आगे चलकर श्रीजयाचार्य ने 'भिक्षु जस रसायन' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी में की जिनसे सिद्ध होता है कि भीखण स्वामी ने ३८ सहस्र गाथाओं की रचना की थी।[1]

१—बत्तीस अक्षरों के संकलन को एक गाथा गिना जाता है।
आचार्य संत भीखण जी—श्रीचंद रामपुरिया प्रकाशक—हमीरमल पुनमचंद, सुजानगढ़

इस ग्रंथ में ब्रह्मचारी को अपने व्रत की रक्षा के लिए शील की नौ बाड़ बनाने का आदेश है। जिस प्रकार गाँव में गो-समूह से खेत की रक्षा के लिए बाड़ बनाने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रूपी क्षेत्र को गो (इंद्रिय) प्रहार से सुरक्षित रखने के लिए शील की ९ बाड़ बनानी पड़ती है। उदाहरण के लिए देखिए—

शील की नौ बाड़

खेत गाँव ने गौरवें, न रहे न कीधां बाड़।
रहसी तो खेत इण विधे, दोली कीधां बाड़।
पहली बाड़ में इम कह्या, नारि रहे तिहाँ रात।
तिम ठामे रहयो नहीं, रह्याँ व्रत तणी हुवे घात॥

इसी प्रकार शील दुर्ग की रक्षा के लिए रूप-रस, गंध-स्पर्श आदि इंद्रिय सुख से विरत रहना आवश्यक बताया गया है। स्वामीजी कवित्व शैली में तीसरी बाड़ का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अगन कुंड पासे रहे, तो विघले घृतनो कुंभ।
ज्युं नारी संगत पुरुष नों, रहे किसी पर भ्रम॥
पावक गाले लोह ने, जो रहे पावक संग।
ज्युं एकण सिज्या बैसतां, न रहे व्रत स्युं रंग॥

अति अहार की निंदा करते हुए स्वामी कहते हैं—"जैसे हांडी में शक्ति उपरांत अन्न डालने से अन्न के उबाल आने पर हांडी फूट जाती है उसी तरह अधिक आहार से पेट फटने लगता है और विकार, प्रमाद, रोग, निद्रा, आलस और विषय विकार की वृद्धि होकर ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है।[1]" शील की महिमा संत भीखण जी ने मुक्त कंठ से गाई है। उन्होंने षट्दर्शन का सार शील को माना है—

ऐसो शील निधान रे, भवजीवाँ हितकर आदरों।
ते निश्चै जासी निर्वाण रे, देवलोक में सांसो नहीं॥
षट् दर्शण रे माँह रे, शील अधिको बखाणियो।
तप जप ए सहु जाय रे, शील बिना एक पलक में॥[2]

१—संत भीखण जी—शील की नौ बाड़—आठवीं बाड़।

२—आधुनिक कवि ने शील का वर्णन करते हुए कहा है—
'सब धर्मों का एक शील है छिपा खजाना।'
भाषा भाव की दृष्टि से, दोनों की तुलना की जा सकती है।

जब समाज में जैन साधुओं की अवमानना होने लगी और सामान्य जनता धर्म से परांगमुख होने लगी तो इस संत भीखण को सुगुरु और कुगुरु का लक्षण बताकर सुगुरु की सेवा और कुगुरु की उपेक्षा का रहस्य समझाना आवश्यक हो गया। अतः उन्होंने श्रावकों को सावधान करते हुए कहा कि रुपये की परीक्षा आवाज से होती है और साधु की परीक्षा चाल से। जिसकी बुद्धि निर्मल होती है वह रुपये की आवाज से उनकी परख करता है। आगे चलकर एक स्थान पर वे कहते हैं—"खोटा और खरा सिक्का एक झोली में डालकर मूर्ख के हाथ में देने से वह उन्हें पृथक् पृथक् कैसे कर सकता है। ऐसे ही एक देश में रहनेवाले साधु-असाधु की परीक्षा अज्ञानी से नहीं हो सकती।

खोटो नाणो न सांतरो, एकण नोली मांय
ते भोलां रे हाथे दियों जुदो कियो किम जाय

कुगुरु की संगति त्याग का उपदेश देते हुए भीखण जी कहते हैं—सोने की छुरी सुंदर होने पर भी उसे कोई अपने पेट में नहीं खोंपता। इसी प्रकार दुर्गति प्राप्त करानेवाले वेशधारी गुरु का आदर किस प्रकार किया जा सकता है! गुरु भवसागर से पार होने के लिये किया जाता है। पर कुगुरु तो दुर्गति में ले जाता है। जो भ्रष्ट गुरु होते हैं उन्हें तुरंत दूर कर देना चाहिए—

सोना री छुरी चोखी घणी जी पिण पेट न मारे कोय।
ए लौकिक दृष्टांत सां भलोजी तूं हृदय विमासी जोय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग।
ज्यूं गुरु किया तिरवा भणी जी ते ले जासी दुर्गति मांय।
जे आगल टूटल गुरु हुवे त्यां ने ऊभा दीजे छिटकाय॥
चतुर नर छोड़ो कुगुरु संग।

भीखण जी ने गुणरहित कुसाधु के त्याग का उपदेश देते हुए कहा है—लाखों कुंड जल से भरे रहते हैं और सब में चंद्रमा का प्रतिबिंब रहता है। मूर्ख सोचता है कि मैं चंद्रमा को पकड़ लूं परंतु वह तो आकाश में रहता है। जो प्रतिबिंब को चंद्रमा मानता है वह पागल नहीं तो क्या है।

इसी प्रकार गुण रहित केवल वेश मात्र से व्यक्ति को साधु समझने वाला अज्ञानी नहीं तो और, क्या है ?[१]

धार्मिक जीवन में श्रद्धा की आवश्यकता का उल्लेख करते हुए भीखण जी कहते हैं—

सिद्धान्त भणायो अनन्ता जीवने रे,
अनन्ता आगे भणीयो सिधंत रे।
गुरु ने चेलो हुवो सर्व जीवनो रे,
साची सरधा बिण न मिटी भ्रांत रे ॥

इसी प्रकार क्रियाहीन जैनसूत्रवाचक साधु की निंदा करते हुए भीखणजी कहते हैं—जैसे गधे पर बावना चंदन लाद देने पर भी वह केवल भार को ढोने वाला ही रहता है उसी प्रकार क्रिया हीन सूत्र पाठक सम्यक्त्व के बिना मूढ़ और अज्ञानी ही रहता है।

साधु और श्रावक प्रत्येक में श्रद्धा का होना आवश्यक माना गया है। साधु को यदि अपने आचार में श्रद्धा नहीं है और श्रावक में सच्चे साधु के प्रति श्रद्धा नहीं है तो भ्रांति नहीं मिट सकती। बार बार भीखणजी इसकी पुनरावृत्ति करते हुए कहते हैं—[२]

'साचो सरधा विण न मिटी भ्रांत रे।'

उन्होंने 'सुदर्शन सेठ का बखाण' नामक ग्रंथ में श्रद्धा और शील की विधिवत् महिमा गाई है। इस रास का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—सुदर्शन सेठ अपने मित्र मंत्री कपिल के घर जाता है। कपिल की स्त्री कुलटा कपिला सुदर्शन के सौंदर्य पर मोहित हो जाती है और वह अपनी दासी के द्वारा सेठ सुदर्शन को अपने प्रासाद में आमंत्रित करती है। सुदर्शन के सौंदर्य से काम के वशीभूत हो वह बार बार सेठ को धर्मच्युत करने का प्रयास करती रही। पर सेठ मेरु पर्वत के समान सुदृढ़ बना रहा। कवि ने दोनों का वार्तालाप बड़े ही मार्मिक शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है[३]—

कपिला—म्हांरो मिनषज्ञ सारोरे ते मुझे आप सुधारोरे
म्हांरैं आसानै बंछा लागी घणां दिनां तणीरे।

१—आचार्य संत भिखण जी—श्री चंद्र रामपुरिया पृ० २२१
२—सुदर्शन सेठ का बाखाण—ढाल ४, २७-२८
३— „ „ ढाल ५, ६ और १२

मोस्युं लाजमुकोरे ए अवसर मत चुकोरे
मिनषज मारा रोला हो लीजियरे।

सेठ—सेठ कहै किपला भणि तुं तो मूढ़ गिंवार।
पुरष पर्खो नहिं मोभर्णि ते नहि तोनैं खबर लिगार।
इंद्रादिक सुर नर बड़ा नार तंणा हुवा दास।
तीणा मैं पुरुष प्राक्रम हुवै ते उलटी करै अरदास।

कवि ने कुनारी चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ी ही स्पष्ट रीति से इस प्रकार किया है—

भवियंगा चरित्र सुणों नारी तणा,
छोड़ो संसार नों फन्द।
कुसती मैं ओगण घणां, भाष्या श्री जिनराय।
नारि कुड़ कपट नि कोथली ओगणां नों भंडार।
कलह करवा नैं सांतरि भेद पड़ावंण हार।
देहली चढ़ती डिगपड़ै चढ़ ज्यावै डुंगर असमान।
घर में बैठीं डर करै राते जाय मसाण।
देख बिलाइ ओदकै सिंघ नैं सन्मुख जाय।
साप उसीसै दे सोवै उन्दर स्युं भिडकाय।

कुनारी की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए भीखणजी कहते हैं कि वह ऊपर से कोयल और मोर की तरह मीठी बोली बोलती है पर भीतर कुटक के समान विषाक्त रहती है। बंदर के समान अपने पति को गुलाम बना कर नचाती है। वह नाम की तो अबला है पर इस संसार में वह सबसे सबल है—

नाम छै अबला नार नों पण सबलि छै ईण संसार।
सुर नर किनर देवता स्यानैं पिण बस कीया नार॥

नारी को प्रबल शक्ति देने वाले उसके अस्त्रों का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

नैंण बैंण नारी तणां बचनज तीखा सैल।
अंग तीखो तरवार ज्युं ईण मार्‌यो सकल संकेल॥

सुदर्शन किसी प्रकार कपिला से पिंड छुड़ा कर उसकी अट्टालिका से बाहर आया। पर कुछ काल के उपरांत ही उसे चंपा नगरी के महाराजा दधिवाहन की महारानी अभया से उलझना पड़ा। वह भी सुदर्शन के रूप-लावण्य पर

मोहित हो गई पर वह अपनी राजसत्ता से भी सुदर्शन को पथच्युत न कर सकी। अंत में विवश होकर रानी अभया ने उस पर बलात्कार का दोषारोपण कर राजा से उसे प्राण-दंड दिलवा दिया। सूली पर चढ़ाने के लिए सुदर्शन जब नगर के मध्य से निकला तो सारा नगर हाहाकार करने लगा। रानी के अत्याचार की कहानी सर्वत्र फैल गई। सेठ सुदर्शन को अंतिम बार उसकी स्त्री से मिलने की अनुमति दी गई। सुदर्शन का अपनी स्त्री से अंतिम विदा लेने का दृश्य बड़ा ही मार्मिक है।

तात्पर्य यह है कि सुदर्शन की धर्मनिष्ठा और चरित्र-दृढ़ता का दिग्दर्शन कराते हुए भीखणजी ने इंद्रिय निग्रह का महत्त्व दिखाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार रास के द्वारा चरित्र निर्माण की प्रक्रिया १८ वीं शताब्दी तक पाई जाती है। सरहपा, गोरखनाथ, कबीरदास, तुलसी, रहीम, वृंद आदि कवियों की नीति धर्म पदावली की शैली पर चरित्र निर्माण के उपयुक्त काव्य रचना १८ वीं शताब्दी तक होती रही है।

उन्नीसवीं शताब्दी में भीखणजी के चरित्र का अवलंब लेकर 'भिक्षु यश रसायण' की रचना हुई जिसका भी वही उद्देश्य है जो भीखणजी का था।

रास, फाग और व्याहुला का अध्यात्मपरक अर्थ करने का भी विविध कवि मुनियों ने प्रयास किया है। अठारहवीं शताब्दी में श्री लक्ष्मीवल्लभ ने

अध्यात्म परक अर्थ

'अध्यात्म फाग' और श्री भीखण ने 'व्याहुला' की रचना की। दोनों ने क्रमशः फाग और व्याह-कृत्यों का अध्यात्म-परक अर्थ किया है। 'अध्यात्म फाग' में दिखाया गया है कि सुखरूपी कल्पवृक्ष की मंजरी को मनरूपी राजाराम (बलराम) ने हाथ में लेकर कृष्ण के साथ अध्यात्म प्रेम का फाग खेलने की तैयारी की। कृष्ण की शशिकला से मोह का तुषार फट गया। और सोलह पद्मदल विकसित हो गए। सत्य रूपी समीर त्रिगुण संपन्न होकर बहने लगा। समता रूपी सूर्य का प्रकाश बढ़ने से ममता रूपी रात की पीड़ा जाती रही। शील का पीतांबर रचा गया और उर पर संवेग की माला धारण की गई। विचित्र तप का मोरमुकुट धारण किया गया। इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। मुनियों का उदार मन रूपी उज्ज्वल हंस उसमें विचरण करने लगा। सुरत की मुरली से अनाहत की ध्वनि उठी जिससे तीनों लोक विमोहित हो उठे और द्वंद्व-विषाद दूर हो

गया। प्रेम की झोली में भक्ति रूपी गुलाल लेकर होली खेली गई। पुण्य रूपी अबीर के सौरभ से पाप विनष्ट हो गए। सुमति रूपी नारी अत्यंत उल्लसित होकर पति के शरीर का आलिंगन करने लगी। त्रिकुटी रूपी त्रिवेणी के तट पर गुप्त ब्रह्मरंध्र रूपी कुंज में दंपति आनंद-विभोर होकर फाग खेलने लगे। कृष्ण-राधा के वश में इस प्रकार विभोर हो उठे कि उन्होंने अन्य रसरीति त्याग दी। इस अध्यात्म फाग को जो उत्तम रागों में गाता है वह जिनवर का पद प्राप्त करता है[1]।

विवाह संबंधी परंपरागत विश्वासों, अंधविश्वासों, मनोरंजनों, वाद्य संगीतों का भी अध्यात्म परक अर्थ करने का प्रयास आचार्य कवि श्री भीखण जी में पाया जाता है। तत्कालीन लोक-जीवन की मान्यताओं के अध्ययन की दृष्टि से तो इस रासान्वयी काव्य 'ब्याहुला' का महत्त्व है ही, आध्यात्मिक चिंतन की दृष्टि से भी इसका प्रभाव विगत दो शताब्दियों से अक्षुण्ण माना जाता है। इस अभिनेय काव्य ने अनेक अध्यात्म प्रेमियों को विरक्ति की ओर प्रेरित किया। इसी कारण जैनसमाज में यह काव्य अत्यंत समादृत हुआ। इस काव्य में विवाह के छोटे मोटे समूचे कृत्यों का अध्यात्म परक अर्थ समझाया गया है। कन्या पक्ष के द्वार पर गले में माला पड़ना मानो मायाजाल का फंदा स्वीकार करना है। घर के अंदर प्रवेश करने पर उसके सामने गाड़ी का जुआ रखना इस तथ्य का द्योतक है कि वर महाराज, घर गृहस्थी की गाड़ी में तुम्हें बैल की तरह जुत कर पारिवारिक भार वहन करना होगा। यदि कभी प्रमाद करोगे तो मार्मिक वचनों का प्रहार सहना पड़ेगा। गठबंधन क्या है मानो विवाह के बंधन में आबद्ध हो जाना। हाथ में मेंहदी उस चिह्न का द्योतक है जिसके द्वारा अपनी स्त्री के भरणपोषण के दायित्व में शैथिल्य के कारण तुम गिरफ्तार कर लिए जाओगे। चौक के कोने में तीन बाँस के सहारे मिट्टी के नवघड़े स्थापित किए जाते हैं—उनका अर्थ यह है कि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म ये तीनों थोथे बाँस हैं; पाँच स्थावर और चार त्रस रूपी नव मिट्टी के घड़े हैं—इनसे सावधान रहो। वर के संमुख हवन का अर्थ है कि तुम भी इसी तरह सांसारिक ज्वाला में भुने जाओगे। फेरे के समय तीन प्रदक्षिणा में स्त्री आगे और पुरुष पीछे रहता है चौथे फेरे से वर को आगे कर दिया जाता है और सातवें फेरे तक वह आगे आगे चलता है जिसका अर्थ है कि अरे पुरुष! सातवें नरक

१—प्राचीन फाग संग्रह—संपादक भोगीलाल ज. सांडेसरा-पृष्ठ २१८-१६।

में तुझे ही जाना पड़ेगा। अंत में कंकण और दोरड़े के खेल के समय वर को एक हाथ द्वारा कंकण खोलना पड़ता है और वधू दोनों हाथों से खोल सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि अरे पुरुष! तुझे अकेले ही द्रव्यादि का अर्जन करना होगा। यह विवाह बूरे का लड्डू है; जो खाएगा वह भी पछताएगा और न खाएगा वह भी पश्चाताप करेगा। कारण यह है कि वैवाहिक कृत्यों में धन-संपत्ति का अपव्यय कर मनुष्य चोरी, हिंसा, असत्य आदि दुष्कर्मों के द्वारा मानव जीवन को नष्ट कर देता है। स्त्रीप्रेम के कारण उसे अनंतकाल तक यह यातना सहनी पड़ती है। इसी कारण श्री नेमिनाथ भगवान् विवाह से भागकर तप करने में संलग्न हो गए। भरत चक्रवर्ती ने ६४ हजार रानियों और २४ करोड़ सेना कोएक क्षण में छोड़ दिया। स्त्री के कारण ही महाभारत का युद्ध हुआ। सीता के कारण लंका जैसी नगरी नष्ट हुई। सती पद्मिनी के कारण चित्तौड़ पर आक्रमण हुआ। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि पाश का फंदा तो मनुष्य को शीघ्र ही मार देता है परंतु वैवाहिक पाश उसे घुला घुलाकर मारता है।

विवाह के उपरांत स्त्री घर आते ही जन्म देनेवाली माता, पोषण करनेवाले पिता, चिर सहचर भाई और बहिन से संबंध विच्छेद करा देती है। पुत्र-पौत्रादिको के मोह में पड़कर मनुष्य ऋण लेता है; न्यायालय में भागता है; अहर्निश अर्थ की चिंता में चिंतित होकर अपना जीवन विनष्ट कर देता है। यदि दुर्भाग्य से कहीं कर्कशा नारी मिली तो मृत्यु के उपरांत तो क्या, इसी संसार में उसे घोर नरक की यंत्रणा सहनी पड़ती है। इस प्रकार वैवाहिक बंधन के दोषों को इंगित करते हुए श्री भीखण जी ने ब्रह्मचर्यमय तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए मोक्षप्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया है।

उपसंहार

वैष्णव और जैन दोनों रास रचनाओ का उद्देश्य है पाठक, श्रोता एवं प्रेक्षक को मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर प्रेरित करना। मानव मन बड़ा चंचल है। वह सांसारिक भोगविलासों की ओर अनायास दौड़ता है किंतु तपमय पावन जीवन की ओर उसे बलपूर्वक प्रेरित करना पड़ता है। जब तक इसे कोई बलवती प्रेरणा खींच कर ले जानेवाली नहीं मिलती तबतक यह अध्यात्म के पथ पर जाने से भागता है। रासकार का उद्देश्य मन को प्रेरित करनेवाली दृढ़ प्रेरणाओं का निर्माण है। रासकार उस बलवती प्रेरणा

का निर्माण सदाचरण के मूलतत्त्वों के आधार पर कर पाता है। जो मूलतत्त्व जैन और वैष्णव दोनों रासों में समान रूप से पाए जाते हैं, उन्हें अहिंसा, सत्य, शौच, दया और आस्तिक्य नाम से पुकारा जा सकता है। अध्यात्म रथ के यही चार पहिये हैं। दोनों की साधना पद्धति में मन को सांसारिक भोगविलासों से विरक्त बनाना आवश्यक माना जाता है। रोगी - मन का उपचार करनेवाले ये दोनों चिकित्सक दो भिन्न भिन्न पद्धतियों से चिकित्सा करते हैं। वैष्णव वियासक्त मन के विष को राधा-कृष्ण की पावन कामकेलि की सूई लगाकर निर्मल और नीरोग बनाता है किंतु जैन रासकार विषय सुख की असारता सिद्ध करते हुए मन को वैराग्य की ओर प्रेरित करना चाहता है। वैष्णव रास का आलंबन और आश्रय केवल राधाकृष्ण हैं, उन्हीं की रासलीलाओं का वर्णन संपूर्ण उत्तर भारत के वैष्णव कवियों ने किया किंतु जैन रास के आलंबन तीर्थंकर एवं विरत संत महात्मा हैं, उन्हीं के माध्यम से विलासी जीवन की निस्सारता सिद्ध करते हुए जैन रासकार केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन में प्रेरणा भरना चाहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि दोनों का उद्देश्य एक है; दोनों रुग्ण मानव-मन को स्वस्थ करने को दो विभिन्न चिकित्सा - प्रणाली का अनुसरण करते हैं। यही रास का जोवन दर्शन है।

———

रास का काव्य-सौंदर्य

रास-साहित्य का विशाल भंडार है। इसमें लौकिक प्रेम से लेकर उज्ज्वल पारलौकिक प्रेम तक का वर्णन मिलता है। केवल लौकिक प्रेम पर आधृत रासों का प्रतिनिधि 'संदेश रासक' को माना जा सकता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रंथ की भूमिका में काव्य-सौंदर्य के संबंध में विस्तार के साथ विवेचन किया है। सच पूछिए तो इस रासक में इतना रस भरा है कि पाठक बारबार इसका अनुशीलन करते हुए नया-नया चमत्कार अनायास प्राप्त करके आनंदित हो उठता है। अलंकार, गुण, रस, ध्वनि, शब्द शक्ति आदि किसी भी दृष्टि से इसकी समीक्षा कीजिए इसे उत्तम काव्य की कोटि में रखना पड़ेगा। डा० भायाणी और डा० हजारीप्रसाद ने अपनी भूमिकाओं में इस पर भली प्रकार प्रकाश डाला है अतः इसके संबंध में अधिक कहना पिष्टपेषण होगा।

ऐतिहासिक रासो के काव्य सौंदर्य के विषय में पूर्व विवेचन किया जा चुका है। अतः यहाँ केवल वैष्णव एवं जैन रासों की काव्यगत विशेषताओं पर विचार किया जायगा।

वैष्णव, जैन एवं ऐतिहासिक रासों में क्रमशः प्रेम, वैराग्य और राज-महिमा की प्रधानता दिखाई पड़ती है। वैष्णवों ने राग तत्त्व की शास्त्रीय व्याख्या उपस्थित की है तो जैन कवियों ने वैराग्य का विश्लेषण किया है। जैन कृत ऐतिहासिक रासों में ऐतिहासिक व्यक्तियों के चारित्र्य की महानता दिखाते हुए विरागिता पर बल दिया गया है तो जैनेतर रासों में चरितनायक के शौर्य एवं ऐहिक प्रेम की प्रशंसा की गई है। इस प्रकार उक्त तीनों प्रकार के रासों के प्रतिपाद्य विषय में विभिन्नता होने के कारण उनकी गृहीत काव्य शैली में भी अंतर आ गया है। इस प्रसंग में उन तीनों काव्य शैलियों का संक्षेप में विवेचन कर लेना चाहिए।

सर्वप्रथम हम वैष्णव रासों की काव्य शैली पर विचार करेंगे। हम पूर्व कह आए हैं कि १२वीं शताब्दी के महामेधावी राजकवि जयदेव के गीत-

गोविंद की रचना के द्वारा सभी भारतीय साहित्य संगीतोन्मुख हो उठा। शब्द संगीत का राग रागिनियों से इस प्रकार गठबंधन होते देख कविसमाज में नवचेतना जगी। वैष्णव भक्त कवियों को मानो एक वरदान मिला। नृत्य-संगीत के आधार पर सुसंस्कृत सरल भक्तिकाव्य के रसास्वादन से जनता की प्यास और भी उद्दीप्त हो उठी। देशी भाषाओं में राशि-राशि वैष्णव साहित्य उसी गीतगोविंद की शैली पर विरचित होने लगे। समस्त उत्तर भारत के भक्त कवि उस रसधारा में निमज्जित हो उठे। इस प्रचुर साहित्य का एक और परिणाम हुआ। कतिपय कवि काव्यशास्त्रियों ने वैष्णव साहित्य का पर्यवेक्षण कर एक नए रस का आविष्कार किया जो आगे चलकर उज्ज्वल रस के नाम से विख्यात हुआ।

उज्ज्वल रस का अधिकारी

ध्रुवदास जी कहते हैं कि उज्ज्वल रस की अधिकारिणी एक मात्र सखियाँ हैं अथवा जिन भक्तों में सखी भाव है[१]। जिस भक्त के मन में भगवान् के प्रति वैसी ही आसक्ति हो जाती है जैसी गोपियों की कृष्ण के प्रेम में हो गई थी तो वह उज्ज्वल रस का अधिकारी बनता है। उज्ज्वलरस प्रतिपादित करनेवाले आचार्यों का मत है कि जब तक भक्त का मन भगवान् के ऐश्वर्य का चिंतन करता है तब तक वह उज्ज्वल रस का अधिकारी नहीं बनता। ध्रुवदास कहते हैं—

'ईस्वर्जता ज्ञान महातम विषै या रस माधुरी कौ आवर्न है'। जब भक्त अपने चित्त से इस आवरण को उतार फेंकता है तब वह माधुर्य रसास्वादन का अधिकारी बनता है। माधुर्य रस के लिए चित्त में आसक्ति की स्थिति लाना अनिवार्य है। आसक्ति का लक्षण देते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

'तन मन की वृत्ति जब प्रेम रस में थकै तब आसक्त कहिये।' उस आसक्ति की स्थिति का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

'नित्य छिन छिन प्रीति रस सिंधु तें तरंग रुचि के उठत रहत है नये नये।'

हम पूर्व कह आए हैं कि वैष्णवरास में भक्तिरस, जैन रास में शांतरस

१—या रस की अधकारिन सषी है कि जिन भक्तन के सषियन कौ भाव है। धन्य तेई भक्तरसिक''तामें प्रेम ही कौ नेम नित्य है एक रस है कबहू न छूटै इहा प्रेम में कछू भेद नाहीं। —बयालीस लीला, हस्तलिखित प्रति, पन्ना ३५

और जैनेतर ऐतिहासिक रासों में वीर रस की प्रधानता रही है। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि क्या भक्ति को रसकोटि में परिगणित किया जा सकता है। विभिन्न आचार्यों ने इस पर विभिन्न मत दिया है। संस्कृत के अंतिम काव्यशास्त्री कविराज जगन्नाथ भक्ति को देवविषयक रति के कारण रस की कोटि में नहीं रखना चाहते। इसके विपरीत रूपगोस्वामी एवं जीव-गोस्वामी ने भक्तिरस को ही रस मानकर अन्य रसों को इसका अनुवर्ती सिद्ध किया है। जीव गोस्वामी ने प्रीतिसंदर्भ में रस विवेचन करते हुए लिखा है कि पूर्व आचार्यों ने जिस देवादि विषयक रति को भाव के अंतर्गत परिगणित किया है वह सामान्य देवताओं की रति का प्रसंग था। देवाधिदेव रासरसिक कृष्ण की रति भाव के अंतर्गत कैसे आ सकती है! वे लिखते हैं—

भक्तिरस या भाव

यत्तु प्राकृतरसिकैः रससामग्रीविरहाद् भक्तौ रसत्वं नेष्टम् तत् खलु प्राकृतदेवादि विषयमेव सम्भवेत्''''तथा तत्र कारणादयः स्वत एवालौकिकादभुत रूपत्वेन दर्शिता दर्शनीयश्च।

अर्थात् प्राकृत रसिकों के लिए भक्ति में रससामग्री के अभाव के कारण रसत्व इष्ट नहीं। वह तो प्राकृत देव में ही संभव है।

मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'भगवद्भक्ति रसायन' ग्रंथ में इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करते हुए कहा है कि भक्तिरस एकमात्र स्वानुभव-सिद्ध है। इसे प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

इसके विपरीत,भक्त कवि एवं काव्यशास्त्री रूपगोस्वामी ने स्वरचित काव्यों, नाटकों एवं अन्य कवि-विरचित कृष्णलीला पदों के संग्रहों से यह प्रमाणित करने का सफल प्रयास किया कि भक्ति रस ही रस है। डा० सुशील कुमार डे इस प्रयास की विवेचना करते हुए लिखते हैं

"But the attitude is a curious mixture of the literary, the erotic and the religious and the entire scheme as such is an extremely complicated one. There is an enthusiasm, natural to the analytic scholastic mind, for elaborate and subtle psychologising, as well as for developing and refining the inherited rhetorical traditions; but the attempt is also inspired very largely by an antecedent and

still living poetic experience (Jayadeva and Lelasuka), which found expression also in vernacular poetry (Vidyapati and Chandidasa), as well as by the simple piety of popular religions which reflected itself in the conceptions of such Puranas as the श्रीमद्भागवत्, the fountain source of mediaeval Vaishnava Bhakti. But it goes further and rests ultimately on the transcendental in personal religious experience of an emotional character, which does not indeed deny the senses but goes beyond their pale.

नामकरण

भक्ति रस का सार उज्ज्वलरस कहलाता है। इस रस से अभिप्राय है[१] कृष्ण भक्ति का शृंगार रस। आचार्य ने भरत मुनि के उज्ज्वल शब्द से इस रस का नामकरण किया होगा और भक्ति के क्षेत्र में शृंगार को स्थान देकर एक नवीन भक्तिपद्धति का आविष्कार हुआ होगा।

भक्ति के भेद

'भक्तिरसामृत सिंधु' में भक्ति के ४ प्रकार किए गए हैं—(१) सामान्य भक्ति (२) साधन भक्ति (३) भावभक्ति (४) प्रेमा भक्ति। रूप गोस्वामी ने साधनभक्ति, भाव भक्ति और प्रेमाभक्ति को उत्तम कोटि में परिगणित किया है। कारण यह है कि इन तीनों में भक्त भोग वासना और मोक्ष वासना से विनिर्मुक्त होकर एकमात्र कृष्णानुशीलन में तत्पर रहता है। वह अन्याभिलाषाशून्य हो जाता है। इस भक्ति में भक्त कोशुचिता, यम-नियम आदि सभी बंधनों से मुक्त होकर निम्नलिखित केवल ६ विशिष्टताओं को अपनाना पड़ता है—(१) क्लेशघ्नत्व (२) शुभदत्व (३) मोक्षलघुताकारित्व (४) सुदुर्लभत्व (५) सान्द्रानन्दविशेषात्मता (६) वशीकरण (कृष्ण को स्ववश करना)

उपर्युक्त ६ विशिष्टताओं में प्रथम दो की साधना भक्ति के लिए तृतीय

१—नाट्यशास्त्र में शृंगाररस का उल्लेख करते हुए भरत मुनि कहते हैं—
यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वल दर्शनीयं वा तत् शृंगारेणोपमीयते।

चतुर्थ की भावभक्ति के लिए पंचम और षष्ठ की प्रेमाभक्ति के लिए आवश्यकता पड़ती है।

सामान्यतया साधन भक्ति की उपलब्धि के उपरांत भाव भक्ति की प्राप्ति होती है किंतु कभी कभी अधिकारी विशेष को पूर्व संचित पुण्य अथवा गुरु-कृपा अथवा दोनों के योग से साधना भक्ति बिना ही भाव भक्ति की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

भाव भक्ति आंतरिक भाव-भावना पर निर्भर है और प्रेम या शृंगार-रसस्थिति तक नहीं पहुँच पाती। इसका लक्षण देते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं कि जब जन्मजात भावना पावन बनकर शुद्धसत्त्व विशेष का रूप धारण कर लेती है और उसे प्रेमसूर्य की प्रथम किरण का दर्शन होने लगता है तो उसे एक प्रकार का समबुद्धि भाव प्राप्त हो जाता है। यही स्थिति कुछ दिन तक बनी रहती है। तदुपरांत उसमें भगवद्प्राप्ति की अभिलाषा जाग्रत होती है। इस अभिलाषा के जाग्रत होने पर वह भगवान् कृष्ण का सौहार्दाभिलाषी बन जाता है। ऐसे भक्त के अनुभवों का विवेचन करते हुए रूपगोस्वामी लिखते हैं कि उसमें शांति, अव्यर्थकालता, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबंध, समुत्कंठा, नामगानरुचि, तद्गुण व्याख्यान आसक्ति, 'तद्वस्तिस्थले प्रीतिः' आने लगती है। ऐसी स्थिति में भक्त को रत्याभास हो जाता है। कृष्णरति की स्थिति इसके उपरांत आती है।

भावभक्ति

प्रत्येक मनुष्य की मनःस्थिति समान नहीं होती। शास्त्रों ने मनस्तत्त्व का विधिवत् विवेचन किया है। उनका मत है कि मन के विकास - क्रम की मुख्यतया ४ सीढ़ियाँ होती हैं—(१) इन्द्रियमन (२) सर्वेंद्रिय मन (३) सत्त्वमन (४) श्वोव-सीयस् मन। ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं। इन चारों का संबंध चिदंश से है। उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते हैं। जबतक मन इंद्रियों का अनुगामी बना रहता हैं, तब तक वह इंद्रियमन कहलाता है। जब यह विकासोन्मुख होकर स्वयं इंद्रियप्रवर्त्तक बन जाता है तब अशनाया रूप सर्वेंद्रिय मन कहलाता है। जब उससे भी अधिक इसका विकास होने लगता है और पाँचों

भक्त की मन-स्थिति

१—प्रेम्णः प्रथमच्छविरूप :—

इंद्रियों का अनुकूल-प्रतिकूल वेदनात्मक व्यापार जब सब इंद्रियों में समान रूप से होने लगे तो मन सर्वेंद्रिय मन कहलाता है। इसे ही अनिंद्रिय मन भी कहते हैं। जब चलते हुए किसी एक इंद्रिय विषय का अनुभव नहीं होता, तब भी सर्वेंद्रिय मन अपना कार्य करता ही रहता है। भोग-प्रसक्ति के बिना भी विषयों का चिंतन यही मन करता है।

तीसरी अवस्था है सत्त्वगुणसंपन्न सत्त्वैकघन महान् मन की। यह मन की सुषुप्ति दशा है। उस सत्त्व मन से भी उच्चतर चौथी अवस्था है जिसे अव्यय मन, श्वोवसीयस्मन अथवा चिदंश पुरुष मन कहा जाता है। इस मन का "संबंध परात्पर पुरुष की सृष्ट्युन्मुखी कामना से है। वही अणु से अणु और महतो महीयान् है। केंद्रस्थ भाव मन है। वही उक्थ है। जब उसी से अर्क या रश्मियाँ चारों ओर उत्थित होती हैं तो वही परिधि या महिमा के रूप में मनु कहलाता है। यही मन और मनु का संबंध है। यद्यपि अंततोगत्वा दोनों अभिन्न है।"[1] वास्तव में मन की इसी चतुर्थ अवस्था में उज्ज्वल रस का भाव संभव है।

उज्ज्वल रस

रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल रस का प्रतिपादन संस्कृत काव्यशास्त्रियों की ही रस शैली पर किया है, पर ध्रुवदास आदि हिंदी कवियों ने काव्य शास्त्र का अवलंब न लेकर स्वानुभूति को ही प्रमाण माना है। ध्रुवदास[2] 'सिद्धांतविचार' नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

"प्रेम की बात कछुइक लाडिलीलालजी जैसी उर में उपजाई तैसी कही।"

ध्रुवदासजी कहते हैं कि मेरे मन में अनुभूति का सागर उमड़ रहा है पर मेरी वाणी तो "जैसे सिंधुतें सीप भरि लीजै।"

रूप गोस्वामी उज्ज्वल रस का स्थायी[3] भाव मधुरा रति मानते हैं। कृष्ण-रति का नाम मधुरा रति है। यह रति कृष्ण विग्रह अथवा कृष्ण के

१—वासुदेवशरण अग्रवाल—'भारतीय हिंदू मानव और उसकी भावुकता'
—भूमिका पृ० १३

२—बयालीस लीला—(हस्तलिखित प्रति) का० ना० प्र० सभा पत्रा २६–३०

३—स्थायिभावोऽत्र शृंगारे कथ्यते मधुरा रतिः।
—उज्ज्वल नील मणि पृ० ३८८

अनुकर्त्ता के प्रति भी हो सकती है। ध्रुवदास इसी रति का नाम प्रेम देकर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—कि प्रेम में "उज्ज्वलता, कोमलता स्निग्धता, सरसता, नौतनता। सदा एक रस रुचत सहज स्वच्छंद मधुरिता मादिकता जाकौ आदि अंत नहीं। छिन छिन नौतन स्वाद।"

ऐसी कृष्ण रति स्थायी भाव है जो अनुभाव विभाव एवं संचारी के योग से उज्ज्वल रस बनकर भक्तों को[1] रसमय कर देता है। काव्यशास्त्र कहता है कि काव्य रस का आनंद रसिक को होता है। कृष्ण भक्त में रसिकता का लक्षण देते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

"रसिकता की कहियै जो रस कौ सार ग्रहै और जहाँ ताई भक्त उद्धव जनक सनकादिक अरु लीला द्वारिका मथुरा आदि तिन सबनि पर अति गरिष्ठ सर्वोपर ब्रजदेवीन को प्रेम है। ब्रह्मादिक जिनकी पदरज वांछित है। तिनके रस पर महारस अति दुर्लभ श्रीवृंदावन चंद आनंदघन उन्नत नित्य किशोर सबके चूड़ामनि तिन प्रेम मई निकुंज माधुरी विलास ललिता विशाषा आदि इन सषियन कौ सुष सर्वोपर जानहु।"

उस प्रेम की विशेषता बताते हुए ध्रुवदास कहते हैं कि वह प्रेम 'सदा नौतन तें नौतन एक रस रहै। इनकौ प्रेम समुझनौं अति कठिन है।'

किंतु यह कृष्ण रति भगवान की कृपा से अति सुगम भी है। "जिनपर उनकी कृपा होइ तबही उर में आवै।'

जब भक्त के मन में लाडिली (राधिका) और लाल (कृष्ण) का प्रेमभाव भर जाता है तभी इस रस की उपलब्धि होती है। उस भाव के कथन में वाणी असमर्थ हो जाती है। ध्रुवदास कहते हैं—'इनकौ भाव धरिया ही रस की उपासना में कपट छाड़ि भ्रम छाड़ि निस दिन मन में रहै। अनन्य होइ ताको भाग कहिवे कौं कोई समर्थ नाहीं।'

इस कृष्ण प्रेम की विलक्षणता यह है कि भक्त निजदेह सुख को भूल जाता है। प्रेमी के ही रंग में रँगा रहता है। "और ताके अंग संग की जितनी बात है ते सब प्यारी लागै ताके नाते।"

प्रेम का स्थान नेम से ऊँचा बताते हुए ध्रुवदास कहते हैं 'जाकौ आदि

१—स्वाघतां हृदि भक्तानाम्

श्रंत होइ सो नेम जानिवौ जाको श्रंत नहीं सो प्रेम सर्वदा एक रस रहै सो अद्भुत प्रेम है। प्रेम में नेम वहीं तक मान्य हैं

प्रेम और नेम

जहाँ तक वह प्रेम से नियंत्रित है। जब नेम प्रेम पर नियंत्रण करने का अभिलाषी बनता है तो वह त्याज्य समझा जाता है। ध्रुवदास कहते हैं कि वस्त्र को उज्ज्वल, श्वेत करने के लिये अन्य उपादान की आवश्यकता है पर लाल रंग में रँगे वस्त्र को उन्हीं उपादानों से फिर सफेद बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। यह दशा नेम की है। "जा प्रेम के एक निमेष पर सुख कोटिकलपन के वारि डारियै। स्वाद विशेष के लिये भयौ सुद्ध प्रेम है। जैसें षाड और जल एकत्र कियौ तब षांड न जल सरवत भयौ षांड जल वा वाही में हैं। ऐसें महामधुर रस स्वाद कौ सुद्ध प्रेम है प्रगट कियौ।"

ध्रुवदास जी ने इस कृष्ण रति (प्रेम) का सांसारिक प्रेम से पार्थक्य दिखाते हुए स्पष्ट कहा है कि भौतिक प्रेम में नायक और नायिका को स्वार्थ की भावना बनी रहती है। एक दूसरे का सुख चाहते हुए भी स्वसुख का सर्वथा समर्पण नहीं देखा जाता। अंतर्मन में स्वसुख की भावना अवश्य विद्यमान रहती है, पर कृष्ण रति की यही महानता है कि गोपियों ने कृष्ण के प्रेम में पति पुत्र सबकी तिलांजलि दे दी थी। 'ध्रुवदास' गोपीप्रेम का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"नायक अपनौं सुष चाहै नायका अपनौं सुष चाहै सो यह प्रेम न होय साधारन सुख भोग है। जबताई अपनौं अपनौं सुष चहियै तब ताई प्रेम कहा पाइयै। दोइ सुष दोइ मन दोइ रुचि जबताई एक न होय तबताइ प्रेम कहाँ! कामादिक सुख जहाँ स्वारथ भए हैं तौ और सुषन की कौन चलावै। निमित्त रहत नित्य प्रेम सहज एक रस श्री किशोरी किशोर जू कें है और कहूँ नाही।"

इस प्रकार भक्त कवियों ने ऐसे नायिका-नायक का प्रेम वर्णन किया है जिसमें काम वासना का लेश नहीं—

"यह अप्राकृत प्रेम है श्री कृष्ण काम के वस नाही।'

ऐसे अद्भुत प्रेम से उत्पन्न उज्ज्वल रस की व्याख्या करते हुए ध्रुवदास कहते हैं कि नायिका नायक के रूप में इस प्रेम के वर्णन का उद्देश्य यह है कि 'पहले स्थूल प्रेम समुझै तव मन आगैं चलै। जैसें श्री भागवत की वानी

पहले नवधा भक्ति करै तब प्रेम लछना आवै। और महापुरुषन अनेक भाँति के रस कहे। श्रै पर इतनी समुझ नीकै उनको हियौ कहाँ ठहरानौं सोई गहनी।"[१]

इन उद्धरणों का एकमात्र आशय यह है कि प्रेमभक्ति के अनेक कवियों एवं आठ प्रमुख[२] आचार्यों ने केवल स्वानुभूति के बल पर एक नए रस का आविष्कार किया, जिसका उल्लेख पूर्वाचार्यों के ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता। उज्ज्वलरस का शास्त्रीय विवेचन रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्त्ती प्रभृति भक्त आचार्यों ने जिस शास्त्रीय पद्धति से किया है उसका परिचय रास साहित्य के माध्यम से इस प्रकार दिया जा सकता है—

उज्ज्वल रस का आलंबन—विभाव कृष्ण हैं। उन्हें पति एवं उपपति दो रूपों में दिखाया गया है। प्राकृत जीवन में उपपति हेय एवं त्याज्य है पर

नायक नायिका

पारमार्थिक जीवन में उपपति कृष्ण उज्ज्वलरस को सद्यः प्रदान करने से सर्वश्रेष्ठ नायक स्वीकार किये गये हैं। 'उज्ज्वल नीलमणि' ने काव्यशास्त्र के आधार पर कृष्ण को धीरोदात्त, धीर ललित आदि रूपों में प्रदर्शित किया है और ब्रह्म ही को रसास्वाद के लिए कृष्ण रूप में अवतरित माना है—

'रसनिर्यास स्वादार्थमवतारिणी'

अतः कृष्ण का उपपतित्व परमार्थ दृष्टि से सर्वोत्तम माना गया है।

कृष्ण के तीन स्वरूप-पूर्णतम, पूर्णतर एवं पूर्ण क्रमशः व्रज, मथुरा एवं द्वारका में प्रदर्शित किए गए हैं। कहीं उन्हें धृष्ट, कहीं शठ और कहीं दक्षिण

१—ध्रुवदास—बयालीस लीला (हस्तलिखित प्रति) पृ० ३१

२—क-रूप गोस्वामी, उज्ज्वलनीलमणि
ख-शिवचरण मित्र, उज्ज्वल चंद्रिका
ग-रूपगोस्वामी, भक्ति रसामृत सिंधु
घ-विकर्णपूर, अलंकार कौस्तुभ
च-गोपालदास, श्री राधा कृष्ण रसकल्पवल्लरी
छ-पीतांबरदास, रसमञ्जरी
ज-नरहरि चंद्र, भक्ति रत्नाकर
झ—नित्यानंददास, प्रेमविलास

नायक के रूप में सिद्ध किया गया है। पर इस विलक्षण नायक की विशेषता बताते हुए कहा गया है—

सत्यंज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहित ॥
ते तु ब्रह्मपदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यात्राक्रूरोऽध्यगात्पुरा ॥

इस नायक की दूसरी विशेषता यह है कि उसने अपने प्रियजनों को निरामय स्वपद प्रदान किया। प्राकृत नायक में यह शक्ति कहाँ संभव है। अतः इस नायक का पतित्व एवं उपपतित्व अध्यात्म दृष्टि से एक है। उसने अपने भक्तों की रुचि के अनुरूप अपना स्वरूप बनाया था। वह स्वतः पाप-पुण्य, सुख-दुख से परे ब्रह्मतत्व है।

नायिका के रूप में राधा और गोपियों को दिखाया गया है। राधा तो कृष्ण से अभिन्न है—

राधा कृष्ण एक आत्मा दुइ देह धरि।
अन्योन्य विलसे रस - आस्वादन करि ॥

राधा कृष्ण एक ही परमतत्त्व आत्मा हैं जो रसास्वादन के लिए दो शरीर धारण किए हुए हैं। कृष्ण ने ही रासमंडल में अनेक रूप धारण किया है—

"श्री रास मंडले तेमनई आपनाकेउ बहू रूपे प्रकाशित करियाछेन"[1]

भक्त आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय-पद्धति पर ही नायिका भेद का विवेचन किया है। किंतु उनके विवेचन में भक्ति का पुट होने से वह पूर्वाचार्यों की मान्य पद्धति से कुछ भिन्न दिखाई पड़ता है। कृष्ण पति और उपपति दोनों रूपों में विवेच्य हैं अतः नायिकाओं के स्वभावतः दो भेद—(१) स्वकीया (२) परकीया—किए गए हैं। हम पूर्व कह आए हैं कि कृष्ण की सोलह सहस्र नायिकाएँ व्रज में थीं और १०८ द्वारका में। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि उनकी प्रेयसियों की संख्या अनंत थी।

नायिकाभेद

यद्यपि कृष्ण के साथ सभी नायिकाओं का गंधर्व विवाह हो गया था किंतु उसे गुप्त रखने के कारण वे परकीया रूप में ही सामने आती हैं। विश्वनाथ

(१) श्री सुधीरचन्द्रराय—कीर्तन पदावली—पदावलीर द्वादशतत्त्व

चक्रवर्ती ने इस प्रसंग को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है—'कियन्तः गोकुले स्वीयाऽपि पित्रादिशंकया परकीया एव' अर्थात् कितनी स्वीया नायिकाएँ अभिभावकों के भय से परकीया भाव धारण किए हुए थीं। जीवगोस्वामी ने इस रहस्य को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"वस्तुतः परम स्वीयाऽपि प्रकट लीलायाम् परकीयमानाः श्रीव्रजदेव्यः"

अर्थात् गोपियों का स्वकीया होते हुए भी परकीया भाव लीलामात्र के लिए है, वास्तविक नहीं।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि गोपियों के पति देव के साथ उनका शारीरिक संसर्ग कभी न होने पर गोपों को कभी कृष्ण के प्रति ईर्ष्यादि की भावना नहीं होती। श्रीमद्भागवत् का तो कथन है कि एक ही काल में गोपियाँ अपने पति एवं आराध्यदेव कृष्ण दोनों के साथ विराजमान हैं। इसके अर्थ की इस प्रकार संगति बिठाई जा सकती है कि जो नारी अपने पति की सेवा करते हुए विषय वासना से मुक्त हो निरंतर भगवच्चिंतन करती है वह दोनों के साथ एक रूप में विद्यमान है और उस पर भगवान् का परम अनुग्रह होता है।

स्वकीया और परकीया के भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेद किए गए हैं। मध्या और प्रगल्भा के भी धीरा, अधीरा, धीराधीरा भेद माने गए हैं। रूप गोस्वामी ने काव्यशास्त्रियों की पद्धति पर इनके अभिसारिका, वासक-सज्जा, उत्कंठिता, विप्रलंभा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रोषितपतिका, स्वाधीन-भर्तृका आठ भेद किये हैं। प्रत्येक वर्ग की गोपी के पुनः तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा—किए गए हैं।

रूप गोस्वामी ने कृष्ण वल्लभाओं का एक नवीन वर्गीकरण भी उपस्थित किया है। वे साधन सिद्धा, नित्यसिद्धा अथवा देवी के रूप में संमुख आती है। जिन्हें प्रयत्न द्वारा भगवत्प्रेम मिला है वे साधन सिद्धा है। किंतु राधा-चंद्रावली ऐसी हैं जिन्हें अनायास कृष्णप्रेम प्राप्त है। वे नित्यसिद्धा कहलाती हैं। तीसरी श्रेणी उन गोपियों की है जो कृष्ण अवतार के साथ देव योनि से मानव रूप में अवतरित हुई हैं।

इन गोपियों में कृष्ण की प्रधान नायिका राधा है जिसे तंत्र की ह्लादिनी महाशक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यही रासेश्वरी सबसे अधिक सौभाग्यवती है। शेष गोपियों के तीन वर्ग हैं—अधिका, समा और

लघ्वी । गोपियों का एक और वर्गीकरण उनके स्वभाव के अनुसार किया गया है। वे प्रखरा, मध्या और मृद्वी भी हैं। गोपियों की प्रवृत्ति के अनुसार वे स्वपक्षा, सुहृद्‌पक्षा, तटस्था एवं विपक्षा भी होती है। इनमें सुहृद्‌पक्षा एवं तटस्था उज्ज्वल रस की अधिकारिणी नहीं बन-सकतीं। केवल राधा के ही भाग्य में रस की साक्षात् उपभोगात्मकता है किंतु अन्य गोपियों में तदनु-मोदनात्मकता की ही उपलब्धि होती है।

अन्य काव्य-शास्त्रियों की शैली पर उद्दीपन विभाव, संचारी और सात्त्विक भावों का भी विवेचन उज्ज्वल रस के प्रसंग में विधिवत् मिलता है। नायक के सहायक रूप में व्रज में भंगुर और भृंगार को, विट रूप में कदार और भारतीबंधु को, पीठमर्द के रूप में श्रीदामन को, और विदूषक के लिए मधुमंगल को चुना गया है। नायिका पक्ष में दूतियों एवं अन्य गोपियों का बड़ा महत्त्व माना गया है। उन्हीं की सहायता से राधिका को उज्ज्वल रस की उप-लब्धि होती है।

स्थायी भाव

प्रत्येक व्यक्ति की कृष्ण-रति एक समान नहीं हो सकती, अतः तारतम्य के अनुसार रूप गोस्वामी ने इसके ६ विभाग किए हैं—(१) अभियोग (२) विषय (३) संबंध (४) अभिमान (५) उपमा (६) स्वभाव।

अभियोग[1]—जब कृष्णरति की अभिव्यक्ति स्वतः अथवा किसी अन्य की प्रेरणा से हो।

विषय[2]—शब्द, स्पर्श, गंधादि के द्वारा रतिभाव की अभिव्यक्ति हो।

संबंध[3]—कुल और रूप आदि में गौरव-भावना के द्वारा कृष्ण रति की अभिव्यक्ति।

अभिमान[4]—किसी विशेष पदार्थ में अभिरुचि के द्वारा।

उपमा[5]—किसी प्रकार के सादृश्य द्वारा कृष्ण रति की अभिव्यक्ति।

१—अभियोगो भवेद्भावव्यक्तिः स्वेन परेण च।

२—शब्दस्पर्शादयः पञ्च विषयाः किल विश्रुताः।

३—सम्बन्धः कुलरूपादिसामग्रीगौरवं भवेद्।

४—सन्तु भूरीणि रम्याणि प्रार्थ्यं स्यादिदमेव मे।
इति यो निर्णयो धीरैरभिमानः स उच्यते।

५—यथा कथंचिदप्यस्य सादृश्यमुपमोदिता।

स्वभाव[1]—बाह्य वस्तु की सहायता बिना ही अकारण जिसमें कृष्ण रति प्रगट होती है।

रूप गोस्वामी का कथन है कि उक्त प्रकार की कृष्ण रति को उत्तरोत्तर उत्तम श्रेणी में परिगणित करना चाहिए।

स्वभाव रति के दो भेद हैं—(१) निसर्ग (२) स्वरूप।

निसर्गरति सुदृढ़ अभ्यासजन्य संस्कार वश उत्पन्न होती है और स्वरूप रति भी अकारण ही होती है पर यह कृष्ण-निष्ठा अथवा ललना-निष्ठा जन्य होती है। स्वभावजा रति केवल गोकुल की ललनाओं में ही संभव है।

"रतिः स्वभावजैव स्यात्प्रायो गोकुलसुभ्रुवाम्"[1]

मधुरारति नायिका के अनुसार तीन प्रकार की होती है—(१) साधारणी (२) समंजसा (३) समर्था।

कुब्जादि में साधारणी मधुरा रति पाई जाती है और रुक्मिणी आदि कृष्ण महिषियों में समंजसा। समर्थामधुरारति की अधिकारिणी एकमात्र गोकुल की देवियाँ हैं। रूप गोस्वामी ने साधारणी मधुरारति की मणि से, समंजसा की चिंतामणि से किंतु समर्था की कौस्तुभ मणि से उपमा दी है। यही समर्था मधुरारति, जिसका उद्देश्य एक मात्र कृष्ण की प्रसन्नता है, उज्ज्वल रस में परिणत हो जाती है। क्योंकि महाभाव[2] की दशा तक पहुँचने की सामर्थ्य इसी मधुरारति में पाई जाती है। उद्धव इसी महाभाव दशा में पहुँची हुई गोपियों का स्तवन करते हैं।

समर्थामधुरारति प्रगाढ़ता की दृष्टि से ६ स्तरों से पार होती हुई उज्ज्वल रस तक पहुँचती है। रूप गोस्वामी ने उनको प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग तथा अनुराग नाम से अभिहित किया है। जिस प्रकार इक्षु से रस, गुड़, खंड, शर्करा, सिता, और सितोपला उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर होता जाता है

१—रूप गोस्वामी—उज्ज्वल नीलमणि, पृ० ४०६
(निर्णयसागर प्रेस)

२—इयमेव रतिः प्रौढा महाभाव दशां व्रजेत।
या मृग्या स्याद्विमुक्तानां भक्तानां च वरीयसाम्।
उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४१५

उसी प्रकार मधुरारति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग का रूप धारण कर उज्ज्वल रस में परिणत हो जाती है। रूप गोस्वामी ने उक्त स्थितियों का बड़ा सूक्ष्म विवेचन करके उनके भेद-प्रभेद की व्याख्या की है। राग की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते कृष्णप्राप्ति में मिलने वाली दुःखद बाधाएँ सुखद बन जाती हैं। राग के दो प्रकार हैं—(१) नीलिमा राग (२) रक्तिमा राग। नीलिमा राग दो प्रकार का है—नीली राग और श्यामा राग। नीली राग अपरिवर्त्तनीय और बाहर से अदृश्य पर श्यामा राग क्रमशः सान्द्र होता हुआ कुछ कुछ दृश्य बन जाता है। रक्तिमा राग भी दो प्रकार का है—(१) कुसुम्भ (२) मंजिष्ठ। कुसुम्भ राग तो कुसुम्भी रंग के समान कालांतर में हल्का पड़ जाता है पर मंजिष्ठ राग अपरिवर्त्तनीय रहता है। उस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता है। मंजिष्ठ राग की मधुरा रति का विवेचन करते हुए जीवगोस्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार मंजिष्ठ रंग जल के कारण अथवा कालक्रम से अपरिवर्त्तनीय बना रहता है उसी प्रकार मांजिष्ठ राग की मधुरारति संचारि आदि भावों के विचलित होने पर भी कभी न्यून नहीं होती। यह स्वतः सिद्ध रति अपने प्रियतम के प्रति उत्तरोत्तर उत्कर्ष की ओर जाती है

जब भक्त की मांजिष्ठराग की स्थिति परिपक्व बन जाती है तो अनुराग उत्पन्न होता है। अनुराग का लक्षण देते हुए रूप गोस्वामी कहते हैं—

सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥

जब प्रियतम के प्रति सर्वदा आस्वादित होता हुआ राग नित्य नया बनता जाता है तो अनुराग की स्थिति आती है। अनुराग की परिपक्वावस्था भाव अथवा महाभाव कहलाती है। इसके भी दो सोपान है—(१) रूढ़ (२) अधिरूढ़। अधिरूढ़ में प्रियतम का एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाता है और वह एक क्षण कल्प के सदृश दीर्घकालीन प्रतीत होता है। इस स्थिति में असह्य वेदना भी सुख का कारण जान पड़ती है। रासलीला की नायिकाओं की यही स्थिति है।[१]

१—रूप गोस्वामी—उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ४५४

वैष्णव राससाहित्य में कृष्ण और गोपियों का स्वच्छन्द विहार देखकर कतिपय आलोचक नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। इसका मूल कारण है स्थापत्य कला और साहित्य में भारतीय दर्शन के उपस्थापन पद्धति से अनभिज्ञता। जो लोग जगन्नाथ और कोणार्क के देवालयों पर मिथुन मूर्त्तियों को देखकर मन्दिरों को घृणित मानते हैं उनका दोष नहीं, क्योंकि वे भारतीय संस्कृति और भारतीय मंदिर - निर्माण - प्रणाली से अनभिज्ञ होने के कारण ही ऐसा कहते हैं।

रास साहित्य और सदाचार

तथ्य तो यह है कि हमारे देश की मूर्ति कला, चित्रकला और साहित्य में प्रतीक योजना का बड़ा हाथ रहा है। जो हमारी प्रतीक योजना से अनभिज्ञ रहेंगे वे हमारी संस्कृति के मर्म समझ नहीं सकेंगे। हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक उपकरणों पर मिथुन विद्या का प्रभाव परिलक्षित होता है। जिस प्रकार मंदिरों पर उत्कीर्ण मिथुन मूर्त्तियाँ गंभीर दार्शनिक तत्त्व की परिचायक हैं उसी प्रकार रासलीला में कृष्ण के साथ राधा और गोपियों का रमण भी गंभीर दार्शनिकता का सूचक है। इस मर्म को समझे बिना वास्तविक काव्य रस (उज्ज्वल रस) की उपलब्धि संभव नहीं।

जगन्नाथ के मंदिर के दर्शक चार प्रकार के होते हैं। कुछ दर्शन वाह्य प्रदेश में स्थित मिथुन मूर्त्तियों को अश्लीलता एवं असभ्यता का चिह्न मान कर उसे देखना असभ्यता का लक्षण समझते हैं। दूसरे कलाविद् कलाकार की कला पर मुग्ध होकर उसकी सराहना करते हैं? तीसरे सामान्य भक्त दर्शक उसकी ओर विना ध्यान दिए ही मंदिर में भगवान् का वास समझ कर दूर से दंडवत करते हुए आनंदित होते हैं किंतु चैतन्य महाप्रभु सदृश दर्शक मंदिर का वास्तविक रहस्य समझ कर आनंद - विभोर हो उठते हैं और समाधिस्थ बन जाते हैं। उसी प्रकार राससाहित्य के पाठक एवं रासलीला के प्रेक्षकों की चार कोटियाँ होती है। कतिपय अश्रद्धालु इसमें अश्लीलता आरोपित कर पढ़ना अथवा देखना नहीं चाहते। काव्य-रसिक कवि की काव्य कला

१—एक युग के मंदिरों पर अष्ठ मिथुन युग्म का विधान आवश्यक माना जाता था। इनके अभाव में "मंदिर प्रतीक से संबद्ध सृष्टि के सभी संकेत पूर्ण न होंगे और प्रासाद प्रतीक का निर्माण अपूर्ण रह जायगा। इसलिए मंदिरों पर अष्ट मिथुन का बनाना अनिवार्य सा है।" मिथुन मूर्तियों की संख्या एक, आठ अथवा पचास रखी जाती है।

की सराहना करते हुए इसके अलंकार, गुण, रीति एवं शृंगार रस की प्रशंसा करते हैं। श्रद्धालु जनता गूढ़ार्थ समझने की सामर्थ्य न होने से राधा-कृष्ण प्रेम के पठन और दर्शन से आत्म - कल्याण मानकर उससे आनंदित होती है, पर मूल रहस्य को समझने वाले पहुँचे हुए प्रभु - भक्तसाहित्यिक को इसमें शंकरदेव, चैतन्य, वल्लभ, हरिवंश, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, पोताना, विट्ठलदास, तुरंज की मनः स्थिति का अनुभव होने से एक विलक्षण प्रकार के रस की अनुभूति होती है, जिसे आचार्यों ने उज्ज्वलरस के नाम से अभिहित किया है।

जिस प्रकार लोल्लट, शंकु, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त ने रसानुभूति तक पहुँचने की मनःस्थिति की व्याख्यायें की हैं उसी प्रकार रूप गोस्वामी, जीव-गोस्वामी, शिवचरण मित्र, कवि कर्णपूर, गोपालदास, पीतांबरदास, नित्यानंद प्रभृति भक्त आचार्यों ने उज्ज्वल रस के अनुभूति-क्रम की व्याख्या प्रस्तुत की है। रास साहित्य की यह बड़ी विशेषता है कि इसने काव्य के क्षेत्र में एक नए रस का अनाविल उपस्थापन किया, ९ काव्य रसों के समान इसके भी अनुभाव, विभाव एवं संचारी भावों की व्याख्या प्रस्तुत हुई।

रासलीला का मुख्य स्थल देवालय होते हैं। हमारे देवालयों के प्रांगण और नाट्यगृह विशाल होते हैं। इन्हीं स्थलों पर भारत के कोने कोने से समवेत यात्री भगवान् की लीला देखने को उत्सुक रहते हैं। हमारे देवालयों की रचना में कलाकार का शास्त्रीय उद्देश्य होता है। देवालय में एक अमृत कलश होता है जिसके ऊपर "कमल कलिका का ऊर्ध्व भाग विंदुस्थान है, जो नाद विंदु के रूप में साकार सृष्टि का आरंभ है। बंद कमल अविकसित सृष्टि का संकेत है। यहाँ से आनंद स्वरूप परमात्मा आकार ग्रहण करने लगता है। इस भावना को आनंदामृत के घट में स्वर्णमयी पुरुष प्रतिमा की स्थापना कर व्यक्त किया जाता है। यह वेदांतियों का आनंदघट, वैदिकों का सोमघट, शाक्तों और वैष्णवों की कामकला वा समरसघट, जैनों का केवलत्व, और बौद्धों की शून्यता और करुणा है। विंदु आनंद को लेकर आत्मविस्तार करने लगता है, और आमलक वृक्ष अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति का रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार आमलक की संख्या तीन भी हो सकती है। प्रकृति का आमलक-वृत फैलता हुआ सृष्टि का विस्तार करता चलता है। इसमें देवलोक, मर्त्यलोक, पाताल, देव, दानव, किन्नर, यक्ष, पशु-पक्षी,

मानव, मिथुनादि की सृष्टि करता हुआ यह वृत्त भूचक्र के चतुष्कोण में रुक कर स्थिरता प्राप्त करता है और आकार ग्रहण करता है।"

"ऊपर अमृत कलश से नीचे प्रासाद के चतुष्कोण तक अष्ट - भिन्ना प्रकृति का विकास लतागुल्म, पशु-पक्षी, मिथुन, देव-दानव आदि के रूप में दिखाया जाता है। यही अष्ट प्रकृति (पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) अष्टकोण के रूप में दिखाई जाती है। यही अष्ट-प्रकृति अष्ट दल कमल के रूप में अंकित की जाती है।"

"भित्तियों पर हंस की प्रतिकृति दिखाई जाती है। हंस प्राचीन काल से जीव का प्रतीक माना जाता है। मुख्यप्रासाद के समीप खचित मंजरियों और शृंग के ऊपर धातु विनिर्मित कँगूरों और कलशों पर पड़ कर चमकते हुए सूर्य, चंद्र और ग्रह नक्षत्रों के प्रकाश अनंत आकाश में चमकने वाले तारों के रूप में लोकों के प्रतीक हैं और ऊपर उठता हुआ प्रासाद अनंत व्योम में वर्त्तमान परम पुरुष का प्रत्यक्ष रूप है।"

देवालयों पर खचित देव, गंधर्व, अप्सरा, यक्षादि मूर्त्तियों के हाथों में ढाल, तलवार, वाद्य यंत्र दिखाई पड़ते हैं। ये नर्त्तन करते हुए गगनगामी रूप में प्रतीत होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्नमय कोष वाले प्राणी के समान ये केवल धरा पर रहने वाले नहीं। प्राणमय शरीरी होने से इनकी अव्याहत गति अंतरिक्ष में भी है। वाद्य यंत्र बजाते और नाचते गाते हुए ये जगत् स्रष्टा परम पुरुष की आराधना में तल्लीन अमृतत्व की ओर उड़ते जा रहे हैं। यह मानो 'परम पद की प्राप्ति के लिए जीव मात्र के उद्यम का प्रतीक है।"

इसी प्रकार मिथुन मूर्त्तियाँ वेद के द्यौ और पृथिवी हैं। 'मंदिरों पर अष्ट मिथुन का बनाना अनिवार्य सा है।' इन मिथुन मूर्त्तियों का तात्पर्य अष्ट प्रकृति के साथ चैतन्य का मिलन है। चेतन के बिना अष्ट प्रकृति निष्क्रिय है। उसमें सक्रियता लाने वाला चेतन पुरुष ब्रह्म है। ब्रह्म के इन मिथुन रूपों की पूजा का विधान है। इस मिथुन प्रतीक में परमानंद के उल्लास से सृष्टि के आरंभ की, ब्रह्म-जीव की लीला की और जीव के मोक्ष की क्रिया अंकित की जाती है।

जनता इस सिद्धांत को विस्मृत न कर दे, इस कारण शिलालेखों पर मनीषियों ने मंदिर-दर्शकों को आदेश दिया है कि जिस शुद्ध बुद्धि से ये

मिथुन मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं उसी पावन भावना से इनका दर्शन एवं पूजन विहित है।[1]

यद्यपि इन मिथुन मूर्त्तियों के निर्माण का अत्यधिक प्रचार मध्ययुग में हुआ तथापि ईसा से पूर्व निर्मित साँची के देवालयों में भी इन मिथुन मूर्त्तियों का दर्शन होता है।[2]

उपनिषद् में भी ब्रह्म-जीव एवं पुरुष-प्रकृति की मिथुन भावना का वर्णन इस प्रकार मिलता है—'ब्रह्म को जब एकाकीपन खलने लगा तो उसने अपना स्त्री पुरुष मिश्रित रूप निर्मित किया। उससे पति-पत्नी का आविर्भाव हुआ। उस युग्म से मानव सृष्टि हुई—[3]

स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत् स ह एतावान् आस, यथा स्त्री पुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इमम् एव आत्मानं द्वेधा अपातयत्। ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्। तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः इति ह स्म आह याज्ञवल्क्यः। तस्मादयम् आकाशः स्त्रिया पूर्यत एव 'तां समभवत्' ततो मनुष्या अजायन्त।

ऐसे वातावरण में रासलीला का विधान है। जिस प्रकार मिथुन मूर्त्तियों का निर्माण गृहस्थों के भवनों पर वर्जित है, उसी प्रकार रासलीला का अभिनय केवल देव स्थानों पर विहित है। रासलीला धारियों का वय आज तक आठ वर्ष से अधिक गर्हित माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस गूढ़ पावन भावना से सिद्ध भक्तों ने रास की रचना की उसी भावना से इस काव्य का पठन-पाठन एवं प्रदर्शन होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रास का शृंगार रस उज्ज्वलरस के रूप में तभी आस्वाद अथवा आस्वाद्य बनेगा जब रचयिता की मनः स्थिति तक पहुँचने का प्रयास किया जायगा।

1—Sirpar Inscription, Epigraphic Indica. Vol. XI. Page 190.

2—The earliest Mithuna yet known is carved on one of the earliest monuments Yet Known, ie·of about the Cen. B. C. in Sanchi Stupa II." Marshall foucher.

३—बृहदारण्यक-१-४-३

जैन रासों में काव्य-तत्त्व

जैन रासो के रचयिता प्रायः जैनाचार्य ही रहे हैं। यद्यपि उन महात्माओं के दर्शनार्थ राजे महाराजे, श्रेष्ठी एवं सामंत भी आया करते थे तथापि उनका संपर्क विशेषकर ग्रामीण जनता से ही रहता था। अशिक्षित एवं अर्द्ध-शिक्षित ग्रामवासियों के जीवन को धार्मिकता की ओर उन्मुख करके उन्हें सुख-शांति प्रदान करना इन मुनियों का लक्ष्य था। अतएव जैन कवियों ने सर्वदा जनभाषा और प्रचलित मुहावरों के माध्यम से अपनी धार्मिक अनुभूतियों को कलात्मक शैली में जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया। उनकी कलात्मक शैली में तीन कलाओं—संगीत कला, नृत्य कला एवं काव्य कला—का योग था। लोकगीतों में व्यवहृत राग-रागिनियों का आश्रय लेकर नृत्य के उपयुक्त काव्यसृजन उनका ध्येय था। उन कवि जैनाचार्यों से जन-सामान्य की दर्शन एवं काव्य-संबंधी योग्यता छिपी नहीं थी। अतएव उन्होंने इस तथ्य को सदा ध्यान में रखा कि दर्शन एवं काव्य का गूढ़ातिगूढ़ भाव भी सहज बोधगम्य बनाकर पाठकों के संमुख रखा जाय ताकि उन्हें दुर्बोध न प्रतीत हो। इसी कारण अलंकार-नियोजन एवं रसध्वान के प्रयोग में वे सदा सतर्क रहा करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सहज बोधगम्य होने से उनके काव्य आज भी ग्रामीण जनता के प्राण और धर्म पथ के प्रदर्शक बने हुए हैं।

यद्यपि जैन रासो में प्रायः सभी मुख्य अलंकारों की छटा दिखाई पड़ती है तथापि उपमा के प्रति इनकी विशेष रुचि प्रतीत होती है। जैनाचार्य प्रायः

अलंकार

अपनी अनुभूति को सरल-सुबोध किंतु सरस पदावली में कहने के अभ्यासी होते हैं। सभी प्रकार के अनुप्रास द्वारा इनकी वाणी में मनोरमता आती जाती है। किंतु जहाँ किसी सूक्ष्म विषय का चित्र सामान्य जनता के मस्तिष्क में उतारना पड़ता है वहाँ ग्राम्य जीवन में व्यवहृत स्थूल पदार्थों के माध्यम से एक के पश्चात् दूसरी तत्पश्चात् तीसरी उपमा की झड़ी लगाकर वे अपने विषय को रोचक एवं सहज बोधगम्य बना देने का प्रयास करते हैं। प्रमाण के लिए देखिए। तपस्वी गौतम स्वामी के सौभाग्य गुण आदि का वर्णन करते हुए कवि विनयप्रभ कहते हैं—जैसे आम्रवृक्ष पर कोयल पंचम स्वर में गाती है, जैसे सुमन-वन में सुरभि महक उठती है, जैसे चंदन सुगंध की निधि है, जैसे गंगा के पानी में लहरें लहराती हैं, जैसे कनकाचल सुमेरु पर्वत अपने

तेज से जगमगाता है उसी भाँति गौतम स्वामी का सौभाग्य समूह शोभायमान हो रहा है।—

जिम सहकारे कोइल टहुके, जिम कुसुमहवने परिमल बहके,
जिम चंदन सौगंध निधि;
जिमि गंगाजल लहरें लहके, जिम कणयाचल तेजे झलके,
तिम गोतम सोभाग निधि ॥[1]

उक्त छंद में आम के लिए सहकार, सुमेर पर्वत के लिए कनकाचल शब्द का प्रयोग कितना सरस और अवसर के अनुकूल है। उसी प्रकार कोकिल काकली के लिए टहुकना (बार बार एक शब्द की पुनरावृत्ति), परिमल की चतुर्दिक् व्याप्ति के लिए बहकना, गंगा की लहरियों के लिए लहरना और स्वर्ण पर्वत का प्रकाश में झलकना कितना उपयुक्त प्रतीत होता है। अनेक उपमाओं के द्वारा गौतम के सौभाग्य भंडार का बोध पाठक के मन में सहज ही हो जाता है और यह पदावली नृत्य की थिरकन के समय नूपुर-झंकार के भी सर्वथा अनुकूल प्रतीत होती है।

दूसरा उदाहरण देखिए—

गौतम स्वामी को उपयुक्त स्थल पाकर विविध सद्गुण इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए शोभा देते हैं जिस प्रकार मानसरोवर में हंस, सुरवर के मस्तक पर स्वर्ण मुकुट, राजीव-वन में सुंदर मधुकर, रत्नाकर में रत्न, गगन में तारागण—

जिन मानस सर निवसे हंसा, जिम सुरवर शिरे कणयवतंसा,
जिम महुयर राजीव वने;
जिम रयणायर रयणे विलसे, जिम अंबर तारागण विकसे,
तिम गोयम गुण केलि रवनि ।[2]

कवि की प्रतिभा का परिचय उपयुक्त शब्द-चयन में देखते ही बनता है। निवसे, विलसे, विकसे—में कितना माधुर्य है। मानसरोवर के लिए मानसर, इंद्र के लिए सुरवर, समुद्र के लिए रत्नाकर, आकाश के लिए अंबर को रखकर कवि ने काव्य को कितना सरस और समयानुकूल बना दिया है। इससे

१—रास और रासान्वयी काव्य—पृ० १४३, ढाल छट्ठी
२—रास और रासान्वयी काव्य—पृष्ठ १४३ छंद ५२

मानससर, सुरवर, महुयर, रयणायर, अंबर की अनुप्रास छटा कितनी मनोहारी बन गई है। जिस प्रकार हंस को अपने मानस के अनुकूल सर (जलाशय) प्राप्त हो गया, स्वर्ण मुकुट को साधारण पार्थिव राजा नहीं अपितु सुर वर का शिर स्थान मिल गया, मधुकर को सामान्य बन नहीं कमल बन की उपलब्धि हो गई, तारागण को विकसित होने के लिए मुक्त अंबर मिल गया; उसी प्रकार सद्गुणों को निवास के लिए गौतम स्वामी का चरित्र मिल गया। काव्य की सरसता के साथ चरित्र-चित्रण की कला का सुंदर सामंजस्य देखकर किस सहृदय का मन उल्लसित न हो उठेगा। नृत्य एवं संगीत के अनुकूल ऐसा सरस अभिनेय काव्य हमारे साहित्य का शृंगार होने योग्य है। आगे चलकर कवि कहता है कि गौतम स्वामी का नाम अपनी लब्धियों के कारण चारो ओर इस प्रकार गूँज रहा है जिस प्रकार शाखाओं से कल्पवृक्ष, मधुर वाणी से उत्तम पुरुष का मुख, केतकी पुष्प से वन प्रदेश, भुजबल से प्रतापी सम्राट् और घंटारव से जिन मन्दिर। कवि उपमा देते समय किस प्रकार अदृश्य से स्थूल दृश्य पदार्थों की ओर आता गया है। कल्पवृक्ष की उपमा गौतम के देवसुलभ गुणों की ओर ध्यान दिलाने के लिए आवश्यक थी। मधुर वाणी के द्वारा उत्तम पुरुष की महिमा का गूँजना उसकी अपेक्षा अधिक बोधगम्य बना। इससे एक तथ्य का उद्घाटन भी हो गया कि उत्तम पुरुष को कटुभाषी नहीं होना चाहिए। इसके उपरांत तीसरी उपमा में केतकी पुष्प से बन प्रदेश का सुरभि-परिपूर्ण होना और भी विषय को स्पष्ट कर देता है। प्रत्येक ग्रामीण जन इस स्थिति से पूर्ण परिचित होता है। तदुपरांत चौथी उपमा देशकाल के लिए कितनी उपयुक्त है। यदि राजा प्रतापी बनना चाहता है तो केवल अपने सैन्य बल पर ही निर्भर न रहे। उसमें अपना बाहुबल भी होना चाहिए। जिस राजा में अपना पुरुषार्थ होगा, संकटों से (विदेशी शासकों के अत्याचार से) जूझने की सामर्थ्य होगी वही यशस्वी बन सकता है। उसके यश से देश का कोना कोना गुंजरित हो उठता है। इसका अनुभव काव्य के रचनाकाल चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में प्रत्येक भारतवासी को हो रहा था।

अंतिम उपमा कितनी स्पष्ट है। जिनवर के मंदिर का घंटारव से गुंजरित होने का अनुभव नित प्रति प्रत्येक व्यक्ति को होता रहता है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल की ओर उपमा की गति को बढ़ाते हुए कवि पाठक के

मन में प्रस्तुत विषय को स्पष्ट कराते समय अनेक नए तथ्यों का उद्घाटन भी करता चलता है।

जिम सुर तरुवर सोहे साखा, जिम उत्तम मुखे मधुरी भाषा,
जिम वन केतकी महमहे ए;
जिम भूमिपति भूय बल चमके, जिम जिण-मंदिर घंटा रणके,
गोयम लब्धे गहगहे ए ॥

इस छंद में सोहे, महमहे, गहगहे, चमके, रणके आदि शब्दों की अनुप्रास छटा के साथ साथ अवसर के उपयुक्त शब्दों का चयन कवि की प्रतिभा का द्योतक है। सुरतरुवर और उत्तम पुरुष का मुख सुशोभित होता है, केतकी से वन महमह करता है। भुजबल से भूमिपति चमकता है और घंटा से जिण मंदिर रणक उठता है। इसे काव्य नहीं तो और क्या कहा जा सकता है।

गौतमस्वामी रास में उपलब्ध उपमा की शैली अठारहवीं शताब्दी के कवि भीखन में भी दिखाई पड़ती है। एक स्थान पर कवि कहते हैं—

सर सर कमल न नीपजै, वन वन अगर न होय
घर घर संपत्ति न पामिए, जन जन पंडित न होय,
गिरिवर गिरिवर गज नहीं, फल फल मधुर न स्वाद
सबही खान हीरा नहीं, चंदन नहीं सब बाग,
रत्नशशि जिहाँ तिहँ नहीं, मणिधर नहीं सब नाग,
सबही पुरुष सूरा नहीं, सब ही नहीं ब्रह्मचार।
सबही सीप मोती नहीं, केशर नहि गामोगाम,
सगला गिरि में स्वर्ण नहीं, नहि कस्तूरी नो ठाम ॥

ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी की विशेषता और दुर्लभता का ज्ञान कराने के लिए कवि ने कितनी ही उपमायें एकत्रित कर दी हैं।

इसी युग के पंजाब के योद्धा कवि गुरु गोविंद सिंह के वैष्णव रास का काव्य सौंदर्य देखिए—

शारदीय ज्योत्स्ना में यमुना-पुलिन पर रास मंडल की धूम मची है। गोपियाँ उस रासमंडल के अमृत सागर में किस प्रकार कलोल कर रही हैं—

जल में सफरी जिम केलि करै तिम ग्वारनियाँ हरि के सँग डोलैं।
ज्यों जन फाग को खेलत हैं तिहि भाँतिहि कान्ह के साथ कलोलैं॥
कोकिलका जिम बोलत है तिम गावत ताकी बराबर बोलैं।
स्याम कहै सभ ग्वारनियाँ इह भाँतन सो रस कान्ह निचोलैं॥

कविवर की दृष्टि में इस रास मंडल का प्रभाव गोपीजन एवं पृथ्वी-मंडल तक ही परिसीमित नहीं, इसके लिए सुरवधुएँ एवं देवमंडल भी लालायित है।[1]

खेलत ग्वारन मद्धि सोऊ कवि स्याम कहै हरि जू छवि वारो।
खेलत है सोउ मैन भरी इनहूँ पर मानहु चेटक डारो॥
तीर नदी ब्रिज भूमि बिखै अति होत है सुंदर भाँत अखारो॥
रीझ रहै प्रिथवी के सभै जन रीझ रह्यो सुर मंडल सारो।

रास मंडल में नर्त्तन करते समय नृत्य और संगीत की ध्वनि से गंधर्वगण और नृत्य सौंदर्य से देववधुएँ भी लज्जित हो जाती हैं—[2]

गावत एक नचै इक ग्वारिन तारिन किंकिन की धुनि बाजै।
ज्यों म्रिग राजत बीच म्रिगी हरि त्यों गन ग्वारिन बीच बिराजै॥
नाचत सोउ महाहित सो कवि स्याम प्रभा तिनकी इम छाजै।
गाइब पेखि रिसै गन गंध्रब नाचब देख बधू सुर लाजै॥

पंजाबकेसरी एवं भारतीयता के पुजारी गुरु गोविन्द सिंह की रास रचना में भाषा का माधुर्य और भावों की छटा देखते ही बनती है। किंतु रास रचना का यह क्रम पंजाब में कदाचित् समाप्तप्राय हो गया। किंतु आसाम में शंकर देव से आज तक इसकी धारा निरंतर प्रवाहित होती जा रही है। जैनरास की यह विशेषता है कि इसकी परंपरा एक सहस्र वर्ष से अविच्छिन्न बनी हुई है। जैनाचार्य अद्यापि लोकगीतों में व्यवहृत राग-रागिनियों का आश्रय लेकर रास और रासान्वयी काव्य की रचना करते चले जा रहे हैं।

तेरा पंथी के नवें आचार्य श्री तुलसी ने संवत् २००० वि० के समीप 'उदाई राजा' के जीवन पर उपदेशप्रद रास की रचना की है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

१—गुरु गोविंद सिंह—कृष्णावतार—छंद ५३०
२— " " " ५३१

राजा उदाई सिंध देश का सम्राट था। मगध—सम्राट उदयन से यह भिन्न था। जब भगवान् महावीर उसके राज्य में पधारे तो उसने भगवान् की बड़ी भक्ति की और स्वयं दीक्षित होने का विचार करने लगा। दीक्षा से पूर्व, राज्य की व्यवस्था करते समय उसने अपने पुत्र अभीचकुमार को राज्यशासन के कारण होने वाले अनेक पाप कर्मों से बचाने के लिए राज्य भार न देकर, अपने भानजे केशी कुमार को राज्याधिकारी बनाया। पिता का पवित्र उद्देश्य न समझने के कारण अभीचकुमार दुखी होकर अपने ननिहाल चला गया।

कालांतर में उदाई एक दिन साधु-अवस्था में केशी की राजधानी में पहुँचे। केशी सशंक हुआ कि कहीं यह षड्यंत्र करके मुझ से राज्य छीन कर अपने पुत्र को देने तो नहीं आये हैं? उसने नगर में घोषणा कर दी कि कोई नगर-निवासी किसी साधु को आश्रय न दे; किंतु अपने प्राणों को संकट में डालकर भी एक कुम्हार ने साधु उदाई को स्थान दिया। इतना ही नहीं, उस श्रावक ने साधु के रोग का उपचार भी एक वैद्य के द्वारा कराना प्रारंभ किया। राजा केशी ने वैद्य से बलात्कार औषधि में विष दिला दिया और उदाई मुनि का देहावसान हो गया। इस घटना से कुपित होकर एक देव ने अपनी देवशक्ति से सारे शहर को ध्वस्त कर दिया। केवल उस कुम्हार का घर ही अवशिष्ट रहा।

अभीचकुमार भी संयमी बना, पर पिता के प्रति उसका रोष शांत न हो सका। अंत समय में भी उसने अपने पिता उदाई के प्रति द्वेष भाव ही व्यक्त किया। अतः मृत्यु के उपरांत वह निम्न श्रेणी का देव बना।

जैन रासों की दूसरी काव्यगत विशेषता है—लोकसंगीत के साथ इनकी पूर्ण अन्विति। जैनाचार्यों ने लोकगीतों विशेषकर स्त्रियों में प्रचलित राग

जैन रास और लोक संगीत

रागिनियों के माध्यम से अपने काव्य को गेय अथवा अभिनेय बनाने का सदा ध्यान रखा। यह क्रम आज तक निरंतर चला जा रहा है। दिगंबर, श्वेतांबर, स्थानक वासी, मूर्त्तिपूजक, तेरापंथी सभी आचार्य अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए लोक गीतों की सहायता लेते रहे हैं। इसी कारण जिन जैन रासो में काव्य छटा धूमिल पड़ती दिखाई पड़ती है उनमें लोकगीत के द्वारा संगीत की सरसता अनायास ही आ जाती है और काव्य सप्राण हो उठता है। इसी क्रम में आचार्य तुलसी का 'उदाई

राजा' का रास मिलता है। यह रास आज दिन राजस्थान में स्थान स्थान पर निम्नलिखित लोकगीतों के आधार पर गाया जाता है। इस रास के बोल हैं—

ढाल ११—राग—भँवर रो मन ले गई सोनारी।
अंतरा ढाल—राग—म्हाँरी रस सेलड़ियाँ ॥
ढाल मूल—राग—भँवर रो मन ले गई सोनारी ॥
ढाल ८—राग—म्हाँ रे निंबुवा ले दो।
ढाल ७—राग—सुहाग माँगण चाली ॥
ढाल ६—राग—बना गहरो रंग रंग लाज्यो ॥

कथावस्तु की दृष्टि से इस रास में काव्य-सौंदर्य तो है ही, संगीत की सरसता आ जाने से सामाजिक पर इसका प्रभाव और भी गंभीर बन जाता है। इस रास की भाषा आधुनिक बोलचाल की जनभाषा है। उदाहरण के लिए देखिए। अभीच का हृदय केशी को राज्य देने पर पिता के प्रति आक्रोश के कारण अशांत बना है—

उर बिच करुण कष्ट उमड़ायो।
वज्राहतवत् मूर्छा पायो।
सबय मिली शिर सलिल सिंचायो।
चेतनता लहि दर्द दिखायो।
'तुलसी' धन्य सुगुरु पथ पायो ॥

इस रास की रचना-शैली से प्राचीन परंपरा का अनुमान लगाते हुए यह निर्भ्रांत रूप से कहा जा सकता है कि जनभाषा और लोकसंगीत के माध्यम के बल पर जनरुचि को परिमार्जित करने के पावन उद्देश्य से एक सहस्र वर्ष तक जैन रास की अजस्र धारा प्रवाहित होती चली जा रही है।

रास की शैली पर जैन और वैष्णव कवियों ने 'व्याहुलो' की भी रचना की है। जैनाचार्य भीखण स्वामी और प्रायः उनके समकालीन ध्रुवदासजी के 'व्याहुले' का विवेचन करने से यह प्रतीत होता है कि जहाँ जैनाचार्य व्याह को बंधन समझ कर उससे मुक्ति पाने का उपदेश दिया करते थे, वहाँ वैष्णव भक्त राधा-कृष्ण के व्याह का सुअवसर ढूँढ़ा करते थे। भीखण स्वामी

व्याहुलो

समाज में प्रचलित वैवाहिक रीतियों के आधार पर विवाह-बंधन से मुक्त होने की शिक्षा देते हुए कहते हैं—

"अब दूल्हा विचारा मायाजाल में पूर्णतया फँस जाता है। उसे कन्या पक्ष के सामने हाथ जोड़कर चाकर की तरह खड़ा रहना पड़ता है। विषयांध दूल्हे को यह विस्मृत हो जाता है कि इस मायाजाल का दुष्परिणाम उसे कितना भोगना पड़ेगा। उसे परिवार का संचालन करने को चोरी, हत्या, झूठ, दासता और चाटुकारिता के लिए बाध्य होकर अपना जीवन विनष्ट करना होगा[1] ।—

घर चिन्ता लागी घणी, दिन झूरता जाय।
अछते छते तिरकतो, तरफे फाँसी मांय।
चोर कसाई ऋण दगो, झूठ गुलामी बेठ।
इतरा बाना आदरे, तोइ नीठ भरीजै पेट॥

विवाह के ऋण से उऋण होने के लिए नाना कष्टों का सामना करते हुए वर की दुर्दशा का चित्र खींचा गया है। ब्याह-ऋण समाप्त होता ही नहीं तब तक पुत्र-पुत्रियों की रुग्णावस्था के कारण ऋण-चिंता, उनकी शिक्षा और दीक्षा, उनके विवाह का भार, उत्सव के समय मित्रों एवं कुटुंबियों को भोज देने का व्यय सर पर आ पड़ता है और सारा जीवन दुखदायी बन जाता है। अतएव घर की संपत्ति गँवाकर मायाजाल मोल लेने वाले की मूर्खता को क्या कहा जाय।

परण्यो जब उजम हुतो, अब गयो तन सोख।
गले बाँधी कलेषणी, अरु रुपिया लीधा खोस॥

इसके विपरीत ध्रुवदास जी का 'ब्याहुला' सखियों के विनोद का परिणाम है। वे राधाकृष्ण के सेवारस में ऐसी पगी हुई हैं कि इनके अतिरिक्त उन्हें और कुछ रुचता ही नहीं। राधा और कृष्ण मौर-मौरी पहन कर विवाह-वेदी पर आसीन हैं। उनकी शोभा का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

नवसत सिंगारे अंग अंगनि झलक तन की अति बढ़ी।
मौर मौरी सीस सोहै मैन पानिप मुष चढी॥
ललन सुमननि सेहरे रचि रतन हीरे जगमगै।
देखि अद्भुत रूप मनमथ कोटि रति पाइन लगैं।

१—भीखण स्वामी, ब्याहुला, छंद ६८

जहाँ भीखण स्वामी ने मौर-मौरी, मेंहदी आदि को दुख का कारण बताया है वहाँ ध्रुवदास जी ने राधा कृष्ण के संपर्क से इन पदार्थों का आनंद-दायक होना सिद्ध किया है—

सुरँग महदी रंग राचे चरन कर अति राजही।
विविध रागनि किंकिनी अरु मधुर नूपुर बाजही॥

उस शोभा को देखकर—

'तिहिं समै सखि ललितादि हित सौं हेर प्रानन वारही।
एक वैस सुभाव एकै सहज जोरी सोहनी।'

भक्त ध्रुवदास प्रभुप्रेम की डोरी को मुक्ति से अधिक श्रेयस्कर मान कर कहते हैं—

'एक डोरी प्रेम की 'ध्रुव' बँधे मोहन मोहनी'[1]

यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर वैष्णव और जैन कवियों की साधना-पद्धति और काव्य-शैली में भेद दिखाई पड़ता है किंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर दोनों को हम एक ही भूमिका पर पाते हैं।

आत्मानुभूति की अजस्र धारा में देशकाल, जातिधर्म, स्व-पर का भेद-भाव विलीन हो जाता है। जब अनुभूति आत्मिक व्यापार का सहज परिणाम बन जाती है तो उसकी परिधि में प्रवेश पाने को सत्य, शिव और सौंदर्य लालायित हो उठते हैं। अलंकार, छंद, रस आदि काव्यगुण हाथ जोड़े उस दिव्य दृष्टि की प्रतीक्षा करते हैं। भक्त कवि की अनुभूति के अखंड राज्य में उन सबके उपयुक्त स्थान निर्द्धारित रहता है। वे स्वतः अपने अपने स्थान पर विराजमान हो जाते हैं, भक्त कवि उन्हें आमंत्रित करने नहीं जाते। इसी कारण कहा जाता है कि 'समस्त काव्य शैलियों और काव्य स्वरूपों में अनुभूति की अखंड एकरूपता का अनवरत प्रवाह दिखाकर भारतीयों ने काव्य की सार्वजनीनता और सार्व भौमिकता सिद्ध की'।

यह संभव है कि कोई उपासक कवि अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में पूर्णतः एकरूपता स्थापित न कर पाए, पर यदि उसकी अनुभूति परिपक्व है तो उसकी अभिव्यक्ति में आदर्शमय साधन का अभाव भी उसकी रचना को काव्यक्षेत्र से बहिष्कृत करने में समर्थ नहीं हो सकता। तथ्य तो यह है कि

---

१ ध्रुवदास, ब्याहलो, हस्तलिखित प्रति (का० ना० प्र० स०) पृष्ठ २

'जिस अनुभूति में अभिव्यक्ति की क्षमता नहीं होती वह अनुभूति न होकर कोरी इंद्रियता या मानसिक जमुहाई मात्र है।'

जीवन के परमतत्त्व का संदेश विरले ही कवि सुन पाते हैं और उन्हें काव्यरस में संपृक्त करके वितरित करनेवाले तो और भी दुर्लभ हैं। रास के कतिपय मेधावी कवि उन्हीं कवियों में परिगणित होने योग्य हैं जिनकी लेखनी से काव्यकला धन्य बन गई।

रास साहित्य की उपयोगिता

१—समाज के ऐसे वर्ग का स्वाभाविक चरित्रचित्रण जिसने जीवन के भोगों का सामना करते हुए गुरुदीक्षा और तपसाधना के बल पर आमुष्मिकता की ओर अपने मन को उन्मुख किया। उन तपस्वी मनीषियों को जिन-जिन बाधाओं एवं प्रलोभनों से युद्ध करना पड़ा, उनका मनोहारी आख्यान इन ग्रंथों में अंकित मिलता है। सांसारिकता के पंक से पंकिल सूक्ष्म मानस, काया अध्यात्म-गंगा में स्नान करने पर जिस प्रक्रिया द्वारा दिव्य एवं जगमंगलकारी बन सकती है उसकी व्याख्या हमें इन रासकाव्यों में मिलती है। अतः चरित्रविकास का क्रम समझने में ये रासकाव्य सहायक सिद्ध होते हैं।

२—भारतीय इतिहास-निर्माण में राजा महाराजाओं के विजय-विलासों, अस्त्रशस्त्रों एवं सैन्यशक्तियों का ही योग माना जाता था किंतु जब से विद्वानों का ध्यान अपनी सभ्यता और संस्कृति के उथल-पुथल, सामाजिक गतिविधियों, धार्मिक आंदोलनों के उत्थान-पतन की ओर जाने लगा है तब से रास एवं रासान्वयी काव्यों के अनुशीलन की ओर शोध कर्त्ताओं का ध्यान आकर्षित हुआ है। अतः भारतीय चिंता-धारा की सम्यक् ज्ञानोपलब्धि में इन रास काव्यों की उपादेयता मुक्तकंठ से स्वीकार की जाने लगी है।

३—ऐतिहासिकों ने शस्त्र-युद्ध के विजेता और विजित का विवरण तो इतिहास ग्रंथों में सुरक्षित रखा किंतु उन अध्यात्म विजेताओं के जीवन की उपेक्षा की जिन्होंने स्वेच्छा से बड़ी से बड़ी विभूति को ठुकरा दिया और जिन्हें जगत् का भीषण से भीषण शत्रु कभी एक क्षण के लिए पराजित न कर सका। ऐसे योद्धाओं में भरतेश्वर बाहुबली जैसे सामंत, कुमारपाल वस्तुपाल जैसे राजा, अंजनासती जैसी नारी, नेमिकुमार जैसे मुनि, वृद्धिविजय

गणि जैसे पंडित आदि विख्यात है। इन लोगों की जीवनगाथा का सत्य परिचय हमें इन रास ग्रंथों में उपलब्ध है जिन्हें उनकी शिष्य-परंपरा ने सुरक्षित रखा है। कुमारपाल, वस्तुपाल, अगड् आदि रास काव्यों में इस प्रकार के इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

४—हमारे देश के इतिहास में जिस प्रकार राजवंशों की कार्यावलियों को अखंड रखने की परिपाटी थी उसी प्रकार रासकाव्यों में जैनाचार्यों की शिष्य परंपरा द्वारा उनके कृत्यों एवं विचारों कों सुरक्षित रखने की दीर्घ परंपरा चली आ रही है। इन आचार्यों के विविध गच्छ थे जिनमें आगम गच्छ, उपकेश गच्छ, खरतर गच्छ, तपा गच्छ, रत्नाकर गच्छ, अंचल गच्छ, वृद्धतपा गच्छ, सागर गच्छ प्रभृति प्रमुख गच्छों के अनेक आचार्यों के जीवन का क्रमबद्ध इतिहास प्राप्त होता है। इन आचार्यों ने समाज के सदाचार-रक्षण एवं अध्यात्म-चिंतन में अपना तपोमय जीवन समर्पित कर दिया। अतः उनका जीवन-काव्य समाज के एक उपयोगी अंग का परिचय देने में सहायक सिद्ध होता है।

५—जिस प्रकार डा० फ्लीट आदि विद्वानों ने पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर पौराणिक काल की सभ्यता एवं संस्कृति, राजनैतिक एवं सामाजिक स्थितियों का विवरण प्रस्तुत किया है उसी प्रकार कई विद्वानों ने रासमाला के आधार पर पश्चिमी भारत के सांस्कृतिक एवं राजनैतिक इतिहास का निर्माण किया है। पट्टावलियों में जैनाचार्यों के काल का यथातथ्य रूप में वर्णन मिलता है। पट्टाधीश आचार्यों की जन्मतिथि, शिक्षा-दीक्षा आदि का संकेत प्रत्येक रास की प्रशस्ति अथवा कलश में विद्यमान है। अतः इनके द्वारा मध्ययुगीन सांस्कृतिक चेतना का विकास समझने में सहायता मिलती है।

६—जन सामान्य की बोधगम्यभाषा एवं काव्य-शैली में मानवोपयोगी नीति नियमों, धार्मिक सिद्धांतों के उपदेश का स्तुत्य प्रयास रास काव्य में प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होता है। इस प्रयास से जन साधारण का मंगलमय इतिहास निर्मित हुआ है। उस इतिहास की झाँकी देखकर जीवन को विकसित करने का सुअवसर प्राप्त होता है। रास काव्य की यह विलक्षणता कि इसमें काव्य, इतिहास एवं धर्म-साधना की त्रिवेणी का एकत्र दर्शन होता है।

७—रास काव्यों में कवियों के बुद्धि वैभव, काव्य चमत्कार, अलंकार-छटा, एवं कल्पनाविलास का जो निखरा सौंदर्य दिखाई पड़ता है वह अति रमणीय एवं हृद्य है। अतः काव्यरस की उपलब्धि के लिए यह साहित्य पठनीय है।

८—आलोचकों का एक वर्ग धार्मिक साहित्य को रस-साहित्य में परिगणित न कर कोरी उपदेशात्मक पद्यरचना मानना चाहता है। किंतु ऐसे आलोचक रास साहित्य के उस प्रबल पक्ष की अवहेलना कर जाते हैं जिसका प्रभाव परवर्ती भारतीय साहित्य पर स्पष्ट झलकता है। रास की छंद-शैली कथावस्तु, प्रकृति-निरूपण, दार्शनिक सिद्धांत आदि विविध उपादानों एवं विधानों का मध्यकालीन साहित्य पर प्रभाव स्पष्ट झलकता है। यदि रास काव्यों में काव्य सौष्ठव नितांत उपेक्षित भी होता तो भी यह साहित्य प्रभाव की दृष्टि से भी अध्येय होता किंतु रास-साहित्य में रस की उपेक्षा कहाँ। उपदेशप्रद सिद्धांतों को हृदयंगम कराने की नवीन पद्धति का अनुसरण करते हुए काव्यरस और अध्यात्मरस का जैसा मिश्रण रास साहित्य में देखने को मिलता है वैसा कबीर, सूर, तुलसी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई पड़ता। इसी कारण डा० हजारीप्रसाद चंदबरदाई, कबीर एवं सूर को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि "इधर जैन-अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक संप्रदाय के मुहर लगने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है।...धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती।...केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे तो हमें आदि काव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा।[1]

९—रास काव्य के रचयिता प्रायः विरक्त साधु-महात्मा होते थे। उनके समस्त जीवन का उद्देश्य आत्म-समर्पण एवं परहित-चिंतन हुआ करता था। जन सामान्य के जीवन को विकासोन्मुख बनाने के विविध साधनों का वे निरंतर चिंतन करते थे। रास की गेय एवं अभिनेय पद्धति का आविष्कार उनके इसी चिंतन का परिणाम है। अतः रास काव्यों के अध्ययन से उन

१—हिंदी साहित्य का आदिकाल—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ११

मनीषियों की मौलिक उद्भावना का ज्ञान प्राप्त होता है, जिन्होंने अनिकेतन रहकर गृहस्थों का मंगलमय पथ ढूँढ़ निकाला था।

१०—हिंदी साहित्य के आदिकाल की जिस विच्छिन्न शृंखला की ओर शुक्ल जी बारबार ध्यान दिलाते थे उसकी कड़ी का ज्ञान इन रास काव्यों के द्वारा सरलता से हो जाता है। कबीर, तुलसी, सूर आदि महाकवियों ने पुरानी हिंदी का जो साहित्य पैतृक-संपत्ति के रूप में प्राप्त किया था उसका अनुसंधान इन रास काव्यों के आधार पर किया जा रहा है। अतः इस दृष्टि से भी रास काव्यों का महत्त्व है।

११—रास काव्यों का सबसे अधिक महत्त्व भाषाविज्ञान की दृष्टि से सिद्ध हुआ है। परवर्ती अपभ्रंश एवं मध्यकालीन हिंदी भाषा के मध्य जन सामान्य की व्यावहारिक भाषा क्या थी इसका सबसे अधिक प्रामाणिक रूप रास काव्यों में विद्यमान है। अतः न्यूनाधिक चार शताब्दियों तक समस्त उत्तर भारत के कोटि कोटि कंठों से गुंजरित होने वाली और उनके सुख-दुख, मिलन-विरह के क्षणों को रससिक्त करने वाली भाषा के लावण्य का मूल्यांकन क्या कम महत्त्व का विषय है! तात्पर्य यह है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी रास काव्यों का अनुशीलन साहित्य-शास्त्रियों के लिए अनिवार्य है।

१२—मध्ययुग के सिद्धसंतों और प्राणों की आहुति देनेवाले सामंतों ने मानव में निहित देवत्व को जगाने का जो सामूहिक प्रयास किया उसकी अभिव्यक्ति इस रास साहित्य में विद्यमान है। अतः उस काल की धर्मसाधना की सामूहिक अभिव्यंजना होने के कारण राससाहित्य का अध्ययन साहित्यिक दृष्टि से वांछनीय ही नहीं अपितु अनिवार्य है। अन्यथा साहित्य केवल शिक्षित जनता की मनोवृत्तियों का दर्पण रह जायगा, 'मानवसमाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति' उसमें न हो पाएगी।

कवि परिचय

जिनदत्तसूरि

भारतीय साहित्य-शास्त्रियों में आचार्य हेमचंद्र का विशिष्ट स्थान है। उनके प्रभाव से अपभ्रंश साहित्य भी प्रभावित हुआ। संस्कृत और प्राकृत भाषा के विद्वान् आचार्य जनभाषा अपभ्रंश में रचना जनहित के लिए आवश्यक समझने लगे थे। ऐसे ही समय सं० ११३२ वि० में वांच्छिग नामक श्रावक की पत्नी वाहड़ (देवी) के गर्भ से धोलका नामक स्थान में एक शिशु उत्पन्न हुआ। जिसका जन्मजात नाम सोमचंद्र था। सं० ११४१ वि० में इसने धर्मदेवोपाध्याय से दीक्षा ग्रहण की और तत्कालीन प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि के देहावसान होने पर चित्रकूट में संवत् ११६६ वैशाख वदी छट्ठ को देवभद्राचार्य से सूरि मंत्र लिया। और जिनदत्त सूरि के नाम से प्रख्यात हुए।

वागड़ देश में भ्रमण करते हुए आपने आचार्य जिनवल्लभ सूरि की स्तुति में २१ मात्रावाले कुंद छंद में ४७ कड़ियों की रचना की। तदुपरांत इन्होंने 'उपदेश रसायन रास' की रचना की जिसका परिचय रास के प्रारंभ में दिया गया है।

इनके जन्मस्थान के विध्वंस के विषय में उल्लेख मिलता है कि सं० १२०० में राजा कुमारपाल के राज्य में एकबार दस्युदल का प्रबल प्रकोप फैला और संभवतः उसी कोपाग्नि में इनकी जन्मभूमि भस्मीभूत हो गई। ऐसा प्रतीत होता है कि तदुपरांत उन्होंने अपने जन्मस्थान से सर्वथा संबंध-विच्छेद कर लिया। सं० ११७० वि० में उनके एक शिष्य जिनरक्षित ने पल्ह कवि विरचित एक संस्तुति की प्रतिलिपि धारा नगरी में प्रस्तुत की जिससे इस आचार्य जिनदत्त सूरि की महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है—

> व्याख्यायते तत् परमतत्त्वं येन पापं प्रणश्यति।
> आराध्यते सः वीरनाथः कविपल्हः प्रकाशयति॥
> धर्मः स दयासंयुक्तः येन वरगतिः प्राप्यते।
> चापः स अखंडितकः यः वन्दित्वा सुलभ्यते।

संवत् १२११ की आषाढ़ सुदी एकादशी को अजयमेरु में आप का देहावसान हो गया।

अब्दुल रहमान

संदेश रासक के रचयिता अद्दहरहमाण (अब्दुल रहमान) की जन्म-तिथि अभी तक अनिर्णीत है। किंतु संदेशरासक के अंतःसाक्ष्य के आधार पर मुनि जिन विजय ने कवि अब्दुल रहमान को अमीर खुसरो से पूर्ववर्ती सिद्ध किया है और इनका जन्म १२ वीं शताब्दी में माना है।

एक दूसरे इतिहास लेखक केशवराम काशीराम[१] शास्त्री का अनुमान है कि अब्दुल रहमान का जन्म १५ वीं शताब्दी में हुआ होगा। शास्त्री जी ने अपने मत का कोई प्रमाण नहीं दिया है। 'संदेश रासक' के छंद तीन और चार के आधार पर इतना निर्भ्रांत कहा जा सकता है कि भारत के पश्चिमी भाग में स्थित म्लेच्छ देश के अंतर्गत मीरहुसेन के पुत्र के रूप में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जो प्राकृत काव्य में निपुण था। के० का० शास्त्री का अनुमान है कि पश्चिमी देश में भरुच के समीप चैमूर नामक एक नगर था जहाँ मुसलमानी राज्य स्थापित होने पर अब्दुल रहमान के पूर्वज ने किसी हिंदू कन्या से विवाह कर लिया और उसी वंश में अब्दुल रहमान का जन्म हुआ जिसने प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन किया और अपने ग्रंथ की रचना साहित्यिक अपभ्रंश के स्थान पर ग्राम्य अपभ्रंश में की।

इस कवि की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है। 'संदेश रासक' की हस्तलिखित प्रति पाटण के जैन भंडार में मिली है। इससे ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि किन्हीं कारणों से कवि पाटण में आकर बस गया होगा और हिंदुओं तथा जैनों के संपर्क में आने से उसने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश का अभ्यास कर लिया होगा। इससे अधिक इस कवि का और कोई परिचय संभव नहीं।

सुमतिगणि का परिचय

'नेमिनाथ रास' में रासकार सुमतिगणि ने अपने को जिनपति सूरि का शिष्य बतलाया है। आपके जीवन का विशेष परिचय अज्ञात है। श्री भँवरलाल नाहटा का अनुमान है कि आप राजस्थानी थे और आपकी दीक्षा

१—केशवराम काशीरामशास्त्री–कविचरित, भाग १–पृ० १६-२७

सं० १२६० आषाढ़ शुक्ल ६ को हुई थी। संभवतः आपका दीक्षा-संस्कार लवणखेटक अर्थात् खेड़पुर में हुआ था। गुर्वावलि से यह ज्ञात होता है कि संवत् १२७३ में जिनपति सूरि अपने शिष्य वर्ग के साथ हरिद्वार में पधारे थे और वहाँ नगरकोट के महाराज पृथ्वीचंद के साथ काश्मीरी राजपंडित मनोदानंद भी विद्यमान थे। पंडित मनोदानंद ने सूरिजी को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया। सूरि जी की आज्ञा से श्री जिनपालोपाध्याय और श्री सुमतिगणि शास्त्रार्थ में संमिलित हुए। इन लोगों ने काश्मीरी पंडित को शास्त्रार्थ में पराजित किया।

[रचनाएँ—

इनकी कई रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें प्रमुख रचना 'गणधरसार्धशतक-वृत्ति' सं० १२६५ में विरचित हुई। १२१०५ श्लोक की टीका भी जो १५० गाथा के मूल पर लिखी गई है आपके रचना-कौशल की परिचायक है। नेमिनाथ रास आपकी प्रारंभिक रचना प्रतीत होती है। आपकी विद्वत्ता के संबंध में गुर्वावलि में इस प्रकार उद्धरण मिलता है, "तथा वाचनाचार्य सूरप्रभकीर्तिचन्द्रवीर प्रभगणि—सुमतिगणि नामानश्चत्वारः शिष्याः महा-प्रधानाविष्पन्नावर्तन्ते। येषामेकैकोऽप्याकाशस्य पततो धरणे क्षमः।"

प्रज्ञातिलक

कच्छूली रास के रचयिता प्रज्ञातिलक सूरि का जीवन वृत्तांत विशेष रूप से उपलब्ध नहीं है। इन्होंने कोरंटा नामक स्थान पर सं० १३६३ वि० में कच्छूली रास की रचना की। कच्छूली आबू के समीप एक ग्राम है जिसका वर्णन इस रास में किया गया है। किंतु चौदहवीं शताब्दी में ऐतिहासिकता को दृष्टि में रखकर रास की रचना इसकी विशेषता है। 'धर्मविधिप्रकरण' के कर्त्ता विधि मार्गी श्रीप्रभसूरि के शिष्य माणिक्यप्रभसूरि ने कच्छूली ग्राम में पार्श्वजिन भुवन की प्रतिष्ठा की थी। माणिक्यप्रभ सूरि ने अपने स्थान पर उदयसिंह सूरि को स्थापित किया था। इसी उदयसिंह सूरि ने चड्डावलि (चंद्रावती) के रावल धंधल देव के समक्ष मंत्रवाद से मंत्रवादी को पराजित किया था। उन्होंने 'पिंड विशुद्धि विवरण', 'धर्म विधि' (वृत्ति) और 'चैत्यवंदन की रचना की थी। संवत् १३१३ वि० में उनका स्वर्गवास हो गया था। तदुपरांत उनके शिष्य कमल सूरि, प्रज्ञा सूरि, प्रज्ञातिलक सूरि विख्यात हुए। उसी शिष्य संप्रदाय में प्रज्ञातिलक सूरि ने कच्छूली रास की रचना की।

जिनपद्म सूरि

जिनपद्म सूरि कृत 'स्थूलि भद्र फागु' भाषा-साहित्य में उपलब्ध समस्त फागु काव्यों में द्वितीय रचना है ! (समय की दृष्टि से) इस कृति के रचयिता जिनपद्म सूरि जैन श्वेतांबर संप्रदाय के अंतर्गत आये 'खरतरगच्छ' के आचार्य थे ! इस खरतर गच्छ की अनुक्रमणिका के अनुसार जिनपद्म सूरि को सं० १३६० में आचार्य पद प्राप्त हुआ था। और सं० १४०० में इनकी मृत्यु हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि इस 'फाग' की रचना सं० १३६० से १४०० के बीच में हुई होगी।

इनकी रचना 'स्थूलि भद्र फागु' एक लघुकाय काव्य है जिसमें २७ कड़ियाँ है। इसकी कथावस्तु जैन इतिहास में प्रसिद्ध है।

राजशेखरसूरि

'नेमिनाथ फागु' के रचयिता 'राजशेखर सूरि' हर्षपुरीय गच्छ या मलबार गच्छ के आचार्य और अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनका संस्कृत 'प्रबंध कोश' एवं 'चतुर्विंशति प्रबंध' गुजरात के मध्यकालीन इतिहास को जानने के लिए प्रमुख साधन ग्रंथ है। 'प्रबंध कोश' की रचना सं० १४०५ में हुई थी। इसके अतिरिक्त कई अन्य संस्कृत ग्रंथों की भी रचनायें इन्होंने की है जिनमें 'न्याय कंदली' 'विनोद-कथा-संग्रह' आदि है। विद्वानों के मतानुसार नेमिनाथ फागु की रचना भी 'प्रबंध कोश' की रचना के काल में ही हुई होगी।

नेमिनाथ फागु के नायक नेमिनाथ एक महान् यादव थे जो विवाह नहीं करना चाहते थे।

श्रीधर कवि

'रणमल्ल छंद' के रचयिता श्रीधर कवि अवहट्ट भाषा के प्रमुख कवियों में परिगणित होते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ रणमल्ल छंद के प्रारंभिक ११ छंदों में राजा रणमल्ल का परिचय दिया है किंतु अपने जीवन के विषय में कुछ उल्लेख नहीं किया। इनकी तीन प्रमुख रचनायें 'रणमल्ल छंद' 'भागवत दशम स्कंध' और 'सप्तशती' (श्रीधर छंद) मिलती हैं जिनमें छंद-वैविध्य पाया जाता है। इस ग्रंथ की अवहट्ट भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का भी प्रायः प्रयोग दिखाई पड़ता है। शब्दों को द्वित्व करने की प्रवृत्ति इसमें

पृथ्वीराज रासो और कीर्त्तिलता की शैली की स्मृति दिलाती है। रणमल्ल की वीरता का वर्णन कविने जिस ओजपूर्ण शैली में किया है वह वीररस साहित्य में विशेष सम्मान के योग्य है। ऐसे मेधावी कवि के जीवन वृत्तांत का अभाव खटकता है। संभव है कि भविष्य में इनके जीवन के विषय में कुछ सामग्री उपलब्ध हो सके। किंतु अपनी रचनाओं में वे अपने जीवन वृत्तांत के विषय में सर्वथा मौन हैं।

जिनचंद सूरि

'अकबर प्रतिबोध रास' के रचयिता जिनचंद सूरि अकबर कालीन साधु-समाज में प्रमुख माने जाते थे। एक बार अकबर बादशाह को जैन समाज के सर्वश्रेष्ठ मुनि के दर्शन की अभिलाषा हुई। उन्हें खरतर गच्छ के आचार्य जिनचंद सूरि का नाम बताया गया। सम्राट् ने उनको आगरे आमंत्रित किया किंतु उस समय वे स्तंभ तीर्थ (खंभात) में थे। ग्रीष्म ऋतु में संदेश पाकर वे चल पड़े और स्वर्णगिरि (जालौर) में चतुर्मासा व्यतीत किया। दूसरा चतुर्मासा लाहौर में व्यतीत कर वे अकबर के राज-प्रासाद में विराजमान हुए। उन्होंने मुसलमान शासकों द्वारा द्वारका और शत्रुंजय तीर्थ में स्थित जैन मंदिरों के विध्वंस की करुणाभरी घटना सुनाई और सम्राट् ने उक्त तीर्थों की रक्षा के लिए आजमखाँ को नियुक्त किया।

अकबर इनकी साधुता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने जिनचंद सूरि को युगप्रधान और इनके शिष्य मानसिंह को आचार्य पद की उपाधि प्रदान की। एकबार जहाँगीर ने संवत् १६६६ में जैनदर्शन साधुओं को देश निर्वासित करने की आज्ञा प्रदान की थी। किंतु युग-प्रधान मुनि जिनचंद सूरि पाटण से आगरे आए और जहाँगीर को समझा कर उक्त आज्ञा रद्द करा दी। इस मुनि ने 'अकबर प्रतिबोध' नामक रास लिखकर तत्कालीन सामाजिक, राज नैतिक एवं धार्मिक स्थितियों पर प्रर्याप्त प्रकाश डाला।

नरसिंह महेतो

नरसिंह महेतो का जन्म सं० १४६६ या १४७० वि० के आसपास हुआ होगा। उन्होंने अपने जन्मस्थान के विषय में स्वतः लिखा है—

"गाम तलाजा मां जन्म मारोथयो, भाभी श्रे मूरख कही मेहेणुं दीधुं वचन वाग्युं श्रेक अपूज शिव लिंगनु, वनमांहे जइ पूजन कीधुं"। नरसिंह

महेतो वडनगर के नागर ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम कृष्णदास और पितामह का पुरुषोत्तम दास था। माता दयाकोर के नाम से विख्यात थीं।

नरसिंह के माता-पिता की मृत्यु उनके शैशव में ही हो गई अतः उनके भाई मंगल जी के० जीवणराम ने इनका पालन-पोषण किया। नरसिंह का मन विद्याध्ययन में नहीं लगता था और वे बाल्यकाल से ही साधुओं की संगति में रहा करते थे। जनश्रुति है कि ११ वें वर्ष में इनका विवाह संबंध होनेवाला था किंतु इनको अकर्मण्य समझकर कन्या के पिता ने इनके साथ विवाह करना उचित नहीं समझा। आगे चलकर संवत् १४८८ वि० में रघुनाथ-राम ने अपनी पुत्री माणेक बाई के साथ इनका विवाह कर दिया। विवाहो-परांत ये भाई के परिवार के साथ रहते थे किंतु धनोपार्जन न करने के कारण इनकी भाभी इन्हें ताने दिया करती थी। एक दिन इनके भाई भी इनपर क्रुद्ध हुए अतः इन्होंने चैतसुदी सप्तमी सोमवार को वन में तपस्या प्रारंभ कर दी। शिवपूजन से महादेव प्रसन्न हुए, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वतः इस प्रकार किया है—

भोला चक्रवत्य प्रसन्न हुआ नि आवी मस्तक्य दीजि हाथ;
सोल सहस्र गोपी वृंद रमतां रास देखाड्यो वैकुंठनाथ,
हित आणी पोताना माटि महादेव बोल्या वचन ते वारि;
नरसिंधा, तूं लीला गाजे, ये कीधी कृष्ण अवतार ॥

भगवान् की कृपा से नरसिंह के जीवन में अपूर्व परिवर्त्तन आया और उनमें कवित्व शक्ति का स्फुरण हुआ। उनका विश्वास था कि—

अनाथ हुंने सनाथ कीधो पार्वती ने नाथ;
दिव्यचक्षु आप्यां मुजने, मस्तक मेल्यो हाथ।

अब प्रभुभक्ति में मस्त रहनेवाले नरसिंह जूनागढ़ में आकर बस गए और साधु-संगति और हरिभजन में तल्लीन रहने लगे। जाति-पाँति का भेदभाव विलीन हो गया और प्रेम के साम्राज्य में उन्होंने सबको स्वीकार किया। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख मिलता है।

काव्यक्षेत्र में इनके ऊपर जयदेव का प्रभाव परिलक्षित होता है। के० का० शास्त्री ने प्रमाणों के द्वारा सिद्ध किया है कि—

"नरसिंहे श्रृंगाररस पराकोटिए गायो छे। तेना ऊपर तेमां 'जयदेव' नी ऊँडी छाप छे। पोते कृष्णनी क्रीडाओं मां साथे होवानुं कवि प्रतिभा थी चीतरे छे, तेमां ते जयदेव ने पण सामेल राखे छे। एने ज विशिष्टिनो दूत जनावे छे।"

हम पूर्व कह आए हैं कि वल्लभाचार्य के समकालीन होने पर भी इनपर उस आचार्य का प्रभाव नहीं था। उस काल में गुजरात-काठियावाड़ में एक भक्ति संप्रदाय प्रचलित था जिससे इनके काका प्रभावित थे और उनका ही प्रभाव इनके ऊपर बचपन में पड़ा। सं० १३७१ में विरचित 'समरा रासु' में जूनागढ़ में दामोदर मंदिर की चर्चा है। इससे सिद्ध होता है कि उस स्थान पर विष्णुस्वामी के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभाव से वैष्णव धर्म प्रचलित था।

संभवतः १५३६ के आस पास इनका गोलोकवास हुआ।

अनंतदास

अनंत नामक दो कवियों का उल्लेख मिलता है—एक हैं अनंत आचार्य और दूसरे अनंतदास। अनंत आचार्य गदाधर पंडित के शिष्य थे और अनंतदास चैतन्य चरितामृत में अद्वैत आचार्य की शिष्य परंपरा में थे। अनंतदास का नाम कानु पंडित और दासनारायण के साथ चैतन्य चरितामृत की आदि लीला में मिलता है। अनंत आचार्य गौरांग देव के समकालीन थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनका जन्म संवत् १५५० से १५८२ वि० के मध्य हुआ होगा।

कवि शेखर

कवि शेखर का जन्मजात नाम देवकी नंदन सिंह था। इन्होंने संस्कृत में 'गोपाल चरित' महाकाव्य और 'गोपीनाथ विजय' नाटक लिखा है। 'गोपाल विजय' नामक पांचाली काव्य भी इनकी प्रमुख कृति है। इनके जीवन के विषय में विशेष सामग्री नहीं उपलब्ध होती।

गोविंद दास

गोविंददास नामक कई कवि हो गए हैं। आचार्य गोविंददास श्री चैतन्यदेव के शिष्य थे और सं० १६६० में विद्यमान थे। दूसरे गोविंददास कर्मकार चैतन्य देव के सेवक के रूप में साथ रहते थे। तीसरे गोविंददास कविराज उत्तम कोटि के कवि हो गए हैं। अनुमानतः इनका जन्म सं० १५८७ वि० और मृत्युकाल सं० १६७० वि० माना जाता है। भक्तमाल के

अनुसार अपने विरक्त भाई रामचंद्र कविराज की प्रेरणा से गोविंद दास भी शाक्त से वैष्णव धर्म में दीक्षित हुए। कतिपय विद्वानों का मत है कि इनका जन्म तेलियाबुधरी ग्राम में हुआ था और इनके पिता का नाम चिरंजीव सेन था।

प्रारंभ में यह विचार था कि 'रास और रासान्वयी काव्य' के सभी कवियों का परिचय दे दिया जाय किंतु ग्रंथ का कलेवर अनुमान से अत्यधिक बढ़ जाने के कारण चारों प्रकार की रास शैलियों के केवल दो-एक प्रमुख कवियों का संक्षिप्त जीवन-परिचय देकर संतोष करना पड़ा। उस काल के साधु कवि प्रायः अपना जीवन - वृत्तांत नहीं लिखा करते थे। अतः सभी कवियों के जन्मकाल और शिक्षा-दीक्षा के संबंध में अनुमान लगाना पड़ता है। इन महात्मा कवियों का उद्देश्य था–आबाल वृद्ध वनिताके हृदय को अपनी रचना की सुगंधि से सुरभित करना तथा काव्य सुधा-प्रवाह से मन को परिपुष्ट बनाना। अतः वे अपने जीवन-चरित्र की अपेक्षा उच्च चरित्ररूपी मलयागिरि के वास्तविक श्रीखंड का सौरभ विकीर्ण करना तथा काव्यामृत से पाठक को अमरत्व प्रदान करना अधिक उपयोगी समझते थे। इसीलिए अभयदेव सूरि ने लिखा है—

जयंति ते सत्कवयो यदुक्त्या बाला अपि स्युः कविताप्रवीणाः।
श्रीखंडवासेन कृताधिवासाः श्रीखंडतां यान्त्यपरेऽपि वृक्षाः॥
जयन्तु सर्वेऽपि कवीश्वरास्ते यदीयसत्काव्य सुधाप्रवाहः।
विकूणिताक्षेण सुहृज्जनेन निपीयमानोऽप्यतिपुष्यतीव॥

गंगादशहरा, सं० २०१६ वि०
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

विनीत—
दशरथ ओझा

उपदेशरसायनरास

परिचय—

अपभ्रंश भाषा में विरचित इस रासग्रंथ का विशेष महत्त्व है। उपलब्ध राससाहित्य में इसकी गणना प्राचीनतम रासों में की जाती है। अपभ्रंशमिश्रित देशी भाषा में जो रासग्रंथ बारहवीं शताब्दी के उपरांत लिखे गए, उनकी काव्य-शैली पर इस ग्रंथ का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। रास-रचयिता कवियों ने प्रारम्भ में वर्ण्य विषय और छंदयोजना दोनों में इस रास की शैली का अनुसरण किया। बुद्धिरास पर तो इसका प्रभाव स्पष्ट झलकता है।

इस रास के रचयिता जिनदत्त सूरि हैं जो परमपितामह (बड़ा दादा) नाम से श्वेतांबर जैनानुयायियों में (खरतर गच्छीय में विशेषकर) प्रसिद्ध हैं। इनका व्यक्तिगत परिचय हम भूमिका में दे चुके हैं, अतः यहां प्रस्तुत रास का ही संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इस रास में विशेष रूप से श्रावकों को सदाचरण का उपदेश दिया गया है। त्रिभुवन स्वामी जिनेश्वर और युगप्रवर अनेक शास्त्रवेत्ता निज गुरु जिन-वल्लभ सूरि की वंदना के उपरांत आचार्य जिनदत्त सूरि श्री गुरुवर को कवि माघ[1], कालिदास[2], भारवि आदि संस्कृत के महाकवियों से भी श्रेष्ठ कवि स्वीकार करते हैं।

गुरु-महिमा-वर्णन के उपरान्त अस्थिर एवं कुपथगामी पतित व्यक्तियों की दुर्दशा का विवरण[3] मिलता है। कवि ने जिस प्रकार संस्कारहीन व्यक्तियों की दुर्दशा का काव्यमय विवेचन किया है उसी प्रकार सुपथगामी धर्मपरायण[4] व्यक्तियों का लक्षण और महत्त्व भी सुचारु रूप से प्रदर्शित किया है।

इस स्थल पर जिनदत्त सूरि ने तत्कालीन प्रचलित धार्मिक नाटकों पर अभिनव प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा कि धार्मिक पुरुष भरत-सगर बलराजदेव

---

१. उपदेश रसायन रास, छंद ४
२. ,, ,, ,, ५
३ ,, ,, ,, १४ से १६
४. ,, ,, २५ से ३४

दशार्णभद्र आदि के चरित्र के आधार पर गायन, नर्त्तन एवं नाटक[५] का अभिनय वांछनीय ही नहीं आवश्यक है।

अब कवि युगप्रधान गुरु[६] एवं संघ[७] के लक्षणों का विवेचन करता है। विवाह और धनव्यय के संबंध में ज्ञातव्य विषयों का वर्णन करके कवि विधिपथ-अनुगामी साधु[८]-साध्वियों के सत्कार की चर्चा करता है। इसके उपरांत धार्मिक अवसरों पर कृपणता करने वाले कृपणों की सम्यक्त्वहीनता का वर्णन है।

कवि की दृष्टि में लौकिक अशौचनिवारण का भी महत्त्व कम नहीं है। आचार्य का मत है कि जो लोग लौकिक[९] अशौचनिवारण की उपेक्षा करते हैं वे सम्यक्त्व-प्राप्ति नहीं कर सकते।

अब आचार्य जिनदत्त सूरि उन पापप्रसक्त व्यक्तियों के दुराचरण का संक्षेप में विवेचन करते हैं, जिन्हें सद्दृष्टि[१०] (सम्यक्त्व) सदा दुर्लभ रहेगी। उनकी दृढ़ धारणा है कि श्रावक के छिद्रान्वेषण, विकृत वचन एवं असत्य भाषण, परधन या परस्त्री के अपहरण से मानव को कभी सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसके उपरांत गृह[११]-कुटुंब-निर्वाह की समुचित पद्धति का अत्यंत संक्षेप में वर्णन है। अंत में इस रास ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कवि आशीर्वाद देता है कि जो भी धार्मिक जन कर्ण रूपी अंजलि से इस रास का रसपान करेंगे वे सभी अजर एवं अमर हो जायेंगे।

---

५. उपदेश रसायन रास छंद—३७ से ३९ तक
६. „ „—४१ से ५० तक
७. „ „—५४ से ५७ तक
८. „ „—६३ से ६६ तक
९. „ „—६९ से ७१ तक
१०. „ „—७२ से ७४ तक
११. „ „—७५ से ७९ तक
१२. „ „—८०

उपदेश रसायन रासः

जिनदत्त सूरि

(संवत् ११७१ वि०)

पणमह पास—वीरजिण भाविण
तुम्हि सव्वि जिव मुचहु पाविण।
घरववहारि म लग्गा अच्छह
खणि खणि आउ गलंतउ पिच्छह ॥ १ ॥

लद्धउ माणुसजम्मु म हारहु
अप्पा भव-समुद्दि गउतारहु।
अप्पु म अप्पहु रायह रोसह
करहु निहाणु म सव्वह दोसह ॥ २ ॥

दुलहउ मणुयजम्मु जो पत्तउ
सहलउ करहु तुम्हि सुनिरुत्तउ।
सुहगुरु—दंसण विणु सो सहलउ
होइ न कीवइ वहलउ वहलउ ॥ ३ ॥

सुगुरु सु वुच्चइ सच्चउ भासइ
परपरिवायि—नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख—मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ ॥ ४ ॥

जो जिण-वयणु जहट्ठिउ जाणइ
दव्वु खित्तु कालु वि परियाणइ।
जो उस्सग्गववाय वि कारइ
उम्मग्गिण जणु जंतउ वारइ ॥ ५ ॥

इह विसमी गुरुगिरिहिं समुट्ठिय
लोयपवाह—सरिय कुपइट्ठिय।
जसु गुरुपोउ नत्थि सो निज्जइ
तसु पवाहि पडियउ परिखिज्जइ॥ ६॥

सा घणजड परिपूरिय दुत्तर
किव तरंति जे हुंति निरुत्तर?
विरला किवि तरंति जि सदुत्तर
ते लहन्ति सुक्खइ उत्तरुत्तर॥ ७॥

गुरु-पवहणु निप्पुन्नि न लब्भइ
तिणि पवाहि जणु पडियउ वुब्भइ।
सा संसार-समुद्दि पइट्ठी
जहि सुक्खह वत्ता वि पणट्ठी॥ ८॥

तहिं गय जण कुग्गाहिहिं खज्जहिं
मयर-गरुयदाढग्गिहि भिज्जहिं।
अप्पु न मुणहिं न परु परियाणहिं
सुखलच्छि सुमिणे वि न माणहिं॥ ९॥

गुरु-पवहणु जइ किर कु वि याणइ
परउवयाररसिय मड्डाणइ।
ता गयचेयण ते जण पिच्छइ
किंचि सजीउ सो वि तं निच्छइ॥ १०॥

कट्ठिण कु वि जइ आरोविज्जइ
तु वि तिण नीसत्तिण रोविज्जइ।
कच्छ ज दिज्जइ किर रोवंतह
सा असुइहि भरियइ पिच्छंतह॥ ११॥

धम्मु सु धरणु कु सकइ कायरु?
तहि गुणु कवणु चडावइ सायरु?।
तसु सुहत्थु निव्वाणु कि संघइ?
मुक्ख कि करइ राह किं सु विंधइ?॥ १२॥

तसु किव होइ सुनिव्वुइ-संगमु ?
अथिरु जु जिव किक्काणु तुरंगमु ।
कुप्पहि पडइ न मग्गि विलग्गइ
वायह भरिउ जहिच्छइ वग्गइ ॥ १३ ॥

खज्जइ सावएहि सुबहुत्तिहिं
भिज्जइ सामएहिं गुरुगत्तिहिं ।
वग्घसंघ-भय पडइ सु खड्डह
पडियउ होइ सु कूडउ हड्डह ॥ १४ ॥

तेण जम्मु इहु नियउ निरत्थउ
नियमत्थइ देविणु पुल्हत्थउ ।
जइ किर तिण कुलि जम्मु वि पाविउ
जाइजुत्तु तु वि गुण न सु दाविउ ॥ १५ ॥

जइ किर वरिससयाउ वि होई
पाउ इक्कु परिसिंचइ सोई ।
कह वि सो वि जिणदिक्ख पवज्जइ
तह वि न सावज्जइ परिवज्जइ ॥ १६ ॥

गज्जइ मुद्धह लोअह अग्गइ
लक्खण तक्क वियारण लग्गइ ।
भणइ जिणागमु सहु वक्खाणउं
तं पि वियारभि जं लुक्काणउं ॥ १७ ॥

अद्धमास चउमासह पारइ
मलु अब्भितरु बाहिरि धारइ ।
कहइ उस्सुत्त—उम्मग्गपयाइं
पडिक्कमणय—वंदणयगयाइं ॥ १८ ॥

पर न मुणइ तयत्थु जो अच्छइ
लोयपवाहि पडिउ सु वि गच्छइ ।
जइ गीयत्थु को वि तं वारइ
ता तं उट्ठिवि लउडइ मारइ ॥ १९ ॥

धम्मिय जणु सत्थेण वियारइ
सु वि ते धम्मिय सत्थि वियारइ।
तव्विहलोइहि सो परियरियउ
तउ गीयत्थिहि सो परिहरियउ ॥ २० ॥

जो गीयत्थु सु करइ न मच्छरु
सु वि जीवंतु न मिल्लइ मच्छरु।
सुद्धइ धम्मि जु लग्गइ विरलउ
संघि सु बज्झु कहिज्जइ जवलउ ॥ २१ ॥

पइ पइ पाणिउ तसु वाहिज्जइ
उवसमि थक्कु सो वि वाहिज्जइ।
तस्सावय सावय जिव लग्गहिं
धम्मिय लोयह छिड्डुइ मग्गहिं ॥ २२ ॥

विहिचेईहरि अविहिकरेवइ
करहि उवाय बहुत्ति ति लेवइ।
जइ विहिजिणहरि अविहि पयट्टइ
ता घिउ सत्तुयमज्झि पलुट्टइ ॥ २३ ॥

जइ किर नरवइ कि वि दूसमवस
ताहि वि अप्पहि विहिचेइय दस।
तह वि न धम्मिय विहि विणु झगडहि
जइ ते सव्वि वि उट्ठहि लगुडिहि ॥ २४ ॥

निच्चु वि सुगुरु—देवपयभत्तह
पणपरमिट्ठि सरंतह संतह।
सासणसुर पसन्न ते भव्वइं
धम्मिय कज्ज पसाहहि सव्वइं ॥ २५ ॥

धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ
परु मारइ कीवइ जुज्झंतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परमपइ निवसइ सो सासइ ॥ २६ ॥

सावय विहिधम्मह अहिगारिय
जिज्ज न हुंति दीहसंसारिय।
अविहि करिंति न सुहगुरुवारिय
जिणसंबंधिय धरहि न दारिय॥ २७॥

जइ किर फुझइ लब्भइ मुल्लिण
तो वाडिय न करहि सहु कूविण।
थावर घर-हट्टइ न करावहि
जिणधणु संगहु करि न वढ्ढारहि॥ २८॥

जइ किर कु वि मरंतु घर-हट्टइ
देइ त लिज्जहि लहणावट्टइं।
अह कु वि भत्तिहि देइ त लिज्जहि
तब्भाडयधणि जिण पूइज्जहि॥ २९॥

दिंत न सावय ते वारिज्जहिं
धम्मिकज्जि ते उच्छाहिज्जहिं।
घरवावारु सव्वु जिव मिल्लहि
जिव न कसाइहिं ते पिल्लिज्जहिं॥ ३०॥

तिव तिव धम्मु कहिंति सयाणा
जिव ते मरिवि हुंति सुरराणा।
चित्तासोय करंत ढाहिय
जण तहिं कय हवंति नट्ठाहिय॥ ३१॥

जिव कल्लाणय पुट्ठिहि किज्जहिं
तिव करिंति सावय जहसत्तिहिं।
जा लहुडी सा नचाविज्जइ
वड्डी सुगुरु-वयणि आणिज्जइ॥ ३२॥

जोव्वणत्थ जा नचइ दारी
सा लग्गइ सावयह वियारी।
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहिं
जंतिहिं दिवसिहिं धम्मह फिट्टहिं॥ ३३॥

वहुय लोय रायंध स पिच्छहि
जिणमुह-पंकउ विरला वंछहि।
जणु जिणभवणि सुहत्थु जु आयउ
मरइ सु तिक्खकडक्खिहिं घायउ ॥ ३४ ॥

राग विरुद्धा नवि गाइज्जहिं
हियइ धरंतिहि जिणगुण गिज्जहिं।
पाउ वि न हु अजुत्त वाइज्जहिं
लइवुडिडउंडि-पमुह वारिज्जहिं ॥ ३५ ॥

उचिय थुत्ति-थुयपाढ पढिज्जहिं
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिज्जहिं
तालारासु वि दिंति न रयणिहिं
दिवसि वि लउडारसु सहुं पुरिसिहि ॥ ३६ ॥

धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं
भरह—सगरनिक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि-वल-रायह चरियइं
नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइं ॥ ३७ ॥

हास खिड्ड हुड्ड वि वज्जिज्जहिं
सहु पुरिसेहि वि केलि न किज्जहि।
रत्तिहिं जुवइपवेसु निवारहिं
न्हवणु नंदि न पइट्ठ करावहि ॥ ३८ ॥

माहमाल-जलकीलंदोलय
ति वि अजुत्त न करंति गुणालय।
वलि अत्थमियइ दिणयरि न धरहिं
घरकज्जइं पुण जिणहरि न करहिं ॥ ३९ ॥

सूरि ति विहिजिणहरि वक्खाणहि
तहिं जे अविहि उस्सुत्तु न आणहि।
नंदि-पइट्ठह ते अहिगारिय
सूरि वि जे तदवरि ते वारिय ॥ ४० ॥

एगु जुगप्पहाणु गुरु मन्नहिं
जो जिण गणिगुरु पवयणि वन्नहिं।
तासु सीसि गुणसिंगु समुट्टइ
पवयणु-कज्जु जु साहइ लट्ठइ ॥ ४१ ॥

सो छउमत्थु वि जाणइ सव्वइ
जिण-गुरु-समइपसाइण भव्वइ।
चलइ न पाइण तेण जु दिट्ठउ
जं जि निकाइउ त परि विणट्ठउ ॥ ४२ ॥

जिणपवयणभत्तउ जो सक्कु वि तसु
पयचित करइ वहु [व] क्कु वि जसु।
न कसाइहिं मणु पीडिज्जइ
तेण सु देविहि वि ईडिज्जइ ॥ ४३ ॥

सुगुरु-आण मणि सइ जसु निवसइ
जसु तत्तत्थि चित्त पुणु पविसइ।
जो नाइण कु वि जिणवि न सक्कइ
जो परवाइ-भइण नोसक्कइ ॥ ४४ ॥

जसु चरिइण गुणिचित्तु चमक्कइ
तसु जु न सहइ सु दूरि निलुक्कइ
जसु परिचित करहिं जे देवय
तसु समचित्त ति थोवा सेवय ॥ ४५ ॥

तसु निसि दिवसि चित इह (य) वट्टइ
कहिं वि ठावि जिणपवयणु फिट्टइ।
भूरि भवंता दीसहि बोडा
जे सु पसंसहि ते परि थोडा ॥ ४६ ॥

पिच्छहि ते तसु पइ पइ पाणिउ
तसु असंतु दुहु ढोयहिं आणिउं।
घम्मपसाइण सो परि छुट्टइ
सव्वत्थ वि सुहकज्जि पयट्टइ ॥ ४७ ॥

तह वि हु ताहि वि सो नवि रूसइ
खम न सु भिज्जइ नवि ते दूसइ।
जइ ति वि आवहि तो संभासइ
जुत्तु तदुत्तु वि निसुणिवि तूसइ ॥ ४८ ॥

अप्पु अणप्पु वि न सु बहु मन्नइ
थोवगुणु वि परु पिच्छवि वन्नइ।
एइ वि जइ तरंति भवसायरु
ता अणुवत्तउ निच्चु वि सायरु ॥ ४९ ॥

जुगुपहाणु गुरु इउ परि चिंतइ
तं-मूलि वि तं-मणि सु निकिंतइ।
लोउ लोयवत्ताणइ भग्गउ
तासु न दंसणु पिच्छइ नग्गउ ॥ ५० ॥

इह गुरु केहि वि लोइहि वन्निउ
तु वि अम्हारइ संघि न मन्निउ।
अम्हि केम इसु पुट्ठिहि लग्गह?
अन्निहि जिव किव नियगुरु भिज्जह? ॥ ५१ ॥

पारतंत-विहिविसइ-विमुक्कउ
जणु इउ बुज्झइ मग्गह चुक्कउ।
तिणि जणु विहिधम्मिहि सह झगडइ
इह परलोइ वि अप्पा रगडइ ॥ ५२ ॥

तु वि अविलक्खु विवाउ करंतउ
किवइ न थकइ विहि असहंतउ।
जो जिणभासिउ विहि सु कि तुट्टइ?
सो झगडंतु लोउ परिफिट्टइ ॥ ५३ ॥

दुप्पसहंतु चरणु जं वुत्तउ
तं विहि विणु किव होइ निरुत्तउ?।
इक सूरि इका वि स अज्जी
इक्कु देस जि इक वि देसज्जी ॥ ५४ ॥

तह वीरह तु वि तित्थु पयट्टइ
तं दस-वीसह अज्जु कि तुट्टइ ?।
नाण-चरण-दंसणगुणसंठिउ
संघु सु वुच्चइ जिणिहि जहट्ठिउ॥ ५५॥

दव्व-खित्त-काल - ठिइ वट्टइ
गुणि-मच्छरु करंतु न निहट्टइ।
गुणविहूणु संघाउ कहिज्जइ
लोअपवाहनईए जो निज्जइ॥ ५६॥

जुत्ताजुत्तं वियारु न रुच्चइ
जसु जं भावइ तं तिण वुच्चइ।
अविवेइहिं सु वि संघु भणिज्जइ
परं गीयत्थिहिं किव मन्निज्जइ ?॥ ५७॥

विणु कारणि सिद्धंति निसिद्धउ
वंदणाइकरणु वि जु पसिद्धउ।
तसु गीयत्थ केम कारण विणु
पइदिणु मिलहिं करहिं पयवंदणु॥ ५८॥

जो असंघु सो संघु पयासइ
जु ज्जि संघु तसु दूरिण नासइ।
जिव रायंध जुवइदेहंगिहिं
चंद कुंद अणहुंति वि लक्खहिं॥ ५९॥

तिव दंसणरायंध निरिक्खहि
जं न अत्थि तं वत्थु विवक्खहि।
ते विवरीयदिट्ठि सिवसुक्खइ
पाविहि सुमिणि वि कह पच्चक्खइ॥ ६०॥

दम्म लिंति साहम्मिय—संतिय
अवरुप्परु झगडंति न दिंति य।
ते विहिधम्मह खिंस महंति य
लोयमज्झि झगडंति करंति य॥ ६१॥

जिणपवयण—अपभावण वड्डी
तउ सम्मत्तह वत्ता वि वुड्डी।
जुत्तिहि देवदव्वु तं भज्जइ
हुंतउं मग्गइ तो वि न दिज्जइ ॥ ६२ ॥

बेट्टा बेट्टी परिणाविज्जहिं
ते वि समाणधम्म-घरि दिज्जहिं।
विसमधम्म-घरि जइ वीवाहइ
तो सम (म्मं) त्तु सु निच्छइ वाहइ ॥ ६३ ॥

थोडइ धणि संसारियकज्जइ
साहिज्जइ सव्वइ सावज्जइ।
विहिधम्मत्थि अत्थु विव्विज्जइ
जेण सु अप्पु निव्वुइ निज्जइ ॥ ६४ ॥

सावय वसहिं जेहिं किर ठावहिं
साहुणि साहु तित्थु जइ आवहिं।
भत्त वत्थ फासुय जल असण
वसहिं वि दिंति य पावपणासण ॥ ६५ ॥

जइ ति वि कालुचिय-गुणि वट्टहिं
अप्पा परु वि धरहि विहिवट्टहिं।
जिण गुरुवेयावच्चु करेवउ
इउ सिद्धंतिउ वयणु सरेवउ ॥ ६६ ॥

घणमाणुसु कुडुंबु निव्वाहइ
धम्मवार पर हिट्ठउ वाहइ।
तिणि सम्मत्त-जलंजलि दिन्नी
तसु भवभमणि न मइ निव्विन्नी ॥ ६७ ॥

सधणु सजाइ जु ज्जि तसु भत्तउ
अन्नह सदिट्ठिहि वि विरत्तउ।
जे जिणसासणि हुंति पवन्ना
ते सवि बंधव नेहपवन्ना ॥ ६८ ॥

तसु संमत्तु होइ किव सुद्धह
जो नवि वयणि विलग्गइ बुद्धह ।
तिन्नि चयारि छुतिदिण रक्खइ
स ज्जि सरावी लग्गइ लिक्खइ ॥ ६९ ॥

हुंति य च्छुत्ति जल (पव) ट्टइ सेच्छइ
सा घर-धम्मह आवइ निच्छइ ।
छुत्तिभग्ग घर छड्डुइं देवय
सासणसुर मिल्लहिं विहिसेवय ॥ ७० ॥

पडिकमणइ वंदणइ आउल्ली
चित्त धरंति करेइ अमुल्ली ।
मणह मज्झि नवकारु वि ज्झायइ
तासु सुद्धु सम्मत्तु वि रायइ ॥ ७१ ॥

सावउ सावयव्छिदइं मग्गइ
तिणि सहु जुज्झइ धणवलि वग्गइ ।
अलिउ वि अप्पाणउं सचावइ
सो समत्तु न केमइ पावइ ॥ ७२ ॥

विकियवयणु बुल्लइ नवि मिल्लइ
पर पभणंतु वि सबउं पिल्लइ ।
अट्ठ मयट्ठाणिहिं वट्टंतउ
सो सद्दिट्ठि न होइ न सन्तउ ॥ ७३ ॥

पर अणत्थि घल्लंतु न संकइ
परधण-धणिय जु लेयण धंखइ ।
अहियपरिग्गह-पावपसत्तउ
सो संमत्तिण दूरिण चत्तउ ॥ ७४ ॥

जो सिद्धंत्तियजुत्तिहि नियघरु
वाहि न जाणइ करइ विसंवरु ।
कु वि केणइ कसायपूरियमणु
वसइ कुडुंवि जं माणुसघण ॥ ७५ ॥

तसु सरूवु मुणि अणुवत्तिज्जइ
कु वि दाणिण कुवि वयणिण लिज्जइ ।
कुवि भएण करि पाणु धरिज्जइ
सगुणु जिट्ठु सो पइ ठाविज्जइ ॥ ७६ ॥

जुट्ठह धिट्ठह न य पत्तिज्जइ
जो असत्तु तसुवरि दइ किज्जइ ।
अप्पा परह न लक्खाविज्जइ
नप्पा विणु कारणि खाविज्जइ ॥ ७७ ॥

माय-पियर जे धम्मि विभिन्ना
ति वि अणुवित्तिय हुंति ति धन्ना ।
जे किर हुंति दीहसंसारिय
ते बुज्झंत न ठंति निवारिय ॥ ७८ ॥

ताहि वि कीरइ इह अणुवत्तण
भोयण—वत्थ-पयाणपयत्तिण ।
तह बुज्झंतह नवि रूसिज्जइ
तेहि समाणु विवाउ न किज्जइ ॥ ७९ ॥

इय जिणदत्तु वएसरसायणु
इह-परलोयह सुक्खह भायणु ।
कण्णंजलिहि पियंतिजि भव्वइं
ते हवंति अजरामर सव्वइं ॥ ८० ॥

उपदेशरसायन समाप्तम् ॥

चर्चरी

परिचय—

नृत्य-संगीत-सहित एक लोक-नाट्य चर्चरी कहलाता था, जिसका अभिनय प्रायः वसन्तोत्सव के अवसर पर होता। ऐसा प्रतीत होता है कि चर्चरी रासक के समान प्रारंभ में एक नृत्यप्रकार था जो विकसित होकर दृश्य काव्य की स्थिति तक पहुँच गया। एक आचार्य का मत है कि नटों का वह नर्त्तन, जिसमें 'तेति गिध' शब्दों का उच्चारण करते हुए ताल सहित चार आवर्त्तन (चक्कर) लगाया जाय, चर्चरी[1] कहलाता है।

चर्चरी-नृत्य कालांतर में शृंगाररस की कथावस्तु के आधार पर अभिनेय गीति-नाट्य बन गया जिसका प्रमाण भूमिका में विस्तार के साथ दिया जा चुका है।

प्रस्तुत चर्चरी इस बात का प्रमाण है कि कुछ जैन-चैत्यगृह भी शृंगार-रसपूर्ण रास और चर्चरियों से इतने अधिक गुंजरित होने लगे थे कि धर्म-समाज-सुधारकों को इस प्रचलित प्रथा के विरुद्ध आंदोलन करना पड़ा। यह तथ्य इस चर्चरी के सारांश से स्पष्ट हो जायगा।

इस चर्चरी के रचयिता आचार्य जिनदत्तसूरि हैं जिनकी कृतियों के विषय में पूर्व पाठ में संकेत किया जा चुका है। इस चर्चरी के प्रारम्भ में धर्मजिन-स्तुति और जिनवल्लभसूरि की स्तुति के उपरांत ७ पदों में आचार्यवर के पांडित्य[2] का निरूपण मिलता है। दसवें पद में दुः संघ और सुसंघ का अंतर दिखाया गया है। तदुपरांत उत्सूत्र-भाषियों के त्याग एवं लोकप्रवाह में पड़े हुए कुतूहल-प्रिय प्राणियों द्वारा चैत्यगृह के अपमानद्योतक गीत, वाद्य, क्रीड़ा, कौतुक का निषेध[3] वर्णित है।

---

१. तेति गिध इति शब्देन नर्त्तनं रास तालतः।
अथवा चर्चरी तालाच्चतुरावर्तनैर्नटैः।
क्रियते नर्त्तनं तस्याच्चर्चरी नर्त्तनं वरम् ॥ वेदः।

२. चर्चरी छंद ११-१३

३. जिनवल्लभसूरि को काव्य-रचना-चातुरी में कालिदास माघ प्रभृति कवियों से श्रेष्ठ पद प्रदान किया गया है।

अब आचार्य प्रवर जिनवल्लभसूरि प्रदर्शित चैत्यगृह के विधि-विधान का विवरण देते हैं। उनका कथन है कि रात्रि में चैत्यगृह में साध्वियों का प्रवेश, धार्मिक जनपीड़ा एवं निंदित कर्म, एवं विलासिनी-नृत्य निषिद्ध है। निषिद्ध कर्मों की विस्तृत सूची में रात्रि में रथभ्रमण, लकुट-रास-प्रदर्शन जिन-गुरु के अनुपयुक्त गायन, तांबूल-भक्षण, उपानह-धारण, प्रहरण-दुष्ट-जल्पन, शिरोवेष्टन धारण, गृह-चिंता-ग्रहण, मलिन वस्त्र-धारण कर जिनवर पूजन, श्राविका का मूल प्रतिमा-स्पर्श, आत्मप्रशंसा एवं परदूषण-कथन भी सम्मिलित है।

आगे चलकर चैत्यगृह के प्रबंधकों की अपव्ययता का दुष्परिणाम और आगम के अनुसार आचरण करनेवाले पूज्य व्यक्तियों के सम्मान का वर्णन है। अंत के सात पदों में जिनवल्लभसूरि की महिमा का उल्लेख है।

उपर्युक्त विवरण इस तथ्य का द्योतक प्रतीत होता है कि चैत्यगृहों में लकुट-रास खेला जाता था, तभी तो उसके निषेध की आवश्यकता पड़ी।

———

चर्चरी

जिनदत्त सूरि

नमिवि जिणेसरधम्मह तिहुयणसामियह
पायकमलु ससिनिम्मलु सिवगयगामियह ।
करिमि जहट्ठियगुणथुइ सिरिजिणवल्लहह
जुगपवरागमसूरिहि गुणिगणदुल्लहह ॥ १ ॥

जो अपमाणु पमाणइ छद्दरिसण तणइ
जाणइ जिव नियनामु न तिण जिव कुवि घणइ ।
परपरिवाइगइंदवियारणपंचमुहु
तसु गुणवन्नणु करण कु सक्कइ इक्कमुहु? ॥ २ ॥

जो वायरणु वियाणइ सुहलक्खणनिलउ
सद्दु असद्दु वियारइ सुवियक्खणतिलउ ।
सु च्छंदिण वक्खाणइ छंदु जु सुजइमउ
गुरु लहु लहि पइठावइ नरहिउ विजयमउ ॥ ३ ॥

कव्वु अउव्वु जु विरयइ नवरसभरसहिउ
लद्धपसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महिउ ।
सुकइ माहु ति पसंसहिं जे तसु सुहगुरुहु
साहु न मुणहि अयाणुय मइजियसुरगुरुहु ॥ ४ ॥

कालियासु कइ आसि जु लोइहिं वन्नियइ
ताव जाव जिणवल्लहु कइ नाअन्नियइ ।
अप्पु चित्तु परियाणहि तं पि विसुद्ध न य
ते वि चित्तकइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥ ५ ॥

सुकइविसेसियवयणु जु वप्पइराउकइ
सु वि जिणवल्लहपुरउ न पावइ कित्ति कइ ।

अवरि अणेयविणेयहि सुकइ पसंसियहिं
तक्कव्वामयलुद्धिहि निच्चु नमंसियहिं ॥ ६ ॥

जिण कय नाणा चित्ताइं चित्तु हरन्ति लहु
तसु दंसणु विणु पुन्निहिं कउ लब्भइ दुलहु ।
सारइं बहु थुइ-थुत्ताइ चित्ताइं जेण कय
तसु पयकमलु जि पणमहि ते जण कयसुकय ॥ ७ ॥

जो सिद्धंतु वियाणइ जिणवयणुब्भविउ
तसु नामु वि सुणि तूसइ होइ जु इहु भविउ ।
पारतंतु जिणि पयडिउ विहिविसइहिं कलिउ
सहि ! जसु जसु पसरंतु न केणइ पडिखलिउ ॥८॥

जो किर सुत्तु वियाणइ कहइ जु कारवइ
करइ जिणेहि जु भासिउ सिवपहु दक्खवइ ।
खवइ पावु पुव्वज्जिउ पर—अप्पह तणउं
तासु अदंसणि सगुणहिं झूरिज्जइ घणउं ॥ ६ ॥

परिहरि लोयपवाहु पयट्टिउ विहिविसउ
पारतंति सहु जेण निहोडि कुमग्गसउ ।
दंसिउ जेण दुसंघ-सुसंघह अंतरउ
वद्धमाणजिणतित्थह कियउ निरंतरउ ॥ १० ॥

जे उस्सुत्तु पयंपहि दूरि ति परिहरइ
जो उ सुनाण-सुदंसण—किरिय वि आयरइ ।
गड्डरि गामपवाहपवित्ति वि संवरिय
जिण गीयत्थायरियइ सव्वइ संभरिय ॥ ११ ॥

चेईहरि अणुचियइं जि गीयइं वाइयइ
तह पिच्छण—थुइ—थुत्तइं खिड्डइ कोउयइ
विरहंकिण किर तित्थु ति सव्वि निवारियइ
तेहिं कइहिं आसायण तेण न कारियइ ॥ १२ ॥

लोयपवाहपयट्टिहि कोऊहलपिइहि
कीरन्तइ फुडदोसइ संसयविरहियहि ।

ताइं वि समइनिसिद्धइ समइकयत्थियहि।
धम्मन्थीहि वि कीरहिं बहुजणपत्थियहि॥ १३॥

जुगपवरागमु मन्निउ सिरिहरिभद्दपहु
पडिहयकुमयसमूहु पयासियमुत्तिपहु।
जुगपहाणसिद्धंतिण सिरिजिणवल्लहिण
पयडिउ पयडपयाविण विहिपहु दुल्लहिण॥ १४॥

विहिचेईहरु कारिउ कहिउ तमाययणु
तमिह अणिस्साचेइउ कयनिव्वुइनयणु।
विहि पुण तत्थ निवेइय सिवपावण पउण
जं निसुणेविणु रंजिय जिणपवयणनिउण॥ १५॥

जहि उस्सुत्तजणक्कमु कु वि किर लोयणिहि
कीरंतउ नवि दीसइ सुविहिपलोयणिहिं।
निसि न ण्हाणु न पइठ्ठ न साहुहि साहुणिहि
निसि जुवइहिं न पवेसु न नट्टु विलासिणिहि॥ १६॥

जाइ नाइ न कयग्गहु मन्नइ जिणवयणु
कुणइ न निंदियकंमु न पीडउ धम्मियणु।
विहिजिणहरि अहिगारिउ सो किर सलहियइ
सुद्धउ धम्मु सुनिम्मलि जसु निवसइ हियइ॥ १७॥

जित्थु ति-चउरसुसावयदिट्ठउ दव्ववउ
निसिहिं न नंदि कराविं कुवि किर लेइ वउ
बलि दिणयरि अत्थमियइ जहि न हु जिणपुरउ
दीसइ धरिउ न सुत्ताइ जहि जणि तूररउ॥ १८॥

जहिं रयणिहि रहभमणु कयाइ न कारियइ
लउडारसु जहिं पुरिसु वि दिंतउ वारियइ।
जहि जलकीडंदोलण हुंति न देवयह
माहमाल न निसिद्धी कयअट्ठाहियह॥ १९॥

जहि सावय जिणपडिमह करिहि पइट्ठ न य
इच्छाच्छंद न दीसहि जहि मुद्धंगिनय।
जहि उस्सुत्तपयट्टह वयणु न निसुणियइ
जहि अज्जुत्तु जिण-गुरुहह वि गेउ न गाइयइ ॥ २० ॥

जहि सावय तंबोलुन भक्खहि लिंति न य
जहि पाणहि य धरंति न सावय सुद्धनय।
जहि भोयणु न य सयणु न अणुचिउ बइसणउ
सह पहरणि न पवेसु न दुट्ठउ बुल्लणउ ॥ २१ ॥

जहि न हासु न वि हुड्ड न खिड्डु न रूसणउ
कित्तिनिमित्तु न निज्जइ जहिं घणु अप्पणउ।
करहि जि बहु आसायण जहिं ति न मेलियहि
मिलिय ति केलि करंति समाणु महेलियहि ॥ २२ ॥

जहिं संकंति न गहणु न माहि न मंडलउ
जहिं सावयसिरि दीसइ कियउ न विंटलउ।
एहवणयार जण मिल्लिवि जहि न विभूसणउ।
सावयजणिहि न कीरइ जहि गिहचिन्तणउ ॥ २४ ॥

जहिं न मलिणचेलंगिहि जिणवरु पूइयइ
मूलपडिम सुइभूइ वि छिवइ न सावियइ।
आरत्तिउ उत्तारिउ जं किर जिणवरह
तं पि न उत्तारिज्जइ बीयजिणे सरह ॥ २४ ॥

जहि फुल्लइं निम्मलु न अक्खय वणहलइ
मडिमंडणभूसणइं न चेलइ निम्मलइ।
जित्थु न जइहि ममत्तु न जित्थु वि तव्वसणु
जहि न अत्थि गुरुदंसियनीइहि पम्हसणु ॥ २५ ॥

जहि पुच्छिय सुसावय सुहगुरुलक्खणइ
भणिहि गुणञ्जुय सचय पचक्खह तणइ

जहि इक्कुत्तु वि कीरइ निच्छइ सगुणउ
समयजुत्ति विहडंतु न बहुलोयह [त] णउ ॥ २६ ॥

जहिं न अप्पु वन्निज्जइ परु वि न दूसियइ
जहि सग्गुणु वन्निज्जइ विगुणु उवेहियइ।
जहि किर वत्थु-वियारणि कसुवि न बीहियइ
जहि जिणवयणुत्तिन्नु न कह वि पयंपियइ ॥ २७ ॥

इय बहुविह उस्सुत्तइ जेण निसेहियइ
विहिजिणहरि सुपसत्थिहि लिहिवि निदंसियइ।
जुगपहाणु जिणवल्लहु सो किं न मन्नियइ ?
सुगुरु जासु सन्नाणु सुनिउणिहि वन्नियइ ॥ २८ ॥

लवमित्तु वि उस्सुत्तु जु इत्थु पयंपियइ
तसु विवाउ अइथोउ वि केवलि दंसियइ।
ताइं जि जे उस्सुत्ताइं कियइ निरंतरइ
ताह दुक्ख जे हुंति ति भूरि भवंतरइ ॥ २९ ॥

अपरिक्खियसुयनिहसिहिं नियमइगव्वियहि
लोयपवाहपयट्टिहिं नामिण सुविहियइं।
अवरुप्परमच्छरिण निदंसिय सगुणिहि
पूआविज्जइ अप्पउ जिणु जिव निग्गुणिहिं ॥ ३० ॥

इह अणुसोयपयट्टह संख न कु वि करइ
भवसायरि ति पडंति न इक्कु वि उत्तरइ।
जे पडिसोय पयट्टहि अप्प वि जिय धरह
अवसय साभिय हुंति ति निव्वुइ पुरवरह ॥ ३१ ॥

जं आगम-आयरणिहिं सहुं न विसंवयइ
भणहि त वयणु निरुत्तु न सग्गुणु जं चयइ
ते वंसति गिहिगेहि वि होइ तमाययणु
गइहि तित्थु लहु लब्भइ मुत्तिउ सुहरयणु ॥ ३२ ॥

पासत्थाइविबोहिय केइ जि सावयइं
कारावहि जिणमंदिरु तंमइभावियइं।

तं किर निस्साचेइउ अववाथिण भणिउ
तिहि-पव्विहि तहि कीरइ वंदणु कारणिउ ॥ ३३ ॥

जहि लिंगिय जिणमंदिरि जिणदव्विण कयइं
मढ़ि वसन्ति आसायण करहिं महंतियइ !
तं पकप्पि परिवज्जिउ साहम्मियथलिय
जहि गय वंदणकज्जिण न सुदंसण मिलिय ॥ ३४ ॥

ओहनिजुत्तावस्सयपयरणदंसियउ
तमणाययणु जु दावइ दुक्ख पसंसियउ।
तहि कारणि वि न जुत्तउ सावयजणगमणु
तहि वसंति जे लिंगिय ताहि वि पयनमणु ॥ ३५ ॥

जाइज्जइ तहिं वावि(ठाणि ति नमियहिं इत्थु जइ
गय नमंतजण पावहि गुणगणवुड्ढि जइ।
गइहि तत्थु ति नमंतिहिं पाउ जु पावियइ
गमणु नमणु तहिं निच्छइ सगुणिहिं वारियइ ॥ ३६ ॥

वसहिहिं वसहि बहुत्त उसुत्तपयंपिरइ
करहि किरिय जणरंजण निच्चु वि दुक्करय।
परि सम्मत्तविहीण ति हीणिहि सेवियहिं
तिहि सहु दंसणु सग्गुण कुणहिं न पावियहिं ॥ ३७ ॥

उस्सग्गिण विहिचेइउ पढमु पयासियउ
निस्साकडु अववाइण दुइउ निदंसियउ।
जहि किर लिंगिय निवसहि तमिह अणाययणु
तहि निसिद्धु सिद्धंति वि धम्मियजणगमणु ॥ ३८ ॥

विणु कारणि तहि गमणु न कुणहि जि सुविहियइं
तिविहु जु चेइउ कहइ सु साहु वि मंनियइ।
तं पुण दुविहु कहेइ जु सो अवगन्नियइ
तेण लोउ इह सयलु वि भोलउ धुंधियइ ॥ ३९ ॥

इय निप्पुन्नह दुल्लह सिरिजिणवल्लहिण
तिविहु निवेइउ चेइउ सिवसिरिवल्लहिण।
उस्सुत्तइ वारंतिण सुत्तु कहंतइण
इह नवं व जिणसासणु दंसिउ सुम्मइण ॥ ४

इकवयणु जिणवल्लहु पहु वयणइं घणइं
किं व जंपिवि जणु सकइ सक्कु वि जइ मुणइ ।
तसु पयभत्तह सत्तह सत्तह भवभयह
होइ अंतु सुनिरुत्तउ तव्वयणुज्जयह ॥ ४१ ॥

इककालु जसु विज्ज असेस वि वयणि ठिय
मिच्छदिट्ठि वि वंदहिं किंकरभावट्ठिय ।
ठावि (णि) विहिपक्खु वि जिण अप्पडिखलिउ
फुडु पयडिउ निकवडिण परु अप्पउ कलिउ ॥ ४२ ॥

तसु पयपंकयउ पुन्निहि पाविउ जण-भमरु
सुद्धनाण-महुपाणु करंतउ हुइ अमरु ।
सत्थु हुंतु सो जाणइ सत्थ सपत्थ सहि
कहि अणुवमु उवमिज्जइ केण समाणु सहि ! ? ॥ ४३ ॥

वद्धमाणसूरिसिसु जिणेसर सूरिवरु
तासु सीसु जिणचंदजईसरु जगपवरु ।
अभयदेउमुणिनाहु नवंगह वित्तिकरु
तसु पयपंकय - भसलु सलक्खणुचरणकरु ॥ ४४ ॥

सिरिजिणवल्लहु दुल्लहु निप्पुन्नहं जणहं
हउं न अंतु परियाणउं अहु जण ! तग्गुणह ।
सुद्धधम्मि हउं ठाविउ जुगपवरागमिण
एउ वि मइं परियाणिउ तग्गुण-संकमिण ॥ ४५ ॥

भमिउ भूरिभवसायरि तह वि न पत्तु मइ
सुगुरुरयणु जिणवल्लहु दुल्लहु सुद्धमइ ।
पाविय तेण न निव्वुइ इह पारत्तियइ
परिभव पत्ता बहुत्त न हुय पारत्तियइ ॥ ४६ ॥

इय जुगपवरह सूरिहि सिरिजिणवल्लहह
नायसमयपरमत्थह बहुजणदुल्लहह ।
तसु गुणथुइ बहुमाणिण सिरिजिणदत्तगुरु
करइ सु निरुवमु पावइ पउ जिणदत्तगुरु ॥ ४७ ॥

॥ इति चर्चरी समाप्त ॥

सन्देश-रासक

सन्देश-रासक की हस्तलिखित प्रतियाँ मुनिजिनविजय को पाटन-भंडार में सन् १९१२–१३ में प्राप्त हुईं। सर्वप्रथम उन्हें जो प्रति प्राप्त हुई उसमें संस्कृत अवचूरिका या टिप्पण का पता नहीं था। सन् १९१८ ई० में पूना के भंडारकर—ओरियंटलरिसर्चइंस्टिट्यूट में उन्हें एक ऐसी हस्तलिखित प्रति मिली जिसमें संस्कृत भाषा में अवचूरिका विद्यमान थी। मुनि जिनविजय जी ने विविध प्रतियों में पाठभेद देखकर यह परिणाम निकाला कि इस रासक में देश-काल-भेद के कारण पाठांतर होता गया। जनप्रिय होनेके कारण भिन्न-भिन्न स्थानों के विद्वान् स्थानीय शब्दों को इसमें सन्निविष्ट करते गए, जिसका परिणाम यह हुआ कि इसके पाठभेद उत्तरोत्तर बढ़ते ही गये।

देशी भाषा-मिश्रित इस अपभ्रंश ग्रन्थ की महत्ता के अनेक कारण हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इतिहास की दृष्टि से यह सबसे प्राचीन धर्मेतर रास रचना अबतक उपलब्ध हुई है। इसके पूर्व विरचित रास जैनधर्म सम्बन्धी ग्रंथ हैं, जिनकी रचना जैनावलंबियों को ध्यान में रखकर की गई थी। लोक-प्रचलित प्रेम-कथा के आधार पर शुद्ध लौकिक प्रेमकी व्याख्या करनेवाला यह प्रथम प्राप्य रासक ग्रंथ है।

इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसका रचयिता अब्दुल रहमान ऐसा उदार अहिंदू है, जिसने बड़ी सहानुभूति के साथ विजित हिंदुओं की धार्मिक एवं साहित्यिक परम्परा को हृदय से स्वीकार किया और उनके सुख-दुखकी गाथाका गान उन्हीं के शब्दों और उन्हीं की शैली में गाकर विजेता और विजित के मध्य विद्यमान कटुता के निवारण का प्रयास किया।

भाषा–शैली

इस ग्रंथ की भाषा मूल पृथ्वीराजरासो की भाषा से प्रायः साम्य रखती है। इस रासक में भी 'य' के स्थान पर 'इ' अथवा 'इ' के स्थान पर 'य' प्रयुक्त हुआ है, 'वियोगी' शब्द 'विउयह' हो गया है। इस प्रकार का परिवर्त्तन दोहा-कोश और प्राचीन बँगला में भी पाया जाता है।

'व' और 'ब' का भेद प्रायः प्रतियों में नहीं पाया जाता। जैसे—'बलाहक' का 'वलाहय' 'अब्रवीत' का 'वोलंत' 'बर्हिणी' का 'वरहिणी' आदि रूप पाये जाते हैं।

इसी प्रकार 'ए' का 'इ' 'ओ' का 'उ'। जैसे—'पेक्खइ' का 'पिक्खइ' 'ज्योत्सना' का 'जुन्ह'।

रचनाकाल—

आश्चर्य का विषय है कि इतने मनोहर काव्य का उल्लेख किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। सिद्धराज और कुमारपाल के राजत्वकाल में व्यवसाय का प्रसार देखकर और इस रासक के कथानक से तत्कालीन परिस्थिति की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि यह रासक बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचा गया होगा। श्री मुनिजिनविजय ने अपना यही मत प्रकट किया है।

छन्द-योजना—

इस रासक में अपभ्रंश के विविध छंदों का प्रयोग किया गया है। यद्यपि रासा छंदों की संख्या अधिक है तथापि गाहा, रड्डा, पद्धडिया, दोहा, चउपइयां, वत्थु, अडिल्ला, मडिल्ला आदि अपभ्रंश छदों की संख्या भी कम नहीं है।

कथावस्तु—

कवि ने प्रारम्भ में विश्वरचयिता की वंदना के उपरांत अपने तंतुवाय (जुलाहा) कुल का परिचय दिया है। तदुपरांत अपने पूर्ववर्ती उन कवियों को, जिन्होंने अवहट्ट, संस्कृत, प्राकृत और पैशाची भाषाओं में काव्यरचना की, श्रद्धांजलि समर्पित की। कवि अल्पज्ञता के कारण अपनी साधारण कृति के लिए विद्वानों से क्षमा-याचना करते हुए कहता है कि यदि गंगा की बड़ी महिमा है तो सामान्य नदियों की अपनी उपयोगिता है वह अपने काव्यको विद्वन्मंडली अथवा मूर्खमंडली के अनुपयुक्त समझता है और आशा करता है कि मध्यमवर्ग का पाठक इसे अपनाएगा। द्वितीय क्रम में मूल कथा इस प्रकार प्रारम्भ होती है। विजयनगर (विक्रमपुर) में राहुग्रस्त चंद्रमा के समान मुखवाली एक प्रोषित-पतिका नायिका अपने पति के आगमन का मार्ग जोहती हुई नेत्रों से निरंतर अश्रु वर्षा कर रही है। वियोग-संतप्ता नायिका समीप के ही एक मार्गपर जाते हुए पथिक

से रोते-रोते उसके गंतव्य स्थान का नाम पूछती है। पथिक अपना परिचय देते हुए कहता है कि मैं मूलस्थान (सामोर) से आ रहा हूँ और अपने स्वामी का संदेश लेकर स्तंभतीर्थ जा रहा हूँ। स्तंभतीर्थ नगर का नाम सुनते ही वह नायिका विकंपित हो उठी। कारण यह था कि उसका पति चिरकाल से परिणीता की सुधि भूलकर उसे विरहाग्नि में तपा रहा था। पथिक ने उसके पति के लिए जब संदेश माँगा तो उसने कहा कि जो हृदय-हीन व्यक्ति धन के अर्जन में अपनी प्रिया को विस्मृत कर जाता है उसे क्या संदेश दूँ।

इसी प्रकार दोनों में वार्तालाप होता रहा। नायिका ने ग्रीष्म से प्रारंभ कर बसंत तक आनेवाली अपनी विपदाओं का उल्लेख किया। काम बाण से बिद्ध बाला ने अंत में पथिक से विनय की कि यदि पतिदेव के संबंध में मुझसे अविनय हो गई हो तो आप उन शब्दों का उल्लेख न करें।

पथिक को विदा कर गृह को लौटते हुए ज्यों ही उसने दक्षिण दिशा में देखा उसे प्रवासी पतिदेव पथपर आते दिखाई पड़े। वह आनंद से विभोर हो उठी।

सन्देश-रासक

अब्दुर्रहमान

[१२वीं शती का अन्त]

रयणायरधरगिरितरुवराइं गयणंगणंमि रिक्खाइं।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो ब्रुहयण वो सिवं देउ॥ १॥
माणुस्सदिव्वविज्जाहरेहिं णहमग्गि सूर-ससि-बिंबे।
आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं॥ २॥
पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसो त्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स॥ ३॥
तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु।
अद्दहमाणपसिद्धो संनेहयरासयं रइयं॥ ४॥
पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सद्दसत्थकुसलाण।
तियलोए सुच्छंदं जेहिं कयं जेहि णिद्दिट्ठं॥ ५॥
अवहट्टय-सक्कय - पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खणछन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं॥ ६॥
ताणऽणु कईण अम्हारिसाण सुइसद्दसत्थरहियाण।
लक्खणछंदपमुक्कं कुकवित्तं को पसंसेइ॥ ७॥
अहवा ण इत्थ दोसो जइ उइयं ससहरेण णिसि समए।
ता किं ण हु जोइज्जइ भुअणे रयणीसु जोइक्खं॥ ८॥
जइ परहुएहिं रडियं सरसं सुमणोहरं च तरुसिहरे।
ता किं भुवणारूढा मा काया करकरायन्तु॥ ९॥
तंतीवायं णिसुयं जइ किरि करपल्लवेहि अइमहुरं।
ता मद्दलकरडिरवं मा सुम्मउ रामरमणेसु॥ १०॥
जइ मयगलु मउ झरए कमलदलव्वहलगंधदुप्पिच्छो।
जइ अइरावइ मत्तो ता सेसगया म मचंतु॥ ११॥

जइ अत्थि पारिजाओ बहुविह गंधड्ढ कुसुम आमोओ।
फुल्लइ सुरिंदभुवणे ता सेसतरु म फुल्लंतु ॥ १२ ॥

जइ अत्थि णई गंगा तियलोए णिचपयडियपहावा।
वच्चइ सायरसमुहा ता सेससरी म वच्चंतु ॥ १३ ॥

जइ सरवरंमि विमले सूरे उइयंमि विअसिआणलिणी।
ता किं वाडिविलग्गा मा विअसउ तुंबिणी कहवि ॥ १४ ॥

जइ भरहभावछंदे णच्चइ णवरंग चंगिमा तरुणी।
ता किं गामगहिल्ली तालीसद्दे ण णच्चेइ ॥ १५ ॥

जइ बहुलदुद्धसंमीलिया य उच्छलइ तंदुला खीरी।
ता कणकुक्कससहिआ रब्बडिया मा दडव्वडउ ॥ १६ ॥

जा जस्स कव्वसत्ती सा तेण अलज्जिरेण भणियव्वा।
जइ चहुमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु ॥ १७ ॥

णत्थि तिहुयणि जं च णहु दिट्ठु,
तुम्हेहिं वि जं न सुउ विअडबन्धु सुच्छंदु सरसउ।
णिसुणेविणु को रहइ, ललियहीणु मुक्खाह फरसउ।
तो दुग्गचिय छेअरिहिं पत्ताहि अलहंतेहिं।
आसासिज्जइ कह कह वि सइवत्ती रसिएहिं ॥ १८ ॥

णिअकवित्तह विज्ज माहप्प,
पंडितपवित्थरणु मणुजणंमि कोलियपयासिउ।
कोऊहलि भासिअउ सरलभाइ सनेहरासउ ॥
तं जाणिवि णिमिसिद्धु खणु बुहयण करवि सणेहु।
पामरजणथूलक्खरहि जं रइयउ णिसुणेहु ॥ १९ ॥

[रड्डुच्छन्दः]

संपडिउ जु सिक्खइ कुइ समत्थु, तसु कहउ विवुह संगहवि हत्थु।
पंडित्ताह मुक्खह मुणहि भेउ, तिह पुरउ पढिव्वउ ण हु वि एउ ॥ २० ॥
णहु रहइ बुहा कुकवित्तरेसि, अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि।
जि ण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार, तिह पुरउ पढ़िव्वउ सव्ववार ॥ २१ ॥

[पद्धडी छंद]

अणुराइयरयहरु कामियमणहरु, मयणमणह पहदीवयरो।
विरहणिमइरद्धउ सुणहु विसुद्धउ, रसियह रससंजीवयरो ॥ २२ ॥

अइणेहिण भासिउ रइमइ वासिउ, सवण सकुलियह अमियसरो।
लइ लिहइ वियक्खणु, अत्थह लक्खणु, सुरइ संगि जु विअड़ नरो॥२३॥
[दुमिला छंद]

द्वितीयः प्रक्रमः

विजयनयरहु कावि वररमणि

उत्तंगथिरथोरथणि, विरुडलक धयरट्ठपउहर।
दीणाणण पहु णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहर॥
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु।
णज्जइ राहि विडंविअउ ताराहिवइ सउन्नु॥ २४॥

फुल्लइ लोयण रुवइ दुक्खत्त,
धम्मिल्लउमुक्कसुह, विज्जंभइ अरु अंगु मोडइ।
विरहानलि संतविअ, ससइ दीह करसाह तोडइ।
इम मुद्धह विलवंतियह महि चलणेहिं छिहंतु।
अद्धुड्डीणउ तिणि पहिउ पहि जोयउ पवहंतु॥ २५॥(रड्ड०)

तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअउक्कंखिरिय,
मंथरगय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तह मणहर चल्लंतिय चंचलरमणभरि,
छुडवि खिसिय रसणावलि किंकिणिरवपसरि॥ २६॥

तं जं मेहल ठवइ गंठि णिट्ठुर सुहय,
तुडिय ताव थूलावलि णवसरहाररलय।
सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पंखुडिय॥ २८॥

पडि उट्ठिय सविलक्ख सलज्जिर संभसिय,
तउ सिय सच्छ णियंसण मुद्धह विवलसिय।

तं संवरि अणुसरिय पहियपावयणमण,
फुडवि णित्त कुप्पास विलग्गिय दर सिहण ॥ २८ ॥

छायंती कह कह व सलज्जिर णियकरहि,
कणयकलस झंपंती णं इंदीवरहि ।
तो आसन्न पहुत्त सगग्गिरगिर वयणि,
कियउ सद्दु सविलासु करुण दीहरनयणि ॥ २९ ॥

ठाहि ठाहि णिमिसिद्धु सुथिरु अवहारि मणु,
णिसुणि किं पि जं जंपउं हियइ पसिज्जि खणु ।
एय वयण आयन्नि पहिउ कोऊहलिउ,
णेय णिअत्तउ ता सु कमद्धु वि णहु चलिउ ॥ ३० ॥

कुसुमसराउह रूवणिहि विहि णिम्मविय गरिट्ठ ।
तं पिक्खेविणु पहियणिहि गाहा भणिया अट्ठ ॥ ३१ ॥

पहिउ भणइ विवि दोहा तसु सु वियड्ढपरि ।
इक्कु मणि विंभउ थियउ कि रूविणि पिक्खि करि ॥
किं नु पयावइ अंधलउ अहवि वियड्ढलु आहि ।
जिणि एरिसि तिय णिम्मविय ठविय न अप्पह पाहि ॥
अइकुडिलमाइपिहुणा विविहतरंगिणिसु सलिलकल्लोला ।
किसणत्तणंमि अलया अलिउलमालव्व रेहंति ॥ ३२ ॥

रयणीतमविद्दवणो अभियंझरणो सपुण्णसोमो य ।
अकलंक माइ वयणं वासरणाहस्स पडिविंबं ॥ ३३ ॥

लोयणजुयं च णज्जइ रविंददल दीहरं च राइल्लं !
पिंडीरकुसुमपुंजं तरुणिकवोला कलिज्जंति ॥ ३४ ॥

कोमल मुणालणलयं अमरसरुप्पन्न बाहुजुयलं से ।
ताणंते करकमलं णज्जइ दोहाइयं पउमं ॥ ३५ ॥

सिहणा सुयण-खला इव थड्ढा निच्चुन्नया य मुहरहिया ।
संगमि सुयणसरिच्छा आसासहि वे वि अंगाइं ॥ ३६ ॥

गिरिणइ समआवत्तं जोइज्जइ णाहिमंडलं गुहिरं ।
मज्झं मयसुहं मिव तुच्छं तरलग्गाईहरणं ॥ ३७ ॥

जालंधरिथंभजिया ऊरू रेहंति तासु अइरम्मा ।
वट्टा य णाइदीहा सरसा सुमणोहरा जंघा ॥ ३८ ॥

[क्षेपक]

रेहंति पउमराइ व चलणंगुलि फलिहकुट्टि णहपंती ।
तुच्छं रोमतरंगं उव्विन्नं कुसुमनलएसु ॥ ३९ ॥

सयलज्ज सिरेविणु पयडियाइँ अंगाइँ तीय सविसेसं ।
को कवियणाण दूसइ, सिट्ठं विहिणा वि पुणरुत्तं ॥ ४० ॥

गाहा तं निसुणेविणु रायमरालगइ ।
चलणंगुट्ठि धरत्ति सलज्जिर उल्लिहइ ॥
तउ पंथिउ कणयंगि तत्थ बोलावियउ ।
कहिजाइसि हिव पहिय कह व तुह आइयउ ॥ ४१ ॥

णयरणामु सामोरु सरोरुहदलनयणि ।
णायरजण संपुन्नु हरिस ससिहरवयणि ॥
धवलतुंगपायारिहि तिउरिहि मंडियउ ।
णहु दीसइ कुइ मुक्खु सयलु जणु पंडियउ ॥ ४२ ॥

विविहविअक्खण सत्थिहि जइ पवसिइ णिरु ।
सुम्मइ छंदु मणोहरु पायउ महुरयरु ॥
कह व ठाइ चउवेइहि वेउ पयासियइ ।
कह बहु रूवि णिवद्धउ रासउ भासियइ ॥ ४३ ॥

कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ ।
कत्थ व विविहविणोइहि भारहु उच्चरिउ ।
कह व ठाइ आसीसिय चाइहि दयवरिहिं,
रामायणु अहिणु वियअइ कत्थ वि कयवरिहिं ॥ ४४ ॥

के आइन्निहिं वंसवीणकाहलमुरउ ।
कह पयवण्णणिवद्धउ सुम्मइ गीयरउ ॥
आयण्णहि सुसमत्थ पीणउन्नयथणिय ।
चल्लहि चल्ल करंतिय कत्थ वि णट्टणिय ॥ ४५ ॥

नर अउव्व विंभविय विविहनडनाडइहिं,
मुच्छिज्जहि पविसंत य वेसावाडइहिं ।

भमहिं का वि मयविंभल गुरुकरिवरगमणि,
अन्न रयणताडंकिहि परिघोलिरसवणि ॥ ४६ ॥

अवर कह व णिवडब्भरघण तुंगत्थणिहिं
भरिण मज्झु णहु तुट्टइ ता विभिउ मणिहिं।
का वि केण सम दर हसइ नियको अणिहि।
छित्ततुच्छ तामिच्छ तिरच्छिय लोयणिहि ॥ ४७ ॥

अवर का वि सुविअक्खण विहसंती विमलि,
णं ससिसूर णिवेसिय रेहइ गंडयलि।
मयण वट्टु मिअणाहिण कस्स व पंकियउ,
अन्नह भालु तुरकि तिलइ आलंकियउ ॥ ४८ ॥

हारु कस वि थूलावलि णिट्टुर रयण भरि,
तुलइ मग्गु अलहंतउ थणवट्टह सिहरि।
गुहिर णाहि विवरंतरु कस्स वि कुंडलिउ,
तिवल तरंग पसंगिहि रेहइ मंडलिउ ॥ ४९ ॥

रमण भार गुरु वियडउ का कट्ठिहि धरइ,
अइ मल्हि रउ चमकउ तुरियउ णहु सरइ।
जंपंती महुरक्खर कस्स व कामिणिहि,
हीरपंति सारिच्छ डसण भसुराकणिहि ॥ ५० ॥

अवर कह व वरमुद्ध हंसतिय अहरयलु,
सोहालउ कर कमलु सरलु बाहह जुयलु।
अन्नह तरुणि करं गुलिणह उज्जल विमल,
अवर कवोल कलिज्जहि दाडिम कुसुम दल ॥ ५१ ॥

भमुह जुयल सन्नद्धउ कस्स व भाइयइ,
णाइ कोइ कोयंडु अणंगि चडाइयइ।
इक्कह णेवर जुयलय सुम्मइ रउ घणउ,
अन्नह रयण निवद्धउ मेहल रुणझुणउ ॥ ५२ ॥
चिकणरउ चंवाइहिं लीलंतिय पवरु,
णवसर आगमि णज्जइ सारसि रसिउ सरु।

पंचमु कह व भुणंतिय भीणउ महुरयरु,
णायं तुंबरि सज्जिउ सुरपिक्खणइ सरु ॥ ५३ ॥

इम इक्किकह तत्थ रूवु जोयंतयह,
भसुरपिंग पय खलहि पहिय पवहंतयह।
अह वाहिरि परिभमणि कोइ जइ नीसरइ,
पिक्खिवि विविह उज्जाणु भुवणु तहि वीसरइ॥ ५४ ॥

[अथ वनस्पति नामानि—]

ढक कुंद सयवत्तिय कत्थ व रत्तवल,
कह व ठाइ वर मालइ मालिय तह विमल।
जूही खट्टण बालू चंबा बउल घण,
केवइ तह कंदुट्टय अणुरत्ता सयण ॥ ५५ ॥

माउलिंग मालूर मोय मायंद सुर,
दक्ख भंभ ईखोड पीण आरु सियर।
तरुणताल तंमाल तरुण तुंबर खयर,
संजिय सइवत्तिय सिरीस सीसम अयर ॥ ५६ ॥

पिप्पल पाडल पुय पलास घणसारवण,
मणहर तुज्ज हिरन्न भुज्ज धय वंसवण।
नालिएर निंबोय निर्विजिय निंव वड,
ढक चूय अंविलिय कणयचंदण निवड ॥ ५७ ॥

आमरुय गुल्लर महूय आमलि अभय,
नायवेलि मंजिट्ठ पसरि दह दिसह गय ॥ ५८ ॥
मंदार जाइ तह सिंदुवार।
महमहइ सु वालउ अतिहि फार॥

[रासा छंद]

किंकिल्लि कुंज कुंकुम कवोल,
सुरयार सरल सल्लइ सलोल।
वायंव निंव निंबू चिनार,
सिमि साय सरल सिय देवदार ॥ ५६ ॥

[पद्धडी]

लेसूड एल लंविय लवंग, कणयार कइर कुरवय खतंग।
अंविलिय कयंब विभीय चोय, रत्तंजण जंबुय गुरु असोय ॥६०॥

जंवीर सुहंजण नायरंग, विज्जउरिय अयरुय पीयरंग।
नंदण जिम सोहइ रत्तसाल, जिह पल्लव दीसइ जणु पवाल ॥६१॥

आरिट्ठिय दमणय गिद चीड, जिह आलइ दीसइ सउणि भीड।
खज्जूरि वेरि भाहण सयाइं, वोहेय डवण तुलसीयलाइं ॥६२॥

नाएसरि मोडिम पूगमाल, महमहइ छम्म मरुअइ विसाल ॥६३॥

(अर्द्धम)

अन्नय सेस महीरुह अत्थि जि ससिवयणि,
मुणइ णामु तह कवणु सरोरुहदलनयणि।
अह सव्वइ संखेविणु निवड निरंतरिण,
जोयण दस गंमिज्जइ तरुछायंतरिण ॥ ६४ ॥

[पुरउ सुवित्थरु वन्नउ अद्धउ जइवि,
करि अज्जुगमणु महु भगा धू अत्थवयि रवि ॥]

तवण तित्थु चाउदिसि मियच्छि वखाणियइ,
मूलत्थाणु सुपसिद्धउ महियलि जाणियइ।
तिह हुंतउ हउं इक्किण लेहउ पेसियउ,
खंभाइत्तइं वचउं पहुआएसियहु ॥ ६५ ॥

एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भववयणि,
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलब्भवनयणि।
तोडि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु,
जालंधरि व समीरिण मुंध थरहरिय चिरु ॥ ६६ ॥

रुइवि खणद्धु फुसवि नयण पुण वज्जरिउ,
खंभाइत्तह णामि पहिय तणु जज्जरिउ।
तह मह अच्छइ णाहु विरहउल्हावयरु,
अहिय कालु गम्मियउ ण आयउ णिद्दयरु ॥ ६७ ॥

पउ मोडवि निमिसिद्धु पहिय जइ दय करहि,
कहउं किंपि संदेसउ पिय तुच्छक्खरहि।

पहिउ भणइ कणयंगि कहहु किं रुन्नयण,
भिज्जंती णिरु दीसहि उव्विन्नमियनयण ॥ ६८ ॥

जसु णिग्गमि रेणुकरडि, कीअ ण विरहद्दवेण।
किम दिज्जइ संदेसडउ, तसु णिट्ठुरइ मणेण ॥ ६९ ॥

[पाणी तणइ विउइ, कादमही फुट्टइ हिआ।
जइ इम माणसु होइ, नेहु त साचउ जाणीयइ ॥
कंतु कहिव्वउ भंति विणु, धू पंथिय जाणाइं।
अज्जइ जीविउ कंत विणु, तिणि संदेसइ काइं ॥]

जसु पवसंत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥ ७० ॥

लज्जवि पंथिय जइ रहउं, हियउ न धरणउ जाइ।
गाह पढिज्जसु इक पिय, कर लेविणु मन्नाइ ॥ ७१ ॥

तुह विरहपहरसंचूरिआइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्जकल्लसंघडण ओसहे णाह तग्गंति ॥ ७२ ॥

ऊसासडउ न मिल्हवउ, दज्भण अंग भएण।
जिम हउ मुकी वल्लहइ, तिम सो मुक जमेण ॥ ७३ ॥

कहवि इय गाह पंथिय, मन्नाएवि पिउ।
दोहा पंच कहिज्जसु, गुरुविणएण सउ ॥ ७४ ॥

पिअविरहानलसंतविअ, जइ वचउ सुरलोइ।
तुअ छड्डिवि हियअट्ठियह, तं परिवाडि ण होइ ॥ ७५ ॥

कंत जु तइ हिअयट्ठियह, विरह विडंबइ काउ।
सप्पुरिसह मरणाअहिउ, परपरिहव संताउ ॥ ७६ ॥

गरुअउ परिहवु कि न सहउ, पइ पोरिस निलएण।
जिहि अंगिहि तूं विलसियउ, ते दद्धा विरहेण ॥ ७७ ॥

विरह परिग्गह छावडइ, पहराविउ निरवक्खि।
तुट्टी देह ण हउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि ॥ ७८ ॥

मह ण समत्थिम विरह सउ, ता अच्छउं विलवंति।
पाली रूअ पमाण पर, धण सामिहि घुम्मंति ॥ ७९ ॥

संदेसडउ सवित्थरउ, हउ कहणह असमत्थ।
भण पिय इकत्ति बलियडइ, बे वि समाणा हत्थ॥ ८०॥

संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ।
जो कालंगुलि मूंदडउ, सो बाहडी समाइ॥ ८१॥

तुरिय णियगमणु इच्छंतु तत्तक्खणे,
दोहया सुणवि साहेइ सुवियक्खणे।
कहसु अह अहिउ जं किंपि जंपिव्वउ,
मग्गु अइदुग्गु मइ मुंधि जाइव्वउ॥ ८२॥

वयण णिसुणेवि मणमत्थसरवट्टिया,
मयउसरमुक्क णं हरिणि उत्तट्ठिया।
मुक्क दीउन्ह नीसास उससंतिया,
पढिय इय गाह णियणयणि वरसंतिया॥ ८३॥

अणियत्तखणं जलवरिहणेण लज्जंति नयण नहु धिट्ठा।
खंडववणजलणं विय विरहग्गी तवइ अहियपरं॥ ८४॥

पढवि इय गाह भियनयण उव्विन्निया,
भणइ पहियस्स अइकरुणदुक्खिन्निया।
कढिणनीसास रइआससुहविग्घिणे,
विन्नि चउपइय पभणिज्ज तसु निग्घिणे॥ ८५॥

तुय समरंत समाहि मोहु विसम ट्ठियउ,
तह खणि खुवइ कवालु न वामकरट्ठियउ।
सिज्जासणउ न मिल्हइ खण खट्टंग लय,
कावालिय कावालिणि तुय विरहेण किय॥ ८६॥

ल्हसिउ अंसु उल्हसिउ अंगु विलुलिय अलय,
हुय उव्विंविरवयण खलिय विवरीय गय।
कुंकुमकणयसरिच्छ कंति कसिणावरिय;
हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिय॥ ८७॥

तुहु पुणु कज्जि हिआवलउ, लिहिवि न सकउ लेहु।
दोहा गाह कहिज्ज पिय, पंथिय करिवि सणेहु॥ ८८॥

पाइय पिय वडवानलहु, विरहग्गिहि उप्पत्ति।
जं सित्तउ थोरंसुयहि, जलइ पडिल्ली झत्ति ॥ ८९ ॥

सोसिज्जंत विवज्जइ सासे दीउन्हएहि पसयच्छी।
निवडंत बाहभर लोयणाइ धूमइण सिंचंति ॥ ९० ॥

पहिउ भणइ पडिउंजि जाउ ससिहरवयणि,
अहवा किवि कहखिज्ज सु महु कहु मियनयणि।
कहउ पहिय कि ण कहउ कहिसु कि कहियपण,
जिण किय एह अवत्थ णेहरइरहियपण ॥ ९१ ॥

जिणि हउ विरहह कुहरि एव करि घल्लिया,
अत्थ लोहि अकयत्थि इकल्लिय मिल्लिया।
संदेसडउ सवित्थरु तुहु उत्तावलउ,
कहिय पहिय पिय गाह वत्थु तह डोमिलउ ॥ ९२ ॥

तइया निवडंत णिवेसियाइं संगमइ जत्थ णहु हारो।
इन्हि सायर-सरिया-गिरि-तरु-दुग्गाइं अंतरिया ॥ ९३ ॥

णियदइयह उक्कंखिरिय किवि विरहाउलिय,
पियआसंगि पहुतिय तसु संगमि बाउलिय।
ते पावहि सुविणंतरि धन्नउ पियतणुफरसु,
आलिंगणु अवलोयणु चुंबणु चवणु सुरयरसु।
इम कहिय पहिय तसु णिद्दयह जइय कालि पवसियउ तुहु।
तसु लइ मइ तणि णिंद णहु को पुणु सुविणइ संगसुहु ॥ ९४ ॥
(षट्पदम्)

पियविरहविओए, संगमसोए, दिवसरयणि झूरंत मणे,
णिरु अंगु सुसंतह, बाह फुसंतह अप्पह णिदय किं पि भणे
तसु सुयण निवेसिय भाइण पेसिय, मोहवसण बोलंत खणे ॥
मह साइय वक्खरु, हरि गउ तक्खरु, जाऊ सरणि कसु पहिय भणे ॥९५॥

इहु डोमिलउ भणेविणु निशि (सि) तमहर वयणि,
हुइय णिमिस णिप्फंद सरोरुहदलनयणि।
णहु किहु कहइ ण पिक्खइ जं पुणु अवरु जणु;
चित्ति भित्ति णं लिहिय मुंध सचविय खणु ॥ ९६ ॥

ओसासंभमरुद्धसास उरुन्नमुह, वम्महसरपडिभिन्न सरवि पियसंगमुह।
दर तिरच्छि तरलच्छि पहिउ जं जोइयउ, ण गुणसद्द उत्तट्ठि कुरंगि
पलोइयउ ॥ ९७ ॥

पहिउ भणइ थिरु होहि धीरु आसासि खणु,
लइवि वरक्कियि ससिसउन्नु फंसहि वयणु।
तस्स वयणु आयन्नि विरहभर भज्जरिय,
लइ अंचलु मुहु पुंछिउ तह व सलज्जरिय ॥ ९८ ॥

पहिय ण सिज्झइ किरि वलु मह कंदप्पसउ,
रत्तउ जं च विरत्तउ निद्दोसे य पिउ।
रोय सुणिय परवेयण निन्नेहह चलह,
मालिणिवित्तु कहिव्वउ इक्कइ तह खलह ॥ ९९ ॥

जइ वि रइविरामे णट्ठसोहो मुणंती,
सुहय तइय राओ उग्गिलंतो सिणेहो।
भरवि नवयरंगे इक्कु कुंभो धरंती,
हियउ तह पडिल्लो बोलियंतो विरत्तो ॥ १०० ॥

जइ अंबरु उग्गिलइ राय पुणि रंगियइ,
अह निन्नेहउ अंगु होइ आभंगियइ।
अह हारिज्जइ दविणु जिणिवि पुणु भिट्टियइ,
पिय विरत्तु हुइ चित्तु पहिय किम वट्टियइ ॥ १०१ ॥

पहिउ भणइ पसयच्छि धीरि मणु पंथि धरु,
संवरि णिरु लोयणह वहंतउ नीरु भरु।
पावासुय बहुकज्जि गमहि तहि परिभमइ,
अणकियइ णियइ पउयणि सुंदरि ! णहु वलइ ॥ १०२ ॥

ते य विएसि फिरंतय वम्महसरपहय,
णियघरणिय सुमरंत विरह सवसेय कय।
दिवसरयणि णियदईय सोय असहंत भरु,
जिम तुम्हिहि तिम मुंधि पहिय झिज्झंति णिरु ॥ १०३ ॥

एय वयण आयन्निवि दीहरलोयणिहिं,
पढिय अडिल्ल थियसेविणु मयणुकोयणिहिं।

(अर्द्धम ।)

जइ मइ णत्थि खेहु ताकं तहं, पंथिय कज्जु साहि मह कंतहं।
जं विरहग्गि मज्झ णकंतह, हियउ हवेइ मज्झ णकंतह ॥ १०४ ॥

[अडिल्लच्छन्दः]

कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउहवहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय।
अंगभंगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलंतिहि आलसिहि ॥ १०५ ॥

धम्मिलह संवरणु न घणु कुसमिहि रइउ,
कज्जलु गलइ कवोलिहि जं नयणिहि धरिउ।
जं पियआससंगिहि अंगिहिं पलु चडइ,
विरह हुयासि झलकिउ, तं पडिलिउ झडइ ॥ १०६ ॥

आसजलसंसित्त विरहउन्हत्त जलंतिय,
णहु जीवउ णहु मरउ पहिय! अच्छउ धुक्खंतिय।
इत्थंतरि पुण पुणवि तेण पहिय धरेवि मणु,
फुज्झउ भणियउ दीहरच्छि णियणयण फुसेविणु ॥ १०७ ॥

सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किव करेइ।
विरहहुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ ॥ १०८ ॥

पहिउ भणइ पहि जंत अमंगलु मह म करि,
रुयवि रुयवि पुणरुत्त, बाह संवरिवि धरि।
पहिय! होउ तुह इच्छ अज्ज सिज्झउ गमणु,
मइ न रुन्नु विरहग्गिधूम लोयणसवणु ॥ १०९ ॥

पहिउ भणइ पसयच्छि! तुरियउ किं बज्जरहि,
रवि दिणसेसि पहुत्तु पडुंजहि दय करहि।
जाहि पहिय! तुह मंगलु होउ पुणन्नवउ,
पियह कहिय हिव इक मंडिल अन्नु चूडिलउ ॥ ११० ॥

तणु दीउन्हसासि सोसिज्जइ, अंसुजलोहु णेय सो सिज्जइ।
हियउ पउकु पडिउ दीवंतरि, णाइ पतंगु पडिउदीवंतरि ॥ १११ ॥

उत्तरायणि वड्ढिहि दिवस, णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिउइउ ।
दुन्चिय वड्ढहि जत्थ पिय, इहु तीयउ विरहायणु होइयउ ॥ ११२ ॥

गयउ दिवस थिउ सेसु पहिय ! गमु मिल्हियइ,
णिसि अत्थमु बोलेवि दिवसि पुणु चल्लियइ ।
विंवाहरि दिण त्रिव जुन्ह गोसिहि वलइ,
तो जाइअइ अ कज्जि मइ अइआवलइ,
जइ न रहहि इणि ठाइ पहिय ! इच्छहि गमणु,
चूडिल्लउ खडहडउ पियह गाहाइ भणु ॥ ११३ ॥

फलु विरहग्गि पवासि तुअ, पाइउ अम्हिहि जाइ पियह भणु ।
चिरु जीवं तउ लद्धु वरु, हुअउ संवच्छरतुल्लउ इक्कु दिणु ॥११४॥

जइ पिम्मविओय विसुंठलयं हिययं,
जइ अंगु अणंगसरेहि हयं णिहुयं ।
जइ बाहजलोह कवोलरयं णयणं,
जइ णिच्च मणंमि वियंभियय मयणं ॥ ११५ ॥

ता पहिय ! केम खिज्झि समए पाविज्जइ निवइ य तह णिद्द
जीविज्जइ जं पियविरहणीहि दिवसाइ तं चुज्जं ॥ ११६ ॥

पहिउ भणइ कणयंगि ! सयलु जं तुम्हि कहिउ,
अन्नइ जं मइ दिट्ठु पयासिसु तं अहिउ ।
पउमदलच्छि पलट्टिहि इच्छहि णियभुवणु,
हउं पुणि मग्गि पयट्टउ भंजि म मह गमणु ।
पुव्वदिसिहि तमु पसरिउ, रवि अत्थमणि गउ ।
णिसि कठ्ठिहि गम्मियइ, मग्गु दुग्गमु सभउ ॥ ११७ ॥

पहियवयण आयन्निवि पिम्मविओइरिय,
ससि उसासु दीहुन्हउ पुण खामोयरिय,
अंसुकणोहु कवोलि जु किम्मइ कुइ रहइ,
णं विद्दुमपुंजोवरि मुत्तिउ सुइ सहइ ।
कहइ रुवइ विलवंती पियपावासहइ ।
भणइ कहिय तह पियह इक्कु खंधहु दुवइ ॥ ११८ ॥

मह हियय रयणनिही, महियं गुरुमदरेण तं णिच्चं ।
उम्मूलियं असेसं, सुहरयणं कड्ढियं च तुह पिम्मे ॥ ११९ ॥

मयणसमीरविहुय विरहाणल दिट्ठिफुलिंगणिब्भरो
दुसह फुरंत तिव्व मह हियइ निरंतर झाल दुद्धरो।
अणरइझारुछित्तु पचिल्लइ तज्जइ ताम दड्ढए,
इहु अवरिउ तुज्झ उकंठि सरोरुह अम्ह वड्ढए॥ १२०॥

खंधउ दुवइ सुणेवि अंगु रोमंचियउ,
णेय पिम्म परिवडिउ पहिउ मणि रंजियउ।
तह पय जंपइ भियनयणि सुणिहि धीरि खणु,
किहु पुच्छउ ससिवयणि पयासहि फुड वयणु॥ १२१॥

णवघणरेहविणिग्गय निम्मल फुरइ करु,
सरय रयणि पवक्खु झरंतउ अमियभरु।
तह चंदह जिणणत्थु पियह संजणिय सुहु,
कइयलग्गि विरहग्गिधूमि झंपियउ मुहु॥ १२२॥

वंककडक्खिहि तिक्खिहि मयणाकोयणिहिं,
भणु वट्टहि कइ दियहि फुरंतिहिं लोयणिहिं।
जालंधरि व सकोमलु अंगु सोसंतियह,
हंससरिस सरलयवि गयहि लीलंतियह॥ १२३॥

इम दुक्खह तरलच्छि कांइ तइ अप्पियइ,
दुसह विरहकरवत्तिहि अंगु करप्पियइ।
हरिसुयबाणखुरप्पिहि कइ दिण मणु पहउ,
भणु कइ कालि पउत्तउ सुंदरि तुअ सुहउ॥ १२४॥

पहियवयण आइन्निवि दीहरलोयणिहि।
पढियउ गाहचउकउ मयणाकोयणिहि॥ १२५॥

(अर्द्धम् कुलकं पञ्चभिः।)

आएहि पहिय किं पुच्छिएण मह पियपवासदियहेण।
हरिऊण जत्थ सुक्खं लद्धं दुक्खाण पडिवट्टं॥ १२६॥

ता कहसु तेण किं सुमरिएण विच्छेयजालजलणेण।
जं गओ खणद्धमत्तो णामं मा तस्स दियहस्स॥ १२७॥

जत्थ गओ सो सुहओ तदिह दिवसाउ अम्ह अणियत्ती ।
णिच्छउ हियए पंथिय कालो कालु व्व परिणमइ ॥ १२८ ॥

मुकाऽहं जत्थ पिए डज्झउ गिम्हानलेण सो गिम्हो ।
मलयगिरिसोसणेण य सोसिज्जउ सोसिया जेण ॥ १२९ ॥

तृतीयः प्रक्रमः

[अतो ग्रीष्म वर्णनम् ।]

णवगिम्हागमि पहिय णाहु जं पवसियउ,
करवि करंजुलि सुहसमूह मह णिवसियउ ।
तसु अणुअंचि पलुट्टि विरहहवितविय तणु,
बलिवि पत्त णियभुयणि विसंठुल विहलमणु ॥ १३० ॥

तह अणरइ रणरणउ असुहु असहंतियहं,
दुस्सहु मलयसमीरण मयणाकंतियहं ।
विसमझाल झलकंत जलंतिय तिव्वयर,
महियलि वणतिणदहण तवंति य तरणिकर ॥ १३१ ॥

जमजीहह णं चंचलु णहयलु लहलहइ,
तडतडयड धर तिडइ ण तेयह भरु सहइ ।
अइउन्हउ वोमयलि पहंजणु जं वहइ,
तं झंखरु विरहिणिहि अंगु फरिसिउ दहइ ॥ १३२ ॥

पिउ चावइहि भणिज्जइ नवघण कंखिरिहिं,
सलिलनिवहु तुच्छच्छउ सरइ तरंगणिहिं ।
फलहारिण उन्नमियउ अइसच्छयइ सुहि,
कुजरसवणसरिच्छ पहक्खिर गंधवहि ॥ १३३ ॥

तह पतिहि संसग्गिहि चूयाकंखिरिय,
कीरपंति परिवसइ णिवड णिरंतरिय ।

लइ पल्लव भुञ्जंति समुट्ठिय करुणकुणि,
हउ किय णिस्साहार पहिय साहारवणि ॥ १३४ ॥
(युग्मम्)

हरियंदणु सिसिरत्थु उवरि जं लेवियउ,
तं सिहणह परितवइ अहिउ अहिसेवियउ।
ठविय विविह विलवंतिय अह तह हारलय,
कुसुममाल तिवि मुयइ झाल तउ हुई सभय ॥ १३५ ॥

णिसि सयणिह जं खित्तु सरीरह सुहजणणु,
विउणउ करइ उवेउ कमलदलसत्थरणु।
इम सिज्जह उट्ठंत पडंत सलज्जिरिहिं,
पढिउ वत्थु तह दोहउ पहिय सगग्गिरिहि ॥ १३६ ॥

वियसाविय रवियरहि तविहिं अरविय तवणि,
अमियमयूहु ण सुह जणइ दहइ विसजम्मगुणि।
दसिउ दसणिहिं भुअंगे अंगु चंदणु खयहि,
खिवइ हारु खारुब्भवु कुसुमसरच्छयहि॥
राईव चंदु चंदणु रयण सिसिर भणिवि जगि संसियहिं।
उल्हवइ ण केणइ विरहज्झल पुण वि अंग परीहिंसियहिं ॥१३७॥

तणु घणसारिण चंदणिण अलिउ जि किवि चर्चंति।
पुण वि पिएण व उल्हवइ पियविरहग्गि निभंति ॥ १३८ ॥

[अथ वर्षा वर्णनम्]

इम तवियउ बहु गिंभु कह वि मइ वोलियउ,
पहिय पत्तु पुण पाउसु धिट्ठु ण पत्तु पिउ।
चउदिसि घोरंधारु पवन्नउ गरुयभरु,
गयणि गुहिरु घुरहुरइ सरोसउ अंबुहरु ॥ १३९ ॥

पउदंडउ पेसिज्जइ झाल झलकंतियइ,
भद्दभेसिय अइरावइ गयणि खिवंतियइ।
रसहि सरस बव्वीहिय णिरु तिप्पंति जलि,
बगह रेह णहि रेहइ णवघण जंति तलि ॥ १४० ॥

गिंभ तविण खर ताविय बहु किरणुकरिहिं,
पउ पडंतु पुक्खरहु ण मावइ पुक्खरिहिं।
पयहत्थिण किय पहिय पयहि पवहंतयह,
पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयह॥ १४१॥

णिवडलहरि घणश्रंतरि संगिहिं दुत्तरिहिं
करि करयलु कल्लोलिहि गज्जिउ वरसरिहिं।
दिसि पावासुय थक्किय णियकज्जागमिहि,
गमियइ णाविहिं मग्गु पहिय-ण तुरंगमिहि॥ १४२॥

कद्दमलुल धवलंग विहाविह सज्झरिहि,
तडिनए वि पयभरिण श्रलक्ख सलज्जरिहि।
हुउ तारायणु श्रलखु वियंभिउ तमपसरु,
छन्नउ इंदोएहि निरंतरु धर सिहरु॥ १४३॥

[क्षेपक ?]

वगु मिल्हवि सलिलदहु तरुसिहरिहि चडिउ,
तंडवु करिवि सिहंडिहि वरसिहरिहि रडिउ।
सलिलिहि बर सालूरिहि फरसिउ रसिउ सरि,
कलयलु कियउ कलयंठिहि चडि चूयह सिहरि॥ १४४॥

णाय णिवड पह रुद्ध फणिंदिहिं दह दिसिहिं,
हुइय श्रसंचर मग्ग महंत महाविसिहिं।
पाडलदलपरिखंडणु नीरतरंगभरि,
उरुन्नउ गिरिसिहरिहि हंसिहि करुणसरि॥ १४५॥

मच्छरभय संचडिउ रन्नि गोयंगणिहि,
मणहर रमियइ नाहु रंगि गोयंगणिहि।
हरियाउलु धरवलउ कयंबिण महमहिउ,
कियउ भंगु श्रंगंगि श्रणंगिण मह श्रहिउ॥ १४६॥

विसमसिज्जविलुलंतिय श्रइदुक्खिन्नयइ,
श्रलिउज्झमाल विणग्गय सर पडिभिन्नियइ।
श्रणिमिसनयणुव्विन्निय णिसि जागंतियइ;
वत्थु गाह किउ दोहउ णिद श्रलहंतियइ॥ १४७॥

झंपवि तम वद्दलिए दसह दिसि छायउ अंबरु,
उन्नवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणाडंबरु ।
णहहमग्गि णहवल्लिय तरल तडयडि वि तडक्कइ,
दद्दुररडणु रउद्दु सद्दु कुवि सहवि ण सक्कइ ।
निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहभरु,
किम सहउ पहिय सिहरट्ठियइ दुसहउ कोइल-रसइ-सरु ॥१४८॥

उल्हवियं गिम्हहवी धारानिवहेण पाउसे पत्ते ।
अचरियं मह हियए विरहग्गी तवइ अहिय [य] रो ॥ १४९ ॥

गुणणिहि जलबिंदुब्भवहि, ण-गलत्थिय लज्जंति ।
पहिय जं थोरंसुइहि, थण थड्ढा ढज्झंति ॥ १५० ॥

दोहउ एउ पढेविणु, विरहखेआलसीइ,
उ अग्गइ अइखिन्नी मोहपरावसीइ ।
सुविणंतरि चिरु पवसिउ जं जोइअउ पिउ,
संजाणिवि कर गहिवि मइ भणिउ इहु ॥ १५१ ॥

किं जुत्तं सुकुलग्गयाण मुत्तूण जं च इह समए,
तडतडणतिव्व-घणघडणसंकुले दइय वचंति ॥ १५२ ॥

णवमेहमालमालिय णहम्मि सुरचाव रत्तदिसि पसरो ।
घणछन्नछम्म इंदोइएहि पिय पावसं दुसहं ॥ १५३ ॥

रायरुद्ध कंठग्गि विउद्धी जं सिवणि,
कह हउं कह पिउ पत्थरंगि जं न मुइय खणि ।
जइ णहु णिग्गउ जीउ पावबंधहि जडिउ,
हियउ न किण किरि फुट्टउ णं वज्जिहि घडिउ ॥ १५४ ॥

ईसरसरि सालूरिव कुणंती करुणसरि ।
इहु दोहउ मइ पढियउ निसह पच्छिमपहरि ॥ १५६ ॥

जामिणि जं वयणिज्ज तुम्ह, तं तिहुयणि णहु माइ ।
दुक्खिहि होइ चउग्गणी, झिज्जइ सुहसंगाइ ॥ १५६ ॥

[अथ शरद् वर्णनम्]

इम विलवंती कहव दिण पाइउ, गेउ गिरंत पडंतह पाइउ।
पियअणुराइ रयणिअ रमणीयव, गिज्जइ पहिय मुणिय अरमणीयव ॥१५७॥

जामिणि गमियइ इम जग्गंतह, पहिय पियागमि अस तगंतह।
गोसुयरंत मिल्हि सिज्जासणु, मणि सुमरंत विरहणिन्नासणु ॥ १५८ ॥

दक्खिण मग्गु णियंतह भत्तिहिं, दिट्ठु अइत्थिरिसिउ मइ भत्तिहिं।
मुणियउ सु पाउसु परिगमिअउ, पिउ परएसि रहिउ णहु रमिअउ ॥१५९॥

गय विद्दवि वलाहय गयणिहि,
मणहर रिक्ख पलोइय रयणिहि।
हुयउ वासु छम्मयलि फणिंदह,
फुरिय जुन्ह निसि निम्मल चंदह ॥ १६० ॥

सोहइ सलिलु सारिहिं सयवत्तिहि,
विविहतरंग तरंगिणि जंतिहि।
जं हय हीय गिंभि णवसरयह,
तं पुण सोह चडी णव सरयह ॥ १६१ ॥

हंसिहि कदुट्टिहि वुट्टिवि रसु,
कियउ कलयजु सुमणोहरु सुरसु।
उच्छलि भुवण भरिय सयवत्तिहि,
गय जलरिछि पडिछिय तित्थिहिं ॥ १६२ ॥

धवलिय धवलसंखसंकासिहिँ,।
सोहहि सरह तीर संकासिहिँ।
णिम्मलणीरसरिहिं पवहंतिहिँ,
तड रेहंति विहंगमपंतिहिँ ॥ १६३ ॥

पडिबिंबउ दरसिज्जइ विमलिहिं, कद्दम भारु पमुकिउ सलिलिहिं।
सहमि ण कुंजसद्द सरयागमि, मरमि मरालागमि णहु तग्गमि ॥ १६४ ॥

झिज्झउ पहिय जलिहि झिज्झंतिहि,
खिज्जउ खज्जोयहिं खज्जंतिहि।
सारस सरसु रसहिं किं सारसि,
मह चिर जिएणदुक्खु किं सारसि ॥ १६५ ॥
णिट्ठुर करुणु सद्दु मणमहि लव, दट्ठा महिल होइ गयमहिलव।
इम इक्किकह करुण भणंतह, पहिय ण कुइ धीरवइ खणंतह ॥ १६६ ॥
अच्छिहि जिह सन्निह घर कंतय, रच्छिहि रमिहि ति रासु रमंतय।
करिवि सिंगारु विविह आहरणिहिं, चित्तविचित्तइ तणुपंगुरणिहिं ॥१६७॥
तिलउ भालयलि तुरक्कि तिलकिवि, कुंकुमि चंदणि तणु चचंकिवि।
सोरंडहिं करि लियहि फिरंतिहि, दिव्वमणोहरु गेउ गिरंतिहि ॥१६८॥
धूव दिंति गुरुभत्ति सइत्तिहि, गोआसणिहिं तुरंगचलत्थिहि।
तं जोइवि हउं खियय उव्विन्निय, णेय सहिय मह इच्छा पुन्निय ॥ १६९ ॥
(युग्गम्)
तउ पिक्खिय दिसि अहिय विचित्तिय, णाय हुआसणि जणु पक्खित्तिय।
मणि पज्जलिय विरह झालावलि, नंदणि गाह भणिय भमरावलि ॥१७०॥
सकसाय णवब्भिस सुद्धगले, धयरट्ठ-रहंग रसंति जले।
गयदंति चमकरिणं पवरं, सरयासरि णेवर झीणसरं ॥ १७१ ॥
आसोए सरय महासरीए पयखलिर वेयवियडाए।
सारसि रसिऊण सरं पुणरुत्त रुयाविया दुक्खं ॥ १७२ ॥
ससिजुन्ह निसासु सुसोहिययं धवलं, वरतुंगपयार मणोहरयं अमलं।
पियवज्जिय सिज्ज लुलंत पमुक्करए, जमकुट्टसरिच्छ वहारगए सरए।१७३॥
अच्छिहि जिह नारिहिं नर रमिरइ, सोहइ सरह तीरि तिह भमिरइ।
बालय वर जुवाण खिल्लंतय, दीसइ घरि घरि पडह वज्जंतय ॥ १७४ ॥
दारय कुंडवाल तंडव कर, भमहि रच्छि वायंतय सुंदर।
सोहहि सिज्ज तरुणि जणसत्थिहि, घरि घरि रमियइ रेह पलित्थिहि।१७५॥
दिंतिय णिसि दीवालिय दीवय, णवससिरेहसरिस करि लीअय।
मंडिय भुवण तरुण जोइक्खिहिं, महिलिय दिंति सलाइय अक्खिहिं।।१७६॥
कसिणंवरिहिं विहाविह भंगिहिं, कड्डिय कुडिल अणेगतरंगिहिं।
मयणाहिण मयवट्ट मणोहर, चचिय चकावट्ट पयोहर ॥ १७७ ॥

अंगि अंगि घणु घुसिणु विलत्तउ, णं कंदप्पि सरिहि विसु खित्तउ ।
सज्जिउ कुसुमभारु सीसोवरि, णं चंदहु कसिण घणोवरि ॥ १७८ ॥

मसुरु कपूर बहुलु मुहि छुद्धउ, णं पच्चूसिहि दिणपहु बुद्धउ ।
रहसच्छलि कीरइ पासाहण, वररय किंकिणीहिं सिज्जासण ॥ १७९ ॥

इम किवि केलि करहि संपुन्निय, मइ पुणु रयणि गमिय उव्विन्निय ।
अच्छइ घरि घरि गीउ रवन्नउ, एगु इकट्ठु कट्ठु मह दिन्नउ ॥ १८० ॥

पुण पिउ समरिउ पहिय ! चिरग्गउ, णियमणि जाणि तह वि सूरग्गउ
घण जलवाहु बहुल्ल मिल्हेविणु, पडिय अडिल्ल मइ वत्थु तहेवि णु ॥ १८१॥

णिसि पहरद्धु णेय णंदीयइ, पियकह जंपिरी उणंदीयइ ।
रयणिमिसिद्धु अद्धु णं दीयइ, विद्धी कामतत्ति णं दीयइ ॥ १८२ ॥

किं तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मलचंदह,
अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह ।
अह पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण ।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससिउ घणु कुसमभरु ।
अह मुणिउ पहिय ! अणरसिउ पिउ सरइ समइ जु न सरइघरु
॥ १८३ ॥

[अथ हेमंत वर्णनम् ।]

सुरहिगंधु रमणीउ सरउ इम बोलियउ,
पावासुय अइथिद्धि ण खलि घरु संभरिउ ।
इम अच्छउ जं करुण मयणपडिभिन्नसरि,
अवलोइय धवलहर सेयतुस्सारभरि ॥ १८४ ॥
जलिउ पहिय सव्वंगु विरहअग्गिण तडयडवि,
सर पमुक कंदप्प दप्पि घणु कडयडवि ।
तं सिज्जहि दुक्खिज्जि ण आयउ चितहरु,
परमंडलु हिंडंतु कवालिउ खलु सवरु ॥ १८५ ॥
तह कंखिरि अणियत्ति णियंती दिसि पसरु,
लइ दुकउ कोसिल्लि हिमंतु तुसार भरु ।
हुइयअणायर सीयल भुवणिहि पहिय जल,
ऊसारिय सत्थरहु सयल कंदुट्टदल ॥ १८६ ॥

सेरंधिहिं घणसारु ण चंदणु पीसियइ,
अहरकओलालंकरणि मयणु संमीसियइ।
सीहंडिहिं वज्जियउ घुसिणु तणि लेवियइ,
चंपएलु मियणाहिण सरिसउ सेवियइ ॥ १८७ ॥

णहु दलियइ कप्पूरसरिसु जाईहलह,
दिज्जइ केवइवासु ण पयडउ फोफलह।
भुवणुप्परु परिहरवि पसुप्पइ जामिणिहि,
उयारइ पल्लंव विच्छाइय कामिणिहि ॥ १८८ ॥

धूइज्जइ तह अगरु घुसिणु तणि लाइयइ।
गाढउ निवडालिंगणु अंगि सुहाइयइ।
अन्नह दिवसह सन्निहि अंगुलमत्त हुय,
महु इक्कह परि पहिय णिवेहिय वम्हजुय ॥ १८९ ॥

विलवंती अलहंत निंद निसि दीहरिहि,
पढिय वत्थु तह पंथिय इक्कल्लिय घरिहि ॥ १९० ॥

दहिउसासिहि दीहरयणि मह गइय णिरक्खर,
आइ ण णिद्दय णिंद तुज्झ सुयरंतिय तक्खर।
अंगिहिं तुह अलहंत धिट्ठ करयलफरिसु,
संसोसिउ तणु हिमिण हाम हेमह सरिसु।
हेमंति कंत विलवंतियह, जइ पलुट्टि नासासिहसि।
तं तइय मुक्ख खल पाइ मइ, मुइय विज्ज किं आविहसि ॥ १९१ ॥

[अथ शिशिरवर्णनम्।]

इम कट्ठिहिं मइ गमिउ पहिय हेमंतरिउ,
सिसिर पहुत्तउ धुत्तु णाहु दूरंतरिउ।
उट्ठिउ झलडु गयणि खरफरसु पवणि हय,
तिणि सूडिय झडि करि असेस तहि तरुय गय ॥ १९२ ॥

छाय फुल्ल फल रहिय असेविय सउणियण,
तिमिरंतरिय दिसा य तुहिण धूइण भरिण।
मग्ग भग्ग पंथियह ण पवसिहि हिमडरिण,
उज्जाणह ढंखर इअ सोसिय कुसुमवण ॥ १९३ ॥

तरुणिहि कंत पमुक्किय णिय केलीहरिहि,
सिसिर भइणि किउ जलणु सरणु अग्गीहरिहि,
आवाणिय केलीरसु अब्भिंतरसुयण,
उज्जाणह दुम्मिहि वि ण कीरइ किवि सयण ॥ १९४ ॥

मत्तभुक संठविउ विवहगंधकरिसु,
पिज्जइ अद्धावट्टउ रसियहि इक्खरसु ।
कुंदचउत्थि वरच्छणि पीणुन्नयथणिय,
णियसत्थरि पलुटंति केवि सीमंतिणिय ॥ १९५ ॥

केवि दिंति रिउणाहह उप्पत्तिहि दिणिहि,
णियवल्लह कर केलि जंति सिज्जासणिहि ।
इत्थंतरि पुण पठिय सिज्ज इकलियइ ॥ १९६ ॥

मइ जाणिउ पिउ आणि मज्झ संतोसिहइ,
णहु मुणिअउ खलु धिट्ठु सो वि महु मिल्हिहइ ।
पिउ णाविउ इहु दूउ गहिवि तत्थ वि रहिउ ॥
सच्चु हियउ महु दुक्ख भारि पूरिउ अहिउ ॥ १९७ ॥

णइ मूलु पिअसंगि लाहु इच्छंतियइ,
णिसुणि पहिय ज पडिउ वत्थु विलवंतियइ ॥ १९८ ॥

[अर्द्धम्]

मइ घणु दुक्खु सहप्पि सुणवि मणु पेसिउ दूअउ,
णाहु ण आणिउ तेण सु पुणु तत्थव रय हूअउ ।
एम भमंतह सुन्नहियय जं रयणि विहाणिय,
अणिरइ कीयइ कम्मि अवसु मणि पच्छुत्ताणिय ॥
मइ दिन्नु हियउ णाहु पत्तु पिउ, हुई उवम इहु कहु कवण ।
सिंगत्थि गइय उवाडयणि, पिक्ख हराविय णिअ सवण ॥ १९९ ॥

[अथ वसन्तवर्णनम् ।]

गयउ सिसिरु वणतिण दहंतु, महु मास मणोहरु इत्थ पत्तु ।
गिरि मलय समीरण णिरु सरंतु, मयणग्गि विउयह विप्फुरंतु ॥२००॥

सं केवइ जणइ सुहं विअसु, विअसंतु रवन्नउ दह दिसासु।
णवकुसुमपत्त हुय विविहवेसि, अइ रेहइ णवसरइ विसेसि ॥२०१॥

बहु विविहराइ घण मणहेरहि, सियसावरत्तपुण्फंवरेहि।
पंगुरणिहि चच्चिउ तणु विचित्तु, मिलि सहीयहि गेउ गिरंति णित्तु॥२०२॥

महमहिउ अंगि बहु गंधमोउ, णं तरणि पमुकउ सिसिर सोउ।
तं पिखिवि मइ मज्झहि सहीण,
लंकोडउ पढियउ नववल्लहीण ॥ २०३ ॥

गयहु गिम्हु अइदुसहु वरिसु उव्विन्नियइ,
सरउ गयउ अइकट्ठि हिमंतु पवन्नियई।
सिसिर फरसु वुल्लीणु कहव रोवंतियइ,
दुक्करु गमियइ एहु णाहु सुमरंतियइ ॥ २०४ ॥

वाहिज्जइ नवकिसलयकरेहिं, महुमास लच्छि ण तरुवरेहिं।
रुणझुण करेहि वणि भमरु छुद्ध, केवयकलीहि रसगंधलुद्ध ॥२०५॥

विज्झंति परुप्पर तरु लिहंति, कंटग्ग तिक्ख ते णहु गणंति।
तणु दिज्जइ रसियह रसह लोहि,
णहु पाहु गणिज्जइ पिम्ममोहि ॥ २०६ ॥

महु पिक्खिवि विभिउ मणिहि हूउ।
सुणि पहिय कहिउ रवणिज्ज रूउ ॥ २०७ ॥

[अर्द्धम्]

पज्जलंत विरहग्गि तिव्व झालाउलं,
मयरद्धउ वि गज्जंतु लहरि घण भाउलं।
सहवि दुसहु दुत्तर विचिरिज्जइ सब्भयं,
मह णेहह किवि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भयं ॥ २०८ ॥

किसुयइ कसिण घणरत्तवास, पक्कव पलासइ धुय पलास।
सवि दुसहु हूय पहंजणेण, संजणिउ असुहु वि सुहंजणेण ॥ २०९ ॥

निवडंत रेगु धरपिंजरीहि, अहिययर तविय णवमंजरीहि।
मरु सियलु वाइ महि सीयलंतु,
णहु जणइ सीउ णं खिवइ तंतु॥ २१० ॥

जसु नाम अलिकउ कहइ लोउ, णहु हरइ खणद्धु असोउ सोउ।
कंदप्प दप्पि संतविय अंगि, साहारइ णाहु ण सहार अंगि॥२११॥

लहि छिद्दु वियंभिउ विरह घोरु, करि तंडउ मुणिउ रडंत मोरु।
सिहि चडिउ पिक्खि मायंदसाह,
मुणि पंथिय जं मइ पढिय गाह॥ २१२॥

दुइज्जउ दूइय वरहिणीहिं कयहरिस णट्टवरहम्मि।
गयणे पसरियणवदुम धणभंती मुणिय पुण दुम्मं॥ २१३ ॥

इय गाह पढिवि उट्ठिय रुवंत, चिर जुन्न दुक्ख मणि संभरंत।
विरहग्गिभाल पज्जलिअ अंगि,
जज्जरिउ बाणिहि तणु अणंगि॥ २१४॥

खणु मुणिउ दुसहु जमकालपासु,
वर कुसुमिहि सोहिउ दस दिसासु।
गय णिवड णिरंतर गयणि चूय, णवमंजरि तत्थ वसंत हूय॥२१५॥

तहि सिहरि सुरत्तय कसिण काय, उच्चरहि भरहु जगु विविह भाय।
अइ मणहरु पत्तु मणोह रीउ, उच्चरहिं सरसु महुयर भुणीउ॥२१६॥

कारंड करहि तह कीर भाइ, कारुन्न पउकउ तह कुणाइ।
अइ एरिस मयणपरव्वसीउ, कह कहव धरंती कट्ठि जीउ॥ २१७॥

जलरहिय मेह संतविअ काइ, किम कोइल कलरउ सहण जाइ।
रमणीयण रत्थिहि परिभमति, तूरारवि तिहुयण बहिरयंति॥२१८॥

चच्चरिंहि गेउ भुणि करिवि तालु, नच्चीयइ अउव्व वसंतकालु।
घण निविड हार परिखिल्लरीहि,
रुणभुण रउ मेहलकिंकिणीहिं॥ २१९॥

गज्जंति तरुणि णवजुव्वणीहिं,
सुणि पढिय गाह पिअकंखरीहि॥ २२०॥

[अर्द्धम्]

एआरिसंमि समए घणदिणरहसोयरंमि लोयंमि ।
अवहियं मह हियए कंदप्पो खिवइ सरजालं ॥ २२१ ॥

जइ अणक्खरु कहिउ मइ पहिय ।
घणदुक्खाउन्नियह मयणअग्गि विरहिणि पलितिहि,
तं फरसउ मिल्हि तुहु विणयमग्गि पभणिज्ज झतिहि ।
तिम झंपिय जिम कुवइ णहु तं पत्रणिय जं जुत्तु,
आसिसिवि वरकामिणिहिं वहाऊ पडिउत ॥ २२२ ॥

तं पउंजिवि चलिय दीहच्छि,
अइ तुरिय, इत्थंतरिय दिसि दक्खिण तिणि जाम दरसिय,
आसन्न पहावरिउ दिट्ठु णाहु तिणि झत्ति हरसिय ।
जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महंतु,
तेम पढंत सुणंतुयह जयउ अणाइ अणंतु ॥ २२३ ॥

———

भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास

परिचय

'संदेश रासक' के उपरांत 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' सबसे प्राचीन है। इस रचना को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री अगरचंद नाहटा को है, जिन्हें सर्वप्रथम इसकी एक प्रति जैसलमेर के खरतरगच्छीय पंचायती भंडार में प्राप्त हुई।

नामकरण का कारण

नाहटाजी का मत है कि इस रास में भरत और बाहुबलि के घोर युद्ध का वर्णन प्रधान है, अतः इस रास का नाम भी 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' रास रखा गया।

जैनियों के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के भरत, बाहुबलि आदि सौ पुत्र थे। आयु के अंतिम दिनों में उन्होंने अपना राज्य अपने पुत्रों में बाँट कर स्वयं तपस्वी जीवन बिताना प्रारंभ किया। भरत

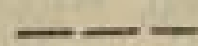
कथा वस्तु

अपने भूभाग से असंतुष्ट होकर एक चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने का प्रयास करने लगे। उन्होंने क्रमशः अपने सभी भ्राताओं का राज्य अपहृत कर लिया; केवल बाहुबलि का राज्य अवशिष्ट रह गया। बाहुबलि के अतिरिक्त अन्य भ्राता तो पिता के परामर्श से आत्म-साधना के पथिक बन गए, किंतु बाहुबलि ने भरत का खुला विरोध किया। दोनों भाइयों में मल्ल-युद्ध होने लगा। भरत के मुष्टि प्रहार को सह कर बाहुबलि ज्येष्ठ भ्राता (भरत) के ऊपर प्रहार करते समय रुक गए। उनके मनमें यह आत्मग्लानि हुई कि राज्य के लोभ से मैं सत्पथ से पतित हो रहा हूँ। उन्होंने अपने मनमें संकल्प किया कि 'मुझे उसी पर प्रहार करना चाहिए जिसने भाई पर प्रहार करने के लिए मुझे प्रेरित किया।' इस संकल्प-सिद्धि के लिए बाहुबलि ने मुनिव्रत ले लिया और आत्म-शत्रुओं को पराजित करने के लिए वन के एक कोने में ध्यानावस्थित दशा में साधना करने लगे। साधना करते-करते संपूर्ण मनोविकारों पर विजय प्राप्त करने पर भी उनके मन से अहंकार नहीं गया। अंत में ऋषभदेव के उपदेश से वह भी दोष निकल गया और उन्हें कैवल्य-पद की प्राप्ति हुई।

इसी कथानक के आधार पर प्राकृत भाषा में ११ हजार श्लोकों का एक विस्तृत ग्रंथ लिखा मिलता है। भरतेश्वर-बाहुबलि-रास की कथा-वस्तु भी यही है। इसके संबंध में आगे विवेचन किया जायगा।

रचना-काल

इस रास के पद्यांक २६ में ग्रंथकार ने अपना नाम बज्रसेन सूरि अपने गुरु का नाम देवसूरि लिखा है। देवसूरि का स्वर्गवास सं० १२२६ वि० में हुआ। यदि बज्रसेन सूरि ने निज गुरु के जीवनकाल में यह ग्रंथ लिखा तो इसका रचना-काल सं० १२२५ माना जा सकता है। नाहटाजी का मत है कि 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' से इसकी भाषा प्राचीनतर प्रतीत होती है, अतः इसका रचना-काल सं० १२२५ वि० के आस-पास संभव जान पड़ता है।



भरतेश्वर बाहुबलिघोर-रास

वज्रसेन सूरि रचित [सं० १२२५ के आसपास]

पहिलउं रिसह जिणंदु नमवि भवियहु ! निसुणहु रोलु धरेवि ॥
बाहूबलि केरउ विजउ ॥ १ ॥

सयलह पुत्तह राखिव देवि । भरहेसरू निय पाटि ठवे वि ॥
रिसहेसरि सिंजमि थियउ ॥ २ ॥

बरिसु जाउ दिणि दिणि उपवासु । मूनिहि थाकउ बरिस सहासु ॥
इव रिसहेसरि तपु कियउ ॥ ३ ॥

तो जुगाइ-देवह सुपहाणु । उप्पन्नं वर केवल-नाणु ॥
चक्कु रयणु भर हेसरह ॥ ४ ॥

भर हेसरू जिण वंदण जाइ । रिद्धि नियंती अंगि न माइ ॥
मरु-देवी केवलु लहइ ॥ ५ ॥

तो थक्की दिगु-विजउ करेवि । भरहेसरू राणा मेलेबि ॥
अवझा-नयरिहि आइयउ ॥ ६ ॥

तो सेणावइ कहियं देव ! तज्जउ आउह-सालह अेव ॥
चक्कु रयणु नउ पइसरइ ॥ ७ ॥

भरहु भणहु कुन मन्नइ आण । देवबन्धु सवि खंध सवाण ॥
बाहुबलि पुण आगलउ ॥ ८ ॥

बन्धु बाहु ! तुम्हि आजु-इ आजु । करउ आण कय छंडउ राजु ॥
भरहिं दूय पठावियउ ॥ ९ ॥

तो बंधव गय तापह पासि । सव्वे केवलि हुय गुण रासि ॥
राहू बलि मंडिउ थियउ ॥ १० ॥

पहु भर हेसर अेव, बाहु बलिहि कहा वियउ ।
जइ बहु मन्नहि सेव, तो प्रवणड संग्रामि थिउ ॥ ११ ॥

गरूया अेकइ नांव, दूवोलिहिं गंजण वडिय ।
सो बाहुबलि तांव, दूअउ गलइ लियावियउ ॥ १२ ॥

सो बाहुबलि वाणि, संभलेवि अवखह गयउ।
भरह तणइ अत्थाणि पणमेविणु दूअउ भणइ ॥ १३ ॥

पणमेविणु

मइं लाधं तहि ठामि, मउडि महेसरू जं करइ।
अवरूइं सांभलि सामि बाहु बलिहिं कहावियउँ ॥१४।

खंतह गांगह तीरि दडउ जेंव उच्छालियउ।
घाउ भ होउ सरीरि पडत उदय करिझालियउ ॥१५।

तं वीसरियं आजु, भरहेसरू मय भिंमलउ।
जइ करि लाधउ राजु तकि अम्ह सेव मना विस्थइ ॥१६।

गंग सिंधु दुइ रांड अनु जइ नाहल साहिया।
अे तीणइ छइ खांड जीतउं मानइ भाभटउ ॥१७॥

अेरिस वयणुसुणेवि खिलि-खिलि हुँतिन गोहडिय।
अंगूठइ टेरेवि बाहुबलि बाहा-बलिहिं ॥१८॥

अेत्थं तरि नह गामि आवे विणु नार उभणइ।
तलि महियलि अरूसागि नउ थी बाहुबलि संवउ ॥१९॥

कोवानल पज्जलिउ ताव भरहेसरू जंपइ।
रेरे दियहु पियाए ठाक जिमु महियलु कंपई ॥२०॥

गुलु गुलंत चालिया हाथि नं गिरवर जंगम।
हिंसा-रवि जहि रिय दियंत हल्लिय तुरंगय ॥२१॥

धर डोलइ खलभलइ सेनु दिणियरू छाइज्जइ।
भर हेसरू चालियउ कटकि कसु ऊपम दीजइ ॥२२॥

तं निसुणे विणु बाहुबलिण सीवह गय गुडिया।
रिणरहसि हिच उरंग दलिहि बेउ पासा जुडिया ॥२३॥

अति चाविउं पाडरं होइ अति ताणिउ त्रूटइ।
अति मथियं होइ कालकूट अति भरियं फूटइ ॥२४॥

मंडलियउ बाहूबलि मणइ मन मरइ अखूटइ।
जो भुयदंडह पडइ पाखि सो किमुइ न छूटइ ॥२५॥

देव-सूरि पणमेवि सयलुतिय-जोय वदीतउ।
वयरसेण सूरि भणइ अेहु रण रंगुजु बीतउ ॥२६॥

तापहिलइ रिण-रंगि अनलु वेगु तहि झूझियउ।
पडियउ भंगो-भंगि आगि वाणि भरहह तणइ ॥२७॥
काहं लूया कूच काहं माथा मूंडिया।
केवि किया खर छूच विज्जा हरि विज्जा बलिहिं ॥२८॥
इण परिजिउ भडवाउ मउड वधा ऊतारियउ।
तउ भरथेसरू राउ आपणि ऊट वणिय, करइ ॥२६॥
तावह विज्जु पथंडु अनलवेगु नह-यलि गयउ।
मोडिवि तिणु धय-दंडु भरहेसरू विलखड कियउ ॥३०॥
चक्किहिं छिंदइ सीसु भरहेसरू विज्जा हरह।
इण रण रंगि जु वीतु देवा हइं नइवीसरइं ॥३१॥
तो वहु जीव संहारू देखेविणु वाहु बलिए।
भणियं पर-बल सारू मुज्झुवि तुज्झवि लागटइ ॥३२॥
जइ बूझसि तउ बूझि काइं मांडलिए मारिए।
पहरण पाखइ झूझु अंगो अंगिहि कीजिसइ ॥३३॥
तउ धुरि जोवंताहं आखिहिं पाणिउं आइयउ।
वादहि बोलंताहं भरथहि पाडिऊतरू नहि ॥३४॥
झझु वि भुअ-दंडेहि मल्ल-झूझुतहिं निम्मियं।
मूठिहिं अरू दंडहि भरहु जीतु बाहू बलिहिं ॥३५॥
तो चिंतइस-विसाउ जो दाइयहं दूबलउ।
तहि कहियउ राउ चक्क रयणु तह सुमरियं ॥३६॥
करियलि चक्कु धरेवि जाल-फुलिंगा मेल्हतउं।
मूकउं वलि अक्लेवि प्रवहइ नाहइं गोत्रियह। ३७॥
तावहं भणइ हसेवि वाहुवलि भरहेसरह।
अकह छूमर देवि, चक्क-रयणि सउं निद्दलउं ॥३८॥
पुण तं भट्ट पयंतु तउ मइं मूकउ जीवतउ।
मइ पुणु किउ सामंतु पंचह मूठिहि लोचु किउ ॥३९॥
तो पाए लागेवि भर हेसरि मन्नावियउ।
बँधव ! मुज्झु खमेहि तइं जीतउ मइं हारियउ ॥४०॥

ऊतरू ताव न देइ बाहुबलि भरहेसरह ।
राणे सरिसउ ताव भरहेसरू घरि आइयउ ॥४१॥
पहु भरिहेसरि राइं रिसह जिणसरू पूछियउं ।
ह बाहूबलि भाइं सामिय काइं हराबियउ ॥४२॥
तउ महुरक्खर वाणि(श्रे) रिसहनाहु पहु बज्जरइ ।
कारणु अवरू म जाणि(श्रे) पुव्व-कियं परि परिणामइ ॥४३॥
पंचपूत अम्हि आसि(श्रे)वयरसेण तित्थंकरह ।
राजु करि वि तहिं पासि(श्रे)तपु किउ अम्हि निम्मलउ ॥४४॥
मइं तहिं तित्थयरत्तु(श्रे) तइं पुणु बाधउं भोग-फलु ।
मुणिहिं मलेविणु गातु(श्रे)'' 'बाहूबलिहि ॥४५॥
बंभी सुंदरि बेवि(श्रे)मायाकरि हुई जुवई ।
भवियहु इहु जाणेवि(श्रे)माया दूरिं परिहरउ ॥४६॥
बाहूबलि हू नाण(श्रे)माणि पणडइं तउ हुयउं ।
अवरुम करिसउ माणु(श्रे)वयरसेण सुरि वज्जरइ ॥४७॥
भावण तिंव भावेउ जिंव भावी भरहेसरिहिं ।
तउ केवल पावेहु(श्रे)राजु करंता तेण जिंव ॥४८॥

इति भरहेसर-बाहूबलि घोर समाप्त

भरतेश्वर बाहु-बलि-रास

परिचय

देशी भाषा के उपलब्ध रास-ग्रंथों में 'भरतेश्वर-बाहु-बलि' की गणना प्राचीनतम रास के रूप में की जाती है। इसके रचयिता शालिभद्र सूरि राजगच्छ नामक आम्नाय के प्रमुख आचार्य थे।

रचना-काल हेमचंद्रयुग

इसकी रचना सं० १२४१ वि० के फाल्गुन मास की पंचमी तिथि को समाप्त हुई। इस रास को सर्व प्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय श्री मुनिजिन विजय जी को है, जिन्होंने सन् १६१४ ई० में बड़ौदा के पाटण जैन-भंडार का सुव्यवस्थित रूप से निरीक्षण करके अनेक दुर्लभ ग्रंथों को प्रकाश में लाने के लिए अकथ श्रम किया। उन्होंने सन् १६१५ ई० में गुजराती-साहित्य-परिषद् के निमित्त एक विस्तृत निबंध प्रस्तुत किया, जिसमें पाटण-जैन-भंडार से प्राप्त अपभ्रंश ग्रन्थों पर अभिनव प्रकाश डाला।

मुनिजिन विजय के शोधकार्य से पूर्व विद्वानों की धारणा थी कि महेंद्रसूरि के शिष्य **धर्म** नामक विद्वान् द्वारा विरचित **'जंबू स्वामिरास'** प्राचीनतम रासग्रंथ है, किन्तु अब तो सर्व सम्मति से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि इससे भी २५ वर्ष पूर्व भरतेश्वर बाहु-बलि रास की रचना हो चुकी थी।

रासकर्ता आचार्य शालिभद्र सूरि ने अपने स्थान का कहीं भी संकेत नहीं किया है, किंतु मुनि जिनविजय की ऐसी धारणा है कि वे प्रायः पाटण में ही निवास करते थे। इस ग्रंथ की रचना के दस वर्ष पूर्व प्रसिद्ध आचार्य हेमचंद्र का स्वर्गवास हो चुका था। किंतु उनकी प्रभा का आलोक वर्षों तक विद्वानों का पथ-प्रदर्शक बना रहा। इसी कारण श्री मुनि जिन विजय इस रास को हेमचंद्र युग की श्रेष्ठ कृतियों में परिगणित करते हैं।

सबसे प्राचीन प्रति

इस रास की एकमात्र प्राचीन प्रति बड़ौदा में अवस्थित श्री कांतिविजय जी के **शास्त्र संग्रहालय** से प्राप्त हुई। इस प्रति में ११$\frac{1}{2}$ और ४$\frac{1}{2}$ ई० की साइज के ६ पन्ने हैं। इस प्रति पर कहीं भी प्रति-लिपि-काल का उल्लेख नहीं मिलता, किंतु अनुमानतः यह ४०० अथवा ५०० वर्ष पुरानी प्रति होगी। इस प्रति की लेखशैली में एकरूपता का अभाव है। विशेषकर

इकार-उकार, ह्रस्व-दीर्घ का कोई नियम नहीं। एक शब्द एक स्थान पर ह्रस्व 'इ' से लिखा मिलता है, किन्तु वही शब्द दूसरे स्थान पर दीर्घ 'ई' से। इसी प्रकार एक ही शब्द में 'उकार' और 'ऊकार' दोनों पाए जाते हैं। इतना ही नहीं, 'इकार' और 'उकार' में भी भेद नहीं पाया जाता। उदाहरण के लिये 'हवे' शब्द लीजिए। इसके अनेक रूप **हिवं, हिवु, हिवउ, हिवि, हिवइ, हवि, हव** आदि पाए जाते हैं। इस त्रुटि के कारणों पर भूमिका में प्रकाश डाला जा चुका है।

इस रास की भाषा का वही स्वरूप मिलता है जो १३ वीं शताब्दी में विरचित **'जंबूस्वामिरास', 'रेवंत-गिरिरास'**, तथा **'आबू गिरिरास'** में पाया जाता है। इसकी छंद-योजना भी प्रायः उस युग के अन्य रासों के सदृश ही है। इसमें दोहा, वस्तु और चउपइ आदि छंद मिलते हैं।

भाषा

(ढालवाला) ढाळवाला राग में गाया जाने वाला रासा छंद भी पाया जाता है। प्रत्येक ठवणि के उपरांत छंदवाली पंक्ति (कड़िओं) को पृथक्-पृथक् रागों में गाया जाता था। यही रासा छंद की विशेषता थी।

इस रासग्रंथ की कथा-वस्तु जैन-साहित्य की एक अति प्रचलित घटना है। युगादि पुरुष भगवान ऋषभ देव के दो पुत्र थे—भरत और बाहुबलि। इन दोनों में राज्याधिकार के निमित्त संघर्ष छिड़ गया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। उस युद्ध के अंतिम परिणाम का वर्णन बड़े ही नाटकीय ढंग से किया गया है।

कथा वस्तु

———

शालिभद्रसूरिकृत

भरतेश्वर-बाहुबली रास

(एक प्राचीनतम-पद्यकृति)

॥ नमोऽर्हद्भ्यः ॥



रिसह जिणेसर पय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवी;
नमवि निरंतर गुरुचलणा ॥ १
भरह नरिंदह तणुं चरित्तो, जं जुगी वसहांवलय वदीतो;
वार वरिस विहुं बंधवहं ॥ २
हुं हिव पभणिसु रासह छंदिहिं, तं जनमनहर मन आणंदिहिं;
भाविहिं भवीयण ! संभलेउ ॥ ३
जंबुदीवि उवझाउरि नयरो, धणि कणि कंचणि रयणिहिं पवरो;
अवर पवर किरि अमर परो ॥ ४
करइ राज तहिं रिसह जिणेसर, पावतिमिर भयहरण दिणेसर;
तेजि तरणि कर तहिं तपइ ए ॥ ५
नाभि सुनंद सुमंगल देवि, राय रिसहेसर राणी बे वि;
रूव रेहि रति प्रीति जित ॥ ६
विवि बेटी जनमी सुनंदन, तेह जि तिहूयण मन-आनंदन;
भरह सुमंगल-देवि तणु ॥ ७
देवि सुनंदन नंदन बाहूबलि, भंजइ भिडड महाभड भूयबलि;
अवर कुमर वर वीर धर ॥ ८
पूरब लाख तेणि तेयासी, राजतणीं परि पुहवि पयासी;
जुगि जुग मारग दाषीउ ए ॥ ९
उवझापुरि भरहेसर थापीय, तक्षशिला बाहुबलि आपीय;
अवर अटाणुं वर नयर ॥ १०
दान दियइ जिणवर संवत्सर, विसयविरत्त वहइ संजमभर;
सुर असुर नरि सेवीउ ए ॥ ११

परमतालपुरि केवलनाणुं, तस ऊपन्नू प्रगट प्रमाणुं;
जाण हवुं भरहेसरह ॥ १२

तिणि दिणि आउधसालहं चक्को, आवीय अरीयण पडिय धसक्को;
भरह विमासइ गहगहीउ ॥ १३

धनु धनु हुं धर-मंडलि राउ, आज पढम जिणवर मुझ्क नाउ;
केवललच्छि अलंकीयउ ॥ १४

पहिलुं ताय-पाय पणमेसो, राजरिद्धि राणिम-फल लेसो;
चकरयण तव अणुसरउं ॥ १५



वस्तु—चलीय गयवर, चलीय गयवर, गडीय गज्जंत,
हूं पत्तउ रोसभरि, हिणहिणंत हय थट्ट हल्लीय।
रह भय भरि टलटलीय मेरु, सेसु मणि मउड खिल्लीय।
सिउं मरुदेविहिं संचरीय, कुंजरी चडिउ नरिंद।
समोसरणि सुरवरि सहिय, वंदिय पढम जिणंद ॥ १६

पढम जिणवर, पढम जिणवर-पाय पणमेवि,
आणंदिहिं उच्छव करीय, चकरयण बलिवलिय पुज्जइ।
गडयडंत गजकेसरीय, गरुय नदि गजमेह गज्जइ।
वहिरीय अंबर तूर-रवि, बलिउ नीसाणे घाउ।
रोमंचिय रिउरायवरि, सिरि भरहेसर राउ ॥ १७



ठवणि १. अहि उगमि पूरबदिसिहिं, पहिलउं चालीय चक्क तु।
धूजीय धरयल थरहर ए, चलीय कुलाचल-चक्क तु ॥ १८

पूठि पीयाणुं तउ दियए, भूयबलि भरह नरिंद तु।
पिडि पंचायण परदलहं, इलियलि अवर सुरिंद तु ॥ १९

वज्जीय समहरि संचरीय, सेनापति सामंत तु।
मिलीय महाधर मंडलीय, गाढिम गुण गज्जंत तु। २०

गडयडंतु गयवर गुडीय, जंगम जिम गिरिशृंग तु।
सुंडा-दंड चिर चालवइं, वेलइं अंगिहिं अंग तु ॥ २१

गंजइं फिरि फिरि गिरि सिहरि, भंजइं तरुअर डालि तु ।
अंकस-वसि आवइं नहीं य, करइं अपार अणालि तु ॥ २२

हींसइं हसमिसि हणहणइं ए, तरवर तार तोपार तु ।
खूंदइं खुरलइं खेडवीय, मन मानइं असुवार तु ॥ २३

पाखर पंखि कि पंखरू य, ऊडाऊडिहिं जाइ तु ।
हुंफइं तलपइं ससइं धसइं, जडइं जकीरीय धाइं तु ॥ २४

फिरइं फेकारइं फोरणइं, फुड फेणाउलि फार तु ।
तरणि तुरंगम सम तुलइं, तेजीय तरल ततार तु ॥ २५

धडहडंत धर द्रमद्रमीय, रह रूंधइं रहवाट तु ।
रव-भरि गणइं न गिरि गहण, थिर थोभइं रहथाट तु ॥ २६

चमरचिंध धज लहलहइं ए, मिल्हइं मयगल माग तु ।
वेगि वहंता तीहं तणइं ए, पायल न ज़हइं लाग तु ॥ २७

दडवडंत दह दिसि दुसह ए, पसरीय पायक-चक्क तु ।
अंगोअंगिइं अंगमइं, अरीयणि असणि अणंत तु ॥ २८

ताकइं तलपइं तालि मिलिइं, हणि हणि हणि पभणंत तु ।
आगलि कोइ न अछइ मलु ए, जे साहमु जूझंत तउ ॥ २९

दिसि दिसि दारक संचरीय, वेसर वहइं अपार तु ।
संप न लाभइं सेन-तणीं, कोइ न लहइं सुधि सार तु ॥ ३०

बंधव बंधवि नवि मिलइं, न बेटा मिलइं न बाप तु ।
सामि न सेवक सारवइं, आपिहिं आप विआप तु ॥ ३१

गयवडि चडीउ चक्कधरो, पिडि पयंड भूयदंड तु ।
चालीय चिहुं दिसि चलचलीय, दिइं देसाहिव दंड तु ॥ ३२

वज्जीय समहरि द्रमद्रमीय, घण-निनाद नीसाण तु ।
संकीय सुरवरि सभि सवे, अवरहं कमण प्रमाण तु ॥ ३३

ढाक ढूक त्रंबक तणइं ए, गाजीय गयण निहाण तु ।
षट षंडह षंडाहिवहं, चालतु चमकीय भाण तु ॥ ३४

भेरीय रव भर तिहुं भूयणि सहित किमइं न माइ तु ।
कंपिय पय भरि शेष रहिउ, विण साहीउ न जाइ तु ॥ ३५

सिर डोलावइ धरणिहिं ए, टूंक टोल शिरिशृंग तु।
सायर सयल वि झलझलीय, गहलीय गंग तुरंग तु॥ ३६

खर रवि पूंदीय मेहरवि, महियलि मेहंधार तु।
उजूआलइ आउध तणइं, चालइं रायखंधार तु॥ ३७

मंडिय मंडलवइ न मुहे, ससि न कवइं सामंत तु।
राउत राउतवट रहीय, मनि मूंझइं मतिवंत तु॥ ३८

कटक न कवणिहिं भर तणुं, भाजइ भेडि भडंत तु।
रेलइं रयणायर जमले, राणोराणि नमंत तु॥ ३९

साठि सहस संवच्छरहं, भरहस भरह खंड तु।
समरंगणि साधइ सधर, वरतइ आण अखंड तु॥ ४०

बार वरिस नमि विनमि, भड भिडीय मनावीय आण तु।
आवाठी तडि गंग तणइ, पामइ नवह निहाण तु॥ ४१

छत्रीस सहस मउडुध सिउं, चउद रयण संपत्त तु।
आविउ गंग भोगवीय, एक सहस वरसाउ तु॥ ४२



ठवणि २

तउ तिहिं आउधसाल, आवइ आउधराउ नवि।
तिणि खिणि मणि भूपाल, भरह भयह लोलावडओ॥ ४३

बाहिरि बहूय अणालि, अल्हआरीय अहनिसि करइ ए।
अति उतपात अकालि, दाणव दल वरि दापवइ ए॥ ४४

मतिसागर किणि काजि, चक्क त (न) पुरि परवेस करइ।
तइं जि अम्हारइ राजि, धोरीय धर धरीउ धरइं॥ ४५

देव कि थंभीउ एय, कवणि कि दानव मानविहिं।
एउ आखि न मुझ भेउ, बयरीय बार न लाईइ ए॥ ४६

बोलइ मंत्रिमयंक, सांभलि सामीय चक्कधरो।
अवर नही कोइ वंकु, चक्करयण रहवा तणउ॥ ४७

संकीय सुरवर सामि, भरहेसर तूंय भूय भवणे ।
नासइं ति सुणीय नामि, दानव मानव कहि कवणि ॥ ४८
नवि मानइं तूंय आण, बाहूवलि विहुं बाहुबले ।
वीरह वयर विनाणु, विसमा विहडइं वीरवरो ॥ ४९
तीणि कारणि नरदेव, चक्क न आवइ नीय नयरे ।
विण बंधव तूंय सेव, सहू कोइ सामीय साचवइ ए ॥ ५०
तं ति सुणीय तीणइ तालि, ऊठीउ राउ सरोसभरे ।
भमइ चडावीय भालि, पभणइ मोडवि मूंछि मुहे ॥ ५१
जु न मानइ मझ आण, कवण सु कहीइ बाहुबले ।
लीलहं लेसु ए राण, भंजउं भुज भारिहिं भिडीय ॥ ५२
स मतिसागर मंति, बलि वसुहाहिव वीनवइ ।
नवि मनि कीजइ खंति, बंधव सिउं कहि कवण बलो ॥ ५३
दूत पठावीयइ देव, पहिलउं वात जणावीइ ए ।
जु नवि आवइ देव, तु नरवर कटकई करउ ॥ ५४
तं मनि मानीय राउ, वेगि सुवेगहं आइसइ ए ।
जईय सुनंदाजाउ, आण मनावे आपणीय ॥ ५५
जां रथ जोत्रीय जाइ, सु जि आएसिहिं नरवरहं ।
फिरि फिरि साहमु थाइ, वाम तुरीय वाहणि तणउ ॥ ५६
काजलकाल विराल, आवीय आडिहिं ऊतरइ ए ।
जिमणउ जम विकराल, खरु खुरव ऊछलीय ॥ ५७
सूकीय वाउल डालि, देवि वइठीय सुर करइ ए ।
झंवीय झाल मझालि, घूक पोकारइ दाहिणओ ॥ ५८
जिमणइं गमइं विषादि, फिरीय शिव फे करइ ए ।
डावीय डगलइ सादि, भयरव भैरव खु करइ ए ॥ ५९
वड जखनइं कालीयार, एकऊ बेहुं ऊतरइ ए ।
नींजलीउ अंगार, संचरतां साहमु हुइ ए ॥ ६०
काल भुयंगम काल, दंतीय दंसण दाखवइ ए ।
आज अखूटउ काल, पूटउ रहि रहि इम भणइ ए ॥ ६१

जाइ जाणी दूत, जीवह जोपि आंगमइ ए।
जेम भमंतउ भूत, गिणइ न गिरि गुह वण गहण ॥ ६२

तईंड नेसमि वेस, न गिणइ नइ दह नींझरण।
लंघीय देस असेस, गाम नयर पुर पाटणह ॥ ६३

बाहरि बहूय आराम, सुरवर नइ तां नीझरण।
मणि तोरण अभिराम, रेहइ धवलीय धवलहरो ॥ ६४

पोयणपुर दीसंति, दूत सुवेग सु गहगहीउ।
व्यवहारीया वसंति, धणि कणि कंचणि मणि पवरो ॥ ६५

धरणि तरणि ताडंक, जेम तुंग त्रिगडुं लहइ ए।
एह कि अभिनव लंक, सिरि कोसीमां कणयमय ॥ ६६

पोढा पोलि पगार, पाडा पार न पीमाइं ए।
संख न सीहदूंयार, दीसइं देउल दह दिसिइं ॥ ६७

पेखवि पुरह प्रवेसु, दूत पहूतउ रायहरे।
सिउं प्रतिहार प्रवेसु, पामीय नरवर पय नमइ ए ॥ ६८

चउकीय माणिक थंभ, माहि बईठउ बाहुबले।
रूपिहिं जिसीय रंभ, चमरहारि चालइं चमर ॥ ६९

मंडीय मणिमइ दंड, मेघाडंबर सिरि धरिय।
जस पयडे भूयुदंडि, जयवंती जयसिरि वसइं ए ॥ ७०

जिम उदयाचलि सूर, तिम सिरि सोहइ मणिमुकुटो।
कसतुरीय कुसुम कपूर, कुचूंवरि महमहइ ए ॥ ७१

झलकइ ए कुंडल कानि, रवि शशि मंडीय किरि अवर।
गंगाजल गजदानि, गाढिम गुण गज गुडअडइं ए ॥ ७२

उरवरि मोतीय हार, वीरवलय करि झलहलइ ए।
तवल अंगि सिणगार, खलक ए टोडर वाम [इ] ए ॥ ७३

पहिरणि जादर चीर, कंकोलइ करिमाल करे।
गुरूउ गुणि गंभीर, दीठउ अवर कि चक्रधर ॥ ७४

रंजिउ चित्ति सु दूत, देषीय रागिम तसु तणीय।
धन रिसहेरपूत, जयवंतु जुगि बाहुबले ॥ ७५

बाहुबलि पूछेइ कुवण, काजि तुम्हि आवीया ए।
दूत भणइ निज काजि, भरहेसरि अम्हि पाठव्या ए॥ ७६



वस्तु

राउ जंपइ, राउ जंपइ, सुणि न सुणि दूत;
भरहखंड भूमीसरहं, भरह राउ अम्ह सहोयर।
सवाकोडि कुमरिहिं सहीय, सूरकुमर तहिं अवर नरवर।
मंति महाधर मंडलिय, अंतेउरि परिवारि।
सामंतह सीमाड सह, कहि न कुसल सविवार॥ ७७

दूत पभणइ, दूत पभणइ, बाहुबलि राउ;
भरहेसर चक्कवर, कहि न कवणि दूहवणह किज्जइ।
जिहु लहु बंधव तूंय, सरिस गडयडंत गज भीम गज्जइ।
जइ अंधारइ रवि किरण, भड भंजइ वर वीर।
तु भरहेसर समर भरि, जिप्पइ माहरी धीर॥ ७८



ठवणि ३

वेगि सुवेग सु बुल्लइ, संभलि बाहूबलि।
राउत कोइ तुह तुल्लइ, ईणिइं अछइ रवितलि॥ ७९

जां तव बंधव भरह नरिंदो, जसु भुइं कंपइं सग्गि सुरिंदो।
जीणइं जीतां भरह छ षंड, म्लेच्छ मनाव्या आण अखंड॥ ८०

भडि भडंत न भूयबलि भाजइ, गडयडंतु गढि गाढिम गाजइ।
सहस बतीस मउडाधा राय, तूंय बंधव सवि सेवइं पाय॥ ८१

चऊद रयण घरि नवइं निहाण, संख न गयघड जसु केकाण।
हूंय ह्वडां पाटह अभिषेको, तूंय नवि आवीय कवण विवेको॥ ८२

विण बंधव सवि संपय ऊणो, जिम विण लवण रसोइ अलूणी।
तुम्ह दंसण उतकंठिउ राउ, नितु नितु वाट जोइ तुह भाउ ॥ ८३

वडउ सहोयर अनइं वड वीर, देव ज प्रणमइं साहस धीर।
एक सीह अनइं पाखरीउ, भरहेसर नइं तइं परवरीउ ॥ ८४



ठवणि ४

तु बाहूबलि जंपइ, कहि वयण म काचुं।
भरहेसर भय कंपइ, जं जग तुं साचुं ॥ ८५

समरंगणि तिणि सिउं कुण काछइ, जीह बंधव मइं सरिसउ पाछइ।
जावंत जंबुदीवि तसु आण, तां अम्ह कहीइ कवण ए राण ॥ ८६

जिम जिम सु जि गढ गाढिम गाढउ, हय गय रह वरि करीय सनाढु।
तस अरधासण आपइ इंदो, तिम तिम अम्ह मनि परमाणंदो ॥ ८७

जु न आव्या अभिषेकह वार, तु तिणि अम्ह नवि कीधा सार।
वडउ राउ अम्ह वडउ जि भाई, जहिं भावइ तिहां मिलिसिउं जाई ॥ ८८

अम्ह ओलगनी वाट न जोई, भड भरहेसर विकर न होइ।
मझ बंधव नवि फीटइ कीमइ, लोभीया लोक भणइ लख ईम्हई ॥ ८९



ठवणि ५

चालि म लाइसि वार, बंधव भेटीजइ।
चूंकि भ चींति विचार, मूंय वयण सुलीजइ ॥ ९०

वयण अम्हारुं तूय मनि मानि, भरह नरेसर गणि गजदानि।
संतूठउ दिइ कंचण भार, गयघड तेजीय तुरल तुपार ॥ ९१

गाम नयर पुर पाटण आपइ, देसाहिव थिर थोभीय थापइ।
देय अदेय नं देतु विमासइ, सगपणि कह नवि किंपि विणासइ ॥ ९२

जा ए राउ ओलगिउं जाणइ, माणण हार विरोपिइं मारइ।
प्रतिपन्नउं प्रगट प्रतिपालइ, प्रारथिउ नवि घडी विमरालइ ॥ ९३

तिणि सिउं देव न कीजइ ताडउ, सु जि मनाविइ मांड म आडउ।
हुँ हितकारणि कहुँ सुजाण, कूडूं कहूं तु भरहेसर आण ॥ ९४



वस्तु

राइ जंपइ, राउ जंपइ, सुणि न सुणि दूत;
त विहि लहीउ भालहलि, तं जि लोय भवि भविहिं पामइ।
ईमइ नीसत नर ति (नि) गुण, उत्तमांग जण जणह नामइ।
बंभ पुरंदर सुर असुर, तीहं न लंघइ कोइ।
लब्भइ अधिक न ऊण पखि, भरहेसर कुण होइ ॥ ९५



ठवणि ६

नेसि निवेसि देसि घरि मंदिरि, जलि थलि जंगलि गिरि गुह कंदरि।
दिसि दिसि देसि देसि दीपंतरि, लहीउं लाभइ जुगि सचराचरि ॥ ९६

अरिरि दूत सुणि देवन दानव, महिमंडलि मंडल वैमानव।
कोइ न लंघइ लहीया लीह, लाभइ अधिक न उछा दीह ॥ ९७

धण कण कंचण नवइ निहाण, गय घड तेजीय तरल केकाण।
सिर सरवस सपतंग गमीजइ, तोइ नीसत्त पणइ न नमीजइ ॥ ९८



ठवणि ७

दूत भणइ एहु भाई, पुत्रिहिं पामीजइ।
पइ लागीजइ भाई, अम्ह कहीउं कीजइ ॥ ९९

अवर अठाणूं जु जई पहिलूं, मिलसिइं तु तुम्ह मिलिउं न सयलुं।
कहि विलंब कुण कारणि कीजइ, माम म नीगमि वार वलीजइ ॥ १००

वार वरापह करसण फलीजइ, ईणि कारणि जई वहिला मिलीइ।
जोइ न मन सिउं वात विमासी, आगइ वारूअ वाउ विणासी॥ १०१

मिलिउ न किहां कटक मेलावइ, तउ भरहेसर तइं तेडावइ।
जाण रपे कोइ झूझ करेसिइ, सहू कोइ भरह जि हियडइ धरेसिइ॥१०२

गाजंता गाढिम गज भीम, ते सवि देसह लीधा सीम।
भरह अछइ भाई भोलावउ, तउ तिणि सिउं न करीजइ दावउ॥ १०३



वस्तु

तव सु जंपइ, तव सु जंपइ, बाहुबलि राउ:
अप्पह बाह भजां न बल, परह आस कहइ कवण कीजइ।
सु जि मूरष अजाण पुण, अवर देवि वरवयइ ति गज्जइ।
हुं एकल्लउ समर भरि, भड भरहेसर घाइ।
भंजउं भुजबलि रे भिडिय, भाह न भेडि न थाइ॥ १०४



ठवणि ८

जइ रिसहेसर केरा पूत, अवर जि अम्ह सहोयर दूत।
ते मनि मान न मेल्हइं कीमइं, आलईयाण म झंपिसि ईम्हइ॥ १०५

परह आस किणि कारणि कीजइ, साहस सइंवर सिद्धि वरीजइ।
हीउं अनइ हाथ हत्थीयार, एह जि वीर तणउ परिवार॥ १०६

जइ कीरि सीह सीयालइं खाजइ, तु बाहुबलि भूयबलि भाजइ।
जु गाइं बाघिणि:धाई जइ, अरे दूत तु भरह जि जीपइ॥ १०७



ठवणि ९

जु नवि मन्नसि आण, बरबहं बाहूबलि।
लेसिइ तु तूं प्राण, भरहेसर भूयबलि॥ १०८

जस छन्नवइ कोडि छइं पायक, कोडि बहुत्तरि फरकइं फारक ।
नर नरवर कुण पामइ पारो, ससी न सकीइ सेनाभारो ॥ १०९

जीवंता विहि सहू संपाडइ, जु तुडि चडिसि तु चडिउ पवाडइ ।
गिरि कंदरि अरि छपिउ न छूटइ, तूं बाहुबलि मरि म अखूटइ ॥ ११०

गय गद्दह हय हड जिम अंतर, सीह सीयाल जिसिउ पटंतर ।
भरहेसर अन्नइ तूंय विहरउ, छूटिसि किम्हइ करंत न निहरू ॥ १११

सरवसु सुंपि मनावि न भाई, कहि कुणि कूडी कुमति विलाई ।
मूंझि म मूरष मरि म गमार, पय पणमीय करि करि न समार॥ ११२

गढ गंजिउ भड भंजिउ प्राणि, तइं हिव सारइ प्राण विनाणि ।
अरे दूत बोली नवि जाण, तुंह आव्या जमह प्राण ॥ ११३

कहि रे भरहेसर कुण कहीइ, मइं सिउं रणि सुरि असुरि न रहीइ ।
जे चकिइं चक्रवृत्ति विचार, अम्ह नगरि कूंभार अपार ॥ ११४

आपणि गंगातीरि रमंता, धसमस धूंधलि पडीय धमंता ।
तइं ऊलालीय गयणि पडंतउ, करुणा करीय वली झालंतउ ॥ ११५

ते परि कांइ गमार वीसार, जु तुडि चडिसि तु जाणिसि सार ।
जउ मच्छुधा मउड ऊतारउं, रुहिरु रिल्लि जु न हय गय तारउं ॥ ११६

जउ न मारउं भरहेसर राउ, तउ लाजइ रिसहेसर ताउ ।
भड भरहेसर जई जणावे, हय गय रह वर वेगि चलावे ॥ ११७

❀

वस्तु

दूत जंपइ, दूत जंपइ, सुणि न सुणि राउ;
तेह दिवस परि म न गिणसि, गंगतीरि खिल्लंत जिणि दिणि ।
चल्लंतइं दल भारि जसु, सेससीस सलसलइ फणिमणि ।
ईमई याण स मानि रणि, भरहेसर छइ दूरि ।
आपापूं वेढिउं गणे, कालि ऊगंतइं सूरि ॥ ११८

दूत चल्लिउ, दूत चल्लिउ, कहीय इम जाम;
मंतीसरि चिंतविउ, तु पसाउ दूतह दिवारइ ।

अवर अठाणुं कुमर वर, बाइ सोइ पहतु पचारइ ।
तेह न मनिउ आविउ, वलि भरहेसरि पासि ।
अखई य सामिय संधित्रल, वंधवसिउं म विमासि ॥ ११९



ठवणि १०

तउ कीपिहिं कलकलीउ काल के ' ' य कलानल,
कंकोरइ कोरंवीयउ करमाल महाबल ।
कालह कलयणि कलगलंत मउडाधा मिलीया,
कलह तणइ कारणि कराल कोपिहिं परजलीया ॥ १२०

हऊउ कोलाहउ गहगहाटि गयणंगणि गज्जिय,
संचरिया सामंत सुहड सामहणीय सज्जीय ।
गडयडंत गय गडीय गेलि गिरिवर सिर ढालइं,
गूगलीया गुलणइ चलंत करिय ऊलालइं ॥ १२१

जुडइं भिडइं भडहडइं खेदि खडखडइं खडाखडि,
धाणीय धूणीय धोसवइं दंतूसलि दोत [तडा] डि ।
खुरतलि खोणि खणंति खेदि तेजीय दरवरिया,
समइं धसइं धसमसइं सादि पय सइं पाषरिया ॥ १२२

कंधग्गल केकाण कवी करडइं कडीयाली,
रणणइं रवि रण बखर सखर घण घाघरीयाला ।
सींचाणा वरि सरइं फिरइं सेलइं फोकारइं,
ऊडइं आडइं अंगि रंगि असवार विचारइं ॥ १२३

धसि धामइं धडहडइं धरणि रथि सारथि गाढा ।
जडीय जोध जडजोड जरद सन्नाहि सनाढा ।
पसरिय पायल पूर कि पुण रलीया रयणार ।
लोह लहर वरवीर वयर वहवटिइं अवायर ॥ १२४

रणणीय रवि रण तूर तार त्रंबक त्रहत्रहीया,
ढाक हूक ढम ढमीय ढोल राउत रहरहीया ।

नेच नीसाण निनादि नींभरण निरंभीय,
रणभेरी भुंकारि भारि भूयबलिहिं वियंभीय ॥ १२५

चल चमाल करिमाल कुंत कइतल कोदंड,
झलकइं सावल सवल सेल हल मसल पयंड ।
सींगिणि गुण टंकार सहित बाणावलि ताणइं,
परशु उलालइं करि धरइं भाला ऊलालइं ॥ १२६

तीरीय तोमर भिडमाल डबतर कसबंध,
सांगि सकति तरुआरि छुरीय अनु नागतिबंध,
हय खर रवि ऊछलीय खेह छाईय रविमंडल,
धर धूजइ कलकलीय कोल कोपिउ काहडुल ॥ १२७

टलटलीया गिरिटंक टोल खेचर खलभलीया,
कडडीय कूरम कंधसंधि सायर झलहलीया ।
कडडीय कूरम कंधसंधि सायर घलहलीया ।
चल्लीय समहरि सेससीसु सलसलीय न सकइ,
कंचणगिरि कंधार भारि कमकमीय कसकइ ॥ १२८

कंपीय किंनर कोडि पडीय, हरगण हडहंडीया,
संकिय सुरवर सग्गि सयल दाणव दडवडीया ।
अतिप्रलंब लहकइं प्रलंब चलविंध चिहुं दिसि,
संचरीया सामंत सीस सीकिरिहिं कसाकसि ॥ १२९

जोईय भरह नरिंद कटक मूंछह बल घल्लइं,
कुण बाहूबलि जे उ बरव मइं सिउं बल बुल्लइ ।
जइ गिरि कंदरि विचरि वीर पइसंतु न छूटइ,
जइ थली जंगलि जाइ किम्हइ तु मरइ अपूटइ ॥ १३०

गज साहणि संचरीय महु णर वेढीय पोयणपुर ।
वाजीय बूंब न बहकीयउ बाहूबलि नरवर ।
तसु मंतीसरि भरह राउ संभालीउ साचुं,
ए अविमांसिउं कीउं काइं आज जि तइं काचुं ॥ १३१

बंधव सिउं नरवीर कांइं इम अंतर देषइ,
लहु बंधव नीय जीव जेम कहि कांइं न लेखइ।
तउ मनि चिंतइ राय किसिउं एय कोइ पराठीउ,
ओसरी उवनि वीर राउ रहीउ अवाटीउ ॥ १३२

गय आगलीया गलगलंत दीजइं हय लास,
हुइं हसमस''''' भरहराय केरा आवास।
एकि निरंतर वहइं नीर एकि इंधण आणइं,
एक आलसिइं परतणुं पांगु आणिउं तृण ताणइं ॥ १३३

एकि ऊतारा करीय तुरीय तलसारे बांधइं,
इकि भरडइं केकाण खाण इकि चारे रांधइं।
इकि झीलीय नय नीरि तीरि तेतीय बोलावइं,
एकि वारू असवार सार साहण वेलावइं ॥ १३४

एकि आकुलीया तापि तरल तडि चडीय झंपावइं,
एकि गूडर सात्राण सुहड चउरा दिवरावइं।
सारीय सामि सनामि आदिजिण पूज पयासइं,
कसतूरीय कुंकुम कपूरि चंदनि वनवासइं ॥ १३५

पूज करीउ चक्करयण राउ वइटउ भूं जाई,
वाजीय संख असंख राउ आव्या सवि धाई।
मंडलवइ मउडुध मु (सु ?) हड जीमइं सामंतह,
सइं हत्थि दियइ तंबोल कणय कंकण झलकंतह ॥ १३६



वस्तु

दूत चलीउ, दूत चलीउ, बाहुबलि पासि:
भणइ भूर नरवर निसुणि, भरह राउ पयसेव कीजइ।
भारिहिं भीम न कवणि रणि, एउ भिडंत भूय भारि भज्जइ।
जइ नवि मूरष एह तणीं, सिरवरि आण वहेसि।
सिउं परिकरिइं समर भरि, सहूइ सयरि सहेसि ॥ १३७

राउ बुज्झइ, राउ बुज्झइ, सुणि न सुणि दूत;
ताय पाय पणमंतय, मुझ बंधव अति खरउ लज्जइ।
तु भरहेसर तसतणीय, कहि न कीम अम्हि सेव किज्जइ।
भारिइं भूयवलि जु न भिडउं, भुज भंजु भडिवाउ।
तउ लज्जइ तिहूयण धर्णी, सिरि रिसहेसर ताउ॥ १३८



ठवणि ११

चलीय दूत भरहेसरहं तेय वात जणावइ,
कोपानलि परजलीय वीर साहण पलणावइ।
लागी व लागि निनादि वादि आरति असवार,
बाहूबलि रणि रहिउ रोसि मांडिउ तिणि वार॥ १३९

ऊड कंडोरण रणंत सर बेसर फूटइं,
अंतरालि आवइं ई याण तीहं अंत अखूटइं।
राउत-राउति योध-योधि पायक-पायकिहिं,
रहवर-रहवरि वीर-वीरि नायक-नायकिइं॥ १४०

वेढिक विढइं विरामि सामि नामिहिं नरनरीया,
मारइं मुरडीय मूंछ मेच्छ मांने मच्छर भरीया।
ससइं हसइं धसमसइं वीरधड वड नरि नाचइं,
रापस री रा रव करंति रुहिरे सवि राचइं॥ १४१

चांपीय चुरइं नरकरोडि भूयवलि भय भिरडइं,
विण हथीयार कि वार एक दांतिहिं दल करडइं।
चालइं चालि चम्माल चाल करमाल ति ताकइं,
पडइं चिंघ झूझइं कबंध सिरि समहरि हाकइं॥ १४२

रुहिर रल्लि तहिं तरइं तुरंग गय गुडीय अमूंझइ,
राउत रण रसि रहित बुद्धि समरंगणि सूझइं।
पहिलइ दिणि इम झूझ हवुं सेनह मुखमंडण,
संध्या समइ ति वारणुं ए करइं भट विहुं रण॥ १४३



ठवणि १२. हिवं सरस्वती धउल—

तउ तहिं बीजए दिणि सुविहाणि, ऊठीउ एक जि अनलवेगो,
सडवड समहरे वरसए वाणि, छयल सुत छलीयए छावडु ए।
अरीयण अंगमइ अंगोअंगि, राउतो रामति रणि रमइं ए,
लडसड लाडउ चडीय चउरंगि, आरेयणि सयंवर वरइं ए॥ १४४



त्रूटक

वर वरइं सयंवर वीर, आरेणि साहस धीर।
मंडलीय मिलिया जान, हय हीस मंगल गान।
हय हीस मंगल गानि गाजीय, गयण गिरि गुह गुमगुमइं,
धमधमीय धरयल ससीय न सकइ, सेस कुलगिरि कमकमइं।
धसधसीय धायइं धारधा वलि, धीर वीर विहंडए,
सामंत समहरि, समु न लहइं, मंडलीक न मंडए॥ १४५



धउल

मंडए माथए महीयलि राउ, गाढिम गय घड टोलवए,
पिढि पर परवत प्राय, भडधड नरवए नाचवइ ए।
काल कंकोलए करि करमाल, झाझए झूझिहिं झलहलइए,
भांजए भड घड जिम जम जाल, पंचायण गिरि गडयडए॥ १४६



त्रूटक

गडयडइं गजदलि सीहु, आरेणि अकल अबीह।
धसमसीय हयदल धाइं, भडहडइं भय भडिवाइ
भडहडइं भय भडवाइ भुयबलि, भरीय हुइ जिम भींभरी,
तहिं चंद्रचूडह पुत्र परबलि, अपिउ नरवइ नर नरतरी।
वसमतीय नंदण वीर विसमूं, सेल सर म दिखाडए,
रहु रहु रे हणि हणि......भणंतू, अपड पायक पाडए॥ १४७



धउल

पाडीय सुखेय सेणावए दंत, पूंठिहिं निहणीय रणरणीय,
सूर कुमारह राउ पेखंत, भिरडए भूयदंड वेउ......।
नयणिहिं निरषीय कुपीयउ राउ, चक्करयण तउ संभरइए,
मेल्हइए तेह प्रति अति सकसाउ, अनलवेगो तहिं चिंतवइ ए ॥ १४८



त्रूटक

चिंतवईय सुहडह राउ, जो अई उपूटउं आउ।
हिव मरण एह जि सीम, रंजईअ चक्रवृत्ति जीम ॥
रंजवईय चक्रवृति जीम इम, भणि चकु मुट्ठिहिं षडपली,
संचरिउ सूरउ सूरमंडलि, चकु पुहचइ तहिं वली।
षडपडीउ नंदण चंद्रचूडह, चंद्रमंडल मोहए,
भलहलीय भालि भमालि तुट्ठिहिं, चक तहिं तहिं रोहए ॥ १४९



धउल

रोहीउ राउत जाइ पातालि, विज्जाहर विज्जावलिहिं,
चक पहूचए पूठि तींणि तालि, बोलए बलवीय सहसजखो।
रे रे रहि रहि कुपीउ राउ, जित्थु जाइसि तित्थु मारिवु ए,
तिहूयणि कोइ न अछइ अपाय, जय जोषिम जीणइ जीवीइ ए ॥ १५०



त्रूटक

जीविवा छंडीय मोह, मनि मरणि मेल्हीय थोह,
समरीय तु तींणि ठामि, इकु आदि जिणवर सामि।
इकु आदि जिणवर सामि समरीय, वज्जपंजर अणसरइ,
नरनरीउ पाषलि फिरीउ तस सिरु, चक लेई संचरइ।
पयकमल पुज्जइ भरह भूपति, बाहुबलि बल खलभलइ,
चक्रपाणि चमकीय चींति कलयलि, कलह कारणि किलगिलइ ॥ १५१



धउल

कलगिलइ चक्रधर सेन संग्रामि, बोलए कवण सु बाहुबले,
तउ पोयणपुर केरउ सामि, बरवहं दीसए दस गणु ए।
कवण सो चक रे कवण सो जाख, कवण सु कहीइ ए भरह राउ।
सेन संहारीय सोधउं साष, आज मल्हावउं रिसहवंसो॥ १५२

ठवणि १३. हिवं चउपई–

चंद्रचूड विज्जाहर राउ, तिणि वातइं मनि विहीय विसाउ।
हा कुलमंडण हा कुलवीर, हा समरंगणि साहसधीर॥ १५३
कहीइ कहि नइं किसिउं घणुं, कलु न लजाविउं तइं आपणउं।
तइं पुण भरह भलाविउ आप, भलु भणाविउ तिहूयणि बापु॥१५४
सु जि बोलइ बाहूबलि पासि, देव म दोहिलुंइं हीइ विमांसि।
कहि कुण ऊपरि कीजइ रोसु, एह जि दैवहं दीजइ दोसु॥ १५५
सामीय विससु करम विपाउ, कोइ न छूटइ रंक न राउ।
कोइ न भांजइ लिहिया लीह, पामइ अधिक न ओछा दीह॥ १५६
भंजउं भूयबलि भरह नरिंद, मइं सिउं रणि न रहइ सुरिंद।
इम भणि बरवीय बावन वीर, सेलइ समहरि साहस धीर॥ १५७
धसमस धीर धसइं धडहडइं, गाजइ गजदलि गिरि गडयडइं।
जसु भुइ भडहड हडइ भडक, दल दडवडइ जि चंड चडक॥ १५८
मारइ दारइ खल दल खणइ, हेड हणोहणि हयदल हणइ,
अनलवेग कुण कूखइं अछइ, इम पचारीय पाडइ पछइ॥ १५९
नरु निरुवइ नरनरइ निनादि, वीर विणासइ वादि विवादि।
तिन्नि मास एकल्लउ भिडइ, तउ पुण पूरउं चक्कह चडइ॥ १६०
चऊद कोडि विद्याधर सामि, तउ झूरइ रतनारी नामि।
दल दंदोलिउं दउढ वरीस, तउ चक्किइं तसु छेदीय सीस॥ १६१
रतनचूड विद्याधर धसइ, गंजइ गयघड हीयडइ हसइ।
पवनजय भड भरहु नरिंद, सु जि संहारीय हसइं सुरिंद॥ १६२
बहुलीक भरहेसरतणु, भड भांजणीय भिडीउ घणु।
सुरसारी बाहूबलिजाउ, भडिउ तेण तहिं फेडीय ठाउ॥ १६३

अमितकेत विद्याधर सार, जस पामीइ न पौरुष पार।
चल्लीउ चक्रधर वाजइ अंगि, चूरिउ चक्रिहिं चडिउ चउरंगि ॥ १६४

समरबंध अनइ वीरह बंध, मिलीउ समहरि विहुं सिउं बंध।
सात मास रहीया रणि बेउ, गई गहगहीया अपछरा लेउ ॥ १६५

सिरताली दुरीताली नामि, भिडइं महाभड बेउ संग्रामि।
आव्या वरवहं बाथोबाथि, परभवि पुहता सरसा साथि ॥ १६६

महेन्द्रचूड रथचूड नरिंद, झूझइं हडहड हसइं सुरिंद।
हाकइं ताकइं तुलपइं तुलइं, आठि मासि जई जिमपुरि मिलइं ॥ १३७

दंड लेई घसीउ युरदादि, भरतपूत नरनरइ निनादि।
गंजीउ बलि बाहूबलितणउ, वंस मल्हाविउ तीणि आपणु ॥ १६८

सिंहरथ ऊठीउ हाकंत, अमितगति भंपिउ आवंत।
तिन्नि मास धड धूजिउं जास, भरह राउ मनि वसिउ वासु ॥ १६९

अमिततेज प्रतपइ तहिं तेजिं, सिउं सारंगिइं मिलिउ हेजि।
धाइं धीर हणइं वे वाणि, एक मासि नीवड्या नीयाणि ॥ १७०

कुंडरीक भरहेसरजाउ, जस भड भडत न पाछउ पाउ।
द्रठवीय दलि बाहूबलि राय, तउ पयथंकइ प्रणमीय ताय ॥ १७१

सूरिजसोम समर हाकंत, मिलिया तालि तोमर ताकंत।
पांच वरिस भर भेलीय घाइ, नीय नीय ठामि लिवारिया राइ ॥ १७२

इकि चूरइं इकि चंपइं पाय, एकि डारइं एकि मारइं घाइ।
झलझलंत झूझइ सेयंस, धनु धनु रिसहेसरनुं वंस ॥ १७३

सकमारी भरहेसरजाउ, रण रसि रोपइ पहिलउ पाउ।
गिणइ न गांठइ गजदल हणइ, रणरसि धीर धणावइ धणइ ॥ १७४

वीस कोडि विद्याधर मिली, ऊठिउ सुगति नाम किलिगिली।
सिवनंदनि सिउं मिलीउ तालि, बासठि दिवसि विहुं जम जालि ॥ १७५

कोपि चडिउ चल्लिउ चक्रपाणि, मारउं वयरी बाणविनाणि।
मंडो रहिउ बाहूबलि राउ, भंजउं भणइ भरह भडिवाउ ॥ १७६

विहुं दलि वाजी रणि काहली, खलदल खोणि खे खलभली।
धूजइं धसकीय धड थरहरइं, वीर वीर सिउं सयंवर वरइं ॥ १७७

ऊडीय खेह न सूझइ सूर, नवि जाणीइ सवार असूर।
पडइं सुहड धड धायइं धसी, हणइं हणोहणि हाकइं हसी ॥ १७८

गडडइं गयघड ढींचा ढलइं, सूनासमा तुरंग मल तुलइं।
वाजइं धणुही तणा धोंकार, भाजइं भिडत न भेडीगार ॥ १७९

वहइं रुहिर-नइ सिरवर तरइं, रीरीयाट रणि राषस करइं।
हयदल हाकइं भरह नरिंद, तु साहसु लहइ सग्गि सुरिंद ॥ १८०

भरहजाउ सरभु संग्रामि, गांजइ गजदल आगलि सामि।
तेर दिवस भड पडीउ घाइ, धूणी सीस बाहुबलि राइ ॥ १८१

तीहं प्रति जंपइ सुरवर सार, देषी एवडु भडसंहार।
कांइं मरावउ तम्हि इम जीव, पडसिउ नरकि करंता रीव ॥ १८२

गज ऊतारीय बंधव बेउ, मानिउं वयण सुरिंदह तेउ।
पइसइं मालाखाडइ वीर, गिरिवर-पाहिइं सबल शरीर ॥ १८३

वचनभूमि भड भरहु न जिणइ, दृष्टिभूमि हारिउं कुणअणइ।
दंडिभूमि झड झंपीय पडइ, बाहु पासि पडिउ तडफडइ ॥ १८४

गूडासमउ धरणि-मझारि, गिउ बाहूबलि मुष्टिप्रहारि।
भरह सबल तइं तीणइं घाइ, कंठसमाणउ भूमिहिं जाइ ॥ १८५

कुपीउ भरह छ-खंडह धणी, चक्र पठावइ भाई भणी।
पाखलि फिरी सु बलीउं जाम, करि बाहूबलि धरिउं ताम ॥ १८६

बोलइ बाहुबलि बलवंत, लोहखंडि तउं गरवीउ हंत।
चक्रसरीसउ चूनउ करउं, सयलहं गोत्रह कुल संहरउं ॥ १८७

तु भरहेसर चिंतइ चीति, मइं पुण लोपीय भाई-रीति।
जाणउं चक्र न गोत्री हणइ, माम महारी हिव कुण गिणइ ॥ १८८

तु बोलइ बाहूबलि राय(उ), भाईय ! मनि म म धरसि विसाउ।
तइं जीतउं मइं हारउं भाइ, अम्ह शरण रिसहेसर-पाय ॥ १८९



ठवणि १४

तउ तिहिं ए चिंतइ राउ, चडिउ संवेगिइं बाहुबले।
दूहविउ ए मइं बडु भाय, अविमांसिइं अविवेकवंति ॥ १९०

धिग धिग ! ए एय संसार, धिग धिग ! राणिम राजरिद्धि ।
एवडु ए जीवसंहार, कीधउ कुण विरोधवसि ? ॥ १६१
कीजइ ए कहि कुण काजि, जउ पुण बंधव आवरइं ए ।
काज न ए ईणइं राजि, घरि पुरि नयरि न मंदिरिहिं ॥ १६२
सिरिवरि ए लोच करेइ, कासगि रहीउ बाहुबले ।
अंसूउ ए अंखि भरेउ, तस पय पणमए भरह भडो ॥ १६३
बांधव ए कांइ न बोल, ए अविमांसिउं मइं कीउं ए ।
मेल्हिम ए भाई निटोल, ईणि भवि हुँ हिव एकलु ए । १६४
कीजई ए आजु पसाउ, छंडि न छंडि न छयल छलो ।
हीयडइ ए म धरि विसाउ, भाई य अम्हे विरांसीया ए ॥ १६५
मानई ए नवि मुनिराउ, मौन न मेल्हइ मन्नवांय ।
मुकई ए नहु नीय माण, वरस दिवस निरसण रहीय ॥ १६६
बंभीउ ए सुंदरि बेउ, आवीय बंधव बूझवइं ए ।
ऊतरि ए माणगयंद, तु केवलिसिरि अणसरइ ए ॥ १६७
ऊपनूं ए केवल नाण, तु विहरइ रिसहेस सिउं ।
आवीउ ए भरह नरिंद, सिउं परगहि अवझापुरी ए ॥ १६८
हरिषीया ए हीइ सुरिंद, आपण पइं उच्छव करइं ए ।
वाजई ए ताल कंसाल, पडह पखाउज गमगमइं ए ॥ १६९
आवई ए आयुधसाल, चक्क रयण तउ रंगभरे ।
संख न ए जस केकाण, गयघड रहवर राणिमहं ॥ २००
दस दिसि ए वरतइं आण, भड भरहेसर गहगहइ ए ।
'रायह' ए 'गच्छ' सिणगार, 'वयरसेण सूरि' पाटधरो ॥ २०१
गुणगणहं ए तणु भंडार, 'सालिभद्र सूरि' जाणीइ ए ।
कीधउं ए तीणि चरितु, भरहनरेसर राउ छंदि ए ॥ २०२
जो पढइ ए वसह वदीत, सो नरो नितु नव निहि लहइ ए ।
संवत ए 'बार'[१२] 'कएताल'[४१] फागुण पंचमिइं एउ कीउ ए ॥ २०३



॥ इति भरतेश्वर—बाहुबलि रास श्रीसालिभद्रसूरिकृतसमाप्तः ॥

बुद्धिरास

परिचय

६३ कड़ियों का यह एक रास ग्रंथ है। इसके भी रचयिता शालिभद्र-सूरि हैं। आचार्य कवि ने इस रास में भरतेश्वर-बाहुबलि के समान अपना एवं गच्छ-गुरु आदि का नामोल्लेख नहीं किया। अतः सर्वथा निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह रास भी भरतेश्वर-बाहुबलि के रचयिता शालिभद्र सूरि का ही है। शालिभद्र सूरि नाम के एक दो और भी ग्रंथकार हो गए हैं और उन्होंने भी 'रास' की रचना की है। किंतु प्रस्तुत बुद्धिरास की भाषा का सूक्ष्म अवलोकन करने पर यही विशेष संभव जान पड़ता है कि भरतेश्वर-बाहुबलि के रचयिता शालिभद्र सूरि की ही यह भी रचना है।

इसमें प्रथम तो सर्वसाधारण के जीवनोपयोगी—सामान्यतः आचरण के योग्य—अत्यल्प शब्दों में बोध-वचन गुंथे हुए हैं और अंत में शिक्षाप्रद उपदेश मुख्यतः श्रावक वर्ग के आचरण के लिए दिए गए हैं। ये सब बोध-वचन संक्षेप में सूत्र रूप से सरल भाषा में कंठ करने योग्य प्रतीत होते हैं।

भंडारों के अनुसंधान से ज्ञात होता है कि यह रास गत ७०० वर्षों में भलीविधि जनप्रिय हो गया था। सैकड़ों नरनारी इसको केवल कंठस्थ ही नहीं प्रत्युत निरंतर वाचन-मनन भी करते थे। फल-स्वरूप प्राचीन भंडारों में इसकी अनेकानेक प्रतियां यत्र-तत्र प्राप्त हो जाती हैं। विविध प्रतियों में पाठ-भेद इस बात का प्रमाण है कि दीर्घकाल तक जनप्रिय होने के कारण देशाकालानुरूप भाषा का समावेश होता गया।

सबसे प्राचीन प्रति के आधार पर यहां पाठ दिया जा रहा है। अधिकांश प्रतियों में यही पाठ मिलता है और भाषा का जो सबसे अधिक प्रचलित स्वरूप मिलता है वही यहाँ दिया जा रहा है। कहीं-कहीं पाठ-भेद भी टिप्पणी में दे दिया गया है। पाठ-भेद के पर्यवेक्षण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शब्द-योजना एवं भाषा-शैली में समय समय पर परिवर्त्तन होने से किस प्रकार हिंदी का रूप बदलता गया।

इस रास की शैली के अनुकरण पर कालांतर में 'सारशिखामण रास',

'हितशिक्षारास' आदि कितनी ही छोटी बड़ी रचनायें मिली हैं जिनसे इस रास की विशेषता स्पष्ट हो जाती है।

इसमें 'उपदेश-रसायन रास' की शैली पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किया गया है। प्रारंभ में अंबा-देवी की वंदना के उपरांत सद्गुरु-वचन-संग्रह और लोक में उन वचनों के प्रचार पर विचार किया गया है। आचार्य की आज्ञा है कि जिस पर-गृह में एकाकिनी[1] स्त्री का निवास हो उसमें प्रवेश वर्जित है। मानवधर्म है कि वह पर-स्त्री को भगिनी[2] तुल्य समझे। न तो कभी किसी को अपमान जनक उत्तर दे और न शिक्षा देनेवाले पर आक्रोश दिखलाए।

गृहस्थधर्म की व्याख्या करते हुए कवि दान-महिमा पर बल देता है। उसका विश्वास है कि पांचो[3] उंगलियों से जो दान करता है उसे मानव-जन्म का फल मिल जाता है। आचार्य जीवन को पतनोन्मुख करनेवाली साधारण से साधारण बात पर भी विचार करते हैं। उनका कथन है कि सज्जन से अधिक विवाद, किसी के शून्यगृह, अथवा नदी-सरोवर के जल में प्रवेश वर्जित[4] है। जुआरी की मैत्री, सुजन से कलह, बिना कंठ का गान, गुरु-विहीन शिक्षा एवं धन-बिना अभिमान व्यर्थ है।[5]

श्रावक धर्म का विवेचन करते हुए आचार्य ऐसे पुर में निवास वर्जित बताते हैं जहां देवालय अथवा पौसाल[6] न हो। मातृ पितृ-भक्ति पर बड़ा बल दिया गया है। सदाचार और दुराचार-वर्णन का उपसंहार करते हुए आचार्य इसे स्वीकार करते हैं कि गुरु के उपदेश अनंत है। इनका वर्णन सम्भव नहीं। अंत में वे आशीर्वचन देते हैं कि जो लोग मेरे उपदेश बचनों को हृदय में धारण करेंगे उनका जीवन सफल हो जाएगा।

---

१. बुद्धिरास छंद ५।
२. ,, ,, ६।
३. ,, ,, १४।
४. ,, ,, १८।
५. ,, ,, २१-२३।
६. ,, ,, ४७।

बुद्धि रास

शालिभद्रसूरिकृत

पणमवि देवि अंबाई, पंचाइण गामिणी।
समरवि देवि सीधाई, जिण सासण सामिणि ॥ १

पणमिउ गणहरु गोयम स्वामि, दुरिउ पणासइ जेहनइ नामिइं।
सुहगुरु वयणे संग्रह कीजई, भोलां लोक सीषामण दीजइ ॥ २

केई बोल जि लोक प्रसिद्धा, गुरुउवएसिइं केई लीद्धा।
ते उपदेश सुणउ सवि रूडा, कुणहइ आल म देयो कूडा ॥ ३

जाणीउ धरमु म जीव विणासु, अणजाणिइ घरि म करिसि वासु।
चोरीकारु चडइ अणलीधी, वस्तु सु किमइ म लेसि अदीधी ॥ ४

परि घरि गोठि किमइ म जाइसि, कूडउं आलु तुं मुहियां पामिस।
जे घरि हुइ एकली नारि, किमइं म जाइसि तेह घरबारि ॥ ५

घरपच्छोकडि रापे छोडी, वरजे नारि जि बाहिरि हींडी।
परस्त्री बहिनि भणीनइ माने, परस्त्री वयण म धरजे काने ॥ ६

मइ एकलउ मारगि जाए, अणजाणिउ फल किमइं म पाए।
जिमतां माणस द्रेठी म देजे, अकहिं परि घरि किंपि म लेजे ॥ ७

वडां ऊतर किमइं न दीजइं, सीप देयंतां रोस न कीजइं।
ओळइ वासि म बसिजे कीमइं, घरमहीणु भव जासिइ ईमइ ॥ ८

छोरू वीटी ज हुइ नारि, तउ सीपामण देजे सारी।
अति अंधारइ नइ आगासइं, डाहउ कोइ न जिमवा बइसइं ॥ ९

सींधि म पिसुनपणु अनु चाडी, वचनि म दूमिसि तू निय माडी।
मरम पीयारु प्रगट न कीजइ, अधिक लेइ नवि ऊछुं दीजइ ॥ १०

विसहरु जातु पाय म चांपे, आविइ मरणि म हीयडइ कांपे।
ग्रहणा पापइं व्याजि म देजे, अणपूछिइ घरि नीर म पीजे ॥ ११

कहिसि म कुणहनीय घरि गूझो, मोटां सिउं म मांडिसि भूजो ।
अणविमास्यां म करिसि काज, तं न करेवं जिणि हुइं लाज ॥ १२

जणि वारितउ गामि म जाए, तं बोले जं पुण निरवाहे ।
घातु कांइ हींडि म मागे, पाछिम राति वहिलु जागे ॥ १३

हियडइ समरि न कुल आचारो, गणि न असार एह संसारो ।
पांचे आंगुलि जं धन दीजइं, परभवि तेहतणुं फलु लीजइ ॥ १४



ठवणि १

मरम म बोलिसि वीरु, कुणहइ केरउ कुतिगिहिं ।
जलनिहि जिम गंभीरु, पुहविइ पुरुष प्रसंसीइ ए ॥ १५

उछिनु धनु लेउ, त्यागि भोगि जे वीद्रवइ ए ।
पवहणि तडि पगु देउ, जाणे सो साइरि पडइ ए ॥ १६

एक कन्हइ लिइ व्याजि, बीजाहइं व्याजि दीयए ।
सो नर जीविय काजि, विस वहि वन संचरइ ए[1] ॥ १७

ऊडइ जलि म न पइसि, अधिक म बोलिसि सुयणुस्युं ।
सुनइ घरि म न पइसि, चउहटइ म विढिसि नारिस्युं ॥ १८

बोल विच्यारिय बोलि, अविचारीय घांघल पडइ ए ।
मूरष मरइ निटोल, जे धण जौवण वाउला ए ॥ १९

बल ऊपहरऊ कोपु, बल ऊपहरी वेढि पुण ।
म करिसि थापणि लोप, कूडओ किमइ म विवहरसे ॥ २०

म करिस जूयारी मित्र, म करिसि कलि धन सांपडए ।
घणुं लडावि म पुत्र, कलह म करिजे सुयण सिउं तु ॥ २१

धनु ऊपजतडं देषि, बाप तणी निंदा म करे ।
म गमु जन्मु अलेषि, धरम विहूणा धामीयहं ॥ २२

कंठ विहूणुं गानु, गुरु विहूणउ पाढ पुण ।
गरथ विहूणुं अभिमान, ए त्रिहूइं असुहामणा ए ॥ २३



---

१ प्राचीन प्रतिमें 'विसवेलि विष संहरइ ए' पाठ है ।

ठवणि २

हासउं म करिसि कंठइं कूया, गरथि मूढ म खेलि जूया,
म भरिसि कूडी साषि किहइं ॥ २४

गांठि सारि विणज चलावे, तं आरंभी जं निरवाहे[1]।
निय नारी संतोष करे ॥ २५

मोटइ सरिसुं वयर न कीजइं, वडां माणस वितउ न दीजइ।
वइसि म गोठि फलहणीया[2] ॥ २६

गुरुयां उपरि रीस न कीजइ,[3] सीष पूछंतां कुसीष म देजे।
विणउ करंतां दोष नवि ॥ २७

म करिसि संगति वेशासरसी, धण कण कूड करी साहरसी।
मित्री नीचिइ सिं म करे ॥ २८

थोडामाहि थोडेरुं देजे, वेला लाधी कृपणु म होजे।
गरव म करीजे गरथतणुं ॥ २९

व्याधि शत्रु ऊठतां वारउ, पाय ऊपरि कोइ म पचारु।
सतु क छंडिसि दुहि पडीउ ॥ ३०

अजाणयारहि पहू म थाए, साजुण पीड्यां बाहर धाए।
मंत्र म पूछिसि स्त्री कन्हए ॥ ३१

अजाणि कुलि म करि विवाहो, पाछइ होसिइं हीयडइ दाहो।
कन्या गरथिइ म वीकणसे ॥ ३२

†देव म भेटिसि ठालइ हाथि, अणउलपीतां म जाइसि साथिइं।
गूझ म कहिजे महिलीयह ॥ ३३

†परहुणई आव्यइ आदर कीजइं, जूनुं ढोर न कापड लीजइं।
हूतइ हाथ न खांचीइए ॥ ३४

---

१ पाठान्तर–'जु हियइ सुहाए'।

२ पा॰ 'चउवटए'।

३ पाठान्तर–'गरुआसिउं अभिमान न कीजउ'।

†गाढइं घाइं ढोर म मारउ, मातइ कलहि म पइसि निवारु ।
पर घरि मा जिमसि जा सकूया ॥ ३५

भगति म चूकीसि बापह मायी, जूठउ चपल म छंडिसि भाई ।
गुरवु म करि गुरु सुहासिणी य ॥ ३६

नीपनइं धानि म जाइसि भूखिउ, गांठि गरथि म जीविसि लूखउं ।
मोटां पातक परहरउ ए ॥ ३७

गिउ देशांतरि सूयसि म रातिइ, तिम न करेवुं जिम टल पांतिइं ।
तृष्णा ताणिउ म न वहसे ॥ ३८

धणि फीटइं दिवसाइं लागे, आंचल उडी म साजण मागे ।
कुणहइ कोइ न ऊधरीउ ॥ ३९

[*जीवतणुं जीवि रापीजइ, सविहुं नइ उपगार करीजइ ।
सार संसारह एतलु ॥] ४०

माणसि करिवा सवि व्यवहारु, पापी घरि म न लेजे आहार ।
म करिस पूत्र पडीगणुं ए ॥ ४१

जइ करिवुं तो आगइ म मागिं, गांधीसिउं न करेवउं भागि ।
मरतां अरथु म लेसि पुण ॥ ४२

उसड म करिसि रोग अजाणिइं, कुणह्नं गुरथु म लेसि पराणि ।
सिरज्यां पापइ अरथ नवि ॥ ४३

धरमि पडीगे दुत्थित श्रवण, अनि आवतुं जाणे मरण ।
माणस धरम करावीइ ए ॥ ४४

इसि परि वइदह पाप न लागइं, अनइ जसवाउ भलेरउ जागइ ।
रापे लोभिइं अंतरीउ ॥ ४५



ठवणि ३

हिव श्रावकना नंदनह, बोलसु केई बोल ।
अवघड मारगि हींडंतां ए, विणसई धरम नीटोल ॥ ४६

---

† दूसरी प्रतियों में ये कड़ियाँ आगे पीछे लिखी मिलती हैं।
* कुछ प्रतियों में ये कड़ियाँ नहीं मिलती अतः क्षेपक प्रतीत होती हैं ।

तिरा पुरि निवसे जिरा हवए, देवालउ पोसाल ।
भूष्यां त्रिस्यां गोरूयहं, छोरू करि न संभाल ॥ ४७

तिरिहवार जिरा पूज करे, सामायक[1] बे वार ।
माय बाप गुरु भक्ति करे, जाणी धरम विचारु ॥ ४८

करमबंध हुइ जिरा वयरिए, ते तउं बोलि म बोलि ।
अधिके ऊरो मापुले,[2] कुडउं किमइ म तोलि ॥ ४९

अधिक म लेसि मापुलइं, उच्छ्रं किमइ म देसि ।
एकह जीहव कारणिहि, केतां पाप करेसि ॥ ५०

जिरावर पूठिङ' म न वससे, मराखे सिवनी द्रेठि ।
राउलि आगलि[3] म न वससे, बहूअ पाडेसिइं बेठि ॥ ५१

रापे घरि वि[1] बारणां ए, ऊघत रापे नारि ।
ईंधरिए कातरिए जलवहरिए, होइ सछंदाचारि ॥ ५२

पटकसाल पांचइ तणीय, जयरणा भली कराबि ।
आठमि चउदसि पूनीमिहि, धोयरिए गारि वराबि ॥ ५३

[+ अरागल जल म न वावरू ए, जोउ तेहनउ व्याप ।
आहेडी मांछीं तणूं ए, एक चलुं ते पाप ॥ ५४

लोह मीरा लष धाहडी य, गली य चरम विचारि ।
एह सविनूं विवहरण, निश्चउ करीय निवारि ॥ ५५

सुइमुहि जेतुं चांपीइ ए, जीव अनंता जाणि ।
कंद मूल सवि परहरु ए, धरम म न करइ हाणि ॥ ५६

रयणी भोजन म न करिसि, बहूय जीव सिंहार ।
सो नर निश्चइ नरयफल, होसिइ पाप प्रमाणि ॥] ५७

जांत्र जोत्र ऊषल मुशल, आपि म हल हथीयार ।
सइं हथि आगि न आपीइ ए, नाच गीत घरबारि ॥ ५८

---

१ दूसरी प्रति में 'पडिकमणु' शब्द है ।

२ दूसरी प्रति में 'काटलेऊ' शब्द है ।

३ दूसरी प्रति में 'हेठलि' शब्द है ।

पाटा पेढी म न करसे, करसए नइ अधिकारि ।
न्याइं रीतिइं विवहरु ए, श्रावक एह आचार ॥ ५९

वाच म घालिसि कुपुरसह, फूटइ मुहि महसेसि ।
वहुरि म आस पिराइंह, वहु ऊधारि म देसि ॥ ६०

वइद विलासणि दूइडीय, सुइआणिसु संगु ।
रापे वहिनर वेटडी य, जिम हुइ शील न भंगु ॥ ६१

गुरु उपदेसिइ अति घणा ए, कहूं तु लहुं न पार ।
एह बोल हीयडइ धरीउ, सफल करे संसार ॥ ६२

'सालिभद्रगुरु' संकुलीय, सिविहूं गुर उपदेसि ।
पढ़इ गुणइ जे संभलहिं, ताहइ विघन टलेसि । ६३

॥ इति बुद्धिरास समाप्तमिति ॥

---

† इस कोष्ठक की ४ कड़ियाँ दूसरी प्रति में नहीं मिलती ।

जीवदयारास

परिचय

जीवदया रास के रचयिता आसिग (आसगु) कवि-विरचित एक नया रास और प्राप्त हुआ है। इस रास का नाम है 'चन्दनबाला रास'। इस रास की रचना भी संभवतः सं० १२५७ के आसपास हुई थी। प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि इन दोनों रासों की रचना राजस्थान में हुई थी। इन दोनों रासों की भाषा गुजरात देश में विरचित प्राचीन रासग्रंथों की भाषा से सर्वथा साम्य रखती है। इससे डा० टासिटरी का यह मत निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राचीनकाल में गुजराती और राजस्थानी में कोई भेद नहीं था।

इस रास में श्रावक धर्म निरूपित किया गया है। प्रारंभ में पुस्तक-धारिणी सरस्वती की वंदना है। तदुपरांत कवि मानव जन्म को सफल बनाने वाले जिनवर धर्म की व्याख्या इस प्रकार प्रारंभ करता है—

जीव दया का पालन करो और माता-पिता तथा गुरु की आराधना करो। जो जन देवभक्ति और गुरु-भक्ति में जीवन बिताते हैं, वे यम-पाश से मुक्त रहते हैं। जलाशय के सदृश परोपकार करो। जिस प्रकार बन में दावाग्नि लगने पर हरिणी व्याकुल हो जाती है, उसी प्रकार मनुष्य इस संसार रूपी बन में महान् संकटों में पड़ा रहता है। कवि कहता है "अरे मनुष्यो, मन में ऐसा चिंतन करके धर्म का पालन करो, क्योंकि मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है।"

इस संसार में न कोई किसी का पुत्र है न कोई माता-पिता-सुता संबंधी, भाई। पुत्र-कलत्र तो कुमित्र के समान खाते पीते हैं और अंत में धोका दे जाते हैं।

जिस प्रकार ऐंद्रजालिक क्षणमात्र के लिए बिना बादल के ही आकाश से वर्षा कर देता है उसी प्रकार संसार में लोगों का प्रेम क्षणिक होता है। अरे मनुष्य, मन को बाँधकर स्वाधीन रख। इस प्रकार जीवित रहकर यौवन का लाभ प्राप्त कर।

कभी अलीक भाषण न करो। शुद्ध भाव से दान करो। धर्म-सरोवर के विमल जल में स्नान करो। यह शरीर दस-पांच दिन के लिए तरुण होता है। इसके उपरांत प्राण निकल जाने पर सूने मंदिर के समान हो जाता है। जब आयु के दिवस और महीने पूरे हो जाते हैं तो चाहे वृद्ध हो या बाल वह यमराज से बच नहीं सकता। संसार से प्रस्थान करते समय केवल धर्म ही संबल रूप से जाता है। धर्म ही गुण-प्रवर-सज्जन है। धर्म ही से भव-

---

जीवदया रास—छंद—७

सागर तरा जाता है। धर्म ही राज्य और रत्न का भंडार है। धर्म ही से मनुष्य सुख प्राप्त करता है, धर्म से ही भवसागर से पार होता है। धर्म से ही श्रृंगार सुशोभित होता है।

धर्म से ही रेशमी वस्त्र धारण होता है, धर्म से ही चावल और दाल में घी मिलता है, धर्म से ही पान का बीड़ा और तांबूल मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति को एक धर्म का पालन करना चाहिए। इससे नरक द्वार पर किवाड़ में ताला बंद हो जाता है। अपने चंचल, मन को स्थिर करो और क्रोध, लोभ, मद और मोह का निवारण करो। पंचबाण कामदेव को जीत लेने से तुम शुद्ध सिद्धिमार्ग पा जाओगे।

तीसवें छंद के उपरांत कवि आसिग कलियुग की दशा का वर्णन करते है। वे कहते है कि संसार में समानता है ही नहीं। कितने लोग पैदल परिभ्रमण करते हैं कितने हाथी और घोड़े पर सुखासन बनाते हैं। कितने शिर पर काठ ढोते हैं कितने राजसिंहासन पर बैठते हैं। कितने अपने घर में चावल-दाल बना कर उसमें खूब घी डालकर खाते हैं। कितने आदमी भूख से दुखित दूसरे के घर मजदूरी करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कितने ही जीवित मनुष्य (दुख के कारण) मृतक के समान हैं।

अब कवि आसिग संसार की नश्वरता पर विचार करते हुए कहते हैं कि बलि और बाहुबलि जैसे बली राजा चले गए। धर्म के लिए डोम के घर पानी भरनेवाले राजा हरिश्चंद्र भी चले गए। राजा दशरथ और (उनके प्रतापी पुत्र) राम-लक्ष्मण भी चले गए। वह रावण भी चला गया जिसके घर को वायु बुहारता था। चक्र-धुरंधर भरतेश्वर, मांधाता, नल, सगर, कौरव-पांडव चले गए। जिस कृष्ण ने जरासंध, केशी, कंस, चाणूर आदि को मारा और नेमि-कुमार की स्थापना की, वे भी चले गए। सत्यवादी स्थूलभद्र चले गए। इस असार संसार को धिक्कार है। हे जीव, तू एक जिन धर्म को अपना परिवार बना।

कवि कहता है कि अणहिल पुरी का जैसलराज चला गया जिसने पृथ्वी समाज का उद्धार किया। कलियुग का कुँवर-नरेंद्र भी गया जिसने सब जीवों को अभय दान दिया। ४५ वें छंद के आगे २८ ऋषियों, स्वामी आदि जिन नेमिकुमार इत्यादि धार्मिक महात्माओं की वंदना की गई है जो पाप रूपी अंधकार को विनष्ट करनेवाले हैं। अन्त में कवि इस ग्रंथ का रचना-काल और स्थान का वर्णन करता है।

———

जीवदयारास

कवि आसिग विरचित

(सं० १२५७ के आसपास)

[अपभ्रंश मिश्रित हिंदी की एक प्राचीनतर पद्यकृति]

उरि सरसति आसिगु भणइ, नवउ रासु जीवदया-सारु ।
कंनु धरिवि निसुणेहु जण, दुत्तरु जेम तरहु संसारु ॥ १

जय जय जय पणमउ सरसत्ती । जय जय जय खिवि पुत्थाहत्थी ।
कसमीरह मुखमंडणिय, तइं तुट्ठी हउ रयउ कहाणउं ।
जालउरउ कवि वज्जरइ, देहा सरवरि हंसु वखाणउं ॥ २

पहिलउ अक्खउं जिणवरधम्मु । जिम सफलउ हुइ माणुसजंमु ।
जीवदया परिपालिजए, माय वप्पु गुरु आराहिजए ।
सव्वह तित्थह तरुवर ठविजइ, (जिम ?) छाही फलु पावीजइ ॥ ३

देवभत्ति गुरुभत्ति अराहहु । हियडइ अंखि धरेविणु चाहहु ।
धणु वेचहु जिणवर भवणि, खाहु पियहु नर वंधहु आसा ।
कायागढ तारुण भरि, जं न पडहिं जमदेवहं पासा ॥ ४

सारय सजल सरिसु परधंधउ । नालिउ लोउ न पेखइ अंधउ ।
डुंगरि लग्गइ दव हरणि, तिम माणुसु बहु दुक्खहं आलउ ।
डज्जइ अवगुण दोसडइ, जिम हिम वणि वणगहणु विसालउ ॥ ५

नालिउ अप्पउ अप्पइ दक्खइ । पायहं दिट्ठि वलंतु न पिक्खइ ।

गणिया लब्भहिं दिवसडइं, जंजि मरेवउ तं वीसरियउ ।
दाणु न दिंनउ तपु न किउ, जाणंतो वि जीउ छेतरियउ ॥ ६

अरि जिय यउ चिंतिवि किरि धंमु । वलि वलि दुलहु माणुसजंमु ।
नत्थि कोइ कासु वि तणउं, माय ताय सुय सज्जण भाय ।
पुत कलत्त कुमित्त जिम, खाइ पियइ सवु पच्छइ थाइ ॥ ७

धणि मिलियइ बहु मग्ग जण हार । किं तसु जणणिहि किं महतार ।
किं केतउ मागइ घरणि पुत्तु, होइ प्राणी रोइ लेसइ ।
विहव ण वारहं पत्तागहं, वोलाविउ को सावु न देसइ । ८

जणणि भणइ मइं उयरहं धरियउ। वप्पु भणइ महु घरि अवतरियउ।
अणखाइय महिलिय भणइ, पातग तणइं न मारगि जाउ।
जरथु धरमु विहंचिवि लियउं वि, दिनत्थी पतुं घडसइ न्हाउं॥ ९

यउ चिंतिवि निय मणिहिं धरिज्जइ। कुडी साखि न कासु वि दिज्जइ।
आलि दि नइ आलसउ जउ, अजु हूवउ कालु न होसइ।

अनु चिंतंतहे अनु हुइ, धंधइ पडियउ जीउ मरेसइ॥ १०
पुडइ निपंन जेम जलबिंदु। तिम संसारु असारु समुंदु।

इंदियालु नडपिखणउ जिम, अंबरि जलु बरिसइ मेहु।
पंच दिवस मणि छोहलउ, तिम बहु प्रियतम सरिसउ नेहु॥ ११

अरि जिय परतंह पालि बंधिजइ। जीविय जोवण लाहउ लीजइ।
अलियउ कह वि न बोलिजइ, सुद्धइ भाविहि दिज्जइ दाणु।
धम्म सरोवर विमल जलु, कुंडपाउ नियमणि यउ जाणु॥ १२

पंच दिवस होसइ तारुन्नु। ऊडइ देह जिम मंदिर सुन्नु।
जाणंतो विय जाणइ, दिक्खांता हइं होइ पयाणउ।
वट्टहं संवलु नहु लयउ, आगइ जीव किसउ परिमाणु॥ १३

दिवसे मासे पूजइ कालु। जीउ न छूटइ विरधु न बालु।
छडउ पयाणउ जीव तुहु, साजणु भितु बोलावि वलेसइ।
धम्मु परतह संवलओ, जंता सरिसउ तं जि वलेसइ॥ १४

अरि जिय जइ बूक्कहि ता बूक्कु। वलि वलि सीख कु दीसइ तूक्कु।
वारि मसाणिहि चिय वलइ, कुडि दाउं ती गंधि न आवइ।
पावकूव भिंतरि पडिउ तिणि, जिणधम्मु कियउ नवि भावइ॥ १५

जिम कुंभारिं घडियउ भंडु। तिम माणुसु कारिमउ करंडु।
करतारह निप्पाइयउ, अट्ठुत्तरसउ वाहिसयाइं।
जिम पसुपालह खीरहरु, पुट्टिहिं लग्गउ हिंडइ ताइं॥ १६

देहा सरवर मज्झिहिं कमलु। तहि वइसउ हंसा धुरि धवलो।
कालु भमरु उपरिं भमइ, आउखए रस गंधु वि लेसइ।
अणखूटइ नहु जिउ मरइ, खूटा उपर घरी न दीसइ॥ १७

नयर पुक्क आया वणिजारा। जणणि समागु अरिहिं परिवारा।
धम्म फयाणउं ववहरहु, पावतणी भंडसाल निवारहु।
जीवह लोहु समग्गलउ कुमारगि जगु अंतउ वारहु॥ १८

एगिंदिय रे जीव सुणिज्जइ। बेइंदिय नवि आसा किज्जइ।
तेइंदिय नवि संभलइ, चउरिंदिय महिमंडलि वासु।
पंचिंदिय तुहुं करहिं दय, जिणधम्मिहिं कज्जइ अहिलासु॥ १९

धम्मिहिं गय घड तुरियहं घट्ट। भयमिंभल कंचण कसवट्ट।
धम्मिहिं सज्जण गुणपवर, धम्मिहिं रज्ज रयण भंडार।
धम्मफलिए सुकलत्त घरि, वे पक्खसुद्ध सीलसिंगार॥ २०

धम्मिहिं मुक्खसुक्ख पाविज्जइ। धम्मिहि भवसंसारु तरीजइ।
धम्मिहि धणु कणु संपडइं, धम्मिहि कंचण आभरणाइं।
नालिय जीउ न जाणइ य, एहि धम्महं तण फलाइं॥ २१

धम्मिहि संपज्जइ सिणगारो। करि कंकण एकावलि हारु।
धम्मि पटोला पहिरिजहिं, धम्मिहि सालि दालि घिउ घोलु।
धम्मि फलिए वितसा (रु?) लियइं, धम्मिहिं पानवीड तंबोलु॥ २२

अरि जिय धम्मु इक्कु परिपालहु। नरयबारि किवाडइं तालहु।
मणु चंचलु अविचलु वरहु, कोहु लोहु मय मोहु निवारहु।
पंचवाण कामहिं जिणहु जिम, सुह सिद्धिमग्गु तुम्हि पावहु। २३

सिद्धिनामि सिद्धि वरसारु। एकाएकिं कहहु विचारु।
चउरासी लक्ख जोणि, जीवह जो घल्लेसइ घाउ।
अंतकालि संमरइ अंगि, कोइ तसु होइ हु दाहु॥ २४

अरु जीवइं अस्संखइ मारइं। मारोमारि करइ मारावइ।
मुच्छाविय धरणिहि पडइ, जीउ विणासिवि जीतउ मानइ।
मच्छगिलिग्गिलि पुणु वि पुणु, दुख सहइ ऊथलियइ पंनइ॥ २५

पन्नउ जउ जगु छन्नउं मंनउं। कूवहं संसारिहि उप्पंनउं।
पुन म सारिहि कलिजुगिहिं, ढीलइ जं लीजइ ववहारु।
एकहं जीवहं कारणिण, सहसलक्ख जीवहं संहारु॥ २६

वरिसा सउ आऊपउ लोए। असी वरिस नहु जीवइ कोइ।
कूडी कलि आसिगु भणइ, दयारीजि नय नय अवतारु।
धंमु चलिउ पाडलिय पुरे, एका कालु कलिहि संचारु॥ २७

माय भरणेविणु विणउ न कीजइ । बहिणि भणिवि पावडणु न कीजइ ।
लहुड बड़ाई हा' ' 'तिय मुकी, लाज स समुद मरजाद ।
घरघरिणिहिं वीया पियइं, पिय हत्थि धोवावइ पाय । २८

सासुव बहूव न चलणे लग्गइ । इह छाहइ पाडउणइ मागइ ।
ससुरा जिठ्ठह नवि टलइ, राजि करंती लाज न भावइ ।
मेलावइ साजण तणइं, सिरि उग्घाडइ बाहिरि धावइ ॥ २९

मित्तिहि मुका मित्ताचारि । एकहि घरणिहिं हुइ रखवाला ।
जे साजण ते खेलत गिइं, गोती कूका गोताचारा ।
हाणि विधि वद्धावणइं, विहुरहि वार करहिं नहु सारा ॥ ३०

कवि आसिग कलिअंतरु जाइ । एक समाण न दीसई कोइ ।
के नरि पाला परिभमहि, के गय तुरि चंडति सुखासणि ।
केई नर कठा बहहि, के नर बइसहिं रायसिंहासणि ॥ ३१

के नर सालि दालि भुंजता । घिय घलहलु मज्झे विलहंता ।
के नर भूषा (खा) दूषि (खि) यइं दीसहिं परघरि कमुं करंता ॥
जीवता वि मुया गणिय, अच्छहिं बाहिरि भूमि रुलंता ॥ ३२

के नर तंबोलु वि संभाणहिं । विविह भोय रमणिहिं सउ माणहि ।
के वि अपुंनइं वप्पुडइं, असु हुंतइ दोहला करंता ।
दाणु न दिंनउ अनं भवि, ते नर परघर कंमु करंता ॥ ३३

आसेवंता जीव न जाणहिं । अप्पहिं अप्पाउ नहु परियाणहि ।
चंचलु जीविउ धूय मरण, विहि विद्धाता वस इउ सीसइ ।
मूढ धम्मु परजालियइ, अजरु अमरु कलि कोइ ना दीसइ ॥ ३४

नव निधान जसु हुंता बारि । सो बलिराय गयउ संसारि ।
बाहूबलि बलवंत गउ, धण कण जोयण करहु म गारहु ।
डुबंह घर पाणिउ भरिउ, पुहविहि गयउ सु हरिचंदु राउ ॥ ३५

गउ दसरथु गउ लक्खणु रामु । हिंडइ धरउ म कोइ संविसाउ ।
बार बरसि वणु सेवियउ, लंका राइवि किय संहारु ।
गइय स सीय महासइय, पिक्खाहु इंदियालु संसारु ॥ ३६

जसु घरि जसु पाणिउ आणेई। फुल्लतरु जसु वणसइ देई।
पवणु वुहारइ जसु ज्वहि, करइ तलारउ चामुड माया।
खूटइ सो रावणु गयउ, जिणि गह वद्धा खाटहं पाए॥ ३७

गउ भरथेसरु चक्कधुरंधरु। जिणि अट्ठावइ ठविय जिणेसरु।
मंधाता नलु सगरु गओ, गउ कयरव-पंडव परिवारो।
सेतुजा सिहरिहि चडेवि जिणि, जिणभवण कियउ उद्धारु। ३८

जिणि रणि जरासिंधु विदारिउ। आहि दाणवु वलवंतउ मारिउ।
कंस केसि चाणरु, जिणि ठवियउ नेमिकुमारु।
वारवई नयरिय घणिउ कहहि, सु हरि गोविहि मत्तारु॥ ३९

जिणु चउवीसमु वंदिउ वीरु। कहहि सु सेणिउ साहस धीरु।
जिणसासण समुद्धरणु, विहलिय जण वंदिय सद्धारु।
रायग्गिह नयरियहं, वुद्धिमंतु गउ अभयकुमारु॥ ४०

पाउ पणासइ मुणिवर नामि। वयरसामि तह गोयमसामि।
सालिभद्द संसारि गउ, मंगलकलस सुदरिसण सारो।
थूलभद्दु सतवंतु गवो धिगु, धिगु यह संसारु असारु॥ ४१

गउ हलधरु संजमसणगारु। गयसुकुमालु वि मेहकुमारु।
जंवुसामि गणहरु गयउ, गउ धन्नह ढंढणह कुमारु।
जउ चिंतिवि रे जीव तुहुं, करि जिणाधंमु इक्कु परिवारो॥ ४२

जिणि संवचरु महि अंत्राविउ। अंवरि चंदिहिं नामु लिहाविउ।
ऊरिणि की पिरिथिमिं सयल, अणु पालिउ जिणु धम्मु पवितु।
उज्जेणीनयरी घणिउ कह, अजरमकर विक्रमदीतु॥ ४३

गउ अणहिलपुरि जेसलु राउ। जिणि उद्धरियलि पुहवि सयाउ।
कलिजुग कुमरनरिंदु गउ, जिणि सव जीवहं अभउ दियाविउ।
उवएसिहिं हेमसूरि गुरु, अहिणव 'कुमरविहारु' कराविउ॥ ४४

इत्थंतरि जण निसुणहु भाविं। करहु धम्मु जिम मुच्चहु पाविं।
इहिं संसारि समुदजलि, तरण तरंड सयल तित्थाइं।
वंदहु पूयहु भविय जण, जे तियलोह जिणभवणाइं॥ ४५

अट्ठावइ रिसहेसरु वंदहु । कोडि दिवालिय जिम चिरु नंदहु ।
सितुञ्जहं सिहरिहिं चडिवि, अन्चउं साभिउ आदिजिणिंदु ।
आवुइ पणामउ पढमजिणु, उम्मुलइ भवतरुवरकंदु ॥ ४६

उज्जिलि वंदहु नेमिकुमारु । नव भव तिहुयणि तरहि संसारु ।
अंबाइय पणमेहु जण, अवलोयण सिहरि पिक्खेहू ।
विसम तुंग अंबर रयणा, वंदहु संबु पजुंनइ बेउ ॥ ४७

थुणउ वीरु सच्चउरहं मंडणु । पावतिमिर दुहकंम विहंडणु ।
वंदउ मोढेरानयरि, चडावल्लि पुरि वंदउ देउ ।
जे दिट्ठउ ते वंदियउ, विमलभावि दुइ करजोडि ॥ ४८

वाणारसि महुरह जिणचंदु । थंभणि जाइवि नमहु जिणिंदु ।
संखेसरि चारोप पुरि, नागदहि फलवद्धि दुवारि ।
वंदहु साभिउ पासजिणु, जालउरा गिरि 'कुमरविहारु' ॥ ४९

कास वि देह हडइ दालिहु । कासु वि तोडइ पावह कंहु ।
कासु वि दे निम्मल नयण, खासु सासु खेयणु फेडेई ।
जसु तूसइ पहु पासजिणु । तासु धरि नव निधान दरिसेइ ॥ ५०

वाला मंत्रि तणइ पाल्लोपइ । वेहल महिनंदन महिरोपइ ।
तसु सखहं कुलचंद फलु, तसु कुलि आसाइतु अच्छंतु ।
तसु वलहिय पल्लीपवर, कवि आसिगु बहुगुण संजुत्तु ॥ ५१

सा तउपरिया कवि जालउरउ । भाउसालि सुंमइ सीयलरउ ।
आसीद वदोही वयण, कवि आसिगु जालउरह आयउ ।
सहजिगपुरि पासहं भवणि, नवउ रासु इहु तिणि निप्पाइउ । ५२

संवतु बारह सय सत्तावन्नइ । विक्कमकालि गयइ पडिहुंनइ ।
आसोयहं सिय सत्तमिहिं, हत्थो हत्थिं जिण निप्पायउ ।
संतिसूरि पयभत्तयरियं, रयउ रासु भवियहं मणमोहणु ॥ ५३

श्री नेमिनाथ रास

परिचय

इस रास के रचयिता सुमतिगणि हैं जिनके जीवन का परिचय प्रारंभ में दिया जा चुका है। यहाँ पाठकों की सुविधा के लिए इस रास का सारांश संक्षेप में दिया जा रहा है।

प्रारंभ में कवि श्रुतज्ञान रूपी रत्न से विभूषित सरस्वती देवी को प्रणाम करके नेमिनाथ का रास वर्णन करता है। सौरीपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर है जिसका वर्णन बृहस्पति भी नहीं कर सकते। इस सुरपुर के सदृश नगरी के महाराज समुद्रविजय और उनकी रानी शिवादेवी थीं। उस नवरूपा नवयौवना मृगनयनी रानी की कुक्षि में शंख का जीव देवलोक से चलकर कार्त्तिक कृष्णा द्वादशी को अवतीर्ण हुआ। नियत समय आने पर श्रावण शुक्ला पंचमी को रात्रि वेला में दसों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाले सूर्य के सदृश नेमिनाथ का जन्म हुआ।

जन्मकाल में ५६ दिक्कुमारियों ने रानी की परिचर्या की और चौंसठ देवेंद्र और सुरगण मेरुगिरि पर एकत्रित हुए। इन्द्र ने शिवादेवी को अवस्वापिनी निद्रा में मग्न किया और श्री नेमिनाथ को मेरु शिखर पर ले जाकर अभिषेक करके माता के पास पुनः पहुँचा दिया। भगवान नेमिनाथ ने गर्भावस्था में श्री अरिष्टनेमि का दर्शन किया था; अतः भगवान् का नाम भी अरिष्टनेमि पड़ गया।

उस समय जरासंध के आतंक से यादवगण सौरीपुर त्याग कर समुद्र तट पर चले गए और द्वारावती में रहने लगे। श्री कृष्ण के प्रताप से देवताओं ने द्वारावती नगरी को खूब समृद्ध बनाया।

नेमिकुमार अनुदिन विचरण करते हुए एक दिन कृष्ण की आयुधशाला में गए और लीलावश उन्होंने उनका (कृष्ण का) शंख बजाया। शंखध्वनि से त्रिभुवन क्षुब्ध हो गया। कृष्ण भी भयभीत होकर बलराम से पूछने लगे कि किसने मेरा शंख बजाया। लोगों ने जिनेश्वर का बल असंख्य (अपरिमित) बताया तो कृष्ण ने भयभीत होकर बलराम से कहा 'भाई, इस स्थान पर वास संभव नहीं; हाय ! नेमिकुमार यह राज्य ले लेगा।' बलराम ने कहा 'मन में विश्वास करिए। परमेश्वर नेमिनाथ मोक्ष सुख के आकांक्षी हैं। जो मूर्ख राज्य-सुख की वांछा करता है वह निश्चय घोर नरक में पड़ता है। विषय-सुख नरक का द्वार है और संयम अनंत सुख का भंडार।'

श्री कृष्ण ने एक दिन नेमिकुमार से कहा कि हम दोनों भाई बाहुयुद्ध द्वारा बल-परीक्षा कर लें। नेमिकुमार ने उत्तर दिया—"हे जनार्दन, युद्ध व्यर्थ है। मैं अपना हाथ पसारता हूँ, आप इसे झुका दें। श्री कृष्ण नेमिनाथ की भुजाओं पर बंदर के समान झूलते रहे, पर भगवान नेमिनाथ का हाथ तिलमात्र भी न झुका सके। कृष्ण मन में क्षुब्ध होते हुए भी भगवान के बल की प्रशंसा करने लगे। वह बोले—'मैं धन्य हूँ कि मेरे भाई में इतना बल है।'

(एकबार) यादवों ने महाराज समुद्रविजय के संतोष के लिए नेमिकुमार के विवाह का प्रसंग उठाया। श्री कृष्ण ने भी भगवान नेमिकुमार से किसी सुंदर बाला के साथ विवाह करने का अनुरोध किया। इस बार भगवान के मौन धारण करने से उनकी सम्मति जान उग्रसेन की अति लावण्यमयी कन्या राजिमती के साथ उनका सगाई कर दी गई। जब विवाह के लिए बरात गई और बरातियों के सत्कार के लिए लाये गये अनेक पशु-पक्षियों का करुण-क्रंदन नेमिनाथ को सुनाई पड़ा तो उन्होंने अपना रथ बिना ब्याह किये ही लौटा लिया। उन्हें घोर वैराग्य हो गया और उन्होंने ३०० वर्ष तक कुमार अवस्था में रहकर एक सहस्र राजाओं के साथ संसार का त्याग किया। पालकी में बैठकर श्रावण श्री छठ को वे गिरनार पर्वत पर पहुँचे और प्रव्रजित हो गये।

राजिमती ने आराध्यदेव नेमिकुमार के प्रव्रजन का समाचार सुनकर मन में विचार किया कि इस ससार को धिक्कार है। जो देवता सुररमणियों को भी दुर्लभ हैं वे मुझ मुग्धा के साथ प्रणय कैसे स्वीकार करते। वे मुझे भले ही छोड़ जाएँ पर मैं तो सदा उनके चरणों का अनुसरण करूँगी।

भगवान नेमिनाथ ने द्वारका में पर्यटन करते हुए परमान्न से पारण किया और ५४ दिन के उपरांत आसौज (आश्विन) अमावस्या को केवल ज्ञान की प्राप्ति की। राजिमती ने भगवान से दीक्षा ग्रहण कर ली और नेमिकुमार से पूर्व ही वह सिद्धि प्राप्ति की अधिकारिणी बन गई। भगवान नेमिनाथ का निर्वाण आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को हो गया।

अंत में कवि अपने का जिनपति सूरि का शिष्य संबोधित कर मंगल कामना करता है कि शासनदेवी अंबा इस नेमिनाथ का रास देने वालों का विघ्न शीघ्र दूर करें।

श्री नेमिनाथ रास

श्री सुमीतगणि कृत

पणमवि सरसइ देवी सुय रयण विभूसिय।
पभणिसु नेमि सुरासो जण निसुणउ तूसिय॥ १॥

धूयउ

अत्थि पसिद्धु नयरि सोरियपुरु, जंवन्नेवि न सक्कइ सुरगुरु।
जहिं पंडुर रेहहिं जिण मंदिर, नावइ हिमगिरि कूड़ समुद्धर॥ २॥

हुउं सक्खा जिण जन्मण भूमी, तुहु पुणु जिनवर चवणण दूमी।
इया हसइव जं पवणुद्धय मिसि सुरपुरि निब्भय उब्भिय भूय॥ ३॥

तहिं नरवइ वइरिहि अवराउ, नामि समुद्द विजउ विक्खाउ।
दस दसार जो पढम दसारू, जायव कुल सयलह विजु सारू॥ ४॥

तस्सय नवरूवा नव जुव्वण, नव गुण पुन्निविणिय गयव्वण।
राणी इयणि यर सम वयणी सिवदेवित्ति हरिण बहु नयणी॥ ५॥

रायह तीइ पियाए विसयइं सेवंतह।
अइगउ कित्तिउ कालो जिम्व सग्गि सुरिंदह॥ ६॥

संखजीव अहदेउ चवित्तु अवराइय कप्पाउ पवित्तु।
कत्तिय किराह दुवालसि कुच्छिहिं, उप्पन्नउ सिवदेविमयच्छिहिं॥ ७॥

ते सापिच्छिवि चउदस सुमिणइं, हट्ठ तुट्ठ उट्ठिवि पिउ पभणइ।
सामिय सुणिमइ सुमिणा दिट्ठ, चउदस सुंदर गुणिहिं विसिट्ठ॥ ८॥

राउ भणइ तुह सुंदरि नंदणु, होसइ जणमण नयणा णंदणु।
इय भणिया सा पभणइ राइणी, इय महु होस्यउ तुज्झ पसाइण॥ ९॥

अह सावणसिय पंचमि रतिहि, सुहतिहि सुह नक्खत्त मुहुत्तिहिं।
दस दिसि उज्जोअंतउ कंतिहि, रवि जिंव तमहरु भुवण भरंतिहिं॥ १०॥

तिहि नाणिहि संजुत्तो जं जिणवरु जायउ।
मायर पियरह ताम्व मणि हरिसु न मायउ॥ ११॥

तक्खिणि दिसि कुमारिय छपन्ना, सई कम्मु निम्मवहिं सुपन्ना।
ताम्वहि जाणिवि हरि चउसट्ठि, करि समुदउ निम्मल तरदिट्ठि॥ १२॥

ते गयमण सम वेगिं सुगिरि सिहरुप्परि।
जाइ नमिवि जिण माया सहरिसु जंपइ हरि॥ १३॥

धन्न पुन्न सुकयत्थिय सामिणि, तुह जीविउ सहलउ सिव गामिणि।
जीइ उअरि धरियउ गुण गामिणि, तित्थु नाहु तिहुयण चूडामणि॥ १४॥

देवि नमुत्थु महिए तुह तिहुयण लच्छिहिं।
जगभूषण उप्पन्नो जिणथक जसु कुच्छिहि॥ १५॥

धूवउ

जिम्व निसि सोहइ पूनमियं का, जिम्व सरसि रेहइ कमलंका।
रयणायर घर रयणिहि जेम्व, तुहु जिणवरि करि सोहसि तेम्व॥ १६॥

अह अवसोयणि देवी देविहिं देविंदु।
मेरु गिरम्मि रम्मी गउ गहिय जिणंदु॥ १७॥

धूवउ

तहिं अइ पंडुकं बल सिल उप्परि, चउसट्ठिवि हरिगिरि जिणवरु धरि।
भूरि भत्ति भर निब्भर भाविण, पक्खालहिं पहु सहुनिय पाविण॥ १८॥

मुवसम कुसुम माल समलंकिउ, वर विलेव कलियउ अकलंकिउ।
कप्पदुम्मु विहिक संकप्पिउ, देवि दिणजिणु जणणि समप्पिउ॥ १६॥

गब्भत्थह जणणीए मणि रिट्ठह नेमि।
दिट्ठउ त किउ नामु जिणवरु रिट्ठनेमि॥ २०॥

सो सोहाग निहाणु जिणेसरु रुवरेह जिय मयण सुणीसरु।
सुरगिरि कंदरि चयउ जेम्व वड्ढह नेमि सुहंसुही तेम्व॥ २१॥

तहिं जिकालि राया जरसिंधु, तसु भय जायव गय सवि सिन्धु।
बारवई धण कणिहिं समिद्धि, कणह पुन्नि देविहिं करि रिद्धि॥ २२॥

तहिं वसंति जायव कुल कोड़िहिं हसहिं रमहिं कीलहिं चड़ि घोडिहिं।
सग्गपुरी इन्दुव सव कालु, गयउ न जाणइ कितिउ कालू॥ २३॥

नेमिकुमरु अन दियहिं रमंतउ, गउहरि आउह साल भमंतउ।
संखु लेवि लीलइ वाएई, संख सद्दि तिहुयण खोमेई ॥ २४ ॥

तंसुणि पभणइ कण्हो किण वायउ संखु।
भणिउ जणेण नरिंदो जिण बलुज असंखु ॥ २५ ॥

धूवउ

तो भयभीउ भणइ हरि रामह भाउ नहिय वासु इह ठावह।
लेसइ नेमिकुमरू तह रज्जू, हाहा हियइ धसकइ अज्जु ॥ २६ ॥

जसु बालस्सवि जसउं महाबलु, कित्तिय मित्त तासु इहु महबलु।
राम भणइ मन करइ विसाऊ, रज्जु न लेसइ तुह कवि भाउ ॥ २७ ॥

इहु संसारु विरत्तु जिणेसरू, मुक्ख सुक्ख कंखिउ परमेसरू।
रज्जु सुक्ख करि मुद्धु जुवंछइ, घोर नरइ सो निवडइ निच्छइ ॥ २८ ॥

पुणवि भणइ हरि रामह अग्गइ, बंधव गय इह पुहवि समग्गइ।
अतुल परिकमु नेमिकुमारू, लेसइ रज्जु न किणइ सहारू ॥ २९ ॥

रामु जणद्दणु पड़िबोहेई कुग्गइ कारण रज्जु कु लेई।
मुद्ध जु बुद्धिवंतु कुवि होइ, अमिउ सुलहि किम्व विसु भक्खेइ ॥ ३० ॥

तो निस्संकु हुअउ गोविंदू, भुंजइ भोग सुहइं सच्छंदू।
नेमिकुमारू विनमिउ सुरिंदहिं, रमइ जहिच्छइ हलि गोविंदिहि ॥ ३१ ॥

अन्न दियहि जायविहिं मिलेवि, भणिउ कुमरु पड़िबंधु करेवि।
परिणिकुमार मणोरवह पूरि पियरह जिम हुइ सुक्खु सरीरि ॥ ३२ ॥

बुल्लइ नेमिकुमारो मिल्लहि असगाहू।
कण्ह माय पिय तुम्हि इउ भणिउ न साहू ॥ ३३ ॥

धूवउ

विसय सुक्खु कहि नरय दुवारू, कहि अनंत सुहु संजम मारु।
भलउ बुरउ जाणंतु विचारइ, कागिणि कारणि कोडि कु हारइ ॥ ३४ ॥

पुरण भणइ हरिगाह करेवी, नेमिकुमारह पय लग्गेवी।
सामिय इक्कु पसाउ करिज्जउ, बालिय काविसरूव परणिज्जउ ॥ ३५ ॥

जिणु बोज्कु जणीयन जंपइ, हरि जाणिउ हउं मन्निउ संपइ।
कवण स होसइ धन्निय नारी, जा अणुहरिसइ नेमिकुमारि ॥ ३६ ॥

हू जाणउ मइं अच्छइ बाली, राममई बहु गुणिहिं विसाली।
उग्गसेण रायं गहि जाइय, रूव सुहाग खाणि विक्खाइय ॥ ३७ ॥

जसु घणुकेस कलावु लुलंतउ, नीलु किरण जालुव्व फुरंतउ।
दीसइ दीहर नयण सहंती, नं निलुप्पल लील हसंति ॥ ३८ ॥

वयणु कमलु नं छण ससि मंडणु, दिक्खवि भुल्लइ धूआ खंडलु।
भणहरु धणहरु मणु मोहेइ, कंचन कलसह लीह न देई ॥ ३६ ॥

सरल बाहु लय कंति विणिज्जिय, नं चंपय लयगयवणि लज्जिय।
जसु सरूवु पत्तिण उत्तासिय नरइ गइयस कत्थ विनासिय ॥ ४० ॥

इय चिणवणु करिहि सा बाल बराविय।
नेमिकुमारह देसि (जुपत्थिय) जायव मेलाविय ॥ ४१ ॥

धूवउ

तुट्ठ रायमई कहवि न माई हलप्फल घरि हिंडई धाई।
हउं पर धन्न इक सुकयत्थिय नेमि कुमारह रेसि जु पत्थिय ॥ ४२ ॥

ए सुमिणेवि मणोरह नासी, जं महु नेमि कुमरु वरु होसी।
नेमि कुमरु पुणु जाणिवि समऊ, लोगंतिय पड़ि बोहिउ अमऊ ॥ ४३ ॥

तिन्नि वरिस सय रहि कुमरत्तिहिं, संवच्छरु जउं देविणु दत्तिहि।
राय सहस परिवुडु गुण गुडउ, उत्तर कुरु सिवयहि आरूढउ ॥ ४४ ॥

उज्जल सिहरि चडेवि वज्जिवि सावज्जइ।
सावण सिय छट्ठी ए पवज्ज पवज्जइ ॥ ४५ ॥

तं निसुणे विणु रायमई चिंतइ, धिगु 'धिगु एहु संसारु।
निच्छय जाणिउ हेव मइं न परणइ नेमि कुमारु ॥ ४६ ॥

जो विहुयण रूपिण करि घडियउं, जं वन्नंतु कुरुवि लडखडिउ।
सुर रमणी हवि जो किर दुल्लहु, सो किम्व हुइ महु मुद्धिय वल्लहु ॥ ४७ ॥

पुणरवि चिंतइ रायमई जइ हउं नेमिकुमारिण मुक्कि।
तुवि तमु अज्जवि पयसरणु इहु मणि निच्छउ लोयणु थक्कि ॥ ४८ ॥

अह जिणवर बारवइ भमंणह परमन्निग पाराविय संतह।
दिण चउपन्नह अंति असोअह मावस केवलु हुयउ असोयह ॥ ४६ ॥

तो मुण साहुखि सावय साविय, गुणमखि रोहण जिणमय भाविय ।
इहु पहुचउ विहु तित्थु पवित्तउ, नाग चरण दंसिखिहि पवित्तउ ॥ ५० ॥

रायमई पहु पाय नमेविणु नेमि पासि पवज्ज लहेविणु ।
परम महासई सील सभिद्धिय नेमिकुमारह पहिलउं सिद्धिय ॥ ५१ ॥

नेमि जिणुवि भवियणु पडिबोहिवि, सूरुं जेम्व महि मंडलु सोहिवि ।
आसाढट्ठंमि सुद्धि मुखिसरू, संपत्तउ सिद्धिहिं परमेसरू ॥ ५२ ॥

सिरि जिणवइ गुरू सीसिंइ इहु मण हर मासु ।
नेमिकुमारह रहउ गखि सुमइण रासु ॥ ५३ ॥

सासण देवी अंबाई इहु रासु दियंतह ।
विग्घु हरउ सिग्घू संघह गुणवंतह ॥ ५४ ॥

इति श्री नेमिकुमार रासक । पंडित सुमति गखि विरचितः ॥

———

रेवंतगिरिरास

परिचय

कवि विजयसेन सूरि कहते हैं कि मैं परमेश्वर तीर्थंश्वर को प्रणाम कर और अंबिका देवी को स्मरण करके रेवंतगिरिरास का वर्णन करूँगा। पश्चिम दिशा में मनोहर देव-भूमि के समान सुंदर गाँव, पुर, वन, सरिता, तालाब आदि से सुशोभित सोरठ देश है। वहाँ मरकत-मणि के मुकुट के समान शोभायमान रेवंत गिरि (गिरिनार) शोभा देता है जहाँ निर्मल यादव कुल के तिलक के समान स्वामी नेमि कुमार का निवास है।

गुर्जर धरा की धुरी रूप धोलका में वीर धवलदेव के राज्य में पोरवाड़ कुल के मंडन और आसाराज के नंदन वरमंत्री वस्तुपाल और तेजपाल दो भाई थे। आचार्य विजयसेन सूरि का उपदेश पाकर दोनों नररत्नों ने धर्म में दृढ़भाव धारण किया। तेजपाल ने गिरनार की तलहटी में प्याऊ, गृह एवं उपवन से सुसज्जित तेजलपुर बसाया। उसने इस नगर के आसाराज विहार में अपनी माता के नाम पर कुमर सरोवर निर्मित कराया।

गिरनार के द्वार पर स्वर्णरेखा नदी के तीर एक विशाल वनराजि थी जिसमें अगुरु, अंजन, आम्बली, अगर, अशोक, कडाह, कदम्ब, कदली, बकुल वड, सहकार, सागवान इत्यादि अनेक प्रकार के वृक्ष लहरा रहे थे। वहां घोर वर्षाकाल में वरमंत्री वस्तुपाल ने संघ की कठिन यात्रा बुलाकर एकत्र की और मानसहित वापस भेजा।

द्वितीय कडवक में गुर्जर देश के भूपाल कुमारपाल का वर्णन है जिसने श्रीमाल कुंड में उत्पन्न आँबड़ को सोरठ का दंडनायक नियुक्त किया। दंडनायक ने गिरनार पर विशाल सोपान-पंक्ति बनवाई। सोपान द्वारा ज्यों-ज्यों भक्त गिरनार के शिखर पर चढ़ता जाता है त्यों-त्यों सांसारिक वासनाओं से दूर हटता जाता है। ज्यों-ज्यों उसके अंगों पर निर्झर का जल बहता है त्यों-त्यों कलियुग का मल घटता जाता है। अब कवि गिरनार के शिखर का वर्णन करता है। मेघजाल एवं निर्झर से रमणीय यह शिखर भ्रमर अथवा कज्जल सम श्यामल है। यहाँ विविध धातुओं से सुवर्णमय मेदिनी जाज्वल्यमान हो रही है और दिव्य औषधियाँ (वनस्पतियाँ) प्रकाशमान हैं। विविध पुष्पों से परिपूर्ण भूमि दसों दिशाओं में तारामंडल

के समान दीख पड़ती है। वहां प्रफुल्ल लवली कुसुमदल से प्रकाशित, सुरमहिला (अप्सरा) समूह के ललित चरणतल से ताड़ित, गलित स्थल कमल के मकरंद जल से कोमल, विपुल श्यामल शिलापट्ट शोभित हैं। वहाँ मनोहर गहन वन में किन्नर किलकारी करते हुए हँसते हैं और नेमिजिनेश्वर का गीत गाते हैं। जिस भूमि के ऊपर स्वामी नेमिकुमार का पदपंकज पड़ा हुआ है वह भूमि धन्य है। इस पवित्र भूमि का दर्शन उन्हीं को होता है जो अन्न एवं स्वर्ण के दान से कर्म की ग्रन्थि क्षय कर डालते हैं।

गुर्जर धरा में अमरेश्वर जैसे श्री जयसिंहदेव ने सोरठ के राव खंगार को पराजित कर वहां का दंडनायक साजन को बनाया। उसने नेमिजिनेन्द्र का अभिनव भवन बनवाया।

उत्तर दिशा में कश्मीर देश है। वहाँ से नेमिकुमार के दर्शनार्थ अजित और रत्न नामक दो बंधु संघाधिप होकर आए। उन्होंने कलश भर कर ज्योंही नेमिप्रतिमा को स्नान कराया त्यों ही प्रतिमा गल गई। दोनों भाइयों को परम संताप हुआ और उन्होंने आहार-त्याग का नियम ग्रहण किया। इक्कीस अनशन के उपरांत अम्बिका देवी आईं। उन्होंने मणिमय नेमि-प्रतिमा प्रदान कर देवस्थापन की आज्ञा दी। दोनों भाइयों ने पश्चिम दिशा में एक भवन का निर्माण किया और इस प्रकार अपने जन्म-जन्मांतर के दुखों को विनष्ट कर डाला।

इस शिखर पर मंत्रिवर वस्तुपाल ने ऋषभेश्वर का मंदिर बनवाया और विशाल इंद्र मंडप का देपाल मंत्री ने उद्धार कराया। यहां गयंदम कुंड, गगन गंगा, सहस्राराम आम्रवन अत्यंत शोभायमान हैं। यहाँ अम्बिका देवी का रमणीय स्थान है। जो जन अवलोकन शिखर, श्यामकुमार, प्रद्युम्न अष्टापद नंदीश्वर का दर्शन करता है उसको रेवंत शिखर के दर्शन का फल प्राप्त होता है। कवि कहता है कि ग्रहगण में सूर्य का एवं पर्वतों में मेरुगिरि का जो स्थान है वही स्थान त्रिभुवन के तीर्थों में रेवंतगिरि का है। जो भक्त नेमिजिनेश्वर के उत्तम मंदिर में धवल ध्वज, चमर, मंगल-प्रदीप, तिलक, मुकुट, हार, छत्र आदि प्रदान करते हैं वे इस संसार के भोग भोग कर दूसरे जन्म में तीर्थंश्वर श्री का पद प्राप्त करते हैं।

इसके उपरांत इस गिरि के दर्शन की महिमा का वर्णन है। जो लोग विजयसेन सूरि का रचा हुआ यह रास रंग से रमते हैं उनके ऊपर नेमिजिन प्रसन्न होते हैं। उनके मन की इच्छायें अम्बिका पूर्ण करती हैं।

———

रेवंतगिरि-रासु

विजयसेन सूरिकृत सं० १२८७

प्रथमं कडवम्

परमेसर-तित्थेसरह, पय-पंकय पणमेवि।
भणिसु रासु-रेंवतगिरे, अंबिक-दिवि सुमरेवि॥ १

गामागर-पुर-वण-गहण-, सरि-सरवरि सु-पएसु।
देव-भूमि दिसि-पच्छिमह, मणहरु सोरठ-देसु॥ २

जिणु (जणु) तहि मंडल-मंडणउ, मरगय-मउड-मंहतु।
निम्मल-सामल-सिहर-भरे, रेहइ गिरि रेवंतु॥ ३

तसु-सिरि सामिउ सामलउ, सोहग-सुंदर-सारु।
जाइव निम्मल-कुल-तिलउ, निवसइ नेमि-कुमारु॥ ४

तसु मुह-दंसणु दस-दिसि वि, देस-देसंतरु संघ।
आवइ भाव-रसाल-मण, उहलि (?) रंग-तरंग॥ ५

पोरुयाड-कुल-मंडणउ, नंदणु आसाराय।
वस्तुपाल वर-मंति तहिं, तेजपालु दुइ भाय॥ ६

गुरजर-धर धुरि धवलकि (?), वीरधवलदेव-राजि।
बिहु बंधवि अवयारिउ, सू (स) मु दूसम-माझि॥ ७

नायल-गच्छह मंडणउ, विजयसेण-सूरिराउ।
उवएसिहि बिहु नर-पवरे, धम्मि धरिउ दिढु भाउ॥ ८

तेजपालि गिरनार-तले, तेजलपुरु निय-नामि।
कारिउ गढ-मढ-पव-पवरु, मणहरु धरि आरामि॥ ९

तहि पुरि सोहिउ पास-जिणु, आसाराय-विहारु।
निम्मिउ नामिहि निज-जणणि, कुमर-सरोवरु फारु॥ १०

तहि नयरह पूरव-दिसिहि, उग्रसेण-गढ-दुग्गु।
आदिजिणेसर-पमुह-जिण-, मंदिरि भरिउ समग्गु॥ ११

बाहिरि-गढ दाहिण-दिसिहि, चउरिउ-वेहि विसालु।
लाडुकलह (?) हिय-ओरडीय, तडि पसु-ठाइ (?) करालु ॥ १२

तहि नयरह उत्तर-दिसिहि, साल-थंभ-संभार।
मंडण-महि-मंडल-सयल, मंडप दसह उसार ॥ १३

जोइउ जोइउ भविय (य) ण, पेमिं गिरिहि दुयारि।
दामोदरु हरि पंचमउ, सुवन्नरेह-नइ-पारि ॥ १४

अगुण (?) अंजण अंविलीय, अंबाडय अंकुल्लु।
उंबरु अंबरु आमलीय, अगरु असोय अहल्लु ॥ १५

करवर करपट करुणतर (?), करवंदी करवीर।
कुडा कडाह कयंब कड करव कदलि कंपीर ॥ १६

वेयलु वंजलु वउल वडो, वेडस वरण विडंग।
वासंती वीरिणि विरह, वंसियालि वण वंग ॥ १७

सींसमि सिंवलि सिर (स) समि, सिंधुवारि सिरखंड।
सरल सार साहार सय, सागु सिगु (?) सिण दंड ॥ १८

पल्लव-फुल्ल-फलुल्लसिय, रेहइ ताहि (?) वणराइ।
तहि उज्जिल-तलि धम्मियह, उल्लटु अंगि न माइ ॥ १९

बोलावी संघह तणीय कालमेघन्तर-पंथि (?)।
मेल्हविय (?) तहिं दिढ धणीय, वस्तपाल वर-मंति ॥ २०

द्वितीयं कडवम्

दु (ह) विहि गुज्जर-देसे रिउ-राय-विहंडणु,
कुमरपालु भूपालु जिण-सासण-मंडणु ॥
तेण संठाविओ सुरठ-दंडाहिवो, अंबओ सिरे-सिरिमाल-कुल-संभवो ॥
पाज सुविसाल तिणि नठिय (?) अंतरे धवल पुणु परव मराविय ॥
धनु सु धवलह भाउ जिणि (?) पाग पयासिय,
बार-बिसोतर-वरसे जसु जसि दिसि वासिय १

जिम जिम चडइ तडि कडणि गिरनारह,
तिम तिम ऊडइं जण भवणसंसारह ॥
जिम जिम सेउ-जलु अंगि पालट ए,
तिम तिम कलिमलु (?) सयलु ओहट्ट ए ॥
जिम जिम वायइ वाउं तहि निज्झर-सीयलु,
तिम तिम भव दुह दाहो तरकणि तुट्टइ निचलु २

कोइल-कलयलो मोर-केकारवो, सुंमए महुयरमहुरु गुंजारवो ॥
पाज चंडतह सावयालोयणी, लाखारासु (?) दिसि दीसए दाहिणी ॥
जलद-जाल-वंबाले नीझरणि रमाउलु,
रेहइ उज्जिल-सिहरु अलि-कज्जल-सामलु ॥ ३

वहल-वुहु (?) धातु-रस-भेउणी, जत्थ उलदलइ सोवन्नमइ मेइणी ॥
जत्थ दिप्पंति दिवोसही सुंदरा, गुहिर वर गरुय गंभीर गिरि-कंदरा ॥
जाइ-कुदुं-विहसन्तो जं कुसुमिहि संकुलु,
दीसइ दस-दिसि दिवसो किरि तारा-मंडलु ॥ ४

मिलिय-नवलवलि-दल कुसुम-झलहालिया,
ललिय-सुरमहिवलय-चलण-तल-तालिया ॥
गलिय-थलकमल-मयरंद-जल-कोमला,
विउल सिल-वट्ट सोहंति तहि संमला ॥
मणहर-घण वण-गहणे रसिर-हसिय-किंनरा,
गेउ मुहुरु गायतो सिरि-नेमि-जिणेसरा ॥ ५

जत्थ सिरि-नेमि-जिणु अच्छप अच्छरा,
असुर-सुर-उरग-किंनरय-विज्जाहरा ॥
मउड-मणि-किरण-पिंजरिय-गिरि-सेहरा,
हरसि आवंति वहु-भत्ति-भर-निब्भरा ॥
सामिय-नेमि-कुमार-पय-पंकय-लंबिउ,
धर-धूल विजिण धन्न मन पूरइ वंछिउ (?) ६

जो भव कोडाकोडिड (?) अनु सोवन्नु धणु दाणु जउ दिज्जए ॥
सेवउ जड-कम्मघण-गंठि जउ तिज्जए,
तउ (?) उज्जिंतसिहरु पाविज्जए ॥

जम्मणु जोव जाविय तसु तहि कयत्थू
जे नर उज्जिंत-सिहरु पेरकइ वरतित्थू
आसि गुरजर-धरय (?) जेण अमरेसरु,
सिरि जयसिंघ-देउ (?) पवर-पुहवीसरु ॥
हणवि सोरठु तिणि राउ खंगारउ, ठविउ साजण (उ) दंडाहिवं सारउ ॥
अहिणवुनेमि-जिणिंद तिणिभवणु कराविउ,
निम्मलु चंदरु विंबे निय-नाउं लिहाविउ ॥ ८

थोर-विरकंभ वायं भ-रमाउलं, ललिय-पुत्तलिय कलस-कुल-संकुलं ॥
मंडपु दंड घणु तुंगतर तोरणं,
धवलिय वज्झि रुणझणिरि किंकणि-घणं ॥
इक्कारसय सहीउ पंचासीय वच्छरि,
नेमि भुयणु उद्धरिउ साजणि नर-सेहरि ॥ ९

मालव-मंडल-मुह-मुह-मंडणु-भावड-साहु दालिधु खंडणु ॥
आमलसार सोवन्नु तिणि कारिउ,
किरि गयणगण-सूरु अवयारिउ ॥
अवर-सिहर-वर कलस झलहलइ मणोहर,
नेमि-भुयणि तिणि दिट्ठइ दुह गलइ निरंतर ॥

तृतीयं कडवम्

दिसि उत्तर कसमीर-देसु नेमिहि उम्माहिय,
अजिउ रतन दुइ बंध गरुय संघाहिव आविय ।
हरसवसिण घण-कलस भरिवि ति (ह) न्हवणु करंतह,
गलिउ लेवमु नेमि-विंबु जलधार पडंतह
संघाहिवु संघेण सहिउ निय मणि संतविउ,
हा हा धिगु धिगु मह विमलकुलगंजणु आविउ
सामिय-सामल-धीर-चरण मह सरणि भवंतरि,
इम परिहरि आहार नियमु लइउ संघ-धुरंधरि

एकवीसि उपवासि तासु अंबिक-दिवि आविय,
पभणइ सपसन्न दवि जयजय सद्दाविय
उट्ठेविणु सिरि-नेमि-बिंबुतुलिउ (?) तुरंतउ,
पच्छलु मन जोएसि वच्छ तुं भवणि वलंतउ ॥
एइवि अंबि (क-देवि) कंचण-वलाणइ,
(सिरि नेमि) बिंबु मणिमउ तहि आणइ ॥
पढम भवणि देहलिहि देउ छुडिपुंड आरोविउ,
संघाविहि हरिसेण तम दिसि पच्छलु जोइउ ॥ ४

ठिउ निचलु देहलिहि देवु सिरि-नेमि-कुमारो,
कुसुम-वुट्ठिमिल्हेवि देवि किउ जइजइकारो
वइसाही-पुंनिमह पुंनवतिए जिणु थप्पिउ,
पच्छिम दिसि निम्मविउ भवणु भव दुह तरु कप्पिउ ।
न्हवण-विलेवण-तणीय वंछ भवियण-जण पूरिय,
संघाहिव सिरि-अजितु रतनु नियदेसि पराइय ॥
सयल विपत्ति कलि-कालि-काल-कलुसे जाणवि छाहिउ,
झलहंलति मणि-बिंब-कंति अंबि कुरु आइय ॥ ६

समुद्दविजय-सिवदेवि-पुत्तु जायव कुल-मंडणु जरासिंध-दल
मलणु मयणु मयण-भड-माण-विहंडणु ।
राइमइ-मण हरणु रमणुसिव-रमणि मणोहरु,
पुनवंत पणमंति नेमि-जिणु सोहग-सुंदरु ।
वस्तपालि वरमंति भूयणु कारिउ रिसहेसरु;
अट्ठावय-संमेयसिहर-वरमंडपु मणहरु ।
कउडि-जक्खु[1] मरुदेवि दुह वितुंगु पासाइउ,
धम्मिय सिरु धूणंति देव वलिवि (?) पलोइउ ।
तेजपालि निम्मविउ तत्थ तिहुयण-जण-रंजणु
कल्याणउ-तउ-तुंगु-भुयणु लंघिउ-गयणंगणु ।
दीसइ दिसि दिसि कुंडि कुंडि नीझरण उमाला,
इद्रमंडपु देपालि मंत्रि उद्धरिउ विसालो ।
अइरावण-गयराय-पाय-मुद्दा-समटंकिउ,

---

१. पाठा०-जरकु ।

दिट्ठु गयंदमु (?) कुंड विमलु निज्झर-समलंकिउ ।
गउणगंग जं सयल-तित्थ-अवयारु भणिज्जइ,
पक्खा[1]लिवि तहि अंगु दुक्ख[2] जल-अंजलि दिज्जइ ।
सिंदुवार-मंदार-कुरबकं (?) कुंदिहि सुंदरु;
जाइ-जूह-सयवत्ति-विन्निफलेहि (?) निरंतरु ॥
दिट्ठ य छत्रसिल-कडणि अंबवण सहसारामु,
नेमि-जिणेसर-दिक्ख[3]-नाण-निव्वाणहठामु ॥ ३११

चतुर्थ कडवम्

(गिरि) गरुया (ए) सिहरि चडेवि, अंब-जंबाहिं बंबालिउं ए ।
संमिणि (?) (णि) ए अंबिकदेवि, देउलु दीठु रम्माउलं ए ॥ १

वज्जइ एताल कंसाल. वज्जइ मद्दल गुहिर-सर ।
रंगिहि नचइ वाल, पेखिवि अंबिक-मुह कमलु ॥ २

सुभ-करु एक ठविउ उछंगि, विभकरो नंदणु पासिक (?) ए ।
सोहइ एऊजिलि-सिंगि, सामिणि सीह सिघासणी ए ॥ ३

दावइ ए दुक्खहं[4] भंगु, पुरइ ए वंछिउ भवियजण ।
रक्खइ[5] ए उविहु संघु सामिणि सीह-सिघासणी ए ॥ ४

दस दिसि ए नेमि-कुमारि, आरोही अवलोइ (य) उं ए ।
दीजइ ए तहि गिरनारि, गयणांगणु (?) अवलोण-सिहरो ॥ ५

पहिलइ ए सांब-कुमारु, बीजइ सिहरि पज्जून पुण ।
पणमइं ए पामइं पारु, भवियण भीसण-भव-भमण ॥ ६

ठामि (हि) ए ठामि (रयण) सोवन्न बिंवं जिणेसर तहिं ठविय ।
पणमइ ए ते नर धन्न, जे न कलि-कालि मल-मयलिय ए ॥ ७

---

१. पाठा० परका । २. पाठा० दुरक । ३. पाठा० दिरक ।
४. पाठा० दुरकहं । ५. पाठा० ररकइ ।

जं फलु ए सिहर-समेय, अठ्ठावय-नंदीसरिहिं ।
तं फलु ए भवि पामेइ, पेखेविणु रेवंत-सिहरो ॥ ८

गह-गण-ए माहि (?) जिम भाणु-पव्वय-माहि जिम मेरुगिरि ।
त्रिहु भुयणे तेम पहाणु तित्थं-माहि रेवंतगिरि ॥ ९

धवल धय चमर भिंगार, आरत्ति मंगल पईव ।
तिलय मउड कुंडल हार, मेघाडंबर जावियं (?) ए ॥ १०

दियहिं नर जो (पवर) चंद्रोय, नेमि-जिणेसर-वरभुयणि ।
इह-भवि ए भुंजवि भोय, सो तित्थेसर-सिरि लहइ ए ॥ ११

चउ-विहु ए संघु करेइ, जो आवइ उज्जित-गिरि ।
दिविस वहू (?) राणु करेइ, सो मुंचइ चउगइ-गमणि ॥ १२

अठ-विह ए ज्ञय (?) करंति, अठ्ठाई जो तहि करइ ए ।
अठ-विह एकरम हरणंति सो, अट्ठ-भावि सिज्झाइ (?) ॥ १३

अंबिल ए जो उपवास, एगासण नीवी करइं ए ।
तसु मणि ए अच्छइं आस, इह-भव पर-भव विहव-परे ॥ १४

पेमिहि मुणि-जण अन्न (ह), दाणु धम्मियवच्छलु करइं ए ।
तसु कही नहीं उपमाणु, परभाति सरण तिणउ (?) ॥ १५

आवइ ए जे न उज्जिति, घर-धरइ धंधोलिया ए ।
आविही ए हीयह न जं (? सं) ति, निप्फलु जीविउ तास तणउं ॥ १६

जीविउ ए सो जि परि धन्नु, तासु समच्छर निच्छणु ए ।
सो परि ए मासु परि (?) धन्नु, वलि हीजइ नहि वासर (?) ए । १७

ज (जि) ही जिणु ए उज्जिल-ठामि, सोहग-सुदर सामलु (ए) ।
दीसइ ए तिहूण-सामि, नयण-सलूणउं नेमि-जिणु ॥ १८

नीझर (ण) ए चमर ढलंति, मेघाडंबर सिरि धरीइं ।
तित्थह ए सउ रेवदि, सिहासणि जयइ नेमि-जिण ॥ १९

रंगिहि ए रमइ जो रासु, (सिरि) विजयसेण-सूरि निंमविउ ए ।
नेमि-जिणु तूसइ तासु, अंबिक पूरइ मणि रली ए ॥ २०

॥ समत्तु रेवंतगिरि-रासु ॥

गयसुकुमाल रास

परिचय

इस रास के रचयिता श्री देल्हड़ श्वेताम्बर-श्रावक प्रतीत होते हैं। रचयिता ने श्री देवेन्द्र सूरि के वचनानुसार इसकी रचना की। श्री देवेन्द्रसूरि सम्भवतः तपागच्छ के संस्थापक जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। जगचन्द्रसूरि का समय सं० १३०० वि० के सन्निकट है। अतः इस रास का रचना काल १३वीं शताब्दी माना जा सकता है।

इस रास में गजसुकुमार मुनिका चरित्र वर्णित है। कवि प्रारम्भ में रत्न-विभूषित श्रुतदेवी को प्रणाम करता है जिनके हाथ में पुस्तक और कमल हैं और जो कमलासन संस्थिता है। अब कवि समुद्र के उपकंठ में बसी स्वर्ण एवं रत्नों से सजी द्वारावती नगरी का वर्णन करता है। उस नगरी पर कृष्णनरेन्द्र का राज्य है जो इन्द्र के समान शोभायमान हो रहे हैं। जिन्होंने नराधिप कंस का संहार किया जिन्होंने मल्ल और चाणूर को विदीर्ण किया। जरासिन्धु को जिन्होंने पछाड़ा। उनके पिता वसुदेव वररूप के निधान थे और उनकी माता देवकी गुणों से परिपूर्ण थीं। उनको देवता भी मस्तक झुकाते थे। वे नित्य मन्दिर जाती थीं जहाँ जुगल मुनि आते। जुगल मुनि के समान पुत्र की देवकी को इच्छा हुई। वह नेमिकुमार के पास चली गई और उनसे अपनी मनोकामना प्रकट की। मुनि नेमिकुमार के आशीर्वाद से उनको पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम गय सुकुमाल रखा गया। गयसुकुमाल के जन्म से सारे लोक में आनन्द छा गया। किन्तु बाल्यकाल में ही गयसुकुमाल विरक्त हो गया। जिन वर नेमिकुमार को स्मरण कर गयसुकुमार ने कार्योत्सर्ग किया और द्वारावती के बाहर एक उद्यान में तप करने लगे। जिस प्रकार खरपवन से सुरगिरि हिल नहीं सकता उसी प्रकार संसार की किसी बात से मुनि का ध्यान नहीं विचलित होता। तप करते करते अन्त में उनको शुभ शिव का स्थान प्राप्त हो गया।

गजसुकुमाल मुनि का चरित्र प्राचीन जैनागम अंतगडदसा सूत्र में पाया जाता है। उसी के आधार पर यह काव्य विरचित प्रतीत होता है।

[इस रास के रहस्य को भली प्रकार समझने के लिये द्वारिका में घटित होने वाली एक घटना को समझ लेना चाहिए। माता देवकी के एक ही पुत्र कृष्ण था। एक बार अरिष्टनेमी मुनि द्वारका पधारे और उन्होंने कृष्ण के ६ भाइयों को जो मुनिकुमार हो गए थे, दो दो की टोली में माता देवकी के पास भिक्षार्थ भेजा। वे मुनिकुमार रूप में एक दूसरे से इतना साम्य रखते थे कि माता देवकी ने उन्हें एक ही समझा। अतः उन्हें शका हुई कि अरिष्टनेमी मुनि बार-बार इन्हीं दोनों साधुओं को भिक्षा लेने के निमित्त मेरे पास क्यों भेजते हैं। अरिष्टनेमी के पास जाकर वे शंका निवारण के लिए पूछने लगी—'भगवन्, ये दोनों साधु बार-बार एकही घर में भिक्षा के लिए क्यों आते हैं?' भगवान ने यह रहस्योद्घाटन किया कि एक समान रूपवाले ये छवों भाई तुम्हारे पुत्र हैं। देवकी ने अपना दुख प्रकट किया कि मैं ७ पुत्रों की जननी हुई, पर मैं एक पुत्र की भी बाल-क्रीड़ा न देख सकी। मेरी अभिलाषा है कि एक पुत्र की बाल—लीला देखने का सुख मुझे प्राप्त हो। मुनि के आशीर्वाद से कृष्ण का लघु भ्राता उत्पन्न हुआ। हाथी के तलवे के सदृश सुकुमार होने से उसका नाम गजसुकुमार रखा गया। वह बालक बाल्यावस्था में ही अरिष्ट मुनि से दीक्षा लेकर साधु बन गया।]

गयसुकुमाल रास

देवेन्द्रसूरिकृत सं० १३०० वि० के आसपास

पणमेविणु सुयदेवी सुयरयण-विभूसिय ।
पुत्थय कमल-करीए कमलासणि संठिय ॥ १ ॥

पभणउं गयसुमार—चरित्तू
पुव्विं भरह—खिति जं वित्तू ।
जु उज्जिल पुन्न—पएसू ॥ २ ॥

तह सायर-उवकंठे वारवइ पसिद्धिय ।
वर कंचण धण धन्नि वर रयण समिद्धिय ॥ ३ ॥

वारह जोयण जसु वित्थारू
निवसइ सुन्दरु गुणिहि विसालू ।
वाहत्तरि कुल कोडि विसिट्ठो ।
अन्नवि सुहड रणंगणि दिट्ठो ॥ ४ ॥

नयरिहि रज्जु करेई तहि कन्हु नरिंदू ।
नरवइ मंति सणाहो जिव सुरगणि इंदू ॥ ५ ॥

संख चक्क गय पहरण धारा
कंस नराहिव कय संहारा ।
जिणि चाणउरि मल्लु वियारिउ
जरासिंधु बलवंतउ धाडिउ ॥ ६ ॥

तासु जणउ वसुदेवो वर रूव निहाणू ।
महियलि पयड पयावो रिउ भड तम भाणू ॥ ७ ॥

जणणिहि देवइ गुण संपुन्निय
नावइ सुरलोयह उत्तिन्निय ।
सा निय मंदिरि अच्छइ जाम्व
तिन्नि जुयल मुणि आइय ताम्व ॥ ८ ॥

सिरिवच्छकिय वच्छे रूविं विक्खाया ।
चिंतइ धन्निय नारी जसु एरिस जाया ॥ ९ ॥

मुणिवर सुंदर लक्खण सहिया
महसुय कंसि कयच्छि गहिया ।
बारवई मुणि विंभउ इत्थू
कहि वलिवलि मुणि आयउ इत्थू ॥ १० ॥

पूछइ देवइता पभणहि मुनिवर ।
ताम्वा (अम्ह) सम रूव सहोयर ॥ ११ ॥

सुलस सराविय कुक्खि धरिया
जुव्वण विसय पिसाई नडिया ।
सुमरिउ जिणवरु नेमिकुमारू
तसु पय मूलि लयउ वय भारू ॥ १२ ॥

पुत सिणेहि ताम्वा देवइ दुल्लइ मणु ।
जसु करि कंकण होई तसु कयसु संदप्पणु ॥ १३ ॥

जाइवि पुच्छइ नेमिकुमारू,
संसउ तोडइ तिहुयण सारू ।
पुव्वि छच्च रयण तइ हरिया,
विणि कारणि तुह सुय अवहरिया ॥ १४ ॥

कंसु वि होइ निमित्तू वर करह करेई ।
सुलस सराविय ताम्बा सुरु अल्लइ नेई ॥ १५ ॥

देवइ मुणिवर वंदइ जाम्व,
हरिस विसाउ धरइ मणि ताम्व ।
सुलस सधन्निय जसु घारि तहिय,
हउं पुण वाल विउइहि दद्धिय ॥ १६ ॥

रहु वालाविउ ता...............
.........रिसिय नारी पिच्छइ काई ॥ १७ ॥

खिल्लावइ मल्हावइ जाम्व,
देवइ मण दुम्मण हुई ताम्व ।
तं पिक्खिय अहिय परं सूरइ,
वासुदेउ मण वंछिउ पूरइ ॥ १८ ॥

सुभरइ अमर नरिंदो मह देहि सहोयरू ।
सयल गुणेहिं जुत्तो निय जणणि मणोहरु ॥ १९ ॥

बुज्झइ सुरु सुरलोयह चविसी,
देवइ कुक्खि सो संभविसी।
जायउ सुन्दरु गुणिहिं विसालू,
नामु ठविउ तस गयसुकुमालू॥ २० ॥
साहिय सहिय कलाउ सतुट्ठउ लोयह।
जुव्वण समय पहुत्तो नवि इच्छइ धूयह॥ २१ ॥

सोम मरूव धूव परिणाविय,
जायवि तहि जन्न तह आविय।
नचइ हरिसिय वज्जहिं तूरा,
देवइ ताम्व मणोरह पूरा॥ २२ ॥

तावह गयसुकुमालो संसार-विरत्तउ।
निहणिवि मोह-गइंदो जिण-पासि पहुत्तउ॥ २३ ॥

पणमिवि तिन्नि पयाहिण देइं,
धंमु सुणइ सो करु जोडेइं।
पुण पडिवोहिउ नेमि जिणिंदं,
जायवकुल नहयल जयनंदं॥ २४ ॥

काम गइंद मइंदो सिवदेविहि नंदणु।
देसण करइ जिणिंदो सिवपुर पह संदणु॥ २५ ॥

मोह महागिरि चूरण वज्जू,
भव तरुवर उम्मूलण गज्जू।
सुमरिवि जिणवरु नेमिकुमारु,
गयसुकुमारु लेइ.......वय भारू॥ २६ ॥

ठिउ काउसग्गिं ताम्व जाएवि मसाणे।
बारवई नयरीए बाहिर उज्जाणे॥ २७ ॥

तंमि सु दियवरु कुवियउ पेक्खइ,
तहिरिय जल पज्जालिउ दिक्खइ।
अम्ह धुय विनडिय परिणिय जेणु,
अभिनउ तसु फलु करउं खणेण॥ २८ ॥

तावह गयसुकुमाला सिरि पालि करेई।
दारुण खयर अंगारा सिरि पूरणले ई॥ २९ ॥

डज्झइ मुणिवरु गयसुकुमालू,
अहिणउ दिक्खउ गुणिहि विसालू।
जिव खर पवण न सुरगिरि हल्लइ,
तिव खणु इक्कु न झाणह चल्लइ ॥ ३० ॥

अवराहेसु गुणेसू किर होइ निमित्तू।
सहजिय पुव्व कयाइ हुय इवि थिर चित्तू॥ ३१ ॥

अहिया सइ मुणि गयसुकुमालू,
निहुंरु डज्झइ कम्मह जालू।
अंतगडिवि उप्पाडिउ नाणू,
पाविउ सासय सिव-सुह ठाणू॥ ३२ ॥

सिरि देविंदसूरिंदह वयणे,
खमि उवसमि सहियउ ।
गयसुकुमाल.......चरित्तू,
सिरि देल्हणि रइयउ ॥ ३३ ॥

एहु रासु सुहडेयह जाई।
रक्खउ सयलु संघु अंबाई।
एहु रासु जो देसी गुणिसी,
सो सासय सिव-सुक्खइं लहिसी ॥ ३४ ॥

॥ गयसुकुमाल रास समाप्त ॥

आबू रास

परिचय

[गुर्जर देश में अनेक वापी सरोवर आदि से विभूषित चन्द्रावती नगर है। वहाँ सोम नाम का राजा राज्य करता है। उसके राज्य में पुण्यमय आबू नामका गिरिवर है। वहीं अचलेश्वर श्री माता ऋषभ जिनेन्द्र स्वामिनी अम्बा देवी का स्थान है। वह विमल मंत्री धन्य है जिसने यह मन्दिर बनवाया।

गुजरात देश में लवण प्रसाद नाम का राणा था। उसका पुत्र वीरधवल शत्रु-राजाओं के उर के लिए शल्य था। उसके मंत्री तेजपाल ने आबू पर मन्दिर बनवाने का निश्चय किया और राजा सोम से आबू में मन्दिर-निर्माण की आज्ञा माँगी। सोम ने आज्ञा प्रदान की और वस्तुपाल और तेजपाल ने ठाकुर ऊदल को चन्द्रावती भेजा। वह महाजनों को लेकर देलवाड़े पहुँचा और मन्दिर के लिए स्थान ढूँढने लगा। उसने विमल के मन्दिर के उत्तर की ओर मन्दिर बनवाया। सोमन देव इसका सूत्रधार (Architect) था।]

———

आबू-रास

।। तेरहवीं शताब्दी की प्राचीन कृति ।।

पणमेविणु सामिणि वाएसरि
अभिनवु कवितु रयं परमेसरि
नंदीवर धनु जासु निवासो
पमणउ नेमि जिणंदह रासो ॥ १

गूजर देसह मज्झि पहाणं
चंद्रवती नयरि वक्खाणं
वावि सरोवर सुरहि सुणीजइ
वहु यारामिहि ऊपम दीजइ ॥ २

त्रिग चाचरि चउहट्ट विथारा
पढमंदिर धवळहर पगारा
छत्तिस राजकुळी निवसेई
धनु धनु धम्मिउ लोकु वसेई ॥ ३

राजु करइ तह सोम नरिंदो
निम्मळ सोळ कला जिम चंदो
हिव वण्णउं गिरि पुहवि पसिद्धो–
वहुयहं लोयहं तणउ जु तीथो ॥ ४

घण वणरायहं सजळु सुठाउं
तहिं गिरिवर पुणु आवू नाउं
तसु सिरि बारह गाम निवासो
राठीं गू गुलिया तहि तपसी ॥ ५

तसु सिरि पहिलउ देस सुणींजइ
अचलेसरु तसु ऊपमु दीजइ
तहि छइ देवत बाळ कुमारी
सिरि मा सामिणी कहउ विचारी ॥ ६

विमलहिं ठवियउ पाव निकंदो
तहि छइ सामिउ रिसह जिणिंदो
सानिधु संघह करइ सखेवी
तहि छइ सामिणि अंबा देवी ॥ ७

पुरुव पछिम धम्मिय तहिं आवहिं
उतर दखिण संघु जिणवरु न्हावहिं
पेखहि मंदिरु रिसह रवन्ना ॥ ८

धनु धनु विमळ जेणि कराविउ
ससि मडळि जिणि नाउ लिहाविउ
विहुंसइ वरिसइ अंतरू मुणीजइ
बीजउ नेमिहि भुवणु सुणीजइ ॥ ९

ठवणि

नमिवि चिराणउ थुणि नमिवि वीजा मंदिर निवेसु
पुहविहि माहि जो सलहिजअे उतिम गूजरू देस ॥ १०

सोलंकिय कुल संभमिउ सूरउ जगि जसु वाउ
गूजरात धुर ससुधरणु राणउ लूणपसाउ ॥ ११

परिवलु दलु जो ओडवअे जिणि पेलिउ सुरताणु
राज करइ अन्नय तणओ जासु अगंजिउ माणु ॥ १२

लुण-सा पुतु जु विरधवलो राणउ अरडकमल्लु
चोर चराड़िहि आगलओ रिपुरायह उर सल्लु ॥ १३

भासा

वस्तपालु तसु तणइ महंतउ
सहु परु तेजपाल उदयंतउ
अभिणवु मंदिर जेण करावियि
ठावि ठावि जिण विंव भरावियि ॥ १४

महि मंडलि किय जहि उद्धारा
नीर निवाणिहि सतू कारा

सेत्रुंज सिहरि तळावु खिणाविउ
अणपम-सरु तसु नामु दियाविउ ॥ १५

नितु नितु सुर संघ पूजा कीजइ
छहि दरिसणि घरि दाणुव दीजइ
संघ पुरिस पुहविहि सलहीजइ
राजु बघेला बहु मनि कीजइ ॥* १६

अन दिवसि निय मणि चिंतीजइ
महतइ तेजपालि पभणीजइ
आबू भणि जइ तीथहं ठांउ
जइ जिण-मंदिरु तह नीपावउँ ॥ १७

ठाकुरु ऊदल ताव हकारिउ
कहिय वात कान्हइ बइसारिउ
आबू रिखभह मंदिरु आछइ
महतउ तेजपालु इम पूछइ ॥ १८

बीजउ नेमिहिं भुवण करेसहं
पहितउ सोम नरिंदु पूछिजइ
जइ जिणमंदिर थाहर लहिसहं
कटक माहि जाइवि विनवीजइ ॥ १९

ठवणि

महि तिहि जायवि भेटियउ धावल देवि मझारु
कउ कोडेविणु वीनतओ सोम नरिंद प्रमारु ॥ २०

विनती अम्ह तहं तणिय सामिय तुहु अवधारि
मांगउ थाहर मंदिरह आवुय गिरिहि मझारि ॥ २१

तूठउ थांवल देवि तणउ आगइ कहियउ ओहु
विमलह मंदिर आसनउं विजउ करावहु देव ॥ २२

अम्हि धरि गोठिय आबुयह अगो उछह निवाणु
करिज मंदिर तेजपाल तुहं हियय म धरिजहु काणि ॥ २३

* पाठान्तर—मानोजइ ।

भासा

दिसइ आयसु तह सोम नरिंदो
वस्तपालु तेजपालु अणंदो
जिण संमिय मंदिरु वेगि निपज्जओ
आयसु रोपु दिव ऊदल दीजओ ॥ २४

अइसि उदल्लु चंदावति आवओ
सयळ महाजनु घरि तेडावओ
चालहु हिव आवुइ जाओसहं
जिण मंदिर थाहर भूमि जोओसहं ॥ २५

चलिउ उदल्लु महाजनि सइतउं
आवुय देवल-वाड़इ पहुतउ
ठमि ठमि मंदिर भूमि जायंतओ
मिलिउ मेलावओ आवुय लोयहं ॥ २६

मंदिर थाहर नवि आयेसहं
प्राणिहिं भुवणु करण नवि देसहं
आगओ विमल मंदिर निपन्नओ
सिरया भूमिहिं दीनव दानओ ॥ २७

ठवणि

ऊदल्लु तित्थु पसीय बहु परि मनावइ
राडीवर गूगुलिया वास्तइं पहिरावइ ॥ २८

भासा

अम्हि धुरि गोठिय दिव नेमिनाहा
जिण भूमि खापहु तेइ सुवाहा
विमल मंदिरु-ऊतरदिसि जाम
लइय भूमि तेजपालु वधाविउ ॥ २९

महतइ तेजपाल पभणीजइ
सोभनदउ सुत-हार तेडीजइ

जाइज आवुइ तुहं कमठाअे
वेगिहि जिणमंदिर नीपाअे ॥ ३०

चालिउ पइठ करिउ सुतहारो
भूमि सुवण इक वार अहारो
सोभनदेउ वेगि आवुइ आवइ
कमठा मोहुतु आरंभु करावइ ॥ ३१

ठवणि

मूळग पायार घर पूजिउ कुरू म प्रवेसु
भरिउ गडारउ तहि ज पुरे खरसिल हुयउ निवेसु
आसन्नी तहि ऊर्घडिय पाथर केरिय खाणि
निपणि नु गडारउ मूलिगओ देवलु चडिउ प्रमाणि ॥ •३३

रूपा सरिसउ सम तुलअे दसहिदिसावर जाइ
पाहण तहिं आरासणउ आणिउ तहिं कमठाइ ॥ ३४

सरवरु घाटु जो नीपजअे मंदिर बहु विस्तारि
अतिसइ दीसइ रूवडउ नेमि जिणिंद पयारु ॥ ३५

भासा

सोभन देउ सुतहारो कमठाउ करावइ
सइतउ मंत्रि तेजपालो जिणु बिंब भरावइ
खंभायति वर नयरि बिंब निप्पजअे
रयण मउ नेमि जिणु उपम दीजअे ॥ ३६

दिसंति कंति रमण कंति सामळ धीरा
बहु पंकति बहु सकति जाइ सरीरा
निवसअे बिंबु जो सालह संठिओ
विजयसेण सूरि गुरि पढम पतीठिओ ॥ ३७

निपुनु परिपूरनु सामल-देउ
धणु तेजपालु जिणि आवुय नेओ
धवल सुत सुरहि युत ठविय तहि रहवरे
खडइ सुहडा सुमुहु आवुय गिरवरे ॥ ३८

नयर वर गामह माहिहि आवअे
सइतभविय हो जिण पहेरावअे
आवुय तळवटे रत्थ पहुत्तओ
तणियउ वरणिय पाज चडंतओ ॥ ३९

थड उ थडइ रहु पाज विसमी खरी
वेगि संपत्त अंविक वर अछरि
सानिधं अंवाइय रत्थु चडंतओ
देवलवाडइ दिणि छठइ पहुत्तओ ॥ ४०

ठवणि

आवुय सिहरि संपत्तु देउ पहु नेमि जिणेसरु
वरणसइ सवि विहसणहं लग्ग आइय तित्थेसरु ॥ ४१

उच्छंगिहि जुगादि जिणु जिणु पहिलउ ठविज्जइ
तुहुँ गरुयउ नेमिनाथ विंव तेजपालिहिं कीजइ ॥ ४२

हकारहु वर जोइसिय पइठह दिणु जोयहु
तेड़ावहु चडवियहे संघ पुर पाटण गायहं ॥ ४३

वार संवछरि छियासअे परमेसरु संठउ
चेत्रह तीजह किसिण पक्खि नेमि भुवणहि संठिउ ॥ ४४

वहु आयरिहि पयट्ठ किय वहु भाउ धरंतह
रागु न वद्धइभविय जणहं नेमि तित्थ नमंतह ॥ ४५

आवेहंडावडा तणे जिणु पहिलउ न्हवियउ
पाछइ न्हवियउ सयल संघि तुम्हि पणमुह भवियहु ॥ ४६

रिसभ चित्र अट्ठमि जि नमु तासु कल्याणि कु कीजइ
दसमि तित्थु नेमि जात रेसि संघ पास मंगीजइ ॥ ४७

संघ रहिउ जिणि जात करिवि नमि भुवण विसाला
पूरि मणोरह वस्तुपाल मंती तजपाला ॥ ४८

मूरति वपु असराज तणी कुमरादेवि माया
काराविय नेमि भुवण माहि विहु निम्मल काया ॥ ४९

करावित नेमि भुवणु फलु लयउ संसारे
निसुणह चरितु न दत्ता तेखि धंधूय प्रमारे ॥ ५०

रिखभ मंदिर सासणि जाणुं
धंधुय दिन्नउ डकड वाणिउ गाउं
तिणि सु मसीहि उजालिउ नाउं ॥
नेमिहि दिन्नु उवाणिउ गाउं ॥ ५१

अनेक संघपति आवुइ आवहिं
कनक कपड़ नेमि जिणु पहिरावहिं
पूजहि माणिक मोतीयउ हूले
किवि पूजहि सोगांधिहि फूले ॥ ५२

केवि हु हियड़य भावण भावहिं
केवि हु मं नीणइ आराहहि
केवि चडावळि नेमि नमीजइ
अ सु-वयणु पाल्हण पुज कीजइ ॥ ५३

वार संवछरि नवमासीओ
वसंत मासु रंभाउलु दीहे
ओहु राहु विसतारिहिं जाओ
राखइ सयल संघ अंबाओ ॥ ५४

राखइ जाखु जु आछइ खेडइ
राखइ ब्रह्म संति मूडेरइ ॥ ५५

जिनचंदसूरि फागु

(सं० १३४१ के आसपास)

परिचय

फाल्गुन के महीने में वसन्तागमन के अवसर पर गायाजानेवाला यह काव्य-प्रकार शताब्दियों से प्रचलित रहा है। फागु शब्द की उत्पत्ति फाल्गुन से हुई प्रतीत होती है। फागु दो प्रकार के पाए जाते हैं—जैन फागु एवं जैनेतर फागु। जैन फागुओं में बसन्त की शोभा का लघु वर्णन मिलता है। नायिका के सौन्दर्य का वर्णन मनोहारी अवश्य होता है। अन्त में काम पर विजय पाने का प्रयत्न पाया जाता है।

जिनचंदसूरि फागु सर्व-प्रथम-उपलब्ध फागु माना जाता है। डा० भोगीलाल ज० सांडेसरा का भी यही मत है। इससे पूर्व-रचित फाग अभीतक किसी शोधकर्त्ता को सम्भवतः उपलब्ध नहीं हुआ है।

प्रारम्भ में १६ वें तीर्थंकर स्वामी संतजी को प्रणाम किया गया है। कवि कहता है कि रतिपतिनाथ (कामदेव) ने सबके हृदय को संतप्त कर दिया है और वह राजा के रूप में सबको अपने अधिकार में बुला रहा है। अरी गोरांगी (नायिका), वह बलात् तुम्हें जीतने के लिए आगया है। तुम अपने पति से मिलो। यह मन-मोहक बसन्त आ गया। हमारे इस प्रकार के वचन को भली प्रकार सुनो।

सारांश

देखो—पाटल, वकुल, सेवती, मुचकुन्द, रायपंचक, केवड़ा आदि के समूह विकसित हो रहे हैं। तालाबों में कमल, कुमुद आदि पुष्प शोभित हो रहे हैं। शीतल, कोमल एवं सुरभित दक्षिण पवन चल रहा है। गाँवगाँव में आम्र मंजरी से कोकिला प्रसन्न हो रही है। और उसी स्थल पर बैठकर ऐसी मधुर वाणी बोलती है कि कामदेव बिरहिणी को जला डालता है। उसकी वाणी से कितनों के हृदय में हूक उठती है। इसी कारण अचेतन पक्षी भी जोड़ा बनाने की वार्त्ता चला रहे हैं। इस प्रकार की वसन्त ऋतु देखकर

नारीकुंजर कामदेव आक्रमण कर रहा है। इस कारण सभी स्त्रियाँ विविध प्रकार से शृंगार कर रही हैं। वे सिरपर मुकुट, कानों में कुंडल, कंठ में हार धारण कर रही है। वे केश-विन्यास करती हैं और उनके पाँवों में नूपुर झंकृत हो रहा है।

इसके उपरांत १६ छंद अप्राप्य हैं। छठां खंडित रूप में मिलता है, शेष पूर्णतया लुप्त हैं। पाँचवें के उपरांत इक्कीसवाँ छंद पूर्ण रीति से प्राप्त है।

रणतूर के बजते ही शील नरेन्द्र उठे। इसे देखते ही सकल समुदाय उत्कट रीति से विस्मित हो गया।

मालवा की सुन्दर स्त्रियाँ सब लोगों से कहती हैं कि जो या अत्यन्त भक्ति भावसे श्री जिन चन्द्रसूरि फाग को गायेंगे वे पुरुष और स्त्री सुख मंगल के साथ विहार करेंगे।

जिनचंदसूरि फागु

(सं० १३४१ के आसपास)

अरे पणमवि सामिउ संतजु, सिव वाउलि उरि हारु,
अरे अणहिलवाडामंडणउ सव्वह तिहुयणसारु;
अरे जिणपवोहसूरि पाटिहि, सिरि संजमु सिरि कंतु,
अरे गाइवउ जिणचंद सूरि गुरु, कामलदेवि कउ पूतु। १

अरे हयडऊ तपियउ पैखिवि, न सहए रतिपति नाहु,
अरे बोलावइ वसंतु ज सव्वह रितुह राउ;
अरे आगए तुह बलि जीतओ, गोरड करऊ बालंभु,
अरे इसइं वचनु निसुणेविणु, आगयउ रलिय वसंतु। २

अरे पाडल वालउ वेउल, सेवत्री जाइ मुचकुंदु,
अरे कंदु करणी रायचंपक विहसिय केवडिविंदु;
अरे कमलहि कुमुंदिहि सोहिया, मानस जवलि तलाय
अरे सीयला कोमला सुरहिया वायइं दक्खिणा वाय। ३

अरे पुरि पुरि आंवुला मउरिया, कोइल हरखिय देह,
अरे तहिं ठए टुहकए बोलए, मयणह केरिय खेह
अरे इसइ वसंतिहि हूयए, माघु स केतिय मात्र (?)
अरे अचेतन जे पाखिया, तिन्हु तणी जुगलिय वात। ४

अरे इसउ वसंतु पेखेवि, नारियकुंजरु कामु,
अरे सिगारावए विविह परि, सव्वह लोयह वामु;
अरे सिरि-मउडु, कन्नि कुंडल वरा, कोटिहि नवसरु हारु,
अरे वाहहिं चूडा, पागिहि नेउर कओ झणकारु। ५

अरे सिरिया मोडा लहलहहि कसतूरिय महिवटु,
अरे न··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ट परि हुयउ देवगण भउ।

रिणतूरिहिं वज्जंतिहिं उट्ठिउ शीलनरिन्दु,
देखिवि उतकटु विम्हियउ सयलु वि देखिहि विंदु। २१

अरे द्रेठिहिं द्रेठिहिं दीठए नाठउ रतिपति राउ,
नारीयकुंजरु मेल्हिवि जोयए छाडिय खाल (?) २२

धरणिंदह पायालिहिं पुहविहिं पंडिय लोउ,
जीतउं जीतउं इम भणइ सग्गिहिं सुरपति इंदु। २३

वद्धावणउं करावए सग्गिहिं जिणसरसूरि,
गूजरात पाटण भल्लउं सयलहं नयरहं माहि। २४

मालवा की बाउल भणहि सयलहं लोयहं माहि
सिरिजिणचंदसूरि फागिहिं गायहिं जे अति भावि,
ते बाउल अह पुरुसला, विलसहि विलसहि सिवसुह साथि। २५

कच्छूली रास

परिचय

[रास का आरम्भ पार्श्वजिन को नमस्कार के अनंतर किया गया है। पृथ्वी पर अष्टादशशत नाम का एक देश है जिस पर अग्नि-कुंड से उत्पन्न परमार लोग राज करते हैं। उसी में अनेक तीर्थ-युक्त आबू पर्वत है। उसकी तलहटी में कच्छूली नाम की नगरी थी, जिसमें अनेक सत्यशील कपटकूट-विहीन लोग बसते थे। उसमें हिमगिरि के समान धवल-उज्ज्वल पार्श्वजिन का मन्दिर है। वहाँ लोग विधिपूर्वक पार्श्वजिन के गुण गाते। एकान्तर उपवास करते और दूसरे दिन पारणा करते। श्रावक लोग माणिकप्रभु सूरी की बहुत भक्ति करते। सूरीजी ने अम्बिलादि व्रतों से अपने शरीर को सुखा दिया था। जब उन्होंने अपना अन्तकाल निकट देखा तो (उन्होंने) कच्छूली नगर में आकर बासल के पुत्र को अपने पट्ट पर बिठाया और उनका नाम उदयसिंह सूरी रखा।

उदयसिंह सूरी चड्डावली (चन्द्रावती) पहुँचे जहाँ रावल धंधलदेव राज्य करता था। रावल ने सोचा कि ब्राह्मण, पंडित, तापस सभी हार गए हैं। उदयसिंह को हराने वाला कोई नहीं है। सर्प और बाघ भी इन्हें देख कर दूर हट जाते हैं। उन्होंने भी हार मान ली है। कवालधर नामक एक कालमुह ने भी हार मानी और मान छोड़ कर उनके पैरों की बंदना की। चड्डावली से विहार करते हुए उदयसूरि मेवाड़ पहुँचे। उन्होंने नागद्रह में स्नान किया और आहार में समवसरण किया। उन्होंने द्वीप नगरी में बाद में यह सिद्ध किया कि जिन ने केवली को भक्ति नहीं बताई है; नारी और साधु के लिए सिद्धि कही है। उन्होंने 'पिंड विशुद्धि विवरण' नाम का प्रसिद्ध धर्मग्रंथ बनाया। वे फिर कच्छूली वापस आए। उन्होंने गुर्जरधरा, मेवाड़, मालवा, उज्जैन आदि बहुत से स्थानों में श्रावकों का उद्धार किया और संघ की प्रभावना की। उन्होंने कमल सूरि को अपने स्थान पर बैठाया और अनशन द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध किया। इस प्रकार अन्त में सुरलोक को प्रस्थान किया। सं० १३६३ में कुंरटावड़ (कोरिंटावड़ि) में इस रास की रचना हुई। जो लोग इस रास को पढ़ेंगे अथवा सुनेंगे उनकी सब मनवांछित इच्छा पूर्ण होगी।]

———

कछूलीरासः

प्रज्ञातिलक संवत् १३६३ वि०

गणवइ जो जिम दुरीउविहंडणु रोजनिवारणु तिहूयणमंडणू पणमवि सामीउ पासजिणु ।

सिरिभद्देसरसूरिहिं वंसो बीजीसाहह वंनिसु रासो धर्मीय रोल निवारीउ ।

सग्गषंडु जिम महीयलि जाणउं अठारसउ देसु बपाणउं गोउलि धन्नि । रमाउलउ ॥

अनलकुंडसंभम परमार राजु करइं तहिंछे सविचार आबूगिरिवरु तहिं पवरो ।

विमलउवसहीं आदि जिणंदो अचले सरु सिरिमासिरि वंदो तसु तलि नयरी य वन्नीयए ।

जणमण नयणह कम्मणमूली कछूली किरि लंकधिसाली सरप्रववावि मणोहरी य ॥

वस्त—तम्हि नयरी य तम्हि नयरी य वसइं बहू लोय ।
चिंतामणि जिम दुच्छीयहं दीइं दानु सविवेय हरिसि य ।
सच्चइं सीलि ववहरइं कूडकपट्ट नवि ते य जाणइं ।
गलीउं जलु वाढी पीइ धम्मकम्मि अणुरत्त ।
एकजीह किम वन्नीइ कछूली सु पवित्त ॥

हिमगिरिधवलउ जिसु कविलासो गुरुमंडपु पुतलीयविणासो पासभूयणु रलीयामणउं ।

भवीयहं गुरु मणि आणंदु आणइ जसहडनंदणु तं परिमाणइ सतरि भेदि संजमु परिपालइ ।

विहिमगि सिरिपहसुरि गुण [गाजइ एगंतर उपवास करेइ बीजा दिण आंबिल पारेइ ।

सासणदेवति देसण आवइ रयणिहिं ब्रह्मसंति गुरु वंदीइ कविलकोटि श्रीयसुरि विहरंतइं ।

मालारोपण कीयां तुरंतइं सइ नर आवीय पंचसयाइं समिकति नंदइं बहू य वयाइ।
छाहडनंदणु बहुगुणवंतउ दीख लीइ संसार विरत्तउ।
लाषणछंद परमाणपरिरकणु आगमधम्मवियार वियरकणु।
छत्रीसी गुरुगुणि जुत्तउ जाणीउ नियपदि ठविउ निरुत्तउ।
माणिकपहुसूरि नामू श्रीयसूरिप्रतीछीउ कछूलीपुरि पासजिणभूयणि अहिठीउ॥
सावयलोय करइं तसु भत्ती नव नवधम्ममहूसवजुत्ती।
श्रीयसूरि आरासणिअठाही अणसणविहि पहुतउ सुरनाही।
निवीय आंबिलि सोसीय नियकाया माणिक पहसूरि वंदउ पाया।
विणठदेह जस धवलह राणी पायपखालणि हुई य पहाणी।
माणिकसूरि जे कीध जिणधम्मपभावण इकमुहि ते किम वन्नउ भवपावपणासण॥
कालु आसन्नु जाणेवि माणिकसूरि नयरिकछुलि जाणवि गुणमणिगिरि।
सेठि वासलसुउ वादिगयकेसरी विरससंसारसरिनाह तारणतरी।
संघु मेलवि सिरिपासजिणमंदिरे वेगि नियपाटि गुरु ठविउ अइसइ परे।
उदयसिंहसूरि कीउ नामि नाचंती ए नारिगण गच्छभरु सयलु समपीजए।
सूरु जिम भवियकमलाइं विहसंतओ नयरि चड्डावली ताव संपत्तओ॥
वन्न चत्तारि वरवाणि जो रंजए राउलो धंधलोदेउ मणि चमकए।
कोइ कम्माली पाऊयारूढओ गयणि खापरिथीइं भणइ हउं वादीओ।
पंडिते बंभणे तापसे हारियं राउलोधंधलोदेविहि चिंतियं।
वादिहिं जीतउं नयरो नवि कोउ हरावइ उदयसूरि जइ होए अम्ह माणु रहावइ॥
वस्त—जित नयरि य जित नयरि य सयलमुणिसीह।
नीरंतइं नीरु षडो गरूयदंडडंवरु करंतइं।
धंधलु राउलु विन्नवइ सामि साल पइ मझि संतइं।
बंभण तपसीय पंडीया जं त न बंधइं बाल।
सु गुरु कम्मा लेउ निज्जणीउ अम्ह अप्पउ वरमाल॥
धंधलजिणहरि सवि मिलिय राणालोय असेस।

उदयसूरि संघिहि सहीउ निवसइ ए निवसइ ए निवसइ वरहरि
पीठि ॥
सत्थिपमाणी हरावीउ मंत्रिहिं ए मंत्रिहिं ए मंत्रिहिं वादुकमठो ॥
सेयंवर तउं हिव रहिजे जे गुरु सिद्धिहिं चंडो ।
विहसरु आवतु परिपलि जे लंपीउ ए लंपीउ ए लंपीउं दंडु
पयंडो ॥
तउ गुरि मुहंतां मिल्हिकरि होई गरड़ु पयोण ।
धाईउ लीधउ चंचुपडे गिलीउ ए गिलीउ ए गिलीउ छालभुयंगो ॥
पाउपिछ्लि वि संमुहीय डरडरंतु थीउ वाघो ।
जोवणहार सवि पलभलीय हीयडई ए हीयडई ए हीयडई पडीउ
दाघो ॥
तउ गुरि मूकीउ रयहरणु कीधउ सीहु करालो ।
वाघह जं ता दूरि थीउ हरिसीउ ए हरिसीउ ए हरिसीउ नयरु सबालो ॥
इत्थंतरि मुणि गयणठिय तसु सिरि पाडीय ठीव ।
हुउ कमालीउ कालमुहो लोकिहिं ए लोकिहिं ए लोकिहिं वाईय
वूंव ॥
छंडीउ माणु कवालधरो धाईउ वंदइ पाय ।
खमि खमि सामि पसाउ करी जीतउं ए जीतउं ए जीतउं तइं
मुणि राय ॥
वस्त—ताव संधीउ ताव संधीउ ठीव मंतेण ।
गणहरि करि कम्मालीयह भिखभरीउ अप्पीउ मुहत्तिण ।
रामिहिं जिम वायसह इक निजुत्त सु हरीउ सत्तीण ।
धारावरसि कयंतसमि भिंडीउ डिंभीउ ताम ।
प्रतपउ कोडि वरीस जिनउदयसूरिरवि जाम ॥
चड्डावलिहिं विहरीउ प्रभु पहुतउ मेवाडि ।
पासु नमंसीउ नागद्रहे समोसरीउ आहाडि ॥
जालु कुदालिय नीसरणी दीवउ पारउ पेटि ।
वादीय टोडरु पइ धरए पहुत्तउ षमणउ पेटि ॥
केवलिभुकति न जिणु भणए नारिहिं सिद्धि सजाणि ।
उदयसूरि षमणउ पलीउ जयत ल रायअथाणि ॥
केवलिभुकति म भ्रंति करे नारि जंति ध्रुव सिद्धि ।
तिसमयसिद्धा वज्जि जीय लीइं आहारु विसुद्ध ॥

पीच पीर दीठंतु दीउ जित्तु नंदिमुखिदेवि ।
गयकुंभथलि आरुहीय पढमसिद्ध मरुदेवि ॥
विवरणु पिंडवि सुद्धि कीउ धमविहिग्रंथु प्रसिद्धु ।
चीयवंदणदीवीय रचीय गणहरु भूअणि प्रसिद्धु ॥
अम्हहं साजणसेठे छम्मासहं कालो ।
वसतिणि ऊयरि ऊपनउ पदि ठाविजि बालो ॥
तेरदुरोत्तरवरिसे अप्पडं साधेइं ।
चडडावलि दिविहो जगि लीह लिहावी ॥
कछूली जाणवि परमकल सु गच्छभारुधरो ।
पंचम वरिस वहंति सजणनंदणु दीखीउ ।
देवाएसु लहेवि गोठीय सतमे वरिस लहो ।
चउदीसि मेलीउ संघु आरीठवणउं विविहपरे ।
गोतमसामिहिं मंत्रु आपात्रीजइ दिणी दीइए ।
जोगवहाणु वहेवि अंग इग्यारइ सो पढए ।
त संजमि रणि जीतु सयरह चुकउ पंचसरो ॥
गूजरधर मेवाडि मालव ऊजेणी बहू य ।
सावय कीय उवयार संघपभावण तहिं घणी य ॥
सात्रीसइ आपाडि लखमण मयधरसाहुसूओ ।
छयणीनयरमझारि आरिठवणउं भीमि किओ ॥
कमलसूरि-नियपाटि सइं हथि प्रज्ञासुरि ठवीओ ।
पमीउ पमावीउ जीवु अणसणि अप्पा सूधु कीओ ॥
पणि पहुतउ सुरलोइ गणहरु गंगाजल विमलो ।
तासु सीसु चिरकालु प्रतपउ प्रज्ञातिलकसूरे ॥
जिणसासणिनहचंदु सुहगुरु भवीयहं कलपतरो ।
ता जगे जयवंत उम्हाउ जां जगि ऊगइ सहसकरो ।
तेरत्रिसठइ रासु कोरिंटावडि निम्मिउ ।
जिणहरि दिंतसुणंतं मणवंछिय सवि पूरवउ ॥

[कछूलीरासः समाप्तः ॥]

स्थूलिभद्र फाग

परिचय

इस फाग की रचना आचार्य जिनपद्म ने सं० १३६०वि० में की। मंगलाचरण करते हुए कवि कहते हैं कि मैं पार्श्व जिनेन्द्र के पाँव पूजकर और सरस्वती को स्मरण करके फागबन्ध द्वारा मुनिपति स्थूलभद्र के कतिपय गुण गाऊँगा। एक बार गुण-भंडार संयमश्री के हार-स्वरूप मुनिराज स्थूलिभद्र विहार करते-करते पाटलिपुत्र में पहुँचे। मुनिराज गुरुवर आर्य संभूतिविजय-सूरि के आदेश से कोशा नामक वेश्या के घर जाते हैं। वेश्या दासी से मुनि-आगमन का समाचार पाते ही बड़े वेग से स्वागत सत्कार को दौड़ती है।

वर्षाऋतु थी। झिरमिर झिरमिर मेघ बरस रहे थे। मधुर गम्भीर स्वर से मेघ गरज रहे थे। केतकी के परिमल से अरण्य-प्रदेश सुवासित हो रहा था। मयूर नाच रहे थे। ऐसे कामोद्दीपन काल में वेश्या मनकी बड़ी लगन से शृंगार सजती है। अंग पर सुन्दर बहुरंगी चन्दनरस का लेप करती है। सिर पर चम्पक, केतकी और जाइकुसुम का खुंप भरती है। अत्यन्त झीना और मसृण परिधान धारण करती है। वक्षपर मुक्ताहार, पग में नूपुर, कान में कुंडल पहनती है। नयन युगल को कज्जल से आँजकर सीमांत बनाती है।

कवि कोशा के अंग-सौंदर्य का वर्णन करता है। वह कहता है कि नव-यौवन से विलसित देहवाली अभिनव प्रेम से पुलकित, परिमल-लहरी से सुवासित-प्रवालखंडसम अधर बिम्बवाली, उत्तम चम्पकवर्णा, सलोने नेत्र वाली, मनमोहक हाव भाव से पूर्ण होकर मुनिवर के समीप पहुँची। उस समय आकाशमंडल में देव-किन्नर जिज्ञासा से यह कौतुक देखने लगे।

कोशा अपने नयन-कटाक्षों से बारबार मुनिवर पर प्रहार करने लगी, किन्तु उनपर काम-बाणों का किंचित् प्रभाव न देखकर अन्त में बोली "हे नाथ, बारह वर्ष का प्रेम आपने किस प्रकार विस्मृत कर दिया। आपके विरहताप से मैं इतने दिनों तक सन्तप्त रही। आपने मेरे साथ इतनी निष्ठुरता का बर्ताव क्यों किया ?

स्थूलिभद्र बोले—'वेश्या, व्यर्थ ही इतना श्रम न करो। लौह-निर्मित मेरे हृदय पर तुम्हारे वचनों का कोई प्रभाव न पड़ेगा।'

कोशा विलाप करती हुई कहने लगी—'नाथ, मुझपर अनुराग कीजिए। ऐसे मोहक पावस-काल में मेरे साथ आनंद मनाइए।"

मुनिवर—"वेश्या, मेरा मन सिद्धिरमणी के साथ आनंद करने और संयमश्री के साथ भोग करने में लीन हो गया है।"

कोशा—"हे मुनिराज, मुझे छोड़कर आप संयमश्री के साथ क्यों रमण कर रहे हैं" ?

मुनिवर—'कोशा, चिन्तामणि को छोड़कर पत्थर कौन ग्रहण करेगा ? बहु-धर्म-समुज्ज्वल संयमश्री को तजकर तेरा आलिंगन कौन करे ?"

कोशा—'पहले हमारे यौवन का फल लीजिए। तदनंतर संयमश्री के साथ सुखपूर्वक रमण कीजिए।"

मुनि—'समग्र भुवन में कौन ऐसा है जो मेरा मन मोहित कर सकता है ?' मुनिवर का अटल संयम देखकर कोशा के चित्त में विस्मय के साथ सुख उत्पन्न हुआ। देवताओं ने संतुष्ट होकर कुसुम वृष्टि करते हुए इस प्रकार जय जयकार किया—"स्थूलिभद्र, तुम धन्य हो, धन्य हो ! तुमने कामदेव को जीत लिया !"

इस प्रकार कोशा के गृह में चतुर्मास व्यतीत कर और उसे प्रतिबोध देकर मुनिराज अपने गुरुदेव के पास पहुँचे। दुष्कर से भी दुष्कर कार्य करने वाले शूरवीरों ने उनकी प्रशंसा की। सुरनर-समाज ने उस यशस्वी को नमस्कार किया।

खरतरगच्छवाले जिनपद्मसूरिकृत यह फाग रमाया गया। चैत्र महीने में खेल और नाच के साथ रंग से इस रास को गाओ।

———

"सिरि-थूलि भद्द-फागु"

कवि जिन पद्म सं० १३९० वि०

पणमिय पासजिणिंद-पय अनु सरसइ समरेवी ।
थूलिभद्द-मुणिवइ भणिसु फागु-बंधि गुण केवी ।। १

[प्रथम भास]

(अह) सोहग सुन्दर रुपवंतुगुण-मणि-भंडारो
कंचण जिम झलकंत-कंति संजम-सिरि-हारो ।
थूलिभद्दमणिराउ जाम महियलि बोहंतउ
नयरराज-पाडलिय-माहि पहुतउ विहरंतउ ।। २

वरिसालइ चउमास-माहि साहू गहगहिया
लियइ अभिग्गह गुरुह पासि निय-गुण-महमहिया ।
अज्ज-विजयसंभूइ-सूरि गुरु-वय मोकलावइ
तमु आएसि मुणीस कोस-वेसा घरि आवइ ।। ३

मंदिर-तोरणि आवियउ मुणिवरु पिक्खेवी
चमकिय चितिहि दासडिउ वेगि जाइ वधावी ।
वेसा अतिहि ऊतावलि य हारिहिं लहकंती
आविय मुणिवर राय-पासि करयल जोडंती ।। ४

'धम्म-लाभु' मुणिवइ भणवि चित्रसाली मंगेवी
रहियउ सीह-किसोर जिम धीरिम हियइ-धरेवी ।। ५

[द्वितीय भास]

झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरिसंते
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंते ।।
झबझब झबझब झबझब ए वीजुलिय झब्बकइ
थरहर थरहर थरहर ए विरहिणि-मणु कंपइ ।। ६

महुर-गँभीर-सरेण मेह जिम जिम गांजते
पंचबाण निय कुसुम-बाण तिम तिम सांजते ॥
जिम जिम केतकि महमहंत परिमल विहसावइ
तिम तिम कामिय चरण लग्गि निय रमणि मनावइ ॥ ७

सीयल-कोमल-सुरहि वाय जिम जिम वायंते
माणमडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंते ॥
जिम जिम जल-भर-भरिय मेह गयणंगणि मिलिया
तिम तिम पंथिय-तण नयणा* नीरिहिं झलहलिया ॥ ८

मेहारवभरऊलटि य जिम जिम नाचइ मोर
तिम तिम माणिणि खलभलइ साहीता जिम चोर ॥ ९

[तृतीय भास]

अइ सिंगारु करेइ वेस मोटइ मन-ऊलटि
रइय (?) अंगि बहु-रंगि चंगि चंदण-रस-ऊगटि ॥
चंपक-केतकि-जाइ-कुसुम सिरि खुंप भरेई
अति-अच्छउ सुकुमाल चीरु पहिरणि पहिरेइ ॥ १०

लहलह-लहलह-लहलहए उरि मोतिय-हारो
रणरण-रणरण-रणरणए पगि नेउर-सारो ॥
झगमग-झगमग-झगमगए कानिहिं वर कुँडल
झलहल-झलहल-झलहलए आभरणाहं मंडल ॥ ११

मयण-खग्गु जिम लहलहए जसु वेणी-दंडो
सरलउ तरलउ सामलउ (?) रोमावलि दंडो ॥
तुंग पयोहर उल्लसइ [जिम] सिंगारथवका
कुसुम-बाणि निय अमिय-कुंभ किर थापणि मुका ॥ १२

कज्जलि-अंजिवि नयण जुय सिरि सइँथउ† फाडेई ।
वोरीयाँवडि-कंचुलिय पुण उरमंडलि ताडेइ ॥ १३

---

* पाठभेद—कामी तणा नयण ।
† पाठभेद (संथउ) ।

[चतुर्थ-भास]

कन्न-जुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला
चंचल चपल तरंग चंग जसु नयण-कचोला ॥
सोहइ जासु कपोल-पालि जणु गालिमसूरा
कोमल विमलु सुकंठु जासु वाजइ संख-तूरा ॥ १४
लवणिमरसभरकूवडिय जसु नाहिय रेहइ
मयणराय किर विजयखंभ जसु उरु सोहइ ॥
जसु नहपल्लव कामदेव अंकुस जिम राजइ
रिमिझिमि रिमिझिमि पाय-कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥ १५
नवजोवण विलसंत देह नवनेह गहिल्ली
परिमल-लहरिहिं महमहंत रइकेलि पहिल्ली ॥
अहर-बिंब परवाल-खंड वर-चंपावन्नी
नयण-सलूणींय हाव भाव बहु-रस-संपुन्नी ॥ १६
इय सिंगार करेवि वर जउ आवी मुणि पासि
जोएवा कउतिगि मिलिय सुर-किन्नर आकासि ॥ १७

[पंचम-भास]

अह नयण कडक्खिहिं आहणए वांकउ जोवंती
हाव-भाव सिंगार-भंगि नवनविय करंति ॥
तहवि न भीजइ मुणि-पवरों तउ वेस बोलावइ
तवणतुल्लु तुह विरह, नाह ! मह तणु संतावइ ॥ १८
बारहँ वरिसहँ तणउ नेहु किणि कारणि छंडिउ
एवडु निट्ठुरपणउ काइँ मू-सिउँ तुम्हि मंडिउ ॥
थूलि भद्द पभणेइ वेस ! अइ-खेदु न कीजइ
लोहिहि घडियउ हियउ मज्झ, तुह वयणि न भीजइ ॥ १९
'मह विलवंतिय उवरि, नाह ! अणुराग धरीजइ
एरिसु पावस-कालु सयलु मू-सिउँ माणीजइ' ॥
मुणिवइ-जंपइ 'वेस ! सिद्धि-रमणी परिणेवा
मणु लीणउ संजम-सिरीहिं सिउँ भोग रमेवा' ॥ २०

भणइ कोस 'साचउँ कियउँ 'नवलइ राचइ लोउ'
मूं मिल्हिवि संजम-सिरिहिं जउ रातउ मुणि-राउ' ॥ २१

[षष्ठ-भास]

उवसमरसभरपूरियियउ (?) रिसिराउ भणेई
'चिंतामणि परिहरवि कवणु पत्थरु गिह गेइ ॥
तिम संजम-सिरि परिवएवि बहु-धम्म समुज्जल
आलिंगइ तुह, कोस ! कवणु पसरत-महाबल' ॥ २२
'पहिलउ हिवडाँ' कोस कहइ 'जुव्वण-फलु लीजइ
तयणंतरु संजमसिरीहिं सिउँ सुहिण रमीजइ' ॥
मुणि बोलइ जं मइँ लियउ तं लियउ ज होइ (?)
केवणु सुअच्छइ भुवण-तले जो मह मणु मोहइ' ॥ २३
इणिपरि कोसा अवगणिय थूलिभद्द मुणिराइ ।
तसु धीरिम अवधारि-करि चमकिय चित्ति सुहाइ ॥ २४

[सप्तम-भास]

अइ-बलवंतु सु मोह-राउ जिणि नाणि निधाडिउ
झाण खडग्गिण मयणसुहड समरंगणि पाडिउ ॥
कुसुम-वुट्ठि सुर करइ तुट्ठि तह जय-जय-कारो
'धनु धनु एहु जु थूलिभद्दु जिणि जीतउ मारो' ॥ २५
पडिबोहिवि तह कोस-वेस चउमासि अणंतरु
पालिअभिग्गह ललिय चलिय गुरु पासि मुणीसरु ॥
'दुक्कर-दुक्कर-कारगु' त्ति सूरिहिं सु पसंसिउ
संख-समज्जल-जसु लसंतु सुर*-नारिहिंनमंसिउ ॥ २६
नंदउ सो सिरि-थूलिभद्दु जो जुगह पहाणो
मलियउ जिणि जगि मल्लसल्लरइवल्लह-माणो ॥
खरतर-गच्छि जिण-पदम-सूर-किउ फागु रमेवउ
खेला-नाचइँ चैत्र-मासि रंगिहि गावेवउ ॥ २७

———

* पाठभेद—सुरनरहं ।

पंचपंडवचरितरास

पूर्णिमागच्छ के शालिभद्रसूरि कृत

(१४१० वि० सं)

परिचय

इस रास की रचना देवचन्द्र की आज्ञा से पूर्णिमागच्छ के शालिभद्र सूरि ने की। कवि ने नर्मदा तट पर नाद उद्र (वर्तमान नादोद) नामक नगर में इसका प्रणयन किया। इस काव्य का कथानक तंदुलवेयालीयसुत्त के आधार पर निर्मित है। प्रथम ठवणी में जह्नुकन्या गंगा का शांतनु के साथ विवाह दिखाया गया है। गंगा का पुत्र गांगेय हुआ। गंगा अपने पुत्र के साथ पितृगृह चली गई और चौबीस वर्ष तक वहीं रही। पति के मृगया-प्रेम से उसे वितृष्णा हो गई और वह पितृगृह में ही रहने लगी।

शान्तनु मृगया खेलकर यमुना तट पर स्थित् एक विशाल उपवन में विश्राम किया करते। गंगा अपने पुत्र के साथ प्रायः उस उपवन में जाती।

ठवणी २

गांगेय अपने पिता से मृगया से उपराम ग्रहण करने का अनुरोध करते किंतु वे कब मानने वाले। एक दिन दोनों में युद्ध छिड़ गया। गंगा ने मध्यस्थ बन कर युद्ध बंद करा दिया और गांगेय को पिता के साथ हस्तिनापुर भेज दिया।

इसी ठवणी में शान्तनु का केवट कन्या सत्यवती से विवाह दिखाया गया है। गांगेय (भीष्म) आजीवन उत्तराधिकार पद त्याग की प्रतिज्ञा करते हैं।

ठवणी ३

कालान्तर में सत्यवती का पुत्र विचित्रवीर्य सम्राट् बनता है। गांगेय काशिराज की तीन कन्यायें—

अम्बिका, अंबाला और अम्बा को अपहृत कर लाते हैं और उनका विचित्र वीर्य से विवाह कर देते हैं। तीनों रानियों से क्रमशः धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का जन्म होता है, तदुपरान्त पांडु और कुन्ता के विवाह का वर्णन

एवं कर्ण के जन्म की कथा मिलती है। धृतराष्ट्र के साथ गांधारी के विवाह का उल्लेख है और माद्री के साथ पांडु के दूसरे विवाह का वर्णन मिलता है।

इस ठवणी में पाँचों पांडवों और सौ कौरवों के जन्म का वृत्तांत है।

ठवणी ४

पांडवों के प्रति दुर्योधन के उपद्रव, कृपाचार्य और द्रोणाचार्य के साथ कौरवों की मंत्रणा, एकलव्य की बाण-विद्या, राधावेध नामक बाण-विद्या की शिक्षा, अर्जुन का द्रोण की रक्षा का वर्णन संक्षेप में मिलता है।

ठवणी ५

इस ठवणी में कर्ण और दुर्योधन की मैत्री, द्रौपदी-स्वयंवर और उसमें राजकुमारों का आगमन वर्णित है।

स्वयंवर में द्रौपदी अर्जुन को जयमाला पहनाती है, इसी समय चारण मुनि द्रौपदी के पूर्व जन्म की कथा सुनाते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उसने

ठवणी ६

पाँच पतियों को एक ही समय में प्राप्त करने का वरदान पाया था। यह कथा सुनाकर चारण मुनि आकाश में उड़ जाते है। पाँचो पांडवों को कई प्रतिबंध लगाये गए है और यह निर्णय हुआ कि जो एक भी नियम का उल्लंघन करेगा उसे बारह वर्ष का वनवास मिलेगा। अर्जुन को नियमोल्लंघन के कारण बारह वर्ष का वनवास मिला। वन में उन्होंने आदिनाथ को प्रणाम किया और अपने मित्र मणिचूड़ की बहिन का उद्धार उसके अपहर्त्ता के हाथों से करके उसके पति हेमांगद को समर्पित कर दिया।

इसमें युधिष्ठिर के राजसिंहासन पर आसीन होने का वर्णन है। मणिचूड़

ठवणी ७

की सहायता से एक विशाल सभागृह निर्मित हुआ। दुर्योधन और कृष्ण उसमें आमंत्रित हुए। दुर्योधन ने द्यूत-क्रीड़ा के लिए युधिष्ठिर को आह्वान किया। द्रौपदी का अपमान होता है और पांडव कौपीन धारण करके वन में निर्वासित होते हैं।

बारह वर्ष के वनवास की गाथा इस भाग में वर्णित है। मार्ग में भीमने किर्मीर राक्षस का बध करते हैं। अब काम्यकवन की कथा आती है। वारणावत नगर में लाक्षागृह के भस्म होने और विदुर के संकेत द्वारा कुंती एवं द्रौपदी-सहित पांडवों के सुरंग से निकल जाने का वर्णन है। यहाँ जैन सिद्धान्तानुसार भाग्यवाद का विवेचन है।

ठवणी ८

ठवणी ९

भीम का हिडिम्बा के साथ विवाह होता है।

पांडव वन में भ्रमते हुए एकचक्रपुर पहुँचते हैं। भीम बकासुर का बध करते हैं। दुर्योधन को यह समाचार ज्ञात होता है इस काल में पांडव द्वैतवन पहुँचकर एक पर्णकुटी बना लेते हैं। प्रियंवद के द्वारा दुर्योधन और कर्ण के आगमन की सूचना मिलती है और द्रौपदी इन दोनों शत्रुओं के बधका आग्रह करती है किन्तु युधिष्ठिर विरोध करते हैं।

ठवणी १०

अर्जुन और विद्याधर-पुत्र के युद्ध का वर्णन है। विद्याधर के द्वारा इन्द्रभवन का पता चलता है। इन्द्र का भाई विज्जु माली अपने भ्राता का विरोधी बनकर दानवों का सहायक बनता है। अर्जुन दानवों को पराजित करता है और इंद्र उसे अस्त्र-शस्त्र प्रदान करता है।

ठवणी ११

इसी काल हिडिम्बा के पुत्र होता है और आकाश से एक कमल उतरता दिखाई पड़ता है जो सरोवर में डूब जाता है। पांडव सरोवर में उसके अनुसंधान का निष्फल प्रयास करते हैं। दूसरे दिन एक व्यक्ति वह स्वर्ण कमल लेकर उपस्थित होता है और यह संवाद देता है कि यह स्वर्ण-कमल इंद्र-रथ के झटके से टूटकर पृथ्वी पर गिरा है। इंद्र रथारूढ़ होकर ऐसे महात्मा को लेने जा रहे थे जिन्हें पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई है। इंद्र ने कुंती और द्रौपदी को ध्यान निमग्न देकर पाताल लोक के नागराज के बंधन में बकड़े पांडवों की मुक्ति की। बनवासके पाच वर्ष व्यतीत होने पर पांडव द्वैतवन में निवास करते हैं। दुर्योधन की स्त्री से सूचना पाकर पांडव चित्रांगद नामक विद्याधर के बन्धन से उसके पति की मुक्ति करते हैं।

दुर्योधन का बहनोई (भगिनिपति) जयद्रथ द्रौपदी-हरण करता है किन्तु भीम और अर्जुन उसे युद्ध में पराजित करते हैं। अपनी बहिन के विधवा होने के भय से वे जयद्रथ का बध नहीं करते।

ठवणी १२ — दुर्योधन की घोषणा पाकर पुरोहित-पुत्र पांडवों पर कृत्या का प्रयोग करता है। नारद पांडवों को कृत्या-प्रभाव से मुक्ति के लिए ईश्वर-ध्यान का परामर्श देते हैं। कृत्या के प्रभाव से पांडव मूर्च्छा में पड़ जाते हैं किन्तु एक पुलिन्द (जाति-विशेष) उन्हें मंत्रबल से चेतनता प्रदान करता है।

विराटराज के यहां १३ वें वर्ष का गुप्त बनवास इस भाग में वर्णित है। पांडवों का कृष्ण की नगरी में पहुँचना, कृष्ण का दुर्योधन के सम्मुख पांडवों के लिए राज्य का एक भाग दे देने का

ठवणी १३ — प्रस्ताव रखना, दुर्योधन का प्रस्ताव ठुकराना, कृष्ण को अपमानित करना, कृष्ण का कर्ण को दुर्योधन के साथ युद्ध में सम्मिलित न होने का परामर्श देना, कर्ण का दुर्योधन की सहायता में दृढ़ रहना आदि वर्णित है।

इस भाग में महाभारत युद्ध के लिए की जानेवाली तैयारी का वर्णन। ७०४ से ७६१ तक की पंक्तियों में युद्ध का वर्णन

ठवणी १४ — है। पांडवों के विजयी होने एवं उनके हस्तिनापुर आगमन की कथा दी गई है। इस ठवणी की वर्णन-शैली भरतेश्वर-बाहुबलिरास से प्रायः मिलता जुलती है।

यह भाग उपसंहार सूचक है। इसमें नेमिमुनि के उपदेश से पांडव जैनधर्म स्वीकार करते हैं। वे लोग परीक्षित को राज्य प्रदान कर स्वयं मुनि बन जाते हैं। जैनाचार्य धर्मघोषु उन्हें पूर्व

ठवणी १५ — जन्म की कथा सुनाते हैं कि वे प्रथम जन्म में सुरति, शंतनु, देव, सुमति और सुभद्र थे। पांडव किस प्रकार अणुत्तर स्वर्ग से गिर कर पृथ्वी पर आए और अब उनकी मुक्ति किस प्रकार होगी—इसका वर्णन अन्त में दिया गया है।

———

पंचपंडवचरितरासु

रचयिता—शालिभद्रसूरि

नेमिजिणिंदह पय पणमेवी
सरसति सामिणि मनि समरेवी
अंबिकि माडी अणुसरउ ॥ १

आगइ द्वापर माहि जु वीतो
पंचह पंडव तणउ चरीतो
हरखि हिया नइ हुं भणउं ॥ २

रासि रसाउलु चरीउ थुणीजइ
किम रयणायरु हीयइं तरीजइ
सानिधि सासणदिवि तणइ ॥ ३

आदिजिणेसर केरउ नंदणु
कुरुनरिंदु हूउ कुलमंडणु
तासु पुत्तु हुउ हाथियउ ॥ ४

तीणइ थापिउ तिहूयणसारो
बीजउ अमरापुरि अवतारो
हथिणाउरपुरु वन्नीयए ॥ ५

तिणि पुरि हूउ संति जिणेसरु
संघह संतिकरउ परमेसरु
चक्कवट्टि किरि पंचमउ ॥ ६

तिणि कुलि सुणीइ संतणु राओ
भूयबलि भंजइ रिउभडिवाओ
दाणिं जगु ऊरिणु करए ॥ ७

अन्नदिवसि आहेडइ चल्लइ
पारधिवसणु सु किमइ न मिल्हइ
दलु मेल्ही दूरिहिं गयओ ॥ ८

हरिणु एकु हरिणी सुं खेलइ
कोमलवयणिं हरिणी बोलइ
"पेखि पेखि प्रिय पारधीउ" ॥ ९

सरु सांधी राउ केडइ धाइ
हरिणउ हरिणी सहितु पुलाइ
ऊजाईउ गिउ गंगवणे ॥ १०

नयणह आगलि गयउ कुरंगू
राय चींति जां हूयउ विरंगू
जोइ वामुं दाहिणउं ॥ ११

तां वणि पेखइ मणिमइ भूयणु
तींछे निवसइ नारीरयणु
खणि पहुतउ राउ धवलहरे ॥ १२

जन्हनरिंदह केरी धूय
गंगा नामिं रइसमरूय
ऊठइ नरवइ सामुहीय ॥ १३

पूछइ राजा "कहि ससिवयणि
इणि वणि वसीइ कारणि कमणि"
बोलइ गंग महासईय ॥ १४

"जो अम्हारुं वयणु सुणेसिइ
निश्चिं सो वरु मइं परिणेसिइ
खेचरु भूचरु भूमिधरो" ॥ १५

तं जि वयणु राइं मानीजइ
जन्हराय बेटी परिणीजइ
परिणी पहुतउ नियघरे ॥ १६

ए पुत्तु तसु कूखि ऊपन्नउ
विद्यालक्षणगुणसंपन्नउ
कला बाहत्तरि सो पढए ॥ १७

गंगनामि गंगेउ भणीजइ
क्रमि क्रमि जुव्वणि तिणि पसरीजइ
बीज तणी ससिरेह जिम ॥ १८

नितु नितु राउ अहेडइ चल्लइ
रोसि चडी राणी इम बुल्लइ
"प्रियतम पारधि मन करउ" ॥ १९

राइ न मानी गंगा राणी
तीणं दूखि मनि कुरमाणी
पूतु लेउ पीहरि गईय ॥ २०

धनुषकला माउलउ पढावइ
जीवदया नियचित्ति रहावइ
बोधि चारणमुनि तणइं ॥ २१

साचउ जाणइ जिणधर्ममागो
तउ मनि जूवण लगइ विरागो
गंगानंदणु वणि वसए ॥ २२

वस्तु

राउ संतणु राउ संतणु वयणु चुक्केवि
आहेडइ चल्लीऊ पावपसरि मनि मोहि घूमिउ
पूत्तु लेउ पीहरि गई गंग तीण अवमाणि दूमीय
वात सुणी पाछउ वलइ जां नवि देखइ गंग
चउवीसं [वासं] रहइ जिमु रइहीणु [अणंगु] ॥ २३

ठवणी ॥ १ ॥

आह मनमाहि नरिंदो पारधि संभावइ
सइं दलि रमलि करंतउ गंगातडि आवइ ॥
गंगतडा तडि अछइ ओयणु
वित्थरि दीरघि बारह जोयणु
पासहरा वागुरीय बहूय
पइठा वणि कोलाहलु हूय ॥
दह दिसि वाजइं हाक बहु जीव विणासइं
एकि धुसइं एकि धायइं एकि आगलि नासइं ॥
दहदिसि इम जां वनु आरोडइं

जीव विणासइं तरूयर मोडइं
जां इम दलवइ पारधि लागइ
ताम असंभमु पेखइ आगइ ॥
विहुं खवेव दो भाथा करयलि कोदंडो
वालीवेसह बालो भुयदंडपयंडो ॥
राय पासि पहिलुं पहुचेई
पय पणमी वीनती करेई
"सांभलि वाचा मुझ भूपाल
इणि वणि अछउं अम्हि रखवाल ॥
जेती भुंइं तूं राओ तेती तूं सरणि
मुझ मनु कां इम दूमइ जीवह मरणि" ॥
तासु वयणु अवहेलइ राओ
अति घणु घल्लइ जीवह घाउ
कोपि चडिउ तसु वणरखवालो
धनुपु चडावइ जमविकरालो ॥
हाकी भड ऊठाडइ आगला ति पाडइ
सरसे जंपउ ढाडइ राउत रूंसाडइ ॥
बेटउ रूडु करंतउ जाणी
ताखणि आवी गंगाराणी
बेउ पखि झुझु करंतां राखइ
नियप्रिय आगलि नंदणु दाखइ ॥
देखी गंगाराणी राजा आणंदिउ
मेल्ही सवि हथियार बेटउ आलिंगिउ ॥
राउ भणइ "मइं किसउं पवारउ
हिव तुम्हि मइं सु घरि पाउधारो
राजु तुम्हारुं पूत्तु तुम्हारउ
अजीउ गंगे किसुं विचारउ" ॥
पूति भतारिहिं देवी अतिघणुं मनावी
पूत्तु समोपीउ सय आपणि नवि आवी ॥
पिता पुत्त बेउ रंगि मिलीया

देवि सुकलीवी पाछा वलीया
हथिणाउरि पुरि राजु करेई
क्षण जिम दीहा बहूय गमेई ॥
अन्नदिणंतरि रामलि करंतउ ।
जमणतडा तडि राउ पहूतउ ।

जल खेलंती दीठी बाल
वेडी बइठी रूपविसाल ॥
पूछइ बेडीवाहा तेडी
"ए कुण दीसइ बइठी वेडी" ।
वेडीवाहा तणु जु स्वामी

राय पासि पभणइ सिरु नामी ॥
"ए अम्हारा कुलसिणगारी
सामी ऊछइ अजीय कूंयारी
कोइ न पामु वरु अभिरामु
सफलु करुं जिम दैवह कामु ॥"

तसु घरि बइसी राउ सा बाली मागइ
वात स बेडीवाहा पुण चींति न लागइ ॥
"सांभलि स्वामी अम्ह घरसूत्तो
तुम्ह घरि अछइ गंगापूतो ।
मइं बेटी जउ तुम्हह देवी

तउ सइं हथि दूख भरेवी ॥
कुरुववंसह केरउ मंडणु
राजु करेसि गंगानंदणु ।
धीय महारी तणां जि बाल
ते सवि पामइं दूख कराल ॥

मुझ पासिं तुम्हि किसुं कहावउ
तुम्हि अम्हारी धीय न पामउ" ।
इम निसुणीउ घरि पहुतु नरिंदो
जिम विंध्याचलि हरीउ करिंदो ॥
मनि चिंतइ सा बाल कुणहइ न कहेई

अंगे लागी झाल जिम देहु दहेई ॥
कूंयरु वेडीवाहा मंदिरि
जाईउ मांगइ सा इ जि कूंयरि ।
वेडीवाहइं तं जि भणीजइ
तींछे कूंयरि प्रतिज्ञा कीजइ ॥
मंत्रि मउडउधा सहूइ तेडइ
वेडीवाहा भ्रंति सु फेडइ
"वयणु अम्हारु म पडउ पाखइ
देवादेवी सहूयइ साखिइं ॥
निसुणउ मइं जि प्रतिज्ञा कीजइ
चांदुलडइ चिय नामु लिहीजइ ।
एकु राजु अनइ परिणेवुं
मइं अनेरइ जनमि करेवुं" ॥
निसुणीउ वयणु गभेलउ बोलइ
"कोइ न तिहुयणि जो तुम्ह तोलइ ।
निसुणउ हिव इह कन्न वृतंतू
एह रहइं होइ संतणु कंतू ॥

॥ वस्तु ॥

नयरु अच्छइ नयरु अच्छइ रयणउरु नामि
रयणसिहरु नरवरु वसइ तासु गेहि एह बाल जाईय
विद्याधरि अपहरीय जातमात्र तडि जमण मिल्हीय
इसीय वाच गयणह पडी तउ मइं लिद्ध कुमारि
सत्यवती नामिं हुसिए संतणघरनारि" ॥

[ठवणि ॥ २ ॥]

पणमीउ सामीउ नेमिनाहु अनु अंबिकि माडी
पभणिसु पंडव तणउं चरितु अभिनवपरिवाडी ॥
हथिणाउरि पुरि कुरुनरिंद केरो कुलमंडणु
सहजिहिं संतु सुहागसीलु हूउ नरवरु संतणु ॥
तसु घरि राणी अछइ दुन्नि एक नामि गंगा

पुत्तु जाउ गंगेउ नामि तिणि तिहूणि चंगा ॥
सत्यवती छइ अवर नारि तसु नंदण दुन्नि
सवे सलक्खण रूयवंत अनु कंचणवन्नि
पहिउलउ बेटउ करमदोसि बालप्पणि विवनउ
विचित्रवीर्यु बीजउ कुमारु बहुगुणसंपन्नउ ॥
राउ पहूतउ सरगलोकि गंगेयकुमारिं
तउ लघु बंधवु ठविउ पाटि तिणि वयणविचारिं ॥
कासीसरघरि तिन्नि धूय अंबिकिइं अंबाला
त्रीजी अंबा अछइ बाल मयणह जयमाला ॥
परिणावेवा तींह बाल सयंवरु मंडाविउ
गंगानंदणु चडीउ रोसि अणतेडिउ आव्यो ॥
समरि जिणीय सवि राय बाल लेउ त्रिराहइ आव्यो
वडउ महोच्छउ करीउ नयरि बंधवु परिणाव्यो ॥
अंबिकि बेटउ धायराठु सो नयणे आंधउ
अंबाला नउ पुत्तु पंडुत्रिहु भुयणि प्रसिद्धउ ॥
अंबानंदणु विदुरु नामु नामि जि सरीखउ
खइ खीणइ पुणु विचित्रवीर्युपंडु राजि प्रतीठिउं ॥
कुंतादिवि नउं लिखिउं रूपु देखीउ चित्रामि
मोहिउ पंडु नरिंदु चींति अति लीधउ कामिं ॥
वियाधरु वनि कुणिहिं एकु मेल्हिउ छइ बांधी
छोडिउ पंडुकुमारि पासि तसु मुद्रा लाधी ॥
एतइं अंधकवृष्णि नामि सोरीपुरसामी
दस बेटा तसु एक धूय कुंतादिवि नामी ॥
पाटी आपणहारु पुरुपु सोरियपुरि पहुतउ
'पंडु वरीउ' पिय पासि कूंयरि संभलइ कहंतउ ॥
नवि जीमइ नवि रमइ रंगि नवि सहीय बोलावइ
बोलावी ती पह्नीय जाइ अणतेडी आवइ ॥
खीजइ मूंझइ रडइ बालजिम सयरु संतावइ

---

[१८१] आधउ पाठान्तर आंधउ ।
[१८३] नानु „ नमु ।

कमलि खिकाणखि यण समाधि सा किमइ न पामइ ॥
चंदु य चंदणु हीयइ हारु अंगार समाणउ
'कुणहइ कांई दहइ दूखु जाणीइ तु जाणउ ॥
नीलजु निघिणु मइं अजाणु कांइ मारइ मारो
ईणि जनमि मुझ पंडुकुमर विणु नही य भतारो' ॥
विरहि विरागीय वण मझारि जाईउ मणि झायइ
'लवणिम जूवणु रूपरेह तां आलिहि जाइ' ॥
कंठि ठवइ जां पासु डाल तरुयर णी······
आविउ मूंद्रप्रभावि ताम मनि चिंतिउ सामि ॥
परिणीय आपी पंडुकुमरि आपणीय जि थवणी
सहीयर बलि एकंति हुई पुत्तु जायउ रमणी ॥
गंग प्रवाहिउ रयण माहि घालिउ मंजूसं
काजइ पातकु पुण्यवंति कइ लाज कि रीसं ॥
जाणीउ राइं कुंतिचिंतु पंडु जु परिणावइ
लिहिउं जासु निलाडि जाम तं सुंजु आवइ ॥

॥ वस्तु ॥

सबलु नरवरु सबलु नरवरु देसि गंधारि
कुंयरि तसु तणए आठ धीय गंधारि पहिलीय
कुलदेवलिआइसिं धायरठ्ठ नरनाह दिन्हीय
देवकनरवइं नंदणी कुमुइणि विदुरकुमारि
वीजी मद्रकि मद्रधूय पंडुतणइ घरनारि ॥
गभु धरीउ गभु धरीउ देवि गंधारि
दुट्ठत्तणि डोहलऊ कूड कलहि जण झुझि गज्जइ
पुरुपवेसि गइंवरि चडई सुहड जेम मनि समरु सज्जइ
गानि रडंता बंदीयण पेखीउ हरिखु करेइ
सासु ससरा कुणवि सुं अहनिसि कलहु करेइ ॥

(ठवणी ॥ ३ ॥)

पुन्नप्रभाविहिं पामीयउ पहिलुं कुंतादेवि
पुन्नमणोरहु पूत्त पुण सुमिणां पंच लहेवि ॥

[१९७] पाठान्तर चहु न ।
[२०४] पाठान्तर प्रभाति प्रभावि का ।

दीठउ सुरगिरि क्षीरहरो सुमिणइ सिरि रवि चंद
जनमि युधिष्ठिरराय तणइ मिलीय सुरवइविंद ॥
गयणंगणि वाणी पडीय 'खमि दमि संजमि एकु
धरमपूतु जगि ऊपनउ सत्यसीलि सुविवेकु' ॥
रोपीउ पवणिहिं कलपतरो सुमिणइ कुंतिदूयारि
पवणह नंदणु वज्जमओ भीमु सु भूयण मझारि ॥
त्रीसे मासे जाईयउ दूमीय देवि गंधारि
दिवसि अधुरे ऊपनओ दुर्योधनु संसारि ॥
दसह दसारह बहिनडीय त्रीजउं धरइ आधानु
'दाणव दल सवि निदलउं' मनि एवडु अभिमानु ॥
'धनुषु चडावीउ भूयणि भमंउ' इच्छा छइ मन माहि
वइठउ दीठउ हाथिणीयं सुरवइ सुमिणा माहि ।
जनम महोछवु सुर करइं नाचइं अपछरवाल
दुंदुहि वाजइं गयणयले धरणिहिं ताल कंसाल ॥
गयणह वाणी ऊछलीय 'अरजुनु इंद्रह पूत्तु'
धनुषवलिं धंधोलिसीए सुरयोधन घरसूत्त' ॥
नकुलु अनइ सहदेवु भडो जुअलइं जाया बेउ
प्रभु चंद्रप्रभु थापीयउ नासिकि कुंती देउ ॥
सउ बेटां धयराठवरे पंडु तणइ घरि पंच
दुर्योधनु कउतिग करए कूडा कवडप्रपंच ॥
अन्नदिणंतरि गिरिसिहरे राजा रमलि करेइ
कुंतीकरयल अडवडिउ रडयउ भीमु रुडेइ ॥
पाहणि पाहणि आफलीउ बाल न दूमीउ देहु
पाहण सवि चूनउ हूयए केवडु कउतिगु एहु ॥
गयणह वाणी आपीयउ आगइ वज्रसरीरु
वाधइं पंचइ चंद जिम पंडव गुणगंभीर ॥
भीमु भीडंतउ जमणतडे कूटइ कुरववीर
पाडइ द्रउडइ भेडवइ बांधीय बोलइ नीरि ॥

---

[२४३] अन्ना पाठान्तर अन्न का
[२४५] पाहणि पाठान्तर

दुरयोधनु रोसिहिं चडीउ बोलइ 'सांभलि भीम
तुं मुझ बंधव कूटतउ म मरि अखूटइ ईम' ॥
भीमि भिडिउ भडुं पाडीयउ बांधीउ घालिउ नीरि
जागिउं त्रोडइ बंध बलि नवि दूमिइ सरीरि ॥
विसु दीधउं दूरयोधनिहिं भीमह भोजन माहि

अमृतु हुई नइ परिणमिउ पुन्निहिं दुरिउ पुलाइ ॥
अतिरथि सारथि तहिं वसए राय तणइ घरिसूत्तु
राधा नामिहिं तसु घरणि करणु भणु तसु पूत्तु ॥
सउ कूंयर पंचगलउं किवहरि पढिवा जाइं
धीरु वीरु मति आगलउं करणु पढइ तिणि ठाइ ॥

दडा लगइ गुरू भेटीउ द्रोणु सु बंभणवेसि
तेह पासि विद्या पढइ कूपगुर नइं उपदेसि ॥

॥ वस्तु ॥

तींह कूंयरह तींह कूंयरह माहि दो वीर
इकु अरजुनु आगलऊ अनइ करणु हीयइ हरालउ
गुरकूवइं विणयह लगइ धणुहवेदु दीधउ सरालउ

किसुं न हुइ गुरभगति लगइ माटि नउ गुरु किद्धु
अहनिसि गुरु आराधतउ एकलव्यु हूउ सिद्धु ॥
गुरु परिक्खइ गुरु परिक्खइ अन्नदीहंमि
दुरयोधनपमुह सवि रायकूंयर वण माहि लेविणु
सारींगुं भिल्हि करि तालरूंख सिरि लखु देविणु

तीणं परीक्षां गुर तणी पूगउ एकु जु पत्थु
राहावेहु तउ सिखवइ मच्छइ देविणु हत्थु ॥
एक वासरि एक वासरि कूंयर नइ माहि
गुरि सरिसा जलि तरइं द्रोणचलणु जलजीवि लिद्धऊ
कूंयरपरीक्षा तणइ मिसिं गुरिहिं कूड पोकारु किद्धउ

धायउ अरजुनु धणुहधरु अवर न धाया केइ
मेल्हाविउ गुरचलणु तसु गुरु किम नवि तूसइ ॥

[ठवणी ॥ ४ ॥]

गुरि वीनविउ अवसरि राउ "सविहुं वेठां करउ पसाउ
तुम्हि मंडावउ नवउ अखाडउ नव नव भंगे पूत्र रमाडउ" ॥१॥
आइसु विदुरह दीधउं राइ दह दिसि जणवइ जोवा धाइं
सोवनथंभे मंच चडावइ राणो राणि ते सहू य आवइ ॥२॥
पहिलउं आवइ गुरु गंगेउ धायरट्ठ धुरि बइसइं राउ
विदुर कृपा गुर अवर नरिंद मंचि चड्या सोहंइ जिम चंद ॥३॥
केवि दिखाडइं खांडा सरमु केवि तुरंगम जाणइ मरमु
चक्र छुरी किवि सावल भालइं किवि हथीयार पडंता झालइं॥४॥
पहिलुं सरमइ धरमह पूत्रो जेह रहइं नवि कोई शत्रो
ऊठिउ भीमु गदा फेरंतउ तउ दुर्योधन भिडइ तुरंतउ ॥५॥
मनि मार्वात्रिह मत्सर रहीउ पाछइ अरजुनु अति गहगहीउ
भीमु दुजोहण जां वे मिलिया तां गुरनंदणि पाछा करीआ ॥६॥
गुरु ऊठाडइ अरजुनु कुमरो करखिहिं सरिसउं माडइ वयरो
वे भाथा विहुं खवे वहेई करयलि विसमु धणुहु धरेई ॥७॥
लोहपुरुपु छइ चक्रि भमंतउ पंच बाणि आहणइ तुरंतउ
राधावेधु करीउ दिखाडइ तिसउ न कोई तीण अखाडइ ॥८॥
तीछे हूंफी ऊठइ करणु 'अरजुनु पामइ मूं करि मरणु'
रोसिं ऊठइं वेउ झूझेवा रणरसु जोइं देवी देवा ॥ ९ ॥
वेउ हूंफइं वेउ वाकरवाइं राय तणा मनि रीझ ऊपांइ
धरणि धसकइ गाजइ गयणु हारिइ जीतइ जयजय-वयणु ॥१०॥
हीयां ध्रसकइं कायर लोक संत तणां मन करइं सशोक
जाणे वीज पडि [अ] अकालि जाणे मुंद्र खुभ्या कलिकालि॥११॥
क्षणि नान्हा क्षणि मोटा दीसइं माहोमाहि खुसइं वेउ रीसइं
बंधवि वींटीउ राउ दुजोहणु चिहुं पंडवि वींटीउ द्रोणु ॥१२॥
किसुं पहूतउ द्वापरि प्रलउ इंह लगइ कइ अम्ह घरि विलउ
अरजुन बोलइ "रे अकुलीन, अरजुन झूझिसि मइं सुं हीन ॥१३॥

---

[२८८] मत्स पाठान्तर मत्सर

[२९७] जयवयणु पाठान्तर जयजयवयणु का

[३००] रीसं पाठान्तर रीसइं का

अरजुन सरसी भेडि न कीजइ नियकुलमानिं गरवु वहीजइ
इम आपणपुं घणुं बखाण बोलिन नीयकुल तणुं प्रमाणुं ॥१४॥
इम आरोडिउ तपि जा करणु पुरुष पराभवि सारं मरणु
दुरजोधनि तउ पखउ करीजइ "वीराचारिं कुलु जाणीजइ" ॥१५॥
एतइं अतिरथि सारथि आवइ करण तणुं कुलु राउ जणावइ
"मइं गंगा ऊगमतइ दीस लाधी रतनभरी मंजुस ॥ १६ ॥
कुंडल सरिसउ लाधउ बालो रंकु लहइ जिम रयण झमालो
तिणि दिणि दीठउ सुभिणइ सूरो अम्ह घरि आविउ पुन्नह पूरो॥१७॥
कान हेठि करु करिउ ज सूतउ तउ अम्हि कहीयइ करणु निरूत्तउ
इसीय वात मन भींतरि जाणी गूझू न कहीउ कूंती राणी ॥१८॥
करणु दुजोहणु बेंई मित्र पंचह पंडव केरा शत्र
तसु दीधुं सउ कूयरं राजो सो संग्रहीइ जिणि हुइ काजो ॥ १९
द्रोणगुरिं झूझंता वारी बेउ बेटा बहुमानिं भारी
ईम परीक्षा हुई अखाडइ तींछे अरजुनु चडीउ पवाडइ ॥ २०

॥ वस्तु ॥

अन्नवासरि अन्नवासरि रायअसथानि
परिवारि सुं अछइं ताम दूतु पोलि पहूतऊ
पडिहारिहिं वीनविउ लहीउ मानु चाउरि बइठ्ठऊ
पय पणमी इम वीनवइ 'द्रुपदनरिंदह धीय
परणउ कोई नरपवरु राहावेहु करीउ ॥
द्रुपदरायह द्रुपदरायह तणी कूंयारि
तसु रूपह जामलिहिं त्रिहउं भूयणि कइ नारि नत्थीय
पाधारउ कुमरिं सहीय आठ चक्र छइं थंभि थंभीय
तींह मझि वि पूतली फिरइं स सृष्टि संहारि ।
तासु नयण वेही करी परिणउ द्रूपदि नारि' ॥

[ठवणी ॥ ५॥]

पंडु-नरेसरो सइंवरि जाइ हथिणाउरपुर संचरए
राइं दले सरिसा कूंयर लेउ तारे सुं जिम चांदुलउ ए ॥
वाजीय त्रंबक गुहिर नीसाण दिणयरो रेणिहिं छाईउ ए

---

[३३०] पाठान्तर 'आईउ' मिलता है 'छाईउ' का

पहुतउ जाणीउ पंडु नरिंदु द्रूपदु पहूचए सामहो ए।
तलीया तोरण बंदरवाल नयरु उलोचिहिं छाईउं ए
मणिमय पूतली सोवनथंभ मोतीय चउक पूराविया ए।।
कंकूय चंदणि छडउ दिवारि घरि घरि तोरण ऊभीयां ए
नयरि पइसारउ पंडु नरिंद किरि अमराउरि अवतरी ए।।
पोलि पहुतउ पंडु तेजि तरणि पयंडु
सीसि चमर बंत्राल अनु कंठि कुसुमह माल ।।
अनु कंठि कुसुमह माल किरि सुं मयणि आपणि आवीइ
कोइ इंदु चंदु नरिंदु सइंवरि पहुतु इम संभावीयइ ।।
चडीउ चंचलि नयणि निरखइं वयणु बोलइं सउं सही
'पंच पंडव सहितु पहुतु तउ पंडु नरवरु हुइ सही' ।।
मिलिया सुरवए कोडि तेत्रीस गयणे वुंदुहि द्रहद्रहीय
मेडे बइठला रायकूंयार आवए कूंयरि द्रूपदीय
सीसि कचुंवरि कुसुमह खूपु कानि कनेउर झलहलइंए
नयण सलूणीय काजलरेह तिलउ कसत्तूरी यम णिघडीय
करयले कंकण मणि झमकारु जादर फालीय पहिरण ए
अहर तंबोलीय द्रूपदी बाल पाए नेउर रुणझुणइं ए
भाईय वयणिहिं राधावेधु नरवर साधइं सवि भला ए
कुणिहिं न साधीउ पंडु आएसि अरजुनु ऊठइ नरनरीउ ए
अति धणुहु जूतुं एहु तूय सामि सबलु देहु
इम भणी रहिउ भीमु 'सो धनुपु नामइ कीमु
सो धनुपु नामइ कीमु काटकि धरणि धासकि धडहडी
बंभंड खंड विखंड थाइ कि सग्गि सयल वि रडवडी
झलहलीय सायर सत्त सुरगिरि श्रृंगुश्रृंगि खडखडी
खणु एकु असरणु हूउं तिहूयणु राय सयल वि धरहडी

[३३५] पाठान्तर किंरि मिलता है करि का

[३४१] At the end of the line 1

[३४६] Ms. has only नरनरीउ and not नरनरीउए; at the end of the line there is 2

[३५२] कीम In Ms. for कीमु

[३५५] धरडी In Ms. for धरहडी

एतइं हूयउ जयजयकारु सुर पन्नग सवि हरखीया ए
धनु धनु रायह द्रूपदधीय जीए असंभम वर वरिया ए
धनु धनु राणीय कुंतादेवि जसु कूखिहिं ए ऊपना ए
पंचम गति रहइं अवतर्या पंच पंचत्राणं जिसा जगि हूया ए
पांचइ गाईय सुर सुरलोकि सुरवए सिरु धूणाविया ए
महीयले महिलीय करइं विचारु "कवणु कीउ तपु द्रूपदीय
कोइ न त्रिहु जगि हुईय नारि हिव पछी कोइ न होइसि ए
एक महेलीय पंच भतार सतीय सिरोमणि गाई ए ॥
राधावेधु सु अरजुनि साधिउ मनचींतीउ वरु लाडीय लाधउ
जां मेल्हि गलि अरजुन माल दीसइ पांचह गलि समकाल
राइ युधिष्टिरि मनि लाजीजइ तिणि खणि चारणि मुनि बोलीजइ
"निसुणउ लाडीय तपह प्रमाणुं पूरविलइ भवि कियउं नियाणुं
भवि पहिलेरइ बंभणि हूंती कडुउं तूंबु मुणिवर दिंती
नरग सही वलि साहुणि हुई पांचह पुरिस नियाणु धरेई
एहु न कोईय करउ विचार द्रूपदराणीय पंच भतार" ॥
साहु कही नइ गयणि पहूतउ पंडु नराहिवु हूयउ सयंतउ
अइहवि दीजइं मंगल चार जगि सचराचरि जयजयकार
लाडीय कोटं कुसुमह माल लाडीय लोचन अति अणीयाला
लाडीय नयणे काजलरेह सहजिहिं लाडण सोवनदेह
कुंती मद्रीय माथइ मउड धनु धनु पंडव द्रूपदि जोड
पंचइ पंडव बइठा चउरी नरवइ आसातउयरु मउरी

वस्तु

पंच पंडव पंच पंडव देवि परिणेवि
सउं परिवारिहिं सुं दलिहिं हस्तिनागपुरि नगरि आवइं
अन्न दिवसि रिषि नारदह नारि कज्जि आदेसु पामइं
समयधम्मु जो लंघिसिइ तीए पुरषि वनवासि
बार वरिस वसिवुं अवसि अहनिसि तीरथवासि ॥
सच कज्जिहिं सच कज्जिहिं अन्न दीहंमि
उल्लंघिउ गुरुवयणु इंदपुत्तु वनवासि चल्लई

गिरि वेयड्डह तलि गयऊ पणमिउ नाभि मल्हारु
निव मणिचूडह राजु दिइ पहिलउ एउ उपकारु ॥

बार वरिसह बार वरिसह चडिउ विमाणि
अट्ठावयपमुह सवि नमीय तित्थ जां घरि पहुचई
मणिचूडह मित्तह भयणि राउ एकु परिहरीउ वचई
गहीय पभावइ रिउ हणिउ भंजिउ मारग कूडु
घरि पहुत्तउ वेउ मित लेउ हेमंगडु मणिचूडु ॥

ठवणी ॥ ६ ॥

एतलं ए पंडु नरिंदो जूठिलो पाटि प्रतीठिउ ए
बंधवि ए विजयु करेवि राय सवे वसि आणीया ए
सोवन ए राशि करेवि बंधव आगलिउ गिणं ए
मित्तह ए रईय मणिचूड राय रहइं सभा रयणमए
राइहिं ए संति जिणंद नवउ प्रासादु करावीउ ए

कंचण ए मणिमय थंम रयणमइ बिंब भरावीयां ए
तेडीउ ए देवु मुरारि राउ दुरयोधनु आवीउ ए
इछ्रीय ए दीजइं दान बिंबप्रतिष्ठा नीपजं ए
वरतीय ए देसि अमारि ऊरिण कीधी मेदिनी ए
हसिऊ ए सभा मझारि राउ दुरयोधनु पराभवी ए

माउलं ए सरिसउ मंत्रु तायह आगलि वीनवं ए
वारिउ ए विदुरि ताएण वयणु न मानइ कूडीउ ए
आणीय ए सभामिसेण पंडव पंचइ राइ सउं ए
कूडिहिं ए दीजइं मान वयरिहिं मांडइ जूवटउ ए
राखिउ ए राउ जूठिलु विदुरह वयणु न मानीउं ए

हारीयां ए हाथियं थाट भाईय हारीय राजि सउं ए
हारीय ए द्रुपदह धीय ऊदालिय सवि आभरण ए
आणीय ए सभामझारि दुरीय दुर्योधनु इम भणं ए
आणीय ए सभामझारि दुरीय दुर्योधनु इम भणं ए
"आविन ए आवि उत्संगि द्रूपदि वइसिन मुझ तणं ए"

इम भणी ए दियइ सरापु 'रु [—] हुजे तुं कुलि सउं ए
कुपीउ ए काढवी चीरु अट्ठोत्तर सउ साडीय ए
ऊठीउ ए गुरु गंगेउ कुणवि दुरयोधनु ताजिउ ए
तउ भणं ए "पंडव पंच वयणु महारउ पडिवजुं ए
बारह ए वरस वणवासु नाठे हींडिवुं तेरमई ए
अम्हि किम ए जाणिसुं तुहितउ वनवासु जु तेतलु ए"
पंडव ए लियइं वणवासु सरसीय छट्टीय द्रूपदीय

॥ वस्तु ॥

हैय दैवह हैय दैवह दुट्ठ परिणामु
पियं पंचह पेखतां द्रुपदधीय कडिचीरु कड्ढीय
द्रोण विदुर गंगेय गुरा न हल्लि कोहग्गि दड्ढीय
आसमुद धरहि धणिय इकेकइं कडिचीरि
हाकीउ रल जिम काढीइंउ आथमतई सूरि ॥

[ठवणी ॥ ७ ॥]

अह दैवह वसि तेवि पंच ए पंडव वणि चलिय
हथिणउरि जाणवि मुकलावइं निय माय पीय
पय पणमीय निय ताय कुंती मद्री पय नमीम
सच वयण निरवाहु करिवा काणणि संचरइं
लेई निय हथियार द्रोण पियामहि अणगमीय
कुंतादिवि भरतार नयण नीर नीझर झरइं ए ॥ ३
सचवई पिय माय अंबा अंबाली अंबिका
कुंती मुद्री जाइ वउलावेवा नंदणह ॥ ४
पभणइ जूठिलु राउ "माइ म अरणइ तुहि करउ
निय घरि पाछां जायउ लोकु सहूयइ राहवउ" ॥ ५
दाणवि कूरि कमीरि पंचाली बीहावीयउ
झूझिउ मारीउ वीरु भीमिहिं तु दुरयोधनह ॥ ६
तउ वनि कामुकि जाइं पंचह पंडव कुणवि सउं

मंत्रह तणइ उपाइ अरजुनु आणइ रसवती य ॥ ७
पणमीय तायह पाय पाछइ वालीउ मद्रि सउं
विद्या बुद्धि उपाइ आपीय पहुतउ पीत्रीयउ ॥
पंचाली नउ भाउ पंच पंचाल लेउ गिउ
एतइं केसवु राउ कुंती मिलिवा आवीयउ ॥ ९

बलु बोलीउ बलवंधु सुभद्रा लेई सांचरए
हिव पुणु हूउ निबंधु कुंती थुं सरसा सात ज ए ॥ १०
एहु तु पुरोचन नामि पुरोहितु दुर्योधनह
"तुम्हि वीनविया सामि राय सुयोधनि पय नमीय ॥ ११
मइं मूरखि अजाणि अविणउ कीधउ तुम्हा रहइं

मूं मोटी मुहकाणि तुम्हं खमउ अवराहु मुह ॥ १२
पाधारिसिउम रानि वारणवति पुरि रहण करउ
ताय तणइ बहुमानि हुं आराधिसु तुम्ह पय" ॥ १३
कूडु करी तिणि विधि वारणवति पुरि आवीया ए
किसुं न कीजइ शत्रि अवसरि लाधइ परभवह ॥ १४

विदुरि पवाचिउ लेखु "दुरयोधन मन वीसिसउं
एसु पुरोहितवेपु कालु तुम्हारउ जाणिजउ ॥ १५
इंह घरि अछइ मंत्रु लाख तणउं छइ धवलहरो
माहि पउढाडउ शत्र एकसरा सवि संहरउं ॥ १६
काली चउदसि दीहु तुम्हे रूडइं जोइजउ

एउ दुरयोधनु सीहु आइ उपाइं मारिसिए" ॥ १७
भीमु भणइ "सुणि भाय वारउ वयरी वाधतउ
कुलह कुलंछणु जाइ एकि सुयोधनि संहरीइं" ॥ १८
सगरिहिं खणीय सुरंग विदुरि दिवारीय दूर लगइ
'हुं ऊगारउं अंग इंण ऊपाइं पंडवह' ॥ १९

इकि डोकरि तिणि दीसि पांच पूत्र इकि बहूय सउं
कुंती नइ आवासि बटेवाहू वीसमियाँ ॥ २०

---

[४४३] पाठान्तर मामि नामि का
[४५१] पवाचिउ का पाठान्तर पवाठिउ

रातिं चालइ राउ मागि सुरंगह कुणवि सउं
दियइ पुरोहितु दाउ लाखहरइ विसनरु ठवइ ॥ २१

साधीउ पच्छेवाणु भीमि पुरोहितु लाखहरे
मेल्हीउ दीधु पीयाणु केडइ आवी पुणु मिलए ॥ २२
हरखीउ कउरवु राउ देखी दाधां माणुसहं
जोयउ पुन्नपभाउ पंडव जीवी ऊगरए ॥ २३

॥ वस्तु ॥

दैवु न गिणई दैवु न गिणई पुण्यु नइ पापु
संतापु सुयणह करई पुण्यहीन जिम राय रोलई
दारिद्र दुक्खु केह भरई तृणा कज्जि गिरि सिहरु ढोलई
जोउ मांग्ग निसंबला पंचइ पंडव जंति
राजु छंडाव्या वणि फिरइं धिगु धिगु दूख संहति ॥

ठवणी ॥ ८ ॥

धिगु रि धिगु रि धिग दैवविलासु पंचह पंडव हुइ वणवासु
उतइं लाखहरुं परिजलइ उंतइं भीमु जु केडइ मिलीइ ॥ १
रातिं खुडत पडंता जाइं वयरी ने भइ वेगि पुलाइं
ते जीवंतां जाणइ किमइ कूडु नवउं तउ मांडइ तिमइ ॥ २
सासू वहूय न चालइ पाउ ऊभउ न रहइ जूठिलु राउ
माडी बोलइ "सांभलि भीम केती भुइं वयरी नी सीम ॥ ३
इकि वयरी ना परिभव सह्या लह्या नंदण पाछलि रह्या
हूँ थाकी अनु थाकी वहू दिणु ऊगिउ तउ मरिसइ सहू" ॥ ४
वांसइ बाधा बंधव वेउ माडी महिली कंधि करेउ
तरूयर मोडतु चालिउ भीमु दैव तणुं बलु दलीइ ईम ॥ ५
एकं बाहं साहिउ राउ बीजी साहिउ लहुडउ भाउ
जां महिमंडलि ऊगिउ सूरू तां वणि पहुतउ पंडव वीरु ॥ ६
सहू परावुं निद्रा करीइ पाणी कारणि वणि वणि फिरइ
भीमु जाम लेउ आवइ नीरु पाछलि जोअइ साहसधीरु ॥ ७
एक असंभम देखइ वाल पहिलुं दीठी अति विकराल
बोलइ राखसि साँभलि सामि हुं जि हिडंबा कहीउं नामि ॥ ८

राखस हिडंब तणी हूं धूय तइं दीठइं मयणातुर हूय
वइठउ ताउ अछइ नीय ठाणि वाइं आवी माणुसहाणि ॥ ९
मुझ रहिं आइसु दीधुं इसुं 'कांई आव्युं छइ माणसुं
कांधि करी लेउ वहिली आवि उपवासी मइं पारणुं कराविं' ॥ १०
कर जोड़ी हुं पणमउं पाय मइं तुम्हि परणउ पांडवराय
तुम्ह उपकार करिसु हुं घणा दूख दलिसु वणवासह तणा ॥ ११
उभी उभी इसंम वोलिइं पंडव बीजां मणुअ म तोलि
जग उद्धसिवा घर अवतरइं रूटा जगनुं जीवीउ हरइं ॥ १२
ए माडी ए अम्ह घर नारि ए अम्ह बंधव सूता च्यारि
इंह तणे तूं चलणे लागि भगति करी मनवंछितु मागि" ॥ १३
एतइं राखसु रोसि जलंतु आवइ फुड फेकार करंतु
वेटी वूसट मारइ जाम भीमु भिडेवा ऊठिउ ताम ॥ १४
' रे राखस मुझ आगलि बाल मारिसि तउ तूं पूगउ कालु
रूंख ऊपाडी वेई विढइं दह दिसि गाजइं डूंगर रढइं १५
चलणनिहाइं जागिउं सहू पणमी वोलइ हिडंबा वहू
"माइ माइ ऊठाडउ राउ ए रूठउ अम्हारउ ताउ १६
इणि मारीसइ मुहडु भिडंतु बीजउ कोई धाउ तुरंतु"
इसुं सुणी नइं धायउ पत्थु झूझइ भीम मिलिउ भडसत्थु ॥ १७
पडिउ भीमु आसासिउ राइ गदा लेउ वलि साम्हउ थाइ
अरजुनु जां झूझेवा जाइ राखसु भीमि रहाविउ ठाइ

॥ वस्तु ॥

अह हिडंबा अह हिडंबा सत्थि चल्लेइ
कुंती अनु द्रोपदी अ कंधि करीउ मारगि चलावइ
कुंती जल विणु तूंछीइ तहि हिडंब जलु लेउ आवइ
एकु दिवसु वण जोयती भालाटी पंचालि
जोई जोई ऊसना पंडव वणि विकरालि ॥ १९

[॥ ठवणी ॥ ९ ॥]

वाघ सीह गज द्रेठिं पडइ सतीय सयरि ते नवि आभिडइं
राति पडंती पंडव रडइं वलि वलि मूछी भूमिं पडइ ॥

राखसि धाई गाहिउं रानु आणी द्रूपदि लाधूं मानु
भीमसेन गलि मेल्ही माल कुणथि मिली परिणावी बाल ॥ २१
भोजनु आणइ मारगि वहइ करइ भगति सरसी दुक्ख सहइ
नवउ अवासु करी नइ रमइ पंचह पंडव सरसी भमइ ॥ २२
एकचक्रपुरि पंडव गया देवशर्मबंभण घरि रह्या
हीडइ चालइ बंभण वेसि जिम नोलखीइं तीणं देसि ॥ २३
राइ बोलावी वहू हिडंब "अम्हि वसीसइ वेस विडंबि
तुम्हि सिधावउ तायह राजि समरी आवे अम्हह काजि २४
करि रखवालुं थांपणि तणुं अजीउ फिरेवुं अम्हि वनि घणुं"
नमी हिडंबा पाछी जाइ वापराजि धणियाणी थाइ ॥ २५
अन्न दिवसि बंभणु सकुटंब रल जिम विलवइ पाडइ बुंब
पूछइ भीमु करी एकंतु "आविउं दूखु किसुं अचिंतु"
"वडुया सांभलि" बांभणु भणइ एविवहारु नयरिअम्हह तणी॥ २६
वियासिद्धी राखसु हूउ बक नामि छइ जम नउ दूउ ॥ २७
विद्या जोवा तीणं पलासि पहिलुं सिला रची आकासि
राजा भीडी अवग्रहु लीउ "पइदिणि नरु एकेकउ दीउ ॥ २८
चीठी काढइ नितू कूंयारि आवइ वारउ जण विवहारि
आजु अम्हारइ आविउ दूउ आजु न छूटउं हुं अणमूउ ॥ २९
केवलि वयणुं जु कूडउ थाइ जउ नवि आव्या पंडवराय"
पूछीउ भीमि कथाप्रबंधु वणि जाई बग राखसु रुद्धु ॥ ३०

॥ वस्तु ॥

बगु विणासी बगु विणासी भीमु आवेइ
वद्धावइ जणु सयलु "जीवदानु तइ देवि दिद्धऊ
केवलि वयणु जु सच्चु किउ त्रिहुं भुयणि जसवाउ लिद्धउ"
पंचइ पंडवडा वसइं तींछे बंभणवेसि
वात गई जण जण मिली दुरयोधन नइ देसि ॥ ३१
राति माहे राति माहे हुई प्रच्छन्न
तउ जाइं द्वैतवणि बसइ वासि उडवा करी नइ
पुरुष प्रियंवदु पाठविउ विदुरि वात बक नी सुणी नइ
पय पणमी सो वीनवइ दुरयोधन नु मंत्रु

"तुम्ह पासि ए आविसिइं करण दुर्योधन शत्र" ॥ ३२
ईम निसुणीउ ईम निसुणीउ भणइ पंचालि
"वणि रुलतां अम्ह रहइं अजीय शत्र सिउं सिउं करेसिइं"
राजरिद्धि अम्हह तणी लईय जेण हिव सिउं हरेसिइं
पंचाली मनि परिभवी बोलइ मेल्ही लाज
पांचइ जण कईं हुसिइं तुम्हि किसाइ काज ॥ ३३
माई हूई माइ हूई काइं नवि वंझि
अह जाया नवि मूआ तुम्हे राजु कांई दैवि दिद्धउ
पुत्रवंत नारी अछइ तींह माहि तुम्हि अजसु लिद्धउ
केसि धरीनइ ताणीउं दुःसासणि दुरचारि
बालपणि हुं नवि मूइ कांइं हुई तुम्ह नारि" ॥ ३४
रोसु नामीउ रोसु नामीउ भीमि अनु पत्थि
राउ भणइ "तां खमउ मुझ वयणु जां अवधि पुज्जई
पंचाली रोसवसि अवसि अंति अम्ह काजु सिज्झई
सच्च वयणु मनि परिहरउ साचउं जिणधर्ममूलु
सत्य वयणि रूडु पामीइ भवसायर परकूलु" ॥ ३५
दूअवयणि दूअवयणि राउ जूटिल्लु
गिरि गंधमायण गिया इंदकीलु तसु सिहरु दिट्ठऊ
मुकलावी अरजुनु चडई नमीउ तित्थु तसु सिहरि वइट्ठऊ
विद्या सवि सिद्धिहिं गई जां पेखइ वणराइ
आहेडी आरोडीउ तां एकु सूअरू धाई ॥ ३६

॥ ठवणी ॥ १० ॥

सूयर देखी मेल्हिउं बाणु अरजुन सिउं कुणु करइ संधाणु
तिणि खिणि मेल्हिउं वणचरि बाणु ऊडिउं गयणि हूउं अप्रमाणु ॥ ३७
अरजुन वन चर लागउ वादु 'करउं झूझु ऊतारउं नादु'
एकसर कारणि झूझइं बेउ करइ परीक्षा ईसर देउ ॥ ३८
खूटां अर्जुन सवि हथीयार मालझूझ बेउ करइं अपार
साहिउ अर्जुनि वनचरु पागि प्रकटु हुई बोलइ "वरु मागि" ॥ ३९
अर्जुनु बोलइ "चरु भंडारि पाछइ आवइ लउ उपगारि
खेचरु बोलइ "सांभालि सामि गिरि वेयड्ढ सुणीइ नामि ॥ ४०

इंद्रु अछइ रहतू पुरराउ विज्ञमालि ते लहुडउ भाउ
चपलु भणी नइ काढिउ राइ रोसि चडिउ राखसपुरि जाइ॥ ४१
इंद्रवयणु इकु तुम्हि सांभलउ करीउ पसाउ नइ दाणव दलउ"
हरखिउ अरजुनु जां रथि चडिउ दाणवघरि बुंबारवु पडिउ ॥ ४२
असुर विणासी किउ उपगारु इंद्रि लोकि हूउ जयजयकारु
इंद्र तणुं ए कीधुं काजु असुर विणासी लीधउं राजु ॥ ४३
कवच मउड अनइ हथीयार इंद्रि आप्यां तिहूयणि सार
धनुषवेदु चित्रंगदि दीउ पुत्रु भणी इंद्रि परठीउ ॥ ४४
पाछउ आवइ चडीउ विमाणि मार्डी बंधव पणमइ रानि
एतइं कमलु अगासह पडीउं बइठी द्रूपदि करयलि चडिउं ॥ ४५
सवां कमल नी इच्छा करइ भीमसेनु तउ वनि वनि फिरइ
असउण देखी बोलइ राउ भीम पासि वछेदिइं जाउ ॥ ४६
मागु न जाणइ खीजिउं सहू समरी राइ हिडंबा वहू
कुणवु ऊपाडी मेलिउं भीम जाणे दूरह आवी सीम ॥ ४७
सुखु देखी सवि घडुया तणु पंडव कूंयरु लडावइं घणुं
जाम हिडंबा पाछी गई वात अपूरव तां इक हुई ॥ ४८
द्रुपदि वयणि सरोवर माहि पइठउ भीमु भलेरइ ठाइ
भीमु न दीसइ वलतउ किमइ तउ झंपावइ अरजुनु तिमइ
केडइ नकुलु अनइ सहदेउ पाणी बूडा तेई बेउ
माइ मोकलावी पइठउ राउ सविहुं हूउ एकु जु ठाउ ॥ ५०
कांई रोउं न लहइ रानि द्रूपदि कूंती रही बे ध्यानि
मनह माहि समरइं नवकारु 'एहु मंत्रु अम्ह करिसि सार' ॥ ५१
बीजा दिवसह दिणयर उदइ ध्यान प्रभावि आव्या सइ
अछइ सोवन्नीकांवज हाथि एकु पुरुषु आविउ छइ साथि ॥ ५२
माइ मनि हरिखु धरिउ पुरुष पासि कहावइ चरीउ
"एक मुनि पामइं केवलज्ञानु गयणि पहूचइ इंद्र विमानु ॥ ५३
तुम्ह ऊपरि खलहिउ जाम जाणी सुरवइ बोलउं ताम
हुं पाठविउ वेगि पडिहारु जईअ पयालि कीउ उपगारु ॥ ५४
सतीय बेउ छइं कासगि रही इंद्रह आइसु तु तम्ह कही
मेल्हउ पंडव वडइ वछेदि विणु हथियारह बांधा भेदि ॥ ५५

॥ वस्तु ॥

नागपासह नागपासह बंध छोडिवि
इंद्राइसि पंडवह नागराइ निजराजु दिद्धऊ
हारु समोपीउ नरवरह सतीय रेसि अनु कमलु लिद्धऊ
अरजुन संगति झूझतां संपचूड सानिद्धु
मागीउ आवी तुम्ह पय पंचइ विद्या सिद्ध" ॥ ५६
वरसि छडइ वरसि छडइ द्वैतवणि जाइं
दुज्जोहण घर घरणि सामि सिक्ख रडतीय मग्गइ
धम्मपुत्त वयणेण पुण इंदपुत्तु तिणि मग्गि लग्गइ
दुरयोधन चित्रंगदह मेल्हावी उहि पत्थि
विज्जाहररायहं नमइं दुरयोधनु लेउ सत्थि ॥ ५७

[ठवणी ॥ ११ ॥]

तांड ऊपाडिउ घालिउ पाइ पूछिउं कुसलु युधिष्ठिरि राइ
भणइ दुरयोधनु "अतिअ सुखीया तुम्ह पाय जउ मइं पणमीया"
॥ ५८
घर ऊपरि दुरयोधनु चलइ एतइं जयद्रथु पाछउ वलइ
निउंत्रीउ कूंती रहिउ सोइ अरजुनि आणी मंत्र रसोइ ॥ ५९
लोचन वंची कूड करेउ चालिउ पापी द्रूपदि लेउ
अर्जुनु भीमु भिड्या भड वेउ कटकु विणासिउं द्रूपदि लेउ ॥ ६०
पांचे पाटे भंद्रिउ [...] भीमि भिडी ऊपाडी रीस
नवि मारिउ छइ माडी वयणि जिम नवि दीसइ रांडी भयणि।६१
एतइं नारदु रिषि आवेऊ दुर्योधन सुं मंत्रु करेउ
नगर माहि वज्जाविउ पडहु वोलिउ दूजणु इम पडवडहु ॥ ६१
"पंचह पंडव करइ विणासु तेह तणी हुं पूरुं आस"
पूत्रु पुरोहित नउ इम भणइ "कृत्या नउ वरु छइ अम्ह तणइ॥ ६३
कृत्या पासि करावुं कामु वयरी नुं हुं फेडउं ठामु"
कृत्या आवी धाई 'सकल कइ मारूं कइ करूं विकल' ॥ ६४
नारद पहुतउ सिख्या देवि पंडव बइठा ध्यानु धरेवि
एकं पाइं दिणयर द्रेठि हीयडइ मंत्रु पंच परमेठि ॥ ६५

दिवस सात जां इण परि जाइं तां अचभू को रणवाइं
एतइं आविउ' कटकु अपारु पंडव धाया लेई हथीयार ॥ ६६
घोडइ घाली द्रूपदि देवि साटे मारइं कटकु मिलेवि
अरजुनि जामुं दलु निरदलुं राय तणुं तां सूकउ' गलुं ॥ ६७
कृत्रिम सरवरि पाणी पीइं पांचइ पुहवी तलि मूंछीयइं

सरवर पालिं द्रूपदि मिली एकि पुलिंदइं आणी वली ॥ ६८
कृत्या राखसि तणीय जि सही भीलिं बाली ऊभी रही
मणि माला नुं पाया नीरु पांचइ हूया प्रकट सरीर ॥ ६९

॥ वस्तु ॥

पंच पंडव पंच पंडव चित्ति चिंतंति
'कुणु नरवरु आवीऊ कुणि तलावि विसनीरु निम्मिउ
कुणि द्रूपदि अपहरीय कुणि पुलिंदि' इम चित्ति विम्हिउ
अमरु एकु पयडउ हूउ बोलइ "सांभलि णाह
ए माया सवि मइं करी कृत्या राखेवाह ७०
एतइं भोजनवेला हुई द्रूपदि देवि करइ रसवई
मासखमणपारणइ मुणिंद वेलां पहुतउ बारि नरिंद ॥ ७१
पंचइ पंडव पय पणमंति अतिथिदानु ते मुनिवर दिंत
वाजी दुंदुहि अनु डुडडुडी अंबर हूती वाचा पडी ॥ ७२
'मत्स्यदेसि जाई नइ रमउ ए तेरमउ वरसु नीगमउ'
ग्या वइराटह राय असथानि वेस विडंव्या नीय अभिमानि ॥७३
कंक भट्टु बल्लवु सूआरु अरजुनु हूउ कीवाचारु

चउथउ नकुलु असंधउ थाइ सहदे वारइ नरवर गाइ ॥ ७४
प्रथम पवाडइं कीचक मरइं बीजइ दक्षिण गोग्रहु करइं
त्रीजउ उत्तरगोग्रहु हूउ पंडवि वरसु इस परि गमिउ ॥ ७५
अभिवनु उत्तरकूंयरि वरिउ आवी कृष्णि वीवाहु सु करिउ
पहुतउं सहूइ कन्हडपुरि च्यारि कन्न चिहु पंडवि वरी ॥ ७६

॥ वस्तु ॥

दूयभावि दूयभावि गयउ गोवालु
"दुजोहण वयणु सुणि एक वार मह भणिउ किज्जई

नियअवधि आवीया पंडवाह बहु मानु दिज्जई
इंदपत्थु तिलपत्थु पुरु वारणु कोसी च्यारि
हस्तिनागपुरु पांचमुं आपीउ मत्सरु वारि" ॥ ७७
भणइ कुरवु भणइ कुरवु "देव गोविंद
मह महीयलि वणि किन्नरिया एहु मनु पंडव न मानइ
भुइ लद्धी भूयबलिं एक चास हिव ए न पामइं
इक महिली पंच जण तींहं मिलिउं तुं पक्खि
ए उअहाणउ सच्चु किउ 'कूडउ कूडा सक्खि' ॥ ७८
कन्हु बोलइ कन्हु बोलइ "भीमबलु जोइ
विसखप्पर कीचका बकु हिडंबु कम्मीरु मारिउ
लहु बंधवि अर्जुनि दुन्नि वार तुह जीउ ऊगारिउ
विदुरि कृपागुरि द्रोणि मइं जउ न मिलइं ए राय
तउ जाणुं नियकुल नुं हिव कउरव नुं घरु जाइ
पंडु पुच्छीउ पंडु पुच्छीउ विदुर घरि कन्हु ॥ ७९
रोसारुणु चल्लीयउ मग्गि मिलीउ सहूइ नावइ
"दुरयोधनु दुट्ठमणु किम इव देव अम्ह सलि न आवइ
हिव एकु अम्ह मानु दियउ बिहुं पखउ तुं छंडि
कउरववंस विणासिवा कांई कूडु म मांडि" ॥ ८०
मानु दिन्हउं मानु दिन्हउं कन्ह गंगेय
एकंतु करि अखीउ कन्न गुरु कुंती पयासीउ
"इंह सत्थि काइं तुं भिलिउ जोइ जोइ तुं मनि विमासीउ"
करणु भणइ "सच्चुं कहउं पुणु छइ एकु वि नाणु
दुरयोधन रहिं आपणा मइं कल्या छइं प्राण" ॥ ८१
भणइ कन्हडु भणइ कन्हडु "कन्न जाणेजि
नवि मानिउ तुम्हि हुं एह वात अति हुई विरूई
अनु मुझ घरि आविया पंडुपुत्र इह वात गरूई
दुरयोधनि हु पंडवह छट्ठउ कीधउ तोइ
रथु खेडिसु अरजुन तणउ जं भावइ तं होउ" ॥ ८२

[ठवणी ॥ १३ ॥]

व्रतु लेउ विदुरु गयउ वन माहि कन्ह वली द्वारावती जाइ
बिहु पखि चालइं दल सामही बिहु पखि आवइं भड गहगही॥८३

जरासिंध नउ आविउ दूत कालकुमरु जंइं लगइ मूउं
वणिजारा नी वात सांभली जरासिंधु आवइ तुम्ह भणी ॥ ८४
उत्सव माहे उत्सवु एहु सविहुं वयरी आव्यो छेहु
धर्मराय ना पणमीय पाय एतइं शल्यु सु परि दलि जाइ ॥ ८५
'करण रहइं दिउ गुभाजणी' इसी वात तिणि जातइं भणी
पांचि पंचाले लिउ सनाहु आविउ घट्टउ कूंयरू अवाहु । ८६
इंद्रचंडु अनु चंद्रापीडु चित्रंगदु अन्नइ मणिचूडु
आविउ उत्तरु अनु वइराहु मिलिउं वाग पंडव नउं घाहु ॥ ८७
धृष्टद्युमनु सेनानी कीउ बीजउ कन्हडदल सामह्यउ
पवित्र भूमि सरसति नइ श्रोत्रि दलु आवाठउं तिणि कुरुखेत्रि॥ ८८
कउरव नइ दलि गुरु गंगेउ कृपु दुरयोधनु शल्यु मिलेउ
शकुनि दुसासणु जयद्रथु पुत्रु गरूड भूरिश्रवा भगदत्तु ॥ ८९
मिलीउ जरासिंधु जादववइरि सह लगउं एस हूइ सइरि
दुरयोधनु अति मत्सरि चडीउ जाई जरासिंध पाए पडीउ ॥ ९०
"मुझ रहइं पहिलउं दिउ अगेवाणु पंडव कन्ह दलउ जिम माणु
इंहा सेनानी गंगेउ ग्रह विहसी जुडियां दल बेउ ॥ ९१
दल मिलीयां कलगलीय सुहड गयवर गलगलीया
धर ध्रसकीय सलवलीय सेस गिरिवर टलटलीया
रणवणीयां सवि संख तूर अंबरु आकंपीउ
हय गयवर खुरि खणीय रेणु ऊडीउ जगु झंपीउ ।
पडइं बंध चलवलइं चिंध सींगिणि गुण सांधइं
गइंवरि गइंवरु तुरगि तुरगु राउत रण रूंधइं ।
भिडइं सहड रडवडइं सीस धड नड जिम नचइं
हसइं घुसइं ऊससइं वीर मेगल जिम मचइं
गयघडगुड गडमडत धीर धयवड धर पाडइं
हसमसता सामंत सरसु सरसेलि दिखाडइं ।
सउ सउ रायह दिवसि दिवसि गंगेउ विणासइ
तउ आठमइ दिवसि कन्हु मन माहि विमासइ
मेल्हीउ शल्लिहिं सकति कुंअरु उत्तरु रणु पाडीउ
ताम सिखंडीय तणीय बुद्धि तउ कान्हि दिखाडीउ

अरजुनु पूठि सिखंडीयाइ बइसी सर मंकइ
पडीउ पीयामहु समर माहि किम अरजुनु चूकइ
त्रिगवी सरु रहावीयउ सरि गंगा आणी
कउतिगु दाखीउ कउरवांह पीउ पायु पाणी ।
इग्यारमइ दिवसि द्रोणि ऊठवणी कीजइ
आजु अपंडवु कइ अद्रोणु इम मनि चींतीजइ ।
काहल कलयल ढक बूक त्रंबक नीसाणा
तउ मेल्हीउ भगदति राइ गजु करीउ सढाणा ।
चूरइ रहवइ नरकरोडि दंतूसलि डारइ
अरजुन पाखइ पंडकटकु हणतुं कुणु वारइ ।
दाणव दलि जिम दडवडंतु दंती देखी नइ
धायउ अरजुनु धसमसंतु वयरी मूंकी नइ ।
दिणि आथमतइ हणिउ हाथि हरि पंडव हरखीय
दिणि तेरमइ चक्रव्यूहु तउ कउरवि मांडीय ।
अर्जुनु गिउ वनि झूझिवा तिणि अभिवनु पइसइ
मारीउ जयद्रथि करीउ झूझु तउ अरजुनु रूसइ
करीउ प्रतिज्ञा चडीउ झूझि जयद्रथु रणि पाडइ ।
भूरिश्रवा नउ तीणि समइ सरि बाहु विडारइ
सत्यकु छेदिउं बलिहिं सीसु तसुः दिणि चऊदमइ
रातिहिं झूझइ विसम झूझि गुरु पडइ कीमइ ।
कूडउं बोलइ धरमपूतु हथीयार छंडावइ
छेदिउं मस्तकु द्रष्टद्युमनि क्रमु सिउं न करावइ
बार पहर तउ चडीउ रोसि गुरनंदणु झूझइ
रणि पाडिउ भगदत्तु राउ कउरव दल मंझइ
करि करवालु जु करीउ करणु समहरि रणु माडइ
फारक पायक तुरग नाग नवि कोई छंडइ ।
धूलि मिलीय झलमलीय सयल दिसि दिणयरु छाईउ
गयणे दुंदुहि द्रमद्रमीय सुरवरि जसु गाईउ
पाडइ चिंध कबंध बंध धरमंडलि रोलइ
बाणि विनाणि किवाणि केवि अरीयण धंधोलइ ।

कूड़ करीउ गोविंदि देवि रथु धरणिहिं खूतउ
मारीउ अरजुनि करणु कूडि रणि अणभूमंतउ।
शल्यु शकुनि बेउ हणीय वेगि नकुलि सहदेविं
सरवर माहि कढावीयउ दुरयोधनु देविं।
राइ संनाहु समोपीयउ भीमिहिं सुं भिडेउ
गदापहारिं हणीय जांघ मनि सालु सु फेडिउ
रूठउ राम मनाविवां जां पंडव जाइं
कृपु कृतवर्म आसवामता त्रिन्हइ धाइं।
पाछपीलि पापी करइं कूडु दीधउ रतिवाउ
निहणीय पंच पंचाल बाल अनु राखसि जाउ।
सीसु शिखंडी तणउं तासु छेदीउ छलु साधीउ
पाप पराभव नइ प्रवेसि गतिमागु विराधीउ।
कन्हडि बोधीउ सूयण लोकु सह सोगु निवारीउ
पहुतुं सहूइ नीय नयरि परीयणि परिवारीय।

॥ वस्तु ॥

दाघु दिन्हउ दाघु दिन्हउ कन्ह उवएसि
तहिं अरजुणि मिल्हिऊ आगिणेय सरु अगि उट्ठीय
बहु दुक्खु मणि चिंतवीय पंडसेन घण नयणि वुट्ठीय
कन्हडु सहूउ परीठवीउ कुणवि निवारी रोसु
हथिणाउरपुरि आवीया अति आणंदिऊ लोकु॥

[ठवणी ॥ १४ ॥]

थापीउ पंडव राजि कन्हडु ए उत्सवु अति करए
कुणविहिं देवि गंधारि धयरठू ए राउ मनावीउ ए।
हरीयला द्रूपदि देवि इकु दिणु ए नारद परिभवि ए।
बेहु रहइं कन्हु जाएवि सुद्रह ए माहि वाटडी ए
आणीय धातुकी पंडि देवीय ए अरि वसि घालीया ए
पहुतला पासिं गंगेय जय तणी ए सांभलइं वातडी ए।

[७७२] हस्तलिखित प्रति में पासि के स्थान पर पासि लिखा है जो भूल है।

ऊपनुं केवलनाणु सामीय ए नेमि जिणेसरहं ए
सांभली सामि वखाणु विरता ए सावयव्रतु धरइं ए।
वरतीय देसि अमारि नाशिक ए जाईउ जिणु नमइं ए।
दिणि दिणि दीजइं दान पूजीयं ए जिण भूयण ऊपनउ ए।
ऊपनउ भवह वइरागु बेटऊ ए पीरीयखि पाटि प्रतीठिउ ए
सामीय गणहर पासि पांचह ए हरिखिहिं व्रतु लिइं ए।
सांभली बलिभद्रि वात नियमवू ए पूठए पूछइं प्रभु कन्ह ए।
बोलइ गुरु धर्मघोषु "पुवभवि ए पांच ए कुणबीय ए
वसइं ति अचलह गामि बंधव ए पाँच ए भाविया ए
सुरईउ संतनु देवु सुमतिऊ ए सुभद्र सुचांमु ए।
सुगुरु यशोधर पासि हरखिहिं ए पांच ए व्रत धरए
कणगावलि तपु एकु बीजऊ ए करइ रयणावली ए।
मुकतावलि तपु सारू चउथऊ ए सिहनिकीलिऊं ए
पांचमु आंबिलवर्धमानु तपु तपी ए अणुत्तरि सवि गिया ए
चवीयला तुम्हि हूआ पंचइ ए भवि ए सिवपुरि पामिसउ ए"
सांभली नेमिनिरवाणु चारण ए सवणह सुणि वयणि
सेत्रुजि तीथि चडेवि पांचह ए पांडव सिद्धि गिया ए
पंडवं तणउं चरीतु जो पढए जो गुणइ संभलए
पाप तणउ विणासु तसु रहइं ए हेलां होइसि ए
नीपनउ नयरि नादउद्रि वच्छरी ए चऊददहोत्तर ए
तंदुलवेयालीयसूत्र माझिला ए भव अम्हि ऊधर्या ए
पूनिमपख मुणिंद सालिभद्र ए सूरिहिं नींमीउ ए
देवचंद्र उपरोधि पंडव ए रासु रसाउलु ए॥

॥ इति पंच पांडव चरित्ररासः समाप्तः॥

[७७७] पाठान्तर बोटउ बेटउ के स्थान पर
[७७६] पाठान्तर पुछए पुठए के स्थान पर
[७९१] पाठान्तर पाक पाप के स्थान पर

नेमिनाथ फागु

[राजशेखर सूरि कृत]

(संवत् १४०५ वि० के आसपास)

परिचय

नेमिनाथ जी को नायक मानकर अनेक रास एवं फागुकाव्य विरचित हुए हैं। स्वयं राजशेखर सूरि ने ही दो नेमिनाथ फागों की रचना की। श्री भोगीलाल ज० सांडेसरा के मतानुसार प्रथम का रचनाकाल सं० १४०५ वि० है और दूसरे का सं० १४६० वि०। इससे ज्ञात होता है कि जैन मुनियों एवं आचार्यों को सेवकों के लिए काव्यामृत प्रस्तुत करने को नेमिनाथ का इतिवृत्त क्षीरसागर के समान प्रतीत हुआ।

सारांश

नेमिनाथ एक महापुरुष थे। इनका जन्म यादव कुल में हुआ था। आप द्वारका में निवास करते थे। इनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा देवी था। नेमिनाथ जी सांसारिकता से दूर भागना चाहते थे, अतः अपने विवाह का विरोध करते। किन्तु एक बार वसंत-क्रीड़ा के समय श्री कृष्ण की पत्नियों ने इन्हें विवाह के लिए बाध्य किया।

राजा उग्रसेन की पुत्री राजीमती अथवा राजुल से इनका पाणिग्रहण होना निश्चित हुआ। श्रावण शुक्ला छठ को नयनों को आनन्द प्रदान करने वाली कामिनी राजीमती (राजुल) के साथ विवाह होने की तैयारी हुई। नेमिनाथ एक ऊँचे एवं तरल तुरंग पर आरूढ़ होकर विवाह के लिए चले। उनके कानों में कुंडल, शीश पर मुकुट और गले में नवसर हार सुशोभित हो रहा था। शरीर पर चन्दन का लेप हुआ था और चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल वस्त्र से उनका शृंगार किया गया था।

कई मृगनयनी सुन्दरियों ने उनके ऊपर वर्तुलाकार छत्र धारण किया था और कतिपय उन्हें चामर डुला रही थीं। उनकी श्रेष्ठ बहिनें 'लूण' उतार रही थीं। उनके चतुर्दिक् यादव-भूपाल बैठे हुए थे।

हाथी-घोड़े-रथ पर सवार एवं पैदल बरातियों का समूह चला। गोराङ्गी स्त्रियाँ मंगलाचार गा रही थीं। भाट जयजयकार कर रहे थे। इस प्रकार बरात के साथ नेमिकुमार उग्रसेन के घर विवाह के निमित्त पहुँचे।

कवि कहता है कि मैं राजल देवि के श्रृंगार का क्या वर्णन करूँ! वह चम्पक-वर्ण वाली सुन्दरी अंगों पर चन्दन के लेप से शोभायमान हो रही थी। उसके मस्तक पर पुष्प का श्रृंगार किया हुआ था। उसके सीमंत (मांग) में मोतियों की लड़ें भरी थीं। उसके मस्तक पर कुंकुम का तिलक था और कानों में मोती का कुंडल। नेत्रों को कज्जल का अंजन तथा मुख-कमल को ताम्बूल शोभायमान बना रहा था। कंठ में नगजटित कंठा एवं हार शोभायमान हो रहा था। उस बाला ने हाथ में कंकण और मणिवलित चूड़ियाँ धारण कर रखी थीं जिनकी खड़कने की ध्वनि सुनाई पड़ती थी। उनके पैरों के घूघरू वाले कड़े से रुणझुन एवं नूपुर से रिमझिम की ध्वनि निकल रही थी।

उग्रसेन के घर बरातियों के सत्कार के लिए लाए हुए पशुओं की पुकार से बाड़े गूँज रहे थे। नेमिनाथ ने जिज्ञासा प्रगट की कि इतने पशु बाड़ों में क्यों चीत्कार कर रहे हैं? जब उन्होंने सुना कि इन पशुओं को मारकर इनका मांस रींधा जायगा तो उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने असार संसार को धिक्कारते हुए इसका परित्याग कर दिया। अब राजल देवि अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगीं।

गिरनार पर नेमिनाथ का दीक्षा महोत्सव हुआ। इस प्रकार उन्हें केवल-ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता प्राप्त हुई।

———

श्री नेमिनाथ फागु

राजशेखर सूरि

(सं० १४०५ वि० के आसपास)

सिद्धि जेहिं सइ वर वरिय ते तित्थयर नमेवी ।
फागुबंधि पहुनेमिजिणगुण गाएसउं केवी ॥ १

अह नवजुव्वण नेमिकुमरु जादवकुलधवलो ।
काजलसामल ललवलउ सुललियमुहकमलो ।
समुदविजयसिवदेविपूतु सोहगसिंगारो ।
जरासिंधुभडभंगभीमु बलिं रूवि अप्पारो ॥ २

गहिरसद्दि हरिसंखु जेण पूरिय उदंडो ।
हरि हरि जिम हिंडोलियउ भुयदंडपयंडो ।
तेयपरिक्कमि आगलउ पुणि नारिविरत्तउ ।
सामि सुलक्खणसामलउ सिवसिरिअणुरत्तउ ॥ ३

हरिहलहरसउं नेमिपहु खेलइ मास वसंतो ।
हावि भावि भिज्जइ नही य भामिणिमाहि भमंतो ॥ ४

अह खेलइं खडोखलिय नीरि पुणु मयणि नमावइ ।
हरिअंतेउरमाहि रमइ पुणि नाहु न राचइ ।
नयणसलूणउ लडसंडतु जउ तीरिहिं आविउ ।
माइ बापि बंधविहिं मांड वीवाह मनाविउ ॥ ५

घरि घरि उत्सव बारवए राउल गहगहए
तोरण वंदुरवाल कलस धयवड लहलहए ।
कन्हडि मागिय उग्गसेणधूय राजल लाधा
नेमिऊमाहीय, बाल अट्ठभवनेहनिबद्धा ॥ ६

राइमए सम तिहु भुवणि अवर न अत्थइ नारे ।
मोहणविल्लि नवल्लडीय उप्पनीय संसारे ॥ ७

अह सामलकोमल केशपाश किरि मोरकलाउ ।
अद्धचंद समु भालु मयणु पोसइ भडवाउ ।

वंकुडियालीय भुंहडियहं भरि भुवणु भमाडइ
लाडी लोयणलहकुडलइ सुर सग्गह पाडइ ॥ ८

किरि सिसिबिंब कपोल कन्नहिंडोल फुरंता
नासा वंसा गरुडचंचु दाडिमफल दंता ।
अहर पवाल तिरेह कंठु राजलसर रूडउ
जाणु वीणु रणरणइं जाणु कोइलटहकडलउ ॥ ९

सरलतरल भुयवल्लरिय सिहण पीणघणतुंग ।
उदरदेसि लंकाउली य सोहइ तिवलतुरंगु ॥ १०

अह कोमल विमल नियंबबिंब किरि गंगापुलिणा,
करिकर ऊरि हरिण जंघ पल्लव करचरणा ।
मलपति चालति वेलहीय हंसला हरावइ
संझारागु अकालि बालु नहकिरणि करावइ ॥ ११

सहजिहिं लडहीय रायमए सुलखण सुकमाला ।
घणउं घणेरउं गहगहए नवजुव्वण बाला ।
भंभरभोली नेमिजिणवीवाह सुणेई
नेहगहिल्ली गोरडी हियडइ विहसेई ॥ १२

सावणसुकिलछट्ठि दिणि वावीसमउ जिणंदो
चल्लइ राजलपरिणयण कामिणिनयणाणंदो[1] ॥ १३

अह सेयतुंगतरलतुरइ रइरहि चडइ कुमारो
कन्निहि कुंडल सीसि मउड गलि नवसरहारो ।
चंदणि ऊगटि चंदधवलकापडि सिणगारो
केवडियालउ खुंपु भरवि वंकुडउ अतिफारो ॥ १४

धरहि छत्तु वित्तु चमर चालहिं मृगनयणी
लूणु उत्तारिहिं वरवहिणी हरि सुज्जलवयणी ।
चहुपरि बइसइ दसारकोडि जादवभूपाला
हयगयरहपायक्कचक्कसी किरिहिं झमाला ॥ १५

मंगल गायहिं गोरडीय भट्टह जयजयकारो ।
उग्गसेणघरनारि वरो पहुतउ नेमिकुमारो ॥ १६

---

(१) पाठान्तर नयणानंको—नयणाणंदो के स्थान पर (छन्द १३)

अहसिहिय[२] पयंपय हल सहि ए तुह वल्लहउ आवइ
मालिअटालिहिं चडिउ लोउ मण नयणु सुहावइ।
गउखि वइठी रायमए नेमिनाहु निरखइ
पसइपमाणिहिं चंचलिहिं लोअणिहिं कडखइं ॥ १७

किम किम राजलदेवितणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइगोरी अइधोइ अंगि चंदनुलेवउ।
खुंपु भराविउ जाइकुसमि कसतूरी सारी।
सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारि ॥ १८

नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयणतिलउ तसु भाले।
मोतीकुंडल कन्नि थिय बिंबोलिय करजाले ॥ १९

अह निरतीय कज्जलरेह नयणि मुहकमलि तंबोलो
नगोदरकंठलउ कंठि अनु हार विरोलो।
मरगदजादर कंचुयउ फुडफुल्लहं माला।
करि कंकण मणिवलयचूड खलकावइ बाला ॥ २०

रुणुझुणु ए रुणुझुण ए रुणुझुणु ए कडि घघरियाली।
रिमिझिमि रिमिझिमि रिमिझिमि ए पयनेउर जुयली।
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुयकिमिसि
अंखडियाली रायमए प्रिउ जोअइ मनरसि ॥ २१

वाडउ भरिउ जीवडहं टलवलंत कुरलंत।
अहूठकोडिरूं उद्धसिय देषइ राजलकंतो ॥ २२

अह पूछइ राजलकंतु कांइ पसुबंधणु दीसइ
सारहि बोलइ सामिसाल तुह गोरवु हुस्यइ।
जीव मेल्हावइ नेमिकुमरु सरणागइ पालइ।
धिगु संसारु असारु इस्यउं इम भणि रहु वालइ ॥ २३

समुदविजय सिवदेवि रामु केसवु मन्नावइ
नइपवाह जिम गयउ नेमि भवभमणु न भावइ।
धरणि धसक्कइ पडइ देवि राजल विहलंघल
रोअइ रिज्झइ वेसु रूवु बहु मन्नइ निष्फलु ॥ २४

---

(२) ,, अइ सहिय—अह सिहिय के स्थान पर (छन्द १७)

उग्गसेणधूय इम भणइ दूपहिं दाझ्इ देहो ।
कां विरतउ कंत तुहं नयणिहि लाइवि नेहो ॥ २५

आसा पूरइ त्रिहुभुवण मू म करि हयासी
दय करि दय करि देव तुम्ह हउं अछउं दासी ।
सामि न पालइ पडिवन्नउं तउ कासु कहीजइ
मयगलु उवट संचरए किणि कानि गहीजइ ॥ २६

नेमि न मन्नइ नेहु देइ संवच्छरदाणूं
ऊजलगिरि संजम लियउ हुय केवलनाणूं ।
राजलदेविसउं सिद्धि गयउ सो देउ थुणीजइ
मलहारिहिं रायसिहरसूरिकिउ फागु रमीजइ ॥ २७

[इति श्री नेमिनाथ फागु]

———

गौतमस्वामी रास

रचनाकाल कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा सं० १४१२ वि०

परिचय

इस रास की रचना खंभात में विनयप्रभ उपाध्याय ने की। भंडारों में उपलब्ध इस रास की अनेक प्रतियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं कि यह रास काव्य जनता में भली प्रकार प्रचलित था। इसके प्रचलन का एक बड़ा कारण इसका काव्यत्व भी है। रासकार विनयप्रभ की दीक्षा सं० १३८२ की वैशाख सुदी पंचमी के दिन आचार्य जिनकुशल सूरी ने अपने करकमलों से की। इस रास की रचना से पूर्व श्री विनयप्रभ 'उपाध्याय' की उपाधि से विभूषित हो चुके थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में भूमिका में विस्तार के साथ दिया जा चुका है।

रास का सारांश

इस रास के चरित्रनायक गौतम का मूल नाम इन्द्रभूति था। गौतम आपके गोत्र का नाम था। आपका जन्म राजगृह (मगधदेश) के समीप गुब्बर नामक ग्राम में हुआ था। आपका शरीर जैसा तेजस्वी था वैसी ही आपकी बुद्धि प्रखर थी। आपका सात हाथ ऊँचा शरीर प्रभावोत्पादक एवं, रूपवान् था। बाल्यकाल में आपने विधिवत् शिक्षा प्राप्त करके युवावस्था में सुखपूर्वक गृहस्थ जीवन बिताना प्रारम्भ किया। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित हो दूर-दूर से आकर पाँच सौ छात्र आपसे शिक्षा ग्रहण करते थे।

इस युग में भगवान् महावीर का यश-सौरभ चतुर्दिक् विकीर्ण हो रहा था। भगवान् पर्यटन करते हुए एकबार पावापुरी पधारे। उनका उपदेश श्रवण करने के लिये सहस्रों नर-नारी एकत्र हुए। इन्द्रभूति महोदय भी अपने शिष्यवर्ग के सहित वहाँ उपस्थित थे। इन्होंने आकाश-मार्ग से देव-विमानों को आते देखकर मन में विचार किया कि ये देव-विमान इनके यज्ञ के प्रभाव से इन्हींके पास आ रहे हैं। पर जब वे देव-विमान भगवान् महावीर के समवसरण में पहुँचे तो इन्द्रभूति के आश्चर्य और क्रोध की सीमा न रही। इन्द्रभूति को अपनी विद्वत्ता का बड़ा गर्व था अतः वे वादविवाद के लिये अपने शिष्यवर्ग के साथ भगवान् महावीर के समक्ष उपस्थित होकर शास्त्रार्थ

करने लगे। भगवान् महावीर ने वेदमंत्रों के द्वारा ही उनके संशयों का निराकरण किया। इन्द्रभूति इतने प्रभावित हुए कि वे अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के शिष्य बन गए। सर्वप्रथम दीक्षा लेने के कारण आपको प्रथम गणधर की उपाधि मिली। तदुपरान्त आपके भ्राता अग्निभूति एवं ११ प्रधान वेदज्ञ विद्वान् भगवान के शिष्य बन गए। इस प्रकार ११ गणधरों की स्थापना हुई।

गौतम दो-दो उपवास का तप करते हुए पारण करते थे। आपको जब कभी शास्त्र एवं धर्म के संबन्ध में संशय उत्पन्न होता था, आप भगवान से ज्ञान प्राप्त कर अपनी शंका का निवारण करते। आप ऐसे तपस्वी बन गए कि आपसे दीक्षा प्राप्त करते ही 'केवल ज्ञान' की उपलब्धि हो जाती। किन्तु आपका अनुराग भगवान महावीर में इतना दृढ़ था कि आप स्वतः केवली न बन सके। एक बार भगवान महावीर ने उपदेश देते हुए कहा कि "अष्टापद के २४ जिनालयों की यात्रा करनेवाला इसी भव में मोक्षगामी होता है'— इस उपदेश को सुनकर गौतम आत्मबल से उस पर्वत पर पहुँच गये। पर्वत के मार्ग में तप करनेवाले १५०३ तपस्वियों ने जब देखा कि गौतम सूर्य की किरणों का आलम्बन ले ऊपर आरोहण कर रहे हैं तब वे अत्यन्त आश्चर्य-चकित हुए।

जब गौतम अष्टापद नामक तीर्थ-स्थल पर पहुँचे तो उन्होंने प्रथम (आदिनाथ के पुत्र) भरत-निर्मित दंड-कल्याण-ध्वज-विभूषित जिनालय का दर्शन किया। जिनालयों में २४ तीर्थंकरों की मूर्त्तियों के दर्शन हुए। वे मूर्तियाँ तीर्थंकरों के स्वशरीर के परिमाण में निर्मित हुई थीं। गौतम ने वहाँ वज्रस्वामी के जीवतिर्यक जृंभिक देवका 'पुंडरीक' और 'कंडरीक' के अध्ययन द्वारा प्रतिबोध किया। तीर्थयात्रा से पुनरावर्त्तन करते हुए १५०३ तपस्वियों को भी आपने ज्ञान दिया। वे तपस्वी ज्ञान प्राप्तकर केवली बन गए।

एक बार गौतम को इस बात का बड़ा विषाद हुआ कि उनके शिष्य तो केवली बन जाते हैं किन्तु मुझे कैवल्य ज्ञान नहीं प्राप्त होता। भगवान ने आपको आश्वस्त किया। जब गौतम की अवस्था ७२ वर्ष की हो गई तो एक दिन भगवान् महावीर उन्हें साथ लेकर पावापुर पधारे और स्वयं वहीं ठहरकर गौतम को देवशर्मा को प्रतिबोध देने के निमित्त दूर गाँव में भेज दिया। गौतम की अनुपस्थिति में भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया। जब यह समाचार गौतम को मिला तो वे बहुत ही दुखी हुए और विलाप करने लगे

कि हे भगवन् आपने मुझे जीवन भर साथ रखकर अन्तकाल में क्यों दूर भेज दिया। लोक-व्यवहार का भी नियम है कि मृत्युकाल में कुटुम्बियों को समीप बुला लिया जाता है किंतु आपने इस नियम के अनुसार भी मुझे मृत्युवेला में अपने पास न बुलाया। कदाचित् आपने यह सोचा होगा कि गौतम कैवल्य माँगेगा। इस प्रकार विलाप करते-करते गौतम को ज्ञान की प्राप्ति हुई, उन्होंने यह सोचा कि वे तो वीतराग थे। उनके साथ राग-सम्बन्ध कैसा।

९२ वर्ष की आयु प्राप्त कर गौतम स्वामी मोक्षगामी बने। अन्त के पदों में गौतम की महिमा का अलंकृत वर्णन मिलता है। यही इस रास का सार है।

श्री गौतम स्वामी रास

कवि-विनयप्रभ

सं० १४१२ वि०

ढाल पहेली

वीर जिणेसर चरण कमल कमला कयवासो,
पणभवि पभणिसु सामि साल गोयम गुरु रासो;
मणु तणु वयण एकंत करवि निसुणो भो भविया,
जिम निवसे तुम देहगेह गुणगुण गह गहिया ॥ १ ॥
जंबुदीव सिरिभरहखित्त खोणीतल मंडण,
मगधदेस सेणीय नरेस रीउदल बल खंडण;
धणवर गुब्बर नाम ग्राम नहिं गुणगण सज्जा,
विप्प वसे वसुभूइ तथ्थ तसु पुहवी भज्जा ॥ २ ॥
ताण पुत्त सिरिइन्दभूइ भूवलय पसिद्धो,
चउदह विज्जा विविह रुव नारि रस विद्धो (लुद्धो);
विनय विवेक विचार सार गुणगणह मनोहर,
सातहाथ सुप्रमाण देह रूपे रंभावर ॥ ३ ॥
नयण वयण कर चरण जिणवि पंकज जल पाडिअ,
तेजे तारा चंद सूर आकाशे भमाडिअ;
रुवे मयण अनंग करवि मेल्हिओ निरधाडिअ,
धीरमें मेरु गंभीर सिंधु चंगिम चयचाडिय ॥ ४ ॥
पेखवि निरुवम रुव जास जण जंपे किंचिअ,
एकाकी कलिभीते इथ्थ गुण मेहल्या संचिय;
अहवा निश्चे पुव्वजम्मे जिणवर इणे अंचिय,
रंभा पउमा गोरि गंग रति हा विधि वंचिअ ॥ ५ ॥
नहिं बुध नहिं गुरु कवि न कोई जसु आगल रहिओ,
पंचसयां गुणपात्र छात्र हींडे परिवरिओ;
करे निरंतर यज्ञकर्म मिथ्यामति मोहिअ,
इणे छलि होसे चरणनाद दंसणह विसोहिअ ॥ ६ ॥

वस्तु

जंबुदीवह जंबुदीवह भरहवासंमि,
भूमितल मंडण मगधदेस, सेणियनरेसर,
वर गुब्बर गाम तिहां विप्प, वसे वसुभूय सुंदर;
तसु भज्जा पुहवी, सयल गुणगण रुव निहाण;
ताण पुत्त विज्जानिलो, गोयम अतिहि सुजाण ॥ ७ ॥

भाषा (ढाल बीजी)

चरण जिणेसर केवल नाणी, चउविह संघ पइट्ठा जाणी;
पावापुर सामी संपत्तो, चउविह देव निकायहि जत्तो ॥ ८ ॥
देव समवसरण तिहाँ कीजे, जिण दीठे मिथ्या मति खीजे;
त्रिभुवन गुरु सिंघासणे बेठा, तसखिण मोह दिगंते पइट्ठा ॥ ९ ॥
क्रोध मान माया मदपूरा, जाश्रे नाठा जिम दिने चौरा;
देवदुंदुभि आकाशे वाजे, धर्मनरेसर आव्या गाजे ॥ १० ॥
कुसुम वृष्टि विरचे तिहां देवा, चउसठ इंद्रज मागे सेवा;
चामर छत्र शिरोवरि सोहे, रुपे जिणवर जग संमोहे (सहु मोहे)॥११
उपसम रसभर भरि वरसंता, योजनवाणि वखाण करंता;
जाणिश्र वर्धमान जिन पाया, सुरनर किंनर आवे राया ॥ १२ ॥
कांति समूहे झलझलकंता, गयण विमाण रणरणकंता;
पेखवि इंद्र भूई मन चिंते, सुर आवे अम्ह यज्ञ होवंते ॥ १३ ॥
तीर तरंडक जिमते वहता, समवसरण पहुता गहगहता;
तो अभिमाने गोयम जंपे, तिणे अवसरे कोपे तणु कंपे ॥ १४ ॥
मूढा लोक अजाण्यो बोले, सुर जाणंता इम कांइ डोले,
मू आगल को जाण भणीजे, मेरु अवर किम ओपम दीजे ॥ १५ ॥

वस्तु

वीर जिणवर वीर जिणवर नाण संपन्न,
पावापुरि सुरमहिश्र पत्तनाह संसार तारण,
तिहिं देवे निम्मविश्र समोसरण बहु सुखकारण,
जिणवर जग उज्जोअकर तेजे करी दिणकार;
सिंहासणे सामी ठव्यों, हुओ सुजय जयकार ॥ १६ ॥

भाषा (ढाल त्रीजी)

तव चडिओ घणमाण गाजे, इंदभूइ भूदेव तो;
हुंकारो करि संचरिअ, कवणसु जिणवर देव तो ॥ १७ ॥
योजन भूमि समोसरण, पेखे प्रथमा रंभ तो;
दहदिसि देखे विविध वधु, आवंती सुर रंभ तो ॥ १८ ॥
मणिम तोरण दंड धज, कोसीसे नव घाट तो,
वयर विवर्जित जंतुगण, प्रातिहारज आठ तो ॥ १९ ॥
सुरनर किंनर असुर वर, इंद्र इंद्राणी राय तो,
चित्ते चमकिय चिंतवे ओ, सेवंता प्रभु पाय तो ॥ २० ॥
सहस किरण सम वीर जिण, पेखवे रुप विशाल तो;
अेह असंभम (व) संभवेरे, सा ए इंद्रजाल तो ॥ २१ ॥
तव बोलावे त्रिजग गुरु, इंदभूई नामेण तो;
श्रीमुखे संसय सामि सवे, फेडे वेद पएण तो ॥ २२ ॥
मान मेल्ही मद ठेली करीं, भक्तिए नामे शीस तो;
पंच सयांशुं व्रत लीओ ए, गोयम पहेलो सीस तो ॥ २३ ॥
बंधव संजम सुणवि करी, अगनिभूइ आवेय तो,
नाम लेइ अभ्यास करे, ते पण प्रतिबोधेय तो ॥ २४ ॥
इणे अनुक्रमे गणहर रयण, थाप्या वीरे अग्यार तो;
तव उपदेसे भुवन गुरु, संयम शुं व्रत बारतो ॥ २५ ॥
बिहु उपवासे पारणुं ए, आपणये विहरंत तो;
गोयम संयम जग सयल जय जयकार करंत तो ॥ २६ ॥

वस्तु

इंदभूइअ, इंदभूइअ, चडिअ बहु माने,
हुंकारो करि कंपतो, समोसरणेपहोतो तुरंत,
अह संसा सामि सवे, चरमनाह फेडे फुरंत,
बोधि बीज संजाय मने, गोयम भवह विरत्त,
दिख्ख लइ सिख्खा सहिअ, गणहर पय संपत्त ॥ २७ ॥

भाषा (ढाल चोथी)

आज हुओ सुविहाण, आज पचेलिमां पुण्य भरो;
दीठा गोयम सामि, जो निअ नयणे अमिय सरो ॥ २८ ॥

(सिरि गोयम गणधार, पंचसयां मुनि परवरिय;
भूमिय करय विहार, भवियण जन पडि बोह करे[1])
समवसरण मझारि, जे जे संसय उपजेए ते से पर उपकार,
कारणे पुछे मुनि पवरो ॥ २९ ॥

जिहाँ जिहाँ दीजे दीख, तिहाँ तिहाँ केवल उपजे ए,
आप कन्हे अणहुंत, गोयम दीजे दान इम ॥ ३० ॥

गुरु उपरि गुरु भत्ति, सामी गोयल उपनीय;
एणि छल केवल नाण, रागज राखे रंग भरे ॥ ३१ ॥

जो अष्टापद सेल, वंदे चडि चउवीस जिण,
आतमल बधि बसेण, चरम सरीरी सोय मुनि ॥ ३२ ॥

इय देसण निसुणेवि, गोयम गणहर संचलिय,
तापस पन्नरसएण तो, मुनि दीठो आवतो ए ॥ ३३ ॥

तपसोसिय नियअंग, अम्ह सगति नवि उपजे ए;
किम चडसे दृढ़ काय, गज जिम दीसे गाजतो ए ॥ ३४ ॥

गिरुए एणे अभिमान, तापस जा मने चिंतवे ए,
तो मुनि चडिओ वेग, आलंबवि दिनकर किरण ॥ ३५ ॥

कंचण मणि निप्पन्न, दंड कलस धज वड सहिअ,
पेखवि परमानंद, जिणहर भरतेसर विहिअ ॥ ३६ ॥

निय निय काय प्रमाण, चउदिसि संठिअ जिणह बिंब,
पणमवि मन उल्हास, गोयम गणहर तिहाँ वसिअ ॥ ३७ ॥

वइर सामिनो जीव, तिर्यक जृंभक देव तिहां;
प्रतिबोधे पुंडरीक, कंडरीक अध्ययन भणी ॥ ३८ ॥

वलता गोयम सामि, सवि तापस प्रतिबोध करे;
लेइ आपणे साथ चाले, जिम जुथाधिपति ॥ ३९ ॥

खीर खांड घृत आण, अमिअवूठ अंगुठं ठवि,
गोयम एकण पात्र, करावे पारणो सवि ॥ ४० ॥

पंचसयां शुभ भावि, उज्जल भरिओ खीरमसि;
साचा गुरु संयोगे, कवल ते केवल रूप हुआ ॥ ४१ ॥

---

१. किसी किसी प्रति में इतना अंश नहीं मिलता।

पंचसयां जिणनाह, समवसरणे प्राकारत्रय,
पेखवि केवल नाण, उपन्नू उज्जोय करे ॥ ४२ ॥
जाणे जिणवि पीयूष, गाजंती घण मेघ जिम;
जिणवाणी निसुणेव, नाणी हुआ पांचसये ॥ ४३ ॥

वस्तु

इणे अनुक्रमे, इणे अनुक्रमेनाण संपन्न, पन्नरहसयपरिवरिय;
हरिअ दुरिअ, जिणनाह वदइ;
जाणेवि जगगुरु वयण, तीहनाण अप्पाण निंदइ;
रमच जिणेसर तव भणे, गोयम करिस म खेउ;
छेहि जइ आपणे सही, होस्युं तुल्ला बेउ ॥ ४४ ॥

भाषा (ढाल पांचमी)

सामीओअे वीर जिणंद, पुनिमचंद जिम उल्लसिय;
विहरि ओए भरहवासंमि, वरस बहोत्तर संवसीय;
ठवतो ए कणय पउमेसु, पायकमलसंघहि सहिय;
आविओए नयणाणंद, नयर पावापुरि सुरमहिय ॥ ४५ ॥
पेषीओए गोयमसामि, देवसमा प्रतिबोध कए;
आपणो ए त्रिशलादेवी, नंदन पहोतो परमपए;
वलतां ए देव आकासि, पेखवि जाणयौ जिण समे ए,
तो मुनिए मने विषवाद, नादभेद जिम उपनोए ॥ ४६ ॥
कुण समेये सामिय देख, आप कन्हे हुं टालिओए;
जाणतो ए तिहुअणनाह, लोक विवहार न पालियो ए;
अति भलुं ए कीधलुसामि, जाण्युं केवल मागशे ए;
चिंतव्युं ए बालक जेम, अहवा केडे लागशे ए ॥ ४७ ॥
हुं किम ए वीर जिणंद, भगते भोलो भोलव्यो ए;
आपणोए अविहड नहे; नाह न संपे साचव्यो ए;
साचो ए एह वीतराग, नेह न जेहने लालिओए;
तिणेसमे ए गोयम चित्त; राग विरागे वालिओए ॥ ४८ ॥
आवतुं ए जे उलट, रहेंतुं रागे साहियुं ए;
केवलुं ए नाण उत्पन्न, गोयम सहेजे उमाहियुं ए;
त्रिभुवने ए जयजयकार, केवलि महिमा सुर करेए;
गणधरु ए करे वखाण, भवियण भव जिम निस्तरे ए ॥ ४९ ॥

वस्तु

पढम गणहर पढम गणहर, वरिस पचास गिहवासे संवसिस;
तीस वरिस संजम विभूसिय, सिरि केवल नाण,
पुण बार वरस तिहुअण नमंसिअ;
राजगही नगरी ठव्यो, बाणुवय वरसाउ;
सामी गोयम गुण-निलो, होस्ये सीवपुर ठाउ ॥ ५० ॥

भाषा (ढाल छठ्ठी)

जिम सहकारे कोउल टहुके, जिम कुसुमहवने परिमल बहके,
जिम चंदन सौगंध निधि;
जिमगंगाजल लहेरे लहके, जिम कणयाचल तेजे झलके,
तिम गोयम सोभागनिधि ॥ ५१ ॥

जिम मानससर निवसे हंसा, जिम सुरवरशिरेकणयवतंसा,
जिम महुयर राजीव वने;
जिम रयणा-यर रयणे विलसे, जिम अंबर तारागण विकसे,
तिम गोयम गुण केलि रवनि ॥ ५२ ॥

पुनिम दिन (निशि) जिम ससिहर सोहे,
सुरतरु महिमा जिम जग मोहे, पूरब दिसि जिम सहसकरो;
पंचानने जिम गिरिवर राजे, नरवइ घरे जिम मयगल गाजे,
तिम जिनसासन मुनि पवरो ॥ ५३ ॥
जिम सुरतरुवर सोहे साखा, जिम उत्ताम मुखे मधुरी भाषा,
जिम वन केतकी महमहे ए;
जिम भूमिपति भूयबल चमके, जिम जिण-मंदिर घंटा रणके,
गोयम लब्धे गहगहे ए ॥ ५४ ॥

चिंतामणि करे चढियुं आज, सुरतरु सारे वंछित काज,
कामकुंभ सो वसि हुओ ए;
कामगवी पूरे मन कामी, अष्ट महासिधि आवे धामी,
सामी गोयम अणुसरु ए ॥ ५५ ॥

प्रणवाक्षर पहेलो पभणिजे, माया बीज श्रवण निसुणीजे,
श्रीमुखे (श्रीमति) शोभा संभवे ए;

देहव धुरि अरिहंत नमीजे, विनय पहु उवझाय थुणीजे,
इणे मंत्रे गोयम नमो ए ॥ ५६ ॥

पर परवसता कांइ करीजे, देश देशान्तर कांइ भमीजे,
कवण काजे आभास करो;
प्रह उठी गोयम समरीजे, काज सवे ततखिण ते सीझे,
नवनिधि विलसे तास घरे ॥ ५७ ॥

चउदहसे (चउदसय) बारोत्तर वरिसे,
(गोयम गणधर केवल दिवस[1]) खंभ नयर प्रभु पास पसाये,
कीयो कवित उपगार परो;
आदिही मंगल एह भणीजे, परव महोत्सव पहिलो दीजे,
रिद्धि वृद्धि कल्याण करो ॥ ५८ ॥

धन माता जेणे उअरे धरीया, धन पिता जिणकुले अवतरिया,
धन सहगुरु जिणे दीखिया ए;
विनयवंत विद्या-भंडार;
जसु गुण पुहवी न लभे पार;
रिद्धि विद्धिकल्याण करो । (वड जिम शाखा विस्तरो)[2] ॥ ५६ ॥

गौतम स्वामीनो रास भणीजे, चउविह संघ रलियायत कीजे,
सयल संघ आणंद करो;
कुंकुम चंदन छरो देवरावो, माणके मोतीना चोक पुरावो,
रयण सिहासण वेसणुं ए ॥ ६० ॥

तिहां बेसी गुरु देशना देशे, भविक जीवनां काज सरेसे,
उदउवंत (विज्यभद्र) मुनि एम भणे ए;
गौतम स्वामी तणो ए रास, भणतां सुणतां लीलाविलास,
सासय सुख निधि-संपजे ए ॥ ६१ ॥

एह रास जे भणे भणावे, वर मयगल लच्छी घर आवे,
मन वंछित आशा फले ए ॥ ६२ ॥

———

१. कतिपय प्रतियों में यह अंश नहीं है ।

२. ,, ,,

वसन्त-विलास फागु

सं० १४००–१४२५ वि०

अज्ञात कवि

परिचय

कई प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि 'वसन्त-विलास-फागु' की रचना 'कन्हड़ दे प्रबन्ध' से पूर्व हो चुकी है। 'कन्हड़ दे प्रबन्ध' का रचनाकाल सं० १५१२ वि० है। अतः इस फागु का समय इससे पूर्व ही मानना चाहिए। कतिपय विद्वानों का मत है कि इस फागु की रचना संवत् १४०० और १४२५ वि० के मध्य हुई होगी।

मंगलाचरण से प्रारम्भ करके कवि वसन्त-ऋतु का वर्णन[1] विस्तार के साथ करता है। इस ऋतु में होनेवाली प्रेमियों की प्रेम-क्रीड़ा[2] का वर्णन है। इस ऋतु में सुसज्जित वनराजि की तुलना कामदेव राजा की नगरी से की गई है। काम राजा है, वसन्त उसका मंत्री, भ्रमरावली उसकी प्रजा, वृक्षावली राजप्रासाद-पंक्ति और उसकी कोमल पत्तियाँ राजध्वजा हैं। इस नगरी में महाराज मदन[3] के आदेश का उल्लंघन करने वाला कोई नहीं। कोयल की मधुर वाणी मानिनी स्त्रियों को मान-त्याग कर प्रेमी से मिलने का आह्वान कर रही है।

फागु की बड़ी विशेषता वियोगिनियों के विरह-वर्णन में पाई जाती है। वसन्त की शोभा से उसकी विरह-वेदना किस प्रकार बढ़ती जाती है इसका अत्यन्त मनोहारी वर्णन इस फागु में पाया जाता है।

कवि कहता है कि चम्पक-कली कामदेव के दीपक के समान है और आम्रमंजरी पर गुंजार करनेवाली भ्रमरावली उस धूम-शिखर के समान है

१—वसन्त विलास फागु छंद २–७।

२— ,, ,, ,, ८–१५।

३— ,, ,, ,, १६–२१।

जो वियोगिनियों के हृदय को भस्मीभूत बना कर ऊपर उठ रहा है। इसी प्रकार केतकी के पत्ते कामदेव के अरे (करवत-धार) हैं।

अब विरहिणी की वेदना का वर्णन है। सुखकारी परिधान और आभूषण वियोग काल में असह्य भार के समान प्रतीत होते हैं। उसे चन्द्र-दर्शन से पीड़ा और खाद्य पदार्थों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है। उसका शरीर क्षीण होता जाता है और उसकी मति डवाँडोल हो जाती है।[1]

अब विरहिणी नायिका को शुभ शकुन दिखाई पड़ते हैं। उसके मंगल-कारी अंग फड़कने लगते हैं और आँगन में कौए की ध्वनि सुनाई पड़ती है। इससे उसे पति के विदेश से प्रत्यावर्तन की आशा प्रतीत होती है। पति-मिलन की आशा में निमग्न नायिका को सहसा पति-दर्शन होता है और उसके दबे हुए भाव उमड़ पड़ते हैं। वह पति के साथ शृंगार मयी क्रीड़ाओं में संलग्न हो जाती है। अब उसका शरीर प्रफुल्लित हो उठता है।

तदुपरान्त कवि नायिका के शारीरिक सौन्दर्य, प्रसाधन, आभूषण आदि आदि विविध शृंगार का वर्णन करता है।[2] फागु की यह भी बड़ी विशेषता है।

उसका मुख कमल के समान शोभायमान है। उसके कानों में रत्न-जटित कुण्डल झूल रहे हैं। कंठ में मुक्ताहार सुशोभित है। उसकी सुन्दर वेणी पीठ पर काम की तलवार के समान घूम रही है। उसके सीमन्त में केशर और केश में मोती शोभायमान हो रहे हैं। उसकी नुकीली नाक तिल-कुसुम के समान हैं। उसकी हथेली मंजिष्ठ रज के समान है। इसी प्रकार नायिका के हस्त, वक्ष, नाभि, कटि-प्रदेश आदि का सरस वर्णन है।[3] इसके उपरान्त पति-पत्नी की शृंगारी लीलाओं का वर्णन है।

अब नायिका विरह काल की वेदनाओं का वर्णन करती हुई पतिदेव को समासोक्ति के द्वारा उपालम्भ देती है। अन्तिम छन्दों में श्रोताओं के लिए आशीर्वचन है।

———

१—वसन्त विलास फागु (छंद ३८ से ४५ तक)।
२— ,, ,, (छंद ४५ से ५२ तक)।
३—वसन्त विलास फागु—(छंद ५३ से ६८ तक)।

वसन्तविलास फागु

अज्ञात सं० १४००—१४२५ वि०

पहिलउँ सरसति अरचिसु रचिसु वसंतविलासु।
वीणु धरइ करि दाहिणि वाहणि हंसुलउ जासु॥ १॥

पुहतीय सिवरति समरती हिव रितु तणीय वसंत।
दहदिसि पसरइं परिमल निरमल थ्या दिशि अंत॥ २॥

बहिनहे गयइ हिमवंति वसन्ति लयउ अवतारु।
अलि मकरंदिहिं मुहरिया कुहरिया सवि सहकार॥ ३॥

वसंततणा गुण गहगह्या महमह्या सवि घनसार।
त्रिभुवनि जयजयकार पिका रव करइं अपार॥ ४॥

पदमिनि परिमल बहकइं लहकइं मलयसमीर।
मयणु जिहां परिपंथीय पंथीय धाइं अधीर॥ ५॥

मानिनि जनमनक्षोभन शोभन वाउला वांइं।
निधुवनकेलिक पामीय कामीय अंगि सुहाइं॥ ६॥

मुनि जननां मन भेदए छेदए मानिनी मानु।
कामीय मनह आणंदए कंदए पथिक पराण॥ ७॥

वनि विरच्यां कदलीहर दीहर मंडपमाल।
तलीया तोरण सुंदर चंदरवाल विशाल॥ ८॥

खेलन वावि सुखालीय जालीय गुउखि विश्रामु।
मृगमदपूरि कपूरिहिं पूरिहिं जलि अभिराम॥ ९॥

रंगभूमी सजकारीय भारीय कुंकुम घोल।
सोवन सांकल सांधीय वांधीय चंपकि दोल॥ १०॥

तिहां विलसइं सवि कामुक जामुक हृदयचइ रंगि।
काम जिस्या अलवेसर वेसु रचइं वर अंगि॥ ११॥

अभिनव परि सिणगारीय नारीय मिलीय विसेसि ।
चंदन भरइं कचोलीय चोलीय मंडनरेसि ॥ १२ ॥

चंदनवन अवगाहीय न्हाईय सरवरि नीर ।
मंदसुरभिहिमलक्षण दक्षिण वांई समीर ॥ १३ ॥

नयर निरूपमु ते वनु जीवनु तणउं युवान ।
वासभुवनि तहिं विहसइं जलसय अलीअल आण ॥ १४ ॥

नव यौवन अभिराम ति रामति करइं सुरंगि ।
स्वर्गि जिस्या सुर भासुर रासुर रासु रमइं वर अंगि ॥ १५ ॥

कामुकजनमनजीवनु ती वनु नगर सुरंग ।
राजु करइ अवभंगिहिं रंगिहिं राउ अनंगु ॥ १६ ॥

अलिजन वसइं अनंत रे वसंतु तिहां परधान ।
तरुअर वासनिकेतन केतन किशलसंतान (संतान) ॥ १७ ॥

वनि विरचइ श्रीनंदनु चंदनु चंदचउ मीतु ।
रति अनइ प्रीति सिउं सोहए मोहए त्रिभुवन चीतु ॥ १८ ।

गरूउ मदन महीपति दीपति सहण न जाइ ।
करइ नवी कइ जुगति रे जगति प्रतापु न जांइं ॥ १९ ॥

कुसुम तणुं करि धणुह रे गुणह रे भमरुला माल ।
लघु लाघवी नवि चूकइ मूंकइ शर सुकुमाल ॥ २० ॥

मयणु जि वयण निरोपए लोपए कोइ न आण ।
मानिनी जनमन हाकए ताकए किशल कृपाण ॥ २१ ॥

इम देषी रिधि कामनी कामिनी किन्नर कंठि ।
नेहगहेली मानिनी माननी मूकइं गठि ॥ २२ ॥

कोइलि आंबुलाडालिहिं आलिहिं करइ निनादु ।
कामतणुं करि आइसि आइसि पाडए सादु ॥ २३ ॥

थंमण थिय न पयोहर मोह्नु रचउ मग मारि ।
मान रचउ किस्या कारण तारुणु दीह विच्यारि ॥ २४ ॥

नाहु निंद्री छिमगामटि सामटि मइलु अ जाणि ।
मयणु महाभडु न सहीइ सही इ हणइ ए बाणि ॥ २५ ॥

इण परि कोइलि कूजइं पूजइं युवति मनोर।
विधुर वियोगिनी धूजइं कूजइं मयणकिशोर ॥ २६ ॥

जिम जिम विहंसइ वणसइ विगसइ मानिनी मानु।
यौवन मदिहिं उदंच ति ढंपति थाइ युवान ॥ २७ ॥

जइ किमइ गजगति चालइ सालइ विरहिणि अंगु।
बालइ विरहि करालीय बालीय चोलीय अंगु ॥ २८ ॥

घूमइ मधुप सकेसर केसर मुकुल असंख।
चालइ रतिपति सूरइं पूरइं सुभटि कि शंख ॥ २९ ॥

वउलि विलूला महुअर बहुअ रचइं झणकार।
मयण रहइं किरि अणुदिण वंदिण करइं कइ वार ॥ ३० ॥

चांपला तरूयरनी कली नीकली सोव्रन वानि।
मार मारग ऊदीपक दीपक कलीय समान ॥ ३१ ॥

बांधइ कामुकि करकसु तरकसु पाडल फूल।
मांहि रच्यां किरि केसर ते सरनिकर अमूल ॥ ३२ ॥

आंबुलइ मांजरि लागीय जागीय मधुकरमाल।
मूंकइ मारु कि विरहिय हीअइ स धूमवराल ॥ ३३ ॥

केसूयकली अति वांकुडी आंकुडी मयणची जाखि।
विरहिणिनां इणि कालि ज कालिज काढइ ताखि ॥ ३४ ॥

वीर सुभट कुसुमायुध आयुध शालअशोक।
किशल जिस्यां असि झवकइं झवकइं विरहिणी लोक ॥ ३५ ॥

पथिक भयंकर केतु कि केतुकिदल सुकुमार।
अवर ते विरहविदारण दारण करवतधार ॥ ३६ ॥

इम देवीय वनसंपइ कंपइ विरहिणि साथु।
आंसूअ नयण निशां भरइं सांभरइं जिम जिम नाथु ॥ ३७ ॥

विरहि करालीय फालीय वालीय चोलीय अंगु।
विषय गणइ तृण तोलइ बोलइ ते बहु भंग ॥ ३८ ॥

रहि रहि तोरीय जो इलि कोइलिर्युं बहु बास।
नाहुलउ अजीय न आवइ भावइ मूं न विलास ॥ ३९ ॥

उर वरि हारु ते भारु मू सयरि सिंगारु अंगारु ।
चीतु हरइ नवि चंदनु चंद्रु नही मनोहारु ॥ ४० ॥

माइ मूं दूष अनीठउं दीठउं गमइ न चीरु ।
भोजनु आजु ऊचीठउं मीठउं स्वदइ न नीरु ॥ ४१ ॥

सकलकला तुय निशाकर श्या कर सयरि संतापु ।
अबल म मारि कलंकिय शंकियरे हिव पाप ॥ ४२ ॥

भमरला छांडि न पाखलि खांखल श्यां अम्ह सयर ।
चांदुला सयर संतापण आपण तां नही वइरु ॥४३॥

वहिनूए रहइ न मनमथ मनमथतउ दीहराति ।
अंग अनोपम शोषइ पोषइ वयरू अराति ॥ ४४ ॥

कहि सहि मुझ प्रिय वातडी रातडी किमइ न जाइ ।
दोहिलउ मकरनिकेतन चेतु नही मुझ ठाइ ॥ ४५ ॥

सखि मुझ फरकइ जांघडी तां घडी बिहुँ लगइ आजु ।
दूष सवे हिव वामिसु पामिसु प्रिय तणउं राजु ॥ ४६ ॥

विरहु सहू तहिं भागलउ कागलउ कुरलतउ पेखि ।
वायसना गुण वरणए करण ए स्वर्जीय विशेषि ॥ ४७ ॥

धन धन वायस तू सर मूं सरवसु तूं देस ।
भोजनि कूर करंबलउ आंबलउ जइ हुँ लहेसु ॥ ४८ ॥

देसु कपूरची वासि रे वासि वली सरु एउ ।
सोवन चांच निरूपम रूपम पापंडीउ बेउ ॥ ४९ ॥

शकुन विचारि संभावीया आवीया तीहं वालंभ ।
रसि भरि निज प्रिय निरखीय हरिषिय दिइं परिरंभ ॥ ५० ॥

रंगि रमइं मनि हरिसीय सरिसीय निज भरतारि ।
दीसइं ते गयगमणीय नमणीय कुचभर भारि ॥ ५१ ॥

कामिनी नाहुला जीं सुख तीं मुखि कहण न जाइं ।
पामीय नइ प्रियसंगम अंग मनोहर थाइं ॥ ५२ ॥

पूंप भरी सिरि केतुकि सेत किया सिंगार ।
दीसइं ते गयगमणीय नमणीय कुसुमचइ भारि ॥ ५३ ॥

सहजि सलील मदालस आलसीयां तीं हं अंग।
रासु रमइं अबला वनि लावनिसयरिसु रंग ॥ ५४ ॥

कान कि झलकइं वीज नउ बीजनउ चंद्रु कि भालि।
गल्ल हसइं सकलंक मयंकह विंबु विशाल ॥ ५५ ॥

मुख आगलि तुं मलिन रे नलिन जई जलि न्हाइ।
दंतह बीज दिषाडि म दाडिम तुं जि तमाहि ॥ ५६ ॥

मणिमय कुंडल कानि रे वानि हसइं हरीयाल।
पंचमु आलति कंठि रे कंठि मुताहल माल ॥ ५७ ॥

वीणि भणउं कि भुजंगमु जंगमु मदनकृपाण।
कि रि विषमायुधि प्रकटीय भ्रकुटीय धणुह समाण ॥ ५८ ॥

सीसु सींदूरिं पूरिय पूरीय मोतीय चंगु।
रापड़ी जडीय कि माणिकि, जाणिकि फणिमणि चंगु ॥ ५९ ॥

तीहं मुखि मुनि मन सालए चालए रथ कि अनंगु।
सूर समान कि कुंडल मंडल कियां रथ अंग ॥ ६० ॥

ममह कि मनमथ धुणहीय गुणहीय वरतणु हार।
वाण कि नयण रे मोहइं सोहइं सयल संसारु ॥ ६१ ॥

हरिण हरावइ जोतीय मोतीय नां शरि जालि।
रंगि निरूपम अधम रे अधर कियां परवाल ॥ ६२ ॥

तिल कुसुमोपम नाकु रे लांकु रे लीजइ मूंठि।
किशलय कोमल पाणि रे जाणि रे चोल मंजीठ ॥ ६३ ॥

वाहुलता अति कोमल कमल मृणाल समान।
जीपइं उदरि पंचानन आनन नहीं उपमानु ॥ ६४ ॥

कुच वि अमीयकलसा पणि थांपणि तणीय अनंग।
तीहंचउ रापणहारु कि हारु ति धवल भुजंग ॥ ६५ ॥

नमणि करइं न पयोधर योध र सुरत संग्रामि।
कंचुक त्यजइं संनाहु रे नाहु महाभडु पामि ॥ ६६ ॥

नाभि गंभीर सरोवर उरवरि त्रिवलि तरंग ।
जघन समेखल पीवर चीवर पहिरिशि चंग ॥ ६७ ॥

निरुपमपणइं विधि तां घडी जांवडी उपम न जाइ ।
करि कंकण पइ नेउर केउर वांहडीआइं ॥ ६८ ॥

अलविंहिं लोचन मींचइं हिंचइं दोलिहि एकि ।
एकि हणइं प्रियु कमलि रे रमलकरइं जलकेलि ॥ ६९ ॥

एकि दिइं सहि लालीय तालीय छंदिं रास ।
एकि दिइं उपालंभु वालंभरहिं सविलास ॥ ७० ॥

मुरुकलइं मुख मचकोडइ मोडइ ललवल अंगु ।
वानि स धनुष वपोडए लोडए चित्तु सुरंगु ॥ ७१ ॥

पाडल कली अति कूंअली तुं अलीयल म धंधोलि ।
तउं गुणवेध ति साचडं काचडं महीडं म रोलि ॥ ७२ ॥

कंटकसंकटि एवडइ केवडइ पइसी भृंगु ।
छयलपणइं गुण माणइ जाणइ परिमल रंगु ॥ ७३ ॥

वउलसिरी मदभींभल इं भलपणुं अलि राज ।
संपति विणु तणु मालती मालती वीसरी आज ॥ ७४ ॥

चालइ नेह पराणउ जाणउं भलउ सखि भृंगु ।
अलग थिउ अति नमण इ दमण इ लिइ रसु रंगु ॥ ७५ ॥

चालइ विलसिवा विवरु रे भमरु निहालइ मागु ।
आचरियां इणि नियगुण नींगुण स्युं तुझ लागु ॥ ७६ ॥

केसूय गरबु म तुं धरि मूं सिरि भसलु बइठु ।
मालइ विरहिं वहुअ दहु अवहु भणी बइठठु ॥ ७७ ।

सखि अलि चलण न चांपइ चांपइ लिअइ न गंधु ।
रूडउ दोहग लागइ आगइ इस्यु निबंधु ॥ ७८ ॥

भमरि भमंतउ गुणु करइ अगरु जि कोरीउ कोइ ।
अजीय रे तींणि वरांसडइ वंस विणासइ सोइ ॥ ७९ ॥

मूरष प्रेम सुहांतीय जातीय जईय म चीति ।
विहसीय नवीय निवालीय वालीय मंडपि प्रीति ॥ ८० ॥

एक थुड बउल नइ बेउल बेउ लतां नव नेहु ।
भमर विचालइं किस्या मरइं पामर विलसि न बेउ ॥ ८१ ॥

मकरंदि मातीय पदमिनि पदमिनी जिम नव नेहु ।
अवसरी ले रसु मूंकइ चूकइ भमर न देहु ॥ ८२ ॥

भमर पलास कसां बुला आंबुला आंबिली छांडी ।
कुचभरि फलतकि तरुणीय करुणी स्युं रति मांडि ॥ ८३ ॥

इणपरि निज प्रियु रंजवइं मुंजवयण इणि ठाइ ।
धनु धनु ते गुणवंत वसंतविलासु जि गांइं ॥ ८४ ॥

———

चर्चरिका

चौबीसों जिनों और सरस्वती को प्रणाम कर अविचल भाव से गुरु की आराधना कर सोलण हाथ जोड़कर कहता है कि मैं अपने जीवन को सफल करूँगा। धार्मिक जन इसे ध्यान लगाकर सुनें। मैं चर्चरी गाऊँगा। हे माँ, तुम मुझे आज्ञा दो जिससे मैं जाकर उज्जयन्त गिरि में त्रिभुवननाथ की वंदना करूं। माँ ने कहा—"रास्ता कठिन है, बहुत से पहाड़ हैं, जमीन पर सोना पड़ेगा। तेरा शरीर दुर्बल हो जायगा।" उसने उत्तर दिया—'जो बाल्यावस्था या यौवन में गिरनार नहीं गया उसको अनेक बार पर-घर-द्वार के चक्कर लगाने पड़ेंगे। यह देह असार है। मैं उज्जयन्त गिरि में जाकर नेमिकुमार की वन्दना करूँगा। इस प्रकार कहकर सिर पर पोटली रख धार्मिकों के साथ में सम्मिलित हो गया। बढ़वान होता हुआ सार्थदीव गया। कंकड़ों में पैर घायल हो गए। गर्म-गर्म लू चलने लगी। जो कायर थे वे लौट गए। जो साहसी थे वे आगे बढ़े। वे सहजिकपुर गंगिलपुर अनन्तकोट होते हुए आगे बढ़े। उन्हें सामने गिरनार का पर्वत दिखाई देने लगा। लोग प्रसन्नता से नाचने लगे।

गिरनार की तली बवणतली स्थान में उन्होंने ऋषभ जिनेश्वर की वन्दना की। वज्रापत जाकर उन्होंने कालमेघ का पूजन किया। मार्ग कठिन था किन्तु सब पर्वत की चोटी पर पहुँचे। फिर शीतल वायु चली। शरीर मानो नवीन सा बन गया। अम्बा ने बड़ी कृपा की।

चर्चरिका

कवि अज्ञात-काल अज्ञात

जिण चउवीस नमेविणु सरसइपय पणमेवि ।
आराहउं गुरु अप्पणउ अविचलु भावु धरेवि ॥ १॥

कर जोडिउ सोलणु भणइ जीविउ सफलु करेसु ।
तुम्हि अवधारह धंमियउ चचरि हउं गाएसु ॥ २

मणि उंमाहउ अंमि सुहु मोकल्लि करिउ पसाउ ।
जिम्व जाइवि उज्जितगिरि वंदउं तिहुयणनाहु ॥ ३ ॥

नइ विसमी डुंगर घणा पूत दुहेलउ मग्गु ।
भूयडियह सूएसि तुहं दूवलि होसइ अंगु ॥ ४ ॥

वालइ जोयणि नं गिया अंमि जि तहिं गिरिनारि ।
ते जंमंतरि दूत्थिया हिंडहिं परघरवारि ॥ ५ ॥

इंअ असारी देहडी अंमि जि विढपइ सारु ।
तिणि कारणि उज्जितगिरि वंदउं नेमिकुंआरु ॥ ६ ॥

करि करवत्ती कूयडी सिरि पोटली ठवेवी ।
मिलियउ धम्मियसाथडउ उज्जिलमग्गि वहेई ॥ ७ ॥

इह वढवाणइ चउहटइ दीसइ सीहविमाणु ।
रनडुलइ बोलावी अंमुलअग्गेवाणि ॥ ८ ॥

इय वढवाणइ जि हट्टइ हियडउं रइ न करेइ ।
दिवि दिवि वंदइ नेमिजिणु चडियउ गिरिसिहरेहिं ॥ ६ ॥

पाइ चहुट्टइ ककरीउ उन्हालइ लू वाई ।
जे कायर ते वलिया जे साहसिय ते जाइं ॥ १० ॥

साहिलडा सरवरतलिहिं उग्गिउ दवणछोडु ।
उजिलि जंते धंमिए गुंथिउ नेमिहिं मउडु ॥ ११ ॥

सहजिगपुरि बोलेविणु गंगिलपुरहिं पहुत्तु ।
माडी कहिजि संदेसडउ अंनु जिणेजे पुत्तु ॥ १२ ॥

जइ लखमीधरु बोलियं पेखिवि बहु य पलास ।
तउ हियडउं निवरु थिउं मुक कुटुंबह आस ॥ १३ ॥

विसमिय दोत्तडि नइ घणिय डुंगर नत्थिं च्छेऊ ।
हियडउं नेमि समप्पियउं जं भावइ तिव नेऊ ॥ १४ ॥

करंबदियालं बोलियउं अणंतपुरू जहिं ठाइं ।
दिन्नउ तहि आवासडउ हियउं विअद्धि थाइं ॥ १५ ॥

नालियरी डुंगरितडिहिं बहुचोराउलिठाइं ।
धम्मियडा बोलिउ गिया असुलतणइ सहाइं ॥ १६ ॥

भालडागदुसुंनउ अवियडउं वसेइ ।
धम्मिय कियउ वीसावड सुरधारडीघरेहिं ॥ १७ ॥

ओ दीसइ वट्टुं धलउ सो डुंगरु गिरनार ।
जहिं अच्छइ आवासियउ सामिउ नेमिकुमारु ॥ १८ ॥

मंगूखंभि न मणु रहिउ अंनु वहडेउ दिट्ठु ।
खडहड अंगु पखालियं गोवाडलिहि पहुट्ठु ॥ १९ ॥

भाद्रनई जह बोलिउ नाचइ धंमिउ लोउ ।
उजिलि दीवउ बोहियउ सुरठडिय हउ जोउ ॥ २० ॥

खंडइ देउलि जउ गिया सांकलि बोलिवि ।
धंमिय कियउ आवासडउ वंचूसरितलि नेई ॥ २१ ॥

ऊजिलमग्गि वहंता रजु लागइ जसु अंगि ।
बलि किज्जउं तसु धमियह इंदु पसंसह सग्गि ॥ २२ ॥

जे मलि मइला पहियडा ते मइला म भणेजे ।
पावमली जे मइलिया ते मइला ह सुणेजे ॥ २३ ॥

एउ वाउह लोडउं कोटउं तलि गिरिनारु ।
ओ दीसइ ववणथली धवलियतुंगपयार ॥ २४ ॥

घर पुर देउल धवलिया धज धवली दीसंति ।
धंमी सा ववणथली ऊजिलितलि निवसंती ॥ २५ ॥

वउणथली मेलेविणु जउ लागउ गढमगि ।
तउ धंमिउ आणंदियउ हरिसु न माइउ अंगि ॥ २६ ॥

रिसहजिणेसरु वंदियउ गढि आवासु करेवी ।
नाचइ धंमिउ हरिसियउ हियडइ नेमि धरेवी ॥ २७ ॥

गढु वोली जउ चालीयउ तउ मणि पूरिय आस ।
वलि किज्जउ हउं जंवडिय जोयण वूढ पंचास ॥ २८ ॥

टोलह उपरि मागडउ सो लंघणउ न जाइ ।
पाउ खिसियउ विसमउ पडइ हियं विअद्धइं थाई ॥ २९ ॥

अंचणवाणी नइ वहइ दिट्ठु दमोदरु देउ ।
अंजणसिलहिं जि अंजिया धन्न ति नयणा वेउ ॥ ३० ॥

तरवरुतणइ पलांवडे रुद्धउ मागु जंवेवि ।
कालमेघु जोहारियउ वस्त्रापदि जाएवी ॥ ३१ ॥

अंवाजंवूराइणिहिं वहु वणराइ विचित्त ।
अंविलिए करंवदिएहिं वंसजालि सुपवित्त ॥ ३२ ॥

नीझरपाणिउ खलहलइ वानर करहिं चुकार ।
कोइलसद् सुहावणउ तहिं डुंगरि गिरिनारि ॥ ३३ ॥

जउ मइं दिट्ठी पाजडी उंच दिट्ठु चडाऊ ।
तउ धंमिउ आणंदियउ लद्ध सिवपुरि ठाउ ॥ ३४ ॥

हियडा जंघउ जे वहइं ता ऊजिंति चडेजे ।
पाणिउ पीउ गइंदवइ दुख जलंजलि देजे ॥ ३५ ॥

गिरिवाइं झंझोडियउ पाय थाहर न लहंति ।
कडि त्रोडइं कडि थक्की हियडउं सोसह जंति ॥ ३६ ॥

जाव न धंधलि घल्लिया लखुपत्तीपाण ।
तांव कि लब्भहिं चिंतिया हियडा ऊणत्ताण ॥ ३७ ॥

डुंगरडा अधो फरिं लग्गउ सीयलि वाउ ।
हूय पुणं नवदेहडी अंमुलि कियउ पसाऊ ॥ ३८ ॥

———

नल-दवदंती रास

(महीराज कवि कृत)

संवत् १५३९ वि०

कवि प्रारम्भ में आदि तीर्थंकर एवं ब्रह्मपुत्री सरस्वती की स्तुति के उपरान्त नल-दमयन्ती की कथा का वर्णन करता है। इस बृहद् रास की सम्पूर्ण छन्द-संख्या १२५४ है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से सबसे उत्कृष्ट भाग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। नल-दमयंती के प्रसिद्ध कथानक का उपयोग जैन आचार्यों ने अपने कर्म-सिद्धांत के प्रतिपादन एवं दान-महिमा के वर्णन के लिये किया है। यह एक सुन्दर साहित्यिक कृति है। उद्धृत अंश का सारांश इस प्रकार है—

जब नल अरण्य प्रदेश में दमयन्ती को त्याग कर चला गया तो वह विलाप करने लगी—हे माता, नल के बिना मैं किस प्रकार जीवित रह सकती हूँ। सद्गुणों से पूर्ण विलक्षण लक्ष्य-वेधी हमारे पति कहाँ। प्रियतम प्रियतम पुकारती हुई दमयन्ती दिशा-विदिशा भटकने लगी। वह पुकारने लगी कि हे चन्द्र, सूर्य एवं वन के देवता ! आप लोगों ने कहीं हमारे पतिदेव को देखा है। इस प्रकार विलाप करती हुई वह अपने दुर्भाग्य का कारण ढूँढ़ती है कि किस अधर्म के कारण मुझे इस भीषण आपदा का सामना करना पड़ा।

जब दमयन्ती ने अपने वस्त्र को देखा तो उस पर रक्तरंजित अक्षरों में लिखा था कि तू अपने पितृगृह चली जा। तेरा पितृकुल उच्चवंशीय है। वे लोग पुरुषरत्न हैं। तू सुविचार शीला है। मन में धैर्य धारण करो। अब दमयंती दुखी होकर पीहर चली और रात-दिन 'नल' नामक दो अक्षरों का जाप करने लगी।

इसके उपरान्त कवि वन्य पशुओं की विभीषिका का वर्णन करता है। जंगली हाथी, सर्प, सिंह, शूकर, चीता, अष्टापद, शंबर, शरभ, आदि की भयंकर ध्वनि सुनाई पड़ती है। दावानल की ज्वाला प्रज्वलित होती दिखाई पड़ती है। यक्ष, राक्षस और क्षेत्रपाल घूमते दृष्टिगोचर होते हैं। आकाश-गामी गन्धर्व और विद्याधर शाकिनी और डाकिनी आदि राक्षस दिखाई पड़ते हैं। योगिनियाँ स्थान-स्थान पर घूमती हैं। इनके मध्य दमयन्ती शील रूपी कवच धारण करके 'नल' का निरंतर नाम जपती हुई अपने पितृगृह को चली जाती है।

———

नल-दवदंती रास

महीराज कृत

सं० १५३६ वि०

चउपई

मुख पखालेवा गयु प्रीउडउ, आवतु हुसिइ कंत रूअडउ।
वाट जोइ नारी रही तिहां, 'मझमूंकीनइ नल गयु किहां ? ॥४३६॥
सुंदर दीठउ रूपिइ करी, कोई किंनरी गई हुसिइ अपहरी।
कंत नावइ, घणी वेला थई, नावइ तु कस्यू कारण भई ? ॥४३७॥
मूंहनइ सही ए मेहली गयु, आपणपूं निश्चित ज थयु।
मूंकी जावूं तुझनइ नवि घटइ, आपणपूं हईइ आवटई ॥४३८॥
कमललोचन ते माहरु वाहलउ, भलु कीधु नलजीइ टालउ।
कोइ जईनइ कंतनइ वालु, किम हींडसिइ मोरु जीवनपालु ?' ॥४३९॥

राग कालहिरु। जोइ न विमासी०

दवदंती तिहां विलाप करइ,
'नल विना किम रहीइ रे माइ ?।
सगुण सुवेधी सुंदर कंता, ए दुष
कहिनइ कहीइ रे माइ ?' ॥४४०॥

'प्रीऊ प्रीऊ' करती नारी हींडइ,
दिसि विदिसिइ ते जोती रे।
दुख धरीनइ नीसासु मेहलइ,
अबला नारी रोती रे॥ ४४१ ॥

'रहीअ न सकूं तुम विण नलजी।
कहीअ न सकूं तोइ रे।
माहरइ मनि छइ तूंह जि कंता।
तूं विण अवर न कोई रे॥ ४४२॥

सिउ अवगुण तुझ हईडइ वसीउ ?
जे मेही निराधार रे ।
सिइ ऊवेखी माहरा कंता ।
निषधपुत्र ! सुविचार रे ॥ ४४३ ॥

चंदसूरिज वनदेवता सांभलु !
नलजी वन किहीं दीठु रे ? ।
ते कंतानइ मेलवु मझनइ,
मूह स्यूं कंत ज रूठउ रे ॥ ४४४ ॥

सुणि तूं जीवनस्वामी !
माहरा, मन ताहरूं किम वहिउं रे ? ।
गुण नवि बीसरइ कंता !
ताहरा, मइ तु कांइ न कहिउं रे ? ॥ ४४५ ॥

स्या माटिइ वाहला !
तूंअ रीसाणु ? हूं ते नारी तोरी रे ।
तइ छेहु भलु मझनइ आपिउ,
घणी कीधी तइ जूरी रे ॥ ४४६ ॥

सी परि करीसि ? किहां हूं जाईसि ?'
'नल नल' कही ते रडइ रे ।
कूटइ हईडूं, डील आछेटइ,
पगि पगि ते नारि आखडइ रे ॥ ४४७ ॥

'कइ मइ कोइ मुनिवर संतापिउ ?
कइ ऊगती वेलि कापी रे ? ।
कइ मइ कहिना भंडार ज लूस्या ?
कइ लीधी वस्तु नापी रे ? ॥ ४४८ ॥

कइ मइ कूडूं आल ज दीधूं ?
कइ मइ छेद्या वृक्ष रे ।
कइ मइ कूडकपट ज केलविउं ?
कइ संतापिया दक्ष रे ? ॥ ४४९ ॥

देवगुरुनी मइ निंदा कीधी ?
कहिसिउं कीधु द्रोह रे ? ।

खेदिइ मर्म पीआरा बोल्या ?
जे मइ पामिउ विच्छोह रे ॥ ४५० ॥

ढाल ।

तुझ ऊपरि मोरी आसडी, किम जासिइ मझ रातडी ।
कहि आगलि करूं रावडी, चरणकमल की दासडी ॥ ४५१ ॥

चंचल चपल तोरी आंखडी, जैसी कमला दलची पांखडी ।
तोरी भमहि अछइ अणीआलडी, एहवइ नल जीइ हूं छंडी ॥४५२॥

वाहलउ न मिलइ ता आखडी, किसीअ न खाउं सूखडी ।
ते विरहइ नही भूखडी, रंग गयु एहनु ऊखडी ॥ ४५३ ॥

जोउं छउं कंता ! वातडी, सार करु न अह्मारडी ।
कां मेल्ही निराधारडी ? किहां लागइ छइ वारडी ? ॥ ४५४ ॥

जिम मेहनी वाट जोइ मोरडी, कंता ! ताहरी छउं गोरडी ।
मेल्हणवेला नही तोरडी, अवर पुरुषस्यूं कोरडी ॥ ४५५ ॥

सी आवी तुम रीसडी ? नारी कणकनी दीवडी ।
किम एकलां नावइ नींदडी, पूरव भवनी प्रीतडी ॥ ४५६ ॥

कांकिमपणउं धरिउं जिम गेडी, ढलवलती मेहली जिम दडी ।
संघातिइं हूं सीद तेडी ? ताहरी न मेल्हउं हूं केडी ॥ ४५७ ॥

तुमसिउं कंता ! नही कूडी, नारी सविहुमांहि हूं भूंडी ।
जाणज्यो कंता! नही कूडी, कोइ ल्यावइ नलनी शुद्धि रूडी ? ॥४५८॥

प्रकृति थई कंता ! अति करडी, स्या माटिइ तूं गयु मरडी ? ।
इम नवि जईइ वाल्हा ! वरडी, बांधी छइ प्रेम गठडी ॥ ४५९ ॥

नल सरखी न मिलइ जोडी, बालपणनी प्रीति त्रोडी ।
कपट करीनइ कां मोडी ? आ रानमांहि हूं कां छोडी ? ॥ ४६० ॥

किम तिजी माया एवडी ? मझ हससिइ तेवडतेवडी ।
कंटकि वींटी जेवडी, भमरू न मेल्हइ केवडी ॥ ४६१ ॥

विरहइ थईअ गहेलडी, जोउं छउं पगला रहिअ खडी ।
सिइ कारणि तुझ रीस चडी ? नलनइ वियोगिइ अतिहि रडी ॥४६२॥

नारी अबला नाह्नडी, एकली न मेल्हीजइ बापडी।
अम्ही यौवनवइ बोरडी, तुम स्यूं नथी वेरडी ॥ ४६३ ॥
किसीइ वातिइ नवि आडी, ए दुख कहूं जु हुइ माडी।
फूल विना नवि शोभइ वाडी, पति विना न हुइ नारी टांडी ॥४६४॥
कंतस्यूं न कीधी वातडी, एणी एणी वृक्ष छाहडी'।
भीमराजानी बेटडी दवदंती बोलइ भाखडी ॥ ४६५ ॥
'भली मेहली हूं गुडउ गुडी, सुख संभरइ ते घडी घडी।
घणु नेह तइ देखाडी सिइ मेहली असुडी ?' ॥ ४६६ ॥

डाल । मनकु वा हलु वेगलु । गुडी

'नल नल' कहिती नीसरी, नवि पेखइ कहइ ठामि रे।
'सिइ ऊवेखी तूंअ गयु ? बलिहारी तुझ नामि रे ॥ ४६७ ॥
कहींइ मिलसिइ वालिभ ? तेह विण क्षण नवि जाइ रे।
तइ न धरी माया माहरी,' एहवूं कहइ तेणइ ठाइ रे ॥ ४६८ ॥
नारी सोधइ दसो दिसि, शुद्ध नथी जीवन्न रे।
रानवगडमां मेल्ही गयु, किम राखूं हूं मन्न रे ? ॥ ४६९ ॥
नान्हपणानु नेहडउ, कांइ वीसारिउ नाह रे ?
कठिन कठोरमांहि मूलगू, ताहरु प्रीछिउ माह रे ॥ ४७० ॥
ए तु कायर लक्षण, साहसीकनूं नही काम रे।
अधविचि नारीनइ मेल्हीइ, बलतूं न लीइ नाम रे ॥ ४७१ ॥
नलजी ! माहरा नाहला ! एक ताहरु आधार रे।
माया सघली वीसारी, कां मेहली निरधार रे ? ॥ ४७२ ॥
कुटंब हुइ पुहुचतूं; कंत विना सही फोक रे।
कुणइ कांई नवि हुइ, अवसरि सहू ए लोक रे' ॥ ४७३ ॥
वस्त्रइ अक्षर देखीआ वांचिवा लागी तेह रे।
'तूं हवइ पीहरि जाइजे, सुख हुइ तूंहनइ देहि रे' ॥ ४७४ ॥
'आवडूं कूड नुहतूं जाणिउं, नरनी निगुंण जाति रे।
पुरुष निदानिइ छेह आपइ, ते तु कहीइ कुजात रे ॥ ४७५ ॥
तूं तु सुजाती जाणीउ, ताहरूं कुल सुवंश रे।
पुरुषरत्नमां मूलगु, अवगुणनु नही अंश रे ॥ ४७६ ॥

इम मेहली कंता ! नवि जईइ, ताहरु नुहइ आचार रे।
मूंहनइ वाल्हा ! दोहिलूं, तूं तु छइ सुविचार रे ।। ४७७ ।।
संभाल करु माहरी, मननु छइ विश्राम रे'।
मंत्र तणी परि ते जपइ, मुखिथूं नवि मेल्हइ नाम रे ।। ४७८ ।।

दूहा

दवदंती ते दुख धरी, चाली पीहरि तेह।
नल अक्षर मंत्रनी परिइ राखइ अहनिसि जेह ।। ४७९ ।।
वाटिइ वनगज फणगर, सीहतणा बोंकार।
रौद्र अटवी बीहामणी, घूकतणा घूतकार ।। ४८० ।।
सूअर घरकइ जिहां घणउं, बरकइ चीत्रा अति।
अष्टापद तिहां जीवडा, बीहवानी नहीं मति ।। ४८१ ।।
शंबर शरभ नइ कासर, वरू सूअर सीआल।
दावानल तिहां प्रज्वलइ, यक्ष राक्षस खेत्रपाल ।। ४८२ ।।
गंधर्व विद्याधर खेचर, शाकिनी डाकिनो जेह।
योगिनी दीसइ ठामि ठामिइ, तेहनु न लाभई छेह ।। ४८३ ।।
घोर बीभच्छ भयंकरी, सुणीइ महा हुकार।
वनचरनु कोलाहल घणु, सूर्यकिरण न लगार ।। ४८४ ।।
ते न पराभवइ तेहनइ, नवि लोपइ ते आण।
पंच पदनूं ध्यान करइ, जोउ शील मंडाण ।। ४८५ ।।
'नल नल' कहिती ते चालइ, राखिउ हईआ बारि।
सील सन्नाह पहिरी करी, जाइ दवदंती नारि ।। ४८६ ।।
बोर बाउलीआ गोखरु, चरणि वींधाइ तेह।
पीउ चित्तिइ न वीसरइ, अधिक वधारइ नेह ।। ४८७ ।।

———

द्वितीय खंड

प्राचीन ऐतिहासिक रास

[तेरहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक]

कैमास वध

[१२ वीं शताब्दी]

चन्दवरदाई कृत

[परिचय]

चन्दवरदाई—कृत पृथ्वीराज रासो से ये दो छन्द उद्धृत किए गए हैं। पृथ्वीराज का अमात्य वीर कैमास एक नीतिनिपुण एवं निर्भीक राज्य-संचालक अधिकारी था। उसके नीति-नैपुण्य से पृथ्वीराज ने अनेक शत्रु पराजित किए गए थे। पृथ्वीराज को आखेट अधिक प्रिय था। अतः वह प्रायः मृगया के लिए जंगलों में घूमा करता और राज्यकार्य कैमास ही सँभालता।

एक बार पृथ्वीराज आखेट के लिए दूर चला गया। उसकी अनुपस्थिति में कैमास ने राजसभा बुलाई। सभा-मंडप के सम्मुख ही अन्तःपुर था जिसमें पृथ्वीराज की एक दासी कर्नाटी रहती थी। सभा में बैठे हुए अमात्य कैमास को उसने झरोखे से देखा। अमात्य कैमास की दृष्टि भी उसकी दृष्टि से मिल गई। दोनों एक दूसरे के ऊपर मुग्ध हो गए। कैमास और कर्नाटी दोनों रात्रि में एक दूसरे से मिलना चाहते थे। दासी कर्नाटी को रात्रि में निद्रा नहीं आई और उसने दासी भेजकर अमात्य कैमास को अपने पास बुलाया। कामी कैमास दासी के साथ कर्नाटी के पास चल पड़ा। कैमास महल के मध्य पहुँच कर यह भूल गया कि दासी कर्नाटी के कक्ष के समीप ही पटरानी इच्छिनी का भवन है। कैमास के वस्त्रों से फैलनी वाली सुगन्धि और पगध्वनि से इच्छिनी के मन में यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि महाराज तो इस समय आखेट के लिए बाहर गए हैं, हर्म्य में पुरुष सी ध्वनि क्यों। भाद्र की अन्धकारमयी रात्रि में कौंध हुई और उसके प्रकाश से रानी इच्छिनी ने कर्नाटी के कक्ष में प्रवेश करने वाले कैमास को देख लिया। उसने सद्यः महाराज पृथ्वीराज के पास सन्देश भेजा। राजा रात्रि में ही हर्म्य पहुँच गया और उसने बाण द्वारा अमात्य कैमास का वध कर डाला।

कविता का सारांश

चन्दवरदाई कहने लगा—हे पृथ्वीनरेश, आपने कैमास पर एक बाण छोड़ा किन्तु निशाना चूक जाने से वह बाण उसके वक्षस्थल के समीप ही सनसनाता हुआ निकल गया। हे सोमेश्वर सुत, (उस बाण के चूक जाने पर) आपने दूसरे बाण का संधान करके उसे मार दिया। फिर आपने उसे पृथ्वी में इसलिए गड़वा दिया कि यह अभागा फिर बाहर न निकल सके। जिस प्रकार कृपण अपने धन को गहरे गाड़ देता है उसी प्रकार आपने इसे गाड़ दिया। आपने इसे गहरे इसलिये गड़वा दिया कि जमीन पर गिद्धों के द्वारा नीचे जाने पर इसका सारा भेद खुल न जाय। संक्षेप में मैंने कैमास की अन्तिम घटना का उल्लेख किया।

———

कैमास-वध

[१२वीं शताब्दी]

(चन्दवरदाई कृत)

इक्कु वाणु पहुवीसु जु पइं कइंवासह मुक्कओं,
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुकउ।
बाअं करि संधीउं भंमइ सूमेसरनंदण!
एहु सु गडि दाहिमओं खंणइ खुदइ सइंभरिवणु।
फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ-खल गुलह,
नं जाणउं चंदबलदिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह॥

(२)

अगहु म गहि दाहिमओं रिपुराय खयंकरु,
कूडु मंजु मम ठवओं एहु जं बूय मिलि जग्गरु।
सहनामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झइं,
जंपइ चंदबलिद्दु मज्झ, परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सइंभरिधणी सयंभरि सउणइ संभरिसि,
कइंवास विआस विसट्ठविणु मच्छिबंधिबद्धओं मरिसि॥

जयचन्द प्रबन्ध से उद्धृत

(१)

त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाषरीअइं जसु हय,
चऊदसइं मयमत्त दंति गज्जंति महामय।
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलुयान संख कु जाणइ तांह पर।
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहिविनडिओ हो किम भयउ,
जइचन्द न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ॥

(२)

जइत चंदु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ,
धरणि धसवि उद्धसइ पडइ रायह भंगाणओं।

सेसु मणिहिं संकियउ मुक्कु हयरवरि सिरि खंडिओ॑,
तुट्टओ सो हरधवलु धूलि जसु चिय तणि मंडिओ॑।
उच्छलीउ रेणु जसग्गि गय सुकवि ब (ज)ल्हु सच्चउं चवइ,
वग्ग इंदु विंदु मुयजुअलि सहस नयण किण परि मिलइ॥

यज्ञ-विध्वंस

(पृथ्वीराज रासो)

रास एवं रासान्वयी साहित्य में पृथ्वीराज रासो का सबसे अधिक महत्त्व है। इसका प्रमाण यह है कि अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के चिरकाल से गवेषणा करने पर भी इसकी प्रामाणिकता एवं ऐतिहासिकता, इसके रचनाकाल एवं प्रतिलिपि काल, इसके भाषा रूप एवं काव्य सौष्ठव के सम्बन्ध में अद्यापि विवाद समाप्त नहीं हुआ। इस महाकाव्य की चार प्रकार की हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध हैं। इन प्रतियों को बृहद् रूपान्तर, मध्यम रूपान्तर, लघु रूपान्तर एवं लघुतम रूपान्तर का नाम दिया जा सकता है। प्रत्येक रूपान्तर के भी भिन्न-भिन्न संस्करण उपलब्ध हैं। किन्तु अनुमानतः बृहद् रूपान्तर के विविध संस्करणों की श्लोक संख्या २६००० से ४०००० मानी जा सकती है। यह महाकाव्य ६५ से ७० खंडों में विभाजित मिलता है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति मेवाड़ के ठिकाना-भींडर के संग्रह में है। इसका लिपिकाल सं० १७३४ वि० है।

मध्यम रूपान्तर की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति लंदन स्थित रायल एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में है।[1] उसका लिपिकाल सं० १६६२ वि० है। उसकी श्लोक-संख्या ११००० के आसपास है। यह ग्रंथ ४१ से ४६ खंडों में विभक्त है।

लघु रूपान्तर का सबसे प्राचीन लिपिकाल सं० १६७५ वि० के आस-पास माना जाता है। इसकी श्लोक संख्या ३५०० से ४००० के अन्तर्गत है। इसकी खंड संख्या १६ है।

लघुतम रूपान्तर में न्यूनाधिक १३०० श्लोक हैं। अन्य रूपान्तरों के सदृश यह खंडों में विभक्त नहीं है। इसमें 'संयोगिता-हरण', और 'गोरी का युद्ध' ये ही दो प्रसंग प्रमुख रूप से वर्णित हैं। आनुषंगिक रूप से निम्न-लिखित प्रसंग भी आ गए हैं—

---

१ नरोत्तम स्वामी राजस्थान भारती—भाग ४, अंक १

१ मंगलाचरण, पृथ्वीराज के पूर्वजों का उल्लेख (वंशावली), पृथ्वीराज का राज्यासीन होना।

२ जयचन्द का राजसूय यज्ञ और संयोगिता स्वयंवर

३ पृथ्वीराज और चंदवरदाई का कन्नौज प्रस्थान। [कैमासवध इसी के अन्तर्गत आ गया है],

४ पृथ्वीराज का जयचन्द की राजसभा में पहुँचना, संयोगिता हरण, जयचंद की सेना के साथ युद्ध, वीर सामन्तों को खोकर पृथ्वीराज का अपनी राजधानी दिल्ली लौटना।

५ पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गोरी का युद्ध।

६ चंद का गजनी गमन, पृथ्वीराज के शब्दवेधी बाण से गोरी की मृत्यु, पृथ्वीराज और चन्द का परलोक गमन।

लघु रूपान्तरों में युद्धों और पृथ्वीराज के विवाहों की संख्या अल्प है, मध्य और बृहद् रूपान्तरों में इनकी संख्या बढ़ती गई है। लघुतम में एक, लघु में दो, मध्यम में ५ और बृहद् में १५ विवाहों का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार लघुतम रूपान्तर में दो युद्धों का, लघु में पाँच का, मध्यम में ४१ का और बृहद् में ५९ युद्धों का वर्णन प्राप्त होता है।

रचना-काल

अकबर से पूर्व किसी भी ग्रंथ में पृथ्वीराजरासो का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम रासो का उल्लेख सं० १७०७ वि० में विरचित जसवंत-उद्योत में मिलता है। अकबरकालीन चरित - लेखकों को [चौहान वंश के चरित लेखकों को] चन्द का नाम ज्ञात था किन्तु उन्होंने पृथ्वीराजो रासो का कहीं उल्लेख नहीं किया। अकबर के युग में पृथ्वीराज और जयचन्द के जीवन की जनश्रुतियाँ सर्वत्र व्याप्त हो गई थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि "मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह द्वितीय ने सं० १७६० में उस समय तक रचित अंशों को संग्रहीत करवा दिया और वही रासो का अन्तिम रूप हुआ।"

यहाँ इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि रासो की हस्तलिखित प्रतियों को सुरक्षित रखने तथा उनकी प्रतिलिपि प्रस्तुत कराने का श्रेय जैन आचार्यों को है। जैन संग्रहालयों में प्रायः ये प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। अतः यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि रास - साहित्य की रक्षा जैन मुनियों के द्वारा ही संभव हो सकी।

इस संग्रह में पृथ्वीराज रासो के बीकानेर - संस्करण से 'यज्ञ-विध्वंस' नामक प्रसंग उद्धृत किया जाता है। रासो के प्रसिद्ध आलोचक एवं इतिहास के मर्मज्ञ डा० दशरथ शर्मा ने इस अंश को सब से प्राचीन स्वीकार किया है। उन्होंने अल्प परिवर्त्तन के साथ इस उद्धरण का अपभ्रंश रूपान्तर प्रस्तुत कर डाला है। यहाँ इसका सारांश देने से पाठकों को अर्थ समझने में सरलता हो जायगी।

कलियुग में कन्नौज का एक शासक था जो धर्म-पथ का अनुयायी था। धर्म में रुचि होने के कारण वह सत्यशील आचरण में रत रहता और यज्ञ किया करता। एक बार उस कन्नौज-राज पंग (जयचन्द) ने उत्तमोत्तम घोड़ों और हाथियों को राजसूय यज्ञ के निमित्त भेजा। पुराणों के अध्ययन से उसने राजा बलि को अपने राज - परिवार का आदर्श माना। अपनी अश्व सेना पर भरोसा करके उसने पृथ्वीमंडल के सम्पूर्ण अभिमानी राजाओं को पराजित किया और अपने प्रधानामात्य से परामर्श किया कि क्या मैं राजसूय यज्ञ करूँ जिसके द्वारा हमें प्रसिद्धि प्राप्त हो।

मंत्री ने उत्तर दिया—"महाराज, इस कलियुग में अर्जुन के सदृश कोई नहीं है। आप पुण्य के अनेक कार्य करिए—मन्दिर बनवाइए, प्रतिदिन सोलह प्रकार के दान दीजिए। हे मेरे प्रभु पंग (जयचन्द) मेरी शिक्षा मानिए और (तदनुसार) जीवन बिताइए। इस कलियुग में सुग्रीव के समान कोई राजा नहीं (जो राजसूय यज्ञ में आपकी सहायता कर सके)। अपने प्रधानामात्य की शिक्षा की उपेक्षा करके पंगराज (जयचन्द) अज्ञान एवं तृष्णा के कारण झट बोल उठा—"कितने ही ऐसे राजा हो गए जिन्होंने अपने कोलाहल एवं अभिमान से दिल्ली को हिला दिया किन्तु उन्हीं मरे हुए राजाओं को अमर समझना चाहिए जिनका यश अब तक पृथ्वी पर जीवित है।

अतः पंगराज (जयचन्द) राजसूय यज्ञ करने लगा जो स्वर्गप्राप्ति का साधन है। उसने सभी राजाओं को साधन है। उसने सभी राजाओं को पराजित किया और उन्हें अपने राजद्वार का संरक्षक उसी प्रकार नियत किया जिस प्रकार किसी माला में मणि ग्रथित किए गए हों। उसे यही सुनकर बड़ा क्लेश होता था कि योगिनीपुर (दिल्ली) के राजा पृथ्वीराज उस माला के एक अंग न बने।

जयचन्द हृदय से पृथ्वीराज के विरुद्ध था। उसने दिल्ली-राज के पास दूत भेजे। वे (दूत) दिल्ली पहुँच कर राजदरबार में उतरे। पृथ्वीराज उनसे

कुछ न बोला। गुरुजनों से विवाद करने में उन्हें संकोच हुआ। अतः गुरु (वयोवृद्ध) गोविन्द राज इस प्रकार बोला—

कलियुग में आज यज्ञ (राजसूय) कौन कर सकता है ? कहा जाता है कि सतयुग में बलिराज ने यज्ञ किया। उसने कीर्ति के लिए तीनों लोक दान कर दिया। त्रेतायुग में राजा रामचन्द्र ने यज्ञ (राजसूय) किया। कहा जाता है कि कुबेर ने उनके दरबार में (धन की) वर्षा की। द्वापर में स्वनाम धन्य युधिष्ठिर ने यज्ञ (राजसूय) किया। उसके पीछे बड़े वीर और (यहाँ तक कि) शत्रु भी सहायता के लिए खड़े रहते। इस कलियुग में राजसूय यज्ञ कौन कर सकता है। इसके विविध विधान के बिगड़ने से लोग (यज्ञ कर्ता की) हँसी उड़ाते हैं। तुम अपनी सेना एवं अपने द्रव्य के गर्व में ऐसे अप्रमाण वचन बोलते हो मानो तुम्हीं देवता हो। तुम समझते हो कि कोई क्षत्रिय है ही नहीं; किन्तु यह पृथ्वी कभी वीर-विहीन नहीं होती। यमुना-तट के इस अरण्य प्रदेश का एक निवासी जयचन्द की अबाध राजसत्ता को नहीं स्वीकार करेगा। वह केवल योगिनीपुर (दिल्ली) के शासक पृथ्वीराज को जानता है जो सुरेन्द्र के परिवार में उत्पन्न हुआ है। जिसने शहाबुद्दीन गोरी को तीन बार बांध दिया और वीरराज भीमसेन को पराजित किया। शकम्भरी देश में सोमेश्वर महाराज का एक चतुर पुत्र है जिसने बल में दानवों को भी अतिक्रम कर लिया है। जब तक उसके स्कन्ध पर सिर है कोई किस प्रकार राजसूय यज्ञ कर सकता है ? क्या इस भूतल पर कोई चौहान नहीं है ? सभी (उस चौहान को) सिंह रूप से देखते हैं। और जग में किसी और को अपने मन में राजा नहीं मानते। (इस असम्मान के व्यवहार से) जयचन्द्र के बसीठ (राजदूत) उस बुद्धिमान आदमी की तरह सभा से उठकर चल पड़े जो ग्रामीणों के समाज में कुछ समय तक बैठकर उठ जाता है। वे सभी उठकर उसी प्रकार हतप्रभ होकर कन्नौज चले जिस प्रकार सन्ध्या के आगमन से कमल म्लान हो जाता है।

———

यज्ञ-विध्वंस

[१२वीं शताब्दी]

(चन्दबरदाई कृत)

छन्द पद्धडी[1]

कलि अछ[2] पथ[3] कनउज्ज राउ।
सत सील रत धर धर्म्म चाउ॥
वर अछभूमि हय गय अनग्ग[4]।
परठव्या[5] पंग[6] राजसू जग्ग।
सुद्धिय[7] पुरान बलि वंस वीर।
भुवगोलु[8] लिखित[9] दिल्ये सहीर।
छिति छत्रबंध राजन समान।
जित्तिया[10] सयल[11] हयबल प्रधान[12]।

---

१. सोलह मात्रा का छंद जिसके अन्त में जगण हो पद्धटिया या पद्धडी कहलाता है।

२. पाठान्तर 'अथ' भी मिलता है।

३. बीकानेर संस्करण में 'पछ' पाठ मिलता है। इसका अर्थ हुआ 'अच्छः पथा यस्य'।

४. अनंगु और इसका अपभ्रंश रूप अणग्ग (अनम्र्य) भी मिलता है।

५. 'पठव्या' पाठ भी मिलता है। पट्ठविअ (प्रस्थापिताः) भी हो सकता है।

६. पंग नाम जयचन्द का रंभामंजरी में मिलता है।

७. सोधिग एवं सोधिगु पाठ भी मिलता है।

८. पाठान्तर भुवबोलि भी मिलता है।

९. पाठान्तर लिष्यति

१०. पाठान्तर जिचिअ

११. पाठान्तर समल, सबल

१२. " प्रमान

पुछ्यौ समंत परधान तव्व[१]।
हम करहि जग्गुजिहि लहहि कव्व।
उत्तरु त[२] दीय मंत्रिय सुजांन।
कलजुग्ग नहीं अरजुन समांनु।
करि धर्म्म देव देवर अनेव।
षोड़सा दान दिन देहु देव।
मो सीख मानि प्रभु पंग जीव।
कलि अथि[३] नहीं राजा सुग्रीव[४]।
हंकि पंग राइ मंत्रिय समांन।
लहु लोभ अब्ब बुल्यो[५] नियांन[६]॥

गाथा

के के न गए महि मुहु[७],
ढिल्ली ढिल्लाय दीह होहाय[८]।
विहुरंत[९] जासु कित्ती,
तं गया नहि गया हुंति॥

पद्धडी

पहु[१०] पंग राइ राजसू जग्ग।
आरंभ अंग[११] कीनौ सुरग्ग[१२]॥

---

१. „ तव्व, तव्
२. „ तौ
३. पाठान्तर अछि
४. सुग्रीव के स्थान पर सुगीव होता तो छंद के अन्त में जगण ठीक बैठ जाता।
५. पाठान्तर वुल्यौ
६. „ लही आन
७. पाठान्तर मोहु
८. „ होई दौ
९. „ विप्फुरेता
१०. „ हौहु
११. „ पंगु
१२. „ सुरंगु

जित्तिया राइ सब सिंघवार ।
मेलिया कंठ जिमि मुत्तिहार ॥

जुग्गिनिपुरेस सुनि भयौ खेद ।
आवइ[1] न माल मभ्क हिअ भेद ॥

मुक्कले[2] दूत तब तिह समत्थ[3] ।
उतरे[4] आवि[5] दरबार तत्थ ॥

बुल्यौ न वयन प्रिथीराज ताहि ।
सकल्यौ सिंघ गुरजन निव्याहि[6] ॥

उच्चरिय गरुव गोविन्दराज ।
कलि मध्य जग्ग को करै आज ॥

सतिजुग्ग कहहि बलिराज कीन ।
तिहि कित्ति काज त्रियलोकदीन ॥

त्रेता तु किन्ह रघुनंद राइ ।
कुव्वेर कोपि बरख्यो सुभाइ ॥

घन धर्म्मपूत द्वापर सुनाइ ।
तिहि पञ्च वीर अरु अरि[7] सहाई ॥

कलि मभ्कि जग्गु को करणजोग ।
विग्गरै बहु विधि हसै लोग ॥

---

१. पाठान्तर अवइ, अवै
२. भविसयत्तकहा में मोकल्ल रूप मिलता है,
३. पाठान्तर रिसाइ
४. ,, उतरहि
५. ,, अग्गि आवि
६. ,, निचाहि
७. पाठान्तर हरि

दलदव्व गव्व तुम अप्रमांन।
वोलहुत[१] वोल देवनि समान॥

तुम्ह जानु नहीं क्षत्रिय हैत्र कोइ।
निव्वीर पुहमि[२] कवहुं न होइ॥

हम जंगलहं[३] वास कालिंदि कूल।
जांनहि न राज जैचन्द मूल॥

जांनहि तु एक जुग्गिनि पुरेस।
सुरइंदु वंस पृथ्वी नरेस[४]॥

तिहु वार साहि वंधिया जेण।
भंजिया भूप[५] भडि भीमसेण[६]॥

संभरि सुदेश सोमेस पुत्त।
दानवतिरूप अवतार धुत्त॥

तिहि कंध सीस किमि जग्य होइ।
पृथिमि नहीय चहुआन कोइ।

दिक्खयहिं सव्व[७] तिहिं संघरूप।
मांनहि न जग्गि मनि आन भूप॥

आदरह मंद उठिगो वसिट्ठ।
गामिनी सभा बुधि जनउ विट्ठ[८]॥

फिर चलिग सव्व कणवज्ज मंझ,
भए मलिन कमल जिमि सकलि संझ॥

---

१. ,, हैतु
२. ,, पुहुवि
३. ,, जंगलहि
४. पाठान्तर-जरासंध वंस पृथ्वी नरेस
५. ,, भूव
६. ,, भंजिया भुवप्पति भीमसेण
७. ,, दिख्यीयहिं
८. ,, कविट्ठ

समरा रास

अंबदेव

१३७१ वि०

परिचय—

शत्रुंजय के शिखर पर स्थित समरा तीर्थ है। आचार्य कहते हैं कि मैं अर्हंत की आराधना भक्ति-भरे भावों से करता हूँ। तदुपरांत सरस्वती की वंदना करता हूँ। जो शरदचंद्र के समान निर्मल है; जिसके पद-कमल के प्रसाद से मूर्ख मानव भी ज्ञानी हो जाता है। अब मैं संघपति के पुत्र समरा का चरित्र कहूँगा। यह कानों को सुखदायक है।

भरत और सगर दो चक्रवर्ती अतुल बलशाली राजा हुए जिन्होंने इसका उद्धार किया। फिर प्रचंड पांडव ने इस तीर्थ का उद्धार किया। फिर जावड़ी ने इसका उद्धार किया। उसके उपरांत बाहड़ादेव ने रक्षा की। अब इस संसार में क्षत्रिय खंग नहीं उठाते और साहसियों का साहस समाप्त हो गया। ऐसे समय में समरसिंह ने इस कार्य को सँभाला है। अब उसके चरित्र का वर्णन करूँगा जिसने मरु-भूमि में अमृत की धारा बहाई, जिसने कलियुग में मानो सतयुग का अवतार धारण कर रखा है और अपने बाहुबल से कलियुग को जीत लिया है।

वह ओसवाल कुल का चंद्रमा है जिसके समान कोई नहीं। कलियुग के कृष्ण पक्ष में भी यह संसार के लिए चंद्रमा है। पालणपुर प्रसिद्ध पुण्य-वानों का स्थान है। उस स्थान पर पल्लविहार नाम का पार्श्वनाथ का मंदिर है। पल्हणपुर बड़ा सुंदर स्थान है जहाँ हाट-चौहट्ट, मठ-मंदिर, वापी-कूप, आराम-घर और पुर घने बने हुए हैं। उपकेशगच्छ में रत्नप्रभसूरि हुए। उनके शिष्य यक्षदेव उनके शिष्य कक्क सूरि उसका शिष्य सिद्धसूरि। उसके उपरांत देव गुप्त सूरि उसके शिष्य सिद्धसूरि द्वितीय उत्पन्न हुए।

उपकेश वंश में वेसटह हुए। उनके जिन धर्मधीर आजड्ड उत्पन्न हुए। उनके गोसल्ल साहु पुत्र हुए। गोसलसाहु के ३ पुत्र—आसधर, देसल और लूणा

हुए। गोसल की स्त्री का नाम भोली था और उसके पुत्र समरसिंह हुए। गोसल के पुत्र ने अड़हिलपुर में वास किया जहाँ अनेक सुंदर मंदिर, आराम, वापी आदि निर्मित हैं।

उसी स्थान पर अलप खाँ राज्य कर रहा था, जो हिंदुओं को बहुत मान देता था। देसल का पुत्र उसकी सेवा करता और उसकी सेवा ने खान को प्रसन्न कर लिया। मीर मलिक इत्यादि उसका सम्मान करते थे। समरसिंह का बड़ा भाई सहजपाइ दक्षिण मंडल देवगिरि में वाणिज्य करता। उसने वहाँ श्री पार्श्व जिनेश्वर के २४ मंदिर बनवाए। तीसरा भाई साहान खंभ नगरी में रहा। समय का प्रभाव है कि इस तीर्थराज को नष्ट किया गया। समरसिंह ने आदिबिंब के उद्धार का निश्चय किया। वह खान से मिला और उसे संतुष्ट किया। उससे तीर्थोद्धार के लिए फरमान की याचना की।

चतुर्थ भाषा

उधर देसल, गुरु के पास पहुँचा और उसके तपोधन की याचना की। वह मदन पंडित को लेकर ज्यारासण पहुँचा जहाँ महिपाल देव राणा राज्य करता था। उसका मंत्री पातल था। उसने अपनी खान (कान) में से मूर्ति के लिए शिला दिलवाई। उसे देखकर दाहट लोग प्रसन्न हुए और उन्होंने शिला का पूजन किया। लोग नाचे, खेले और बाजे बजाए गए। इस तरह शिला तिरीशिगम से होती हुई पालिताने पहुँची। उसी जगह पर मूर्ति उत्कीर्ण की गयी। चारों तरफ कुंकुम पत्रिका भेजी गई। कुल देवी सच्चिका का पूजन हुआ। चारों तरफ से लोग एकत्रित हुए। सबसे आगे मुनिवर संघ श्रावक जन थे। वहाँ ऐसी भीड़ थी कि तिल रखने की भी जगह न थी।

षष्ठी भाषा और सप्तमी भाषा

असंख्य शंख की ध्वनि होने लगी। रावत सिंगड़िया घोड़े पर चढ़ा था, और सल्लार सार भी साथ था। आगे तो संघपति साहु देसल था। उसके पीछे सोम साहु था। सारा संघ धधूका होता हुआ बढ़ा। ललित सरोवर के किनारे संघ ने घेरा डाला। शत्रुंजय पहुँचकर उन्होंने प्रतिष्ठा-महोत्सव किया। माघ सुदी १४ को दूर देशांतर के संघ सब वहाँ आकर मिले। ठीक समय पर सिद्धसूरि गुरु ने प्रतिष्ठा की। महान् उत्सव हुआ। याचकों को दान मिला।

नवमी-दसवीं-ग्यारहवीं भाषा

सं० १३७१ में सौराष्ट्र में संघ राज्य-मांडलिक से मिला। स्थान-स्थान पर उत्सव हुआ। रावल महिपाल आदि ने इस संघ का स्वागत किया। गिरनार पर उन्होंने नेमिनाथ की प्रतिष्ठा की। सोमनाथ में सबने सोमेश्वर का पूजन किया। शिव-मंदिर में उन्होंने ध्वजा चढ़ाई। अपूर्व उत्सव किया। फिर दीप के देवालय में एवं अजहर के सुंदर तीर्थ में उन्होंने सुंदर वंदना की। पिप्पलाली, रोहनपुर, रणपुर, बलवाणा और एकेश्वर होता हुआ संघ अणहलपुर वापस आया। वर्धापन हुआ। चैत्र वदी सप्तमी के दिन सब घर पहुँचे।

पासणसूरि के शिष्य अंबदेव सूरि ने इसकी रचना की।

———

समरा रासु

अम्बदेव कृत

सं० १३७१ वि०

पहिलउ पणमिउ देव आदीसरु सेत्तुजसिहरे।
अनु अरिहंत सव्वे वि आराहउं बहुभतिभरे॥ १॥

तउ सरसति सुमरेवि सारयससहरनिम्मलीय।
जसु पयकमलपसाय मूरुषु माणइ मन रलिय॥ २॥

संघपतिदेसलपूतु भणिसु चरिउ समरातणउ ए।
धम्मिय रोलु निवारि निसुणउ श्रवणि सुहावणउ ए॥ ३॥

भरह सगर दुइ भूप चक्रवति त हूअ अतुलबल।
पंडव पुहविप्रचंड तीरथु उधरइ अतिसबल॥ ४॥

जावडतणउ संजोगु हूअउं सु दूसम तव उदए।
समइ भलेरइ सोइ मंत्रि बाहडदेउ ऊपजए॥ ५॥

हिव पुण नवी य ज वात जिणि दीहाडइ दोहिलए।
खत्तिय खग्गु न लिंति साहसियह साहसु गलए॥ ६॥

तिणि दिणि दिनु दिरकाउ समरसीहि जिणधम्मवणि।
तसु गुण करउं उद्योउ जिम अंधारइ फटिकमणि॥ ७॥

सारणि अमियतणी य जिणि वहावी मरुमंडलिहिं।
किउ कृतजुगअवतारु कलिजुगि जीतउ बाहुबले॥ ८॥

ओसवालकुलि चंदु उदयउ एउ समानु नही।
कलिजुगि कालइ पाखि चांद्रिणउं सचराचरिहिं॥ ९॥

पाल्हणपुरु सुप्रसीधु पुन्नवंतलोयह निलउ।
सोहइ पाल्हविहारु पासभुवणु तहि पुरतिलउ॥ १०॥

भास—हाट चहुटा रूअडा ए मढमंदिरह निवेसु त ।
वाविकूव आरामघण घरपुरसरसपएस त ।

उवएसगच्छिह मंडणउ ए गुरु रयणप्पहसूरि त ।
धम्मु प्रकासइं तहि नयरे पाउ पणासइ दूरि त ॥ १ ॥

तसु पटलच्छीसिरिमउडो गणहरु जखदेवसूरि त ।
हंसवेसि जसु जसु रमए सुरसरीयजलपूरि त ॥ २ ॥

तसु पयकमलमरालुलउ ए ककसूरि मुनिराउ त ।
ध्यानधनुषि जिणि भंजियउ ए मयणमल्ल भडिवाउ त ॥ ३ ॥

सिद्धसूरि तसु सीसवरो किम वन्नउं इकजीह त ।
जसु घणदेसण सलहिजए दुहियलोयबप्पीह त ॥ ४ ॥

तसु सीहासणि सोहई ए देवगुप्तसूरि बईठु त ।
उदयाचलि जिम सहसकरो ऊगमतउ जिण दीठु त ॥ ५ ॥

तिह पहुपाटअलंकरणु गच्छभारधोरेउ त ।
राजु करइ संजमतणउ ए सिद्धिसूरिगुरु एहु त ॥ ६ ॥

जोइ जसु वाणीकामधेनु सिद्धंतवनि विचरेउ त ।
सावइजणमणइच्छिय घण लीलइ सफल करेउ त ॥ ७ ॥

उवएसवंसि वेसटह कुलि सपुरिसतणउ अवतारु त ।
वयरागरि कउतिगु किसउ ए नही य ज रतनह पारु त ॥ ८ ॥

पुन्नपुरुषु, ऊपन्नु तहिं सलषणु गुणिहि गंभीरु त ।
जणआणंदणु नंदणु तसो आजडु जिणधमधीरु त ॥ ९ ॥

गोत्रउदयकरु अवयरिउ ए तसु पुत्रु गोसलुसाहु त ।
तसु गेहिणि गुणमत भली य आराहइ निथनाहु त ॥ १० ॥

संघपति आसधरु देसलु लूणउ तिणि जन्म्या संसारि त ।
रतनसिरि भोली लाच्छि भणउं तीहतणी य घरनारि त ॥ ११ ॥

देसलघरि लच्छी य निसुणि भोली भोलिमसार त ।
दानि सीलि लूणाघरणि लाछि भली सुविचार त ॥ १२ ॥

द्वितीय भाषा—रतनकुषि कुलि निम्मली य भोलीपुत्त जाया।
सहजउ साहणु समरसीहु बहुपुन्निहि आया ॥ १

लहूअलगइ सुविचारचतुर सुविवेक सुजाण।
रत्नपरीक्षा रंजवइ राय अनु राण ॥ २ ॥

तउ देसल नियकुलपईव ए पुत्र सधन्न।
रूपवंत अनु सीलवन्त परिणाविय कन्न ॥ ३ ॥

गोसलसुति आवासु कियउ अणहिलपुरनयरे।
पुन्न लहइ जिम रयणमाहि नर समुद्रह लहरे ॥ ४ ॥

चउरासी जिणि चउहटा वरवसहि विहार।
मढ मंदिर उत्तंग चंग अनु पोलि पगार ॥ ५ ॥

तहिं अछइ भूपतिहिं भुवण सतखणिहि पसत्थो।
विश्वकर्मा विज्ञानि करिउ धोइउ नियहत्थो ॥ ६ ॥

अमियसरोवरु सहसलिंगु इकु धरणिहिं कुंडलु।
कित्तिथंभु किरि अवररेसि मागइ आखंडलु ॥ ७ ॥

अज्ज वि दीसइ जत्थ धम्मु कलिकालि अगंजिउ।
आचारिहिं इह नयरतणइ सचराचरु रंजिउ ॥ ८ ॥

पातसाहि सुरताणभीवु तहिं राजु करेईं।
अलपखानु हींदूअह लोय घणु मानु जु देईं ॥ ९ ॥

साहु रायदेसलह पूतु तसु सेवइ पाय।
कला करी रंजविउ खानु बहु देइ पसाय ॥ १० ॥

मीरि मलिकि मानियइ समरु समरथु पभणीजइ।
परउवयारियमाहि लीह जसु पहिली य दीजइ ॥ ११ ॥

जेठसहोदरि सहजपालि निज प्रगटिउ सहजू।
दक्षणमंडलि देवगिरिहि किउ धम्मह वणिजू ॥ १२ ॥

चउवीसजिणालय जिणु ठविउ सिरिपासजिणिंदो।
धम्मधुरंधरु रोपियउ धर धरमह कंदो ॥ १३ ॥

साहणु रहियउ पंभनयरि सायरगंभीरे।
पुव्वपुरिसकीरितितरंडु पूरइ परतीरे ॥ १४ ॥

तृतीयभाषा – निसुणऊ ए समइप्रभावि तीरथरायह गंजणउ ए।
भवियह ए करुणारावि नीठुरमनु मोहि पडिउ ए।
समरऊ ए साहसधीरु बाहविलग्गउ बहू अ जण।
बोलई ए असमवीरु दूसमु जीपइ राउतवट ए ॥ १ ॥

अभिग्रहू ए लियइ अविलंबु जीवियजुव्वणबाहबलि।
उधरऊ ए आदिजिणबिंबु नेमु न मेल्हउ आपणउ ए।
भेटिऊ ए तउ षानषानु सिरु धूणइ गुणि रंजियउ ए ॥ २ ॥

बीनती ए लागु लउ वानु पूछए पहुता केण कज्जे।
सामिय ए निसुणि अडदासि आसालंबणु अम्हतणउ ए।
भइली ए दुनिय निरास ह ज भागी य हींदूअतणी ए।
सामिय ए सोमनयणेहिं देषिउ समरा देइ मानु ॥ ३ ॥

आपिऊ ए सव्ववयणेहिं फुरमाणु तीरथमाडिवा ए।
अहिदर ए मलिकआएसि दीन्ह ले श्रीमुखि आपण ए।
षतमत ए षानपयेसि किउ रलियाइतु घरि संपत्तो।
पणमई ए जिणहरि राउ समणसंघो तहि बीनविउ ए ॥ ४ ॥

संघिहि ए कियउ पसाउ बुद्धि विमासिय बहूयपरे।
सासण ए वर सिणगारु वस्तपालो तेजपालो मंत्रे।
दरिसण ए छह दातारु जिणधर्मनयण बे निम्मला ए।
आइसी ए रायसुरताण तिखि आणीय फलही य पवर ॥ ५ ॥

दूसम ए तणी य पुणु आण अवसरो कोइ नही तसुतणउ ए।
इह जुग ए नही य वीसासु मनुमात्रे इय किम छरए।
तउ तुहु ए पुन्नप्रकासु करि ऊधरि जिणवरधरमु ॥ ६ ॥

चतुर्थभाषा – संघपतिदेसलु हरषियउ अति धरमि सचेतो।
पणमइ सिधसुरिपयकमलो समरागरसहितो।
बीनती अम्हतणी प्रभो अवधारउ एक।
तुम्ह पसाइ सफल किया अम्हि मनोरहनेक ॥ १ ॥

सेत्तुजतीरथ ऊधरिवा ऊपन्नउ भावो ।
एकु तपोधनु आपणउ तुम्हि दियउ सहाउ ।
मदनु पंडितु आइसु लहवि आरासणि पहुचइ ।
सुगुरवयणु मनमाहि धरिउ गाढउ अति रूचइ ॥ २ ॥

राणेरा तहि राजु करइ महिपालदेउ राणउ ।
जीवदया जगि जाणिजए जो वीरु सपराणउ ।
पातउ नामिहि मंत्रिवरो तसुतणइ सुरज्जे ।
चंद्रकन्हइ चकोरु जिसउ सारइ बहुकज्जे ॥ ३ ॥

राणउ रहियउ आपुणपई पाणिहि उपकंठे ।
टंकिय वाहइ सूत्रहार भांजइ घणगंठे ।
फलही आणिय समरवीरि ए अतिबहुजयणा ।
समुद्र विरोलिउ वासुगिहिं जिम लाधा रयणा ॥ ४ ॥

कूआरसि उछवु हूअउ त्रिसंगिमइनइरे ।
फलही देषिउ धामियह रंगु माइ न सइरे ।
अभयदानि आगलउ करुणारसचित्तो ।
गोत्ति मेल्हावइ पइरालुअह आपइ बहुवित्तो ॥ ५ ॥

भांडू आव्या भाउघणउ भवियायण पूजइ ।
जिम जिम फलही पूजिजए तिम तिम कलि धूजइ ।
खेला नाचइ नवलपरे घाघरिरवु झमकइ ।
अचरिउ देषिउ धामियह कह चित्त न चमकइ ॥ ६ ॥

पालीताणइ नयरि संघु फलही य वधावइ ।
वालचंद्र मुनि वेगि पवरु कमठाउ करावइ ।
किं कप्पूरिहि घडीय देह पीरसायरसारिहि ॥ ७ ॥

सामियमूरति प्रकट थिय क्रप करिउ संसारे ।
मागी दीन्ह वधावणी य मनि हरषु न माए ।
देसलऊत्रह चरित्रि सहू रलियातु थाए ॥ ८ ॥

पंचमी भाषा—संघु बहुभत्तिहिं पाटि वयसारिउ ।
लगनु गणिउ गणधरिहिं विचारिउ ।

पोसहसाल खमासण देयए ।
सूरिसेयंवरमुनि सवि संमहे ए ॥ १ ॥

घरि बयसवि करी के वि मन्नाविया ।
के वि धम्मिय हरसि धम्मिय धाइया ।
बहुदिसि पाठविय कुंकुम पत्रिया ।
संघु मिलइ बहुभली य सज्जाइया ॥ २ ॥

सुहगुरुसिधसुरिवासि अहिसिंचिउ ।
संघपति कल्पतरु अमिय जिम सिंचिउ ।
कुलदेवत सचिया वि भुजि अवतरइ ।
सूहव सेस भरइं तिलकु मंगलु करइं ॥ ३ ॥

पोसवदि सातमि दिवसि सुमुहुत्तिहिं ।
आदिजिणु देवालए ठविउ सुहचित्तिहिं ।
धम्मधोरी य धुरि धवल दुइ जुत्तया ।
कुंकुमपिंजरि कामधेनु पुत्तया ॥ ४ ॥

इंदु जिम जयरथि चडिउ संचारए ।
सूहवसिरि सालिथालु निहालए ।
जा किउ हयवरो वसहु रासिउ हूउ ।
कहइ महासिधि सकुनु इहु लद्धउ ।
आगलि मुनिवरसंघु सावयजणा ।
तिलु न पिरइ तिम मिलिय लोय घणा ॥ ५ ॥

मादलवंसविणाभुणि वज्जए ।
गुहिरभेरीयरवि अंवरो गज्जए ।
नवयपाटणि नवउ रंगु अवतारिउ ।
सुपिहि देवालउ संखारी संचारिउ ॥ ६ ॥

घरि बयसवि करि के वि समाहिया ।
समरगुणि रंजिउ विरलउ रहियउ ।
जयतु कान्हु दुइ संघपति चालिया ।
हरिपालो लंदुको महाधर दृढ थिया ॥ ७ ॥

षष्ठी भाषा—वाजिय संख असंख नादि काहल दुडुदुडिया।
घोडे चडइ सल्लारसार राउत सींगडिया।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि घाघरिरवु झमकइ।
सम विसम नवि गणइ कोइ नवि वारिउ थक्कइ॥ १॥

सिजवाला धर धडहडइ वाहिणि बहुवेगि।
धरणि धडक्कइ रजु ऊडए नवि सूझइ मागो।
हय हींसइ आरसइ करह वेगि वहइ वइल्ल।
साद किया थाहरइ अवरु नवि देई बुल्ल॥ २॥
निसि दीवी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु।
पावलपारु न पामियए वेगि वहइ सुखासण।
आगेवाणिहि संचरए संघपति साहुदेसलु।
बुद्धिवंतु बहुपुंनिवंतु परिकमिहिं सुनिश्चलु॥ ३॥

पाछेवाणिहि सोमसीहु साहुसहजापूतो।
सांगणुसाहु लूणिगह पूतु सोमजिनिजुत्तो।
जोड करी असवारमाहि आपणि समरागरु।
चडीय हींड चहुगमे जोइ जो संघअसुहकरु॥ ४॥

सेरीसे पूजियउ पासु कलिकालिहिं सकलो।
सिरषेजि थाइउ धवलकए संघु आविउ सयलो।
धंधूकउ अतिक्रमिउ ताम लोलियाणइ पहुतो।
नेमिभुवणि उछवु करिउ पिपलालीय पत्तो॥ ५॥

सप्तमी भाषा—संघिहिं चउरा दीन्हा तहिं नयरपरिसरे।
अलजउ अंगि न माए दीठउ विमलगिरे।
पूजिउ परवतराउ पणमिउ बहुभत्तिहिं।
देसलु देयए दाणे मागणजणपंतिहिं॥ १॥

अजियजिणिंदजुहारो मनरंगि करेवि।
पणमइ सेत्रुजसिहरो सामिउ सुमरेवि॥ २॥
पालीताणइ नयरे संघ भयलि प्रवेसु।
ललतसरोवरतीरे किउ संघनिवेसु।
कज्जसहाय लहुभाय लहु आवियउ मिलेवि॥ ३॥

सहजउ साहगु तीहि त्रिन्हइ गंगप्रवाह ।
पासु अनइ जिण वीरो वंदिउ सरतीरिहिं ।
पंपि करइ जलकेलि सरु भरिउ बहुनीरिहिं ॥ ४ ॥

सेत्रुजसिहरि चडेवि संघु सामि ऊमाहिउ ।
सुललितजिणगुणगीते जणदेहु रोमंचिउ ।
सीयलो वायए वाओ भवदाहु ओल्हावए ।
माडीय नमिय मरुदेवि संतिभुवणि संघु जाए ॥ ५ ॥

जिणबिंबइ पूजेवी कवडिजरकु जुहारए ।
अणुपमसरतडि होई पहुता सीहदुवारे ।
तोरणतलि वरसंते घणदाणि संघपत्ते ।
भेटिउ आदिजगनाहो मंडिउ पत्रीठमहूछवो ॥ ६ ॥

अष्टमी भाषा—चलउ चलउ सहियडे सेत्रुजि चडिय ए ।
आदिजिणपत्रीठ अम्हि जोइसउं ए ।
माहसुदि चउदसि दूरदेसंतर संघमिलिया तहिं अति अवाह ॥ १ ॥

माणिकेमोतिए चउकु सुर पूरइ रतनमइ वेहि सोवन जवारा ।
अशोकवृक्ष अनु आम्र पल्लवदलिहि रितुपते रचियले तोरणमाला ॥२॥

देवकन्या मिलिय धवल मंगल दियइ किंनर गायहि जगतगुरो ।
लगनमहूरतु सुरगुरो साधए पत्रीठ करइ सिघसूरिगुरो ॥ ३ ॥

भुवनपतिव्यंतरजतिसुरो जयउ जयउ करइ समरि रोपिउ द्रिढु धरमकंदो ।
दुदुहि वाजिय देवलोकि तिहुअणु सींचिउ अमियरसे ॥ ४ ॥

देउ महाधज देसलो संघपते ईकोतरु कुल ऊधरए ।
सिहरि चडिउ रंगि रूपि सोवनि घनि वीरि रतनि वृष्टि विरचियले ॥५॥

रूपमय चमर दुइ छत्त मेघाडंबर चामरजुयल अनु दिव्वदुत्ति ।
आदिजिणु पूजिउ सहलकंतिहिं कुसुम जिम कनकमयआभरण ॥ ६ ॥

आरतिउ धरियले भावलभत्तारिहिं पुव्वपुरिस सग्गि रंजियले ।
दानमंडपि थिउ समर सिरिहि वरो सोवनसिणगार दियइ याचकजन ॥७॥

भत्ति पाणी य वरमुनि प्रतिलाभिय अच्चारिउ वाहइ दुहियदीण ।
वाविउ सुधम वितु सिद्धखेत्रि इंद्र उच्छवु करि ऊतरए ॥ ८ ॥

भोलीयनंदगु भलइ महोत्सवि आविउ समरु आवासि गनि।
तेरइकहत्तरइ तीरथउद्धारु यउ नंदउ जाव रविससि गयणि।। ९ ।।

नवमी भाषा—संवत्राछलु करी चीरि भले माल्हंतडे पूजिय दरिसण पाय।
सुणि सुंदरे पूजिय दरिसण पाय।
सोरठदेस संघु संचरिउ मा० चउंडे रयणि विहाइ ।। १ ।।

आदिभक्तु अमरेलीयह माल्हं० आविउ देसलजाउ।
अलवेसरु अल जवि मिलए माल्हं० मंडलिकु सोरठराउ।। २ ।।

ठामि ठामि उच्छव हुअइ माल्हं० गढि जूनइ संपत्तु।
महिपालदेउ राउलु आवए माल्हं० सामुहउ संघअणुरत्तु।। ३ ।।

महिपु समरु बिउ मिलिय सोहइं माल्हं० इंदु किरि अनइ गोविंदु।
तेजि अगंजिउ तेजलपुरे मा० पूरिउ संघआणंदु। सुणि० ।। ४ ।।

वउणथलीचेत्रप्रवाडि करे माल्हं० तलहटी य गढमाहि।
ऊजिलऊपरि चालिया ए माल्हं० चउव्विहसंघहमाहि। सुणि०।
दामोदरु हरि पंचमउ माल्हं० कालमेघो क्षेत्रपालु। सुणि०।
सुवनरेहा नदी तहिं वहए माल्हं० तरुवरतणउं भमालु।। ५ ।।

पाज चडंता धामियह मा० क्रमि क्रमि सुकृत विलसंति। सुणि०।
ऊची य चडियए गिरिकडणि मा० नीची य गति घोडंति ॥ ६ ।।

पामिउ जादवरायभुवणु मा० त्रिनि प्रदक्षिण देइ।
सिवदेविसुतु भेटिउ करिउ मा० ऊतरिया मढमाहि। सुणि०।
कळस भरेविणु गयंदमए मा० नेमिहिं न्हवणु करेइ।
पूज महाधज देउ करिउ मा० छत्र चमर मेल्हेइ ।। ७ ।।

अंबाई अवलोयणसिहरे मा० सांविपज्जूनि चडंति। सुणि०।
सहसारामु मनोहरु ए मा० विहसिय सवि वणराइ। सुणि०।
कोइलसादु सुहावणउ मा० निसुणियइ भमरझंकारु। सुणि० ।। ८ ।।

नेमिकुमरतपोवनु ए मा० दुट्ठ जिय ठाउं न लहंति। सुणि०।
इसइ तीरथि तिहुयणदुलभे मा० निसिदिनु दानु दियंति ।। ९ ।।

समुदविजयरायकुलतिलय मा० वीनतडी अवधारि। सुणि०।
आरतीमिसि भवियण भणइं मा० चतुगतिफेरडउ वारि। सुणि० ।।१०।।

जइ जगु एकु मुहु जोइयए मा० त्रिपति न पामियइ तोइ । सुणि० ।
सामलधीर तउं सार करे मा० वलि वलि दरिसणु देजि । सुणि०॥११॥

रलीयरेवयगिरि ऊतरिउ ए मा० समरडो पुरुषप्रधानु ।
घोडउ सीकिरि सांकलिय मा० राउलु दियइ बहुमानु । सुणि० ॥१२॥

दशमी भाषा—रितु अवतरियउ तहि जि वसंतो सुरहिकुसुमपरिमल पूरंतो,
समरह बाजिय विजयढक ।
सागुसेलुसल्लइसच्छाया केसूयकुडयकयंत्रनिकाया,
संघसेनु गिरिमाहइ वहए ।
बालीय पूछइं तरुवरनाम वाटइ आवइं नव नव गाम,
नयनीझरणगमाउलइं ॥ १ ॥

देवपटणि देवालउ संघह सरवो सरु पूरावइ
अपूरवपरि जहिं एक हुईअ ।
तहिं आवइ सोमेसरछत्तो गउरवकारणि गरुउ पहूतो
आपणि राणउ मूधराजो ॥ २ ॥

पान फूल कापड वहु दीजइं लूणसमउं कपूरु गणीजइ
जवाधिहिं सिरु लिंपियए ।
ताल तिविल तरविरियां वाजइं ठामि ठामि थाकणा करिजइं
पगि पगि पाउल पेषण ए ॥ ३ ॥

माणुस माणुसि हियउं दलिजइ घोडे वाहिणिगाहु करीजइ
हयगय सूझइ नवि जणह ।
दरिसणसउं देवालउ चल्लइ जिणसासणु जगि रंगिहिं मल्हइ
जगतिहिं आव्या सिवभुवणि ॥ ४ ॥

देवसोमेसरदरिसणु करेवी कवडिवारि जलनिहिं जोएवी
प्रियमेलइ संघु ऊतरिउ ।
पहुचंदप्पहपय पणमेवी कुसुमकरंडे पूज रएवी जिणभुवणे
उच्छवु कियउ ॥ ५ ॥

सिवदेउलि महाधज दीधी सेले पंचे वन्नसमिद्धी,
अपूरवु उच्छवु कारविउ ।

जिनवरधरमि प्रभावन कीधी जयतपताका रवितलि बद्धी दीनु,
पयाणउं दीवभणी ।
कोडिनारिनिवासणदेवी अंबिक अंबारामि नमेवी दीवि,
वेलाउलि आवियउ ए ॥ ६ ॥

एकादशी भाषा—संघु रयणायरतीरि गहगहए गुहिरगंभीरगुणि ।
आविउ दीवनरिंदु सामुहउ ए संघपतिसवदु सुणि ॥ १ ॥

हरषिउ हरपालु चीति पहुतउ ए संघु मोलविकरे ।
पभणइं दीवह नारि संवह ए जोअणु ऊतावली ए ।
आउलां वाहिन वाहि वेगुलइ ए चलावि प्रिय वेडुली ए ॥ २ ॥

किसउ सुपुन्नपुरिष जोइउ ए नयणुलां सफल करउ ।
निवछणा नेत्रि करेसु ऊतारिसू ए कपूरि ऊआरणा ए ।
बेडीय बेडीय जोडि वलियऊ ए कीधउं बंधियारो ॥ ३ ॥

लेउ देवालउमाहि वइठउ ए संघपति संघसहिउ ।
लहरि लागइं आगासि प्रवहणु ए जाइ विमान जिम ।
जलवटनाटकु जोइ नवरंग ए रास लउडारस ए ॥ ४ ॥

निरुपमु होइ प्रवेसु दीसई ए रुवडला धवलहर ।
तिहां अच्छइ कुमरविहारु रुअडऊ ए रुअडुला जिणभुवण ।
तीर्थंकर तीह वंदेवि वंदिऊ ए सयंभू आदिजिणु ।
दीठउ वेणिवच्छराजमंदिरु ए मेदनीउरि धरिउ ।
अपूरवु पेषिउ संघु उत्तारिऊ ए पइली तडि समुदला ए ॥ ५ ॥

द्वादशी भाषा—अजाहरवरतीरथिहिं पणमिउ पासजिणिंदो ।
पूज प्रभावन तहिं करहिं अजिउ ए अजिउ ए अजिउ सफल सुछंदो॥१॥

गामागरपुरवोलिंती वलिउ सेतुजि संपत्तो ।
आदिपुरीपाजह चडिऊ ए वंदिऊ ए वंदिऊ,
ए वंदिऊ ए मरुदेविपूतो ॥ २ ॥

अगरि कपूरिहिं चंदणिहि मृगमदि मंडणु कीय ।
कसमीराकुंकमरसिहिं अंगिहिं ए अंगिहिं ए अंगो अंगि रचीय ।
जाइवउलविहसेवत्रिय पूजिसु नाभिमल्हारो ।

मणुयजनमुफलु पामिऊ ए भरियऊ ए भरियऊ
ए भरियऊ सुकृतभंडारो ॥ ३ ॥

सोहग ऊपरि मंजरिय वीजी य सेत्रुजि उधारि।
ठिय ए समरऊ ए समरऊ ए समरु आविउ गुजरात।
पिपलालीय लोलियणे पुरे राजलोकु रंजेई।
छडे पयाणे संचरए राणपुरे राणपुरे पहुचेई ॥ ४ ॥

वढवाणि-न विलंबु किउ जिमिउ करीरे गामि।
मंडलि होईउ पाडलए नमियऊ ए नमियऊ
ए नमियऊ नेमि सु जीवतसामि।
संखेसर सफलीयकरणु पूजिउ राणपुरे पासजिणिंदो।
सहजुसाहु तहिं हरषियउ ए देषिऊ ए देषिऊ
ए देषिउ फणिमणिवृंदो ॥ ५ ॥

डुंगरि डरिउ न खोहि खलिउ गलिउ न गिरवरि गव्वो।
संघु सुहेलइ आणिउ ए संघपती ए संघपती
ए संघपतिपरिहिं अपुव्वो ॥ ६ ॥

सज्जण सज्जण मिलीय तहिं अंगिहिं अंगु लियंते।
मनु विहसइ ऊलटु घणउ ए तोडरू ए तोडरू
ए तोडरू कंठि ठवंते ॥ ७ ॥

मंत्रिपुत्रह मीरह मिलिय अनु ववहारियसार।
सघपति संघु वधावियउ कंठिहिं ए कंठिहिं ए कंठिहि घालिय जयमाल।
तुरियघाटतरवरि य तहिं समरउ करइ प्रवेसु।
अणहिलपुरि वद्धामणउ ए अभिनवु ए अभिनवु
ए अभिनवु पुन्ननिवासो ॥ ८ ॥

संवच्छरि इकहत्तरए थापिउ रिसहजिणिंदो।
चैत्रवदि सातमि पहुत घरे नंदऊ ए नंदऊ
ए नंदऊ जा रविचंदो ॥ ९ ॥

पासडसूरिहिं गणहरह नेऊअगच्छनिवासो ।
तसु सीसिहिं अंबदेवसूरिहिं रचियऊ,
ए रचियऊ ए रचियऊ समरारासो ।
एहु रासु जो पढइ गुणइ नाचिउ जिणहरि देइ ।
श्रवणि सुणइ सो बयठऊ ए तीरथ ए तीरथ
ए तीरथजात्रफलु लेई ॥ १० ॥

॥ इति श्री संघपतिसमरसिंहरासः ॥

———

रणमल्ल छन्द

कवि श्रीधरकृत

पन्द्रहवीं शताब्दी

परिचय—

मुसलमानों के आक्रमणकाल में जिन भारतीय योद्धाओं ने देश की संस्कृति और स्वातंत्र्य की रक्षा के लिये प्राणों की बाजी लगा दी वे आदिकालीन हिन्दी काव्य एवं नाटक के अमर नायक माने गए। उनके शौर्य-वर्णन से कविलेखनी ओजस्विनी बनी और उनके यशश्रवण से जनता उत्साहित हुई। रणमल्ल छन्द ऐसी ही रचना है जिसका अभिनय सम्भवतः वीर सैनिकों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से किया गया होगा।

डा० दशरथ शर्मा का मत है कि ईडर दुर्ग का अधिपति रणमल्ल नामक योद्धा अपने युग का बड़ा ही प्रतापी व्यक्ति था। उसने अनेक बार मुसलमान आक्रमणकारियों से दुखी जनता की रक्षा की। उसने गुजरात के शासक जफर खांरूम और उसके उत्तराधिकारी शम्सुद्दीन दामगानी को पराजित किया। मलिक मुफर्रह जब दामगानी के स्थान पर नियुक्त हुआ तो उसने अपने पूर्वाधिकारियों की पराजय का बदला लेने के निमित्त रणमल्ल पर आक्रमण किया। घोर संग्राम हुआ और उसमें मुफर्रह की हार हुई। कवि कहता है कि सूबेदार मुफर्रह की हार मानो दिल्लीपति की हार थी।

इस युद्ध के कई वर्ष उपरांत सम्भवतः सन् १३९८ ई० में मुजफ्फर शाह-गुजराती ने ईडर पर आक्रमण किया। रणमल्ल ने वीरतापूर्वक उसका सामना किया। कई दिनों तक ईडर का दुर्ग शत्रुओं से घिरा रहा।

"ऐसे अवसरों पर अपने मनोविनोद और शत्रुओं को चिढ़ाने के लिये घिरे सैनिक अनेक प्रेक्षणक और रास[1] किया करते थे। विशेषकर सिपाहियों को जोश दिलाने वाली कृतियाँ ऐसे समय अभिनीत होती होंगी। श्रीधर की कृति शायद इसी १३९८ के घेरे के समय निर्मित हुई हो। वह उस

१—हम्मीर काव्य और कन्हड के प्रबन्ध में इसका उल्लेख मिलता है।

समय के उपयुक्त थी। इस वीर गाथा से मस्त होकर सैनिक सोचने लगे होंगे, "हमने वीर रणमल्ल के नेतृत्व में इससे पूर्व अनेक बार मुसलमानों को ईडर के सामने से भगाया है। अब मुजफ्फर की बारी है। रणबावले (रणमत्त) रणमल्ल को युद्ध में कौन जीत सकता है।"

रणमल्लछन्द की कथावस्तु

सुल्तान के पास अरदास पहुँची कि रणमल्ल आपकी आज्ञा और आपके फरमानों की कुछ भी परवाह नहीं करता और शाही खजाना लूट लेता है। वह घोड़ी पर चढ़कर चारो तरफ धावा करता है। सब थानों के मालिक उससे थर-थर काँपते हैं। रात्रि के समय खंबायत को अंधेरे ही धोलका को और प्रातः पाटन को वह लूटता है। मोडासा का मीर रहमान व्यर्थ ही सरकारी पैसे खर्च करता है। खिदमत खां हरामखोरी नहीं करता, किन्तु रणमल्ल से भिड़ने की किसी में शक्ति नहीं है।

सुल्तान यह सुनकर हैरान हुआ। उसने सेना तैयार की और खान को फर्मान लिख दिया। मीर मुदकर ने अब मलर से मूछें मोड़ीं। सब साज सामान और युद्ध की सामग्री समेत सेना चली, और शीघ्र ही ईडर की तलहटी में जा पहुँची। मलिक मुफर्रह ने मध्यरात्रि के समय मंत्रणा की और एक दूत रणमल्ल के पास भेजा। वीर रणमल्ल कब पराधीनता स्वीकार कर सकता था। उसने मुसलमानी संदेश को ठुकराते हुए कहा:—

मेरा मस्तक यदि म्लेच्छ के पैरों में लगेगा तो गगनाङ्गण में सूर्य उदय न होगा। चाहे बड़वानल की ज्वाला शान्त हो जाये, मैं म्लेच्छ को कभी कर न दूँगा। छत्तीस कुलों के राजपूतों की सेना सजाकर, मैं हम्मीर के मार्ग का अनुसरण करूँगा। दल-दारुण-जयी जफर खान मेरी तलवार की चोट के सामने भाग निकला। मेरे सामने अङ्गो-अङ्ग भिड़कर शम्सुद्दीन भी परास्त हुआ। अपने स्वामी से कहना कि जब वह ईडर पहाड़ की तलहटी में पहुँचेगा तो उसे रणमल्ल के बल का पता लगेगा।

रणमल्ल का उत्तर सुनते ही मलिक ने चमक-दमक कर ईडर पर धावा बोल दिया। प्रजा त्रस्त होकर चिल्लाने लगी—"हे दीन अभयकर, अरिजन दारुण रणमल्ल, म्लेच्छ लोग ब्राह्मणों और बालकों को बंदी कर रहे हैं। उन्होंने हमारे गाँव और घर को नष्ट कर दिए हैं। अनेक स्त्रियों को उन्होंने पतिविहीन किया है। राठौर वीर, दौड़कर हमारी रक्षा करो।"

ईडरपति रणमल्ल शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर युद्ध में पहुँचा। उधर खवास-खां अपनी सेना सहित ईडर की तलहटी में आया। दसों दिशाओं में मुसलमान ही मुसलमान दिखाई देने लगे। उनके रौद्र शब्द से उत्साहित होकर सेनानायक मुफर्रह ने जोरदार हमला किया। मुगल, बंगाली, बड़े बड़े मलिक सब युद्ध में पहुँचे।

मुसलमानी घुड़सवारों के आक्रमण का रणरसिक रणमल्ल ने करारा उत्तर दिया। उसने मुसलमानी सेना का मथन कर डाला। उसने चारों तर्फ गढ़, गढ़ी और गिरि गह्वरों पर दृष्टिपात किया, और अपने घोड़े पर सवार होकर शीघ्र ही बादशाही सेना में जा पहुँचा। राव रणमल्ल बाज और मुसलमान चिड़ियाँ थे। महायोद्धा रणमल्ल के भुजदंड की झपट से भड़क कर हडहड करते वे युद्ध से भाग निकले।

(जिस प्रकार) सोनगिरे सांभर-पति काह्नड़ ने गजनी-पति से युद्ध कर सोमनाथ को उसके हाथ से छीन लिया और आदरपूर्वक उसकी पुनः स्थापना की, उसी प्रकार रणमल्ल ने भी सुल्तान का सामना किया। उसने अपना मान न छोड़ा। जिन्हें अपनी वीरता, अपने ऐश्वर्य, और अपने अधिकार का गर्व था, ऐसे हजारों मुसलमान योद्धाओं ने रणमल्ल के सामने मुँह में घास लेकर अपनी रक्षा की।"

इतिहास से यह प्रमाणित हो चुका है कि मलिक मुफर्रह ने गुजरात पर सन् १३७७ से सन् १३६१ तक शासन किया। अतः रणमल्ल और मुफर्रह का युद्ध इसी के मध्य हुआ होगा।

इस काव्य से यह भी आभास मिलता है कि रणमल्ल गुजरात प्रदेश के मुसलमानी शासकों पर समय समय पर आक्रमण करता और उनका खजाना लूट लिया करता था। वह शूरवीर और साहसी योद्धा था और हिंदुओं के ऊपर मुसलमानी अत्याचार की घटनाएँ सुनकर प्राणों पर खेल जाया करता था।

रचनाकाल

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काव्य की रचना सन् १३६८ ई० के उपरांत हुई होगी। इसमें दिल्लीपति के पराभव के लिये दो व्यक्तियों को समर्थ माना गया है, एक शकशल्य रणमल्ल को और दूसरे 'यमतुल्य तिमिर लिंग' अर्थात् तिमूर को, जिसने सन् १३६८ ई० में दिल्ली पर अधिकार कर हजारों निरपराध व्यक्तियों को मरवा डाला था।

भाषा

अपभ्रंश और अवहट्ट काल के उपरांत हिंदी के आरंभिक स्वरूप का प्रकृष्ट नमूना इस काव्य में देखने को मिलता है। इसकी ओजपूर्ण भाषा में संज्ञाओं और क्रियाओं के प्राचीन प्रयोग और अरबी फारसी के शब्दों की छटा दिखाई देती है। केवल ७० पद्यों के इस लघुकाव्य में अनेक विदेशी शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं कि भारतीय कवि विदेशी शब्दों को आत्मसात् करने में कभी संकोच नहीं करते थे। बादशाह, बाजार, अरदास, हराम, माल, आलम, बन्द (बन्दह), फुरमाण (फर्मान) सुरताण (सुल्तान), सुरताणी (सुल्तानी), नेज (नेज़ा), जंग, हल, ऐयार, खुद, खान, हेजब (हाजिब), लसकरि (लश्कर) करिमाद, बखि, निमाज, फोज, मलिक, हल, विगरी, सलाम, सिल्तार (सालार) आदि अरबी फारसी शब्दों से यह काव्य भरा पड़ा है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से यह लघु काव्य एक उज्ज्वल रत्न के समान है। विषय के अनुकूल छंदों का चयन और रसानुकूल पदयोजना, युद्ध वर्णन के योग्य शब्द मैत्री स्थान स्थान पर पाठक एवं श्रोता को मुग्ध कर देती है। भाषा का वेग आद्योपांत ऐसी उद्याम गति से उछलता चलता है कि किसी स्थल पर एक क्षण के लिये भी शैथिल्य आने नहीं पाता। खरतर गति से बहने वाली पर्वतीय सरिता के समान इस काव्य की भाषा नाद करती हुई उमड़ी चली जाती है। पंद्रहवीं शताब्दी का ऐसा सरस वीर काव्य हमारे साहित्य का शृंगार है।

रणमल्ल छंद

श्रीधर कविकृत

(पन्द्रहवीं शताब्दी)

[आर्या]

शंकर गुरु गण नाथान् नत्वा वरवीर छन्द आरम्भे ।
कवयेऽहं रणमल्लं प्रतिमल्लं यवनभूपस्य ॥ १ ॥

छत्राधिपमदहर्ता कर्ता कदनस्य समरकर्तॄणाम् ।
वीरजयश्रीधर्ता रणमल्लो जयति भूभर्ता ॥ २ ॥

यम सदनं प्रति नीताः सीतारमणेन दानवाः स्फीताः ।
अधुना कमधजमल्लो रणमल्लस्तत्र तान् नयति ॥ ३ ॥

हम्मीरेण त्वरितं चरितं सुरताणफोजसंहरणम् ।
कुरुत इदानीमेको वरवीरस्त्वेव रणमल्लः ॥ ४ ॥

दिल्लीपतिपरिभूतौ तद् दृशो दृश्यते च बाहुबलम् ।
शकशल्ये रणमल्ले यमतुल्ये तिमिरलिङ्गे यत् ॥ ५ ॥

कति कारयन्ति भूपा भुवि यूपान् केऽपि वापिकाः कूपान् ।
एको ननु पुनरास्ते रणमल्लो घोरिकारयिता ॥ ६ ॥

यदि न भवति रणमल्लः प्रतिमल्लः पादशाहकटकानाम् ।
विक्रीयन्ते धगडैर्बाजारे गुर्जरा भूपाः ॥ ७ ॥

सुभटशतैरति विकटं पटुकरटिघटाभिरुत्कटं कटकम् ।
तन्नटयति रणमल्लो रणभुवि का वैरिणां गणना ॥ ८ ॥

अनवरतं भरतरसं सरसैः सह रतरसं समं स्त्रीभिः ।
वीररसं सह वीरैर्विलासयत्येष रणमल्लः ॥ ९ ॥

खलु कमलागुरुहरणं परवरणं समरडम्बरारम्भे ।
शिवशिव रणमल्लोऽयं शकदलमदमर्दनो जयति ॥१०॥

[चुपई]

सतिरि सहस साहणवइ साणह गई अरदास पासि सुरताणह ।
कणगरु कोस लीध हरि हिन्दू तु रणमल्ल इक नह बन्दू ॥११॥

पुण फुरमाण आण सुरताणी नहि रणमल्ल गणइ रणताणी ।
जिम हम्मीर बीर सिम्भरवइ, तिम कमधज्ज मूछ मुहि सुरवइ ॥१२॥

चक्कलि चडी चिहू दिशि चम्पइ, थरथर थाणदार उरि कम्पइ ।
कमधज करि धरि लोह लहकइ, विवहर वुम्ब अ वुम्ब ह चकइ ॥१३॥

निशि खम्भाइच नयर उध्रकइ, धूँधलि धूँस पडइ धूलकइ ।
प्रहि पुकार पढइं पट्टणतलि, रे रणमल्लधाडि, जव सम्भलि ॥१४॥

मुहुडासिया, मीर रहमाणी. दाम हराम करइ सुरताणी ।
माल हलाल खानखिजमत्ती तु रणमल्ल इक नह खित्ती ॥१५॥

इक रणमल्ल राय सुणि आलमि रहिउ हई हैराण खुदालम ।
हेलां लाख बन्द बुल्लावि, लखि फुरमाण खान चल्लावि ॥१६॥

हय गय कटक थाट उल्लट्टिय, दहु दिसि वेस असेस पलट्टिय ।
निहुटी वाटि काढगढ घल्लि, करु पराण रैयत-रणमल्लि ॥१७॥

ईडर भणी भील्ल सुरताणीं फूंफूंकार फिरइ रहमाणी ।
मूंगल मेच्छ मुहइ मच्छर भरि हसि हुसियार हुयाहलहल करि ॥१८॥

[सारसी]

फूँगराइ फूं फूं फार फारक फोज फरि फुरमाणिया ।
हुङ्कार करकडि, करइ शरझडि करवि करि कम्माणियां ।
फुकारि मीर मलिक मुफरद मूछ मरडी मच्छरइ ।
संचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि सङ्गरइ ॥१९॥

[दुहु]

साहस वसि सुरताण दल समुहरि जिम चमकन्त ।
तिम रणमल्लह रोस वसि मूछ सिहरि फुरकन्त ॥२०॥

[सारसी]

फुरफुरहि लम्ब अलम्ब अम्बरि नेजनिकर निरन्तरं ।
भरभरहि भेरि भयङ्क भूंकर भरलि भूरि भयङ्करं ।

दडदडी दडदडकारि दडवड देसि दिसि दिसि दडवडइ ।
संचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि सञ्चरइ ॥२१॥

[दुहु]

साहस वसि सुरताण दल समुहरि जिम दमकन्त ।
तिम तिम ईडर सिहर वरि ढोल गहिर ढमकन्त ॥२२॥

[सारसी]

ढमढमइ ढमढमकार ढ्क्कर ढोल ढोली जङ्गिया ।
सुर करहि रणसरणाइ समुहरि सरस रसि समरङ्गिया ।
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कायर थरथरइ ।
संचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि सञ्चरइ ॥२३॥

[दुहा]

जिम जिम लसकर उभसइ करी नि बुम्बुक्कार ।
तिम तिम रणमल रोस भरि तोलइ तरल तुखार ॥२४॥

[सारसी]

तुक्खार तार ततार तेजी तरल तिक्ख तुरङ्गमा ।
पक्खरिय पक्खर, पवनपंखीपसरि पसरि निरुप्पमा ।
असवार आसुरअंस अस लीइ असणिअसुहड ईडरइ ।
संचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि सञ्चरइ ॥२५॥

[चुप्पई]

'हल ऐयार' हकारवि बुल्लइ, भुजवलि सवल मुद्धि दल घल्लइ ।
गयुखान खुद नगतलि चल्लिअ, शकदल दहु दिसि दिद्ध डहल्लि अ ॥२६॥
मलिक मन्त्र मज्झिम निशि किद्धउ तव हेजव फुरमाण स दिद्धउ ।
ईडरगढि अस्सइ चडि चल्लिउ, जइ रणमल्ल पासि इम बुल्लिउ ॥२७॥
'सिरी फुरमाण धरवि सुरताणी धर दय हाल माल दीवाणी ।
अगर गरास दास सवि छोडिअ करि चाकरी खान कर जोडिअ ॥२८॥
रा असि सरिसु वाहु उब्भारिअ बुल्लइ हठि हेजव हकारिअ ।
'मुज्झ सिर कमल मेच्छपय लग्गइ, तु गयणङ्गणि भाण न उग्गइ ॥२९॥

[सिंह विलोकित]

जां अम्बरपुडतलि तरणि रमइ तां कमधजकन्ध न धगड़ नमइ ।
वरि वडवानल तण झाल शमइ, पुण मेच्छ न आपूं चास किमइ ॥३०॥
पुण रणरसजाण जरद जडी गुण सींगणि खचि खन्ति चडी ।
छत्तीस कुलह बल करिसु घणूं पय मग्गिसु रा हम्मीर तणूं ॥३१॥
दल दारुण दफ्फरखान जयी मिइं भग्गड अग्गइ खग्गरथि ।
हिव पट्टणपद्धरि धरिसु पयं, नइ विनडिसु सतिरिसिहस सयं ॥३२॥
मिइं सङ्गरि समसुदीन नडी पडिभग्गड अङ्गोअङ्गि भिडी ।
जव मण्डिसि मुझ रणमल्ल समं तव देखिसि लसकरि सरिसु जमं ॥३३॥
मम मोडि म मण्डि मलिक घणूं हूं समरि विडारण मेच्छ तणु ।
जव ऊठिसि हठि हकन्त रणि, तव न गणूं त्रण सुलताण तणि ॥३४॥
वल वुल्लि म वल्लि मल्लिक कहि,म म वरणि सिमुणसिम दूत मुहि ।
जव चम्पिसि ईडरसिहरतलं, तव पेक्खिसि मुह रणमल्लवलं ॥३५॥
हय हेडवि सवि हेजव्व गया, वहि वल्लि मलिक सलाम किया ।
'हिव करिसु धरा रणमल्लमयं, इम बोल्लइ हठि तोलन्त हयं ॥३६॥
नरकेसरी ईडरसिहरधणी, जव हेजवमुहि फरियाद सुणी ।
तव चमकि ढमक्की मलिक करी धसि धाडिइ धायड धूंस धरी ॥३७॥

[चुप्पई]

पसरइ पण्डर वेस भयङ्कर, नर पोकार हि करिहि निरन्तर ।
हयमर वेगि गया ईडरतलि, सवि रणमल्ल करइ साहसि हुलि ॥३८॥
विवहर भरि वुम्बारव वज्जइ, जलहर जिम सींगणिगुण गज्जइ ।
वहु वलकाक करइ बाहुब्बल, धन्धलि धगड धरइ धरणी तलि ॥३९॥
'अरियणदारण ? दीन-अभयकर ! पण्डर वेस थया निब्भय धर ।
वम्भण वाल वन्दि वहु किज्जइ, धा कमधज ! धार करि लिज्जइ ॥४०॥

[पञ्च चामर]

रउद्द सद्द आसमुद्द साहसिक्क सूरइ ।
कठोर थोर घोर छोर पारसिक्क पूरइ ।

अद्दङ्ग गाह अङ्ग गाहि गालि बाल किज्जइ ।
विछोहि जोइ तेह नेहि मेच्छ लोडि लिज्जइ ॥४१॥

[दुहु]

जिम जिम कमधज चीतवइ असपति सरिसु विवाद,
तिम तिम योगिनि रुहिररसि रत्ता करइ प्रसाद ॥४२॥

[सारसी]

परसादि बक्षि दिगन्त योगिनि जयजयारव अम्बरि,
उच्छकि छकि दियन्त सिक्खा वीर धीर धरा वरि ।
'दुद्दम्म मेच्छ विछोह रोह अ खोहि गाहवि किज्जइ,
तूं हट्टि उट्ठवणीइ हट्ठवि, लोह हत्थइ लिज्जइ' ॥४३॥

[दुहु]

जिम जिम लसकर लोहरसि लोडइ, शासन लक्खि ।
ईडरवइ चडसइ चडइ तिम तिम समरि कडकि ॥४४॥

[पञ्च चामर]

कडकि भूंछ भींछ मेच्छ मल्ल मोलि मुग्गरि ।
चमकि चल्लि रणमल्ल भल्ल फेरि सङ्गरि ।
धमकि धार छोडि धान छण्डि धाडि-धग्गडा ।
पडकि वाटि पकडन्त मारि मीर मक्कडा ॥४५॥

[चुप्पई]

'हयखुरतलरेणइ रवि छाहिउ, समुहर भरि ईडरवइ आइउ ?'
खान खवास खेलि वलि धायु, ईडर अडर दुग्गतल गाह्यु ॥४६॥

दमदमकार ददाम दमकइ, ढमढम ढमढम ढोल ढमकइ ।
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तरतर तुरक पडइ तलहट्टिइ ॥४७॥

विसर विरङ्ग बङ्गरव पसरइ, रहि रहिमान मनन्तरि समरइ ।
गह गुज्जार—निमाज कराणी हयमर फोज फिरइ सुरताणी ॥४८॥

सत्तिरि-सहस सहिय सिल्लार ह दहु दिसि फिरवी करिपुकार ह ।
सुहडसद्द सम्भलिवि रउद्द ह धसमस धूंस करइ मफरद ह ॥४९॥

[हाटकी]

मदमींभल सेरवचा वङ्गाली मूंगल महा मल्लिक ।
ईडर अद्धर सिक्खरि रणथम्भरि तलि तरवरइ तुरक ।
हकारवि विकट वहकटि चल्लइ; बुल्लइ विरद वहुत्त ।
सुरताण सरिस सिल्लार सिपाही सवि मिलि समरि पुहुत्त ।५०॥

तलहट्टिइ मेल्लवि तरल तुरकी तार ततार तरङ्ग ।
उल्लट्टिअ असपति असणिअ वायरि सायरवेलि तरङ्ग ।
'हल, हल', 'बिगरी, बिगरी' बोलन्ति अ नीरलहरि छिल्लन्त ।
रणकन्दलि कलह करइ, किलवायण कायर नर रेलन्त ॥५१॥

हेषारवि हयमर हसमसि, खुररवि असणि किपाण कसन्त ।
उद्धसवि कसाकसि, असि तरतर बिसि, घसमसि घसणि घसन्त ।
भूमण्डलि भड कमधज्ज भडोहडि भुजबलि भिडस भिडन्त ।
रणमल्ल रणाकुल रणि रोसारुण मुण सत्तिणि तुबरन्त ॥५२॥

उल्लालवि झालवि झुज्झकमाल ह लथबथि लोथि लडन्त ।
धारुकट धारि धगड धर धसमसि धसमसि धुब्ब पडन्त ।
कमधज्ज उदयगिरिमण्डण सविता झलमल मल्ल भडन्त ।
धुरि धसि धसि धूंस धरइ धगडायणि धर वरि रुण्ड रलन्त ॥५३॥

[चुप्पई]

वर कमधज्ज बीर शासन छलि किित्ति फुरइ नव खण्डि धरातलि ।
'असपति सरिसु इक ईडरवइ रणि रणमल्ल मूछ मुहि मुरवइ ॥५४॥
असुर अभङ्ग-अङ्ग ईडरतलि असपति दल-कोलाहल सम्भलि ।
वम्भण बाल सुरहि अबला छलि हठि ऊठिउ कमधज्ज भुजावलि' ॥५५॥

पक्खरि पण्डर भिडस भिडन्तु धसि धगडायण धूंस धरन्तु ।
हणहणि मुणसिम भणइ असंभम, ताल मिलिउ हरि जम्भ तणउजिम ॥५६

दुज्जणरुक्ख-इक्कदावानल हयमर हठि हेडवि कोलाहलि ।
रणवाउलु रणमल्ल रणाकुल असिरसि गाह करइ गोरीदलि ॥५७॥

[दुमिला]

गोरीदल गाहवि दिट्ठ दहुदिसि गढि मढि गिरिगह्वरि गडियं ।
हणहणि हकन्तउ हुं हुं हय-हय हुक्कारवि हयमरि चडियं,

धडहडतउ धडि कमधज्ज धरातलि धसि धगडायण धूंस धरइ ।
ईडरवइ पराडर वेस सरिसु रणि रामायण रणमल्ल करइ ॥५८॥

रोमञ्चिय रणरसि, राढि डरावरण, रहि-रहि बल बोल्लन्त बलि,
पक्खर वर पुट्ठि पवंगम पट्ठिय, पुहुतउ पह पतसाहदलि,
असि मारवि रुम्व रणायरि रगडिअ भञ्जइ धगड महा भडया ।
रणमल रणङ्गणि मोडि भिलन्ता मेच्छायरण मूंगल मिडिया ॥५६॥

मुहु उच्छलि मूछ मुहच्छवि कच्छवि भूमइ भूंछ समुच्छलिया ।
उल्लालवि खग्ग करग्गि निरग्गल गणइ तिणइ दलअग्गलआ ।
प्रलय करि लसकरि लोहि छबच्छत्र छरट करइ छत्तीस छलि ।
रणमल्ल रणङ्गणि राउत विलसइ रवितलि खितिय रोसवलि ॥६०॥

सीचाणउ रा कमधज्ज निरग्गल झडपइ चडवड धगडचिडा ।
भडहड करि सत्तिरिसहस भडकइ, कमधजभुज भहवाय झडा ।
खत्तित्तणि खय करि खक्खर खूंदिअ खान मान खण्डन्त हुया ।
रणमल्ल भयङ्कर वीरविडारण टोडरमलि टोडर जडिया ॥६१॥

[षुप्पई]

सोनगिरउ कन्हउ सिम्भरवइ वेढि करी गज्जणवइ असुरइ ।
दहुदिसि दुज्जणदल दावाट्टिअ सोमनाथ वड हत्थइ झट्टिय ॥६२॥

आदर करि शंकर थिर थप्पय अचल राज चहुआण समप्पिय ।
असपति सरिसु साहसिम बकइ, सुरटमान रणएल्ल न मुकइ ॥६३॥

मरडी मूछ वडी मुहि मण्डइ मेच्छ सरिसु, गह गाह न छण्डइ ।
कसवइ काल किवाण करट्टिअ जां रणमल्ल रोस वसि उट्टिय ॥६४॥

पराडर डरइ समरि बाहुब्बलि, खग्ग, ताल जिम, तोलइ करतलि ।
दुज्जउद्दण्ड दुदम्भ दुहण्डइ, इक्क अनेकि मलिक्क विहखडइ ॥६५॥

[भुजङ्ग प्रयात]

जि बुम्बा अ बुम्बा उलकि सलकि, जि बक्कियहकि, लहकि चमकि ।
जि चङ्गि तुरङ्गि तरङ्गि चडन्ता, रणम्मल्ल दिट्ठेण दीनं दडन्ता ॥६६॥

जि मुद्दा-समुद्दा, सदा रुद्द, सदा जि वुम्वाल चुम्वाल बङ्गाल बन्दा ।
जि झुज्झार तुक्खार कम्माल मुक्कि, रणम्मल्ल दिट्ठेण ते ठाम चुक्कि ॥६७॥

जि रुका मलिका बलकाक पाडि जि जुद्धा मुडुद्धा सनद्धा भजाडि।
ति भू आखडी आ घडी दण्ड किज्जि, रणम्मल दिट्ठि मुहि घास लिज्जि ॥६८
जि वक्का अरक्का शरक्का वहन्ता, जि सब्बा सगब्बा झरब्बा सहन्ता,
जि झुज्झार उज्जार हज्जार चल्लि रणमल्ल दिट्ठि मुहि घास घल्लि ॥६६॥

[छप्पय]

'हिव किर भालपहारि धार गड गाहवि छण्डूं।
कसवे-कडी किवाणपट्टि किलवायण खण्डूं।
भुजबलि भल्लइ भिडिअ भरी भय भरुयचि पइसूं।
धरी अ खम्भाइच असुरसिरि चम्पवि बइसूं।
प्रह ऊगमि पट्टणि पट्ट करि धगडायण धन्धलि धरूं।
ईडरवइ रा रणमल्ल कहि, इकछत्त रवितलि करूं' ॥७०॥

राउ जैतसी रौ रासौ

सोलहवीं शताब्दी के आसपास

(अज्ञात कवि कृत)

परिचय—

राव जैतसी का नाम बीकानेर के महाराजाओं में एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस महाराज के जीवन के आधार पर कई काव्यों की रचना हुई। डाक्टर टैसीटोरी द्वारा संपादित एक मुद्रित काव्य रावजैतसी के जीवन की एक प्रसिद्ध घटना का परिचायक है। इसी प्रकार के दो काव्य बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में हस्तलिखित रूप में विद्यमान हैं। नरोत्तम स्वामी का मत है कि ये दोनों रचनायें समसामयिक हैं।

प्रस्तुत रास में जिस घटना का उल्लेख है वह हुमायूँ के भाई कामरान के आक्रमण से संबंध रखती है। कामरान ने बीकानेर के तत्कालीन महाराज राव जैतसी पर आक्रमण किया किंतु महाराज ने आक्रमणकारियों को ऐसा मार भगाया कि उन्हें पराजित होकर लौटना पड़ा।

हुमायूँ का राजत्वकाल १५३० ई० से प्रारंभ होता है। हुमायूँ के भाई कामरान ने इसी के आसपास बीकानेर पर आक्रमण किया। अतः विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इस रास की रचना हुई होगी क्योंकि कवि आँखों देखी घटना के वर्णन की चर्चा करता है।

राउ जैतसी रौ रासौ

[संवत् १५८७ के आसपास]

जोध-तणौ घर जैतसी बंका राइ-विभाड़
दुसमण दावद्रण दमण उत्तर भड़ां किमाड़

मालै वीरम मंडली गाढिम गोत्र गोवाल
तुड़ि ताणण चौंड़ै तणौ राउ चा उर रखवाल

जग जेटी रिणमल्ल जिम सधरां चांपण सीम
भड़ां भयंकर भड़ सिहर भड़-भंजण गज भीम

दो मति जोधौ दूसरौ वै विधि विकमाईत
बल मंडण बैराइयाँ वड पात्रां वड चीत

नर मोटौ सहिस्यै नहीं राउ तणौ कुण रेस
स्यौं ढिल्ली खुरसाण स्यौं आठ पुहर अहं तेस

जिण जोगिणपुर संग्रह्यौ साथै ब्राहिम म्राह
तैसौ करनाजण तणौ रेढ मंडै रिम राह

हलवादी जोधाहरौ रचि मचि आरंभ राम
खूँदालिम सूँ खोभियौ वैर वडै वरियाम

खंडहियां बांका भड़ां प्रगटी हुवै प्रसिध्ध
राठौड़ां अर मुग्गलां नहु चूकै भारिध्ध

धर ढिल्ली मारू धरा वधि आसन्न विश्राप
नर भीखां मानै नहीं खरा विहेकै खांप

रूप वधै राठौड़ हर जैत न मन्नी वीर
कुण ढिल्ली कुण गज्जणौ हैन्वै कमण हमीर

जे चाकर नव खंड धर पूठ तखत खुरसाण
ग्रीधु न मेली तै सरिस अखभंग अमला माण

कुँवरौ जैत कड़किया कलि बांधी धर कज्ज
लांबा भलौ पटंतरौ भड़ां लहेयी अज्ज
हुवै वि तेजी अेकठा केहौ काढ़ै कान
अे हिन्दू आराहड़ो तूं मुग्गल असमान
वड ग्रह बेउं विरोध मैं बोलै ऊभौ बांह
रूपक राठौड़ां तणौ रूपक रात मुखांह
जोधै ऊन्हा जैतसी लोह वहंता लागि
किलि वे भूठौ किमिरियौ उहो वै बलती आगि
खेड़ेचां खंधार-रा सांउ पणै सधरांह
पगड़ौ आयौ पेरुअे नीसक नाच नरांह
किलिनारो कमधज्ज कहि वड खप्पर वरियाम
मोड़ौ वहिलौ मांडिस्यै आयौ सद संग्राम
कुंवरै अेम कहावियो निय दिसि जैत नरेस
तौ मुंहि मानै मूंछ तुम्ह जौ मारां मरु देस
किलव किसाडा कर करै आवै किहां न आउ
अण विठियां जंपै उद्दक रोस चईनौ राउ
बेउ वास माल वोलिया विधी न मानी वत्त
मुरधर मारूँ मुग्गलां मेल्यौ दल मैमत्त

मोतीदाम

मिलै दल सब्बल मोगर थट्ट
खंधार मुगल्ल तणा खंड खट्ट
वरद्धि उ वध्ध सलाम अलख्ख
वगुल्लय भूल क वढी भख्ख

अजाण अभेद अपरस अरूर
कलंकी कम्म खंधार करूर
निबंगी पंग निक्रम्मी नंग
अलूल अजीत संग्राम अभंग

अरिजण जेम कगण्ण असाध
अनम्मी जोध तणा उतराध
झिखंति य विंधज बावर झंट
दुरी मुख दाणव दूत दुचंट

सबद्दिहि वेधि ग उद्दि विलास
क्रिया अणसूध अ पंचण काल
विना चख भूखण वप्प वदन्न
विरोध विकासी मामू जन्न

महा गज केसरि मीर मणाल
तणा गुरु वे खत्रि विध्धि त्रिकाल
अदै अण भ्रम्म संग्राम अजीत
हु अंगम दाणव दूठ दईत

चली मुख चामरियाल चुगुल्ल
अतस्स अनाहत धात अभल्ल
सरिस्सा हैवै राउ स धीर
मिले अेक लाख तिसा दल मीर

मरुध्धर ऊपर मारणहार
तणा खुरसाण जुवाण खधार
दुवौ कुंवरौ असि रूढ हवाल
भुअप्पति जोअे जैत भुआल

समोभ्रम बावर साह समक
चलाव्यव आइ तिजोगिणि चक्क
निरव्वे ऊपरि बीकानेर
सजे भुज मीर चढे समसेर

जोधा-धर जीपण खाफर जूंग
तुरंगे जीण कसे भड़ तूंग
बलाक्रम दूण तणा बंगाल
चढे चतुरंग वरत्ती चाल

समूहा सेन तणी सुरताण
पछिम्म दिस किया परियाण
वहे दल विम्मल फूटी वत्त
तणा खुरसाण छ खंड न खत्त

दसे दिस कंपे मंडी दौड़
रहचण रेण तणी राठौड़
खंधार कटक खड़े खुरसाण
मरुध्धर देस किया मेल्हाण

हुई दल हूकल हालि हमल्ल
ढलक्क्या नेजा आलव ढल्ल
सलाका वावर चांपण सीम
हुआ तसलीम कि हाल्यो हीम

वहे गज थाट विरोलण वाद
महोदधि मेल्ही जाणि म्रजाद
पयाल धड़क्यौ धूजि पतंग
पड़े धर पंख तणा गयणग्ग

मल्हण्यौ जाण कि मेघ मंडाण
मिली रज धूँधलि रूंध्यौ भाण
असंख प्रमाण इसी क्यौं आंहि
मिरू घण मूझै जंगल मांहि

गहग्गह म्रिध्धणि मंगल गाइ
जोधा धर जीपण खापर जाइ
नरिंद नमंति तणा नव खंड
प्रगट्टिय दाणव सेन प्रचंड

कमध्ध तणी धर कम्मर हीण
करेवा भंग किलिचि कुलीण
प्रगटट्यउ उत्तर रौ पतिसाह
धरा चमक्क बरस्यौ धाह

विधूंस्यौ देस किया सहि चकि
कमध्ध न दिट्ठा मेछ कटकि
महम्मद मारण मोटिम मल्ल
ढंढोलण ढिल्लिड ओकम ढल्ल

पहट्ट्यौ पाधर जेह पटाण
खराव्यौ सेन तणा खुरसाण
हलहे जासउ हाथौ हाम
कुटका कीधउ मीर कियाम

सलख्वी जेह सरप्प संघारि
महा रिण कालू तोड्यौ मारि
तणै जुधि कोइ न पूजी ताह
भड़ां बलि भंजण हार भवांह

इसा कमधज्ज विरुद्द अधार
महा रिण मेछां मारण हार
ढंढोलण ढिल्ली हैवै ढाण
संकोड़िम जेह बडा सुरताण

रठवड़ै भंज्यौ गूजर-राउ
धड़ा ति सरूप कियौ सिरि घाउ
प्रवाड़ां पोढां ऊपरि पाण
जड़ाले जैवंत जोध जु जाण

इता बल जैत भुजे तूं आज
सही कुल-दीपक सामि सकाज
दई तह रूधौ मारू देस
तिसा ही लंछण तुझ्झ नरेस

विरोलण वैरां वैर विहार
सु जाणै तुझ्झ बहादर सार
उठी हित आहणि भांजि अधार
खडगो खाफर खोसि खंधार

हुवंतौ छूंत तहम्मह होइ
पहरयौ राउ निलैपलि होइ
मालौ जगमाल चवंड विरम्म
जोधो रिणमल्ल संघार सहम्म

इदौ सत ताथ संग्राम सद्रोह
सहि कलि जैत चढ़ावै सोह
भलै भुज भार तणै वल भोम
वधौ वर लध्ध विलागौ वोम

नमटळ्यौ भुज्ज खत्री निरवांण
कढ़च्छ्यौ कोप सभी केवाण
तणी धर वाहर ऊँची ताण
किलिच्छा केसरि भंजण काण

लियै मुखि प्रज्जलियै करि लोह
सही राठौड़ां चाढण सोह
प्रिथी पति वाहर होइ प्रगट्ट
रिदै रण ताल निलै रणवट्ट

तरस्यौ ताम क सेत्रि सरूप
रचायौ राइ जड़ाधर रूप
धड़े त्रड़कंति सनाह सकोप
भिड़े ध्रू भंळ्यौ - टोप

हुवंतै वेगि हुवौ हलकार
वधै धर वाहर जूह विडार
धसम्मसि धूहड़ धूणि धराल
कमध्धज कोपि भयंकर काल

विचन्नहि राउ कहै वर अस्स
जिसौ जै चीति चढ्यौ तै तस्स
चढ्यौ वड चोट भड़ां हुइ चाल
त्रिविध्धी वेधण तूंग त्रिकाल

पवंग पवंग पलाण पलाण
विहिल्लां रूढ हुवा वापाण
सुभट्ट सजोड़ा त्रिण्ह सहस्स
संग्रामि जिके सवि दीस सकस्स

सनाह्यौ साथ किया भड़ सेज
सपर कर दीध पवंग सतेज
चढ़ै दल चैत तणै चतुरंग
असंकित जोध जिके अणभंग

महिप्पति मांभी सेन मभारि
चढी वर सोह हुअै असवार
जुड़े सूं जंगम जोध जुआण
जनै ध्रू वाहर लख्खण जाण

करै छलतंव अरिज्जण काइ
जिसौ हणवंत किलंकी जाइ
विलग्गौ अंवरि वाहरि वार
त्रिविक्रम जेम विकस्स्यौ तार

भ्रकुट्टिहि भाव जिसौ निल भख्खु
चरच्च्यौ जाणि रगत्तहि चख्खु
तणौ रवि वारह आण्यो तास
वदन्नहि कीधौ तेज विकास

रचे वपु-रूप इसौ क्यौं राइ
जिसौ कोइ लाडौ चौंरी जाइ
कहक्कह ज्योति हसंति कपोल
तणौ रंग सोहै मुख्खि तंवोल

धरारी वाहर कोप धियान
विरम्मां वेढि तणै वरदान
भभाड़ै रूड़ा भारथि मल्ल
रांयां राउ जोध अनै रिणमल्ल

सही खंड साच मनै सपरत्त
विढेस्यौ जैत वरत्ती वत्त
परम्मह सीम उदक्क प्रमाण
खड़े दिसि खैंग भड़ां खुरसाण

तुरंगा सारम वाज्यौ त्राड़
झरै झर झंग पड़ै गुड़ि झाड़
वहै निल वेग उपाड़ी वग्ग
खड़क्खड़ जोड़ खड़क्के खग्ग

विरत्तौ वेग न काइ विमास
विढेवा राउ खड़ै वरहास
खुरां रवि फीए उमट्ट्यौ खाणि
लंगौड़े लागै लाल लंगाणि

पचंगा आहु सि धुज्जै पंगु
चलै भ्रग जेम रसाउलि चंगु
विड़ंगे वाह्यौ भोमि विचालि
खरी ताइ खोण चढी खुरभालि

इला पुड़ि ऊथड़ि घोर अंधार
कियौ मिलि खेहां धूंधलिकार
सोहै सिधि जेम करन्न-सुजाउ
जी ऊंधूलि हुवंतौ राउ

दलां खुरसाण तणा सिर वट्ट
प्रगट्ट्यौ मल्ल सजे है-थट्ट
झलाहल कंगल पाखर रोल
घटा हड खैंग रजी घमरोल

हड़व्वड़ हूक रड़व्वड़ लोह
वदन्न हि राइ चढी वर सोह
भुयंकर रूक सजे भुइ डंडि
महामति मेरु अनै ध्रू मंडि

विढेवा जैत कियौ तिण वार
अचंभम कान्ह तणौ अवतार
परध्धड़ प्राण पुलंदर प्रौंड
विन्हे मुख मूंछ जिसा रज वींड

निलै त्रिण रेख इसै अणुहारि
सु मंड्यौ मध्य कि मेघ मंझारि
रहचण रौद्रां मारू राइ
रचे रण चाचरि रानी वाइ

निरम्मल जोति कवड्डि निरीह
दसैदिसि सूजै कीधौ दीह
पलै सहि प्रेजां ऊपरि प्राण
वीकै लखरी वध्धै वाखाण

निहट्टौ जैत घुरै नीसाण
खलभ्भल होइ दलां खुरसाण
महा मुहि खेत्र चढ़ै विहुं मल्ल
दुलद्दुल ढील ढमक्कै ढल्ल

समा चढ़ि सीक झत्रझ्झत्र सार
हुअ हयथट्ट हुऔ हलकार
झलझ्झलि झालि ढ्रिखे करिमाल
वलव्वलि वीज जिसी वरिसाल

खलभ्भल होइ असत्तां खाम
जपै भड़धार सुखे जै राम
गहग्गह वीर त्रहत्रह तूर
महम्मह जोध प्रहप्पह तूर

क्रहक्कह नारद कोतिग कंटि
लहल्लह भैरव वाव्वर झंटि
डहड्डह डाइणि डामर सद्द
नहन्नह त्रीखौ सीधू नद्द

टहट्टह रंभ ब्रहव्रह कीर
मिलै रणतालि कमध्धज मीर
निहट्टां निम्रहि बांध्यौ नेत्र
खरा खुरसाण मरुध्धर खेत्र

घड़ा त्रिहुं वेधि वहै वहु घाउ
रमै सुरताण सुहामुहि राउ
सहथ्थहि सूरति बेउं सरीख
सरीखी वंसि त्रिहूं कुल सीख

सरीखी सानिध मेरु समाण
सरीखा राउ अनै सुरताण
सरीखा सूक वहै संग्रामि
सरीखा फारक सोहै सामि

सरीखा झूझ तणा सहिनाण
सरीखा राउ अनै सुरिताण
सरीखा फौजां पाखर सेर
सरीखा ढिल्ली बीकानेर

सरीखा खेड़ धरा सुरसाण
सरीखा राउ अनै सुरताण
बरदल वेढि वडै वीवाहि
मिली धण तुभ्भ महारिण माहि

पदम्मिणि आउध जोड़े खाण
रमाड़ण आवी मारू राण
रहाली रौद्र घडां रिम राह
गहम्मह गात्रि घणै गजगाह

सकुन्ती साथि करै सुरिताण
रमाड़ण आवी मारू राण
निहस्सै चोपट वाकी नारि
सनाह्यौ झूझ तणौ सिणगारि

मुगुल्ली कामिणि मेल्हयउ माण
रमाड़ण आवी मारू राण
उडै रिण रुक अबीर असंख
कियौ पुड़ उप्परि ग्रीधणि पंख

खरै धण खेत्र तणी खुरसाण
रमाड़ण आवी मारू राण
रमाड़ण आइ मिलै गजथट्ट
झड़ज्झड़ झट्ट घणा भ्रू घट्ट

हुवै आवट्ट खपै खल खट्ट
संग्रामि सुभट्ट वहै धज वट्ट
हुवै रिण जंग जुड़ै अणभंग
पड़ै उतभंग बहू बल बंग

चढ़ै रिण चंग सरीखा संग
त्रुटै हय तंग मचै चौरंग
विचै रिण ढाणि पड़ंत जुआण
विढे निरवाणि वधै वाखाण

धिखै आराण मुखै केवाण
खसै सुरसाण मरुध्धर राण
तणा धर कज्ज वधै बहु रज्ज
दुनै दल अज्ज मिलै कुल लज्ज

समाहित सज्ज मिरा धड़ बज्ज
रजी ज्यूं प्राण हुवै रज रज्ज
भिड़ै भड़ भोम पड़ै गजभार
खड़ग्गे जोध कमध्ध खंधार

कड़क्कै कंध क्रहक्क्रह काल
रुलै पल सोण मचै रिणताल
विढे वपु ऊडै खंड विहंड
भमै भड़ भोम पड़ै भू डंड

सोहै रिण सूता सूर सनध्ध
तड़ै धड़ धारा त्रूटि त्रिविध्ध
धड़ध्धड़ नाचैं साहस धीर
वहै वण लूथ विढै वर वीर

कमध्धज मीर रहावै कध्ध
रुड़ै रण ढाणि भवानीरध्ध
सवाहा जाध ढुलै ससनाह
गुड़ै गज-थाट हुऔ गज-गाह

तणौ घरि त्रेठि पईठा तुंग
त्रिहूं धड़ धोमर ऊडै वूंग
भ्रसक्कै क्रूंत वहै हुल धार
खरौ हुइ पूरौ ऊगटि खार

ढलै ढौंचाल तणौ रण ढाणि
पड़ै भ्रू रेणु धिखै पीठाण
मरुध्धर मंडण ऊत्तर मोड़
रमै रण मीर अनै राठौड़

विढंतै जैत वड़ै धर वेद
निकंदै मुग्गुल तेणि निकेद
खलक्कै श्रोणी पल्लर खाल
वधै घण लीण हुऔ वरसाल

जुड़तै जैत कमध्धज वाण
घड़ा खुरसाण उतारै घाण
उलालै आउध खप्फर ईम
भुजे करि भीड़ै राकस भीम

जुड़े अहिवन्त पईठौ जेणि
तीण घड़ खाफर घाती तेणि
मिलै सिव सद्द मनोहर जख्खु
भवानी खाफर पूरै भख्खु

गड़ग्गाड़ नाट गिलइ पड़ गम्म
उडावण जंबू प्रेत विगम्म
भखै भड़ डाइणि भैरव पास
ग्रहक्कै ग्रीधणि लाधै ग्रास

विवाणी झंप उरध्धी काल
विहंगम रंभ मिली वेताल
ढिली खुरसाण विभाड्यौ ढाल
मनाव्यौ मोटौ राउल माल

दलप्पति दोमजि दूथ दुरंग
कियौ कमरौ जिणि भांजि कुरंग
वडौ दल जीतौ आउध वाहि
मरुध्धर गब्ब कियौ मन माहि

नरां सह प्राभौ तुम्भ नियाउ
राठौड़ां रूपक धूहड़ राउ
कु मांहि कमध्धज जाणे सूर
नितप्रति जैत चढंतै नूर

कवित्त

रहिच्यौ राती वाहि घाइ खुरसाण तणी घड़
वरल वध्ध वर वीर धीर धारा माच्यौ धड़
रौल्यौ रुंड विहंड पाल्हि पतिसाही पारंभ
सलखाहर सोहियौ मथे जीप्यौ मह्णारंभ
अणभग तुंग करनंग रह रह्यो वडौ प्रव लोड़ियौ
जैतसी जुड़े वलि मल्लज्यूं मुगलां दल मचकौड़ियौ

राउजैतसीरौ रासौ संपूर्ण

———

अकबर प्रतिबोध रास

(जिनचन्द्र सूरि)

रचनाकाल सं० १६२८ वि०

परिचय—

जिनचन्द्र सूरि जिनवर, सरस्वती और सद्गुरु को प्रणाम कर रास की रचना करते हैं। वे कहते हैं कि विक्रमपुर, मंडोवर, सिन्धु, जैसलमेर, सिरोही जालोर, सोरठ, चम्पानेर आदि स्थानों से अनेक संघ विमल गिरिन्द के दर्शन के लिए गुरु जिणचन्द के साथ चले। गुरु ने अहमदाबाद में एक चौमासा किया और दूसरा चौमासा पाटण में व्यतीत किया। वहाँ से संघ खम्भपुरि में आया। वहाँ से संघ विक्रमपुर (बीकानेर) पहुँचा। वहाँ के राजा रायसिंह थे और उनके प्रधान सचिव बुद्धि के निधान कर्मचन्द थे। वे जैन साधुओं का बड़ा सम्मान करते थे। राजा रायसिंह कर्ण के समान दानवीर थे। उनका तेज सूर्य के समान तप रहा था। वे खरतरगच्छ गुरु के सेवक थे। उनके लड़के अभयकुमार थे जो लाहौर में बादशाह के कर्मचारी बन गए थे। अब कवि अकबर के प्रताप का वर्णन करता है। अकबर का विश्वास पात्र कर्मचन्द उत्तम रीति का आचरण करने वाला था। अकबर ने राज्य-सेवक अभयकुमार को बहुत मान दिया। [मीरमलक खोजा खां ने राय राणा को बहुत मान दिया।] एक बार अकबर ने रायराणा से उनके गुरु का हाल पूछा। उन्होंने गुरु जिनदत्त सूरि के अनुगामी श्री जिनचन्द्रसूरि का गुणगान किया। अकबर यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने गुरुदेव को राजधानी में आमंत्रित किया। अकबर ने मानसिंह को गुजरात से गुरु जिनचन्द्रसूरि को बुलाने के लिए भेजा। इस प्रकार आमंत्रित होकर मुनिवर जयसोम, विद्यावर कनक सोम, गुणविनय समयसुन्दर आदि ३१ मुनिवरों के साथ गुरु जी का संघ जयजयकार करता हुआ अकबर के सामने पहुँचा। 'अकबर ने वन्दना की और गुरु ने मधुर वाणी में इस प्रकार उपदेश दिया—जो मनुष्य जीवों की हत्या करता है वह पातकी दुर्गति पाता है। इसी प्रकार क्रूर बचन बोलने वाला चोरी करने वाला, पर रमणी के साथ रस-रंग करने वाला दुर्गति प्राप्त करता है। लोभ से दुख और सन्तोष से सुख प्राप्त होता

है। कुमार पाल आदि जिन राजाओं ने दया-धर्म का पालन किया उन्होंने सुख प्राप्त किया।' अकबर गुरु उपदेश सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने स्वर्ण, वस्त्र आदि गुरु के सम्मुख रखकर कहा 'हे स्वामी, आप इनमें से अपनी इच्छानुसार वस्तुयें ग्रहण कर लें।" गुरु ने कहा—'हम इन वस्तुओं को लेकर क्या करेंगे?' गुरु का यह निर्लोभ भाव देखकर अकबर बहुत प्रभावित हुआ और उसने गुरुदेव को 'जुग प्रधान' की पदवी प्रदान की।

श्री जिनचन्द्रसूरि को जिस समय अकबर ने 'युग प्रधान' की उपाधि से विभूषित किया उस समय बीकानेर (विक्रमपुर) के मंत्रिवर कर्मचन्द ने एक महान् उत्सव में दूर-दूर से सेवक जन हाथी, घोड़े, रथ पर सवार होकर एवं पैदल यात्रा करते हुए पधारे। ढोल और निशान बजने लगे। जनता भाव-भरी मधुर वाणी से श्री जिनचन्द्र सूरि का गुणगान करने लगी। मुक्ताफल भरे थाल याचकों को दान दिए गए।

श्री गुरु ने उपदेश देना प्रारम्भ किया। उनकी अमृत समान वाणी सुनकर सम्पूर्ण क्लेश दूर हो गया। लाहौर नगर के मध्य में फाल्गुन सुदी द्वादशी को गुरु की सर्वत्र जयजयकार होने लगी। गुरु की (तेज पूर्ण) आकृति देख कर अकबर कहने लगा कि इनका जीवन जगत में धन्य है। इनके समान कोई नहीं। अकबर ने हुक्म किया कि युग-प्रधान जी मुझे जिन धर्म का उपदेश करें और मेरी दुर्मति का निवारण करें। युग प्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि ने उन्हें उपदेश दिया।

चैत्र पूर्णिमा को शाह अकबर ने जिनराज जिनचन्द्र सूरि की बन्दना की और याचकों को दान दिया; और (आशीर्वाद पाकर) सेना सजकर कश्मीर के ऊपर आक्रमण किया। इसके उपरान्त अकबर की सेना के सेनानायकों का वर्णन है।

तदुपरान्त युग-प्रधान को आचार्य पद मिला। उस समय बृहद् रूप से उत्सव समारोह हुआ। मंत्री कर्मचन्द ने संघ का सत्कार करके सबको सन्तोष प्रदान किया। याचकों को दान दिया।

यह रास अहमदाबाद में संवत् १६२८ वि० में रचा गया। असावरी, सामेरी, धन्याश्री, सोरठी, देशाख, गौड़ी, धन्या श्री, आदि रागों में गाया जाने वाला यह रास कई ऐतिहासिक घटनाओं का परिचायक है।

———

अकबर प्रतिबोध रास

श्री जिनचन्द्र सूरि कृत

संवत् १६२८ वि०

दोहा:—राग आसावरी

जिनवर जग गुरु मन धरि, गोयम गुरु पणमेसु ।
सरस्वती सद्गुरु सानिधइ, श्री गुरु रास रचेसु ॥१॥

वात सुणी जिम जन मुखइ, ते तिम कहिस जगीस ।
अधिको ओछो जो हुवइ, कोप (य ?) करो मत रीस ॥२॥

महावीर पाटइं प्रगट, श्री सोहम गणधार ।
तास पाटि चउसट्ठिमइ, गच्छ खरतर जयकार ॥३॥

सवत सोल बारोत्तरइ, जैसलमेरु मंझार ।
श्री जिन माणिक सूरि ने, थापित पाट उदार ॥४॥

मानियो राउल माल दे, गुण गिरुओ गणधार ।
महीयलि जसु यश निरमलो, कोय न लोपइकार ॥५॥

तेजि तपइ जिम दिनमणि, श्री जिन चन्द्र सूरीश ।
सुरपति नरपति मानवी, सेव करइ निश दीश ॥६॥

युग-प्रधान जगि सुरतरू, सूरि सिरोमणि एह ।
श्री जिन शासनि सिरतिलौ, शील सुनिम्मल देह ॥७॥

पूरव पाटण पामियो, खरतर विरुद अभंग ।
संवत सोल सतोतरे, उजवालइ गुरू रंगि ॥८॥

साधु विहारे विहरतां, आया गुरु गुजराति ।
करइ चउमासो पाटणे, उच्छव अधिक विख्यात ॥९॥

चालि राग सामेरी—

उच्छव अधिक विख्यात, महीयलि मोटा अवदात ।
पाठक वाचक परिवार, जूथाधिपति जयकार ॥१०॥

इणि अवसरि वातज मोटी, मत जाणउ को नर खोटी ।
कुमति जे कीधउ ग्रंथ, ते दुरगति केरउ पंथ ॥११॥

हठवाद घणा तिण कीधा, संघ पाटण नइ जस लीधा ।
कुमति नउ मोड़िउ मान, जग मांहि बधारिउ वांन ॥१२॥

पेखी हरि सारंग त्रासइ, गुरु नामइ कुमति नासइ ।
पूज्य पाटण जय पद पायउ, मोतीड़े नारि बधायउ ॥१३॥

गामागर पुरि विहरंता, गुरु अहमदाबाद पहुंता ।
तिहां संघ चतुर्विध वंदइ, गुरु दरसण करि चिर नंदइ ॥१४॥

उच्छव आडम्बर कीधउ, धन खरची लाहउ लीधउ ।
गुरु जांणी लाभ अनन्त, चउमासि करइ गुणवन्त ॥१५॥

चउमासि तणइ परभाति, सुहगुरु पहुंता खंभाति ।
चउमासि करइ गुरुराज श्री संघ तणइ हितकाज ॥१६॥

खरतर गच्छ गयण दिणंद, अभयादिम देव मुणिंद ।
प्रगट्या जिण थंभण पास, जागइ अतिसइ जसवास ॥१७॥

श्री जिनचन्द सूरिन्द, भेट्यउ प्रभु पास जिणंद ।
श्री जिन कुशल सुरीस, वंद्या मन धरि जगीस ॥१८॥

हिव अहमदाबाद सुरम्य, जोगीनाथ साह सुधम्म ।
शत्रुंजय भटेणरंगि, तेड्या गुरु वेगि सुचंगि ॥१६॥

मेली सहुसंघ साथि, परघल खरचइ निजआथि ।
चाल्या भेटण गिरिराज संघपति सोमजी सिरताज ॥२०॥

राग मल्हार दोहा

पूर्व पच्छिम उत्तरइ, दक्षिण चहुं दिसि जाणि ।
संघ चालिउ शत्रुंज भणी, प्रगटी महीयलि वांणि ॥२१॥

विक्रमपुर मण्डोवरउ, सिन्धु जेसलमेर ।
सीरोही जालोर नउ, सोरठि चांपानेर ॥२२॥

संघ अनेक तिहां आविया, भेटण विमल गिरिन्द ।
लोकतणी संख्या नहीं, साथि गुरु जिणचन्द ॥२३॥

चोर चरड़ अरि भय हणो, बंदी आदि जिणंद ।
कुशले निज घर आविया, सानिध श्री जिनचंद ॥२४॥

पूज्य चउमासो सूरतइ, पहुंता वर्षा कालि ।
संघ सकल हर्षित थयउ, फली मनोरथ मालि ॥२५॥

चली चौमासो गुरु कीयउ, अहमदावादि रसाल ।
अवर चैमासो पाटणे, कीधो मुनि भूपाल ॥२६॥

अनुक्रमि आव्या खम्भपुरि, भेटण पास जिणंद ।
संघ करइ आदर घणउ, करउ चउमासि मुणिंद ॥२७॥

राग धन्याश्री० ढालउलालानी

हिव विक्रमपुर ठाम, राजा रायसिंह नाम ।
कर्मचन्द तसु परधान, साचउ बुद्धिनिधान ॥२८॥

ओस महा वंश हीर, वच्छावत वड़ वीर ।
दानइ करण समान, तेजि तपय जिम भांण ॥२९॥

सुन्दर सकल सोभागी, खरतर गच्छ गुरु रागी ।
वड़ भागी बलवन्त, लघु बंधव जसवन्त ॥३०॥

श्रेणिक अभय कुमार, तासु तणइ अवतार ।
मुहतो मतिवन्त कहियइ, तसु गुण पार न लहियइ ॥३१॥

पिसुण तणइ पग फेर, मुंकी वीकम नयर ।
लाहोरि जईय उच्छाहि, सेव्यो श्री पातिशाह ॥३२॥

मोटउ भूपति अकबर, कउण करइ तसु सरभर ।
चिहुं खण्ड वरतिय आण, सेवइ नरराय रांण ॥३३॥

अरि गंजण भंजन सिंह, महीयलि जसु जस सीह ।
धरम करम गुण जांण, साचउ ए सुरताण ॥३४॥

बुद्धि महोदधि जाणी, श्रीजी निज मनि आणी ।
कर्मचन्द तेड़ीय पासि, राखइ मन उलासि ॥३५॥

मान महुत तसु दीधउ, मन्त्रि सिरोमणि कीधउ ।
कर्मचन्द शाहि सुं प्रीत, चालइ उत्तम रीति ॥३६॥

मीर मलक खोजा खांन, दीजइ राय राणा मांन ।
मिलीया सकल दीवांणि, साहिब बोलइ मुख वाणि ॥३७॥
मुंहता काहि तुझ मर्म, देव कवण गुरू धर्म ।
भंजउ मुझ मन भ्रन्ति, निज मनि करिय एकन्ति ॥३८॥

राग सोरठी दोहा

वलतउ मुहतउ विनवइ, सुणि साहब मुझ वात ।
देव दया पर जीव ने, ते अरिहंत विख्यात ॥३९॥
क्रोध मान माया तजी, नहीं जसु लोभ लगार ।
उपशम रस में झीलता, ते मुझ गुरु अणगार ॥४०॥
शत्रु मित्र दोय सारिखा, दान शीयल तप भाव ।
जीव जतन जिहां कीजिय, धर्मह जाणि स्वभाव ॥४१॥
मइं जाएया हइं बहुत गुरु, कुण तेरइ गुरु पीर ।
मन्त्रि भणइ साहिब सुणउ, हम खरतर गुरु धीर ॥४२॥
जिनदत्त सूरि प्रगट हइ, श्री जिन कुशल मुणिन्द ।
तसु अनुक्रमि हइ सुगण नर, श्रीजिनचन्द सुरिंद ॥४३॥
रूपइ मयण हराविउ, निरुपम सुन्दर देह ।
सकल विद्यानिधि आगरु, गुण गण रयण सुगेह ॥४४॥
संभलि अकबर हरखियउ, कहां हइ ते गुरु आज ।
राजनगर छइं सांप्रतइ, सांभलि तुं महाराज ॥४५॥

राग धन्या श्री

वात सुणी ए पातिशाह, हरखियउ हीयइ अपार ।
हुकम कियो महुता भणी, तेडि गुरु लाय म वार ॥४६॥
मत वार लावइ सुगुरु तेडण, भेजि मेरा आदमी ।
अरदास इक साहिब आगइ, करइ मुहतउ सिर नमी ॥४७॥
अब धूप गाढि पाव चलिय, प्रवहण कुछ बइसे नहीं ।
गुजराति गुरु हइ डीलि गिरुआ, आवि न सकइ अबसही ॥४८॥
वलतउ कहइ मुहता भणी, तेड़उ उसका सीस ।
दुइ जण गुरु नइ मुकीया, हित करी विश्वा वीस ॥४९॥

हितकरि मूंक्या वेगि दुइजण, मानसिंह इहां भेजीय ।
जिम शाहि अकबर तासु दरसणि, देखि नियमन रंजीय ॥५०॥

महिमराज वाचक सातठाणे, मुकीया लाहोर भणी ।
मुनि वेग पहुंता शाहि पासइ, देखि हरखिउ नरमणी ॥५१॥

साहि पूछइ वाचक प्रतइं, कब आवइ गुरु सोय ।
जिण दीठइ मन रंजीय, जास नमइ बहुलोय ॥
बहु लोय प्रणमइ जासु पयतलि, जगत्रगुरु हइ ओ बड़ा ।
तब शाहि अकबर सुगुरु तेड़ण, वेगि मुंकइ मेवड़ा ॥
चउमासि नयडी अबही आवइ, चालवउ नवि गुरु तणउ ।
तब कहिइ अकबर सुणो मंत्री, लाभ थाउंगउ तसु घणउ ॥५२॥

पतशाहि जण अविया, सुह गुरु तेड़ण काजि ।
रंजस कुछ ते नवि करइ, गह गहीयउ गच्छराज ॥
गच्छराज दरसणि वेगि देखि, हेजि हियड़उ हींस ए ।
अति हर्ष आणी साहि जणते, वार वार सलीस ए ॥
सुरताण श्रीजी मंत्रवीजी, लेख तुम्ह पठाविया ।
सिर नामी ते जण कहइ गुरु कुं, शाहि मंत्री बोलाविया ॥५३॥

सुह गुरु कागल वांचिया, निज मन करइ विचार ।
हिव मुझ जावउ तिहां सही, संघ मिलिउ तिण वार ॥
तिणवार मिलियउ संघ सघलो, बइस मन आलोच ए ।
चउमास आवी देश अलगउ, सुगुरु कहउ किम पहुंच ए ॥
समझावि श्रीसंघ खंभपुर थी, सुगुरु निज मन दृढ़ सही ।
मुनिवेग चाल्या शुद्ध नवमी, लाभ वर कारण लही ॥५४॥

राग सामेरी दूहा:—

सुन्दर शकुन हुआ बहु, केता कहुं तस नाम ।
मन मनोरथ जिण फलइ, सीझइ वंछित काम ॥५५॥

वंदी वउलावी वलइ, हरखइ संघ रसाल ।
भाग्यबली जिणचंद गुरु, जाणइ बाल गोपाल ॥५६॥

तेरसि पूज्य पधारिया, अमदावाद मंझार ।
पइसारउ करि जस लीयउ, संघ मल्यो सुविचार ॥५७॥

हिव चउमासो आवियउ, किम हुइ साधु विहार ।
गुरु आलोचइ संघ सुं, नावइ बात विचार ॥५८॥

तिण अवसरि फुरमणि वलि, आव्या दोय अपार ।
घणुं २ मुहतइ लिख्यो, मत लावउ तिहां बार ॥५६॥

वर्षा कारण मत गिणउ, लोक तणउ अपवाद ।
निश्चय वहिला आवज्यो, जिम थाइ जसवाद ॥६०॥

गुरु कारण जांणी करी, होस्यइ लाभ असंख ।
संघ कहइ हिव जायवउ, कोय करउ मत कंख ॥६१॥

ढाल:गौड़ी (निंबीयानी) (आंकड़ी)

परम सोभागी सहगुरु वंदियइ, श्रीजिनचंद सूरिन्दो जी ।
मान दीयइ जस अकबर भूपति, चरण नमइ नरवृन्दो जी ॥६२॥

संघ वंदावी गुरुजी पांगुरया, आया म्हेसाणे गामो जी ।
सिधपुर पहुंता खरतर गच्छ धणी, साह वनो तिण ठामो जी ॥

गुरु आडंबर पइसारो कियउ, खरचिउ गरथ अपारो जी ।
संघ पाटण नउ वेगि पधारियउ, गुरुवंदन अधिकारो जी ॥६३॥

पुज्य पाल्हण पुरि पहुंता शुभ दिनइ, संघ सकल उच्छाहो जी ।
संघ पाटण नउ गुरु वांदी वलिउ, लाहिण करिल्यइ लाहो जी ॥६४॥

महुर वधाउ आविउ सिवपुरि, हरखिउ संघ सुजाणो जी ।
पाल्हणपुर श्रीपूज्य पधारिया, जाणिउ राव सुरताणो जी ॥६५॥

संघ तेड़ी ने रावजी इम भणइ, आपुं छुं असवारो जी ।
तेडि आवउ वेगि मुनिवरु, मत लावउ तुम्ह वारो जी ॥६६॥

श्रीसंघ राय जण पाल्हणपुरि जइ, तेडी आवइ रंगो जी ।
गामागर पुर सुहगुरु विहरता, कहता धर्म सुचंगो जी ॥६७॥

राग देशाख ढाल (इकवीस ढालियानी)

सीरोही रे आवाजउ गुरु नो लही,
नर-नारी रे आवइ साम्हा उमही ।

हरि कर रथ रे पायक वहुला विस्तरइ,
कोणी(क) जिम रे गुरु वंदन संघ संचरइ ॥
संचरइ वर नीसांण नेजा, मधुर मादल वज्ज ए।
पंच शब्द झल्लरि संख सुस्वर जाणि अंबर गज्ज ए ॥
भर भरइ भेरी वलि नफेरी, सुहव सिर घटकिज्ज ए।
सुर असुर नर वर नारि किन्नर, देखि दरसण रंज ए ॥६८॥
वर सूहव रे पूठि थकी गुण गावती,
भरि थाली रे मुक्ताफल वधावती।
जय २ स्वर रे कवियण जण मुख उचरइ,
वर नयरी रे मांहे इम गुरु संचरइ ॥
संचरइ श्रावक साधु साथइ, आदि जिन अभिनंदिया।
सोवनगिरि श्रीसंघ आवउ, उच्छव कर गुरु वंदिया ॥
राय श्रीसुलताण आवी, वंदि गुरु पय वीनवइ।
मुझ कृपा कीजइ बोल दीजइ, करउ पजुसण हिवइ ॥६९॥
गुरु जाणि रे आग्रह राजा संघ नउ,
पजुसण रे करइ पूज्य संघ शुभ मनउ।
अट्ठाही रे पाली जीव दया खरी,
जिनमंदिर रे पूजइ श्रावक हितकरी ॥
हितकरिय कहइ गुरु सुणउ नरपति, जीव-हिंसा टालीयइ।
किण पर्व पूनिम दिद्ध मंइ तुझ, अभय अविचल पालीयइ ॥
गुरु संघ श्रीजावालपुर नइं वेगि पहुंता पारणइ।
अति उच्छव कियउ साह वन्नइ सुजस लीधो तिणि खिणइ ॥७०॥
मंत्री कर्मचन्द रे करि अरदास सुसाहिनइ।
फुरमाणा रे मूंक्या दुइ जण पूज्य ने ॥
चउमासउ रे पूरउ करिय पधारजो।
पण किण इक रे पछइ वार म लगाड़जो ॥
म लगाड़िजो तिहां बार काइ, जहति जाणी अति घणी।
पारणइ पूज्य विहार कीधउ, जायवा लाहुर भणी ॥
श्रीसंघ चउविह सुगुरु साथइ, पातिशाही जण वली।
गांधर्व भोजक भाट चारण मिला गुणियन मन रली ॥७१॥

हिव देल्हरे गाम सराणउ जाणियइ,
भमराणी रे खांडपरंगि वखाणियइ ।।

संघ आवी रे विक्रमपुर नो उमही ।
गुरु वंधारे महाजन मजलइ गहगही ॥
गहि गहीय लाहिण संघ कीधी नयर द्रुणाडइ गयो ।
श्रीसंघ जेसलमेरु नो तिहां वंदी गुरु हरखित थयो ।।
रोहीठ नइरइ उच्छव वहु करि, पूज्य जी पधराविया ।
साह थिरइ मेरइ सुजस लाधा, दान वहु दवराविया ।।७२।।

संघ मोटउ रे, जोधपुरउ तिहां आवीयउ,
करि लाहिण रे शासनि शौभ चढ़ावियो ।

व्रत चोथौ रे, नांदी करी चिहुं उचर्यो ।
तिथि वारस रे, मुंकी ठाकुर जस वर्यो ।।
जस वर्यो संघइ नयर पाली, आडंवर गुरु मंडियउ ।
पूज्य वांदिया तिहां नांदि मांडी, दानि दालिद्र खंडियउ ॥
लांवियां ग्रामइं लाभ जाणी, सूरि सोभित निरखिया ।
जिनराज मंदिर देखी सुन्दर, वंदि श्रावक हरखिया ।।७३।।

वीलाड़इ रे, आनन्द पूज्य पधारीए ।
पइसारउ रे, प्रगट कीयउ कट्टारीए ।।
जइतारणि रे; आवे वाजा वाजिया ।
गुरु वंदी रे, दान वलइ संघ गाजिया ।।
गाजियउ जिनचंद्रसुरि गच्छपति, वीर शासनि ए वड़ो ।
कलिकाल गोतम स्वामि समवड़, नहींय को ए जेवड़उ ।।
विहरता मुनिवर वेगि आवइ, नयर मोटइ मेड़तइ ।
परसरइ आया नयर केरे, कहइ संघ मुंहता प्रतइ ।।७४॥

॥ राग गौडी धन्या श्री ॥

कर्मचन्द कुल सागरे, उदया सुत दोय चन्द ।
भागचन्द मंत्रीसर, वांधव लिखमीचन्द ॥
हय गय रह पायक, मेली वहु जन वृन्द ।
करि सवल दिवाजउ, वंदइ श्री जिनचन्द ।।७५।।

पंच शब्दउ झल्लरि, वाजइ ढोल नीसांण ।
भवियण जरा गावइ, गुरु गुण मधुरि वाण ।।
तिहां मिलीयो महाजन, दीजइ फोफल दांन ।
सुन्दरी सुकलीणी, सूहव करइ गुण गान ।।७६।।

गज डम्बर सबलइ, पूज्य पधार्या जांम ।
मन्त्री लाहिण कीधी, खरची बहुला दाम ।।
याचक जन पोष्या, जग में राख्यो नाम ।
धन धन ते मानव, करइ जउ उत्तम काम ।।७७।।

व्रत नन्दि महोत्सव, लाभ अधिक तिण ठांण ।
ततखिण पातशाहि, आव्या ले फुरमाण ।।
चाल्या संघ साथइ, पहुंता फलवधि ठाणि ।
श्री पास जिणेसर, वंद्या त्रिभुवन भाणि ।।७८।।

हिव नगर नागोरउ रइं आया श्री गच्छराज ।
वाजित्र बहु हय गय मेली श्री संघ साज ।।
आवि पद वंदी करइ हम उत्तम आज ।
जउ पूज्य पधार्या तउ सरिया सब काज ।।७६।।

मन्त्रीसर वांदइ मेहइ मन नइ रङ्ग ।
पइसारो सारउ कीधो अति उच्छरङ्ग ।।
गुरु दरसण देखि वधियो हर्ष कलोल ।
महीयलि जस व्यापिउ आपिउ वर तंबोल ।।८० ।

गुरु आगम ततखिण प्रगटियो पुन्य पडूर ।
संघ बीकानेरउ आविउ संघ सनूर ।।
त्रिणसइं सिजवाला प्रवहण सइं वलि च्यार ।
धन्न खरचइ भवियण, भावइ वर नर नारि ।.८१।।

अनुक्रम पड़िहारइ, राजुलदेसर गामि ।
रस रंग रीणीपुर, पहुंता खरतर स्वामि ।।
संघ उच्छव मंडइ आडंबर अभिराम ।
संघ आवियो वंदण, महिम तणउ तिण ठाम ।।८२।।

खरची धन अरची श्री जिनराय विहार ।
गुरु वाणि सुणि चित्त हरखिउ संघ अपार ॥
संघ वंदी वलीयउ, पहुंतउ महिम मंझार ।
पाटणसरसइ बलि, कसूर हुयउ जयकार ॥८३॥

लाहुर महाजन वंदन गुरु सुजगीस ।
सनमुख ते आविउ चाली कोस चालीस ।
आया हापाणइ श्रीजिनचन्द सूरीश ।
नर नारी पयतलि सेव करइ निसदीस ॥८४॥

राग गौड़ी दूहा:—

वेगि वधाउ आवियउ, कीयउ मंत्रीसर जांण ।
क्रम २ पूज्य पधारिया, हापाणइ अहिठाण ॥८५॥

दीधी रसना हेम नी, कर कंकण के कांण ।
दानिइ दालिद खंडियउ, तासु दीयउ बहुमान ॥८६॥

पूज्य पधार्या जांण करि, मेली सब संघात ।
पहुंता श्री गुरु वांदिवा, सफल करइ निज आथ ॥८७॥

तेड़ी डेरइ आंण करि, कहइ साह नइं मन्त्रीस ।
जे तुम्ह सुगुरु बोलाविया, ते आव्या सुरीस ॥८८॥

अकबर वलतो इम भणइ, तेड़उ ते गणधार ।
दरसण तसु कउ चाहिये, जिम हुइ हरष अपार ॥८९॥

राग गौड़ी वाल्हडानी:—

पंडत मोटा साथ मुनिवर जयसोम,
कनकसोम विद्या वरू ए ।
महिमराज रत्ननिधान वाचक,
गुणविनय समयसुन्दर शोभा धरू ए ॥९०॥

इम मुनिवर इकतीस गुरु जी परिवर्या,
ज्ञान क्रिया गुण शोभता ए ।
संघ चतुर्विध साथ याचक गुणी जण,
जय जय वाणी बोलता ए ॥९१॥

पहुंता गुरु दीवांण देखी अकबर,
आवइ साम्हा उमही ए ।
वंदी गुरु ना पाय मांहि पधारिया,
सइंहथि गुरु नौ कर ग्रही ए ॥६२॥

पहुंता दउढ़ी मांहि, सुहगुरु साह जी
धरमवात रंगे करइ ए ।
चिंते श्रीजी देखी ए गुरु सेवतां,
पाप ताप दूरइ हरइ ए ॥६३॥

गच्छपति द्ये उपदेश, अकबर आगलि
मधुर स्वर वाणी करी ए ।
जे नर मारइ जीव ते दुख दुरगति,
पामइ पातक आचरी ए ॥६४॥

बोलइ कूड़ बहुत ते नर मध्यम,
इण परभवि दुख लहइ ए ।
चोरी करम चण्डाल चिहुं गति रोलवइ,
परम पुरुष ते इम कहइ ए ॥६५॥

पर रमणि रस रंगि सेवइ जे नर,
दुरगति दुख पावइ वही ए।
लोभ लगी दुखहोय जाणउ भूपति,
सुख संतोष हवइ सही ए ॥६६॥

पंचइ आश्रव ए तजे नर संवरइ,
भवसायर हेलां तरइ ए ।
पामइ सुख अनन्त नर वइ सुरपद,
कुमारपाल तणी परइ ए ॥६७॥

इम सांभलि गुरु वाणि रंजिउ नरपति,
श्री गुरु ने आदर करइ ए ।
धण कंचन वर कोड़ि कापड़ बहु परि,
गुरु आगइ अकबर धरइ ए ॥६८॥

लिउ टुक इहु तुम्ह सामि जो कुछ चाहिये,
सुगुरु कहइ हम क्या करां ए।
देखि गुरु निरलोभ रंजिउ अकबर,
बोलइ ए गुरु अणुसरां ए ॥६६॥

श्रीपुज्य श्रीजी दोय आव्या बाहिरि,
सुणउ दिवांणी काजीयो ए।
धरम धुरंधर धीर गिरुओ गुणनिधि,
जैन धर्म को राजीयो ए ॥१००॥

॥ राग धन्याश्री ॥

सफल ऋद्धि धन संपदा, कायम हम दिन आज।
गुरु देखी साहि हरखियो, जिम केकी घन गाज ॥१॥
घणी भुइं चाली करि, आया अब हम पासि।
पहुंचो तुम निज थानकै, संघमनि पूरी आस ॥२॥
वाजित्र हयगय अम्ह तणा, मुंहता ले परिवार।
पूज्य उपासरइ पहुंचवउ, करि आडम्बर सार ॥३॥
वलतउ गुरुजी इम भणइ, सांभलि तूं महाराय।
हम दीवाज क्या करां, साचउ पुन्य सखाय ॥४॥
आग्रह अति अकबर करी, म्हेलइ सवि परिवार।
उच्छव आधक उपासरइ, आवइ गुरु सुविचार ॥५॥

॥ राग आशावरी ॥

हय गय पायक बहुपरि आगइ, वाजइ गुहिर निसाण।
धवल मंगल द्यइ सूहव रंगइ, मिलीया नर राय राण ॥६॥भा०॥
भाव धरीने भवियण भेटउ, श्रीजिनचन्दसूरिन्द।
मन सुधि मानित साहि अकबर, प्रणमइ जास नरिन्द रे ॥भ०॥आं॥
श्री संघ चउविह सुगुरु साथइ, मंत्रीश्वर कर्मचन्द।
पइसारो शाह परबत कीधउ, आणिमन आणंद रे ॥८॥भा०॥
उच्छव अधिक उपाश्रय आव्या, श्री गुरु द्यइ उपदेश।
अमीय समाणि वांणि सुणंता, भाजइ सयल किलेस रे ॥६॥भा०॥

भरि मुगताफल थाल मनोहर, सूहव सुगुरु वधावइ।
याचक हर्षइ गुरु गुण गांता, दान मान तव पावइ रे ॥१०॥भा०॥

फागुण सुदि वारस दिन पहुंता, लाहुर नयर मंझारि।
मनवंछित सहुकेरा फलीया, वरत्या जय जयकार रे ॥११॥भा०॥

दिन प्रति श्रीजी सुं वलि मिलतां, वाधिउ अधिक सनेह।
गुरु नी सूरति देखि अकवर, कहइ जग धन धन एह रे ॥१२॥भा०॥

कइ क्रोधी के लोभी कूड़े, के मनि धरइ गुमान।
षट् दरशन मइं नयण निहाले, नहीं कोइ एह समान रे ॥१३॥भा०॥
हुकम कीयउ गुरु कुं शाहि अकवर, दउढ़ी महुल पधारउ।
श्री जिनधर्म सुणावी मुझ कुं, दुरमति दूरइ वारउ रे ॥१४॥भा०॥

धरम वात (रं) गइ नित करता, रंजिउ श्री पातिशाहि।
लाभ अधिक हुं तुम कुं आपीस, सुणि मनि हुयउ उच्छाहि रे ॥१५॥

रागः—धन्याश्री। ढालः सुणि सुणि जंबू नी

अन्य दिवस वलि निज उलट भरइं,
महुरसउ ऐकज गुरु आगे धरइ।

इम धरइ श्री गुरु आगलि तिहाँ अकवर भूपति।
गुरुराज जंपइ सुणउ नरवर नवि ग्रहइ ए धन जति॥
ए वाणि सम्भलि शाहि हरष्यो, धन्य धन ए मुनिवरू।
निरलोभ निरमम मोह वरजित रूपि रंजित नरवरू ॥१६॥

तव ते आपिउ धन मुंहताभणी,
धरम सुथानिक खरचउ ए गणी।

ए गणीय खरचउ पुन्य संचउ कीयउ हुकम मुंहता भणी।
धरम ठामि दीधउ सुजस लीधउ वधी महिमा जग घणी॥
इम चैत्री पूनम दिवस सांतिक, मांहि हुकम मुंहतइ कीयउ।
जिनराज जिनचंदसूरि वंदी, दान याचक नइ दीयउ ॥१७॥

सज करी सेना देस साधन भणी,
कास्मीर ऊपर चढ़ीयउ नर मणी।

गुरु भणीय आग्रह करीय तेड़या, मानसिंह मुनि परवर्या ।
संचर्या साथइ राय रांणा, उम्बरा ते गुणभर्या ॥
वलि मीर मिलक बहुखान खोज, साथि कर्मचन्द मंत्रवी ।
सब सेन वाटइं वहइ सुवधइ, न्याय चलवइ सूत्रवी ॥१८॥

श्री गुरु वांणि श्रीजी नितु सुणइ,
धर्म मूर्ति ए धन धन मुह भणइ ।

शुभ दिनइ रिपु बल हेलि भंजी, नयर श्रीपुरि ऊतरी ।
अम्मारि तिहां दिन आठ पाली देश साधी जयवरी ॥
आवियउ भूपति नयर लाहुर, गुहिर वाजा वाजिया ।
गच्छराज जिनचंदसूरि देखी, दुख दूरइ भाजीया ॥१९॥

जिनचन्दसूरि गुरु श्रीजी सुं आवि मिली,
एकान्तइ गुण गोठि करइ रली ।

गुण गोठि करतां चित्त धरतां सुणिवि जिनदत्तसूरि चरी ।
हरखियउ अकबर सुगुरु उपरि प्रथम सइं मुख हितकरी ॥
जुगप्रधान पदवी दिद्धगुरु कुं, विविध वाजा वाजिया ।
बहु दान मानइ गुणह गानइ, संघ सवि मन गाजिया ॥२०॥

गच्छपति प्रति बहु भूपति वीनवइ ।
सुणि अरदास हमारी तुं हिवइ ।

अरदास प्रभु अवधारि मेरी, मंत्रि श्रीजी कहइ वली ।
महिमराज ने प्रभु पाटि थापउ, एह मुझ मन छइ रली ॥
गुणनिधि रत्ननिधान गणिनइं, सुपद पाठक आपीयइ ।
शुभ लगन वेला दिवस लेइ, वेगि इनकुं थापियइ ॥२१॥

नरपति वांणी श्रीगुरु सांभली,
कहइ मंइ मानी बातज ए भली ।

ए वात मांनी सुगुरु वांणी, लगन शोभन वासरइं ।
मांडियउ उच्छव मंत्रि कर्मचन्द, मेलि महाजन बहुरइं ॥
पातिशाहि सइमुख नाम थापिउ, सिंह सम मन भाविया ।
जिमसिंह सूरि सुगुरु थाप्या, सूहवि रंग बधाविया ॥२२॥

आचारज पद श्री गुरु आपिउ,
संघ चतुर्विध साखइ थापियउ ।

व्यापीउ निरमल सुजस महीयलि, सयल श्रीसंघ सुखकरू ।
चिरकाल जिनचंदसूरि जिनसिंह, तपउ जिहां जगि दिनकरू ॥
जयसोम रत्ननिधान पाठ (क), दोय वाचक थापिया ।
गुणविनय सुन्दर, समयसुन्दर, सुगुरु तसु पद आपीया ॥२३॥

धप मप धों धों मादल वाजिया,
तब तसु नादइ अम्बर गाजिया ।
वाजिया ताल कंसाल तिवली, भेरि वीणा भूंगली ।
अति हर्ष माचइ पात्र नाचइ, भगति भामिनी सवि मिली ॥
मोतीयां थाल भरेवि उलटि, वार वार बधावती ।
इक रास भास उलासि देती, मधुर स्वर गुण गावती ॥२४॥

कर्मचन्द परगट पद ठवणो कीयो,
संघ भगति करि सयण संतोषीयउ ।
संतोषिया जाचक दान देइ, किद्ध कोडि पसाउ ए ।
संग्राम मंत्री तणउ नन्दन, करइ निज मनि भाउ ए ॥
नव ग्राम गइंवर दिद्ध अनुक्रमि, रंग धरि मन्त्री वली ।
मांगता अश्व प्रधान आप्या, पांचसइ ते सवि मिली ॥२५॥

इण परि लाहुरि उच्छव अति घणा,
कीधा श्री संघ रंगि बधावणा ।
इम चोपडा शाख शृङ्गार गुणनिधि, साह चांपा कुल तिलउ ।
धन मात चांपल देइ कहीय, जासु नन्दन गुण निलउ ॥
विधि वेद रस शशि मास फागुन, शुक्ल बीज सोहामणी ।
थापी श्री जिनसिंह सूरि, गुरुयउ संघ बधामणी ॥२६॥

राग—धन्याश्री

ढाल—(जीरावल मण्डण सामी लहिस जी)

अविहड़ि लाहुरि नयर वधामणाजी, वाज्या गुहिर निसांण ।
पुरि पुरि जी (२) मंत्री बधाऊ मोकल्या जी ॥२७॥

हर्ष धरी श्रीजी श्रीगुरु भणी जी, वगसइ दिवस सुसात ।
वरतइ जी (२) आण हमारी, जां लगइ जी ॥२८॥

मास असाढ़ अठाइ पालवी जी, आदर अधिक अमारी।
सघलइ जी (२) लिखि फुरमाण सु पाठवी जी ॥२९॥

वरस दिवस, लगि जलचर मूकियाजी, खंभनगर अहिठाणि।
गुरु नइ जी (२) श्रीजी लाभ दीयउ घणउ जी ॥३०॥

द्यइ आसीस दुनी महि मंडलइजी, प्रतिपइ कोडि वरीस।
ए गुरुजी (२) जिण जगिजीव छुड़ाविया जी ॥३१॥

राग—धन्याश्री

ढालः—(कनक कमल पगला ठवइ ए)

प्रगट प्रतापी परगडो ए, सूरि वडो जिणचन्द।
कुमति सवि दूरे टल्या ए, सुन्दर सोहग कन्द ॥३२॥

सदा सुहगुरु नमोए, द्यइ अकबर जसु मांन। सदा०। आंकणी।
जिनदत्तसूरि जग जागतउ ए, गरुने सानिधकार। स०।
श्रीजिनकुशल सूरीश्वरू ए, वंछित फल दातार ॥स०॥३३॥

रीहड़ वंशइ चंदलउ ए, श्रीवन्त शाह मल्हार। स०।
सिरीयादे उरि हंसलउ ए, माणिकसूरि पटधार ॥स०॥३४॥

गुरु ने लाभ हुया घणां ए, होस्यइ अवर अनन्त। स०।
धरम महाविधि विस्तरइ ए, जिहां विहरइ गुणवंत ॥स०॥३५॥

अकबर समवड़ि राजीयउ ए, अवर न कोई जांण। स०।
गच्छपति मांहि गुणनिलउ ए, सूरि वड़उ सुरतांण ॥स०॥३६॥

कवियण कहइ गुण केतला ए, जसु गुण संख न पार। स०।
चिरंजीवउ गुरु नरवरू ए, जिन शासन आधार ॥स०॥३७॥

जिहां लगी महीयलि सुर गिरी ए, गयण तपइ शशि सूर। स०।
जिनचन्द रि तिहां लगइ, प्रतपउ पून्य पडूर ॥स०॥३८॥

वसु युग रस शशि वच्छरइ ए, जेठ वदि तेरस जांणि। स०।
शांति जिनेसर सानिधइ ए, रास चढ़िउ परमाणि ॥स०॥३९॥

आग्रह अति श्री संघ नइ ए, अहमदाबाद मंझारि । स० ।
रास रच्यो रलियामणउ ए, भवियण जण सुखकार ।।स०।।४०।।

पढ़इ गु(सु)णइ गुरु गुण रसी ए, पूजइ तास जगीस । स० ।
कर जोड़ी कवियण कहइ, विमल रंग मुनि सीस ।।स०।।४१।।

इति श्री युगप्रधान जिनचन्द्र सूरीश्वर रास समाप्तमिति। लिखितं लब्धिकल्लोल मुनिभिः श्री स्तम्भ तीर्थे, पं० लक्ष्मीप्रमोद मुनि वाच्यमानं चिरं नंद्यात् यावचन्द्र दिवाकरौ । श्रीरस्तु ।

युगप्रधान निर्वाण रास

कवि समयप्रमोद कृत

(संवत् १६५२ वि०)

परिचय—

इस रास में युगप्रधान मुनि जिनचन्द्रसूरि के देशोपकारक गुणों के वर्णन के अन्त में उनके निर्वाण का विवरण मिलता है। कवि गुणनिधान गुरु के चरणों को नमस्कार करके युगप्रधान के निर्वाण की महिमा का वर्णन करता है।

युगप्रधान का पद जिस समय गुरु को अर्पित किया गया उस समय मंत्री कर्मचन्द ने सवा करोड़ रुपया दान में व्यय किया। राजा और राणा की मंडली श्री जिनचन्द्रसूरि का पुण्य शब्द उच्चारण करती। महामुनीश्वरों के मुकुटमणि, दर्शनीय व्यक्तियों में श्रेष्ठ चौरासी गच्छों में शिरोमणि और सुल्तान के समान (जैन धर्मावलम्बियों पर) शासन करते थे। अकबर के समान शाह सलीम (जहाँगीर) भी आपका सम्मान करते।

एकबार बादशाह सलीम ने जैन साधुओं पर क्रोध किया, क्योंकि दुष्ट दरबारियों ने बादशाह से जैन साधुओं की निन्दा की थी। वह किसी जैन साधू के सिर पर पगड़ी बाँध देता किसी को जंगल में भेज देता किसी को मशक देकर भिश्ती बना देता। बादशाह के आदेशों से जैन साधुओं में खलबली मच गई। सबने जिनचन्द्रसूरि से इस भय-निवारण के लिए युक्ति निकालने का निवेदन किया। कितने हिन्दू नष्ट कर दिए गए; कितने पहाड़ों पर निर्मित दुर्गों में जाकर छिप गए।

आचार्य जिनचन्द्रसूरि गुजरात से चलकर उग्रसेन पुर (आगरे) पहुँचे। राजदरबार में उनका दर्शन करते ही बादशाह का क्रोध जाता रहा। बादशाह ने पूछा कि आप इतनी दूर से क्यों पधारे ?

आचार्य ने कहा कि बादशाह को आशीर्वाद देने आया हूँ। बादशाह के पूछने पर आचार्य ने कहा कि बादशाह का आदेश हो जाए तो जैन मुनि

बन्धन से मुक्त हो जाएँ। बादशाह की आज्ञा से जैन मुनियों को अभयदान मिला और आचार्य का सर्वत्र यश-गान होने लगा।

वहाँ से मुनिवर मेड़ते आए। वहाँ उन्होंने चौमासा किया। मंदोवर देश में बीलाड़ा (बेनातट) नामक नगर सुख सम्पदा से परिपूर्ण था। उस नगर में खरतर संघ का प्रधान स्थान था। यहाँ की जनता के अनुरोध से आचार्य ने चौमासा किया। उस चौमासे में श्री संघ में अत्यन्त उत्साह रहा। पूज्य आचार्य नित्य उपदेश (देशना) किया करते। संवत् १६७० के आसौज (आश्विन) मास में गुरुवर ने सुरसम्पदा का वरण किया। उन्होंने चिर-समाधि लगाई। कवि कहता है कि जो लोग समाधि द्वारा संसार की लीला समाप्त करते हैं उनकी सेवा देवगण करते हैं।

निर्वाण प्राप्त होने पर उनके शरीर को पवित्र गंगाजल से प्रक्षालित किया गया। संघ ने उनके शरीर पर चोवा-चन्दन और अरगजा का लेप किया; अबीर लगाई गई। नाना प्रकार के वाद्य बजने लगे। (मानो) देवता और मुनि उन्हें देखने आए।

उस अनुपम पुरुष के निर्वाण प्राप्त होने से सर्वत्र हाहाकार मच गया। ऐसा प्रतीत होता था मानो दीपक बुझ गया। सबके मुख से 'पूज्य गुरुदेव' की ध्वनि सुनाई पड़ती। संघ-साधु इस प्रकार विलाप करने लगे—'हे खरतर-गच्छ के चन्द्र, हे जिण शासन-स्वामी, हे सुन्दर सुख सागर, हे गौरव के भंडार, हे मर्यादा-महोदधि, हे शरणागत पालक, हे राजा के समान भाग्यशाली।'

इस प्रकार विलाप करने वाले दर्शकों के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। मृत शरीर को बाणगंगानदी के किनारे लाया गया। चिता प्रज्वलित की गई। उसमें घृत और चन्दन डालकर शरीर का दाह-संस्कार किया गया।

———

युगप्रधान निर्वाण रास

कवि समय प्रमोद कृत

(सं० १६५२)

दोहा राग (आसावरी)

गुणनिधान गुरु[1] पाय नमि, वाग वाणि अनुसार (आधारि)।
युगप्रधान निर्वाण नी, महिमा कहिसुं विचार ॥ १ ॥

युगप्रधान जंगम यति, गिरुआ गुणे गम्भीर ।
श्री जिनचन्द्र सुरिन्दवर, धुरि धोरी प्रभ धीर ॥ २ ॥

संवत् पनर पंचाणुयइ, रीहड़ कुलि अवतार ।
श्रीवन्त सिरिया दे धर्यउ,[2] सुत सुरताण कुमार ॥ ३ ॥

संवत सोल चड़ोत्तरइ, श्री जिनमाणिक सूरि ।
सइ हथि संयम आदर्यउ, मोटइ महत पडूरि ॥ ४ ॥

महिपति जेसलमेरु नइ, थाप्या राउल माल ।
संवत सोल बारोत्तरइ, शत्रु तणइ सिर साल ॥ ५ ॥

ढाल (१) राग जयतसिरि

(करजोड़ी आगल रही एहनी ढाल)

आज बधावौ संघ मइं दिन दिन वधते[3] वानइ रे ।
पूज्य प्रताप बाधइ[4] घणौ, दुश्मन कीधा कानइ रे ॥ ६ ॥ आ०

सुविहित पद उजवालियउ, पूज्य परिहरइ परिग्रह माया रे ।
उग्र विहारइ विहरतां, पूज्य गुर्जर खंडइ आया रे ॥ ७ ॥

रिपिमतीयां सुं तिहां थयउ, अति झूठी पोथी वादौ रे ।
पुज्य वखत बल कुमतियां, परगट गाल्यउ नादौ रे ॥ ८ ॥ आ० ॥

---

१ गौतम २ देवीनइ ३ बाधइ ४ बधइ

पूज्य तणी महिमा सुणी, सन्मान्या अकबर शाहइ रे।
युगप्रधान पद आपियउ, सह लाहउर उच्छाहइ रे॥ ६॥ आ०॥

कोड़ि सवा धन खरचियउ, मंत्रि क्रमचन्द जी भूपालइ रे।
आचारिज पद तिहां थयउ, संवत सोल अड़तालइ[1] रे॥१०॥आ०॥

संवत सोलसइ बावनइ; पुज्य पंच नदी (सिंधु) साधी रे।
जित कासी जय पामियउ, करि गोतम ज्युं सिधि वाधी रे॥११॥आ०॥

राजा राणा मंडली, एतउ आइ नमें निज भावइ रे।
श्रीजिनचंदसूरिसरु, पुज्य सुशब्द नित २ पावइ रे॥१२॥आ०॥

संइ[2] हथि करि जे दीखिया, पूज्य शीश तणा परिवारो रे।
ते आगम नइ अर्थे भर्या, मोटी[3] पदवीधर सुविचारो रे॥१३॥आ०॥

जोगी, सोम, शिवा समा, पूज्य कीधा संघवी साचा रे।
ए अवदात सुगुरु तणा, जाणि माणिक हीरा जाचा रे॥१४॥आ०॥

॥ दोहा सोरठी ॥

महा मुणीश्वर मुकुट मणि, दरसणियां दीवांण।
च्यारि असी गच्छि सेहरो, शासण नउ सुरतांण॥१५॥

अतिशय आगर आदि लगि, झूठ कहुं[4] तउ नेम।
जिम अकबर सनमानिउ, तिम वलि शाहि सलेम॥१६॥

ढाल (जतनी)

पातिसाहि सलेम सटोप, कियउ दरसणियां सुं कोप।
ए कामणगारा कामी, दरबार थी दूरि हरामी॥१७॥

एकन कुं पाग बंधावउ, एकन कुं नाआस[5] अणावउ।
एकन कूं देशवटौ जङ्गल दीजै, एकन कूं पखाली कीजइ॥१८॥

---

१ इस रासकी ३ प्रतियें नाहटा जी के पास हैं जिनमें ऐसा ही लिखा है। मुद्रित "गणधर सार्ध शतक" में भी इसी प्रकार है। किन्तु पट्टावलि आदि में सर्वत्र सं० १६४६ ही लिखा है।

२ आप तणइ ३ वलि ४ कथुं ५ का

ए शाहि हुकुम सांभलिया तसु कोप (कउप) थकी खलभलिया ।
जजमान मिली संयतना, दरहाल करइ गुरु जतना ॥१६॥

के नासि हींदं[1] पूंठि पड़ीयां, केइ मइवासइ जइ चढ़ीया ।
केइ जंगल जाई बइठा, केइ दौड़ि गुफा मांहिं (जाइ) पइठा ॥२०॥

जे ना सत यवने भाल्या, ते आणि भाखसी घाल्या ।
पाणी नै अन्नज पाल्या, वयरीड़ा वयरसुं साल्या ॥२१॥

इम सांभलि शाशन हीला, जिणचंद सुरीश सुशीला ।
गुजराति घरा थी पधारइ, जिन शाशन वान वधारइ ॥२२॥

अति आसति बलि गुरु चाली, असुरां भय दूरइ पाली ।
उग्रसेनपुरइ पउधारइ, पुज्य शाहि तणइ दरबारइ ॥२३॥

पुज्य देखि दीदारइं मिलिया, पातिशाह तणा कोप गलीया ।
गुजराति धरा क्युं आए, पातिशाहि गुरु बतलाए ॥२४॥

पातिशाहि कुं देए आशीश, हम आए शाहि जगीश ।
काहे पाया दुःख शरीर, जाओ जउख करउ गुरु पीर ॥२५॥

एक शाहि हुकुम जउ पावां, बंदियड़ां बंदि[2] छुड़ावां ।
पतिशाहि खयरात करीजइं, दरशणियां पूरुं (दूवउ) दीजइं ॥२६॥

पतिशाहि हुंतउ जे जूठउ, पूज्यभाग बलइ अति तूठउ ।
जाउ विचरउ देश हमारे, तुम्ह फिरतां कोइ न वारइ ॥२७॥

धन धन खरतरगच्छ राया, दर्शनियां दण्ड[3] छुडाया ।
पूज्य सुयश करि जगि छाया, फिरि सहरि मेडतइ[4] आया ॥२८॥

दूहा (धन्यासिरि)

श्रावक श्राविका[5] बहु परइ, भगति करइ सविशेष ।
आए बहै गुरुराज नी, गौतम समवड़ देखि ॥२९॥

धरमाचारिज धर्म गुरु, धरम तणउ आधार ।
हिव चउमासउ जिहां करइ, ते निसुणो सुविचार ॥३०॥

---

१ हिंदु २ बंध, ३ दंद, ४ सहुरमतइ, ५ श्रावी,

ढाल (राग—धवल धन्यासिरी, चिन्तामणिपासपूजिये)

देश मंडोवर दीपतउ, तिहा बीलाड़ा नामौ रे।
नगर वसै विवहारिया, सुख संपद अभिरामौ रे ॥३१॥ दे० ॥

धोरी धवल जिसा[1] तिहां, खरतर संघ प्रधानो रे।
कुल दीपक कटारिया, जिहां घरि बहु धन धानो रे ॥३२॥ दे०॥

पंच मिली आलोचिया, इहां पूज्य करे चौमासो रे।
जन्म जीवित सफलउ हुवइ, सयणां पूजइ आसौ रे ॥३३॥ दे०॥

इम मिली संघ तिहां थकी, आवइ तुज्य दिदारइ रे।
महिमा बधारइ मेड़तै, पूज्य बन्दी जन्म समारइ रे ॥३४॥ दे०॥

युगवर गुरु पउधारीयइ, संघ करइ अरदासो रे।
नयर बिलाड़इ रंग सुं, पूज्यजी करउ चौमासो रे ॥३५॥ दे०॥

इम सुणि पूज्य पधारिया, बिलाड़इ रंगरोल रे।
संघमहोत्सव मांडियउ, दीजै तुरत तंबोल रे ॥३६॥ दे०॥

दोहा (राग गौडी)

पूज्य चउमासौ आवियउ[2], श्री संघ हर्ष उत्साह।
विविध करइ परभावना, ल्ये लक्ष्मी नौ[3] लाह ॥३७॥

पूज्य दियइ नित्य देशना, श्रीसंघ सुणइ वखाण।
पाखी पोसहिता जिमइ, धन जीवित सुप्रमाण ॥३८॥

विधि सुं तप सिद्धान्त ना, साधु वहइ उपधान।
पूज्य पजूसण पड़िकमै, जंगम युगहप्रधान ॥३९॥

संवत सोलेसित्तरइ, आसू मास उदार।
सुर संपद सुह गुरु वरी, ते कहिसुं अधिकार ॥४०॥

(ढाल भावना री चंदलियानी)

नायौं (नइ) निहालइ हो पूज्य जी आउखउ रे, तेड़ी संघ प्रधान।
जुगवर आपै हो रूड़ी सीखड़ी रे, सुणिज्यो 'पुण्य-प्रधान" ॥४१॥ ना०॥

---

१ जिहाँ रहै। २ गहउ, ३ रो

गुरुकुल वासै हो वसिज्यो चेलडां रे, मत लोपउ गुरु कार ।
सार अनइ वलि संयम पालिज्यो रे, सूधौ साधु आचार ॥४२॥ना०॥

संघ सहु नै धर्मलाभ कागलइ रे, लिखिज्यौ देश विदेश ।
गच्छा धुरा जिनसिंहसूरिनिर्वाहिस्यै रे, करिज्यो तसुआदेश ॥४३॥ना०॥

साधु भणी इम सीख द्यै पूजजी रे, अरिहन्त सिद्ध सुसाखि ।
संइमुख अणसण पूज्य जी उच्चरइ रे, आसू पहिले पाखि ॥४४॥ना०॥

जीव चउरासि लख (राशि) खामिनै रे, कञ्चन तृण सम निन्द ।
ममता नै वलि माया मोसउ परिहरी रे, इमनिज पाप निकंद ॥४५॥ना०॥

वयर कुमार जिम अणसण उजलउ रे, पाली पहुर चियार ।
सुख ने समाधे ध्यानै धरम नइ रे, पहुंचइ सरग मझार ॥४६॥ना०॥

इन्द्र तणी तिहां अपछर ओलगइ रे, सेव करइ सुर वृन्द ।
साधु तणउ धर्म सूधौ पालियो रे, तिण फलिया ते आणंद ॥४७॥ना०॥

दोहा (राग गौड़ी)

गंगोदक पावन जलइ, पूज्य पखाली अंग ।
चोवाचन्दन अरगजा, संघ लगावइ रंग ॥४८॥

बाजा बाजइ जन मिलइ, पार विहूणा पात्र ।
सुर नर आवै देखवा, पूज्य तणउ शुभ गात्र ॥४९॥

वेश वणावी साधु नउ, धूपि सयल शरीर ।
वैसाड़ी पालखियइ, उपरि बहुत अबीर ॥५०॥

ढाल राग-गउड़ी (श्रेणिक मनि अचरिज थयउ एहनी)

हाहाकार जगत्र हुयउ, मोटो पुरुष असमानौ रे ।
बड़ वखती विश्रामियउ, दीवइ जिउं बूझाणउ रे ॥५१॥

पुज्य पुज्य मुखि उच्चरइ, नयणि नीर नवि मायइ रे ।
सहगुरु सी सी (?सा)लइ सांभरइ, हियडुं तिल तिल थायइ रे ।५२॥पु०॥

संघ साधु इम विलविलइ, हा ! खरतर गच्छि चंदउ रे ।
हा ! जिणशासण सामियां, हा ! परताप दिणंदउ रे ॥५३॥पु०॥

हा ! सुन्दर सुख सागरु, हा ! मोटिम भंडारउ रे ।
हा ! रीहड़ कुल सेहरउ, हा ! गिरुवा गणधारउ रे ॥५४॥पु०॥

हा ! मरजाद महोदधि, हा ! शरणागत पाल रे ।
हा ! धरणीधर धीरमा, हा ! नरपति सम भाल रे ॥५५॥पु०॥

बहु वन सोहइ भूमिका, वाणगंगा नइ तीर रे ।
आरोगी किसणागरइ, वाजाइ सुरभि समीर रे ॥५६॥पु०॥

बावन्ना चंदन ठवी, सुरहा तेल नी धार रे ।
घृत विश्वानरतर पिनइ, कीधउ तनु संस्कार रे ॥५७॥पु०॥

वेश्वानर केहनउ सगउ, पणि अतिसय संयोग ।
नवि दाझी पुज्य मुंहपत्ति, देखइ सघला लोग रे ॥५८॥पु०॥

पुरुष रत्न विरहइ करी, साधि मरवउ न थावइ रे ।
शान्तिनाथ समरण करी, संघ सहु घर आवइ रे ॥५६॥पु०॥

राग धन्यासिरी

(सुविचारी हो प्राणी निज मन थिर करि जोय)

ढालः—

सुविचारी हो पूज्यजी, तुम्ह विनु घड़ी रे छः मास ।
दरसण दिखाड़उ आपणउ हो, सेवक पूजइ आस ॥६०॥ सुवि०

एकरसउ पउधारियइ हो, दीजइ दरशण रसाल ।
संघ उमाहु अति घणउ हो, वंदन चरण त्रिकाल ॥६१॥ सुवि०

वाल्हेसर रलियामणा हो, जे जगि साचा मीत ।
तिण थी पांगरउ पूज्यजी रे, मो मनि ए परतीत ॥६२॥ सुवि०

इणि भवि भवे भवान्तरइ हो, तुं साहिब सिरताज ।
मातु पिता तुं देवता हो, तुं गिरुआ गच्छराज ॥६३॥ सुवि०

पूज्य चरण नित चरचतां हो, वन्दत वंछित जोइ ।
अलिअ विघन अलगा टरइ हो, पगि २ संपत होइ ॥६४॥ सुवि०

शांतिनाथ सुपसाउलइ हो, जिनदत्त कुशल सूरिन्द ।
तिम जुगवर गुरु सानिधइ हो, संघ सयल आणंद ॥६५॥ सुवि०

मीठा गुण श्रीपूज्य ना हो, जेहवी साकर द्राख।
रंचक कूड़ इहा त (न?) ही हो, चन्दा सूरिज साख ।।६६।। सुवि०
तासु पाटि महिमागरु हो, सोहग सुरतरु कन्द ।
सूर्य जेम चढती कला हो, श्री जिनसिंह सुरींद ।।६७।। सुवि०
हो युगवर, नामइ जय जय कार।
वंश वधावइ चोपड़ा हो, दिन दिन अधिकउ वान।
पाटोधर पुहवी तिलउ हो, चिर नन्दउ श्रीमान।।६८।। सुवि०
युगवर गुरु गुण गांवतां हो; नव नव रंग विनोद ।
एहनुं[1] आस्या फलइ हो, जंपइ "समयप्रमोद" ।।६६।। सुवि०

।। इति युगप्रधान जिनचन्द सूरि निर्वाणमिदं ।।

---

१ दूसरी हस्तलिखित प्रति में रूड़ई है।

जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास

कवि सारमूर्ति कृत

(रचनाकाल अज्ञात)

(सम्भवतः १७ वीं शताब्दी का प्रारम्भ)

परिचय—

श्री जिनकुशलसूरि पृथ्वी-मंडल में विचरण करते हुए देरावर नामक स्थान पर पहुँचे। [जिस समय "जिनकुशल सूरि" नाम की प्रतिष्ठा की गई उस समय अनेक देशों के संघ विराजमान थे। उस समय २४०० साध्वी एवं ७०० साधुओं को आमंत्रित किया गया]

देरावर पहुँच जाने पर व्रत-ग्रहण, माला-ग्रहण, पद-स्थापन आदि धर्मकृत्य होने लगे। सूरि जी ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण को सन्निकट आते देख तरुणप्रभ आचार्य को अपने पद (स्थापन) की शिक्षा दी और संघ का कार्य सम्पन्न कर परलोक को प्रस्थान किया। सिन्धु देश के राणु नगर के श्रावक पुनचन्द के पुत्र हरिपाल इसी समय देरावर पहुँचे और उन्होंने तरुणप्रभाचार्यसे युग-प्रधान के महोत्सव के लिए आज्ञा माँगी। कोने-कोने में स्थित संघों को कुंकुम पत्रों द्वारा आमंत्रित किया गया।

जिनकुशल सूरि के स्वर्गवास के उपरान्त जिनपद्म सूरि को युग-प्रधान के पद पर आसीन करने के लिए बड़े समारोह के साथ महोत्सव किया गया। "प्रसिद्ध खीमड कुल के लक्ष्मीधर के पुत्र आंबाशाह की पत्नी की कुक्षि-सरोवर से उत्पन्न राजहंस के सदृश पद्मसूरि जी को संवत् १३८६ ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी सोमवार को ध्वजा, पताका, तोरण वंदनमालादि से अलंकृत आदीश्वर जिनालय में नान्दी स्थापन विधिसह श्री सरस्वती कंठाभरण तरुण प्रभाचार्य ने जिनकुशल सूरि के पद पर स्थापित कर जिनपद्म सूरि नाम प्रसिद्ध किया।"

उस महोत्सव में चतुर्दिक् जयजयकार की ध्वनि सुनाई पड़ी। स्त्रियाँ आनन्दोल्लास से नृत्य करने लगीं। शाह हरिपाल ने गुरु-भक्ति के साथ युग-प्रधान-पद का महोत्सव बड़े धूम धाम से आयोजित किया। पाटण संघ ने इस उपलक्ष्य में आप को (बालधवल) कुर्चाल सरस्वती विरुद प्रदान किया।

———

जिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास

कवि सारमूर्ति मुनि कृत

सुरतरु रिसह जिणिंद पाय, अनुसर सुयदेवी ।
सुगुरु राय जिणचन्दसूरि, गुरु चरण नमेवी ॥
अमिय सरिसु जिणपदम सूरि, पय ठवणह रासू ।
सवणंजल तुम्हि पियउ भविय, लहु सिद्धिहि तासू ॥ १ ॥

वीर तित्थ भर धरण धीर, सोहम्म गणिंदु ।
जंबूस्वामी तह पभव-सूरि, जिण नयणाणंदु ॥
सिज्जंभव जसभद्दु, अज्ज संभूय दिवायरू ।
भद्दबाहु सिरि थूलभद्र, गुणमणि रयणायरू ॥ २ ॥

इणि अनुक्रमि उदयउ वद्धमाणु, पुणु जिणेसर सूरी ।
तासु सीस जिणचन्द सूरि, अजिय गुण भूरी ॥
पासु पयासिउ अभय सूरि, थंभणपुरि मंडणु ।
जिणवल्लह सूरि पावरोर, दुखाचल खंडणु ॥ ३ ॥

तउ जिणदत्त जईसुनामि, उवसग्ग पणासइ ।
रूववंतु जिणचन्द सूरि, सावय आसासय ॥
वाई गय कंठीर सरिसु, जिणपत्ति जईसरू ।
सूरि जिणेसर जुग पहाणु, गुरु सिद्धाएसु ॥ ४ ॥

जिणपवोह पडिबोह तरणि, भविया गणधारू ।
निरुवम जिणचन्द सूरि, संघ मण वंछिय कारू ॥
उदयउ तसु पट्टि सयल कला, संपतु मयंकु ।
सूरि मउड चूडावयंसु, जिण कुशल सुणिंदु ॥ ५ ॥

महि मण्डल विहरन्तु सुपरि, आयउ देराउरि ।
तत्थ विहिय वय गहण माल, पय ठवण विविह परि ।
निय आऊ पज्जंतु सुगुरु, जिणकुसलु मुणेइ ।
निय पय सिख समग्ग, सुपरि आयरिह देइ ॥ ६ ॥

॥ घत्ता ॥

जेम दिनमणि जेम दिनमणि, धरणि पयडेय ।
तव तेय दिप्पंत तेम सूरि मउडु, जिण कुशल गणहरू ।
दृढ छंद लखण सहिउ, पाव रोर मिछत्त तम हरू ।
चन्द गच्छ उज्जोय करु, महि मंडलि मुणि राउ ।
अणुदिणु सो नर नमउ तुम्हि, जो तिहुपति बखाउ ॥ ७ ॥
सिंधु देसि राणु नयरे, कंचण रयण निहाणु ।
तहि रीहडु सावय हुउं, पुनचन्दु चन्द समाणु ॥ ८ ॥

तसु नंदणु उछव धवलो, विहि संघह संजुत्तु ।
साहु राय हरिपाल वरो, देराउरि संपत्तु ॥ ९ ॥

सिरि तरुणप्पहु आयरिउ, नाण चरण आधारु ।
सु पहुचन्दि पुण विन्नवए, कर जोड़वि हरिपालु ॥ १० ॥

पय ठवणुछव जुगवरह, काराविसु बहु रंगि ।
ताम सुगुरु आइसु दियए, निसुणवि हरिसिउ अंगि ॥११॥

कुंकुवत्रिय पाट ठवण, दस दिसिसंघ हरेसु ।
सयल संघु मिलि आवियउ, बछरि करइ पवेसु ॥१२॥

पुहवि पयडु खीमड कुलहि, लखमीधरु सुविचारु ।
तसु नन्दण आंबड पवरो, दीण दुहिय साधारु ॥१३॥

तासु घरणि कीकी उयरे, रायहंसु अवयरिउ ।
त पदमसूरि कुल कमलु रवे, बहु गुण विद्या भरिउ ॥१४॥

विक्रम निव संवछरिण, तेरह सइ नऊ एहि ।
जिट्ठि मासि सिय छट्ठि तहि, सुहदिणि ससिवारेहिं ॥१५॥

आदि जिणेसर वर भुवणि, ठविय नन्दि सुविसाल ।
धय पडाग तोरण कलिय, चउदिसि वंदुरवाल ॥१६॥

सिरि तरुणप्पह सूरि वरो, सरसइ कंठाभरणु ।
सुगुरु वयणि पट्टहि ठविउ, पदमसूरि ति मुणिरयणु ॥१७॥

जुगपहाणु जिणपदम सूरे, नामु ठविउ सुपवित्त ।
आणंदिय सुर नर रमणि, जय जयकार करंति ॥१८॥

॥ घत्ता ॥

मिलिउ दसदिसि मिलिउ दस दिसि, संघ अपारू।
देराउरि वर नयरि तुर सदि गज्जंति अंबरू
नच्चंतिय वर रमणि ठामि ठामि पिखणय सुंदर
पय ठवणु छवि जुगवरह विहसिउ मग्गण लोउ।
जय जय सद्दु समुछलिउ तिहुअणि हुयउ पमोउ ॥१६॥

धन्नु सुवासरु आजु, धन्नु एसु मुहुत्त वरो।
अभिनव पुनम चन्दु, महिमंडलि उदयउ सुगुरु ॥२०॥

तिहुयणि जय जय कारु, पूरिउ महियलु तूर रवे।
घणु वरिसइ वसुधार, नर नारिय अइ ववहि परे ॥२१॥

संघ महिम गुरु पूय, गुरुयाणंदहि कारवए।
साहम्मिय घण रंगि, सम्माणइ नव नविय परे ॥२२॥

वर वत्थाभरणेण, पूरिय मग्गण दीण जण।
धवलइ भुवणु जसेण, सुपरि साहु हरिपालु जिइम ॥२३॥

नाचइ अवलीय बाल, पंच सबद बाजहि सुपरे।
घरि घरि मंगलचार, घरि घरि गूडिय ऊभविय ॥२४॥

उदयउ कलि अकलंकु, पाट तिलकु जिणकुशल सूरे।
जिण सासणि मायंद्, जयवन्तउ जिणपदम सूरे ॥२५॥

जिम तारायणि चन्दु, सहस नयण उतिसु सुरह।
चिंतामणि रयणाह, तिम सुहगुरु गुरुयउ गुणह ॥२६॥

नवरस देसण वाणि, सवणंजलि जे नर पियहि।
मणुय जम्मु संसारि, सहलउ किउ इत्थु कलि तिहि ॥२७॥

जाम गयण ससि सूर, धरणि जाम थिरु मेरु गिरि।
विहि संघह संजुत्तु, ताम जयउ जिणपदम सूरे ॥२८॥

इहु पय ठवणह रासु, भाव भगति जे नर दियहि।
ताह होइ सिव वास, "सारमुत्ति" मुणि इम भणइ ॥२६॥

॥ इति श्रीजिनपद्मसूरि पट्टाभिषेक रास ॥

———

विजय तिलक सूरि रास

पंडित दर्शन विजय कृत

[रचनाकाल-प्रथम अधिकार संवत् १६७९ वि०]

परिचय—

यह रास ऐतिहासिकता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी माना जाता है। यद्यपि बाह्य रूप से इसमें केवल एक जैन आचार्य की जीवनी ही झलकती है किन्तु विचारपूर्वक अध्ययन करने से इसमें सत्रहवीं शताब्दी के जैन समाज की स्थिति का सम्यकरूप से विवेचन पाया जाता है। इस ग्रंथ में राजाओं के जीवन-मरण की तिथियाँ अथवा उनके युद्धों का लेखा-जोखा नहीं है। इसमें तो शासन पर प्रभाव डालने वाले विद्वान् महापुरुषों का जीवनचरित्र, शास्त्र विषयक गहन चर्चा, और धार्मिक विषयों पर गम्भीर चिन्तन पाया जाता है।

रास नायक

यद्यपि ग्रन्थ के नामकरण से इसके नायक विजयतिलकसूरि प्रतीत होते हैं तथापि वास्तव में इस ग्रंथ का मूल विषय है विजय पक्ष और सागर-पक्ष। विजय तिलक सूरि का जीवनचरित्र तो इसमें गौण बन जाता है। विजय पक्ष के नायक तो हैं गच्छाधिराज श्री विजयदान सूरि और सागर-पक्ष के नायक हैं उपाध्याय धर्मसागर। उसके उपरान्त एक पक्ष के गच्छ-नायक जगद्गुरु श्री हीर विजय सूरि हैं और दूसरे पक्ष के उपाध्याय धर्म-सागर।

रास सार

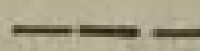
यह रास दो अधिकारों में विभक्त है। दोनों अधिकारों का रचना काल पृथक् पृथक् मिलता है। प्रथम अधिकार सं० १६७९ मार्गशीर्ष वदी ८ रविवार को पूर्ण हुआ था और द्वितीय अधिकार सं० १६९७ पौष सुदी रविवार को। इस रास में बादशाह जहाँगीर के साथ आचार्य के मिलन का वर्णन पाया जाता है। एक स्थान पर जहाँगीर श्री भानुचन्द जी से कहता है—

हमारे पुत्र शहरयार को आप हमेशा धर्म की तालीम दीजिए, जैसे

पहले हमारे पिता आपके पास सुनते थे। भानुचन्द्र जी ! आप पर हमारा स्नेह बहुत है। आप, मेरे लायक अगर कोई कार्य हो तो कहिए।

इस रास से ज्ञात होता है कि उस समय जैन मुनियों में आचार्य पद के लिए परस्पर विवाद होता था और निर्णय के लिए बादशाह के पास अभियोग पहुँचता।

यह एक विस्तृत काव्य है जिसके प्रथम अधिकार में १५३७ छंद हैं और द्वितीय अधिकार में २२२। इस संकलन में प्रथम अधिकार के प्रारम्भ के कतिपय छंद उद्धृत किए जाते हैं।



विजय तिलक सूरि रास

पं० दर्शन विजय

(सं० १६८६ वि०)

ढाल, राग गोड़ी

श्री विजयतिलक सूरि पूरण गुण गंभीर,
तस रास रचंतां वाधई हइयडइ हीर। ४३

पांच कारण मिलीयां नाम तणां अभिराम,
तेणई करी देसिउँ रासतणुं ते नाम। ४४

पहेलुं ए कारण विजयदान सूरीशिं,
निज पाटिं थाप्या हीर विजय सूरीश। ४५

तेणी वार कहिउँ एक वचन सूणो सावधान,
जेनहइं पद आपो तेहनइं देई बहुमान ४६

ए विजयनी शाषा जयकारी जगि जाणी,
पद देयो तेहनुं विजय नाम मनि आणी। ४७

बीजुं ए कारण हीर विजय सूरी धोरी,
अकबर प्रतिबोधिं जयवरीओ गुण ओरी। ४८

कारण वली त्रीजुं गच्छपति श्री विजय सेन,
त्रिणिसइं भट जीपी जय वरीओ स्ववशेन। ४९

कारण ए चोथुं विजयनइं नित जयकारी,
श्री विजयतिलक सूरि हूओ तपागच्छ धारी। ५०

हवई तिसुणो कारण पांचसुं कहुं विस्तार,
सागरिं जव लोपी गच्छ परं पर सार। ५१

तव गच्छपति पहेलो सागर मतनोवासी,
उथापी तेहनइं कीधो अतिहिं उदासी। ५२

गुरु पाट परंपर दीपावी जय पाम्यो,
तेणइं अधिकारिं रास नवो ए काम्यो । ५३
तेह माटिं देसिडँ एहनुं अतिहिं उदार,
नाम अनोपम सुणयो सदा विजय जयकार । ५४

॥ दूहा ॥

श्री विजयतिलक सूरी तणो रास विजय जयकार,
एक मनां सहू सांभलो नवनव रस दातार । ५५
विजयदान सूरि हीरगुरु जेसिंगजी गुरुराज,
तास गुणावली गायसिडँ साधीसिडँ सविकाज । ५६
विजयतिलक सूरी तणां मात पिता तस ठाम,
दीष्या सूरीपद वली कीधां जेजे काम । ५७
विजयनो जय जेथी थयो विजयनइं सुखदातार,
विजयतिलक सूरी तणो रास विजय जयकार । ५८

॥ ढाल ॥

राग देशाष; चोपई ।

लाष एक जोअण वाटलुं थालतणी परि सोहइ भलुं,
असंख्य दीपोदहि वींटीओ सघला मध्यि सो थापीओ । ५९
नामिं जंबूदीव उदार तेह मध्य मेरु पर्वत सार,
लाष जोअण तेहनो विस्तार ऊँचपणाई वली वृत्ताकार । ६०
कांचनवन ओपई अतिघणुं थानक जनम महोच्छवतणुं,
अनंत अनंती चउवीसीइं जिननां ते देषी हींसीइं । ६१
तेथी दष्यण दिसि अणुंसरी भरत षेत्र तेहनुं सुणोचरी,
पांचसइं जोअण अधिक छवीस छकला उपरि अधिक जगीस । ६२
वचि वैताढ्य विहुं पासे अड्यो अरध भाग वहें चषिते चड्यो,
उपरि नमि विनमि षेचरा दष्यिण उत्तरश्रेणि पतिवरा । ६३
तेथी दष्यिणि पासइं वली त्रिणिषंड प्रुथिवी तिहाँ सांभली,
गग सिंधु मध्य विहुं पासि ते मांहि मध्य षंड निवासी । ६४

मध्य षंडमांहिं आरजि देश साढा पंचवीस अति सुविसेस,
तेहमां सोरठ देस सुचंग ते मांहि गुजर देस सुरंग । ६५
तिहां कणि वसुधा भूषण भलुं घणुं वषाण करीय केतलुं,
सुरपुर सरषी सोह धरंत वीसलनयरं अति सोहंत । ६६
धणकण कंचण जण बहु भरिउं गढमढ मंदिर अति अलंकरिउं,
वन वाडी सरोवर अभिराम हाट श्रेणि चोरासी नाम । ६७
अति उंचा श्री जिन प्रसाद मेरु सिषरसिउं मांडइ वाद,
मनोहर मोटी बहु पोसाल श्रावक धरम करइ सुदयाल । ६८
बहु श्रीवंत तणइ घर वारि अंगणि कुमर अमर अणुंसारि,
विविह परिक्रीडा ते करइ बोलि माय तायनां मन हरइ । ६९
सपत भूमि सोहई आवासि देषत अमर हूआ उदास,
अम्ह विमान सोभा अही धरी जाणे तिहांथी आणी हरी । ७०
कनक कलसमय तोरणचंग वचि वचि मोती रचना रंग,
गोषि गोषि बहु कोरणी जोतां जन मोह्या ते भणी । ७१
बयठी सारी सोल सिंगार गोषि गोषिचन्द्रवदनी नारि,
अधोमुख थई जोवइ तेह भूतलि लोक चिंतइ मनि अेह । ७२
शतचंद्र दीसइ नभतलं निकलंक सोहइ अतिनिरमलं,
जन जाता जोता आकासि नारी बयठी देषि आवासि । ७३
थानकि थानकि मिलिआ थोक निरषइ नाट नाटिक बहुलोक,
के नाचइ के गाइ गीत केइ कथा कही रीझवइ चीत । ७४
कहिं कणि पंच शब्द निघोष कही सरणाई सुणत होइ तोष,
कहीं मादल भुंगल कंसाल कही कणि सोहिवि गीत रसाल । ७५
के बयठा करई धरम विचार दानदीइ बहु के दातार,
के निसुणइ गायननां गीत के मन वात करई मिली मीत । ७६
मांहोमांहिं के हास्य टकोल केई करइ नित बहु रंगरोल,
के खेलावइ चपल तुरंग मल्ल मिलीआ छेटइ अंग । ७७
के रथ जोतरी वाहइ वादि के मींढा झूझइ उनमादि,
के उद्यानि केलवइ कला के थाणी बोल नासइ बेगला । ७८

के शरमइ आयुध छत्रीस के सरोवरि खेलई निसदीस,
अेम अनेक परि करइ विनोद वरतई तेणइ नयरि प्रमोद । ७६

साहि अकबर केरुं तिहां राज जेणइ हीरवंदी साधिउं काज,
सुखी लोक सवे तिहां वसई अवरां नगर लोकनइं हसइ । ८०

जिन प्रसाद धजाइं दंड जननइं नही सदा अखंड,
मार पड़ई जिहां धोवी सिला पणि ते पुरजननइं नही कदा । ८१

परवि ग्रहण होइ सूरनइं विरह पाप तणो भविजीवनइं,
बंधन जिहां केसि पामीइ के वली दोहतां गाइ दामीइ । ८२

दुरव्यसने देसोतो जिहां शोक नही को जाणइ तिहां,
इत्यादिक गुण अछइ अनेक वीसलनयर वसइ सविवेक । ८३

तिहां श्रावक सूधो जाणीइ तेहमां एकवीस गुण वखाणीइ,
अति गुणवंत ते साह देव जी बहु जन तास करइ सेवजी । ८४

आराधइ एक अरिहंत देव साचा गुरुनी करइ नित सेव,
जिनभाषित मनि धरम ते धरइ अेम निजजनमसफल ते करइ । ८५

सुख संसार तणां भोगवइ अेम दिन सुखीआ ते योगवइ,
विनयवंत वनिता घरि भली जयवंती नामिं गुण निली । ८६

सती सिरोमणि जेहनी लीह सामी वचन पालइ निसदीह,
धरम करम रुडां साचवइ कठिण करम सघलां पाचवइ । ८७

निपुण पणइ धरइ चोसठि कला पालइ सील तप करइ निरमला,
नाह संघातिं विलसइ भोग जाणे इंद्र इंद्राणी योग । ८८

अेक दिन सुख भरि सूती नारि देखइ सुपन ते सेजि मझारि,
जाणुं अमर कुमर भूपजी तस अनुभावि जायु रूपजी । ८९

वली वरस के वोल्या पछी वली एक सुपन लहइ सा लच्छी,
तस अनुंभावि पूरइ कामजी जनम्यो पुत्र नामिं रामजी । ९०

विहुय भणावी कीधा जाण सीख्या सघलां कला विनाण,
जाणइ लिखित गणितनां मान नीतिशास्त्र सामुद्रिक जाण । ९१

आठ वरस वोल्या थी जोई सयलकला तेणइं सीखी सोइ,
हवई निसुणो संयमनी वात खंभायति नगरी विख्यात । ९२

विवहारी कोटीधज घणा लपेसिरीतणा नही मणा,
सहसधरा लहीइ लष्य गणा पार नही विवहारी तणा । ९३
संघवी उदयकरण गुण घणा विंब भराव्यां बहु जिन तणां,
जिन प्रासाद कराव्या भला भला उपाश्रय वली केतला । ९४
विंब प्रतिष्टा करावी भली अेम कहावति कहीइ केतली,
संघवी तिलक हवुं कइवार संघ पहराव्या कही कइवार । ९५
लाज घणी वहइ सहू कोइ उदयकरण मोटो जग सोइ,
जेह तणी लषिमीनो पार कुणीं न जाणो अेक लगार । ९६
वली निसुणो सोनी तेजपाल धुरथी धरम करइ सुविशाल,
जिन मंदिर जिन विंब पोसाल परची द्रव्य कर्यां सुरशाल । ९७
साधु भगति सामी संतोष सात पेत्र तणो वली पोष,
विमलाचलि श्री ऋषभ जिणंद मूल प्रासाद तणो आणंद । ९८
जीरणोद्धार कर्यो जेणइं रंगि परच्या लाष सवा जेणइ चंगि,
निज रुपइआ धरमह ठामि वावरी नइं सारीउं निज काम । ९९
पारषि राजिआ वजीआ जोडि धन उपराजिउं जेणइ बहु कोडि,
धरमवंत परचइ धनघणुं धरमठामि ते पोतातणुं, १००
गाम घणें जिन मंदिर कीध निजलषिमीनो लाहो लीध,
मकवल मसिरु कथीयातणा चंद्रोदय अति सोहामणा । १०१
उपासिरइं जिन मंदिर तेह मुंक्या हइयडइ आणी नेह,
एक दिन मनोरथ एक उतपन्न जो घरि वंछित धन उतपन्न । १०२
तो जिनविंब प्रतिष्टा भली कीजइ संपद करी मोकली,
श्रीगुरुहीरविजय सूरि राय तस आदेसिं मन उच्छाय । १०३
पधराव्या आचारयराय विजयसेन सूरि कीध पसाय,
देस नगर पुर गामहतणा तेडाव्या संघ आव्या घणा । १०४
शुभ दिवसिं तपगच्छनो राय करइ प्रतिष्ठा शिवसुखदाय,
संघ पहरावइ बहुबहु भाति जे आव्या हुता षंभाति । १०५
वीसलनगरनो संघ सुजाण तेहमाहिं देवजी साह प्रधान,
निसुणी श्री गुरुनो उपदेस मनि वयराग हूओ सुविसेस । १०६

जाणी भवतुं अथिर स्वरूप दुरगति मांहिं पडवानो कूप,
अे संसार असारो लही संयमनी मति हइयडइ सही। १०७

मिली कुटुंब सहू करइ विचार लेवुं आपि संयम सार,
मोहजाल सवि कीधां दूरि वसीआं उपशमरसघरपूरि। १०८

जई वंद्या श्री तपगच्छराज कहइ गुरुजी अह्म सारो काज;
वतारो भवसायर आज दिओ निज शिष्या शिवसुख काज। १०९

श्री विजयसेन सूरी सिर हाथि लीइ संयम कुटुंब सहू साथि;
साह देवजी साथिं निज नारि जयवंती नामि सुविचारि। ११०

तस नंदन पहलो रूपजी जीत्यो रुपि मनमथ भूपजी;
रामजी लघु बंधव तस जोडि बिहुय गुणवंत नही कसी षोडि। १११

च्यारइ जण लेइ संयमसार पालइ सुधुं निरतीचार,
बिहु बंधव करइ गुरुनी सेव एक जाणी शिवसुख हेव। ११२

विनयवंत जाणी गुरुराय तास भणावा करइ उपाय;
विद्या सकल भणइ ते जाम वड बंधव रतनविजय ताम। ११३

दैवयोगि पूरण थई आय पुहुतो पूरव करम पसाय,
रामविजय तेहनो लघु भाय ज्ञानवंतमां अतिहिं साहोय। ११४

तो गुरु तेहनइं बहु षप करी विद्या भणावी सघली परी,
नीति शास्त्र व्याकरण प्रमाण चिंतामणि षंडन विन्नाण। ११५

जोतिष छंद अनइं सिद्धांत प्रकरण साहित्य नइं वेदांत;
इत्यादिक शास्त्रना सवि भेद भणइ भणावई वली उपवेद, ११६

शमता रस भरीओ गुरु बहु वयरागी जाणइ जण सहू;
योग्य जाणी गुरु निज मनि तास पंडित पद दीधुं ओहुलासि, ११७

हवइ निसुणो सूरी पदवी तणो ते अवदात कहुं छइ घणो;
सांभलयो सहू मन थिर करी आचारजि पदनुं कहुं चरी, ११८

॥ ढाल ॥

राग मल्हार

संवत् सोलसतरोतरई निसुणो अवदात रे;
श्री विजयदानसूरीसिरु जगमांहि विख्यात रे,
वात अे भवि सहू सांभलो ॥ आंचली ॥ ११९

श्री विजयदानसूरि गछपति आचारजि गुरुहीर रे;
वाचक त्रिणि तेहनइं हवा बहु पंडित धीर रे। वात० १२०
आचारजि हीर जी धर्मसागर उवजाय रे;
श्रीराजविमल वाचक वरु जस रूप सुखदाय रे। वात० १२१
एकठा त्रिणि साथि भणइ करइ विद्या अभ्यास रे;
शास्त्र सवे भणइ भावसिउं ज्ञानइं लील विलास रे। वात० १२२
परम प्रीत त्रिणि एकठां शास्त्र भणी हूआ सुजाण रे;
पणि कोइ करम छूटइ नही करमि जाण अजाण रे। वात० १२३
शास्त्र तेहज गुरु एककइं भणइ अरथ विचार रे;
पणि मति भेद ते करमथी होइ सुख दुखकार रे। वात० १२४
अेणइ अधिकार एक वातडी निसुणो भवि तेह रे;
नारद परवत वसुनृप भणइ अेकठा तेह रे। वात० १२५
बांभण क्षीरकदंबक उपाध्यायनइं पासिरे;
शास्त्र सवे तिहां अभ्यसइ मनतणइ ओहोलासिरे। वात० १२६
एक दिन अध्ययन करावतां आकासि हूई देववाणि रे;
एक जीव स्वर्गगामी सुणो दोय जीव जाणि रे। वात० १२७
पाठक सुणि मनि चिंतवइ जोउं एह वीचार रे;
अडद पीठइ करी कूकडा दीधा तेहनइ करि सार रे। वात० १२८
जिहां कोइ पुरुष देषइ नहीं तिहां हणयो तुमे एह रे
अेम कही छात्र त्रिणि मोकल्या गया पर्वत वनि तेह रे। वात० १२९
गिरि गुहा जइ मन चिंतवइ इहां देषइ नही कोय रे;
पणि परमेसिर देषस्यें अेम नारद चिंतवइ सोय रे। वात० १३०
तो सही ए नही मारवा गुरुतणी एहवी वाणि रे;
पाछो आणी दीओ गुरु करिं का कीधुं वचन अप्रमाणि रे। वा० १३१
सीस कहइ गुरुजी सघलइ सही परमपुरुषनुं ज्ञान रे;
जीव हिंसा फल जाणतो हुं किम थाउं अज्ञान रे। वात० १३२
पर्वत वसुनृप आवीया करी बेहू जीवना घात रे;
गिरि गुहामध्य पयसी तिहां दीधी एहनइ लात रे। वात० १३३

सांभली गुरु मनि चिंतवइ नरगगामी ए जीव दोय रे;
नारद स्वर्गगामी सही शुभाशुभ लख्यणि होय रे। वात० १३४

षेद पाम्यो चींतमां घणुं दीधुं कुपात्रि वीद्यादान रे;
पर्वत वसुनइ भणावतां मिं कीधुं पाप निदान रे। वात० १३५

नारद वीनई बहुगुणी विद्यायोग विशेसरे;
एहनइ अध्ययन करावतां मुझ सुत करइ कलेस रे। वात० १३६

अेम उदासीन भाविं रह्यो न भणावइ ते छात्ररे;
वेद षट कर्म साधन करी पावन करइ निज गात्र रे। वात० १३७

दैवयोगिं ते परवत गुरु परलोकिं पहूतरे;
नारद वसु नृप घरि गया राषइ घरतणां सूत रे। वात० १३८

राज्य बयठो वसुराजीओ कहवाय सत्यवादी रे;
परवत ठामि निज तातनइं छात्र भणावइ आहालादिरे। वात० १३९

अरथ कहइ अज शबदनो छागिं होमज कीजइरे;
तेणइ अवसरि नारद नभिइं जातां कानज दीजइ रे। वात० १४०

निसुणी वयण परवततणुं उतरी आविओ तिहांहि रे;
कहइ रे बंधव तुं ए सिउं कहइ तिं सांभलिउं किहांहिरे। वात० १४१

आपणइ गुरिं भणावतां अरथ नवि कह्यो अेम रे;
अज कहीइ त्रिणि वरसतणां व्रीहि सांभलिउं अेम रे। वात० १४२

परवत कहइ तुं जूठउं कहइ कदाग्रह करइ तेहरे;
पण बकिउं तेणइ तिहां जीभनउं साषीओ वसुनृप तेहरे। वात० १४३

माय कहइ परवत प्रतिं जूठुं कांइं तुं बोलइ रे;
पणि नवि मानइ ते परवत थयो परवत तोलइ रे। वात० १४४

यष्टिका हाथिमां ग्रही करी गुरुणी चालि दरबारि रे;
देषी नृप साहमो आवीओ धरी हरष अपार रे। वात० १४५

नरपति पूछइ गुरुणी प्रतिं किम पधार्यां तुमे आज रे;
गुरुणी भणइ सुणि राजीआ पूत्रदान लेवा काजि रे। वात० १४६

एह वचन तुमे सुं कहो परवत सरिषो तुम पूतरे;
द्रव्यथी पणि नथी भावथी तेह बोलइ उसूत रे। वात० १४७

नारद साथिं कलहो करइ अज सबद अधिकारि रे;
जीहनिष्कासन पण वक्युं तेणें हूउ मुझ दुषकार रे। वात० १४८

साषीओ तेणइ तुझनइ कर्यो तुं तो बोलइ सत्य वाच रे;
पूत्र जीवन हवइ तुझ थकी बोलये तुं कूड साच रे। वात० १४९

मातजी तुम वचने सही बोलीस कूड वली साच रे;
घरे पधारो मन थिर करी वसुनृपि कीधुं ए काच रे। वात० १५०

तव ते बेहू वढता गया न्याय करवा नृप पासि रे;
अज सबदिं गुरिं स्युं कहिउं साचुं बोलिं सुख वास रे। वात० १५१

मात वचन थकी वसु नृप पूरइ कूडीय साषि रे;
तव सुर सीषामण दीइ गयो नरगिं ते भाषि रे। वात० १५२

नारद मुनि तिहां जय वरिओ दयावंतमां लीह रे;
परवतिं यमनि वरतावीआ गयो नरगि अबीह रे। वात० १५३

करमवसिं मति भेदते हूआ अनंत अपार रे;
धरम सागर तिम ते जूओ मति भेद विचार रे। वात० १५४

धरमसागर ते पंडित लगइं कर्यो नवो एक ग्रंथरे,
नामथी कुमतकुद्दालडो मांडियो अभिनवो पंथरे। वात० १५५

आप बषाण करइ घणुं निंदइ परतणो धर्म्म रे,
एम अनेक विपरीतपणुं ग्रंथमांहिं घणा मर्म रे। वात० १५६

मांडी तेणइ तेह परुपणा सुणी गछपति रायरे,
वीसलनयरिं विजयदान सूरि आवी करइ उपाय रे। वात० १५७

पाणी आणी कहइ श्री गुरु ग्रंथ बोलवो एह रे,
नयर बहु संघनी साषिसिउं ग्रंथ बोलिओ तेह रे। वात० १५८

श्री गुरु आण लही सही सूरचंद पंन्यांस रे,
हाथसिउं ग्रंथ जलि बोलिओ राषी परंपरा अंस रे। वात० १५९

ग्रंथ बोली सागर कहनइं लिषुं लिखित तस एक रे,
नवि एह ग्रंथ परुपणा नवि धरवी धरी टेकरे। वात० १६०

श्री विजयदान सूरि गछपति कहइ तेह प्रमाण रे,
तेहनी आण विण जे कहइ तेह जाणो अप्रमाण रे। वात १६१

धर्मसागर वाचक वली राजनगर मां आवी रे,
महिंता गलानइ आवरजिओ वली वात हलावी रे। वात १६२
मांडी ते ग्रंथ परुपणा करी श्रावक हाथि रे,
कलेस करइ गुरु सीससिउं गछपति मुनि साथि रे। वात० १६३
राजविमल वाचक तिहां आवी पूछइ गलराज रे,
तुम्हे कहो कसीय परपणा नवि गणी तस लाजरे। वात० १६४
वाच कहइ जिम गुरु कहइ श्री विजयदान सूरिंद रे,
ते कहइ तिम पणि अहे कहुं बीजुं छइ सवि दंदरे। वात० १६५
कहइ गलो सागर जे कहइ न मानो तो तुमे चालो रे,
तो तिहांथी तेहु चालीआ पाछलि घायक छालइ रे। वात १६६
घायक नर ते मातरि गया वाचक धोलकइ पुहुता रे,
पुण्यथी विघन विलय गयुं घणा साधू संजूता रे। वात० १६७

॥ ढाल ॥

चोपई

गुरु आराधक मुनि जे हता ते गछइ काढिआ घुरि छतां,
वहिरियां भात ते वासी पडिआं एणी परि मुनिवरनइं
कर्म नडिआं १६८

चाली वात चिहुं दिसि विख्यात विजयदान सूरि सुणी अवदात,
राधिनपुरी पुहुता अहठाण तेड्या पंडित सवे सुजाण १६९
करी विचार पत्रिका लखी गच्छ बाहिरि ते कीधा पछी,
कहइ गच्छनायक को छइ अस्यो चीठी लेइ तिहां जाई धस्यो १७०
सभा मांहि जइ चीठी दीइ साहस धरीनइं मनि नवि बीहइ,
एक मुनिवर ते निसुणी वात कहइ चीठी लावो अह्म तात। १७१
लेइ चीठी नइं चाल्यो जेह राजनगरि जइ पुहुतो तेह,
सभा मांहिं जइ ऊभो रहिओ गुरु संदेसो तेणइ कहिओ। १७२
चीठी आपीनइं एम कहइ घना बना गच्छ बाहिरि रहइ,
एम कही पाछां पगलां भरइ गलो कहइ कोई छइरे धरइ। १७३

धाओ धाओ धींगानइं धरो मारो मारी पूरो करो,
तिम धाया जिम जिमना दूत किहां जाइ तुं रे अवधूत । १७४

साहो साहो कहता सहु द्रोड्या पाछलि सुभट ते बहु,
हाथे न लागो ते अणगार सुभट फिरई तिहां घरघर बारि १७५

मुनि नाठो श्रावक घरि गयो श्रावकिइं तस घरमां ग्रहिओ,
राषी दिन थि घरमां तास राति काढी मुंकयो नास । १७६

कुसलि पुहुतो श्रीगुरु पासि वात सुणी दीधी सावासि,
सागरगच्छ बाहिरि जे कीध काढया जाणया जगत्र प्रसिद्ध । १७७

आहार न पामइ श्रावक घरे सागर कहइ गल्लानइं सरे,
अन्न विण दोहिला थाइ तदा लाज गइ सागरनी सदा १७८

एहवइ सकलचंद उवझाय आव्या अमदावादि सुठाय,
कहइ सागर नइ का एम करो गच्छ नायक कहण मनि धरो । १७९

अमदावादथी बीजइ गामि नही पामो अन्न पाणी ठाम,
ते माटिं गुरु कहणिं रहो ते कहइ ते हइयडामां वहो १८०

कहइ हवइ हुं किम जाउं तिहां ते मुझनइं संग्रहइ हवइ किहां
जो तुमे वात ए हाथे धरो तो सही एहज उद्यम करो । १८१

तो श्री सकलचंद उवझाय सागर तेडि राधिनपुरि जाय,
जइ ऊभा रहीया बारणइ गुरुनइं जाण करो एम भणइ । १८२

गुरु कहइ एहतुं नहीं अह्म काज एहनइं कहीइं न वलइ लाज,
सकलचंद वाचक एम भणइ शिष्य कहइ ते श्री गुरु सुणइ । १८३

छोरु होय कछोरु कदा माय बाप सांसेवउं सदा,
करस्यइ हवइ जे तुमे आसि दीओ सागरनइं गच्छमांहिं लीओ १८४

कहण लोपइ जो हवइ तुम तणुं तो एहनइं सीस देयो घणुं,
सुणी वीनती कहइ गच्छनाह जो आववो करो उमाह । १८५

तो लिषी आपो जे अह्मे कहउं पूरवसूरि वयण सदहुं,
एहवउं जो लिषी आपो तुह्मे तो अंगीकरुं तुम नइं अह्मे १८६

ते धर्म्म सागर जे गुरु कहइ पटो लषइ नइं मनि सद्दहइ,
जे जे मिच्छादुकड दीधा बोल लषावी सघला लीया । १८७

मतां साषि सहित कीआं वहू ते लिपिआं सांभलयो सहू,
सोल सतरमइ संवत्सरिं नगर सिरोमणि राधिनपुरिं। १८८

श्री विजयदान सूरि आपिं लषइ आज पछी को एम नवि वकइ,
सात अधिक निह्नव को कहइ ततपिणि ते गच्छ ठबको लहइ १८९

प्रतिमा आश्री परंपरा जेम चालिउं आवइ करवउ तेम
तिहां श्रीहीरविजय सूरि मतं सकलचंद वाचकनु छतुं। १९०

धर्म्मसागर वाचक पंन्यांस विजयहंस रुपरिषि विद्धांस,
कुशल हर्ष श्री करण विवुद्ध ऋषिवानर सुरचंद वुध शुद्ध १९१

ऋ हांपा ए सहूनां मतां सहित लिख्यो कागल ते छतां,
महिंता गल्लानइं ए लेख चिहु जणि मिली लिखीओ सुविसेष १९२

श्री गुरुहीर सकलचंद धर्म ऋषिवानर मिली लीषीआ मर्म,
अमदावादि महिंतो गलराज तेहनंइ लिषी जणविउं काज १९३

शास्त्रि निह्नव सातज अछइ अधिको नवि जाण्यो धुरि पछइ,
ते तिम सद्दहयो तुमे हवइ प्रतिमा आश्री परंपर कवइ। १९४

हवइ धर्म्मसागर आपिं लेख चतुरविध संघनइं लिखइ विशेष,
तयरवाडा नयरनइं विषइ धरमसागर ते एइवुं लषइ। १९५

सघलां नगर पुर गाम अहठाण साहु साहुणि सावय सावी सुजाण,
चउविहसंघप्रतिं ए लेख परपषी साहू प्रति विशेष। १९६

आज पछी पांचनइं नवि कहुं श्री गुरु कहइ तेहुं सदहुं,
पांचनइ निह्नव जे मिं कह्या तेहना मिच्छा दुकड सह्या १९७

उत्सूत्र कंदकुदाल जे ग्रंथ हवइ हूं तेहनो टालुं पंथ,
पहलुं तास सद्दहण होइ तेहनो मिच्छादुकड सोइ १९८

षटपरवी चतुपरवी जेह हुं नवि सद्दहतो मनि तेह,
ते हवइ श्री पूज्यिं जिम कहिउं ते प्रमाण पणइ सद्दहिउं १९९

सात वोल श्री भगवन तणा आसि दीधा अति सोहामणा,
तेह प्रमाण कीधा मिं सही एह वात हइडइ सद्दही। २००

चउविह संघ तणी दुरमना जेमिं कीधी आशातना,
ते मुझ मिच्छादुकड हयो ए सहूइ साचुं भावयो। २०१

चैत पांचनां उथापतां दोष वृथा ते हवइ षामतां,
आजपछी हवइ पांचइ तणां वांदुं चैत्यं करी षामणां २०२
तयरवाडामांहिं गुणपूरि तपगच्छपति श्री विजय दान सूरि,
तेह आगलि मिच्छादुकड दीया संघ सवंनइं साषी कीया। २०३
ए बोल सघला षोटा कह्या ते जेणइ कंहीइ सद्हिया,
ते हवइ मन शुद्धि कही मिच्छादुकड देयो सही। २०४
वली एक लिखित करिउं ते सुणो संवत सोलओगणीसातणो,
मागसिर सुदि पडवे वासरिं गच्छपतीइं लीषीउं एणी परिं। २०५
परंपरागत गच्छमां जेह सामाचारी वरतइ तेह,
तेहथी विपरीत कहवी नही आघी पाछी न करइ कही। २०६
अनइं बीजुं वली गच्छविरुद्ध नवो विचार को न करइ मूढ,
करइ विचार विरुद्ध जो कोइ तो गच्छ ठबको तेहनइं होइ। २०७
एहवुं लषी कराव्यां मतां जे गीतारथ पासइ हता,
श्री गुरुहीरविजयसूरिंदं वाचक तिहां वली सकल मुणिंद। २०८
वली श्रीराजविमल उवझाय धरमसागर पणि तेणइ ठाय,
पंडित श्रीकरण नइं सूरचंद कुशलहर्ष विमलदान मुणिंद। २०९
संयम हरष ए आदिं घणा मतां कराव्यां तेहज तणां,
लिष्यां करी सघलइ मोकल्यां पछइ सागरगच्छ मांहिं भल्या। २१०
श्री विजयदान सूरि गणधार विहार करइ भवि करइ उपगार,
संवत सोलबावीसइ सार वडलीइं आव्या गणधार। २११
निज आयुनो जाणी अंत करइ विकृष्ट बहु तप माहंत,
शुभ ध्यानिं अणसर आदरी पुहुता श्री गुरु जी सुरपुरी। २१२
हवइ निसुणो आगलि अवदात जे जेणी परि हूई वात,
तास पटोधर श्री गुरु हीर पाटिं बयठा साहस धीर। २१३
उदयवंत अधिको अतिघणुं अतुल पुण्य जगमांहिं तेह तणुं,
सुरसाषिं जयविमल मुणिंद आचारजि पद दीधुं आणंद। २१४

[कुछ अंश उद्धृत]

॥ इति बीजो अधिकारः ॥

तृतीय खंड

राम कृष्ण रास

[पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक]

राससहस्र पदी

नरसी मेहता

(पंद्रहवीं शताब्दी)

परिचय—

नरसिंह मेहता का जन्म वि० १४६६—७१ के मध्य माना जाता है। शोध के आधार पर यही मत अभी तक प्रामाणिक समझा जाता है। इनके पिता का नाम कृष्ण दामोदर, पितामह का नाम विष्णुदास, माता का दयाकोर और भ्राता का वंशीधर था। नरसिंह मेहता के एक काका (चाचा) का नाम पर्वतदास था जो बड़े ही विष्णु-भक्त थे। उन्होंने भक्ति संबंधी अनेक पदों की रचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि बालक नरसिंह को अपने काका के संपर्क में रहने से काव्यरचना में रुचि उत्पन्न हुई और भक्ति-भावना से उनका हृदय क्रमशः प्लावित होने लगा।

ग्यारहवें वर्ष की अवस्था में नरसिंह मेहता का विवाह हो गया। नरसिंह मेहता ८ वर्ष की अवस्था से संत साधुओं की टोली में स्त्री का वेश बनाकर नाचा करते थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाल्यकाल से ही साधु महात्माओं के संपर्क में रहने की इसकी रुचि बन गई थी।

तपश्चर्या

नरसिंह ने १७ वर्ष की अवस्था में चैत्र सुदी सप्तमी सोमवार को तपश्चर्या प्रारंभ की। कहा जाता है कि महादेव जी ने प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिया। तदुपरांत इन्होंने द्वारका जी में कृष्ण जी की उपासना की और इस तथ्य को भक्तों के संमुख बलपूर्वक रखा कि उमापति रमापति में कोई भेद नहीं।

संतसाधु-मंडलियों में रासलीला के समय नरसिंह स्त्री-वेश धारण कर लीला किया करते थे। इस प्रकार रासलीला के प्रति इनका मन प्रारंभ से ही आकर्षित था। सत्रहवें वर्ष की अवस्था से इनका मन भक्तिभाव से पूर्ण रीति से भरने लगा और कीर्तन में ये प्रायः निमग्न रहते थे। इनकी वाणी में

माधुर्य और भाषा में सरलता और सरसता थी। भक्ति और ज्ञान के समन्वय से इनकी रचना आकर्षक बन गई। इन्होंने अनेक काव्यों की रचना की। इनमें प्रसिद्ध है—हारमाला, सामलदास नो विवाह, सुरत संग्राम, चातुरी षोडषी, रास सहस्रपदी, शृंगार माला आदि।

रास सहस्रपदी के कतिपय पद यहाँ उद्धृत किए जाते हैं। इन पदों में घटनाक्रम श्रीमद्भागवत के अनुसार नहीं प्राप्त होता।

[सारांश]

कोकिला कंठी, हृदय पर हार धारण करने वाली, गोरी श्यामली गोपियाँ कुंडलाकार में खड़ी हो मध्य में श्री कृष्ण को अवस्थित कर वृंदावन में नृत्य कर रही हैं। दूसरे पद में राधा और कृष्ण का ऐसा नृत्य दिखाया गया है जिसका श्रमजल दोनों के शरीर को शोभायमान कर रहा है। अनेक पदों में कृष्ण और गोपियों के स्वरूप और उनके आभूषणों की शोभा का वर्णन है। कृष्ण की मुरली-ध्वनि का अत्यंत मनोहारी वर्णन मिलता है। झांझ के झमकने का विस्तार के साथ वर्णन है। जिस प्रकार सूर ने कृष्ण के मुरलीवादन का अनेक पदों में वर्णन किया है, उसी प्रकार नरसी मेहता ने आठवें पद से लेकर २३ वें पद तक केवल कृष्ण के झाँझ झमकने का वर्णन किया है। झाँझरियाँ झमकते, झाँझर झमके, झाँझरिया ने झमके रे, झाँझरीया झमकानी, झाँझर ने झमके, झाँझरियाँ झमकार करे, झाँझर ने नादे रे, झाँझरीयाँ झमकावती, झाँझरीयाँ झमके रे, झाँझरीयाँ ने झमकोरे—इतने रूपों में अनेक पदों में झाँझ-ध्वनि का वर्णन है।

नवयुवती राधा के सौंदर्य का वर्णन बड़ा ही मनोहारी है। यद्यपि कृष्ण के मिलन और वियोग—दोनों दशाओं—का विशद वर्णन इन रास पदों में विद्यमान है, किंतु अपेक्षा कृत मिलन वर्णन विशेष मात्रा में है। पद १०४ में विविध गोपियों की विविध क्रियाओं की ओर संकेत पाया जाता है। कोई कृष्ण के सम्मुख खड़ी होकर उनकी शोभा निहार रही है, दूसरी ताली बजाकर कृष्ण के मुख पर कुंकुम मल रही है। कतिपय पदों में अनंग की पीड़ा का वर्णन है। पद १०६ में कृष्ण के नवरस नाटक का वर्णन मिलता है। "नवरस नाटक नाच रच्यौ", इस तथ्य का प्रमाण है कि उस काल की भक्त जनता रासलीला को नवरस नाटक ही समझती थी। पद १११ में राधा-कृष्ण की क्रीड़ा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—"दोनों के नेत्र एक दूसरे से मिले हुए हैं। प्रेम से एक की भुजा दूसरे पर पड़ी है। कटि प्रदेश

में मेखला की किंकणी ध्वनित हो रही है। कृष्ण मधुर स्वर में गा रहे हैं। आलिंगन दोनों को आनंद विभोर बना रहा है। दोनों रसमग्न की स्थिति में शोभायमान हो रहे हैं।"

हम पूर्व कह आए हैं कि रास सहस्र-पदी में घटना क्रम का ध्यान नहीं रखा गया है। सभी पद मुक्तक हैं। कवि-मन में जब जो भाव आया उसी को सरस पदों में बाँधने का उसने प्रयास किया। रास का वर्णन करने के उपरांत पुनः पद ११७ में कृष्ण की वेणुध्वनि से गोपियों के मोहित होने का वर्णन मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेणुध्वनि के प्रभाव को नए नए रागों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का लक्ष्य कवि के सामने रहा है। वाद्य ध्वनि से साम्य रखने वाले शब्दों की बार बार आवृत्ति पाई जाती है नन नन, गणण गणणण, रमझम, रमझम, झमझम झमझम, ठमठम ठमठम, धमधम धमधम, आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।

नरसी मेहता का काव्य सौष्ठव काव्य प्रेमियों से छिपा नहीं है। रससिक्त शब्दों का उपयुक्त चयन, संगीत से समन्वित पद, अलंकारों की मनोहर छटा काव्य को पद पद पर मनोहारी बनाती चलती है। लक्षणा और व्यंजना के कारण पदों में स्थान-स्थान पर काव्यगत चमत्कार दिखाई पड़ता है।

———

रास सहस्र पदी

नरसिंह मेहता कृत

[१५ वीं शताब्दी]

पद १ लुं-राग मलहार

कामनी सर्व टोले मली, मांडयो वंद्रावन रास;
बावना चंदन छांटणां, रमे माधव पास । १

रासक्रीडा रमे माननी, गूण गाए गोविंद;
कोकीला कंठे स्वर करे, स्थिर थई रह्यो चंद । २

काछ वाल्या सर्व कामनी, सोहे सकल शणगार;
हार हैयाना लेहेकतां, झांझरना झमकार । ३

पलवटवाली पटोलडी, गोरी शामली नारी;
कुंडलाकार करी रही, मध्ये आरया मोरारी । ४

त्रिभुवन चरणे चालतां, थाय द्रमद्रमकार;[1]
पगतणा प्रहार वाजी रह्या, कोय न लहे पार । ५

शब्द कोय केना शुणे नहीं, बोले जुजवी वाणी;
रोहीणी पति रहे स्थिर, खटमासी रात्री वेहाणी । ६

ब्रह्म शारदा आदे थई, देवो जोवेछे रंग;
नाद निरघोष वाजी रह्या, ताली ताल मृदंग । ७

मुनि जन मन विमासी रह्या, धन धन कृष्णावतार;
नरसैंयाचा स्वामि जुगमे, प्रगटीया ते निरधार । ८

१—धमधमकार

पद २ जुं

वंद्रावनमां माननी, मध्ये मोहन राजे;
कंठे परस्पर बाहुडली, धून नेपूर वाजे। १

एक एक आगे आलापती, एक नाचती रंगे;
एक मधुरे स्वर गाइने, ताल आपे रंगे। २

एक आलिंगन लई उर धरे, भीडे भामनी भावे;
श्रमजल वदने झलकतां, शामा शाम सोहावे। ३

मरकलडां करीने कृष्णने, भला भाव जणावे,
थै थै थै करे प्रेमे, उरना हार हुलावे। ४

कामी कृष्ण त्यां संचरे, नाद निगमनो थाय;
मंडल मांहे मलपतां, वहालो वांसली वाय। ५

हार कुसुमना पहेर्या,
चुवा चंदन चरर्चायां, बाध्यो प्रेम रसाल। ६

ताली देतां तारुणी, झांझरनो झमकार ;
कटि किंकणी रणझणे, घुघरीना घमकार। ७

धनरे धन ए सुंदरी, धन शामलवान ;
नरसैंयो त्यां दीवी धरी रह्यो, करे हरिनुं गान। ८

पद ३ जुं

लीला मांहे ललवतो, कृष्ण कामनीने संगे ;
वंद्रावन मांहे मलपंतो, बाध्यो महारस रंगे। १

मनमथे मान मुकावीयुं, करी रमण रसाल ;
नाचंतां नेह झड लागी रही, गाय गोपी गोपाल। २

प्रेमदा पियुने अंग मली, करे प्रेम रसपान ;
वहालाने वहाले रीझव्यो, मुकी मनथकी मान। ३

करसुं करग्रही कामनी, करे कृष्ण शुं वात ;
आनंद अंगे उलट्यो, रमे नवी नवी भात। ४

जे जे शब्द सुरी नर करे, वरसे कुसुम अपार ;
नरसैंयो सुखी लेहेरमां, ज्यां करे कृष्ण विहार। ५

पद ४ थुं

वंद्रावनमां विठ्ठलो, वाहे वेण रसाल ;
तेम तेम तारुणी स्वर करे, ताली मेलवे ताल। १
रासमंडल मध्ये महावजी, झलके मुगट अपार ;
एक एकने कंठे बाहुडी, नाचे नेह भरी नार। २
उर पर चोली चलकती, सोहे जुजवी भात ;
चीरने चरणा चुंदडी, रमे माझम रात। ३
चतुरां चंपकवेलना, गुंथे प्रेमसुं हार ;
मरकलो करीने मानुनी, आरोपे नंद कुमार। ४
अंगो अंगे भली रही, वारे.........
तनमन प्राणरूप कीधां वहाले, पूजवां शामसुजाण। ५
फरेरे भमरी प्रबल प्रेमदा, घमके घुघरी पाय ;
उर पर हार शोहे घणा, उलट अंग न माय।
जेहना यनमां जे वदे, पुरे तेनी आश ;
माननी मोहन रंगे रमे, धन धन आसु मास। ७
धन धन आ अवतार भलुं, धन धन गोकुल नार ;
नरसैंया चा स्वामि धन तमो, धन धन ए विहार। ८

पद ५ मुं

शरद सोहामणों चांदलो रे, ने सोहामणी नार रे ;
केलि करंती कृष्णसुं, करे थै थै कार रे। १
एक आगल आवी करी, करे सन्मुख शानरे ;
रस मांहे रीझवे नाथने, मेले तारुणी तानरे। २
अंबर अंगे झलकतां, भामनी नेणे नेह जणावे रे:
भमरी देतां भामनी, शिश मुगट शोहावे रे। ३
मरकतां मनसुं करे, देतां अन्योन्य ताली रे ;
प्रेमदाने प्रेम अति उलट्यो, कृष्ण वदन निहाली रे। ४
ताल म्रदंग धून अति घणी, उलट्यो अंबर गाजे रे ;
गान करीने जगगतीए, झीणां झांझर वाजे रे। ५

धन रे रमत रस चढ़ी, वाध्यो अती आनंद रे ;
मांहो मांहे मलपतां, वचमां गोपी गोविंद रे । ६

धन धन लीला कृष्णानी, जोतां हैये हर्ष न माय रे ;
.... । ७

ब्रह्मा इंद्र आनंदे दइ, कहे धन्य नारी ने नाथ रे :
नरसैंयाने करुणा करी, ग्रह्यो कृष्णजीये हाथ रे । ८

पद ६ ठुं

प्रेम प्रबल शुं प्रेमदा, करे कृष्ण शुं केल रे :
वृंद्रावन रलीयामणुं, वाधी रंगनी रेल रे । १

रणझण रणझण रणझणे, द्रमके पगतणा प्रहार रे ;
नाचंतां नाचंतां नारने, वाध्यो हर्ष अपार रे । २

सोल कला शशीयर थयो, जाणे उघ्यो भाण रे ;
मंडल मांहे माननी गाए, मधुरी मधुरी वाण रे । ३

हलवे आवी कृष्णने, अबला उरपर दावे रे ;
कंठे वलगी कामनी, अंतर कांइ न राखे रे । ४

पूरण प्रीत पाम्यां सौ, सुंदरी ने शाम रे ;
मन गमतो रही महालतो, कीधो पूरण काम रे । ५

भामणां लईने नाथनां, जोबनमाती नार रे ;
नेणे नेण मेलावीने, अरपे कुसुमना हार रे । ६

वेंधाणी वंश वाजतां, शुद्ध न रही अंग रे ;
महारस मांहे झीलतां, गोपी ने गोविंद रे । ७

.... ;
नरसैंयो नेणे निहाली, करतो गोविंद गान रे । ८

पद ७ मुं—राग गोडी

छानी केम रहुं, वन वेणुं वाजे ;
सांभलतां अंगे, अनंग जागे । १

काननां कुंडल, पाउले वाली ;
व्रेहनी वेधी, गोपी वन चाली। २

व्रेह नीछराए, विठ्ठलो पामी ;
भक्तवत्सल मल्यो, नरसैंचो स्वामी। ३

पद ८ मुं—राग सामेरी

झांझरी झमकंते, शामा झणगटडो वाले रे ;
करकलडेशुं मान धरीने, नारी नाथ निहाले रे।
सेजहीए रंग रमतां रामा, वहालाने वशाकीधो रे ;
सुरत संग्रामे सन्मुख थइने, आनंदे ऊर लीधो र। २

विविध विलास करंती कामा कंठे बाहुलडी वाली रे;
नरसैंयाचा स्वामिचे संगम, मेहेलो अंतर टाली रे। ३

पद ९ मुं०

झंझरीयां झमकते, लटकते बाहुडी लोडे रे;
सान करीने सन्मुख शामा, शणगटडो संकोडे रे। १

बात करीने वहाला साथे, लटके देती ताली रे;
हलवेशुं लइ उरपर आणे, कंठे बाहुलडी वाली रे। २

मनगमतुं महाले मोहनशुं, माननी मानने वारी रे;
नरसैंया चो स्वामी रीझवीयो, सुंदर सेज समारी रे ३

पद १० मुं०

झांझर झमके ने खलके चुडी, वहालाशुं रमता रे;
पीन पयोधर उरपर राखी; अधर अमृतरसपीतां रे। १

नलवट टीली ने झाला झबुके, नेणे काजल सांयुं रे;
मारो वहालो सामुं जुवे, तन मन उपर वारुं रे। २

मा जम रेणी महारस मांहे, वहालो वादे चढीया रे;
नरसैंयाचो स्वामि मनमोहन, महारी सेजे शोहीया रे। ३

पद ११ मुं०

झांझर झमके ताली देतां, शामलीयाने संगे रे;
मरकलडोकरी वदन निहाले, उलट वाध्यों अंगे रे। १

सकल सणगार थयो मनगमतो, वहालो प्रेमे जोवेरे;
मलपं तो हिंडे मंदिरमां, तेम तेम मनडुं मोहेरे। २

में वहालाने सरवस सोंप्युं, अवर न जाणुं कांइ रे;
नरसैंयाचो स्वामी सन्मुख, वहाले लीधुं सांई रे। ३

पद १२ मुं०

झांझरीयां झमकते पियुने, तारुणी ताली देती रे;
मरकलडो करी मोह मचकोडे, माननी मान धरेती रे। १

सेज समारी शामलीयाशुं, भावे भामनी भावे रे;
वहाला केरुं वदन निहाली, नारी नेण नचावे रे। २

महारस झीले प्रेमदा प्रेमे, शणगटडो संकोडे रे;
भणे नरसैंयो सांइडुं लेवा, हलवे आलस मोडे रे। ३

पद १३ मुं०

झांझरीयां ने झमके रे, ठमके नेपूरीयां वाजे रे,
शामलियाने संगम रमतां; माननी मच्छर छाजे रे। १

लटके बाहु लो, डावे, रामा, हंस तणी गत चाले रे;
मोही रही सुंदर वर जोतां, मदभरी माननी महाले रे। २

राखडली झलकती दीसे, गोफणले घुघरडी घमके रे;
भणे नरसैंयो नलवट टीली, काने झाल झबुके रे। ३

पद १४ मुं०

झांझरीयां जमकाकी कामा, कंठे बाहुडली वाली रे;
अधर अमृतरसपान करंतां, उरनो अंतर टाली रे। १

माननी माती पियु रंग राती, आनंदे अंग ओपे रे,
मगन थइ मोहननी साथे, शामा सरवस सोंपे रे। २

उलट्यो अंग अनंग अति भारी, सारी पेरे सुख लीधुं रे;
नरसैंयाचो स्वामि भोगवतां, काज कामनी सिध्युं रे। ३

पद १५ मुं०

झांझरीयां झमकावती, गोरी गजगति चाले रे;
मरकलडो करी वहाला सन्मुख, शणगटडो वाले रे। १
जडीत्र विशाल जालीआली, काने झाल झलकती रे;
भामनी भाव धरीने पियुशुं, चंचल नेणे जोती रे; २
लीलांबर सोहे अंग अबला, मांहे चंपावरणी चोली रे;
नरसैंयाचो स्वामी उर पर लीधो, कंठे बाहुडली वाली रे। ३

पद १६ मुं०

झांझरीयांने झमकेरे, शामा सेजडीए आवेरे;
नेपुरीयांने रणके ठमके, लटके बाहुलो'डावेरे। १
शिरपर सोहे राखलडी, जाणे पुत्र पनोतीरे;
नेणे नेण समार्यां शामा, नाके अनोपम मोतीरे। २
हलवे आवी उरपर लीधो, कामनीकंठ विलागीरे;
नरसैंयाचा स्वामिचा संग रमतां, नेणे नेट झड लागीरे। ३

पद १७ मुं०

झांझरने झमके झणके, तारुणी ताली देतीरे;
आनंद वाध्यो अबला अंगे, शामलीयो उर धरतीरे। १
प्रेम धरी पातलीया साथे, रेणी रसमां रमतीरे;
वहाला केरुं वदन निहाली, मरकलडे मन हरतीरे। २
चंचल नेणे चितडुं चोरी, सेजे रमतां जीतीरे;
नरसैंयाचा स्वामिचे संगम, रजनी रंग भर वीतीरे। ३

पद १८ मुं०

झांझरीयां झमकार करे, रे वीछुडा वागे वादे रे;
बाहुडी केरां कंकण खलके, बोलंती भर नादे रे। १

राखलडी रत्नमे ओपे, बेणी विशाली ढलके रे,
आछु अंबर शिरपर ओढी, शेष नाग जेम सलके रे। २

हंसागमनी हंसगति चाले, चर्ण तले चीर चांपे रे;
उरमंडल पर अबला सोहे, मुनीजननां मन कांपे रे। ३

सकल शणगार सोहे शामाने, शामतणे रंग राती रे;
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा, निशा अेकलडी जाती रे। ४

पद १६ मुं०

झांझरने नादे रे, नारी, नरवरनी चाले रे;
आलस मोडे अंग संकोडे, ते अंबोडो वाले रे। १

प्रेम घणो पुरुषोत्तमशुं, मलवा शामलनी सेजे रे;
सकल शणगार करीने, आवी सांइडां लेती रे। २

रमतां रमतां अतिरस वाध्यो, करतां अधर रस पान रे;
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, तजोने अभिमान रे। १

पद २० मुं०

झांझरीयां झमकावती, आवे सेजडीए रमवा रे;
शामलीयाशुं स्नेह घणो ते, अधर अमृत रस पीवा रे। १

जोबन माती मधुरुं गाती, नेपुरीयां ठमकावे रे;
मुख अभिमान धरे मृगानेणी वहालाने मनभावे रे, २

पीन पयोधर कशण कशीने, हलवे आलिंगनलेती रे;
नरसैंया चा स्वामि संगम रमतां, मरकलडे मन हरती रे। ३

पद २१ मुं०

झांझरीयां झमके रे, गोरी गजगती चाले रे;
मान घणुं मन मांहे धरी ने, जइ सहीयर मांहे महाले रे। १

जडीत्र विशाल जालीआली, झाल झबुके कान रे;
शामलीयाशुं संगम करवा, मुख धरती अभिमान रे। २

पितांबर पटोली पहेरी, मांहे चंपावरणी चोली रे,
नरसैंया चा स्वामिने मलवा, चाली भम्म भोली रे। ३

पद २२ मुं०

झांझरीया ने झमके, अबला आलिंगन लेती रे;
उरपर राखी रहे वहालो, नेणे नेण मेलंती रे। १
हास्य करे हलवेशुं बोले, पियुने प्रेम जणावे रे,
सेजडीये शामलीया साथे, रमतां रुडी भावे रे। २
शान करीने शणगट वाले, मरकलडे मन मोहे रे;
वहाला कंठे बाहु धरीने, दरपण मोँहे जोयेरे। ३
वहालाशुं विलसंती शामा, रेणी रसमां माती रे;
नरसैंयाचा स्वामिचे संगम, अधर अमृत रस पाती रे। ४

पद २३ मुं०

झांझरीयांनो झमकोरे, शोहे शामलीयाने संगे रे;
माजम रेणी अमृत वेणी, उलट वाध्यो अंगे रे। १
कसकसती कांचलडी उज र, लटके मुक्तांहार रे;
निलांबर ओपे अबलाने, शोभतो शणगार रे। २
प्रेम धरी भुज भरी भामनि, वहाले सेचडीये सुख आप्युं रे;
नरसैंयाचा स्वामि संगम रमतां, शामाये सरवस साप्युं रे। ३

पद २४ मुं०

एहवी नारी ने भोगवी जेने, हे झांझरनो झमकार रे।
कस्तूरी काजलशुं भेली, मांह अंजन नो अधिकार रे। १
वीछीडा वाजे ने नेहे आवे, नेपुरनी झण वाजे रे;
केशपाश कुसुमे अति गुंथी, पुष्प झरंती चाले रे। २
नेणे नेह जणावे, सकल शिरोमणी भावे रे;
नरसयाचा स्वामिचे संगम, रमे मीट नमावे रे। ३

पद २५ मुं०

त्राजुडे त्रिभुवन मोह्या, मुनिवर मोटा रे;
रूप स्वरूप कल्युं नव जाये, जाणे ईश्वरी माया रे। १

निलवट कुंकुम पीयल पीली, मांहे मृगमदनी टीली रे;
आंखलडी अणीयल, पाखलडी लीला लाड घेली रे । २

चंचल नेण चोदश चाले, मांहे मदन चालो रे;
नरसैंया चा स्वामि कहुं तमने, सुंदरी वदन निहालो रे । ३

पद २६ मुं०

मुख जोतां अभीमान धरीने, शणगटडो वाले रे;
अडपडीयाली आंखडली रे, कुच उपर पालव हाले रे । १

मुख तंबोले भर्यां अति शोहे, कटीकोमलता भावे रे;
पितांबर पहेरी ने चाले, इंद्रासन डोलावे रे । २

मुनिजनकेरां मान छंडावे, सेजे सुरंगी भावे रे;
नरसैंयाचा स्वामिने मलवा, हसती संगम आवे रे । ३

पद २७ मुं०

चमकंती चालेरे चतुरां, झांझरनो झमकार रे;
कामनी काम भरी भुज भीडे, संगम नंदकुमार रे । १

मलराली महाले मोहनशुं, भजतां भाव जणावे रे;
मरकलडेशुं मोह मचकोडी, नारी नेण नचावे रे । २

सेजडीए शामलीयो पामी, वामी वेदना भारी रे;
नरसैंयाचो स्वामि रेणी सघली, राख्यो उरपर धारी रे । ३

पद २८ मुं०

चंपावरणी चोली चतुरां, नवरंगी काली रे;
मरकलडो करी मोहनसाथे, तारुणी देती ताली रे । १

सानकरी शामलीया सन्मुख, अबला उरपर लेती रे;
अधर अमृत रस पीय करीने, भामनी भुज भरी भेटी रे । २

सुंदर स्नेह संगम आव्यो, भावे रङ्ग भरी रमतां रे;
नरसैंयाचो स्वामि भले मलीयो, सुख पामी सांइडुं लेतां रे । ३

पद २६ मुं०

शामलीया कर कंठ धरीने, वनिता विलसे रे:
वंद्रावनमां जुवती, जीवन जोडुं सुंदर दीसे रे। १
क्षणुंएक वहालो वेण वजाडे, क्षणुंएक मधुरुं गायरे:
शामा साथे स्नेह धरीने, भीडे हृदया मांहे रे। २
भोग करे भोगी भूतलमां, नहीं कोई एने तोले रे:
भणे नरसैंयो धन धन लीला, निगम निरंतर खेले रे। ३

पद ३० मुं०

मरकलडे मोहीरे सखी, हुं मारगडे जातां रे;
शामलीये महारो पालव, झाल्यो भावे भीडतां रे। १
दीसंतो नानडीयो सुंदर, क्षणुं जोबनमां थामे रे:
माननीयां ने मोह पमाडे, मधुरुं मधुरुं गाये रे। २
मनमां जाणुं ए वहाला शुं, निशदिन रङ्ग भरी रमीये रे,
नरसैंयाचो स्वामी उरपर राखुं, क्षणुं अलगो नव टलीये रे। ३

पद ३१ मुं०

नेण सोहागी शामलीयो, हुंने प्रेमधरी बोलावे रे;
हलवेशुं आलिंगन लेतां, नेणे नेह जणावे रे। १
कंठे बाहुलडी वाली वहालो, हुं साथे परवरीया रे;
वाली वाली वदन निहालुं, आनंदे उर धरीया रे। २
विविध विलास कीध महारे, वहाले वृंद्रावन मोझार रे:
भणे नरसैंयो ए रसलीला, जाणे व्रजनी नार रे। ३

पद ३२ मुं०

ते दहाडो धन सखीरे मोरी, शामलीयो आवे रे;
रंगभर रमतां सजनी, नवलो नेह जणावे रे। १
मनगमतो शणगार करीने, पहेरी पटोली सार रे;
जेम जेम रीझे तेम तेम महालुं, संगम नंदकुमार रे। २

क्षणुं आंगणे क्षणुं मंदिर मांहे, पियुजी विना न सोहाय रे:
नरसैंयाचा स्वामी शु ं रमतां, नर दुर्लभ ते मारे वश थाय रे। ३

पद ३३ मुं०

प्रेम धरी शणगार करुं रे, शामलीयाने भावे रे;
पहेरी पटोली चोली चलके, वहालो उरपर धरावे रे। १
भरजोबनमां कामघेहेली; मोहन मलवा जाती रे;
मारगडे मरकलडो करीने, दरपण मांहे जोती रे। २
सन्मुख आवे सुंदर वरने, हशी कर दीधी ताली रे;
नरसैंयाचो स्वामि नेणे निरखी, कंठे वाहुडली वाली रे। ३

पद ३४ मुं०

रुसणलां रमतां लीजे, ते रुडेरां भावे रे;
पियुशु ं प्रेम घणोरे बेहनी मनमथ मान छंडावे रे। १
ताणाताण न कीजे वहालाशुं, मन डलकतुं करीये रे:
अंतरथी अलगुं नव कीजे, एणीपेरे रंगभर रमीये रे। २
आलिंगन लीजे रे बाहुं, जेम वहालो मन रीझे रे;
नरसैंयाचा स्वामीशु ं रमतां, माननी मान न कीजे रे। ३

पद ३५ मुं०

शामलीया शु ं ताली देतां, झांझरीवां झमके रे;
हलवेशुं आलिंगन आपुं, बाहुलडीने लटके रे। १
नीलांबर चोली अती चलके, माहे नानाविध भातरे;
रसमां रातो महारो वहालो, रमतां रसाली वात रे। २
हुं महारा वहालाजी साथे, मान निवारी महाली रे,
भणे नरसैंयो मरकलडे शु ं, कंठे वाहुडली वाली रे। ३

पद ३६ मुं०

उरपर चोली चलकती, मांहे पहेरण पटोली सार रे;
सुंदरवरने संगम आपी, शोभंतो शणगार रे। १
नाके मोती निर्मलां सोहे, नेणे काजल सारुं रे;
वहाला साथे वात करंतां, मोही रह्यु ं मन महारुं रे। २

कुच उपर कर वाही वहालो, आप मुखशुं भलीयो रे;
भणे नरसैंयो महारो मनोरथ, वहाले पूरण करीयो रे। ३

पद ३७ मुं०

पेर प्रीछी पातलीया तहारी, नेण निहाली चाले रे;
हुं एकलडी मारग मांहे, उर भरशुं निहाले रे। १
पीन पयोधर ग्रेहतां, मारे नारंगडे नख लागे रे;
नणदी महारी खरी अदेखी, साचो उत्तर मागेरे। २
आलिंगन तो आपुं महारा वहाला, जो अमशुं अंतर टालो रे;
नरसैंयाचा स्वामी महारा उरपर, निशदिन आवी महालो रे। ३

पद ३८ मुं०

ओरडीयाली देखीने वहाले आशकडो कीधो रे;
मुखे मरकलडो करीने वहाले, अधरतणो रस पीधो रे। १
एकवार मंदरथी जातां वहाले, करग्रही पालव ताण्यो रे;
आलिंगन लीधुं महारे वहाले, सेज सुरङ्गी माण्यो रे। २
सर्व अंगे सुख पामी बाइ रे, हृदयाभ्यंतर लीधी रे;
नरसैंयाचो स्वामी भले मलीयो, आप सरीखडी कीधी रे। ३

पद ३९ मुं०

आज सखी शामलीये, मुजशुं सान करीने जोयुं;
मारगडे मरकडो कीधो त्यां, महारुं मन मोह्युं। १
सही समाणि साथे हुंती, तहेमां हुंने बोलावी;
वंद्रावनमां प्रेम धरी वहाले, सांइडुं लीधुं आवी। २
दुरिजन सघलां अढक बोले, ए तो एमज करती;
भणे नरसैंयो लवतां मेहेली, कृष्णतणे रंग रमती। ३

पद ४० मुं०

घुंघटडामां गर्व घहेली, मरकलडो करती;
शामलीयाने संगम रमवा, नाना भाव धरती। १
गोफणले घुघरडी घमके, राखलडी रतनाली;
नलवट टीली ने नेण समायां, दरपण मांहे नीहाली।

शामलीयानी सेजे आवे, रमझम करती रामा;
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, केल करंती कामा। ३

पद ४१ मुं०

घुंघटडो वाली गोरीने, सोहे संगम रमतां;
शामलीया शुं स्नेह धरंती, शामा संगम रमतां। १
कसकसती कांचलली उरपर, लटके नवरस हार;
नीलांबर पहेर्युं मनगमतुं, सकल करुंस णगार। २
चतुरां चित्त चतुरवर चरणे, विनय करी विलसती;
नरसैंयाचा स्वामी शुं रमतां, रजनी रंगे वीती। ३

पद ४२ मुं०

घुंघटडो गजगमनि वाले, झांझरने झमके;
वहालाने वश करती शामा, टीलडीने टमके। १
मोतीए मांग भरावी मनगमती, आंजी आंख अणीआली;
वहाला साथे वहाल धरीने, कंठे बाहुडली वाली। २
मन तणा मनोरथ पुरीया, प्रेमे पियुजी पामी;
नरसैंयाचो स्वामि रङ्गे रमीयो, त्रेडु वेदना वामी। ३

पद ४३ मुं०

वांसलडी वाहीरे वहाले, मारगडे जातां;
अंगोअंगे विंधाणी हुं, मरकलडो करतां। १
आघो आवी शामलीये, महारी लटके बाहुडी झाली;
महीनी गोली धरणे ढोली, कंठे बाहुडली वाली। २
अधर अमरत रसपान करतां, अंगो अंगे भलीयो;
भणे नरसैंयो महारस माहे, आवी अढलक ढलियो। ३

पद ४४ मुं०

आवी अढलक ढलीयो जोनी, मोहन मारग माहे;
महारे प्राण जीवन धन वहालो, राख्या हृदया माहे। १

मंदीरमां पधरावो प्रेमे, मोतीए चोक पुरावुं;
दीवडीओ अजवाली पुरुं, मंगल गान करावुं। २

धन धन रेणी आजनी म्हारे, नंद कुंवर शुं रमतां;
भणे नरसैंयो धन आ जोबन, वहालाशुं अनुभवतां। ३

पद ४५ मुं०

अनुभव शुं अमे अंतर टाली, शामलीयाने सेजे;
हलवेशुं हुं उरपर राखी, सांइडां लेशुं हेते। १

नलवट टीली ने नाके केशर, झाल झबुके काने;
सकल शणगार करी अंग आपुं, संगम शामलवाने। २

वहाला साथे वात करतां, मनमां मोद न माय;
नरसैंयाचा स्वामि मुखदीठे, जोतां तृप्त न थाय। ३

पद ४६ मुं०

नेण भरी भरी जोतां वहालो, रीझवशुं रसमाहे;
मरकलडो करी वहाला साथे, मोही रही मन माहे। १

सेज समारुं कुसुम लइने, प्रेमल पूरण आणुं;
वहाला साथे वहाल धरीने, रेणी रङ्ग भरी माणुं। २

मन गमतो हुं मचको करीने, दरपण मांहे जोऊं;
भणे नरसैंयो भ्रगुटी भावे, वहालानुं मन मोहुं। ३

पद ४७ मुं०

भ्रगुटी भाव करीने वहालो, महारा उरपर राखुं;
सर्वस सोंपी शामलीयाने, विनय वचन मुख भाखुं। १

अंतरगतनी जाणे वहालो, प्रेम होय तो आवे;
नेण नेण निहाली वहालो, माननी मान छंडावे। २

एक थई आलिंगन लेतां, वहालो अंतर ताप समावे;
भणे नरसैंयो संगम स्वादे, अण तेड्यो घर आवे। ३

पद ४८ मुं०

अण तेड्यो आवे मारो वहालो, मशमशती उर धारुं रे;
भामणलां लउं भाव धरीने, मनथी मान निवारुं रे। १

नीली पटोली अंगे महारे, चोली चंपावरणी रे;
सुंदर वरने कंठे वलगुं, रसमां जाओ रेणी रे। २

भोगीने भोगवतां रङ्ग वाध्यो, सेज सुरंगी सोहे रे;
भणे नरसैंयो शामलीयो, ते महालंतो मन मोहे रे। ३

पद ४९ मुं०

मोही रही मंदिरमां महाले, शामलीयो सुकुमार रे;
प्रेम धरी उर मांहे आणुं, महारो प्राण आधार रे। १

रेणी रङ्ग भरी भोगवतां, करती अमृत पान रे;
नेणे नेणां नेह झड लागी, कंठे विलागी कहान रे। २

सुखनी सीमा शामलीयो, महारो, भुजवले भीडी रहीएरे;
नरसयाचा स्वामिशुं रमतां, सही सपराणां थैए रे। ३

पद ५० मुं०

सपराणी कीधी रे वहाले, सैयरने देखंतां रे;
ताली देतां चितडुं लागुं, मोही रही मुख जोतां रे। १

कर उपर कर धरी मारो वहालो, वंद्रावन परवरीयो रे;
हास्ये करीने शामलीयांने, में महारे उर धरीयो रे। २

रङ्ग भर रमतां रमतां वहालो, मुख उपर मुख करतां रे;
भणे नरसैंयो महारो मोहन, दर्पण मांहे जोतां रे। ३

पद ५१ मुं०

दरपण मांहे जोइ महारे वहाले, मुख मरकलडो कीधो रे;
कंठ विलागी कहानजीने, अधर अमृत रस पीधो रे। १

मन गम तुंमहालुं मोहनशुं, टाली अंतर उरनो रे;
हुं सोहागण कीधी महारे वहाले, पूर्यो मनोरथ मननो रे। २

शां शां सुख कहुं शामलीयानां, प्रगट्यो प्रेम अपार रे;
भणे नरसैंयो धन आ जोबन, धन महारो शणगार रे। ३

पद ५२ मुं०

शणगारे सोहंती रे हुं, शामलीयाने संगे रे;
नेणे नेण मेलावी वहालो, भीड्यो अंगो अंगे रे। १

चोली बंध कसशी कशी, पहेरी नीली पटोली रे;
अधर अमृत रस पीवा कारण, कंठे बाहुलडी वाली रे। २

सारी पेठे सुंदरवर साथे, सांइडां देती भावुं रे;
नरसैंयाचा स्वामीचे संगम, नानाभाव जणावुं रे। ३

पद ५३ मुं० राग मालव

आ जोनी आ केनुं पगलुं, पगले पद्म तणुं एंधाण;
पगलां पासे बीजुं पगलुं, तेरे सोहागण नौतम जाण। आ जोनी० १
पूरण भाग्य ते जुवती केरुं, जे गइ वहालाने संगे;
एकलडी अधर रस पीशे, रजनी ते रमशे रङ्गे। आ जोनी० २
अडवडती आखडती चाले, देह दशा गई भूली;
निश्चे हरि आव्या आ वनमां, जो जो कमोदनी फुली। आ जोनी० ३
पूछे कुंज लताद्रुमवेली, क्यांइ दीठो नंदकुमार;
वृक्षतणी शाखा फुली रही, अभिषेक कीधो निरधार। आ जोनी० ४
नयणे नीर ने पंथ निहाले, कान काम मुख बोले बाल;
चाली चतुरां सख मलीने, वनमां खोले नंदनोलाल। आ जोनी० ५
जोतां जोतां वनमां आव्यां, दीठी एक साहेली;
धूतारानां लक्षण जो जो, गयो एकलडी मेली। आ जोनी० ६
न दीठा नाथ गोपी पाछां आव्यां, जल जमुनाने नीर;
बाल लीला कीधी ते वारे, प्रगट्या हलदर वीर। आ जोनी० ७
रास आरंभ्यो सर्व शामा मली, सुरी नर जे जे कीधो;
गोपीमां हुं तो नरसैंयो, प्रेम सुधारस पीधो। आ जोनी० ८

पद ५४ मुं० राग रामकली अथवा पंथीडो

पंथडो निहालती रे, जोती पीतांबर पगलां;
मदन रस घेलडी रे, भरती लडसडतां डगलां। पंथडो० १

चतुरां चालती रे, जाणे वन आठी हरणी;
शुध बुद्ध वीसरी रे, वहाला ते तारी करणी। पंथडो० २

शामा शामने रे, हींडे मारगडे जोती;
नेणे नीर झरे रे, चतुरां चीर वडे लहोती। पंथडो० ३

शामा सहु मली रे, कीधो एक विचार;
चालो सखी त्यां जइए रे, ज्यां रमता नंदकुमार। पंथडो० ४

चाल्यां चाल्यां त्यां गयां रे, आव्यां जमुनाजीने तीर;
आ आंही हरी बेसतारे, जमता करमलडो खीर। पंथडो० ५

आ आंही वहाता वांसली रे, गोपी सहुको गातां गीत;
ते केम वीसरे रे, वहाला पूरव जनमनी प्रीत। पंथडो० ६

पुछी युं द्रुमनेरे, क्यांइ मारा नाथतणो उपदेश;
अम तजी गयो रे, धूरत धावली आलो वेश। पंथडो० ७

जतने जाळव्युं रे, जोवन भुदर भेट करेश;
जो हरी नहीं मले रे, महारा पापी प्राण तजेश। पंथडो० ८

आणे आणे मारगडे रे, आव्यां लखचोराशी वार;
मनखा देह भलोरे, जेणे पाम्यां नंदकुमार। पंथडो० ९

सरोवर पुछ्युं रे, क्यांइ नट नागर केरी भाल;
नरसैंयाचा स्वामि मल्यो रे, दीनोनाथ दयाल। पंथडो० १०

पद ५५ मुं० प्रभात

कोण रस उलट्यो, तीर जमुना अठे,
वाजां वाजे बहु जुथे;
बांहे कंठे धरी, गाय प्रेमे करी,
मेलवतां नेणने, मान राचे। कोण० १

कोहोने को नव लहे, नाथने उर ग्रहे,
अधरामृत रस पान करतां;
सरवने श्यामलो, सम्मुख शोभतो,
अलव शुं अंगना, रुदया धरतां, कोण०। २

रमण रस आठर्यो वनमांहे ;
नरसैंयो नीरखतां, रंग रस मग्न थयो,
कृष्ण लीलातणा गुण गाए, कोण० । ३

पद ५६ मुं० रागमाल कालेरो गोडी

भावेरे भामणडां लेती, आनंद सागर शामलियोरे ;
लटके एहने हुं लोभाणी, प्राणजीवन ए नानडीयोरे । १

मरकलडो करी सामुं जोयुं, मने मोह पमाडेरे:
अंगोअंगे आनंद वाधो, जम जम रुदया भीडेरे । २

केम करी अलगां थाये, (एथी) मोहन मनमां बेठोरे ;
भणे नरसैंयो अत्तर सहुथी, लाग्यो हुं ने मीठोरे । ३

पद ५७ मुं० राग आशावरी ।

भावेरे जमतां महारो वहालो, रङ्ग रेल रस वाधोरे ;
कंठे विलागी कहानजीने, अधर अमृतरस पीधोरे । १

भुज बवे भाव धरीने, अबलशुं अँग आपीरे :
संगम रमतां शामली याने, सर्व सहि हुं सांपीरे । २

कंद्रप कोट सरीखो दीशे, दीशंतो नहानडीयोरे:
भणे नरसैंयो प्रेम पूजतां, बलियामांहे बलीयोरे । ३

पद ५८ मुं०

भावे भजता मनोरथ सीझ्यो, अंतर कंद्रप कोट सरीखो सुंदर:
मोही रही कृष्ण कृष्ण मुख जोतां, प्रगट परमेश्वर भावे भेट करंतां १

रीझवीया सेजडीये शांमां, वहालाने वश कीधो:
भणे नरसैंयो रजनी सघली, जोबनलो लाले हरी लीधो । २

पद ५९ मुं० राग मालव

भुज बल भरती भरती भामनी, करती, अधर रस पान रे;
ताल दइ दइ नाचे नादे, सन्मुख करती सान रे । १

वाल्यो काछ कसी, कामनी मूरत सोहे, नेपूरनी धुमी थाये रे;
घुघरडीने घमके गोरी, गर्व भरी गोपी गाये रे । २

करशुं नेण नेण शुं सुंदर, रसे रमे सुंदर वरने शामा रे;
भणे नरसैंयो रस रंग भकुले, वहालो महाले वनमां रे। ३

पद ६० मुं०

भोगवीए भामणडां लेइ, सेजडीये शामलियो रे;
मान तजीने उरपे लीजे, प्रेमे शुं पातलियो रे। १

अंतर टालीने अनुभवीये, तो वहालो वश थाये रे;
सारी पेठे शणगार करीने, लीजीए रुदीया मांहे रे। २

सुंदर वर शुं सांइडुं देइने, एक थइने रहीये रे;
नरसैंयाचा स्वामी शुं रमतां, वात रसाली कहीए रे। ३

पद ६१ मुं० राग मल्हार

लीला मांहे टलवल्यो, कृष्ण कामिनीने संगे रे;
वृन्दावनमां मलपंतो, वाधो (ध्यो) महारस रंगे रे। १

मनमथे मान मूकावीउं, करी रमण रसाल रे;
नाचंता नेह जड लागी रही, गाए गोपी गोवाल रे। २

प्रेमदा पीइने अंग मली, करे प्रेम रस पान रे;
वहाला ने वहालें रीझ्यो, मूकी मन थकी मान रे। ३

करशुं करग्रही कामनी, करे कृष्ण शुं वात रे;
आनंद अंगे उलट्यो, रमे नवी नवी भातरे। ४

जय जय शब्द सुरीनर करे, वरसे कुसुम अपार रे;
नरसैंयो सुख लहेर मांहे, ज्यां करे कृष्ण विहार रे। ५

पद ६२ मुं०

लडसडती लहेका करे रे, मोरलीए मन हरती रे;
नयणे नीर वहे नेह जणावे, चंचल नयणे जोती रे। १

सुंदरी सदा सुकोमल दीसे, मेदनी धमकती चाले रे;
डगले डगले देही नमावे, कामी जनने साले रे। २

मारगडे मरकलडो करती, सेज सलुणी भावे रे;
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा, इसती संगम आवे रे। ३

पद ६३ मुं०

लहलकीने लटके चाले, मुख मधुरुं मधुरुं बोले रे;
अनेक सुंदरी सुंदरी दीसे, पण नहीं कोय एहने तोले रे। १

सकल शणगार कीधा मन गमता, नाके बेसर सोहे रे;
नाना भाव धरीने जोये, मुनीजननां मन मोहे रे। २

झांझर झमके ने हार हुलावे, काने झाल झबुके रे;
नरसैंयाचा स्वामीने वहाली, ते क्षणुं अलगी न मुंकेरे। ३

पद ६४ मुं०

साहेलडीने सान करीने, वहालो वृन्दावन चाल्यो रे;
जूगता जूगतुं जोडी दीपेने, वाहले हार हैं यानो घाल्यो रे। १

रास मंडल रच्यो राधावर, पीतांबर पलवट वाली रे;
धन धन कामनी हृदया भीडे, मध्य रह्यो वनमाली रे। २

गोपी मांहे गोप वधू आवे, केशव कोणे न कलाणो रे;
धूजी धरा प्रहारे अतिकंपी, भोमी भार भराणो रे। ३

अति आनंदे उलट आपतां, मांहे मदननो चालो रे;
नरसैंयाचो स्वामी भले मल्यो, ए उपवाद थी टालो रे। ४

पद ६५ मुं० राग धनाश्री

उरवच हेत जणावीयुं, मारो वहालोजी मलशे आज;
करशुं ते दलडानी, वातडी, हसी हसी लोपशुं लाज। १

मचको ते मांडीने हिंडशुं, तहां मोहशे मारो नाथ;
नाके नकवेसर शोभतुं, अलते रङ्गशुं हाथ। २

नीली पटोली पहेरण मांहे, नाना विधनी भात;
ब्रह्मादिकने स्वप्ने दुर्लभ, ते शुं रमशुं ते सघली रात। ३

सांइडां ते लेशुं हसी हसी ने, करशुं ते रंग विलास;
नरसैंयाचो स्वामी मले, पहोती ते मनडानी आश। ४

पद ६६ मुं० राग आशावरी

भजशुं रे अमे भाव धरीने, सेजडीए शामलीयो रे;
अम हृदया सरसो भीडी राखुं, प्रेमधरी पातलीयो रे। १

सैयर सघली देखतां हुं, सफराणी थाउं रे;
महारा रे मोहन शुं रमवा, रमझम करती जाउं रे। २

महारो वहालो छे अति रसीयो, मोहन मीटडी मांहेरे;
भणे नरसैंयो अंतस न लावे, जम वांसलडी वाहेरे। ३

पद ६७ मुं०

भजती रे भामनी वाहले, वाहलो वाहले भजतो रे;
एक एक ने आलिंगन आपी, शामा मांहे शोहंतो रे। १

कृष्ण कामनी क्रीडा करतां, उलट अंगे न माये रे;
प्रगटी प्रीत परस्पर जल मांहे, मोही रही मन मांहे रे। २

तृप्त न पामे हरी शुं रमतां, मुखडुं निहाली निहाली रे;
नरसैंयाचो स्वामी आनंदो, आनंदी अबला बाली रे। ३

पद ६८ मुं० राग सामेरी

थैइ थैइकार करेछे कामा, वृंदावन मोझार रे;
ताल मृदंग वेणा वंस वाजे, नेपुरनो झमकार रे। थैइ० १

मधुरुं गान करंती गोपी, गोविंदजीने संगे रे;
भुज उपर भुज धरी परस्पर, नृत्य करे अति रंगे रे। थैइ० २

आनंद सागर लहेरी झकोले, मगन थई सहु नारी रे;
नरसैंयाचा स्वामी संग रमतां, देहदशा विसारी रे। थैइ० ३

पद ६६ मुं० राग मालव

दिवटीओरे दिवटीओ, नरसैंयो हरिनो दिवटी ओ;
पूर्व प्रीत धरी मन मांहे, तो रसना ए रस भरीओ। नरसैंयो० १

जूवती जूथ जोवन रंगराती, मंडलमां महालती रे;
एक नाचे एक तान मेलावे, मधुरुं मधुरुं गाती रे। नरसैंयो० २

मनगमतुं भोगवतां भामनी, करे नेणना चाला रे;
नरसैंयानुं पुरुषपणुं रे, जाण्युं गयुं तेणी वेला रे। नरसैंयो० ३

पद ७० मुं०

दीठडो नाथ में तो बाईरे, राख्यो रुदीया मांहेरे;
एणे अमशुं कुड करीने, वाह्या वृंदावन मांहेरे। १

रमतां रमतां महारस वाध्यो, कीधुं अंतर ध्यान रे;
व्याकुल थइ अये कांइ नव सुभे, रही नही सुद्ध बुद्ध शान रे। २

अनेक उपाय करीकरी थाकां, नाथ न दीठो नयणे रे;
अमे अबला बल कांइ नव चाले, काह्‍न काह्‍न कहुं वयणे रे। ३

पूरण प्रीत धरी मनमांहे, आव्या अंतरयामी रे;
नरसैंयाना स्वामी रस पूरण, जुवती प्राणने पामी रे। ४

पद ७१ मुं०

घूंघटडो गोरीनो, सोहे संगम रमंती रे;
वहालाने वश करवा कारण, शामा सान करंती रे। १

शामलीया शुं स्नेह धरंती, ते शामा करे शृंगार रे;
कसमसती कांसलडी उपर, लटके नवरस हार रे। २

नीलांबर पहेयुं मनगमतुं, सकल कीधा शृंगार रे;
नरसैंयाचो स्वामी भले मलीयो, रङ्गे कीधो विहार रे। ३

पद ७२ मुं०

थैइ थैइ करे, अगणित अंगना, गोपी गोपी प्रत्येशोहे कहान;
भांभर नेपुर कटीतणी कींकणी, ताल मृदंग रस एक तान। थैइ० १

नाचतां नाचतां छेल छंदे भर्यो, सप्त स्वर धुनते गगन चाली;
लटकेलटका करे, नाथने उरधरे, परस्पर बांहोडी कंठघाली। थैइ० २

प्रगट भावे भजे, पुरण पुरुषोत्तम, जेहनुं महामुनि धरतां ध्यान;
भणे नरसैंया विहाररस विस्तर्यो, गोविंद गोपीमलीकरतांगान। थै० ३

पद ७३ मुं०

आनंद भरी आलिंगन लेती शामली यो ते सरवस गोपी;
रेणी रंगभर रमतां, शामलीया रंगराती। १

प्रेम धरी प्राणजीवन ने, वालि वालि उर पर लेती;
आनंद उलटो अंग न मायो, जम जम वहालो सामुंजोवै;
भणे नरसैंयो सुखनी सीमा, माननीनुं मन मोहे। २

पद ७४ मुं०

दीपकडो लइश मा रे चांदलिया, स्थिर थै रहेजे आज;
वाहलोजी विलस्यो हुं साथे, लोपी सघली लाज। १

सोंप्युं अंग शामलिया साथे, करवा केलि विलास;
रखे ज्योत तुं झांखी करतो, पीउडे मांड्युं हास। २

अनेक उपाय करी करी वाहलो, आणो मंदिर मांहे;
नरसैंयाचो स्वामी कहुं तुजने, रखे क्षणुं अलगो तुं थाये। ३

पद ७५ मुं०

वृन्दावन मांहे विलसे वीनता, मधुरुं मधुरुं गाय रे;
कंठ परस्पर बांहोलडीने, श्यामा सम सोहाय रे। वृन्दा० १

अधर अमृत रस पान करी ने वहाले भीडी अंगे रे;
आलिंघन चुंबन परिरंभन, वाध्यो रतिरस रंगे रे। वृन्दा० २

छेल पणे छे, छोछ न भाले, मुख मरकलडो करती रे;
भोली भामनी कांइ न समझे, मोहन संगे रमती रे। वृन्दा० ३

चपलपणुं चतुरानुं देखी, रह्यो नाथ निहाली रे;
भणे नरसैंयो सुख सागरमां, झीले अबला बाली रे। ४

पद ७६ मुं०

वृन्दावनमां रमत मांडी, गोपी गोविंद साथे रे:
हास्य विनोद परस्पर करतां, ताली देछे हाथे रे। १

पीतांबर पटोली पेहरी, कंठे एकावल हार रे;
वींछीडाने ठमके चाले, झांझरना झमकार रे। २

सोल सहस्र गोपी ने माधव, एक एक वीचमां नाचे रे;
अमर आशिष देत्यां उभा, चरण रेणने जाचे रे। ३

नाना जात पटोली पेहरी, चोली सुंदर दीसे रे:
मोहन मस्तक मुगट वीराजे, जोइ जोइ ने मनडां हीसे रे। ४

शीरपर सोहे राखलडी रे, काने कुंडल झलके रे;
खेल रच्यो राधावर रमतां, मुनि जननां मन दलके रे। ५

धन धन कृष्ण लीला अवतर्या, पुष्प वृष्टि त्यां थाय रे:
ईश कृपाथी उभोनरसैंयो, लेवा दीवेटीओ पसाय रे। ६

पद ७७ मुं० राग मालव

वृन्दावनमां रच्यो रे अखाडो, नाचे गोपीने गोवाल;
ताल पखाज रबाब वांसली, तान मेलावे नंदनोलाल। १

सुंदर रात शरद पुनमनी, सुंदर उदियो नभ में चंद;
सुंदर गोपी कंचन माला, वच्चे मरकत मणि गोविंद। २

झलके कुंडल राखडीआं रे, ललके उर मोती माला:
रमझम रमझम नेपुर वाजे, मरकलडा करती बाला। ३

हरख्या त्यां सुरी नर मुनीजन, पुष्प वधावे भरी पखरियो;
जय जयदेव जशोदानंदन, नरसैंयो त्यां दीवटीयो। ४

पद ७८ मुं०

वृंदावन मांहे रमत मांडी, गोपी गोविंद साथे रे:
पीतांबरनी पलवत वाली, शामा साही हाथे रे। वृं० १

झांझर झमके ने घुघरी घमके, नेपुरनो झमकार रे;
एक एक गोपी वीच वीच माधव, आनंद वाध्यो अपार रे। वृं० २

मोहन मुस्तक मुगट बीराजे, ते जोतां मन मोहे रे;
गोरी शीर राखलडी झलके, काने कुंडल सोहे रे। वृं० ३
खेल मच्यो राधावर रुडो, उलट अंगे न माय रे;
धन धन कृष्णलीला रस प्रगट्यो, पुष्प वृष्टि त्यां थायरे। वृं० ४
अमर आशीश दे उपरथी, चरण रेणने जाचे रे;
नाना भात विलास जो ईने, मन मांहे अति राचे रे। वृं० ५
सुरिनर मुनि मन मांहे विचारे, पार न पाये कोय रे;
उमीया इश कृपा थी उभो, नरसैंयो रंग जोय रे। वृं० ६

पद ७९ मुं० राग मालव

वृन्दावनमां माननी मोहन, रंगभर रसमां रमतां रे;
कंठे परस्पर बाहुलडी घाली, अधर सुधारस पीतां रे। १
शामलियाने सन्मुख शामा, थेइ थेइ गान ओचरतां रे;
वाजां वाजे नादे नाचे, गमतां गान करंतां रे २
काने कुंडल मुगट महामणि, शोभा कही न आवे रे;
भणे नरसैंयो आनंधो हरि, भामनी मांहे भावे रे। ३

पद ८० मुं०

वाणी बले बोले बलवंत वाली, रस मांहे रढीयाली रे;
शामलीयाना रंग माहे राती, कंठे बाहुलडी घाली रे। १
जोबन मातीज मलतां जुवती, जीवनने अनुभवती रे;
सुंदरवरनुं वदन सुकोमल, चहान पामे जोती रे। २
शामलीयो ने शामा संगे, भीलतां नव नंदाय रे;
नरसैंयाचो स्वामी भोगवे त्यां, फूल्यां अंगे न माय रे। ३

पद ८१ मुं०

वाटडी जोडं नाथ नाइली, संगम रमवा माटे जात में वाली रे; व०
पहेलुं अमशुं प्रीतकरीने, तोशुं मेलो विसारी रे। व०
मननी वात ते कोने कहीए, अमने वेदना भारी रे। व०
आगे अमने बपैडो सारे, अमे अवला केम रहीए। व०
नरसैंयाचो स्वामी विना बाई रे, धीरज केटलुं धरीए रे। व०

पद ८२ मुं० राग सोमेरी

वाजे वाजे नेपुरियांनों, झमको रे वाजे,
मदमाति नार न लाजे, एने सकल शणगार छाजे;
एने मदन महा भड गाजे, नेपुरियानो रमको ने झमकोरे। वाजे०
कोण सोहागण सांचरी रे, आणी बेला अर्धरात रे;
नेपुरियांने रमके ने झमके, चालती मदन संगातेरे। नेपु० १
पूरण पुन्या ते तारुणी तणा रे, जे सेजे सुंदरवर पामी रे;
अनंगतणुं अभिमान उतार्युं, सो नरसैंयाचो स्वामी रे। नेपु० २

पद ८३ मुं०–राग केदारो

वागी बन वांसली, नाथे अधर धरी, प्रगटीआ नारनो नेह जाणी,
अबला आनंदशुं, अंग फुली रही, धनधन नाथ एम वदत वाणी। वागी० १
ज्येम शशी सगनमां वींट्यो चांद्रणी, त्यमहरि वींटायो सकल गोपी,
वलीवली वारणे,जाय जुवती, जन, तनमन धन साहु रह्या सोंपी। वागी २
काछवाली सुभग कृष्ण को डामणो, सजथया सबल ते संग श्याम,
नरसैंयानाथे सनाथ करी सुंदरी,मलीमली विलसती कृष्ण कामा। वागी० ३

पद ८४ मुं०

वहालोजी आलिंगन सरखो, नयण भरी भरी निरखो,
जोई जोई मन हरखो वालोजी० १
सकल विश्व शिखंतां बाईरे, मूख उपरे मूख मुकीउं लाला,
ए ए विषया अमे कांइ नव जाणुं, कहो सखी अमृत कोणे पीउला, वालो० २
जहां जीनुं तहां स्नेह समजाशो, अमने अलगो मेलो,
नरसैंयाचा स्वामीजाशे योवना, अणतेड्यो आवे वहालो, वालोजी० ३

पद ८५ मुं०

वहाल धरीने वहाला साथे, रंगमां रमती रेणीरे,
प्रेम धरीने पातलियाशुं, बोले अमृत वेणीरे। १
ताल पखाज ने वाजां विधविध, जाणे अंबर गाजेरे,
शामलियो ने शामा नाचे, वांसलडी मधुरी वाजेरे। २

एक एकने आलिंगन आपे, वाहले भुजवले भीडीरे,
भणे नरसैंयो धन ए लीला, धन ए जुवती जोडीरे। ३

पद ८६ मुं० राग मलहार

वृंदावनमां माननी, मध्ये मोहन राजे,
कंठे परस्पर बाहडी, धून नेपूर वाजे। १

एक एक आगें आलोपती, एक नाचती रंगे,
एक मधुरे स्वर गाईने, ताली ताल तुरंगे। २

एक आलिंगन लई उरधरी, भीडे भामनी भावे,
श्रमजल वदने झलकतां, शामा शाम सोहावे। ३

मरकलडा करी कृष्णने, भला भाव जणावे,
थै थै थै करे बलियो, ऊरना हार हुलावे। ४

काला कृष्ण त्यां संचर्यां, नाद निर्घोष थाये,
मंडप मांहे मलपतां, वाहलो वांसली वाहे। ५

हार कुसुमना अतिघणा, कंठ आरोपे हार नार,
चूआ चंदन चरचीआं, बाध्यो प्रेम रसाल। ६

ताली देतां तारुणी, झांझरनो झमकार,
करी रह्यो किंकणी रणझणे, घुघरी घमकार। ७

धनरे धन ए सुंदरी, धन शामलवान,
नरसैंयो त्यां दीवी धरी रह्यो, करे हरिनुं गान। ८

पद ८७ मुं० राग सामेरी

वृंदावनमां नाचे नरहरि, राधाशुं परवरीओरे,
पीतांबरनी कालनी काछे, मोर मुगट शिरधरीओरे। वृं० १

पीतांबरनी पटोली पहेरी, कंठे मोतीनो हाररे;
कटी मेखला सोहे सहुने, घुघरीनो घमकाररे। वृं० २

झांझर नेपूर खलके कांबी, कंठे परस्पर हाथरे,
वारंवार मुख चुम्बन दीसे, आलिंगे गोपीनाथरे। वृं० ३

ताल परवाज वेणा रस महुवर, विधविध वाजां वाजेरे,
थै थैकार करे त्यां उभा, नादे अंबर गाजेरे। वृं० ४

प्रेम धरीने पालव ताणे, हरिशुं हास्य करंतीरे,
नलवट टीलीने नयन समायाँ, नाके अनोपम मोतीरे। वृं ५

नार नीर्घोष उलट अति वाध्यो, पुष्प वृष्टि त्यां थायेरे,
लोट पोट त्यां थयो नरसैंयो, शंभुजी तेणे वसायरे। वृं० ६

पद ८८ मुं०

वदन सोहामणां, शामशामा तणां रास रमत रमे वन मांहे;
नाथ वाथे भरे, अधर चुंबन करे, प्रगटीयुं प्रेम सुख कह्यु न जाये। वदन० १

चरणने प्रहारे धरणी भ्रम भमी रही, घुघराना घमकारा थाये;
तता थेइ थेइ करे, ताल तरुणी धरे, मदन भरी माननीगीत गाए। वदन० २

श्रमजल बिंदु ने, सुभग अंबर शीर, कंचुकी बंध ते शीथल सोहे;
भणे नरसैंयो, रंग रस उलट्यो, ऊपर कुसुमची वृष्टि होए। वदन० ३

पद ८९ मुं०

आज अजुआलडुं, परम सोहामणुं, रंग भर्यो नाथ रंग रास रमतो;
कंठ बांहे धरी, स्वर करे सुंदरी, मध रह्यो मोहन गान करतो। आ० १

कटी पकरी करी प्रवल भमरी करे, करतले कामनी ग्रही रे काहने;
जाणे शशी प्रगट, शीर, शोभती लटक वाजतां नेपुर कलां (?) शब्द
ताने। आ० २

मदभरी माननी, वीलसती जामनी, भुजभरी नाथ ने बाथ भरतां।
वदन निरखी रह्यां, प्रेमे आतुरक्ष्यां, अधर अमृत रस पान करतां। आ० ३

सबल शामा संग शोभतो शामलो, कुचवच राखीयो बांहे भीडी;
नरसैंयो नाथ, रस रेलमां, झीलतो, अतिघणी शोभती जुगल जोडी।
आज० ४

पद ९१ मुं०

आज वृंदावन आनंद सागर, शामलीयो रंग रास रमे;
नटवर वेशे वेण वजाडे, गोपीने मन गोवालो गमे। आज० १

एक एक गोपी साथे माधव, कर ग्रही मंडली माहे भमे;
ताता थै थाथै तान मिलावे, राग रागणी मांहे घूमे। आज० २

सोल कलानो शशीएर, उडगण सहित ब्रह्मांड भमे;
धीर समीरे जमना तीरे, त्रिविध तनना ताप समे। ३

हरख्या सुरनर देव मुनीश्वर, पुष्प वृष्टि करी चरणे नमे,
भणे नरसैंयो धन्य वृजनारी, एने काजे गोपी देह दमे। आज० ४

पद ६२ मुं०

आज वहाले सुरतसमे प्रीत मांडी, क्षणुंए न थाये अलगो छांडी रे स०
धन धन आजनी रजनी बाइ रे, रमतां न जाणी जाती रे,
प्रेम धरीने कंठे विलस्यो, उर उपर लीधी ताणी रे। स०
विविधे विलास कीधो माहरे वाहले, अमृतनी परे पीधी रे,
नरसैंयाच्या स्वामीशुं रमता, मगनमती वात की धीरे। स० आ०

पद ६३ मुं० राव माल कालेरो गोडी

आज सोहागण कीधी माहरे वाहले, महारा उरपर धरता रे,
शुं करशे नणदी नसकारी, दुरीजन हींडे लवता रे। १
शोभंता शणगार करीने, चोली उपर चलकती रे,
प्रेम धरीने पियुजी अंगे, भुजबल भीडी मलती रे। २
रीझवीओ सुंदरवर महारो, रमी रेणी रसमां रंग रे,
भणे नरसैंया प्रीत बंधाणी, शामलिया ने संगे रे।

पद ६४ मुं० राग मालव

मंडलमां माहलंतो वाहलो, नाचे नारी संगे रे;
तेम तेम वाजां वादे वाजे, वेण वगाडे उमंगे रे। १

एक आलापे एक दे ताली, एक लइ ताल वजाडे रे;
एक मरकलडां करी कामनी, भजतां भाव देखाडे रे। २

जूवती जूथज मल्यो सोहे, लीलाए तरवरीओ रे;
भणे नरसैंयो धन धन वनमां, प्रेमदा शुं परवरीओ रे।

पद ६५ मुं० राग धनाश्री

प्रेमदा प्रेम भराणी रे, पीउने विलशे वाहल संगे रे;
वाहले वाहलो अवियो, भीडो अंगो अंगे रे। १

दर्पण कर कामनि ने, सारे, कंठे विलागी कहान रे;
प्रेमे शुं शामलिया ने, खवरावे खांते पान रे। २

वाली वाली करे वारणा, घहाली कंठे हार रे;
नेणे नेणां रस भर्यां, हैये हर्ख अपार रे। ३

उरशुं उर भीडी रही, सेजडीए वाध्यो रंग रे;
नरसैंयाचा स्वामी सु रमंता, फुली अंगो अंग रे।

पद ९६ मुं० राग अरगजो

षोडश चहने सोहे, पगलांने खोले रे;
अजवाली राते गोपी, जेम दहाडे धोले रे। षो० १
त्रेहनी विधाणी गोपी, मली टोले टोले रे;
कृष्णहुं, कृष्णहुं, कृष्णहुं तन्मय थै बोले रे। षो० २
कोइ उभी वांसली वाजे, गाई गाई डोले रे;
को कहे में काली नाग नाथ्यो, पर्वत ने तोवे रे। षो० ३
कोइ तो दान मिषेथी, महीनां माट ढोले रे;
प्रेम प्रेम मग्न थई, रंग रस रोले रे। षो० ४
कृष्ण तो छलीने बेठो, हृदयाने ओले रे;
प्रगट्यो नरसैंयानो नाथ, रीझी भाव भोले रे। षो० ५

पद ९७ मुं० राग मालव

प्रेमे प्रेमदा पीउनी संगे, हरखे हास्य करती रे;
मरकलडो देखीने मोती, हलवे उर पर धरती रे। १
कृष्ण कामनी जेम जेम नाचे, वाजा वाजे भारी रे;
त्रिभुवन मां धुनी सांचली, गांधर्वनी गति हारी रे। २
जय जय सुरी नर मुनीजन बोले, सुध वीनता अंग भूली रे;
कृष्ण कृपाथी नरसैंयो त्यां, लीला मां रह्यो झूली रे। ३

पद ९८ मुं०

परुं रे जोउं तो पीउजी, पंथ आडो थाये रे,
मन घणुं करी राखीये, माहरां नयणां जाये रे १
सुंदर वदन दीठा पछी, कोणे न रहेवाये रे,
शोभा शाम तरंगमां, नयणा गोता खाये रे। २

नयणां चूतां पाछा वल्या, घुंघट न सोहाये रे,
नरसंयो लहेर समुद्रमां, नर कोइक नाहे रे। ३

पद ९९ मुं०

मान करे पातलीया साथे, आनंद अंगे वाधो रे:
केलकरे कामानिओ कोके, शामलियो वश कीधो रे।
मन गमतो माणे मोहनने, आव्या जुमना तीर रे,
वाली वाली करे वारणा, उपर शाम शरीर रे। २

सकल शणगार करीने, अंगे, पहेर्या नौतम चीर रे,
भणे नरसैंयो मदगल मातो, बलभद्र केरो वीर रे। ३

पद १०० मुं०

मारो वहालोजी वगाडे रुडी वांसलडी, कहोजी केम रहीये:
हु तो भूली पडी वनमांह, एकलडा केम रहीये। मारो० १

मने घरमां घडी न सोहाय, ढुंढुं सारी कुंज गली:
मने मल्योरे नरसैंयानो नाथ, रमाडया रासवली। मारो० २

पद १०१ मुं०

प्राणनो प्राण ते, आज मुजने मल्यो, तेणे करी मारे रुदे वर्ध वाधे:
पीयुतणी सेजते, कुसुम सुत्रे रचि, नवी नवी भातनो संग साधे० १

नेणे अंजनकरी, नरसैंया श्रीहरि, प्रेमेशुं आवीने सांइ लीधुं:
अधुर चुंबन करी, कुच पर करधरी, स्नेहसु शामले गुह्य कीधुं० २

धन धन आजनी, रातडी कृष्णजी, साथे रमी गोपी लाज राखी:
नरसैंयाच्या स्वामी, धनाए वश आणियो, शुंकरे सासुडी अधिक कोपी ३

पद १०२ जुं०

प्राणजीवन महारे हुंयामां, ढोल ददामां वाहुरे:
मंदिर महारे मोहन हालंतो, देखी भामणे जाउंरे। प्राण० १

सइयर सघली आवो मंदिर, नंदकुंवरने हालोरे:
घणा दिवसनी आरत हुंती, अंगे तमारे टालोरे। प्राण० २

सुखनी सीमा शी कहुंहुं, वहाले सहामुं जोयेरे;
नेण भरी नीरखुं उभी, त्यां म्हारुं मन मोहेरे । प्राण० ३

मुगता फलना हार करीने, वहाला कंठे घालुंरे;
सकल शणगार करी शामलियाने, मारे मंदिर महालुंरे । प्राण० ४

मुक्ताफलना तोरण बंधावुं, कुसुमे नाथ वधावुंरे;
भणे नरसैंया मनमां फुली, मंगलगान करावुंरे । प्राण० ५

पद १०३ जुं

पहोंचे हैये हींमतवान, प्रीत होये जो घाटीरे;
नंदकुंवरसुं रंगभरी रमतां, लज्जा मेहेलो लोपीरे । पहोंचे० १

शामलीयासु साइडुं लीजे, तनमन उरपर वारीरे;
शणगार सकल करीने अंगे, राखुं उरपर धारीरे । पहोंचे० २

तो वहालो वश थाये बहेनी, कुटुंब कलहने टालोरे;
भणे नरसैंयो नीरभे थइने, वहाला साथे महालोरे । पहोंचे० ३

पद १०४ थुं—राग मारु

अमने रास रमाड वहाला, मधुरो वंस वजाड वहाला;
थै थै नाच नचाड वहाला, वैकुंठथी वृंदावन रुडुं,
ते अमने देखाड वहाला । टेक०

जादव जमुनां कांठडेरे, वाओ वेण रसाल;
नादनी मोही गोपीका तेणे, रोता मेल्या बाल, वहाला । अमने० १

एक अंजन करती चाली रे, वसन कर्या परिधान;
अवलां त अम्बर पहेरियां, नेपुरीयां घाल्यां कान वहाला, अमने० २

सन्मुख जइ उभी रही रे, नयणे नीरख्या नाथ,
तन मन धन सह सोंपीयां, गोपी हरिशुं जोड्या हाथ वहाला अमने० ३

वृंदा ते वन रलीआमणुं रे, शरद पुनमनी रात,
ललित त्रिभंगी शोभा बनी, त्यां दीसे नवली जात । वहाला अमने० ४

एक हरिसु ताली देय रे, बीजी कुंकुंम रोल,
हरि राधा ज्यां रास रमे, त्यां झा झा नाद झकोल । वहाला अमने० ५

शीखे गाय ने सांभले रे, हरि राधानो रास,
ते नर वैकुंठ पामशे, एम कहे नरसैंयो दास । वहाला अमने० ६

पद १०५ मुं

अधर अमृत रस चाखुं रदया भीतर भीडीने राखुं रे, टेक ।
अंग अनंग व्याप्यो रे सजनी, पीउ विना कोण समावे,
अलज थई हुं पीउ मुख जोवा, प्रेम धरी घरे आवे रे । रदया० १

अबलानी आरत जाणी महा रे वहाले, हसता हसता आव्या,
नरसैयाचा स्वामी मन मनाव्युं, भामनीने मन भाव्या रे । रदया० २

पद १०६ ठ्ठुं

ओ बाजे वृंदावन मोरली, गोविंद गोपी रास रमे,
केशव श्याम गौर वरण गोपी, भली अनोपम भात भजे । ओ वाजे० १
अजवाली रात झघारे जाए, नवरस नाटक नाथ रच्यो,
थेई थेईकार करे रसे गोपी, रंगतणो त्यां अखाडो मच्यो । ओ वाजे० २

शणगटडे द्वे फुमत फरके वली नयणा कटाक्ष कर खंध धरी,
ताली दई दई हसे हसावे, नाचे नचावे रङ्ग भरी । ओ वाजे० ३

श्रमजलकण मुख अंग अलसणां, अतिरस सार विनोदक्ष्यो,
शीतल जल लईने आरोग्या चरण तलासे नरसैं यो । ओ वाजे० ४

पद १०७ मुं

अंग नमावे आनंद वाध्यो, बोले जयजयकार रे,
प्रेमे भराणी पालव ताणे, पामी प्राण आधार रे । अंग० १

सुंदरवर शामलीया साथे, तारुणी देती ताली रे,
अलवेशु आलिंगन आपी, वश कीधा वनमाली रे । अंग० २

रमतां रमतां महारस वाध्यो, प्रेमदा छांटे पाणी रे,
नरसैंयाचो स्वामी रीझव्यो, बोली मधुरी वाणी रे । अंग० ३

पद० १०८ मुं राग-सामेरी

आंणी वाटडीए गया वनमाली रे, बाई मारी वहेनडीआं,
कोणे दीठडो होय तो देखाडो रे, सखी साहेलडीआं १

मेहेरामण न दीठडे जाए प्राण रे, बाई मारी वहेनडीआं,
एने पाओले पद्म ऐधाणरे, सखी साहेलीआं टेक । २

वृंदावन मांहे रास रमतां, चत्रुभुजे चक्ष मीचावी रे,
अंतरध्यान थया धरणीधर, गयो वीठल मुने वाही रे। बाई० ३
गोपी कहे गीरी तरुवर जाइशुं, सज थाओ व्रीज नारी रे,
गुणनिधान गिरिधर ने जोईशु, मही स्थल हशे मोरारी रे। बाई० ४
सोल शणगार सजी ने श्यामा, एने नाके ते निरमल मोती रे,
कनक दीवी कर साहीने सुंदरी, एने हींडे वनवन जोती रे। बाई० ५
पुछती हिंडे कल्पद्रुम वेली, तरुअर ताल तमाल रे,
हरिहरि करती नयणे जल भरती, कोणे दीठडो नंदजीनो लाल रे।
बाई० ६
वलवलती विनता देखीने, आवीया अंतर ज्यामी रे,
भले मल्यौ नरसैंयानो स्वामी, गोपी आनंद पामी रे। सखी० ७

पद १०६ मुं०

सोहागण कीधी म्हारे वहाले, मरकलडो करी जोयुं रे,
प्रेमधरीने उरपर लीधी, मारुं मन एणे मोह्युं रे। सो० १
सोव्रण पाट बेसारी वहालो, मोतीए थाल वधावुं रे,
वाली वाली वदन निहाली, आरती अगर उवारुं रे। सो० २
नाना विधनां भोजन भावे, दुध कढैया लावुं रे,
सुंदर साकर मांहे भेलुं (आनंदे) आनंदे आरोगावुं रे। सो० ३
सकल शणगार सजीने अंगे, रमझम करीने आवुं रे,
भणे नरसैंयो सेज समारी, रमतां रुडी भावुं रे। सो० ४

पद ११० मुं०

सजनी स्नेह तो भले अनुभवीए, जो होय वहालाजीशुं साचूं रे,
चतुर होय तो मनमां वीचारे, मूरख बोले ते काचूं रे। स० १
मूदा टलीने जो मुग्धा थइए, तो अनुभव रस आवे रे,
ज्ञान विवेक थकी हरी अलगा, चतुरपणे वश थाये रे। स० २
स्नेह तणी पेर्य कोइक जाणे, सौने अजाणे जाये रे,
नरसैंयाचा स्वामी स्नेहतणो, रस पीतां त्रप्त न थाये रे। स० ३

पद १११ मुं०

सुंदरी शामलीयानी साथे, नयणे नयण मीलावे रे,
भुज उपर भुज धरी प्रेमशुं, नाचंतां मन भावे रे। सुंदरी० १
कटीमेखला कींकण ने नादे, झांझर नेपुर खलके रे,
फरतां फरतां मुकट मनोहर, शीश राखडली झलके रे। सुंदरी० २

मधुर मधुर स्वरे श्यामने गमतुं, गोपी प्रेमे गाये रे;
त्यमत्यम वहालो वेण वजाडे, उलट अंग न माये रे, सुंदरी० ३

आलिंगन आनंदे देतां, शामलीयो ने श्यामा रे,
नरसैंयो रस मग्न थयो, त्यां केलि करंती कामा रे। सुंदरी० ४

पद ११२ मुं०

लाडकडी लडसडती चाले, माग सहुंरे सोहेरे,
पाओले नेपुर रणझण वाजे नवजोवन भरी मोहेरे, लाड० १

नागचोली चर्णा चंपावर्णी, नीलवटे टीलडी झलकेरे,
नाग नगोदर झाल झुलणां, वच्चे मोतीशर ललकेरे। लाड० २

रातावाते ने आडके शरनी, पेरण पटोली लीनीरे,
नरसैंयाचा स्वामीने वहाली, रुदेआ अंतरे लीधीरे। लाड० ३

पद ११३ मुं०

भाव भरे भजता वहालाने, सुखसागर झीलतां रे,
माननी मोहन महारस गाता, अंगोअंगे खीलतां रे। भाव० १

प्रेमदा प्रेम भराणी पीउने, उरमांरे रीझवतांरे,
वारे वारे वहालाजीपे उलटीरे, उरमांरे मीलवतांरे। भाव० २

कंठे परस्पर बाहो डलोरे, क्षणक्षण दर्पण मांहे जोतीरे,
मांहो मांहे मरकलडेसु, अधुर सुधारस पीतीरे। भाव० ३

मान तजीने माण्यो मोहन, उरथी अलगो न करतीरे,
नरसैंयाच्या स्वामीचे संगम, रेणी रंगे वीतीरे भाव० ४

पद ११४ मुं० राग मालव

भावेरे भामनी भोगवतां, शामलियाने संगेरे।
आलापे अबला नारी रे, उमंग वाध्यो अंगे रे। भावे० १

करसु कर, उरसु उर, फरती पलवटडी ते वाली रे,
नेह झड लागी उदार अबला, वश कीधो वनमाली रे, भावे० २

धनधन जूवती धन ए जीवनजी, वृंदावनमां महाले रे,
धन धन नरसैंयो नेण सोहागी, रङ्ग रेल रस निहाले रे। भावे० ३

पद ११५ मुं०

लोचन आलीगारा रे जेणे काढीने लीधा म्हारा प्राण,
एवो रुडो शामलियो सुजाणरे, कांइ कीधुंछे विनाण रे। लो० १
गण चढावीने बाण महेल्युंरे भाग्युं छे अभिमान,
वालावेली तेवारे लागी रे, जेवारे मूजने कीधी सान रे। लो० २
अभे वहुआरुं त्यां नव कह्यु रे, भेद न जाणुं कांइ,
एकवार एकांते मलीनेरे, भीडीने लेशुं सांई रे। लो० ३
जेना मनमां कपट नहिरे, ते जाणें रस भांखी,
भणे नरसैंयो मुक्ति इज निर्मलरे, ते रस जाणे चाखी रे। लो० ४

पद ११६ मुं०

वांसलाडी वाही म्हारे वहाले, मंदिरमां न रहेवाये रे,
व्याकुल थईने वहालाने, जोवा शुंकरुं उपायेरे। वांस० १
जल जमुनानां भरवा जाऊं त्यां शामलियो होये रे,
वदन निहाली हरखुं मनमां, जेम जीवने मुख जोयेरे। वांस० २
शान करीने हुं सांचरुं, पातलीयो पाछल आवेरे,
भणे नरसैंयो भावे वहालो, व्रेहे ताप समावेरे। वांस० ३

पद ११७ मुं० राग मालव

व्रंदा ते वनमां वेण वजाडी, गोपी विह्वल कीधांरे,
वर आप्यो ते वचन पालवा, चित्त हरिने लीधांरे। व्रंदा० १
एक तो अन्न मूकीने उजाणी, बीजी मांग सिंदूर रे,
जूवतीनां जूथ मलीने, चाली साहेर नदी पूर रे। व्रंदा० २
पीतांबर पटोली पहेरी, कंठे अेकावन हार रे,
वींछीडाने ठमके चाली, नेपूरनो झमकार रे। व्रंदा० ३
रत्न जडित राखडी अति रुडी, झाल झबूके कानेरे,
रावा दांत अधरसु ओपे, गोरी गोरे वाने रे। व्रंदा० ४
हरखें आव्यां हरिनी पासे, वृंदावन मोझार रे,
नरसैंयाचा स्वामी मुख दीठे, उलट अंग अपार रे। व्रंदा० ५

पद ११८ मुं० राग सामग्री

बांसली वाहे रे वाहे रे, मधुर गाये कहान,
सप्त सुरने शब्द नानाविध, राग रागणी ने तान। १

इहां तता थइरे, इहां ननंनन नही रे,

इहां मांहो मांहे रे, माननी राखे रंग;
गणण गणणण उपांग वागे, दे ताली वगाडे शंख मृदंग २

इहां रमझम रमझमरे, इहां झांझर झमकेरे;
इहां ठमठम ठमकेरे, इहां वींछीडा चमकेरे। ३

इहां धमधम धमकेरे, कर्म झबूके झाल,
एकने दे आलिंगन, चाले मधुरी चाल। ४

अनिहांरे वृंदावन रास रच्योरे, रास रच्योरे, मरकडा करेवाली,
कोटि कलश शशीअरनी शोभा, उगो अजुआली। ५

अनिहांरे सुरपति मोही रह्या, मोही रह्या, भक्ति थई रह्यां देव विमान,
नृत नाचे रंभा पुष्प वृष्टि होये, जयजय जगत निधान। ६

अनिहांरे रेण अधिक थई अधिक थई, प्रगट न होये भाण,
नरसैंयाचो स्वामी रास रमे, त्यां मुनि जने मेल्यां ध्यान ७

पद ११६ मुं० राग सामेरी

साखी–कुंज भुवन खोजती प्रीतेरे, खोजत मदन गोपाल;
प्राणनाथ पावे नहि तातें, व्याकुल भइ वृजबाल। १

चाल चालता ते व्याकुल भइ व्रजवाला, ढुंढती फिरे श्याम तमाला,

जाय बुझत चंपक जाइ, काहु देखो नंदजी को राइ। २

साखी–पीय संग एकांत रस, विलसत राधा नार;
कंध चडावन को कहो, तातें तजी गयेजु मोरार।

चाल—ताते तजी गयेजु मोरारी, लाल आय संग ते टारी,
त्यां ओर सखी सब आई, क्याइ देख्यो मोहन राइ। ४

में तो मन कीधो मेरी बाई, तातें तजी गये कनाइ। ५

साखी–कृष्ण चरित्र गोपी करे, बील से राधा नार;
एक भई त्यां पूतना, एक भईजु भोपाल लाल,
एक भइ जु गोपाल लालरी, तेणे दुष्ट पूतना मारी। ६

चाल—एक भेख मुकुंद कोकिनो, तेणे तृणावत हरि लीनो,
एक भेख दामोदर धारी, तेणे जमला अर्जुन तारी। ७

साखी—प्रेम प्रीत हरि जीनके आवे उनके पास,
मुदित भई त्यां भामनी, गुण गावे नरसैंयोदास—

पद १२० मुं०

एहवी नारीने भोगवी जेने, झांझरनो झमकार रे,
कस्तुरी काजलसु भेली, मांहे अंजननो अधिकार रे। ए० १
वींछीडा वाजे ने नेह आवे, नेपुरनी झण वाजे रे,
केशपाश कुसुमे अति गुंथी, पुष्प झरंती चाले रे। ए० २
नेणे नेह जणावे सकल शिरोमणी भावे रे,
नरसैंयाचा स्वामी ने संगम, रमे मीट नमावे रे। ए० ३

पद १२१ मुं०

हुं सपराणी कीधीरे, वहाले, सैयरने देखतां रे,
ताली देतां चितडुं लाग्युं, मोही रही मुख जोतां रे। हुं १
कर उपर कर धरी महारो वहालो, वंद्रावन परवरीयो रे,
हास्य करी ने शामलीया ने, में महारे उर धरीयो रे। हुं २
रंगभर रमतां रमतां,वहालो, मुख उपर मुख करतो रे,
भणे नरसैंयो महारो मोहन, दर्पण मांहे जोतो रे। हुं ३

पद १२२ मुं०

अनुभवशुं अमे अंतर टाली, शामलियाने सेजे रे,
अलवेशुं हुं उरपे राखी, सांइडां लेशुं हेते रे। अनु० १
नलवट टीली ने नाके केशर, झाल झबुके काने रे,
सकल शणगार करी अंग अपुं, संगम शामल वाने रे। अनु० २

वहालो साथे वात करतां, मनमां मोद न माय रे,
नरसैंयाचा स्वामी मुख दीठे, जोतां तृप्त न थाय रे। अनु० ३

पद १२३ मुं०

धन जोडी धन धन लीला, धन धन रेणी रुडी रे,
धन धन वहालो उर पर महाले, भावे भामनी भीडी रे। धन० १
धन धन वाजां वागे वादे, धन धन ताली वाहे रे,
धन धन व्रंद्रावननी शोभा, धन धन मधुरुं गाये रे। धन० २
धन धन धरती उपर नाचे, सुख सागर शामलियो रे,
धन नरसैंयो कृष्ण कृपा थी, हरी लीला मां रसीओ रे। धन० ३

पद १२४ मुं०

धन धन रास दहाडो आजनो, धन धन मंदिर महारुं रे;
मसमसतो मलपंतो मोहन, आवे सरवस वारुं रे। धन० १
धनधन नेणां महारांने, धन नीरखुं मारो नाथ रे,
धसमसती जई उर पर लीधो, भीडयो भुजधरी बाथ रे। धन० २
मोतीये चोक पुंरावंरे प्रेमे, हुं फूली मंगल गाउं रे,
नरसैंयाचा स्वामीनुं मुख, जोती तृप्त न थाउं रे। धन० ३

पद १२५ मुं०

धन धन दहाडो आजनो, मने प्रेम घणो मारा नाथ नो। १
मारे मीले मेलावो जेमक्ष्यो, वहालो आवी आलिंगन दे रह्यो। २
सकल शणगार सजी करी, हूं तो विलसु वहालो उर धरी। ३
शामलियो सहेज सोहावतो, वहालो भोग करे मन भावतो। ४
नरसैंयाच्यो स्वामी अती उदार; रंगभर रयणी करे विहार। ५

पद १२६ मुं०

धन धन रे तुं दीवडा मारा, प्रगटे जोत अपार रे,
सेजडीये शामलिये वीलसु, धरी शोभंतो शणगार रे। धन० १
प्रेम भराणी पीयुजी साथे, मन मांहे हरख न माय रे,
भुजबले भीडो भावशुं, ते सुख कह्युं नव जाये रे। धन० २

रास विलास माहारस भीलुं, नंदकुंवर रढी यालो रे,
भणे नरसैंयो सुर समागम, उरथी अंतर टालो रे। धन० ३

पद १२७ मुं०

धन धन वहालो विलसे सहेजे, धन धन कंठे वलगी रहे जे। टेक
धन धन मारो मान तजीने, मारा पीयु ने सरवस सोंपी रे,
सुरत समागम महारस वाध्यो, मननी लज्जा लोपी रे। धन० १
जे जे मनोरथ करती हुती, मनोरथ ते ते पामी रे,
महारा उरपर महाले मोहन, ते नारसैंयानो स्वामी रे। धन० २

पद १२८ मुं०

धन धन धन धन कहि चाल लव ललंक;
धन धन एहनुं वदन मयंक। १
धन धन धन एहनां नेणां कुरंग;
धन धन वेणी भावे भोयंग। २
धन धन अधर अमृत रसे ठरता;
धन धन अहेनी भुजनी चपलता। ३
धन धन गजगति नेपुर छंदा;
धन धन हरि संगे विलसे प्रेमदा। ४
धन धन उर हर महाले मुरारी;
नरसैंयाचा स्वामि पे जाउं बलहारी। ५

पद १२९ मुं० राग मालव

धन धन रे वृंदावननी शोभा, धन धन आसो मास रे,
धन धन कृष्णतणी जे क्रीडा, धन गोपी रमे रास रे। धन० १
शणगटडामां सान करंती, माननी मोह उपजावे रे;
अलवे अंक मोडे अति अबला, नेणे नेह जणावे रे। धन० २
कंठे कोकिला शब्द ओचरे, नौतम तान उपजावे रे;
मग्न थइने मोह पमाडे, गांधर्व गान हरावे रे। धन० ३

अमर कोटी तेत्रीश उभां, त्यां ब्रह्म इंद्र संघातरे;
जय जयकार करीने, पुष्प वृष्टि करे खांत रे ४

धन धन गोपी धन लीलां, धन जे रसमां महाले रे;
उमिया वरनी बांहे वलग्यो, नरसैं दीवी झाले रे। ५

पद १३० मुं० राग मालव

जेम जेम म वहालो वेण वजाडे, तेम तेम नाचे नारी रे,
सखे सादे गाये गोपी, रीझवीओ मोरारी रे। जेम० १

रुमझुम रुमझुम नेपुर वाजे, वादे वेण वाहे रे:
ताल मेलावे महारस माती, माननी मोद न माये रे। जेम० २

सन्मुख थईने शामलियो ते अवला आगल नाचेरे,
सुरीनर मुनीजन ध्यान न आवे, बह्मा ए पद जाचेरे। जेम० ३

तेत व्रज वनिता नंदकुंवरशुं, एक थइ अनुभवतांरे,
भणे नरसैंयो सर्वश सोंपी, गोविंदने वश करतांरे। जमे० ४

पद १३१ मुं०

जेम जेम कामनी कृष्ण साथे रमे, तेम तेम आनंद अंगन माये,
घुघरी घमके ने राखडी जलहले, नेउर वींछीया ठमके पाये। जे०

चंचल नेण ते हाल्या करे, मरकलडो करी राचे मनमांहे,
प्रेम रसे प्रीतरी अधुर चुंबन करी, विठला बाहुडी कंठे सांहे। जे०

तालसु ताल ते मेलवे सुंदरी, कर साही कृष्णजी संगे नाचे,
भणे नरसैंयो नीरखी सुख पामीयो,धन जेजे धन सुरकेशव जाचे। जे०

पद १३२ मुं०

रमतां रंगे रात विहाणी, वहालो उरपर महाल्योरे,
हुं मुहारुं अंग आपी रही रे, क्षणुं अलगो न टाल्योरे। रम० १

नर भ थइ शामलियो पामी, (वामी) वेदना भारी वामीरे,
मलपंती हीडुं मंदिरमां, शुं करशे सासु स्वामीरे। रम० २

परणयानुं होये ते सहु कोये जाणे, साचवणनुं शुं करीयेरे,
नरसैंयाच्यो स्वामां उरपर राखी, आनंदे अनुभवीयेरे। रम० ३

प्रेमे प्रेमदा रमे, पीयुने मन गमे, नयणां भरी नाथनुं वदन नीरखे,
करविशे कर ग्रही, कुंडलाकारमां, मरकलाकरे घणुं मंन हरखे।
रणझणे० २

जुवती जोबन भरी, नाथने उरधरी, अधरअमृत रस पान करतां
रामा सहु रस भरी, अंग शुध विसरी, मधुर मधुर स्वरे गान करतां।
रणझणे० ३

धनरे धन एम, अमर सहु उचरे, भेद को नवलहे रमण केरो,
नरसैंयो चरणनी, रेणमां झीलतो, जो शामले सन्मुख हाथ फेर्यो।
रणझणे० ४

पद १४० मुं०

झीणालां झांझर वाजे वृंदावन, आनंद न भाये गोपीयांचे मनता,
वीठला वाहुडी कंठे अन्योअन्य, नाचे गोपी ने गाये गोविंद।
झीणालां० १

ताल मृदंग मौहरने वांसली नाचे, नाचे हसीने गोपी गाये,
अमर अंत्रिक्षथी मोह पामी रह्या, प्रेमे पुष्पनी वृष्टि थाय। झीणालां० २

मस्तक फुमकां राखडी जलहले, जुगल जोडी रमे वन मांहे,
निरखतां निरखतां निमेष मले नहि,धनरे धन्य जादव राये। झीणालां० ३

कृष्ण ने कामनी मध्य माधव मली, नाद निरघोष रस रह्यारे जामी,
नरसैंयाच्यो स्वामी सकल व्यापी रह्यो, अनेक लीला करे गरुडगामी।
झीणालां० ४

पद १४१ मुं०

झाकम झोलकरी, झाकम झोलकरी रे, वहालो वश करशुंरे,
अनेक हावभाव करीने, हलवे उरप धरशुं रे। झाकम० १

शणगारे शोभंतो करीने, ताली दइ दइ हसशुं रे,
आंखलडी आंजीने आपण, वादे वेणा वहाशुं रे। झाकम० २

कंकण धून घघरडी घमके, दरपण लइ धरशुं रे,
नरसैंयाचो स्वामि नाचंतो, आपण भामणलडे जाशुं रे। झाकम० ३

पद १४२ मुं०

झांझरने झमके रे, गोपी गज गमनी चाले,
मान घणुं मनमां धरीने रे, जइ सैयरशुं माहले । झां० १

जाडीत्र विशाल जोलोयां रे, आली झाल झबुके रे कान,
शामलीयासुं संग करे रे वा अंग धरी अभिमान । झां० २

पोपट भात पटोली पहेरी रे, चांपा वर्णी रे चीली,
नरसैंयाचा स्वामीने मलवा रे, चाली रवारण भोली । झा० ३

पद १४३ मुं०

झांझरीयां घडाव्यां महारे वहाले, रमझम करती हींडुं रे,
वदन निहाली वहालाकेरुं, शणगटडो संकोडुं रे । झांझ० १

घणा दिवसनुं मनमां होतुं, पीयुसु करवा वात रे,
चोली पहरुं चंपा वर्णी चीर जाणे पत्रनी भात रे । झांझ० २

शामलियासु सांइडुं लेवा, सन्मुख सेजे आवी रे,
हास्य करी रुदेयासु भीडी, प्रेम धरी बोलावी रे । ३

धनधन रेणी आजनी रुडी गइ, महारा वहालजीसुं तरमतां रे,
नरसैंयाचो स्वामी उरपर लीधो, शुंकरे दुरीजन लवतां रे । झाझ० ४

पद १४४ मुं०

झांझरीयां झमकार करे, रवी छंदा वाजे रे,
वाहोडीयांचां केवल कंकण, बोलंता नादे रे । झांझ० १

हंसागमनि हंसगत चाले, चरणतले चीर चांपे रे,
उरमंडल उर उपरे सोहे, मुनिजननां मन मापे रे । झाझ० २

राखलडी रतनाली सोहे, वेणे वासंग नाग छलके रे,
आछु अंबर शीरपर ओढे, शेष नाग जेम सलके रे । झांझ० ३

सर्व शणगार सोहे शामाने, रामा रंगभेर रमती रे,
नरसैंयाचा स्वामीने, मलवानी, शीकले भमती रे । झांझ० ४

पद १४५ मुं०

मधराते मोहनजी मोह्या, माननी साथे रे,
नाना भातरमे महारसीयो, हसी हसी भीडे बाथे रे । मध० १

तरुण पणे तारुणी डग भरती, पाये नेपुरनो झणकार रे,
झांझर नादे बांह डोलावे, रीझवीया मोरार रे । मध० २

अधुर अमृत रसपान करतां, श्यामलडी संग आवे रे,
नरसैंयाचा स्वामीशुं मलवा, भामनी भेद जणावे रे । मध०

पद १४६ मुं० राग सामेरी

मध रात्रिए मधुरी रे, वहालेजी ए वांसलडी वाही रे;
कामिनी काम घहेली थईने, सौ वृंदावन धाई रे । मध० १

सासु नणंदनी लाजतजी ने, भूषण अंगे सजीयां रे;
रयणी रास रमवा कारण, जइ यादवने भजीया रे । २

नयणी भरी निरख्यो लक्ष्मीवर, आनंद अबला पामी रे;
नरसैंयाचो स्वामी वृंदावनमां, केल करे महाकामी रे । मध० ३

पद १४७ मुं० राग आशावरी

महारे वहाले वेणु वगाडी, आकुल व्याकुल थाउं रे;
मंदिर मांहे में न रहेवाये, केम करी जोवा जाउं रे । महारे० १

हुं वेधाणी मधुरी नादे, अनंग उलट्यो अंगे रे;
नेण भरी निरखुं शामलियो, सांइडा लीजे संगे रे । महारे० २

मारुं मन मोह्युं एणे वहाले, दीठा विना न सोहाये रे;
भणे नरसैंयों धन ते नारी, राख्यो रुदिया मांहे रे । महारे० ३

पद १४८ मुं०

महारा वहालाजीमां कुसुमचो भार नहीं रे;
ते कारण मने कहो ने सजनी । टेक० १

सात सागर ने नव खंड पृथ्वी, शीखर मुख मांहे;
एटला सहेत वहालो उरपरि राखुं, भ्रमर कमल सम होये रे । स०म०

दिव्य वस्त्र में शीरपर ओढ्युं, ते मने दुस्तर थाये रे;
जेटले मारो वहालोजी संगम आवे, कुच उपर चित्त चलावे रे।
सजनी० म० ३

ताचा गुण लक्ष्मीवर जाणे, जेणे आ सूत्र निपाइ रे;
नरसैंयाचो स्वामी भले मलीयो, सुख करो गोकुल राइ रे। स०म० ४

पद १४९ मुं०

गोपी आवीरे आवीरे, वहालानुं मुख जोवा,
अद्भुत खेल रच्यो पुरुषोत्तम, माननीनां मन मोहवा। गोपी० १

राती चुडी करे कामनीयां, रातां चरण चुंदडीआं,
राती आड करी कुंकुमनी, ते तले राती टीलडीयां। गोपी० २

राता फूल कलेवरे कमखे, राती चोली हृदे भली;
रातां तंबोल ओपे मुखे अबला, तव नरसैं त्रिकमने त्रियारेमली।
गोपी० ३

पद १५० मुं०—राग मालव

झमझम नादे नेपूर वाजे, झांझरना झमकार रे;
ताल मृदंगनी धूनी थाये, कटी कंकण झणकार रे। झम० १

एक वेणा एक महुअर वाहे, कामनी केल करंतां रे;
शिरपर सोहे राखलडी रे, झलके झमरी देतां रे। झम० २

काने कुंडल मुगट महामणि, शोभा कही न आवे रे;
भण नरसैंयो आनंदो हरि, भामनी मोहे भावे रे। झम० ३

पद १५१ मुं०

झांझरनो झमकार मनोहर, रंग जाम्यो महाजम रयणी रे;
त्रिकमने तालीदे तारुणी, चतुर चपल मृग नयणी रे। झां० १

वीठुलने वश करवा कारण, नाना भाव धरती रे;
नयन कटाक्षे मोह उपजावे, मुख मरकलडा करती रे। झां० २

गोपी गेल करे गोविंद शुं, तन मन धन सौ सोंपी रे;
भणे नरसैंयो तृप्ति न पामुं, जो तो गोविंद गोपी रे। झां० ३

पद १५२ मुं०

हलकुं लाग्युं हरिमुख जोतां, वेंधी वांसलडी नादे रे;
केमकरी अलगां थइए एथी, वहालो गाये सखे सादे रे। हल० १
जो घर आवुं तो हरिहैये, सुतां स्वप्ने आवे रे;
प्रीत बंधाणी पातलीयासु, दीठावना न सोहावे रे। हल० २
मूकी लाज में महारा मनथी, शामलिया संगे राची रे,
भणे नरसैंयो दुरीजन मांहे, हीडुं हुं मलपांती रे। हल० ३

पद १५३ मुं०

हरिवना रही न शकुं मारी आली, वहाले नेण वाणे वींधुं रे;
चित्त चतुरभुजे चोरीने लीधुं, काहानजीए कामण कीधुं रे। हरि० १
मन मारुं महावजीशुं बांधुं, वहाले वेण त्रिभंगी वाह्यो रे;
जुमनां त्रट तरोवरनी छाया, वहाला रास रमी गुणगायो रे। हरि० २
धन वृंदावन धन धन गोपी, जेणे नंद कुंवर वश कीधो रे;
नरसैंयाचा स्वामीसुं मलीने, अधर अमृत रस पीधो रे। हरि० ३

पद १५४ मुं० राग रामग्री

हां हां रे हरीवेण वाइरे वाइरे, रामग्री गाईरे, हरिवेण वाईरे;
गोपीजन सुतपति सहु छांडी, जोवाने धाईरे, हरिवेण वाईरे। हरि० १
हां हां रे नेपुर कानधर्यां, कुंडल पहेर्यां पाये,
सेंथे काजल, नयने सिंदुर, एवा विप्रीत वेशे धाये रे। हरि० २
हां हां रे रजनी शरदतणी, रास रमे बाली,
वच वनमाली ने दे कर ताली, बांहोडली वाली रे। हरि० ३
हां हां रे माननीने मानघणां, आण्यो मन अहंकार;
अंतरध्यान हवा हरि तत्क्षण, श्री वृंदावन मोझार रे। हरि० ४
हां हां रे कामनीने कहान मल्यां, जो छोड्यो अभिमान;
नरसैंयाचा स्वामी संगे रमतां, सुरपति वाय निशान रे। हरि० ५

पद १५५ मुं०

चुंदडीनो रंग जोईने, गोपी चटकशुं चाली रे;
सेजडीअे शामलीओ शोहे, कंठे बाहुलडी घाली रे। चुं० १
रमके चमके चालतां, कृष्णने मन भाली रे;
सोल शणगार सार्या सुंदरी, ए मुख छे रंग रसाली रे। चुं० २
सुगंध गंध सुरासुर भीनी, मुख तंबोले बोले रे;
जोबन आव्युं तेवारे, मदन संतापे अतोले रे। चुं० ३
........................कहोनी कइ पेर कीजे रे;
नरसैंयाचा स्वामीचे संगम, तन मन धन सोंपीजे रे। चुंदडी० ४

पद १५६ मुं०

हां हां रे वांसली वाई रे, मधुरुं गाये काहान;
स्वर शब्द नाना विधना, रागरागणीनां गान। वांसली० १
हां हां रे मांहे मांहे रे, माननी राखे रंग;
घुणुगुणुगुणुगुणु उपांग वाजे, ताल निशान मृदंग। वांसली० २
हां हां रे वीछीआ ठमके रे, काने झबूके झाल;
एक एक ने दे आलिंगन, चाले मधुरी चाल। वांसली० ३
हां हां रे वृंदावन रास राच्यो, गोपी घूमे मरकलडां वाली;
सोल कला शशीयर शोभे, नभमे करते अजुवाली। वांसली० ४
हां हां रे सुरपति मोहि रह्या, तेहना थंभी रह्या रे विमान;
नर्तनाटारंभ पुष्प वृष्टि होअे, जय जय श्री भगवान। वांसली० ५
हां हां रे रजनी अधिक वधी, प्रगट न होय भाण;
नरसैंयाचा स्वामीनी शोभा जोवा, मुनिवरे मुक्यां ध्यान। वांसली० ६

पद १५८ मुं०

तृप्त थइ हरिनुं मुख जोतां, हरखी मंदिरियां मांहे रे;
मन गमतो मचको करीने, भीडुं रुदीया मांहे रे। १
शाशा भाव धरुं पीयु साथे, सुंदर सेज समारी रे;
नंद कुंवर सुंदिरवर विलसु, तन मन उपर वारी रे। २
दीवडीए अजवालुं मंदिर, कुंकुंम रोल करावुं रे;
भणे नरसैंयो शामलियाने, मोतीये लइ वधावुं रे। ३

पद १५९ मुं०

तन मन धन वारी वहाला उपर, रजनी रंग भेर रमशुं रे;
निरभे थइने शामली ने, कंठे बांहोलडी धरशुं रे । तन० १

सारी पेठे शणगार करीने जे कहेशो ते करशुं रे;
भाव धरी भामणडां लईने, रसमांहे रीझवशुं रे । तन० २

मारो वहालो छे अत्यंत भोगी, भली पेरे भोगवशुं रे;
भणे नरसैंयो दै आलिंगन, अधर अमृत रस पीशुं रे । तन०....

———

रासलीला

(श्री हितहरिवंश कृत)

१६ वीं शताब्दी

परिचय—

व्रज में रास को अभिनेय बनाने का श्रेय वल्लभाचार्य एवं श्री हितहरिवंश-जी को दिया जाता है। सम्भवतः रास के अभिनय की परम्परा कालचक्र के कारण विलीन सी हो गई थी। और इन दोनों महात्माओं ने इसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। इन महात्माओं ने स्वयं रासपदों की रचना की और अपने शिष्यों को रासपद-रचना एवं उनके अभिनय के लिए प्रोत्साहित किया।

श्री हितहरिवंश के रास की कथावस्तु क्रमबद्ध नहीं प्रतीत होती। सम्भवतः उनका ध्यान घटना के आरोहावरोह की ओर उतना नहीं था जितना राधा और कृष्ण की मनोदशा के दिग्दर्शन की ओर। रासलीला के प्रारम्भ में एक सखी राधिकाजी को कृष्ण के साथ सखियों के नर्त्तन की सूचना देती है। वह नर्त्तक कृष्ण की अनुपम शोभा के वर्णन द्वारा राधा के मन में रास की लालसा उद्दीप्त करती है। वह कृष्ण के वेणुवादन की ओर राधिका का ध्यान आकर्षित करती है।

राधिका के प्रस्थान का वर्णन कवि छोड़ गया है। पदों से प्रतीत होता है कि राधिका कृष्ण के पास पहुँचती हैं और रास में सम्मिलित होती हैं। उन दोनों का नर्त्तन देखकर ललितादिक सखियां मुग्ध हो जाती हैं। कृष्ण रासलीला करते हुए एक बार स्वतः स्त्री बन जाते हैं। राधा-कृष्ण के रास नर्त्तन का वर्णन कवि मधुर पदों और कोमल शब्दों के मध्यम से व्रज की उस मनोहारी शैली में करता है जो भारत के दूरस्थ भागों से आनेवाले यात्रियों को आकर्षित प्रतीत होती है। संस्कृत श्लोकों के साथ व्रज की मधुर भाषा के मध्य संगीत का जो स्रोत फूट पड़ता है वह दूरागत यात्रियों को शीतलता प्रदान करता है।

———

रासलीला

(श्री हितहरिवंश कृत)

१६ वीं शताब्दी

राग बिलावलि

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यौ श्याम तट कलिंद नंदिनी।
निर्तत जुवती समूह राग रंग अति कुतूह,
बाजत रसमूल मुरलिका अनंदिनी ॥ १ ॥

बंशीबट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ,
सकल सुखद मलय बहै बायु मंदिनी।
जाती ईषद बिकाश कानन अतिसै सुवास,
राका निशि शरद मास विमल चंदिनी ॥ २ ॥

नर बाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि,
नखशिख सौन्दर्य काम दुख निकंदिनी।
बिलसहि भुजग्रीव मेलि भामिनि सुख सिंधु मेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत बंदिनी ॥ ३ ॥

(२) राग आसावरी

खेलत रास रसिक ब्रज मंडन। जुवतिन अंश दिए भुज दंडन ॥१॥
शरद विमल नभ चंद विराजै। मधुर मधुर मुरली कल बाजे ॥२॥
अति राजत घनश्याम तमाला। कंचन बेलि बनी ब्रजबाला ॥३॥
बाजत ताल मृदंग उपंगा। गान मथत मन कोटि अनंगा ॥४॥
भूषन बहुत विविध रंग सारी। अंग सुधंग दिखावत नारी ॥५॥
बरषत कुसुम मुदित सुर जोषा। सुनियत दिवि दुंदुभि कलघोषा ॥६॥
जै श्रीहितहरिवंश मगन मन श्यामा। राधारवन सकल सुख धामा ॥७॥

राग धनाश्री

मोहन लाल के रसमाती ।।
बधु गुपति गोवति कत मोसौं प्रथम नेह सकुचाती ।।१।।
देखि संभार पीतपट ऊपर कहाँ चुनरी राती ।।
टूटी लर लटकत मो तिनकी नख बिधु अंकित छाती ।।२।।
अधर बिंब खंडित मषि मंडित गंड चलति अरझाती ।।
अरुण नैन घूमत आलस जुत कुसुम गलित लटपाती ।।३।।
आजु रहसि मोहन सब लूटी विविध आपनी थाती ।
जै श्रीहितहरिवंश बचन सुनि भामिनि भवन चली मुसिकाती ।।४।।

तेरे नैन करत दोऊ चारी ।
अति कुलकात समात नहीं कहूँ मिले हैं कुंजबिहारी ।।१।।
बिथुरी माँग कुसुम गिरि गिरि परें लटकि रही लट न्यारी ।
उर नख रेख प्रगट देखियत है कहा दुरावत प्यारी ।।२।।
परी है पीक सुभग गंडनि पर अधरनि रंग सुकुंवारी ।।
जै श्रीहितहरिवंश रसिकनी भामिनि आलस अंग अंग भारी ।।

आजु गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी ।
शरद विमल नभ चंद बिराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी ।।१।।
चंपक बकुल मालती मुकलित मत्त मुदित पिक कीर री सजनी ।
देसी सुघंग राग रंग नीको ब्रज जुवतिन की भीर री सजनी ।।२।।
मघवा मुदित निसान बजायो व्रत छाड्यौ मुनि धीर री सजनी ।
जै श्रीहितहरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी ।।३।।

मोहनी मदनगोपाल की बांसुरी ।।
माधुरी श्रवणपुट सुनत सुनि राधिके,
करत रति राज के ताप को नासुरी ।। १ ।।
शरद राका रजनि विपिन वृंदा सजनि,
अनिल अति मंद शीतल सहित बांसुरी ।।
परम पावन पुलिन भृङ्ग सेवत नलिन,
कल्पतरु तीर बलबीर कृत रासु री ।। २ ।।

सकल मंडल भली तुम जु हरि सौं मिली,
बनी वर बनित उपमा कहौं कासु री ॥
तुम जु कंचनतनी लाल मर्कत मनी,
उभै कल हंस हरिवंश बलि दासु री ॥ ३ ॥

राग सारंग

आज बन नीको रास बनायो ॥
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन वेनु बजायो ॥१॥
कल कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो ॥
जुवतिनु मंडल मध्य श्याम घन सारंग राग जमायौ ॥२॥
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ मिलि रस सिन्धु बढ़ायौ ॥
विविध विशद वृषभान नंदनी अंग सुधंग दिखायौ ॥३॥
अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनंग नचायौ ॥
तातार्थेई ताथई धरति नौतन गति पति ब्रजराज रिझायो ॥४॥
सकल उदार नृपति चूडामणि सुख बारिद बरषायौ ॥
परिरंभन चुम्बन आलिंगन उचित जुवति जन पायो ॥५॥
बरषत कुसुम मुदित नभ नाइक इंद्र निसान बजायो ।
जै श्रीहितहरिवंश रसिक राधापति जस वितान जग छायौ ॥६॥

राग गौरी

खेलत रास दुलहिनी दूलहु ॥
सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि निरखि नैननि किन फूलहु ॥१॥
अति कल मधुर महा मोहन धुनि उपजत हंस सुता के कूलहु ॥
थेई थेई बचन मिथुन मुख निसरत सुनि सुनि देह दशा किन भूलहु ॥२॥
मृदु पदन्यास उठत कुमकुम रज अद्भुत बहत समीर दुकूलहु ॥
कबहु श्याम श्यामा दसनांचल कचकुचहार छुवत भुज मूलहु ॥३॥
अति लावन्य रूप अभिनय गुन नाहिन कोटि काम समतूलहु ॥
भृकुटी विलास हाँस रस बरषत जै श्रीहितहरिवंश प्रेमरस झूलहु ॥४॥

॥ छंद ॥ चार ॥ त्रिभंगी ॥

मोहन मदन त्रिभंगी ॥ मोहन मुनि मन रंगी ॥
मोहन मुनि सघन प्रगट परमानंद गुन गंभीर गुपाला ॥
शीश किरीट श्रवन मणि कुंडल उर मंडित वनमाला ॥
पीताम्बर तन धात विचित्रित कल किंकिणि कटि चंगी ॥
नखमणि तरणि चरण सरसीरुह मोहन मदन त्रिभंगी ॥१॥

मोहन वेनु बजावै ॥ इहि रव नारि बुलावै ॥
आईं ब्रजनारि सुनत बंशी रव गृहपति बंधु बिसारे ॥
दरशन मदन गुपाल मनोहर मनसिज ताप निवारे ॥
हरषित बदन बंक अवलोकनि सरस मधुर धुनि गावै ।
मधुमय श्याम समान अधर धरे मोहन बेनु बजावै ॥२॥

रास रच्यो वन माही ॥ विमल कमल तरु छाँही ॥
बिमल कलप तरु तीर सुपेसल शरदरैन वर चंदा ॥
शीतल मंद सुगंध पवन बहै तहाँ खेलत नंद नंदा ॥
अद्भुत ताल मृदंग मनोहर किंकिनि शब्द कराही ॥
यमुना पुलिन रसिक रस सागर रास रच्यौ बन माही ॥३॥

देखत मधुकर केली ॥ मोहे खग मृग बेली ॥
मोहे मृग धेनु सहित सुर सुंदर प्रेम मगन पट छूटे ॥
उडगन चकित थकित शशि मंडल कोटि मदन मन लूटे ॥
अधर पान परिरंभन अतिरस आनंद मगन सहेली ॥
जै श्रीहितहरिवंश रसिक सचु पावत देखत मधुकर केली ॥४॥

राग कल्याण

रास में रसिक मोहन बने भामिनी ।
सुभग पावन पुलिन सरस सौरभ,
नलिन मत्त मधुकर निकर शरद की जामिनी ॥१॥
त्रिविधि रोचक पवन ताप दिनमनि दवन,
तहाँ ठाढ़े रँवन संग सत कामिनी ॥
ताल बीना मृदंग सरस नाचत,
सुधंग एकते एक संगीत की स्वामिनी ॥२॥

राग रागनि जमी विपिन बरषत अमी,
अधर विंबनि रमी मुरली अभिरामनी ॥
लाग कट्टर उरप सप्त सुर सौं सुलप लैत,
सुंदर सुघर राधिका नामिनी ॥३॥
तत्त थेई थेई करत गतिव नौतन,
धरत पलटि डगमग ढरति मत्त गज गामिनि ॥
धाइ नवरंग धरी उरसि राजत खरी उभै,
कल हंश हरिबंश घन दामिनी ॥४॥

स्याम संग राधिका रास मंडल बनी ।
वीच नंदलाल ब्रजवाल चंपक वरन ज्यौं,
घन तडित विच कनक मर्कत मनी ॥१॥
लेत गति मान तत्त थेई हस्तक भेद,
सरिगम पधनिय सप्त सुर नंदनी ।
निर्त्य रस पहिर पट नील प्रगटित छवी,
बदन जनौं जलद में मकर की चंदनी ॥२॥
राग रागिनी तान मान संगीत मत;
थकित राकेश नभ शरद की जामिनी ॥
जै श्री हित हरिबंश प्रभु हंस कटि केहरि,
दूरिकृत मदन मद मत्त गज गामिनी ॥३॥

[श्री हित चतुराशि जी से उद्धृत]

— — —

रास के स्फुट पद

(विविध कवि)

१६ वीं शताब्दी

परिचय—

मध्यकालमें वैष्णव धर्म का प्रचार करने के लिए अनेक सन्त महात्माओं ने कृष्ण की रासलीला का वर्णन किया है। इस स्थान पर गोविन्ददास, राधामोहन, बलरामदास, चंडीदास, ज्ञानदास, रामानन्द, उद्धवदास आदि कतिपय महात्माओं की प्रमुख रचनाओं को उद्धृत किया जा रहा है। इन महात्माओं ने श्रीमद्भागवत को आधार मान कर राधाकृष्ण की रासलीला का चित्र मौलिक रीति से चित्रित किया है। मौज में आने पर रास की छटा जो स्वरूप इनकी आँखों के सम्मुख आया भक्तों को उसी का परिचय कराने के लिए इन्होंने शब्दों में उसे बाँध कर रख दिया। सूरदास नंददास प्रभृति भक्तों ने रास वर्णन में प्रायः एक क्रम का ध्यान रखा है किन्तु उक्त कवियों ने कभी राधाकृष्ण मिलन का वर्णन किया है तो उसके आगे ही मुरली ध्वनि से मुग्ध होकर गोपिकाओं के गृहत्याग का। इस प्रकार पूर्वापर की संगति की उपेक्षा करते हुए इन महात्माओं ने स्फुट पदों में अपने हृद्गत भावों को अभिव्यक्त किया है।

इन महात्माओं ने रासवर्णन में इसका सर्वथा ध्यान रखा है। प्रत्येक पद की स्वर लहरी में माधुर्य भाव हंस के सदृश तैरता चलता है। इनके विचार और वाणी में अत्यन्त सरलता पाई जाती है। यद्यपि ये महात्मा भक्त-कवि के साथ साथ आत्मज्ञानी भी थे। इन्होंने कहीं तो भक्ति-समन्वित पदों की रचना की है तो कहीं ब्रह्मज्ञान की ओर संकेत कर दिया है। इनका उद्देश्य न तो केवल काव्यरचना करना था और न नितान्त ब्रह्मज्ञान निरूपण। भक्तों की कल्याण भावना के वशीभूत ये आत्मज्ञानी महात्मा सरस पदों की रचना करते और उनका स्वतः गान कर अथवा निपुण गायक से उनको श्रवण कर प्रसन्न होते। रास-मंडलियाँ उनके प्रसिद्ध पदों को

अभिनय का आधार बनातीं। इस प्रकार दूर देश के विविध भाषा भाषी यात्री तीर्थों में रास का अभिनय देखकर अलौकिक रस का आनन्द लूटते। इन भक्त कवियों को इसी बात से परम सन्तोष होता और अपनी काव्यरचना के प्रयास को सफल मानते।

इन स्फुट पदों में प्रायः पूर्वी भारत के सन्त महात्माओं की रचनाएँ संग्रहीत हैं। इनकी भाषा में पूर्वीपन का प्राधान्य है। बंगाल में प्रचलित शब्दों और मुहावरों का भी इन रचनाओं में दर्शन होता है। इन पदों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये स्वतंत्र महात्मा भाषा के प्रयोग में देशकाल की सीमाओं से मुक्त थे। इनकी भाषा उस काल की राष्ट्रभाषा थी। प्रत्येक भाषाभाषी अपनी शक्ति के अनुसार इन पदों से अर्थ निकाल कर आनन्द का अनुभव करता।

इन कवियों का संक्षिप्त परिचय भूमिका में दिया जा रहा है।

———

रास के स्फुट पद

(विविध कवि)

१६ वीं शताब्दी

रासलीला—

अथ रासो यथा—

हरिर्नवघनाकृतिः प्रतिवधूद्वयं मध्यत—
स्तदंशविलसद्भुजो भ्रमति चित्रमेकोऽप्यसौ ।
वधूश्च तडिदुज्ज्वला प्रतिहरिद्वयं मध्यतः
सखीधृतकराम्बुजा नटति पश्य रासोत्सवे ॥

["उज्ज्वल नीलमणिः"]

कृष्ण जिनि नवघन तड़ित येन गोपीगण
तड़ितेर माझे जलधर ।
तड़ित मेघेर माझे सम सख्या हया साजे
रासलीला बड़ मनोहर ॥

[उज्ज्वलचन्द्रिका]

महारास

तुड़ि--रूपक

वृन्दावन-लीला गोरार मनेते पड़िल ।
यमुनार भाव सुरधुनी ये धरिल ॥
फूल-वन देखि वृन्दावनेर समान ।
सहचर गण गोपीगण अनुमान ॥
खोल करताल गोरा सूमेलि करिया ।
तार माझे नाचे गोरा जय जय दिया ॥
वासुदेव घोष ताहे करये विलास ।
रास-रस गोरा चाँद करिला प्रकास ॥

वेहाग—आड़ा काओयाली

भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

वेहाग—आड़ा काओयाली

आड़ा

रूप देखि आपनार
कृष्णेर हए चमत्कार
आस्वादिते मने उठे काम ॥

वेहाग—जयताल

शरद्-चन्द पवन मन्द
विपिने भरल कुसुम गन्ध
फुल्ल मल्लिका मालति यूथि
मत्त-मधुकर-भोरणि ।

हेरत राति ऐछन भाति
श्याम मोहन मदने माति
मुरली-गान पंचम तान
कूलवती-चित-चोरणि ॥

सुनत गोपी प्रेम रोपि
मनहिँ मनहिँ आपनि सौँपि
ताँहि चलत याँहि बोलत
मुरलिक कल लोलनि ।

विसरि गेह निजहूँ देह
एक नयने काजर केह
वाहे रंजित कङ्कण एकु
एकु कुण्डल दोलनि ॥

शिथिल-छन्द निविक वन्ध
वेगे धाओत युवती वृन्द
खसत वसन रसन चोलि
गलित वेणि लोलनि ॥

ततहिँ वेलि सखिनि मेलि
केहू काहूक पथे ना चलि
ऐछे मिलल गोकुल चन्द
गोविन्द दास गाहनि ॥

मल्लार वेहाग—दूटुकी

विपिन मिलल गोपनारी
हेरि हसत मुरली धारी
निरखि वयन पूछत वात
प्रेम सिन्धु गाहनि ।

पूछत सवक गमन-क्षेम
कहत कीये करव प्रेम
व्रजक सवहुँ कुशल वात
काहे कुटिल चाहनि ॥

हेरि ऐछन रजनी घोर
तेजि तरुणी पतिक कोर
कैछे पाओॅलि कानन ओर
थोर नहत काहिनी ।

गलित-ललित-कवरी-वन्ध
काहे धाओॅत युवती वृन्द
मन्दिर किये पड़ल द्वन्द्व
वेढ़ल विपथ-वाहिनी ॥

कीये शारद चाँदनी राति
निकुंजे भरल कुसुम पाँति
हेरत श्याम भ्रमरा-भाति
वूझि आओॅलि साहनि ।

एतहुँ कहत ना कह कोई
काहे राखत मनहि गोई
इहहि आन नहई कोई
गोविन्द दास गायनि ॥

बेहाग—तेओट

ऐछन वचन कहल जब कान।
ब्रज-रमणीगण सजल-नयान॥
टूटल सबहूँ मनोरथ-सरणि।
अवनत-आनन नखे लिखू धरणि॥
आकुल अन्तर गदगद कहई।
अकरुण-वचन-विशिख नाहि सहई॥
शुन शुन सुकपट श्यामर-चन्द।
कैछे कहसि तूहूँ इह अनुबन्ध॥
भाँगलि कुलशील मूरलिक साने।
किङ्करिगण जनू केशे धरि आने॥
अब कह कपट धरमयुत बोल।
धार्मिक हरये कुमारि-निचोल॥
तोहे सौंपित जीउ तूया रस पाव।
तूया पद छाँड़ि अब को काहाँ जाव॥
एतहूँ कहत जब युवती मेल।
सुनि नन्द नन्दन हरषित भेल॥
करि परसाद तहिं करये विलास।
आनन्दे निरखये गोविन्द दास॥

केदार मिश्र कामोद—मध्यम दशकुसी

काञ्चन मणिगणे जनु निरमाओलि
रमणी-मंडल साज।
माझहि माझ महा मरकत-मणि
श्यामर नटवर राज॥
धनि धनि, अपरूप रासविहार।
थीर विजूरि सञे चंचल जलधर
रस वरिखये अनिवार॥ध्रु॥
कत कत चान्द तिमिर पर विलसइ
तिमिरहुँ कत कत चान्दे।
कनक-लताए तमालहुँ कत कत
दुहुँ दुहुँ तनु तनु बान्धे॥

कत कत पद्मिनि पञ्चम गाओ̐त
मधुकर धरु श्रुति-भाष ।
मधुकर मेलि कत पद्मिनि गाओ̐त
मुगधल गोविन्ददास ॥

वेहाग—झपताल

नागर सने (सङ्गे) नाचत कत
यूथे यूथे अङ्गना ।
चौंदिग घेरि सखिगण मेलि
ठमकि ठमकि चलना ॥
झनन झनन नूपुर बोलन
किङ्किणी किणि कलना ।
गोविन्द-मोहिनी राइ रङ्गिणि
नाचत कत शोभना ॥

विहगड़ा—वृहत् झपताल ओ पटताल

व्रजाङ्गना सङ्गे रङ्गे नाचे नन्दलाला ।
मेघचक्र माझे येन विद्युतेर माला ॥
रक्त कण्ठी सुमध्यमा सकल योषित ।
देखिया यादवानन्द पाइलेन प्रीत ॥
नाचिते नाचिते केह श्रमयुत हइया ।
आवेशे कृष्णेर अङ्गे पड़े मूरछिया ॥
ताहार सादरे कृष्ण करेन सम्भाषण ।
वदन वदन-शशी करिया मिलन ॥
ये मन बालक लइया खेले निज छाय ।
ते मति आपन रङ्गे रङ्गी यदुराय ॥

श्रीराग-झपताल

मधुर वृन्दा-विपिन माधव ॥
विहरे माधवी सङ्गिया

दुहु गुण दुहु गाओ ये सुललित
चलत नर्त्तक-भङ्गिया ॥
श्रवण युगल पर, देइ परस्पर
नओ ल किशलय तोड़िया ।
दोहुक भुज दुहु कान्धे सोहइ
चुम्बइ मुख-शशि मोड़िया ॥
तजि मकरन्द—धाइ वेढ़ल
मुखर मधुकर-पाँतिया ।
मत्त कोकिल मङ्गल गायत
नाचत शिखि कुल मातिया ॥
सकल सखिगण कुसुम बरिषण
करत आनन्द भोरिया ।
दास गिरिधर कवहु हेरब—
काँति शामर-गोरिया ॥

वेहाग—मध्यम दशकुसी

रास अवसाने अवश भेल अङ्ग ।
बैठल दुहुँ जन रभस-तरंग ॥
श्रमभरे दुहुँ अङ्गे घाम बहि जाय ।
किङ्करिगण करु चामरेर वाय ॥
पैठल सबहूँ यमुना-जल माह ।
पानि-समरे दुहूँ करु अवगाह ॥
नाभि मगन जले मण्डली केल ।
दुहुँ दुहुँ मेलि करइ जल खेल ॥
कण्ठ मगन जल कयल पयान ।
चुम्बये नाह तव सबहूँ बयान ॥
छले बले कानु राई लई गेल ।
यो अभिलाष करल दुहुँ मेल ॥

जल संचे उठि तव सुछइ शरीर।
जनु विधु-मरिडत यामुन तीर॥
रास विलास करि पानि-विलास।
दास अनन्तक पूरल आश॥

केदार—लोफा

केलि समाधि उठल दुहुँ तीरहि
बसन भूषण परि अङ्ग।
रतन मन्दिर माहा वैठल दुहुँ जन
करु वन-भोजन रङ्ग॥
आनन्दे को करु ओर।
विविध मिठाई क्षीर वहु वनफल
भुञ्जइ नन्द किशोर॥ ध्रु॥
नागर-शेषे लेइ सव रङ्गिनि
भोजन करु रस पुञ्ज।
भोजन समाधि ताम्बूल सभे खाओल
शूतलि निज निज कुञ्ज॥
ललितानन्द कुञ्ज यमुना-तट
शूतल युगल किशोर।
दास 'नरोत्तम करतहि सेवन
अलस नयन हेरि भोर॥

नृत्य रास (१)

केदार मिश्र कामोद—मध्यम दशकुसी

नाचत गौर रासरस अन्तर
गति अति ललित त्रिभङ्गी
वरज-समाज रमणिगण यैछन
तैछन अभिनय-रङ्गी॥

देख देख नवद्वीप माझ।
गाओ त वाओ त मधुर भकत शत
माझहि वर द्विजराज ॥ ध्रु॥
ता ता द्रिमि द्रिमि मृदङ्ग वाजत
झुनु झुनु नूपुर रसाल।
रवाव बीन आर सर-मंडल
सुमिलित करु करताल॥
ए हेन आनन्द न हेरि त्रिभुवन
निरुपम प्रेम विलास।
ओ सुख सिन्धु परश किये पाअव
कह राधामोहन दास॥

तुड़ि—समताल

गोरा नाचे प्रेम विनोदिया।
अखिल भुवनपति विहरे नदिया॥
दिग विदिग नाहि जाने नाचिते नाचिते।
चाँदमुखे हरि बले काँदिते काँदिते॥
गोलोकेर प्रेमधन जीवे विलाइया।
संकीर्त्तने नाचे गोरा हरि बोल बलिया॥
रसे अङ्ग ढर ढर मुखे मृदु हास।
ओ रसे वञ्चित भेल बलराम दास॥

वेहाग—जरताल

शारद पूर्णिमा निरमल राति
उजोर सकल वन।
मल्लिका मालती विकशित तथि
मातल भ्रमरागण॥
तरुकुल-डाल फुल भरि भाल
सौरभे पूरिल ताय।
देखिया से शोभा जगमनलोभा
भुलिल नागरराय॥

निधुवने आछे रतन-वेदिका
मणि माणिक्येते बाँधा ।
फटिकेर तरु शोभियाछे चारु
तहाते हीरार छाँदा ॥
चारि पाशे साजे प्रवाल मुकुता
गाँथनि आटनि कत ।
ताहाते वेड़िया कुञ्ज कुटिर
निरमाण शत शत ॥
नेतेर पताका उड़िछे उपरे
कि तार कहिब शोभा ।
अति रम्य स्थल देव अगोचर
कि कहिब तार आभा ॥
माणिकेर घटा किरणेर छटा
एमति मण्डप-घर ।
चण्डीदास बले अति अपरूप
नाहिक ताहार पर ॥

केदार--मध्यम एकताला

एके से मोहन यमुनार कूल,
आरे से केलि-कदम्बमूल,
आरे से विविध फुटल फुल;
आरे से शारद यामिनी ।
भ्रमर भ्रमरी करत राव,
पिक कुहु कुहु करत गाव,
संगिनी रंगिनी मधुर बोलनी,
विविध राग गायनी ॥
बयस किशोर मोहन ठाम,
निरखि मूरछि पड़त काम,
सजल - जलद - श्याम - धाम,
पियल-वसन-दामिनी ।

शावल धवल कालिम गोरी,
विविध वसन बनि किशोरी,
नाचत गाओत रस विभोरी,
सबहुँ बरज-कामिनी ।।
वीणा कपिनाश पिनाक भाल,
सप्त सुर बाजत ताल,
ए स्वर-मण्डल मन्दिरा डंफ,
मेलि कतहुँ गायनी ।।
नूपुर धुंगुर मधुर बोल,
झनन ननन नटन लोल,
हासि हासि केहु करत कोल,
भालि भालि बोलनि ।
बलराम दास पढ़त ताल,
गाओत मधुर अति रसाल,
शुनत शुनत जगत उमत,
हृदय-पुतलि दोलनि ॥

बेहाग—-झपताल

देख रि सखि श्याम-चन्द
इन्दु-वदनि राधिका ।
विविध यन्त्र युवति-वृन्द
गाओ ये राग-मालिका ।।
मन्द पवन कुञ्ज भवन
कुसुम - गन्ध - माधुरी ।
मदन-राज नव समाज
भ्रमत भ्रमर चातुरी ॥
तरल ताल गति दुलाल
नाचे नटिनि नटन-शूर ।

प्राणनाथ धरत हात
राइ ताहे अधिक पूर॥
अंगे अंगे परशे भोर
केहुँ रहत काहुँक कोर।
ज्ञानदास कहत रास
यैछन जलदे विजुरि जोर॥

धानसी—जपताल

नव नायरि नव नायर
नौतुन नव नेहा।
आँखे आँखे निमिखे निमिखे
विछुरल निज देहा॥
नौतुन गण नौतुन बन
नौतुन सखि गाने।
ता दिग् दिग् ता दिग् दिग्
थो दिग् दिग् थो दिग् दिग्
ताल फुकारइ वामे।
नौतुन रस केलि रभस
नौतुन गति ताले।
द्रिमि धो द्रिमि थो द्रिमि द्रिमि
वाओत सखि भाले॥
चञ्चल मणि कुण्डल चल
चञ्चल पट वास।
दोहेँ दोहा-कर धरिया नाचत
हेरत अनन्त दास॥

वेहाग—लोफाताल

वाजत ताल रवाव पाखोआज
नाचत युगल किशोर।
अंग हेलाहेलि नयन ढुलाढुलि
दुहुँ दोहाँ मुख हेरि भोर॥

चौदिगे सखि मेलि गाओत बाओत
करहि करहि कर जोर।
नवघन परे जनु तड़ित लतावली
दुहुँ रूप अधिक उजोर॥
वीण उपांग मुरज सर-मण्डल
वाजत थोरहि थोर।
अनन्तदास-पहुँ राइ-मुख निरखइ
यैछन चान्द चकोर॥

'कानाड़ा मिश्र जपताल-मध्यम धामाली'

चाँदवदनी नाचत देखि॥
ता त्ता थेइ थेइ तिनिकिटि तिनिकिटि झाँ
दिग दिग दिग दिग दिग दिग दिग
थेइ द्रमि द्रमि द्रमिकि द्रमिकि द्रमि
ताक ताक गड़ि गड़ि गड़ि गड़ि गड़ि गड़ि गड़ि गड़ि
तत्ता दिमिता ताता थेइ तिनिकिटि झा॥ध्रु॥
ना हवे भूषणेर ध्वनि ना नड़िबे चिर
द्रुतगति चरणे ना बाजिबे मञ्जीर॥
विषम संकट ताले बाजाइब बाँशी।
धनु अंकेर माझे नाच बुझिब प्रेयसी॥
हारिले तोमार लबो बेशर काँचली।
जिनिले तोमारे दिब मोहन मुरली॥
येमन बलेन श्यामनागर तेमनि नाचेन राइ।
मुरली लुकान श्याम चारि दिके चाइ॥
सबाइ बले राइयेर जय नागर हारिले।
दुःखिनि कहिछे गोपी मण्डली हासाले॥

बेहाग मिश्र धानसी—काओयालि ताल

(आरे) धनि टमकि टमकि चलि जाय।
चारु वदने मृदु मधुरिम हासत

बेशर दुलिछे नासाय ॥
नूपुर रुनु झुनु झुनुरु झुनुर झुनु
झुनुरे झुनरे झंकार ।
दु बाहु युगले (धनिर) वलया शोभित
(धनिर) गले दोले गजमांतहार ॥
ललित नितम्बे लम्बित वेणी
फणिमणि येन शोभा पाय ।
चरणे नूपुर पुन कंकण कन कन
कटितटे किंकिणी वाय ॥
बाजे यत यन्त्र सुतन्त्र मधुर स्वरे
निधुवनशवदे माताय ।
केलि कुतूहले श्रीरास-मण्डले
केहु गाय केहु बा बाजाय ॥
सखिगण संगे रंगे रसरंगिणी
चारि पाशे नाचिया बेड़ाय ।
आध घुन्टा दिठि उलटि पालटि
अनिमिखे पिया मुख चाय ॥
देखिया रसिकवर विदगध नागर
बाहु पसारिया धाय ।
भुजे भुजे आकर्षण विनोद बन्धने
विनोदिनी विनोद माताय ॥
कनक कमल माझे नील-उत्पल साजे
मेघे येन विजुरि खेलाय ।
दुहुँक रूपेर सीमा नाहि देखि उपमा
बसु रामानन्द गुण गाय ॥

कानाड़ा मिश्र अपताल—मध्यम धामाली

श्याम तोमारे नाचते हवे ।
दिगे दा झिने केटा थोर लाग झिग झाँ ॥
उड़ ताड़ा थोइ झनुर झनुर झनु
झनु झनु झनु झनु ।

धोइ धोइ धोइ गिड़ गिड़ गिड़
गिड़ गिड़ गिड़ गिड़ ॥
गिड़ तित्ता दिमिता ताना थोरि काठा भाँ ॥ ध्रु ॥

ना नड़िबे गण्ड मुण्ड नूपुरेर कड़ाइ ।
ना नड़िबे बनमाला बुझिब बड़ाइ ॥
ना नड़िबे क्षुद्र घण्टि श्रवणेर कुण्डल ।
ना नड़िबे नासार मोति नयनेर पल ॥
ललिता बाजाये वीणा विशाखा मृदंग ।
सुचित्रा बाय सप्तस्वरा राइ देखे रंग ॥
तुंगविद्या कपिनास तम्बुरा रंगदेवी ।
इन्दुरेखा पिनाक बाय मन्दिरा सुदेवी ॥
उद्भट ताले यदि हार बनमाली ।
चूड़ा बाँशी केड़े लब देब करतालि ॥
यदि जिन राइके दिब आमरा हब दासी ।
नइले कारागारे राखिब दुःखिनी शुनि हासि ॥

सोहिनी – झपताल

नाच श्याम सुखमय ।
देखि, ताले माने केमन ज्ञानोदय ॥
ए तो घाटे माठे दान साधा नय ।
एखाने गाइते बाजाते जाने गोपीसमुदाय ॥
एकबार नाच हे श्याम फिरि फिरि ।
संगे संगे नाचब मोरा चाँद-वदन हेरि ॥

सोहिनी वेहाग—वृहत् झपताल

नाचत नागर काम
विधुमुखि फिरि फिरि हेरत वयान ॥ ध्रु ॥
बाजत कत कत यन्त्र रसाल ।
गायत सहचरी देयत ताल ॥

चौदिके वेढ़ल नटिनीसमाज ।
तार माझे शोभित नटवरराज ॥
पदतले ताल धरणीपर धरि ।
नाचत संगे निशंक मुरारी ॥
हासि ललिता करे लइय डम्ब ।
विकट ताल तब करिल आरम्भ ॥
हासि कमलमुखी कहे शुन कान ।
इये परे पदगति करह सन्धान ॥
माति मदन-मदे मदन गोपाल ।
विकट ताल पर नाचत भाल ।
रिझि देयल धनि निज मति माल ॥
सुखभरे शेखर कहे भालि भाल ।

वेहाग-मल्लार—वृहत् झपताल

आजु श्याम रास-रस-रंगिया
नव युवराज युवति संगिया ॥ ध्रु ॥
चञ्चल-गति चरणे चलत
संगीत सुरंगिया ।
नाचे मनोहर-गति अंगभंगिया ॥
वीण अधिक विविध यन्त्र
वाओये उपंगिया ।
मधुर ता ता थै थै थै
बोलत मृदंगिया ॥
कानु लपत सुर मोहन
लाल मंजिर मानरि ।
रुचिरताता थैया थैया थैया
गाओत सुर तान रि ॥
वृषभानु-नन्दिनि किशोरि गोरि
गाओत अनुपाम रि ।

शिवराम आनन्दे नाहिक ओर
हेरत रास-धामरि ॥

सोहिनी मिश्र वेहाग-झपताल

राधा श्याम नाचे रे, धनु अंक पातिया ।
जलधर श्याम एकि अनुपाम
थिर विजुरि वामे राखिया ॥
थगु थगु थगुता रंगे भंगे चलेपा
नखमणि झलमलिया ।
मंजीर मूक ए वड़ि कौतुक
किंकिणी किनकिनिया ॥
नाचे यदुवीर थिर करि शिर
कुण्डल मृदु दोलनिया ।
माधव गाने सुरकुल वाखाने
मुनि जन मन मोहनिया ॥
अंसे अंसे दुहुँ विनिहित-वाहु
हास दामिनी दमनीया ।
अंग भंग करि श्री रासविहारी
गोविंददास हेरे मातिया ॥

वेहाग झपताल

नाचत नव नन्ददुलाल
रसवती करि संगे ।
रवाव खवाव वीण कपिनास
वाजत कत रंगे ॥
कोइ गायत कोइ वायत
कोइ धरत ताले ।
सखिगण मिलि नाचइ गाओइ
मोहित नन्दलाले ॥
शुक नाचिछे शारी नाचिछे
वसिया तरूर डाले ।

कपोत कपोती दुजने मिलिया धारिछे कवइ ताले
फुलेर उपरे भ्रमरा नाचिछे
भ्रमरी नाचिछे संगे।
मधुकर यत नाचे कत शत
मधु दिये तारा रंगे॥
यमुना नाचिछे तरंगेर छले
ताहाते मकर-मीने।
जलचर पाखी नाचिया बुलिछे
नाहि जाने रात्रि दिने॥
उर्द्ध नाचिछे यत देवगण
होइया आनन्दचित।
गन्धर्व किन्नर नाचिया नाचिया
गाइछे मधुर गीत॥
ब्रह्मा नाचिछे सावित्री सहिते
पुलके पूरित अंग।
वृषेर उपरे नाचे महेश्वर
पार्वती करि संग॥
मिहिर नाचिछे स्व-पत्नी सहिते
रोहिणी सहिते चान्दे।
यत देवगणे आनन्दे नाचिछे
हिया थिर नाहि बान्धे॥
सुरासुर आदि आनन्दे नाचिछे
पाताले नागेरसने
कूर्मेरसने अनंत नाचिछे
अति आनन्दित मने॥
सुमेरु सहिते पृथिवी नाचिछे
वलिछे भालि रे भालि।
गोवर्धन गिरि आनन्दे नाचिछे
यार तटे रास केलि॥

ए सब नाचन देखिया मगन
बहिछे आनन्दधारा।
निमानन्द दास नाचन देखिया
नाचिछे वाउल पारा॥

वेहाग-जपताल

अतिशय नटने परिश्रम भै गेल
घामे तितल तनु-वास
नृत्त समाधि राइ कानु बैठल
वरज रमणी चारु पास॥
आनके कहने ना जाय।
चामर करे कोइ बीजन बीजइ
कोइ वारि लेइ धाय॥ ध्रु॥
चरण पाखालइ ताम्बूल जोगायइ
कोइ मुछायइ घाम।
ऐछन दुहुँ तनु शीतल करल जनु
कुवलय चम्पक दाम॥
आर सहचरिगणे बहुविध सेवने
श्रमजल करलहि दूर
आनन्द-सायरे दुहुँ मुख हेरइते
उद्धवदास हिया पूर

नृत्यरास (२)

मायूर-मध्यम दशकुशी

देख देख गोरा-नट-रंग।
कीर्तन मंगल महारास-मण्डल
उपजिल पुरुव-प्रसंग॥
नाचे पहुँ नित्यानन्द ठाकुर अद्वैतचन्द्र
श्रीनिवास मुकुन्द मुरारि।
रामानन्द वक्रेश्वर आर यत सहचर
प्रेम सिंधु आनन्द लहरी॥

ता ता थै थै मृदंग बाजइ
झनर झनर करताल ।
तन तन ताम्बुर वीणा सुमधुर
बाजत यन्त्र रसाल ॥
ठाकुर पण्डित गाय गोविन्द आनन्दे बाय
नाचे गोरा गदाधर संगे ।
द्रिमिकि द्रिमिकि थैया ता थैया ता थैया थैया
बाजत मोहन मृदंगे ॥
कीर्तन मण्डल— शोभा अपरूप भेल
चौदिके भकत करू गाने ।
तीरे तीरे शोभन श्रीवृन्दावन
जाह्नवी श्रीयमुना जाने ॥
पुरुवक लालस विलास रास-रस
सोइ सब सखिगण संग ।
ए कविशेखर होयल फाँपर
ना बुझिया गौरांग रंग ॥

बेहाग—जरताल

रमणी मोहन विलसिते मन
मरमे हइल पुनि ।
गिया वृन्दावने बसिला यतने
रमिते वरज-धनि ॥
मधुर मुरली पूरे वनमाली
राधा राधा करि गान ।
एकाकी गभीर बनेर भितर
बाजाय कतेक तान ॥
अमिया-निछनि बाजिछे सघने
मधुर मुरली-गीत ।
अविचल कुल— रमणी सकल
शुनिया हरल चित ॥

श्रवणे जाइया रहिल पशिया
अन्तरे वाजिछे बाँशी ।
आइस आइस वलि डाकये मुरली
येन भेल सुखराशि ॥
आनन्दे अवश पुलक मानस
सुकुमारी धनि राधे ।
गृह-कर्म यत हैल विसरित
सकल करिल बाधे ॥
राइयेर अग्रेते यतेक रमणी
कहये मधुर वाणी ।
ओइ ओइ शुन किवा वाजे तान
केमन करये प्राणी ॥
सहिते ना पारि मुरलीर ध्वनि
पशिल हियार माझे ।
वरज-तरुणी हइल वाउरी
हरिल कुलेर लाजे ॥
केह पति सने आछिल शयने
त्यजिया ताहार संग ।
केह वा आछिल सखीर सहित
कहिते रभस-रंग ॥
केह वा आछिल दुग्ध-आवर्तने
चुलाते राखि वेसालि ।
त्यजि आवर्तन हइ आनमन
ऐछने से गेल चलि ॥
केह शिशु लइया कोलेते करिया
दुग्ध कराये पान ।
शिशु केलि भूमे चलि गेल भ्रमे
शुनि मुरलीर गान ॥
केह वा आछिल शयन करिया
नयने आछिल निद ।

যেন কেহ আসি চোরাই লইল
নয়নে কাটিয়া সিঁধ ॥
কেহ বা আছিল রন্ধন করিতে
তেমতি চলিয়া গেল।
কৃষ্ণ মুখী হইয়া মুরলী শুনিয়া
সব বিসরিত ভেল ॥
সকল রমণী ধাইল অমনি
কেহ কাহো নাহি মানে।
যমুনার কূলে কদম্বেরি মূলে
মিলল শ্যামের সনে ॥
ব্রজনারীগণে দেখিয়া তখনে
হাসিয়া নাগর-রায়।
রাস-বিলসন করিল রচন
দ্বিজ চণ্ডীদাসে গায় ॥

কেদার—মধ্যম দশকুশী

ব্রজরমণীগণ হেরি হরষিত মন
নাগর নটবর-রাজ।
নটন-বিলাস— উলসহি নিমগন
চৌদিগে রমণী সমাজ ॥
যূথে যূথে মিলি করে কর ধরাধরি
মণ্ডলী রচিয়া সুঠান।
বাজত বীণ উপাংগ পাখাওজ
মাঝহি মাঝ রাধা কান ॥
শরদ সুধাকর গগনহি নিরমল
কাননে কুসুম বিকাশ।
কোকিল ভ্রমর গাওয়ে অতি সুস্বর
অমল কমল পরকাশ ॥
হেরি হেরি ফিরি ফিরি বাহু ধরাধরি
নাচত রংগিণী মেলি।

ज्ञानदास कहे नागर रसमय
करे कत कौतुक केलि ॥

वेहाग-तेश्रोट

करे कर मण्डित मण्डलिमाझ ।
नाचत नागरी नागर - राज ॥
बाजत कत, कत यन्त्र सुतान ।
कत कत राग-मान करु गान ॥
द्रिगिता द्रिगिता द्रिगि ताद्रिगि ताद्रिगि द्रिगि,
थै थै थै थै झुनुर झुनुर झुनु—
झुनु झुनु झुनिया ।
कंकण कन कन किंकिणी किनि किनि
किनि रे किनि रे किनि किनिया ॥
कत कत अंगभंग करु कम्प ।
चलये चरणे सुमखिर झंप ॥
कंकण किंकिणी वलया निसान ।
अपरूप नाचत राधा कान ॥
जनु नव जलधर विजुरिक भाति ।
कह माधव दुहुँ ऐछन काँति ॥

वेहाग-वृहत् जपताल

राधा श्याम नाचे रे
नाचे रासरसे मातिया ।
राधा श्याम दुहुँ मेलि
नाचे कर धराधरि
रास - रसरंगे रंगिया ॥
नाचे जलधर श्याम श्याम
थिर विजुरि वाम
नाचे कत अंगभंगिया ।
थुगु थुगु ता—
अंगभंगे चले पा

नाचे दुहुँ मृदु मृदु हासिया ॥
कंकण कन कन झंकन झन झन
किंकिणी किनि किनिया।
दुहुँ मुख दुहुँ हेरे दुहुँ नाचे आनन्द भरे
दुहुँ रसे दुहुँ मातिया ॥
चौदिके सखिगण आनन्दे मगन
नाचे तारा बदन हेरिया।
माझे नाचे राधा-श्याम शोभा अति अनुपाम
कत यन्त्र बाजे सुरंगिया ॥
चौदिके सखिर ठाट ऐछन चांदेर नाट
नाचे तारा ठाम ठमकिया।
कंकन झंकन नुपूर बाजन
आभरण झलमलिया ॥
विनोदिनी रंगे विनोदिनी संगे
नाचे दोहे चिवुक धरिया।
मृदु मृदु हासनि दुहुँ बंकिम चाहनि
हेरि हेरे आनन्दे भासिया ॥
माझे नाचे राधा-श्याम चौदिके गोपिनी ठाम
से आनन्द कहने ना जाय।
मधुर श्री वृन्दावने रासलीला कुन्जवने
ज्ञानदास हेरिया जुड़ाय ॥

करुण वराड़ि-मध्यम एकताला

कदम्ब-तरूर डाल झूमे नामियाछे भाल
फुल फुटियाछे सारि सारि।
परिमले समीरण भरल श्री वृन्दावन
केलि करे भ्रमरा भ्रमरी ॥
राइ कानु विलसइ रंगे।
किवा रूप लावनि वैदगधि धनि धनि
मणिमय आभरण अंगे ॥ ध्रु ॥

राधार दक्षिण कर धरि प्रिय गिरिधर
मधुर मधुर चलि जाय।
आगे पाछे सखिगण करे फूल बरिषण
कोनो सखि चामर दुलाय॥
परागे धूसर स्थल चन्द्र-करे सुशीतल
मणिमय वेदीर उपरे।
राइ-कानु-कर जोड़ि नृत करे फिरि फिरि
परशे पुलके तनु भरे॥
मृगमद चन्दन करे करि सखिगण
वरिखये फूल गन्धराजे।
श्रम-जल विन्दु विन्दु शोभा करे मुख-इन्दु
अधरे मुरली नाहि बाजे॥
हास विलास रस सकल मधुर भाष
नरोत्तम मनोरथ भरु।
दुहुँक विचित्र वेश कुसुमे रचित केश
लोचने मोहने लीला करु॥

सोहइ-समताल

आज रसेर बादर निशि।
प्रेमे भासल सब बृन्दावन बासी॥
श्याम - घन वरिखये प्रेमसुधा-धार।
कोरे रंगिणी राधा विजुरी संचार॥
प्रेमे पिछल पथ गमन सुबंक।
मृगमद-चन्दन - कुंकुम भेल पंक॥
दिगविदिग नाहि प्रेमेर पाथार।
डुबल नरोत्तम ना जाने साँतार॥

वेहाग-जपताल

बड़ अपरूप देखिलुँ सजनी
नयली कुञ्जेर माझे।
इन्द्रनील-मणि कतेक जड़ित
हियार उपरे साजे॥

कुसुम-शयने मिलित नयने
उलसित अरविन्द ।
श्याम सोहागिनी कोरे घुमायलि
चाँदेर उपरे चान्द ॥
कुंज कुसुमित सुधाकरम्वित
ताहे पिककुल गान ।
मदनेर वाणे दोँहे अगेयान
विधिर कि निरमाण ॥
मन्द मलयज पवन वह मृदु
ओ सुख को करू अन्त ।
सरवस धन दोँहार दुँहु जन
कहये राय वसन्त ॥

केदार-जपताल

रास जागरणे निकुंज-भवने
आलुना अलस-भरे ।
शुतलि किशोरी आपना पासरि
पराण नाथेर कोरे ।
सखि, हेर देखसिया वा ।
निंद जाय धनी ओ चाँदवदनी
श्याम-अंगे दिया पा ॥ ध्रु ॥
नागरेर बाहु करिया शिथान
विथान वसन भूषा ।
निशासे दुलिछे रतन-वेशर
हासिखानि ताहे मिशा ॥
परिहास कारि निते चाहे हरि
साहस ना हय मने ।

धीरे धीरे बोल ना करिह रोल
ज्ञानदास रस भणे ॥

झुमुर

(अमनि) राइ घुमाइल ।
श्याम बँधुयार कोरे
अमनि राइ घुमाइल ॥

———

श्रीराम यशोरसायन-रास

केशराज मुनीन्द्रकृत

(सं० १६८३ वि०)

परिचय—

प्रायः जैन मुनियों ने रास के लिये तीर्थों तीर्थंकरों एवं जैन आचार्यों के जीवनचरित्र को ही कथा का आधार बनाया है, किन्तु केशराज मुनीन्द्र ने मर्यादा पुरुषोत्तम रामको अपना कथानायक स्वीकार किया है। मुनीन्द्र ने राम की प्रायः समस्त लीलाओं का वर्णन रासशैली में बड़ी श्रद्धाभक्ति के साथ किया है। उन्होंने इस रास को अधिकारों में विभाजित किया है।

श्री राम यशोरसायन रास एक विशाल ग्रंथ है। इस स्थल पर उस ग्रंथ के केवल द्वितीय एवं तृतीय अधिकार से सीतापहरण अंश उद्धृत किया जा रहा है। मुनीन्द्र की गणना के अनुसार माघ कृष्णा अष्टमी को सीतापहरण हुआ। जब रावण सीताजी को विमान में अपहृत कर लंका की ओर भागा जा रहा था तब सीता विलाप सुनकर जटायू रावण से युद्ध करने को प्रस्तुत हुआ। आक्रोश में भरकर वह रावण का शरीर विदीर्ण करने लगा।

केशराज जी एक स्थल पर रामलक्ष्मण के संवाद द्वारा सीता को अटवी में अकेली छोड़ने और उनकी अनुपस्थिति में राम के मूर्च्छित होने का संकेत करते हैं। राम चेतनावस्था में आने पर पशु पक्षी एवं वनदेवी से सीता का पता पूछते हैं। तदुपरान्त खर और विराध नामक राक्षसों का वर्णन आता है।

अब राम किष्किंधा नगरी में पहुँचते हैं और सुग्रीव के साथ मैत्री करते हैं। ढाल ३४ में महारानी तारा का विशद वर्णन है।

रावण जब सीताहरण कर लंका पहुँचता है तो वहाँ रानी मन्दोदरी उसे विविध प्रकार से समझाकर सीता को लौटाने का परामर्श देती है किंतु रावण उनकी एक नहीं सुनता। इसके उपरान्त विभीषण का वर्णन है। वह अत्यंत व्याकुलहृदय वाली सीताजी के समीप पहुँचकर उन्हें आश्वासन

देता है। कवि विभीषण के चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। वह विभीषण को कुल का भूषण घोषित करता है।

आगे चलकर सीता के शोध का विवरण मिलता है। कपिराज हनुमान का लंकागमन और सीताजी की खोज का विशद वर्णन है। कथा का क्रम प्रायः रामचरित मानस से मिलता जुलता है। इसकी शैली लोककाव्य की शैली है। एक स्थान पर ४५ छन्दों में निरन्तर प्रत्येक चरण के अन्त में 'हो' का प्रयोग मिलता है। धाइ हो, फराइ हो, सुणाइ हो, पाइ हो, थाइ हो, सखाइ हो, पिछताइ हो, लड़ाइ हो अधिकाइ हो, होइ हो, काचो हो, साचो हो, भाखु हो, राखु हो इत्यादि पद इस बात के साक्षी हैं कि इस रास में जनकाव्य शैली का पूर्णरीति से निर्वाह पाया जाता है।

———

श्रीराम यशोरसायन–रास

केशराज मुनीन्द्रकृत

सं० १६८३ वि०

माघ वदि ८ दिने सीताअपहरणम्।

तांम जटायू पंखीओरे, जाइ मिलीयो धाय;
रोस भरी नख अंकुशेरे, तास विलूरे काय। जी० ३०
वरज्यो पिण माने नहीरे, ताम सुरीसाणो राय:
कापी नाखी पांखडीरे, पड्यो धरती आय। जी० ३१
शंक न माने कोइनीरे, बयठो जाय विमान:
एह मनोरथ माहिरोरे, पूर्यो श्री भगवान। जी० ३२
हा! सुसरा दशरथजीरे, जनक जनक कहे तात;
हा! लक्ष्मण हा! रामजीरे, हा! भामंडल भ्रात। जी० ३३
सिंचाणो जिम चिडकलीरे, वायस बलिने जेम:
ए कोई मुझने गहीरे, लेई जावे एम। जी० ३४
आवो कोई उतावलोरे, शूरो जे संसार;
राक्षसथा राखी लीयोरे, करती जाय पुकार। जी० ३५
अर्कजहीनो जाइयोरे रत्नजटी खग एक;
रोज सुणी सीतातणोरे, मनमांहि करे विवेक। जी० ३६
भगनी भामंडल तणीरे, रामचंद्रनी नारी:
रावण जी छल केलवीरे, लेइ चालिओ अपहारि। जी० ३७
भामंडलना पक्षथकीरे, रत्नजटी तरवारि;
संवही सांम्हों हुवोरे, रावणजी तिहिवारि। जी० ३८
मूलकाणो मनमें घणोरे, करे किसुं ए रंक;
विद्या सघली हयहरीरे, लीधी तास निःशंक। जी० ३९

पंख विहूणो पंखीयोरे, होवे तिम ए देखि;
छोटा मोटासुं अडयांरे, पावे दुःख विशेषि । जी० ४०
जंबूद्वीपे जंबूगिरेरे, गीरतो गीरतो तेह;
करतो अधिका उरतोरे, आयो घरती छेह । जी० ४१
आपूण में अल्लोलमेंरे, सायर उपरि सांइ;
करे घणुं सम जावणीरे, समजावोने तांइ । जी० ४२
भूचर खेचर राजीयारे, सयलनमें हम पाय;
अछुं त्रिखंडनो धणीरे; इंद्र आप गुण गाय । जी० ४३
करि थापुं पटरागिनीरे, महिमा अधिक वधाय;
रोवे मति रहे रंगमेंरे, सुखमें दुःख न खमाय । जी० ४४
करता कोपिओथो छणोरे, हेत किसे खुणसाय;
भागहीणा तिण रामनेरे. दीधी गयल लगाय । जी० ४५
कागगले कंचनतणीरे, माला भली न देखाय;
सरखांने सरखो मिल्यारे, आवे सहुनी दाय । जी० ४६
मानो मुझने पतिपणेरे, होइ रहुं तुम दास;
मुझ मान्या सहु मानसीरे, आणी तुम्हारी आस । जी० ४७
निजर न उंची सा करेरे, दिइ न अपूटो जाव;
अक्षर दोना ध्यानथीरे, आणी रही अति आव । जी० ४८
विंधियो मनमथ बाणसुं रे, आरति अति मनमांहि;
उठीने पग लागीयोरे, विषही विह्वल प्रांहि । जी० ४९
लंपट ललचावे घणुंरे; तो कां न करे प्राण;
अणइच्छंती नारिनारे, पहिली छे पच्चखांण । जी० ५०
सीता पग खांची लीयोरे, छिविओ नहीं शिरतास;
परपुरुषाने आभडयांरे, थाये शील विणास । जी० ५१
देवलनी ध्वज सारिखीरे, पतिव्रता कहिवाय;
होय अपूठी वायसुं रे, आपे अलग पुलाय । जी० ५२
सीता तस कोशो घणुंरे, रे निर्लज नरेश;
मुझ आंणयाथी ताहरीरे, विणठी वात विशेष । जी० ५३

सारणादिक तो घणारे, मंत्री ने सामंत;
साम्हा आव्यासादरारे, प्रभुने शिर नामंत । जी० ५४
नगरीनी शोभा करीरे, उच्छवनो अधिकार;
नार निरुपम लावीयारे, मुख मुख जयजयकार । जी० ५५
लंकाथी दिशी पूर्व्वरे, देव रमण उद्यान;
रक्ताशोक तलें जइरे, वयसावि सा आण । जी० ५६
राम अने लक्ष्मण तणी रे, जब लग न लहुं खेम;
तब लग मुझने छे सही रे, भोजन केरो नेम । जी० ५७
रखवाली तो त्रिजटा रे, आरक्षक परिवार;
मूकी मंदिर आवी यो रे, लोग घणों छे लार । जी० ५८
ढाल भली वत्तीसमी रे, रावन ने चित चाव;
केशराज ऋषिजी कहे रे, आगे लावन साव । जी० ५९

इति श्री ढाल बत्रीशमा राम यशोरसायने द्वितीयोधिकारः

श्री रामयशोरसायन-राम

तृतीय अधिकार

दुहा

वाग वाणी वरदायनी, कविजन केरी माय;
मया करीने मुझभणी, सुमति दीज्यो सुखदाय । १
राम चली उतावला, आया लखमण पास;
रण रंगे रमतो खरो, दीठो सो उल्लास । २
राम प्रतें लखमण कहे, तुम तो कीयो अकाज;
अटवी मांहि एकली, सीता मूकी आज । ३
राम कहे तें तेडियो, हुं आयो अवधार;
सो कहे में नवि तेडिया, ए परपंच विचार । ४
फिरि जाओ उतावला, मति को विणसे काम;
पीछे थी हुं आवीयो जीतियो छुं संग्राम । ५
वेगि वेगि वाटें वही, राम पधारे जाम;
निजर न देखे जानकी, मूर्छाणा प्रभु ताम । ६

ढाल, ३३ मी० पडी दोइ लाल तमाकू दो—ए देषी ।

श्रीरामे नारि गमाई हो, इतउत ढुंढत मोलत वन में;
सा नवि दिये दिखाइ हो, श्रीरामे नारि गमाइ हो । १
संग्या पामी अंतरजामी, आगें आवी धाइ हो;
पाख विहूणो पंखी पडीओ, दीठो उपरी आवी हो । श्री० २
पंखीडे दीठो नर कोई, नारी लीधां जाइ हो;
पूठि हुवांश पापी पुरुषें, नाख्यो छे ए धाइ हो । श्री० ३
श्रावक जाणी जाणी सहाइ, प्रभु उपगार कराइ हो;
श्रीनवकार अवार, अनोपम, दीधों तास सुणाइ हो । श्री० ४
मंत्र प्रसादे स्वर्ग चतुर्थे, सूरनी पदवी पाइ हो;
संगतथी पंखी उधरीयो. संगतथी सुख थाइ हो । श्री० ५
उंचो देखे नीचो देखे, पास न कोई सखाइ हो ।
संचल जाणी आसा आणी, धाइ रहे पिछताइ हो । श्री० ६
लखमण साथे स्वर खेंचर सो, मांडे ताम लडाइहो;
त्रिशिर लघुभाइ खर राखी, आप करे अधिकाइ हो । श्री० ७
रथ वयसीने लखमण साथें, भूझतणी विधिटाइ हो;
लखमण वीरे भारि नांख्यो, पहिली एह वधाइ हो । श्री० ८
लंका पयालां केरो स्वामी, चन्द्रोदय सुत सोइ हो;
नामें विराध सवल दल साजी, आणी सहाइ होइ हो । श्री० ९
सेवक सोइ आडो आवे, काम पडया नहि काचो हो;
लखमण साथे विराध वदे रे, सेवक छुं हुं साचो हो । श्री० १०
आप हणीने लंका लीधी, रीस घणीए आगें हो;
स्वामी कारज वैर वापनो, जगमांहि जस जागे हो । श्री० ११
तुम्ह आगें ए कीट पतंगा, भृत्यपणोहुं भाखुं हो;
दिओ आदेश विदेश वताओ, रण अखयायत राखुं हो । श्री० १२
इषत हसी लखमणजी वोले, स्युंरे सहाए शूरा हो;
आप वलें वलवंत कहावे, परवल नित्य अधूरा हो । श्री० १३
जेठो वंधव राम नरेसर, दुःखित जन प्रतिपालू हो;
देशे तुम्हने राज तुम्हारो, शत्रुकंद कुदालू हो । श्री० १४

देखी विराध विरोधी खरतो, बोली यो रोस प्रकाशी होः
शंबूक हंसा साहिज एहने, उतरीयो वनवासी हो। श्री० १५
लखमण कहे खर मति भूंके नंदन त्रिसरो भाइ हो;
उणही पंथे तोहि चलावुं, तोरे सुमित्रा माइ हो। श्री० १६
मारिओ के मारिओ में मूरख, जीभतणी सुभटाइ हो;
करि प्रगटो प्रोढो पखपाती, लीजे तास बोलाइ हो। श्री० १७
एम कहंतो नट जिमनाचे, बाणे अंबर छाई हो;
बाण खुर प्रेखर शिर छेदे, अवर रणां मुंहवाइ हो। श्री० १८
दूषण दल लेईने दोड्यो, ते पिण मारी लीधो होः
अपूण कीधु आपस मार्यो, अवरांसुं जस न दीधो हो। श्री० १६
लेइ साथ विराध वदीतो, उमग्यो उमग्यो आवे होः
एतले वामो नेत्र फरुकीओ, ताम असाता पावे हो। श्री० २०
अलगांथी दीठो अलवेसर, अटवीमांहि भमंतो हो;
नारी वियोगी जोगी जेहवो, आरतिमांहि रमंतो हो। श्री० २१
लही विखवाद विचार विशेषे, एतो में धुर जाणी हो;
अटवी में एकाकी वसतां, राम गमावी राणी हो। श्री० २२
लखमण आगें आवी उभो, राम न साम्हो जोवे हो;
विरह साल ए अवसरि साले, नभने साम्हो होवे हो। श्री० २३
पानपान करिके वन शोध्यो, नारी नयणे नावी हो;
वनदेवी तुम्हो वनवासिनी, दिओ छो क्युं न बतावी हो। श्री० २४
तुम्ह भरोसे नारी मूकी, हुं तो काम सिधायो होः
काम न कीधो नारी गमावी, जग अपजस बोलायो हो। श्री० २५
भाइ भरतें रागें मूकीयो, त्रिय रखवाली कामे हो;
आयोथो सो एक न हूई, उंछुं दीठो रामे हो। श्री० २६
राजभार देवा नवि दीधो, धन है केकयी माता हो;
नारि न राखि शक्यो नर निसतो, तो किम राज्य रखांता हो। श्री० २७
एम कहेतो राम नरेसर, धरणी पडीओ धसकाइ होः
राम दुःखे पशु-पंखी दुःखीया, उभा आगे आइ हो। श्री० २८

लखमणजी कर शीतल ताई, बोले आवी आगे हो;
आप करोछे कार्य किसुंए, सहुने भूंडुं लागे हो । श्री० २६

भाई तुम्हारो हुं जीती आव्यो, खरनो कंद निकंदी हो;
वचन-सुधारस सुं सिंचाणो, लहे संग्या आनंदी हो । श्री० ३०

देखे लखमण उभो आगे, उठी मिलीयो सांइ हो;
आपे दो मिलि त्रिया नरखाणी, हरखाणी उवामाइ हो । श्री० ३१

ओदस्तु सो मंत्री भाखे प्रभु, ए आरति माणो हो;
नाद भेद करीने किण एक, सीता लीधी जाणो हो । श्री० ३२

तेहना प्राण संघाते सीता, वयगी पाछी आणुं हो;
तो तो लखमण नाम हमारुं, नहीं तो जूठ थयाणुं हो । श्री० ३३

वीर विराध खरो हिव मिलीयो, आयो बोल दारु हो;
लंक पयालें प्रभु थिर थायो, वचन पाले जिम वारु हो । श्री० ३४

सीता खबर करेवा कारण, भट मोकलीया भारी हो;
वीर विराध घणुं झलफलीयो, अवसर सेवा प्यारी हो । श्री० ३५

सुभट सहु पृथ्वी फिरि आया, सीता खबर न पामी हो;
अधोमुखा उभा प्रभु आगे, वतलावे तव स्वामी हो । श्री० ३६

दोष न कोउ सेवक जननो, उद्यमनो अधिकारी हो;
प्रभुनुं दशाये कारिज न सरे, सुदशा काज सुधारी हो । श्री० ३७

वीर विराध प्रभुपगि लागि, अरज करे अनुरागी हो;
बापीयायां दोड्डु दह दिशि, कारिज केडें लागी हो । श्री० ३८

वीर वीराध सबल दल साथें, राम सुलखमण दोइ हो;
लंक पयालें चाली आया, खबर लह सहु कोइ हो । श्री० ३९

खरनो नंदन शंबूक भाइ, सुंद नरेसर आप हो;
साम्हो आवी खेत झडावी, हाथी ग्रह्यां शर-चाप हो । श्री० ४०

वीर वीराध शिपें लडेंवें, वारुं वेरज वाले हो;
किहाँ हयथी कां रथ पायक, लोग-वचन संभाले हो । श्री० ४१

राम सुलखमण देखी सनमुख, सूर्पनखा सुत लेइ हो;
रावण पासे पधारी पापणि, घरनो चउड करेइ हो । ४२

वीर विराध तिहां थिर थाप्यो, आरति सघली टाले हो;
मोटानी मोटी मति मोटी, मोटो बोलिओ पाले हो। श्री० ४३
राम सुलक्षमण खरने महिलें, वसीया आप विराजे हो;
युवराजा जिय वीर विराधज, सुंद घरें सुख साजे हो। श्री० ४४
ढाल भली ए तीनतीसमी, वीर विराध बधायो हो;
केशराज ऋषिराज कहेरे, राज गयो वोहोडयो हो। श्री० ४५

दुहा

प्रतारिणी विद्या महा, हेमवंत गिरि जाय;
साहस गत साधी सही, तवही आयो धाय। १
पुरी केकिंधा आवीयो, करि सरिओ सुविलास;
गति-मति-वाणी विचारवे, बीजो रवि आकाश। २
तारानो अभिलाषीयो, आतुर थयो अपार;
रुप धरे सुग्रीवनो, न करे कांइ विचार। ३
क्रीडा करवा कारणे, वनमें गयो सुग्रीव;
ए घरमें चलि आवीयो, अवर लही अतीव। ४
तामधणी घर आवीयो, रोकांणो दरवारि;
घरमें छे सुग्रीवजी, वात पडी सुविचारि। ५
दो सुग्रीव विचार तां, वालितणो तो पूत;
काकी घर ताला जडे, राखेवा घरसूत। ६
चंद्ररश्मि रलीयामणो, युवराजा जयवंत;
वाली वीरनो जाइयो, अवल प्रवल नहि अंत। ७
आवीने उभो रह्यो, आगो कोइ न जाय;
खेदी वाहिर काढीयो, वलीयांथी इमथाय। ८

ढाल ३४ मी सुरतकी देशी

तारा परतख मोहनी, तारा अधिक रसाल;
तारा सुग्रीव सोहनी हो, तारा अति सुविशाल;
तारा तारारूप अनूपतारा, तारा मोह्या भूपतारा,
तारा हो मोहनवेलि तारा, तारा कोमल केलि तारा। १
चवदा अक्षोहणीनो धणी, राजा श्रीसुग्रीव;
पार नहीं प्रभुता तणो हो, साहिब आप सदीव तारा। २

एकण डांगे मारीयें, साचा जूठा दोइ;
ग्यान विना निश्चय नहीं हो, लोगांथी सुं होइ तारा। ३
साचो मिलसे साचने, जूठो जूठे जोइ;
जूठतणी जड उथली हो, जइ सुसतावे कोइ तारा। ४
हंस अने बग उजला, लागां एक प्रसंस;
खीर नीरने पारखे हो, बगबग हंसहि हंस तारा। ५
काच अने मणिऊ सारिखा, लोगा एकहि वाच;
पिण पारखीयां आगलें हो, मणि मणि काचहि काच तारा। ६
काग अने तो कोकिला, वरणे एग सोहाग;
मास वसंत विराजीया हो, पिक पिक कागहि काग तारा। ७
मंत्रीने पंचां मिली, नेवडीयो ए न्याय;
सात सात अक्षोहणी हो, दोई पक्षे थाय तारा। ८
दोइ लडो आप आपमें, साचां देव सहाय;
जूठो नासी जायसी हो, सहुने आवी दाय तारा। ९
खेत बूहार्यो मोकलो, ऊभा होइ आय;
लोग लड्या आयापणा हो, झगडो तो न मिटाय तारा १०
लागे ना चाहे नारिने, चाहे ए दो ताई;
कोइ मरो कोइ जीवो हो, लोगां लागे कांइ ! तारा। ११
तब दोइ सुग्रीवजी, लडिया शस्त्र उपाडि;
खांति न राखी खेल दवे हो, तोहि न मिटी राडी तारा। १२
दोइ तो समतोल जी, दोइ विद्यावंत;
दोइ खेचर तो खरा हो, दोइ ता मयमंत तारा। १३
हाथीसुं हाथी अडे, सिंह साथ तो सिंह;
सापें साप मिटे नहीं हो, शूरें शूर अबीह तारा। १४
सुग्रीवें संभारीयो, हनुमत आयो चालि;
जूठो सुग्रीव कूटीये हो, न शके झगडो टालि तारा। १५
सुग्रीव चित्तसुं चिंतवे, साचो ए तो सोच;
केहने तजे केह ने भजे हो, लोगां ए आलोच तारा। १६
वालि हुंता बलवंतजी, जग जस जाचो जोर;
सोतो हूवा संयमी हो, भडग रह गया भोर तारा। १७

चंद्ररश्मि बलीयो घणो, मरदमें मरदान;
खबर न लाधे एतली हो, कुण निज कुण छे आन तारा। १८

दशकंधर छे दीपतो, लंपटि मांहि गिणाय;
वात सुण्यां हणी रोइने हो, तारा लीयें बोलाय तारा। १९

एतादृश संकट पड्यां, काम समारण हार;
खरथो सोरामें हण्यो हो, करता पर उपगार तारा। २०

शरण ग्रहूं श्रीरामनो, लखमणसुं अभिराम;
जेम विराध निवाजीयो, सारेसे हम काम तारा। २१

लंक पयालां छे सही, आज लगें उइश;
बोलाव्या आवे सही हो, कारज विसवावीस तारा। २२

दूतज छानो मोकल्यो, वीर विराधहि पास;
वात जणावी विस्तारी हो, पाया सो उल्हास तारा। २३

वेगा आवो वेगसुं, आवी करो अरदास;
काम तुम्हारो सारसे हो, देसे अरिने त्रास तारा। २४

संतोषाणो स्वामिजी, निसुण्यो वचन अलोल;
बलते छांट अमीतणी हो, अरतिमांहि अमोल तारा। २५

साहण वाहण सामटां, चालि गयो सुग्रीव;
आगें धरी विराधने हो, आरतिवंत अतीव तारा। २६

चरण कमल प्रभुना नमि, भाखी मननी वात;
परदुःख कायरनो सही हो, विरुद अछे विख्यात तारा। २७

हम तुम्हने छे सारिखो, अबला दुःख अपार;
हमारो तुम भांजस्यो हो, थारो श्री करतार तारा। २८

अेह सुणतां वातजी, गहवरीयो राजान;
परदुःख थी दुःख आपणो हो, साले साल समान तारा। २९

दुःख हीया में सँवरी, सुग्रीवहि संतोष;
दीधो देव दया करी हो, कीधो सुखनो पोष तारा। ३०

वीर विराध कहे सही, आपांने एकाज;
करिवो छे उतावलो हो, न कीयां पावां लाज तारा। ३१

कपिपति भाखे कामजी, आपां करिवो एह;
सुसतो होइ सोधस्युं हो, जइ धरतो ने छेह तारा। ३२

द्वीप अने परद्वीपनी, शुद्धि अणांउं आप:
तो तो साचो जाणियो हो, शूर राजा छे बाप तारा। ३३

प्रभुजी चाली आवीया, पुरि किंकिंधा देखि;
जाणे अलका अभिनवि हो, पायो सुख विशेषि तारा। ३४

बीजो बोलावी लीयो, उभो आवी खेत;
दोइ लडता नवि जाणीये, हो, साच न झूठहि हेत तारा। ३५

वज्रावर्त्तज नामथी, धनुष चढोडीओ देव;
विद्या गई टंकारथी हो, प्रगट थयो ततखेव तारा। ३६

लंपट पर नारी तणा, ढीठां मांहिला धीठ;
जग सघलो अवलोकतां हो, तुझ सम अवर न दीठ तारा। ३७

एक बाणसुं मारीयो, साहस गति सेतांन;
एक चपेटें सिंघने हो, हरिण लहे अवसान तारा। ३८

वीर विराधतणीपरें, थिर थाप्यो कपिनाथ;
साचो करि सहू देखतां हो, आंणी मिलीयो साथ तारा। ३९

त्रयोदश कन्या भली, राम प्रतें आपंत,
प्रीति रीति काढी करी हो, कपिपति तो आपंत तारा। ४०

राम कहे कपिराजीया, तुम्ह वाचा संभाल;
परणेवानी पाछली हो, पहिली सीता बाल तारा। ४१

ढाल भली चउत्रीसमी, कपिपति कांम समारि;
केशराज ऋषिजी कहे हो, अब शोधीजें नारि तारा। ४२

दुहा.

रावणने घरे रोवणो, आज पडिओ अवधारि;
खरनी सुणी सुणावणी हो, आंणि मिलि बहु नारि। १

दिवस विचारां आंतरे, सूर्पणखा ने सुंद;
लंका नगरी आवीयो, बरसे आंसु बुंद। २

सुर्पनखा सुहासणी करती अधिक विलाप;
रावण ने गले लागि के, दीन वदे अति आप। ३

कंत हण्यो कुमर हण्यो, हणीय देवर दोय;
खेचर चवद हजारनो, हंता एकसुं होय। ४

लंक पियालें आवीया, आण्यो रोस अगाध;
रांक जेम हम काढीया, वसीयो वीर विराध। ५

बंधव तुम्ह बेठां थकां, वरते ए अन्याय;
धरती दिन थोडो विषे, जातिहि दिखाय। ६

एक सुवर्णे सांवलो, बीजो पीले वांन;
वनवासी छे भीलडा, पिण नहीं केहने मांन। ७

वसवा भाणेजा भणी, वास अनेरो हेरि;
सगो सगें आवे सही, कोइक दिनांके फेरि। ८

ए सघली श्रवणे सुणी, बोले वीर विवेक;
घरटीरा फेरा घणा, पिण घरटानो एक। ९

पंखाली कीडीतणो, मुवांने दिन जात;
मारि करिसुं पाधरा, और चलावो वात। १०

वात नहीं वतका नहीं, राग नहीं नहि रंग;
राज काज भावे नहीं, होइ रहिओ विरंग। ११

नींद नहीं लीला नहीं, फूल नहीं तंबोल;
भोजन पाणी पिण नहीं, सुण्या न भावे बोल। १२

हासि नहीं रामति नहीं, नहीं भोगनो जोग;
मांणस मुवां सारिखो, होइ रह्यो तसु सोग। १३

खायो पडीओ खाटले, पडिओ रहे नरनाथ;
मूंग मूंग बोले नहीं, आरति करे सहु साथ। १४

ढाल. ३५ मी. मेरे मन अयसी आयवणी—ए देशी;
थारा चित्त में कांइ वसी, मंदोदरीमां दोषति पेखी,
पूछे वात हसी थां। १

पखवाडें अंधारे आये, घटतो जाय शशी;
तेज हेज प्रताप प्रखीणो शोभा लाज खीसी थां। २

सुंस अछे तुम्ह मुझ गलाना, न कहो जिसीहि तिसी;
आरति अतिही उदासपणाथी, मति तुं जाय चीसी-थां ३

रावण भाखे सुणी मंदोदरी, चित्तमें आणी चुभी;
सीता सुरती भाल भलीए, हियांमांहि खुभी थां । ४

घुंमुंछु दिन राति घणेरो, न शकुं समज करी;
जो तुं मुजने चाहे देवी, मेलो प्रीति खरी-थां । ५

प्रियनी पीडाये पीडाणी, तबही उठि धसी;
देवरमण उद्याने आवी, देवी एक ससी-थां । ६

हुं मंदोदरी छुं रीसुभोदरी, मोटे नाम चढी;
रावण राणयांमाँहि बखाणी, वनितामांहि वडी-थां ७

भोली कां भरमांणी छे तुं, रावण साथ रमी;
माणस भवनो लाहो लीजे, हुं छुं दास समी थां । ८

सीता तुं धन तुं धन थारे, माथे अधिक रति;
राजा रावणने चित्त आवी, मेल्ही अवर छती थां । ९

भूचर राम तपस्वी ते तो, सेवक मात्र सही;
उपति तजिए पति ज्यो पामें, करमें तीरें कही-थां १०

मन खीचीने मोन रही थी, नोची सही नगही;
तुं तो सतीयां मांहि वखाणी, एती हीन लही-थां । ११

किहां जम्बूक किहां सिंह सनूरो, गरुड किहांरे अही;
किहां मुझ पति किहां तुझ पति, लंपट लाज नहींरे तहीं थां ।
तुं नारी धन धन तुझ ठाकुर, सिरिखी जोडी मिली;
पति लंपट घरकी पटराणी, दूतीमांहि मिली-थां । १३

थांरु मुंहडो नहीं देखवो, तुजसुं वात किसी;
अलगी जा आंख्यां आगेंथी, मयली जेम मसी । १४

एतले रावणजी चल आयो, शीत धमण धमी;
शीतल वचनांथी समजावे, आपें उपसमी-थां । १५

मंदोदरी रांणी तुझ आगें, किंकर मांहि गिणी;
हुं तुम्ह दास सरीखो केती, भाखुं अवर भणी-थां । १६

निजर निहालो उत्तर वालो, टालो वात घणी;
पालो दोडया हुंस न पूगे, ऊं असवार तणी । १७

होई अपूठी सीता बोले, सांभल लंक धणी;

काल दृष्टिसुं हुं देखेसुं, जा घरि टालि श्रणी-थां । १८
धिग धिग तुज ए आस्या माथे थारी कोत वणी;
जीवित राम सुलक्षमण हुं छुं अही माथेरे मणी-थां । १९

वार वार बचन आकोसे, न तजे राय रली;
हांक लीयोरे हरीलो होवे, श्वान न जाये टली । २०

सीतानी तो अरति अधिकी, न शक्यो शूर खमी;
आथमीयो अलगो होवाने, व्यापी आण तमी-थां । २१

रावणने उपजी ए अधिकी, कुमति तणी ए मति;
उपसर्गा करावे अधिका, सीदावेरे सती-थां । २२

फेतकारी करती फेरे, घू घू धूक करे;
वृश्चिक वृक फिरे क्रंदतां, निसत नररे डरे-थां । २३

पुच्छाटोप सुव्याघ्र विशेषें, उतुं अन्योन्य लडे;
फूं फूंता फण करता, परगट, मांहोमांहि अडे-थां । २४

पुच्छा छोट सुव्याघ्र विशेषे, सिंह सबलतें फिरे;
साकनीयां संहार करंती, मुंह विस्फोट करे थां । २५

भूत पिसाच वेयाल वदीता, हठसुं हास हसे;
डाकिणी भूतनी मयली देवी, काती हाथ घसे-थां । २६

उल्लंता दुरललित, अति जमकाय धरे;
रावण एह विकुर्वण, करिनेइ, आगे आणी सरे-थां । २७

परमेष्ठी पांचे मन ध्याती सीता स्वेत (खे) खरे;
जानकी (जानकै) पियु करती, रावण सान्ही पग न भरे थां२८

रावण तो निज नियम भांजे, सीता सत न चले;
पाकांने नही भूत पराभव, काचानेरे छले-थां । २९

डाल भली ए पांचती समी, धन्य जो टेक ग्रहे;
केशराज ग्रही तो साची, सीता ज्युं निवहे-थां ३०

—दुहा—

विभीषण निशिनी चरी, निसुणी लोगां मांहि;
सीता पासे आवीओ, करण दिलासा प्राँहि । १

सहोदर समजाविवा, वात सुणेवा वीर;
छे परनारी परांग मुख, साहसवंत सधीर। २
बाइजी ! तुम्हे कवण छो किहांथी आव्या चालि;
इहां तुम्हे आणया कुणे, भाखो शंका टालि। ३
घूंघट खींची अधोमुखी, जाणी पूर्ष प्रवीण;
सत्यवती साची सती, वाणी वदे अदीण। ४

ढाल ३६मी, एक दिवस रुकमणि हरिसाथें-ए देशी०

सीता ताम निशंकपणेरे, भाखे वारु वाणीरे;
बिभीषण कुलकेरा भूषण, निसुणे अमृत जाणीरे-सी। १
जनक पिता भामंडल भाई, राम-त्रीया हुं वखाणीरे;
दशरथनी कुलवहू वदीतो, सतीयाँमें अधिकाणीरे-सी। २
राम नरेसर लक्ष्मण देवर, तीजी हुंतो राणीरे;
दंडकारण्ये मांहि आवी, वासतणी थितिठांणीरे-सी। ३
सूरहास असि तरु डाले, देखिओ अधिके पाणीरे;
लक्ष्मणजी लीलाये लीधो, ज्योति घणी प्रगतांणीरे-सी। ४
करण परीक्षा वेगें वाहे, वंशनी जाल कपाणीरे;
शंबूकनो तव शिर छेदाणो, मनसा अति पिछ्रताणीरे-सी। ५
खांडो देखी राघव भाखे, तें न करी मतीश्याणीरे;
विद्या साधित (साधन) विण अपराधें, मारियो एते प्रांणीरे। ६
पाछे पूजा भोजन पाणी, आंणीने चमकाणीरे;
धड मस्तक दो जूदां दीठां, ताम घणुं अकुलांणीरे-सी। ७
पग अनुसारें चाली आवी, राघवसुं रीझाणीरे;
लंपटिनी लालच नवी पूरी, मनसा अति पिछ्रताणीरे-सी ८
खरदूषण त्रिशि सोलें आवी, आगि थइ शिलगांणीरे;
सिंह नाद संकेत कीयाथी, लखमणसुं मंडाणीरे-सी। ९
लंकाजई लंकापति अण्यो, वात कही अति तांणीरे;
सिंहनादनो भेद लगावी, ए हुं इहां आंणीरे-सी। १०
ए दश मस्तक कापवाने, हुं कातीरेक कहांणीरे;
लंका नगरी बालवामें, हुंवल हुंयतती छांणीरे-सी। ११

तेज प्रताप पराक्रम, पीलण, हुं घरमंडी धाणीरे:
पगी आवीछुं रावण केरे, एकांतें दुःख खाणीरे-सी । १२

श्रवण सुणे पिण रीस न आणी, रागीनी सहि नांणीरे:
आगि सतेजी छे अति अधिकी, जल आगे उल्हाणीरे-सी । १३

एम सुणी लघुबंधव जंपे, वाइ मति भरमाणीरे:
एको बलती गाडर घरमें, घाले कुण अग्यानीरे-सी । १४

पर रमणी नेकाली नागिणी, के विष वेलि समाणीरे:
जालवतांइ जब तब जोवो, क्युंहि नहि अति ताणीरे । १५

संपद तरुनी एक कुहाडी, आपदनी नीसाणीरे:
आप सतीनो छे दुःखदाई, मति दिइ एह रीसाणीरे-सी । १६

लाख कहुं के कोडि कहुं तुम्ह, अंततो वस्तु विराणीरे:
आजकाल दिन च्यारांमांहि, एतो वात दिखाणीरे-सी । १७

हुं म्हारो ओलंभो टालुं, राखो कीर्ति पुराणीरे:
लोक कहेसे कोइ न हुं तोरे, रावणके आगें वाणीरे-सी । १८

राम सुलक्ष्मण दोमुंही बलीया, अनमी नाडि नमाणीरे:
सीताने हुं देइ आंउं, जिम रहे प्रीति थपाणीरे-सी । १९

ढाल भली (ए तौ) छत्तीसमी, राये एक न मांनीरे:
केशराज ऋषि रावणकेरी, वेला आणी जणाणीरे-सी । २०

दुहा

रावण हूवो रातडो, वदे विभीषण वीर:
ग्रही वस्तु किम छोडीयें, जब लग रहे शरीर । १

राम सुलक्ष्मण भीलड़ा, वनहिमांहि वास:
साहण वाहण कोनहो, आपहि फिरे उदास: । २

साहण वाहण माहिरे, विद्यानो अति जोर:
ओ स्यु करिसे बापड़ा, कांइ मचावे सोर । ३

आज नहीं तो कालही, काल नहीं तो मास:
मास नहीं तो वरसमे, आप हि करिसे आस । ४

एतलामांहि आसना, हवे आवे सी चालि;
छल बल कोइ केलवी, देस्युं परहा टालि । ५

ढाल ३७मी, सयणा परिहरियें अहंकार-ए देशी ।

पहिलीथीमें सांभलीरे, रामत्रीयाथी घात;
होसे रावणनी सहीरे, इही मिलेछे वात,
विभीषण वात विचारे एह ।
सत्य वचन ज्ञानीतणारे, कोई नहीं संदेह-वि । १

में तो कीधोयो घणोरे, आ द्रोही उपकर्म;
दशरथ जीवतो उवर्योरे, धीरोछे गज धर्म-वि । २

भावीनो बलछे घणोरे, नटले कोडि प्रकार;
सीताने तजतां थकारे, पालसे लोगां चार-वि । ३

सुणतो ही सुणे नहींरे, विभीषणनां बोल;
देखे तो देखे नहींरे, कामी एतो निटोल वि । ४

पुष्पक नाम विमानमेंरे, सीता लेइ आप;
क्रीडा करिवा चालीयोरे, टाल्यो न टले पाप-वि । ५

देखावे अति रुवडारे, रत्नमयी, गिरिरांज;
नंदनवननी ओपमारे, देखावे वन साज-वि । ६

तटनी तट करि सोहतीरे, हंस केरा साज;
केलघरा काम्यां तणारे, देवे रक्षराज-वि । ७

मंदिर विविध प्रकारनारे, सेजतणी बरसोभ;
भद्रे भद्रपणे भलोरे, आखि विषयसुख लोभ-वि । ८

लंपट लालच लागीयोरे, केलवणीनी कोडि;
करि देखावे अति घणीरे, खेत खरे नहि खोडी-वि । ९

हंस तजीने हंसलीरे, कदही वंछे काग;
राम तजी सीता तणोरे, नहीं अवरांसुं लाग-वि । १०

ताम अपूठो आवीयोरे, वृक्ष अशोकहि हेठि;
मूकी रावण माननीरे, ए पिण काठी बेठि-वि । ११

विभीषण चित्त चिंतवेरे, होइ रहिश्रो मयमंत:
शीख न कोई सरदहेरे, आयो दीसे अंत-वि । १२

मंत्रीसर बोलावीयारे, विभीषण तिहिवार:
करे मसूरति सहू मिलीरे, उपजियो ए अविचार-वि । १३

मोह तणे मदि माचीयोरे, कोइ न माने कार:
हूश्रो हरायो हाथीयोरे, केम करीजें सार-वि । १४

आयो दीसे आसनोरे, रावण काल विणास:
कोइ रुप करमें करीरे, कीजे भोग विलास-वि । १५

मति उठावे मनथकीरे, ते माटे मंत्रीश:
जोर न लागे माहिरोरे, कान न मांडे ईश-वि । १६

मिथ्या मतिनो मोहियोरे, जिन मतिनो आदेश:
माने नहीं प्रभु आपणोरे, कीजे कांइ कलेस-वि । १७

हनुमतने कपि राजीयोरे, आदि मिल्या नृप आप:
धरम पखें पखीया थयारे, मेल्हिश्रो रावण राय-वि । १८

राम अने लक्ष्मण थकीरे, रावणनो संहार:
ग्यांनी वचने छे सहीरे, सांचवीयें विवहार-वि । १९

जोति पहिली सोचीयेरे, तो कांइक सुख पाय:
मंदिर लाग्यां वारथीरे, काढयो कांइ न जांय-वि । २०

भय तो उपजसी सहीरे, सांसो नहिय लिगार:
जेहनी आंणी कामिनीरे, ते तो आवणहार-वि । २१

जेहनुंतरीयो प्राहुणोरे, ते तो जोवे वाट:
खोटो नांणो आपणोरे, कीधां कांइ उचाट-वि । २२

लंका नगरी अति सजीरे, ढील न कीधी रंच:
अन्नपान ने इंधणारे, मेल्हे बहूलो संच-वि । २३

कोट ओटना कांगुरारे, पोलि अने पागार:
सगलोही समरावीयोरे, गोला यंत्र अपार-वि । २४

विद्यातो आशालिकारे, तेहनो प्रवर प्राकार:
देवहि पाछा उसरेंरे, लंघंता दुरवार-वि । २५

इण रचनाये लंका सजीरे, ढील न करी है लिगार;
हिवे भवियण तुम्हे सांभलोरे, श्रीराघव अधिकार-वि। २६

राघव विरहे वियोगी थोरे, आरति वंत उदास;
अन्न पांनि भावे नहिरे, ले लांबा निसास-वि। २७

लक्ष्मण साथें बोलीयारे, ढील पडेछे एह;
आशा दिन दश वीशनीरे, पाछे तजसी देह-वि। २८

दुखीयो अधिक उतावलोरे, सुखीयो सुसतो होय;
तिर्सीयो जाये सरोवरें रे, साम्हो नावे सर सोय-वि। २९

ढीलो वानर राजीयोरे, सुखमांहि दिन जाय;
पर दुःखीयो दुःखीयो नहींरे, वातां वडा न थाय-वि। ३०

एम सुणीने उठीयोरे, हाथ ग्रही सर चाप;
धमधमतो अति चालीयोरे, होठडसंतो आप-वि। ३१

कंपावे धरती घणीरे, कंपावे गिरि सीस;
वृक्ष उखाली नांखतोरे, कोपिओ विसवावीस-वि। ३२

आया चलि दरबार मेंरे, खलभलीयो सुग्रीव;
धुजंतो पगे लागीयोरे, सारे सेव अतीव-वि। ३३

ओलंभो देइ आकारोरे, शुद्ध नहि तुजमांहि;
तुं घरमें सुख भोगवेरे, प्रभु सेवे तरु छांहि-वि। ३४

वासर जाये वरस सोरे, छगुणी राति गिणाय;
तुजमें वीतक वीतीयोरे, तोही न समजे काय-वि। ३५

गुंवड फूटां वैद्यनेरे, संभारे नहीं कोय;
आरति तो अति आंधलीरे, आप थकी लुंजोय-वि। ३६

म्हेनत थारीए भणीरे, खेचर दोइ प्रकार;
भूमितणा छो भोमियारे, सगले तुम्ह पयसार-वि। ३७

वाचा पालो आपणीरे, काम करो धसि धाय;
नहीं साह सगतिनी परेंरे, दिउं परभव पहुंचाय-वि। ३८

देव दयाल दया करोरे, हूं तो छुं तुम्ह दास;
एम कहीने आवीयोरे, श्रीराघवनी पास-वि। ३९

पगि लागीने वीनवेरे, वेगो काम कराउं;
खुंस कराउं चामनीरे, उरण तोही न थाउं-वि । ४०

कामीने तो कामिनीरे, कहियें प्राण समान;
उवालीने आपतांरे, आप्यां तुम्ह मुज प्राण-वि । ४१

जो तो हु ं छुं जीवतोरे, जे जूवो कीधुं काम;
शुद्ध करुं सीतातणीरे, तो साचो मुजनाम-वि । ४२

संभाह्या भड सामठारे सूरांमांहि सूर;
सीता सोधण चालीयारे, जिम पाणीना पूर-वि । ४३

गिरि-नदीने सायरुरे- द्वीपादिक सहु ठाम;
पुर पुर पाटण सोधीयारे, नगर नगर ने गाम-वि । ४४

हरण सुणी सीतातणोरे, भामंडल आवंत;
भाई तो भगिनीतणोरे, गाढो दुःख पावंत-वि । ४५

विरविराध पधारी योरे, लेइ निज परिवार;
सेवक सेवा सांचवेरे, माने अति उपगार-वि । ४६

कपिपति तोडीले चालीरे, कंवू द्वीप पहूत;
रत्न जटी तस देखवेरे, आरतीयो अदभूत-वि । ४७

दशकंधरे मुज मारिवारे, मोकलियो कपिराज;
मुजने मारी जायसेरे, उपजीओ अधिक अकाज-वि । ४८

कपिराजा तव बोलीयोरे, गाढो होई गरम;
तु ं मुजने किउं (नवी) उठीउ रे, विनयवडो जिनधरम-वि । ४९

थाक चढि पगि चालवेरे, सो तो वयसि विमान;
आपां इच्छायें फिरांरे, न ऊठिऊ कोइ गुमान-वि । ५०

सो भाखे स्वामी सुणोरे, इशांसु अभिमांन;
कांइ न करे पाधरोरे, कारण ए छे आंन-वि । ५१

रावण सीता अपहरीरे, में मांडियो संग्राम;
विद्या सघली अपहरीरे, पडियो होइ निकाम-वि । ५२

पंख विहूणो पंखीयोरे, उडी न शके जेय;
विद्या विण विधाधरुरे, जाणेवो प्रभु एम-वि । ५३

राम समीपें आवीयोरे, मांडी कहे विरतंत;
रावण सीताने लइरे, नाठो जाय तुरंत-वि। ५४

राणी जावें रोवतीरे, करती अधिक विलाप;
राम राम श्रीरामनोरे, एकही जिहां जाप-वि। ५५

लक्ष्मण लक्षणवतंनोरे, के भामंडल भ्रात;
नाम जपंती जायथीरे, में निसुणी ए वात-वि। ५६

हुं हूवो तब बाहरुरे, करतो अति आक्रोस;
विद्या सघली अपहरीरे, रावण कीधो रोस-वि। ५७

समाचार सोहामणारे, सीताजीना पामी;
परम महासुख ऊपनोरे, जाणे त्रिभुवन सांमि-वि। ५८

रत्नजटी विद्याधरुरे, कंठे लगाइ लीध;
तुं म्हारे वालेसरुरे, खबर भली तें दीध-वि। ५९

जिम जिम पूछे वातडीरे, तिमतिम ऊपजे राग;
वारंवार विशेषीयेरे, रागीनो ए माग-वि। ६०

समाचार सगां तणांरे, सांभलतां संतोष;
मिलवा में ओछो नहींरे, प्रेम तणो अति पोष-वि। ६१

पूछे प्रभु सुग्रीवनेरे, लंका केती दूरी;
आलसुयां अलगी खरीरे, उद्यमवंत हजूरि-वि। ६२

लंकानो पूछो किसुंरे, पूछो रावण तेज;
आजलगें अधिको अछेरे, सूरज तेज सहेज-वि। ६३

राम कहे सो जाणीयेरे, तेजपणो संसार;
कायर कपट करी खरीरे, लेइ गयो मुजनार-वि। ६४

लक्ष्मण निजरां ठाहरेरे, तो रायां राजान;
देखेवी दिन च्यारमेंरे, ए छोडाए भयदान-वि। ६५

लक्ष्मण भाखे खेचरोरे, रावण तोछे श्वान;
सूना घरमें पेसीयोरे, फिटि एहनो अभिमान-वि। ६६

क्षत्रिने छल नवि कहियोरे, क्षत्रीनो बल खेत;
सोइ साचो मानवोरे, देखी जे निज नेत-वि। ६७

जांबवान भाखे भलोरे, उपाडे भुज पाणि;
कोटी शिलाने साहसीरे, रावण हंता जांणि-वि । ६८

साधु वचन मैं सांभल्योरे, ए अति रुडी रीति;
सहुने शिला उपाडतांरे, उपजे अति परतीति-वि । ६९

लक्ष्मण भाखे ए भलीरे, वयसे विमाने देव;
विद्यावलें विद्याधरुरे, आइ गया ततखेव-वि । ७०

जेम लता तिम ते शिलारे, देखाडी उपाडि;
पुष्पवृष्टि हूइ भलीरे, सुजस चढिओ लेलाडि-वि । ७१

भलूं भलूं कहे देवतारे, प्रत्यय पामी जाम;
सहू कोइ अणंदीयारे, पाछा आया ताम-वि । ७२

वृद्ध पुरष परमारथीरे, वात विचारे एक;
पहिली दूतज मोकलोरे, जाणण हार विवेक-वि । ७३

वातांमें समजावीयांरे, पाछी आपे (वा) वाल;
दोइ घरेहैं वधामणांरे, वाधे नहीं जंजाल-वि । ७४

दूत महावल आगलोरे, मोकलीयें सुप्रमांण;
लंका तो साजी सुणीरे कीधा अतिहि मंडाण-वि । ७५

ढाल भली सैती समीरे, कीधी दूतनी थाप;
केशराज ऋषिजी कहेरे, जहेनो प्रवल प्रताप-वि । ७६

दुहा

राक्षस कुल सायर दिखें, अमृत उपजिओ एक;
विभीषण मति आगलो, जाणें विनय-विवेक । १

दूत धूत जाये धसी, विभीषणने पास;
भय मांनी राक्षस तणो, पाछो नावे नास । २

सीता छोडावा तणी, रावणसुं अरदास;
करे लघु भाई भली, मानेसे प्रभु तास । ३

देव जोगे मानी नहीं, पाछी वात विशेष;
सर्व जणावे आपने, लीधी मान नरेश । ४

सुग्रीवे सुसतो कीयो, अवलोई सहु सत्थ;
हनुमत तब बोलावीयो, जाणी अति समरत्थ । ५

पगे लागी ऊभो रहियो, प्रभु करे प्रसाद;
तुज सम बीजो को नहीं, थारो जग जसवाद । ६

दशकंधर लेई गयो, लंका नगरी मांहि;
सीता छे तस, शुद्ध तो, तुजथी आवे प्रांहि । ७

हनुमत भाखे स्वामिजी, मया करी कपिराय;
ते माटे हुं तेडीयो, वानर घणा कहाय । ८

गव गवाक्ष सरभज गवय, जांबवान नल लीन;
द्विविद गंध मादन भलो, अंगदमें दश लील । ९

इत्यादिक तो छे घणा, वानर अति अभिराम;
छेहली संख्या पूरणी, मांहि म्हारुं नाम । १०

पिण हुं कारज एतली, करुं सांभलो राय;
लंका राक्षस द्वीपसुं, आणुं इहां उठाय । ११

रावण लोग डरामणो, भाइयांसुं बांधि;
आणुं प्रभुने आगलें, कोउइ वेला साधि । १२

कहो तो हणुं कुटंबसुं, कुलनो कंद निकंद;
सत्यवती सीता सती, आणुं धरि आनंद । १३

राम कहे साचो सहु, थारो वचन विचार;
जेम कहे तिम ही करे, नहि संदेह लिगार । १४

एक वार तो जायके, आणो खबर अवार;
वश्य पडीछे पारके, वरते कोण प्रकार । १५

———

रास एवं रासान्वयी काव्य

परिशिष्ट

श्री जिनदत्त विरचित उपदेश रसायन रास

[अर्थ]

१—हे भद्र पुरुषो ! (उपांत्य और अंत्य रूपा) पार्श्व और वीर जिन तीर्थंकारों को निर्मल अध्यवसाय से नमस्कार करो। इस प्रकार तुम पाप से मुक्त हो जाओगे। केवल गृह-व्यवहार में ही न लगे रहो। क्षण क्षण गलती हुई आयु को भी देखो।

२—प्राप्त किये हुये मनुष्य-जन्म को मत खोओ। संसार रूपी सागर में पड़े हुये (तुम) अपने आप को पार लगाओ। अपने आप को राग-द्वेषों को मत सौंपो और इस प्रकार अपने आपको सब दोषों का घर मत बनाओ।

३—जो दुर्लभ मनुष्य-जन्म तुमने प्राप्त किया है उसे सुनिश्चित रूप से सफल करो। वह शुभ-गुरु के दर्शनों के बिना किसी प्रकार भी शीघ्र सफल नहीं हो सकता।

४—सुगुरु वही है जो सत्य बोलता है। जिससे परनिंदा का समूह नष्ट हो जाता है, जो सब जीवों की अपनी ही तरह रक्षा करता है, और जो पूछने पर मोक्ष का मार्ग बतला देता है।

५—जो जिन भगवान् के वचनों को यथावत् जानता है। द्रव्य, क्षेत्र तथा काल को भी ठीक ठीक जानता है। जो उपसर्ग तथा अपवाद को (शिष्यों से) करवाता है तथा उन्मार्ग से जाते हुये मनुष्यों को रोकता है। अर्थात् लोक-प्रवाह के साथ जाते हुए मनुष्य को सावधान करता है।

६—यह द्रव्य रूपी सरिता अथवा लोक-प्रवाह रूपी सरिता विषम (महा अनर्थकारिणी) कुगुरु की वाणी रूपी पर्वत से निस्सृत है तथा कुख्यात है। जिसके पास सद्गुरु रूपी जलपोत नहीं है वह उसके प्रवाह में पड़कर बह जाता है और कष्ट पाता है।

गुरु गिरि—गुरु रूपी पर्वत।

कुप्रतिष्ठिता—पृथ्वी पर प्रतिष्ठित।

७—यह (सरिता) बहुत मूर्खों से युक्त तथा दुस्तर है जो निरुत्तर (तरने

में असमर्थ) होते हैं वे इसे कैसे तरेंगे। शांतिमान् (शोभनोचरण) ही इसे तर सकते हैं और वे (इस प्रकार) उत्तरोत्तर सुख को प्राप्त करते हैं।

जड़=मूर्ख, जल।
निरुत्तर=विचार विकल, तरने की सामर्थ्य से विहीन।
उत्तरोत्तर=क्रमशः, तरते तरते।

८—गुरु रूपी नौका पुण्यविहीन जनों के द्वारा प्राप्त नहीं की जाती। इसमें (लोक प्रवाह) पड़ा हुआ मनुष्य बह जाता है। जब वह नदी संसार रूपी सागर में प्रविष्ट हो जाती है तब सुखों की वार्ता भी नष्ट हो जाती है।

९—उसमें पड़े हुये मनुष्य भयानक ग्राहों के द्वारा खाये जाते हैं और अहंकारी कुगुरुओं की दंष्ट्राओं (दाढ़ों अर्थात् कठोर उत्सूत्रों के वचनों से) से भिद जाते हैं। उन्हें फिर अपने पराये का ज्ञान नहीं रहता वे फिर स्वयं सुप्तावस्था में होने के कारण स्वर्गादिक सुख रूपी लक्ष्मी को भी नहीं मानते।

कुग्राहैः=कुत्सित लोभी जनों से ग्राह।
मद (क) र=अहं से भरे हुये; मकर।

१०—यदि कोई परोपकार रसिक दयालु उन हतचेतन मनुष्यों को देख कर सहानुभूति से द्रवीभूत होकर गुरु रूपी नौका लाता भी है तो वे उस पर चढ़ना नहीं चाहते।

११—यदि कोई परोपकार रसिक उन (दर्शकों) को बलात् गुरु रूपी पोत पर रख भी देता है तो वे अधीर होकर रोने लगते हैं और फिर कच्छा (रस्सी, सहारा) देने से वे रोते हैं तथा फिर उसी (पाप रूपी) विष्ठा में लिप्त हो जाते हैं।

१२—क्या वह कातर पुरुष धर्म को धारण कर सकता है? और फिर गुण को सादर ग्रहण कर सकता है? उसके सुख के लिये वह परोपकारी व्यक्ति क्या निर्माण का अनुष्ठान उसके हृदय में करा सकता है? अतः क्या वह सम्यक् चरित्र का पालन कर सकता है? अर्थात् नहीं।

धर्म=(१) धर्म (२) धनु।
गुण=(१) गुण (२) जीव।
सुहस्त=(१) परोपकारी (२) शोभनकर।
निर्माग=(१) मोक्ष (२) निश्चित वाण (ठीक लक्ष्य)।

मोक्ष=(१) मोक्ष (२) प्रक्षेप।

राधा=(१) सम्यक् चरित्र (२) चक्राष्टक के ऊपर की पांचालिका।

१३—जो (मन चक्षु आदि से) हिनहिनाते घोड़े के समान चपल है जो कुमार्ग का अनुसरण करता है और सन्मार्ग पर नहीं लगता तथा (लोकाचार के) प्रबल झकोरे में बह जाता है उसका सुनिर्वृत्ति से सङ्गम कैसे होगा।

१४—नाना प्रकार के श्रावकों के द्वारा उसका भक्षण किया जाता है और विशालकाय कोमल पापोपदेशक कुत्तों के द्वारा छेदा जाता है। वह व्याघ्र के समान भयानक कुसंघों के भय से (सन्मार्ग पर नहीं लगता और) पाप के गर्त में गिरता चला जाता है। और उसके कारण वह अस्थि-पंजर मात्र ही अवशेष रह जाता है। (अर्थात् उसके मनुष्य शरीर का कोई सदुपयोग नहीं हो पाता।)

१५—वह इस जन्म को निरर्थक करता है और फिर अपने माथे पर हाथ मारता है (अर्थात् पछताता है)। उसने अच्छे कुल में जन्म लेकर भी सद्गुणों का प्रदर्शन नहीं किया।

१६—यदि वह सौ वर्ष भी जीवित रहता है तब भी वह केवल पाप को ही संचित करता है। यदि कदाचित् वह जिन दीक्षा भी प्राप्त करता है तो (स्वभाववश) अपने निंद्य कर्मों को नहीं छोड़ता।

१७—वह व्यक्ति मोहासक्त लोगों के आगे अहंकारवश गरजता है और धर्म के लक्षण तथा तर्क के विचार में लगता है। दयावश ऐसा कहता है कि मैं जिनागम की कारिका कर सकता हूँ तथा सब शास्त्रों का सम्यक् विचार करता हूँ।

१८—वह आधे महीने अथवा चतुर्मास के बाह्य विधानों को दिखाता हुआ भी मानो आभ्यंतर मल को बाहर धारण करता हो। श्रावक को प्रतिक्रमण नहीं करना चाहिए। साधुओं को भी स्तुति आदि कार्य करणीय है। वह वंदनक आदि का भी पालन करता है।

१९—लेकिन वह उसके वास्तविक अर्थ को नहीं जानता और फिर भी लोक प्रवाह में ही पड़ा रहता है। यदि उन ऋचाओं के (अशुद्ध) अर्थ पर कोई उसे रोकता है तो उसे डंडा लेकर मारने दौड़ता है।

२०—धार्मिक जन शास्त्र के अनुकूल विचार करते हैं परंतु वह उन धार्मिकों को शस्त्र से विदीर्ण करता है और (इस प्रकार) वह ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को नष्ट कर देता है।

२१—जो ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को जानता है वह ईर्ष्या नहीं करता परंतु वह (प्रतिनिविष्ट चित्त वाला व्यक्ति) जब तक जीवित रहता है तब तक ईर्ष्या द्वेष नहीं छोड़ता। यदि शुद्ध धर्म में कोई बिरला लगता भी है तो वह (लोकप्रवाह पतित) संघ से चांडाल की तरह पृथक् कर दिया जाता है।

२२—उस (शुद्ध धर्मग्राही) व्यक्ति में पद पद पर छिद्र ढूँढ़े जाते हैं और शांत होने पर भी उसके कार्य में बाधा दी जाती है। और श्रावक लोग कुत्तों की तरह उनके पीछे लग जाते हैं (उसे कष्ट देते हैं) तथा धार्मिक जनों के छिद्र खोजा करते हैं।

२३—वे विधि-चैत्य-गृह में अविधि करके उसे अपने अधिकार में करने के अनेक उपाय करते हैं। यदि विधि-जिन गृह में अविधि आरंभ हो जाती है तो वह ऐसा ही अनुपयुक्त होता है जैसा घी में सत्तू मिलाना।

२४—यदि निर्विवेकी लोभी राजे दुष्ट काल के महात्म्य से उन अविधि-कारियों को ही चैत्य गृहों को (पूजा के लिये) सौंप देते हैं तो धार्मिक जन विधि के बिना कलह नहीं करते, क्योंकि वे सभी (अविधिकारी) डंडे लेकर मारने आते हैं।

२५—नित्य देव-पद-भक्त पंचपरमेष्टि मंत्र का स्मरण करने वाले सज्जनों से शासन देवता स्वयं ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा उनके सभी धार्मिक कार्यों को साध देते हैं।

२६—धार्मिक धर्म कार्यों को साधते हुये विपक्षी दल को युद्ध में मारते भी हैं तो भी उनका धर्म नष्ट नहीं होता और ये शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

२७—श्रावक विधि-धर्म के अधिकारी होते हैं और वे दीर्घ काल तक संसार की विषय वासनाओं का सेवन नहीं करते। युक्त गुरु के द्वारा रोके जाने के कारण वे कभी अविधि नहीं करते। तथा जिन परिग्रह स्थित वेश्या को धारण नहीं करते।

२८—यदि फूल मूल्य देकर प्राप्त हो सकते हों तो क्या कुएँ के समीप वाटिका नहीं लगाई जातीं ? अर्थात् लगाई जाती है। उसी प्रकार यदि जिन धन संग्रह हो गया हो तो क्या उसकी वृद्धि के लिए स्थायी रहने वाले गृह हाट आदि का निर्माण नहीं करना चाहिए ? अर्थात् करना उचित है।

२९—यदि कोई मरता हुआ व्यक्ति (ऋण मोक्ष के लिए) घर आदि दे देता है तो लभ्य द्रव्य की भाँति उसे ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति गृहादि देता है तो भी ग्रहण कर लिया जाता है। उस घर के भाड़े से जिन देवता की पूजा की जाती है।

३०—यदि श्रावक (जैन गृहस्थ) धर्मार्थ दान कर रहे हों तो उन्हें धर्म कार्य में विघ्न न करके उत्साहित करते हैं। दान-प्रवृत्त-संत गृहस्थ के (वृत्ति व्यवच्छेदकारि) व्यवहार को त्यागकर क्रोध लोभादि कषाय से पीड़ित नहीं होते।

३१—शिष्ट श्रावक इस प्रकार का धर्म कहते हैं जिससे वे मृत्यु के उप-रान्त सुरनायक होते हैं और जो लोग चैत्र और आश्विन में अष्टाह्निक (शाश्वतयात्रा) करते हैं उनके अहित नष्ट हो जाते हैं।

३२—जैसे (देवेंद्र) जन्म कल्याणादि पृष्ठ पर अष्टाह्निक करते हैं श्रावक भी यथाशक्ति उसी प्रकार करते हैं। छोटी (नर्तकी) चैत्यगृह में नाचती है तथा बड़ी (युवती) नर्तकी सुगुरु के वचनों से उसके (सुगुरु) पास ले जाई जाती है।

३३—जो वीरांगना नवयौवना होती है वह श्रावकों को (धर्माध्यवसाय से) गिराने लगती है उसके लिये श्रावक पुत्र में चित्त विश्लेष हो जाता है और जैसे जैसे दिन बीतते जाते हैं वे धर्म से च्युत होते चले जाते हैं।

३४—बहुत से लोग रागांध होकर उसको (वारांगना) निहारते हैं और जिन मुख कमल को बहुत कम लोग चाहते हैं। जो लोग जिन भवन में सुख (चित्तशांति) के लिये आए थे वे तीक्ष्ण कटाक्षों के आघात से मर जाते हैं।

३५—राग (भैरव, मेघादि) विरुद्ध नहीं गाये जाते, और (जिन गुणों को) हृदय में धारण करते हुए लोगों के द्वारा जिन गुण ही गाये जाते हैं। ढोल आदि भी अनुपयुक्त रीति से नहीं बजाये जाते केवल लड़-

वुडिडउडि आदि ढोल (श्रुति कटुत्व के कारण) नहीं बजाये जाते (अर्थात् उनके मरण में शोक गीत नहीं गाये जाते)।

३६—उचित स्तुति एवं स्तोत्र पाठ पढ़े जाते हैं जो (जिन) सिद्धांतों के अनुकूल होते हैं। रात्रि में (कीटादि हत्या के भय से) तालरास भी नहीं होता और दिन में पुरुषों के साथ लगुडरास भी होता है।

३७—धार्मिक नाटक (नृत्य पर आधृत) खेले जाते हैं और उन (नाटकों) में सगर, भरत आदि के निष्क्रमण तथा चक्रवर्ती बलदेव आदि के चरित कहे जाते हैं।

३८—नृत्य के अंत में संन्यास (दीक्षा) के लिये जाना पड़ता है। चैत्य गृह में हास्य, क्रीडा, हुड्डुर (=शर्त) आदि वर्जित है। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ केलि नहीं करतीं। रात्रि में युवति-प्रवेश भी निषिद्ध है और स्नान और नंदि (जैन आगम विशेष) की प्रतिष्ठा भी नहीं की जाती।

३६—गुणी लोग माघमाला जलक्रीड़ा आंदोलन को भी अयुक्त समझकर नहीं करते। सूर्यास्त के बाद बलि नहीं धरते तथा जिन-गृह में गृहकार्य नहीं करते।

बलि=वस्त्र अन्न आदि
गृह-कार्य=वाणिज्य आदि

४०—वे सूरि, विधि जिनगृह में व्याख्यान देते हैं तथा उत्सूत्रों को न जाने देते और न उपदेश देते हैं। वे नंदि प्रतिष्ठा के भी अधिकारी होते हैं तथा अन्य (उत्सूत्रों के प्रवाचक) सूरियों का बहिष्कार कर देते हैं।

सूरि=आचार्य; उत्सूत्र=सिद्धांत-विरुद्ध

४१—(श्रद्धावान् लोग) एक बार एक ही युग-प्रधान व्यक्ति को गुरु मानते हैं जिसको भी जिन भगवान् प्रवचन कार्यों में श्रेष्ठ वर्णन करते हैं उस (युगप्रधान) के मस्तक पर गुणों का समूह अवस्थित होता है तथा प्रधान प्रवचन कार्यों को साधता है।

लष्ठ=प्रधान

४२—वह युग प्रधान (लौकिक व्यवहार के) छद्म में रहते हुए भी सब कुछ जानता है वह जिन गुरु सिद्धांतों के प्रसाद से भव्य होता है।

(नैसर्गिक सातिशय प्रज्ञावान् होने के कारण)। वह भविष्य-द्रष्टा होता है, अतः अनुचित मार्ग पर नहीं चलता। वह जानता है कि जो (लिखा) है वह अन्यथा नहीं होगा, उसका नाश अवश्य होगा।

४३—जो जिन प्रवचन में आस्थावान् होता है उसके पद की चिंता इन्द्र भी व्यग्र होकर करने लगता है। (ऐसे) जिसका मन क्रोधादि कषाय वृत्तियों से पीड़ित नहीं होता उसकी देवता भी स्तुति किया करते हैं।

४४—जिसके मन में सदा सद्गुरु की वाणी निवास करती है, जिसका चित्त तत्त्वार्थ चिंतन में प्रवेश कर जाता है (अर्थात् रम जाता है)। जिसको न्याय से कोई नहीं जीत सकता है और जो लोक-निंदा के भय से डरता नहीं।

४५—जिसके जीवन चरित को सुनकर गुणियों का हृदय चमत्कृत हो जाता है जो ईर्ष्या वश उसके चरित प्रकाश को नहीं सह सकता वह स्वयं को छिपा लेता है। जिसकी चिंता स्वयं देवता किया करते हैं ऐसे अत्यंत गुणी मनुष्य के ही समान हृदय वाले (प्रभु के) सेवक बहुत कम होते हैं।

४६—जिसे रात दिन यही चिंता रहती है कि कहीं किसी स्थान पर पुष्ट जिन प्रवचन तो नहीं हो रहा है। घूमते हुये मुंडित श्रावक (यत्र तत्र) पर्याप्त मात्रा में दिखाई देते हैं परंतु जो ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करते हैं ऐसे बहुत कम होते हैं।

४७—उन्मार्गगामी श्रावक पद पद पर उसमें छिद्रों को खोजते रहते हैं और उसके असद् और अशोभन दुःखों को खोज खोजकर लाते हैं। परंतु वह धर्म के प्रसाद से सब स्थानों पर त्राण पा जाता है और सर्वत्र शुभ कार्यों में लगा रहता है।

४८—फिर भी वह सद्वृत्ति वाला सज्जन उन दुष्टाशयों से रुष्ट नहीं होता। वह अपनी क्षमाशीलता को नहीं छोड़ता और न उन्हें दूषित करता है। यदि वे आते हैं तो वह उनसे बोलता है और उनसे युक्त (अर्थात् मीठी) वाणी बोलकर संतुष्ट होता है।

४९—अपने आप बहुत विद्वान् बुद्धिमान् आदि होने पर भी गर्व नहीं करता तथा दूसरों के छोटे से गुणों को भी देखकर उनका बढ़ा चढ़ाकर

वर्णन करता है। (और सोचता है कि) यदि ये भवसागर तर जायें तो मैं नित्य सादर उनका अनुवर्तन करूँ।

५०—युग प्रधान गुरु ये (उपर्युक्त) बातें सोचता है और दुष्ट चित्त वाला व्यक्ति उसके मूल में स्थित होने पर भी (अर्थात् उसके आश्रय में होते हुए भी) उसकी जड़ काटता है (अर्थात् उसकी निंदा करता है। इसी कारण (मुग्ध धार्मिक) लोग लोकवार्ता (दुष्ट गुरु की वार्ता) से मग्न (अविधि सेवी) हो गये हैं, और (उसके वचनों से मुग्ध होकर) वे न उसके (शान्त रूप का) दर्शन करते और न अपना परलोक देखते।

५१—इस गुरु का वर्णन बहुत से लोगों ने किया है परंतु हमारा संघ इन्हें नहीं मानता। हम सब कैसे इस (भ्रम) गुरु के पीछे लगें ? अन्य (•अविधि सेवी मूर्ख धार्मिक वृत्ति वाले) लोगों की तरह कैसे अपने सद्गुरु को छोड़ें ?

५२—पारतंत्र्य विधि विषयों से विमुक्त होकर ही पथभ्रष्ट मनुष्य ऐसा करता है। ऐसा मनुष्य विधि धार्मिकों के साथ कलह करता है तथा इह लोक और परलोक दोनों में ही स्वयं को ठगता है।

५३—(यद्यपि वह स्वयं को ठगता है) तथापि (अविवेकी होने के कारण) अदीन होकर धार्मिकों के साथ विवाद करता हुआ (युक्त) विधियों को न सह सकने के कारण झुकता नहीं। (वह मूर्ख यह नहीं जानता कि) जो जिनोक्त विधि है क्या वह (इस प्रकार) विवाद करने से टूटती है ?

५४—भगवान् दुःप्रसभ सूरि ने जो अंतिम चरण कहा है वह विधि के बिना निश्चित कैसे होगा ? क्योंकि (दुःप्रसभनाम) के एक ही सूरि हैं (आश्चर्य) है साध्वी सत्यश्री नाम वाली है। एक ही देशव्रती नागिल नाम का श्रावक है तथा एक ही फल्गुश्री नाम की साध्वी देश विरता श्राविका है।

५५—फिर भी वीर का तीर्थ क्या प्रभूत साधु आदि उपलक्षणों से टूटेगा ? (अर्थात् नहीं)। वहाँ भी सर्वत्र विधि ही है। क्योंकि ज्ञान दर्शन-चरित्र गुणों से युक्त थोड़ा सा समूह भी जिनों के द्वारा संघ कहा जाता है। (यद्यपि यह सत्य नहीं है तथापि संघ जिन विधियों के विशाल समूह को कहा जाता है)

५६—(वह तो) द्रव्य, क्षेत्र, काल की स्थिति से होता है (लेकिन) वह गुणियों में ईर्ष्या द्वेष भाव उत्पन्न नहीं करता। गुणविहीन लोगों का समूह भी संघ कहा जाता है जो लोकप्रवाह रूपी नदी (की धारा) में बहता है।

५७—युक्त तथा उपयुक्त का विचार (सदसदविवेक) जिसको अच्छा नहीं लगता जिसको जो अच्छा लगता है वह वही कह देता है ऐसे समूह को भी अविवेकी जन संघ कहते हैं परंतु गीतार्थ के अनुसार वह संघ कैसे माना जाय ?

५८—ऐसे लोगों के द्वारा बिना कारण के भी सद् सिद्धांतों का निषेध किया जाता है और वंदना आदि करने के प्रसिद्ध गीतार्थ क्या कारण के बिना ही नित्य मिलते हैं तथा पदवंदन करते हैं ? (अर्थात् नहीं)

५९—(लोक प्रवाह में पतित लोग) असंघ को संघ प्रकाशित करते हैं और जो (वास्तविक) संघ है उससे दूर से ही भागते हैं। रागांध मोही युवती के देह में चंद्र कुन्द आदि की लक्षणा करते हैं।

६०—और वेष मात्र ही प्रमाण है ऐसा सोचकर दर्शन रागांध निरीक्षण करते हैं। जो वस्तु नहीं है उसे भी विशेष रूप से देखते हैं (जैसे असंघ में संघत्व नहीं है तथापि उसमें एक विशेष पदार्थ देखते हैं)। वे विपरीत दृष्टि वाले कल्याणकारी स्वर्गिक सुखों को स्वप्न में भी प्राप्त नहीं कर कर सकते और प्रत्यक्ष की तो बात ही क्या ?

६१—वे लोभाभिभूत लोग सद्धर्म से संबंध रखने वाले कार्यों के लिए मुहरें या सोने के सिक्के ग्रहण करते हैं। आपस में झगड़ा करते हैं और संग्रहीत धन को सत्कार्य के लिए नहीं देते। वे विधि धर्म की महती निंदा करते हुए लोक के मध्य में कलह करते रहते हैं।

६२—जिन प्रवचन से अत्यंत अप्रभावित होने के कारण सम्यक्त्व की वार्ता जिन्होंने नष्ट कर दी है, वे देव, द्रव्य को (विचार रहते हुए भी) नष्ट कर देते हैं। घर में धन होते हुए माँगने पर भी वे सद्धर्म के लिए नहीं देते।

६३—पुत्र और पुत्रियों का विवाह योग्य गृहस्थ परिवार में किया जाता है अर्थात् पुत्रियों को समान धर्मगृह में दिया जाता है। विषम धर्मावलंबी

गृह में यदि विवाह किया जाय तो उनके संसर्ग से निश्चय रूप से सम्यकत्व प्राप्ति में बाधा होती है।

६४—थोड़े से धन से संसार के सभी निंदित कार्य संपादित होते हैं, (वही धन) जब विविध धर्मार्थ में प्रयुक्त होता है तो आत्मा निवृत्ति को प्राप्त होता है।

६५—जिन स्थानों में श्रावक निवास करते हैं, उनमें विहारार्थ साधु साध्वि और श्राविकाएँ आती हैं, और वे (श्रावक) अपने पापों का नाश करने के लिए उन्हें भात, वस्त्र, प्रासुक जल, आसन और निवास स्थान देते हैं।

प्रासुक—शुद्ध, जीव रहित

६६—वे साधु आदि कालोचित विधि के अनुसार वहाँ (श्रावकों के द्वारा दिए उचित स्थान) पर निवास करते हैं और अपने आप तथा दूसरों (श्रावकादिकों को) को विधिमार्ग पर स्थापित करते हैं। जिन, गुरु, देवता आदि की सेवा सुश्रूषा आदि के नियमों का पालन करते हैं और सैद्धांतिक वचनों को स्मरण करते हैं।

६७—श्रावक अनेक व्यक्तिवाले अपने कुटुंब का निर्वाह करता है और धर्म के अवसर पर देवता और साधु आदि के लिए दान करता है। वह सम्यकत्व रूपी जलांजलि देता हुआ, संसार में भ्रमण करता हुआ अपनी मति को निर्विण्ण नहीं करता।

६८—जो धार्मिक धन सहित अपने बंधु बांधवों का ही भक्त और अन्य सद्दृष्टि प्रधान श्रावकों से विरक्त है। (वह उपयुक्त कार्य नहीं करता) क्योंकि जो जैन शासन में प्रतिपन्न होते हैं वे सभी परस्पर स्नेह भाव से रहते हैं।

६९—उस मुग्ध को सम्यक्त्व कैसे प्राप्त हो सकता है जो तीर्थंकरों के वचनों का अनुसरण नहीं करता। जो श्राविका तीन चार दिनों तक छुति की रक्षा करती हुई जैन तीर्थंकरों का अनुसरण करती है वह सुश्राविकाओं की गणना में आती है।

नोट—छुतः—जात, मृत, सूतक, रजस्वला, वमन, भू, विष्टा, मद्य तथा चाण्डालादि ये सात छुति होती हैं।

७०—स्वेच्छापूर्वक युक्ति (रक्षा) के कारण गृह धर्म की आपत्ति निश्चय पूर्वक स्वयं ही हट जाती है। स्तुति-भंग होने से देवता तथा विधि अनुकूल-गामी शासन देवता (गो मुख आदि) दुर्विधि होने पर उस गृह को छोड़ देते हैं।

७१—जो श्राविका अतिक्रमण (अर्थात् स्तुति-रक्षा) और वन्दना आदि में आकुल रहती है और असन्दिग्ध भाव से (जिन वचनों को) चित्त में धारण करती है। मन में नमस्कार भी करती है, उसको शुभ सम्यक्त्व भी शोभा देता है।

७२—जो श्रावक दूसरे श्रावक का छिद्रान्वेषण करता है, उसके साथ युद्ध करता है तथा धन के मद से बकवास करता है, अपने झूठ को भी सत्य घोषित करता है वह किसी प्रकार भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

७३—जो विकृत वचनों को कहता है लेकिन उन्हें छोड़ता नहीं, दूसरा यदि सत्य भी कह रहा हो उसका भी खण्डन करता है तथा सदैव आठ (जात्यादि) मद स्थानों में वर्तमान रहता है। वह सद्दृष्टि तो क्या शिष्ट भी नहीं हो सकता।

७४—जो दूसरों को व्यसन में डालने में जरा भी शङ्का नहीं करता और जो दूसरे के मन तथा भार्या को लेने की आकांक्षा करता है, और अधिक संग्रह के पाप में लीन है ऐसे व्यक्ति को सम्यक्त्व दूर से ही त्याग देता है।

७५—जो (समदृष्टि, कोमलालापादि) सिद्धांत एवं युक्तियों से अपने घर को चलाना नहीं जानता, वह स्वयं को धोखा देने वाला है। क्योंकि कोई भी सामान्य व्यक्ति पीठ पीछे लोभादि पूरित मन से सघन परिवार में रहता है।

७६—कुटुम्ब वाले पुरुष के स्वरूप को जान कर लोग उसका अनुवर्तन करते हैं। कोई दान से तथा कोई मधुर वचन से उसकी बातों को ग्रहण करते हैं। कोई भय से सहारा ग्रहण कर लेता है। सबसे अधिक गुणों से युक्त तथा ज्येष्ठ व्यक्ति ही कुटुम्ब का अधिकारी होता है।

७७—जो असत्य भाषण करने वाले दुष्टों का विश्वास नहीं करता और जो असमर्थ के ऊपर दया करता है जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को निशाना नहीं बनाता। जो बिना कारण दूसरों की दान-सामग्री का उपयोग नहीं करता।

७८—माता पिता भिन्न धर्मानुसारी होने पर भी शुद्ध धर्म विषय के अभिमुख होने के कारण पुण्य-भाजन माने जाते हैं। (लेकिन) जो माता-पिता दीर्घसंसारी होते हैं उनका अनुकरण करने पर भी वे असभ्य भाषण ही करते हैं तथा रोकने पर भी नहीं रुक सकते।

७९—(कभी कभी) उन (भिन्न धर्म वाले) का भी (प्रयत्न पूर्वक) भोजन वस्त्रादि देकर अनुवर्तन करना ही पड़ता है। (कभी कभी) दुष्ट वचन बोलने वालों पर भी रोष नहीं किया जाता (स्वयं क्षमाशील होने के कारण)। तथा (स्वयं विवेकी होने के कारण) उनके साथ विवाद भी नहीं किया जाता।

८०—(उपदेश का फल कहा गया है)—इस प्रकार के जिनदत्त कृत इह लोक तथा परलोक के सुखकारी रसायन को जो श्रवण रूपी अंजलि से पीते हैं वे सब अजर तथा अमर हो जाते हैं।

———

चर्चरी

(अर्थ)

१—त्रिभुवन स्वामी, शिवगतिगामी जिनेश्वर धर्मनाथ के शशि-सदृश निर्मल पाद-कमलों को नमस्कार करके गुणगणों में दुर्लभ युगप्रवरागम श्री जिनवल्लभ सूरि के यथास्थित (सत्य) गुणों की स्तुति करता हूँ। अर्थात् इस चर्चरी में अपने गुरुदेव श्री जिनवल्लभ सूरि के गुणों का गान करता हूँ।

२—जो जिनवल्लभ सूरी अनन्त गुणवाला (निरभिमानी) एवं षट्दर्शन के प्रमाण को अपने नाम के समान जानने वाला है। उससे भिन्न कोई भी पुरुष (अनेक) प्रमाणों को नहीं जानता। अर्थात् दर्शन प्रमाणों के जानने में जो अद्वितीय है। जो जैन धर्म की निन्दा करने वाले जैनेतर रूपी गजेंद्रों को विदीर्ण करने में पंचमुख (सिंह) है। उन (पंचमुख) जिनवल्लभ के गुण वर्णन करने में एक मुख वाला कौन मनुष्य समर्थ हो सकता है।

३—जो जिनवल्लभ व्याकरण शास्त्र के ज्ञाता एवं महाकाव्यादि के विधान को जानने वाले हैं जो अपशब्द एवं शुद्ध शब्द के विचारक है। जो सुलक्षणों (विद्वानों) के तिलक हैं। जो छंद शास्त्र के सम्यक् अभिप्राय के साथ व्याख्याता हैं, जो सुमुनियों को मान्य हैं, जो गुरु (श्रेष्ठ गुण वाला) लघु (अल्प गुण वाला) को पहचान कर उसके योग्य कार्य में नियुक्त करने वाले हैं; जो मानवहितकारी है उसकी विजय हो।

टिप्पणी—सुयतिमतः के दो अर्थ हैं—(१) यतिविराम को अच्छी तरह जानने वाला। (२) अच्छे यति से मान्य।

नरहित में भी श्लेष है—(१) नगण और रगण विशिष्ट। (२) जन कल्याण।

४—जो जिनवल्लभ भवरस से परिपूर्ण अपूर्व काव्य को रचनेवाला है; और पसिद्धि-प्राप्त कवियों के द्वारा पूजित है, जो सुरगुरु बृहस्पति की बुद्धि को भी जीतने वाले शुभगुरु हैं, उसको जो अज्ञ नहीं जानता वही माघ कवि की प्रशंसा करता है।

५—जब तक लोगों ने जिनवल्लभ का नाम नहीं सुना था तब तक वे कालिदास को ही कवि मानते थे। जो कवि लोग अल्प चित्र (अर्थात् चित्र काव्य को भी अपूर्ण जानते थे) है वे भी मूर्खों से चित्र कविराज कहे जाते थे।

६—सुकवियों में विशिष्ट पद प्राप्त वाक्पति राज कवि भी आचार्य जिन-वल्लभ के आगे कोई कीर्ति नहीं प्राप्त कर सकते। [वाक्पति ने केवल प्राकृत भाषा में गौड़ वधादि प्रबंध काव्यों की रचना की है। किंतु आचार्य जिन-वल्लभ का अधिकार संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश कई भाषाओं पर था]। अपर कवि—बाण, मयूर प्रभृति—उस जिनवल्लभ के विनेय (शिष्यों) के समान उसकी प्रशंसा करते हैं और उसके काव्यामृत के प्रति लुब्ध होकर नित्य उसको नमस्कार करते हैं।

टिप्पणी—विनेय-शिक्षा देने योग्य शिष्य।

७—जिसके द्वारा विरचित नाना चित्र (काव्य) शीघ्र मन को हर लेते हैं उसका दुर्लभ दर्शन पुण्य के बिना किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। जिसने (जिन भगवान की आराधना में) विविध स्तुति-स्तोत्रों से युक्त अनेक चित्रों (काव्यों) की रचना की है, उसके पद कमलों को जो नमस्कार करते हैं वे ही पुण्यात्मा हैं।

८—जो जिन वचन के सिद्धान्तों को जानता है। जिसके नाम को सुनकर भविष्य में लोग सन्तुष्ट होंगे। जिसने विधि विषय के सहित पारतंत्र्य (अपनी इच्छानुसार नहीं प्रत्युत शास्त्रानुसार या गुरु आदेश के अनुसार) पालन किया है सखे, ऐसे जिनवल्लभ के प्रसृत यश को कोई रोक नहीं सकता। अर्थात् जिनवल्लभ के सदृश दूसरा कोई नहीं।

टिप्पणी—विधि—आज्ञा—जिन आज्ञा।
विषय—मिथ्यात्वादि का परिहार—जिन प्रतिमादि अथवा आचार उल्लंघन का परिहार।
पारतंत्र्य—गुरु आज्ञा के अनुसार।

९—जो (मुक्ति के) सूत्र को जानता है, उसकी शिक्षा देता है, जो विधि के अनुसार स्वयं कार्य करता हुआ दूसरों से भी तदनुरूप कार्य कराता है। जो जिन भगवान् के द्वारा कथित कल्याणकारी मार्ग लोगों को दिखाता है। जो निज एवं पर संबंधी पूर्व अर्जित पापों को नष्ट कर देता है और जिसके दर्शन न पाने के कारण गुणी व्यक्ति भी बड़ा कष्ट पाते हैं।

१०—जिसने लोक प्रवाह (प्रवर्तित) अविधि-प्रवृत्त-चैत्यादि का निषेध कर के, पारतंत्र्य (गुरु आदर्श के द्वारा) के साथ विधि-विषय प्रवर्तित किया। वर्धमान जिनतीर्थ के बनाए हुए अविच्छिन्न प्रवाह से आए हुए दुःसंघ और सुसंघ के भेद को जिसने दिखाया। [कालांतर में वर्धमान जिन कृत धर्म दुसंघ का रूप धारण कर रहा था। किंतु जिनवल्लभ ने पुनः उसे अविच्छिन्न मार्ग पर लगाया।]

११—जो उत्सूत्रों (जैन आगम के विरुद्ध) की प्रजल्पना करते हैं उनको वह दूर से ही त्याग देता है। और जो सुज्ञान-सद्दर्शन साधु क्रियाओं का आचरण करता है। जो गड्डरिका प्रवाहगामी प्रवृत्ति (भेड़ चाल) को त्याग कर अपने पूर्व आचार्यों का (उनके द्वारा उपदिष्ट शुद्ध मार्ग के प्रकाशन द्वारा) स्मरण करता है।

१२—चैत्य गृहों में उन गीत-वाद्यों, प्रेक्षण स्तुति स्तोत्रों, क्रीड़ा कौतुकों को वर्जित मानना चाहिए जिन्हें विरहाङ्क हरिभद्रसूरि ने त्याज्य कहा है। क्योंकि ऐसे निषिद्ध कार्य करने से भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन होता है।

अशातना—धर्म विरुद्ध आचार (अनाचार) भगवान की आज्ञा के उल्लंघन के कारण अवज्ञा।

१३—(यदि विरहांक ने निषिद्ध किया है तो लोग क्यों करते हैं ?) इन प्रश्न का उत्तर देते हुए कवि कहता है। लोक प्रवाह में प्रवृत्त (धर्मार्थी) कुतूहल में प्रेम रखने वाले, संशय से रहित, (निश्चित दोषभाव वाले) अपनी बुद्धि से भ्रष्ट, बहुजन प्रार्थित धर्मार्थी भी स्पष्ट दोष वाले जैन सिद्धांत विरुद्ध गीतादि को करते हैं।

१४—जिन्होंने युगप्रवर आगम का मनन किया है वे हरिभद्र प्रभु दुष्ट सिद्धांतों के प्रति हर्ता है और मुक्तिमार्ग के प्रकाशक है लोक में प्रतापी युग प्रधान सिद्धांत वाले श्री जिन वल्लभ ने विधि पथ को प्रकट कर दिया है। वे जिन वल्लभ सामान्य के लिए दुर्लभ हैं।

१५—श्री जिनवल्लभ ने वह विधि चैत्यगृह बनाया, जिसको आयतन, अनिश्राचैत्य, एवं कृतनिवृंत्तिनयन कहते हैं। पुनः उन चैत्यगृहादि में उस कल्याणकारी विधि को बता दिया जिसको सुनकर जिन-वचन-निपुण जन प्रसन्न हो जाते हैं।

टिप्पणी—

आयतन—ज्ञानादिप्राप्ति का स्थान [आयं तनोतीति आयतन]

अनिश्रा चैत्य—वह चैत्य जो साधुओं के अधीन नहीं किंतु आगमोक्त नीति से ही व्यवहार वाला है।

कृतनिर्वृत्तिनयन—जिसमें निर्वृत्ति का दर्शन होता हो।

१६—(विधि की व्याख्या करते हुए कहते हैं) जहाँ जैन सिद्धांतों के विरुद्ध कहने वाले लोगों का आचार सुविधि प्रलोकक अर्थात् शोभन विधि के देखने वालों के द्वारा नही दृश्यमान होता। जहाँ रात्रि में स्नान और प्रतिष्ठा नहीं होती और जहाँ साधु-साध्वी एवं युवतियों का प्रवेश रात्रि में नहीं होता। जहाँ विलासिनियों (वेश्याओं) का नृत्य नहीं होता।

१७—जिस विधि जिन गृह में ऐसा अधिकारी श्लाघ्य है जो जाति और ज्ञाति भेद का दुराग्रह नहीं करता, जो जिन सिद्धांत को मानने वाले हैं, जो निंदित कर्म को नहीं करने वाले हैं और जो धार्मिक व्यक्तियों को पीड़ित नहीं करनेवाले है और जिनके निर्मल हृदय में शुद्ध धर्म का निवास है।

शुद्ध धर्म का लक्षण—देवद्रव्य का उपभोग दुखदाई है, इस प्रकार विचार करना शुद्ध धर्म है।

१८—जिस चैत्यगृह में तीन चार भक्त श्रावकों के निरीक्षण में द्रव्य-व्यय किया जाता है। जहाँ रात्रि में नंदि कराकर कोई भी व्रत ग्रहण नहीं करता और सूर्य के अस्त हो जाने पर जिन प्रतिमा के सामने बलि समर्पित करते हुए नहीं देखा जाता। और जहाँ लोगों के सो जाने पर बाजा नहीं बजाया जाता।

१६—जिस चैत्य में रात्रि वेला में रथ भ्रमण कभी भी नहीं कराया जाता, और जहाँ लगुडरास को करते हुए पुरुष भी रोके जाते हैं। जहाँ जलक्रीड़ा नहीं होती और देवताओं का आंदोलन (झूला) भी नहीं होता। जहाँ माघ मास में प्रतिमा को (स्नानादि के उपरांत) माला रोपण नहीं किया जाता। (किंतु अष्टाह्निको के लिए यह निषिद्ध नहीं है)

२०—जिस चैत्यगृह में श्रावक जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा नहीं करते। जहाँ स्वच्छंद वचन कहने वाले व्यक्ति भोळे भाळे मनुष्यों से प्रणत नहीं

होते। जहाँ उत्सूत्र व्यक्तियों का वचन सुनने में नहीं आता। जहाँ जिन और आचार्य के अयुक्त गान नहीं गाया जाता।

२१—जहाँ शुद्ध आचार वाले श्रावक तांबूल न तो भक्षण करते और न ग्रहण करते। जहाँ उपानह (जूता) को धारण नहीं करते जहाँ भोजन नहीं है और अनुचित उपवेशन (बैठना) नहीं है। जहाँ हथियारों के सहित प्रवेश नहीं होता और जहाँ दुष्ट जल्पना (गाली इत्यादि) नहीं होती।

२२—जहाँ हास्य, हुड्डा, क्रीडा एवं रोष का कारण नहीं होता, जहाँ अपना धन केवल यश के निमित्त नहीं दिया जाता। जहाँ बहुत अनुचित आचरण करने वाले संसर्ग में नहीं लाए जाते। [नट-विट आदि अनुचित आचरण करने वाले प्राणियों का प्रवेश निषिद्ध है।] कारण यह है कि वे स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करने लगते हैं। अतः उनका संसर्ग निषिद्ध है।

२३— जहाँ संक्रांति अथवा ग्रहण के दिनों में स्नान-दान, पूजा आदि कृत्य नहीं होता। जहाँ माघ मास में विष्णु, शिव आदि के समान जिन प्रतिमा के संमुख मंडल बनाकर लाल पुष्प चंदन आदि से अर्चना नहीं होती। जहाँ श्रावकों के सिर पर आवेष्ठन (पगड़ी आदि) नहीं दिखाई पड़ता। जहाँ स्नान करने वालों को छोड़कर अन्य कोई विशेष अलंकार धारण नहीं करते और जहाँ वे गृह-व्यवहार का चिंतन नहीं करते।

२४—जहाँ मलिन वस्त्रधारी जिनवर की पूजा नहीं करते। जहाँ स्नानादि से पवित्र श्राविका भी जिन प्रतिमा को स्पर्श नहीं करती। जहाँ एक बार किसी जिनवर की उतारी हुई आरती दूसरे जिनवर को नहीं प्रयुक्त होती।

२५—जहाँ केवल पुष्प निर्माल्य होता है किंतु बिना काटा हुआ बनफल, रत्नजटित अलंकार, निर्मल वस्त्र निर्माल्य नहीं बनते। जहाँ यतियों को यह ममत्व नहीं कि यह देव-प्रतिमा हमारी है। जहाँ यतियों का निवास नहीं। जहाँ गुरुदर्शित आचार का लोप नहीं है।

गुरुदर्शित आचार—दशविध आशातना परिहार

२६—जहाँ सुश्रावक पूछे जाने पर गुरु के साक्षात् प्रतीयमान [साक्षात् अनुभव में आनेवाले] सत्य शुभ लक्षणों का वर्णन करते हैं। जहाँ एक

सुश्रावक के कहने पर भी निश्चयपूर्वक अच्छे कार्य किए जाते हैं। किंतु शास्त्र-सिद्धांत-विरुद्ध कार्य अनेक लोगों के कहने पर भी नहीं किए जाते।

२७—जहाँ आत्मस्तुति एवं परनिंदा नहीं होती। जहाँ सद्गुण की प्रशंसा एवं दुर्गुण की निंदा होती है। जहाँ सद्वस्तु का विचार करने में भयभीत नहीं हुआ जाता। जहाँ जिन-वचन के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जाता।

२८—इस तरह अनेक प्रकार के उत्सूत्र (शास्त्रविरुद्ध वचन) का जिसने निषेध किया और विधि जिन गृह में निषिद्ध आचरणों को सु-प्रशस्तियों में लिखकर निदर्शित किया वह युगप्रधान सुगुरु जिनवल्लभ क्यों न मान्य हो, जिसके सम्यक् ज्ञान का वर्णन विद्वान् करते हैं।

२९—यहाँ (चैत्य गृह में) जो अल्प मात्र भी शास्त्रविरुद्ध बातों का कथन करता है उसके अत्यल्प परिणाम को भी सर्वज्ञ भगवान् दिखा देते हैं। जो लोग निरंतर शास्त्रविरुद्ध बातें किया करते हैं उनको अनेक जन्म तक भोगने के लिये दुःख प्राप्त होते हैं।

३०—जो निर्दय व्यक्ति अपने को श्रुतरूपी निकष पर बिना परीक्षण किए अपनी बुद्धि से अहंकारी बनकर लोकप्रवाह में प्रवृत्त नाम मात्र से अच्छे आचरण वाला बनकर, परस्पर मत्सर से अपने गुण को दिखलाते हुए अन्य व्यक्तियों की निंदा द्वारा अपने को जिन के समान पूजित मानते हैं।

संसार के प्रवाह में बहने वाले (उक्त प्रकार के) व्यक्तियों की कोई गणना नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति संसार सागर में गिरते हैं। एक भी उससे पार नहीं उतर सकते। पृथ्वी में जो संसार के प्रवाह के विरुद्ध चलते हैं वे अल्पसंख्यक हैं और वे अवश्य ही निर्वृतिपुर के स्वामी बन जाते हैं।

३२—आगम और आचरण के अविरुद्ध गुणवानों के कथित वचनों को कहने वाला गृही जिस गृह में रहता है वह आयतन ही है क्योंकि वहाँ जाने वाले सज्जनों को मुक्ति रूपा सुख रत्न शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

३३—पार्श्वस्थादिकों से प्रेरित होकर उनके मत की भावना करके कुछ श्रावक जिन-मंदिर बनवा देते हैं। किंतु उस निश्राचैत्य को अपवाद रूप से आयतन कहते हैं। उस निश्राचैत्य में तिथि और पर्वों पर कारणवशात् कभी कभी वंदना की जाती है।

३४—जहाँ साधु वेशधारी देवद्रव्य के द्वारा बनाए गए मठ में रहते हैं और विविध प्रकार से अविनय का आचरण करते हैं उस मंदिर को निशीथ सूत्र में साधर्मिक स्थली कहा गया है। जो लोग वंदना के लिये वहाँ जाते हैं वे सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते।

निशीथ—प्रायश्चित निर्णय करने के लिये सूत्र (छेद सूत्रों में)

३५—ओघनियुक्ति एवं आवश्यक सूत्रों के प्रकरण में उसे अनायतन बताया गया है। यदि कोई व्यक्ति उसे अत्यंत संकोच के साथ बता भी देता है तो भी श्रावकों को कारण के रहते हुए भी न वहाँ जाना चाहिए और न वहाँ रहने वाले वेशधारियों को वंदन करना चाहिए।

३६—यदि वहाँ जाकर मठाधीशों को प्रणाम कर गुणगणों की वृद्धि होती तो वहाँ जाना युक्त था परंतु यदि वहाँ जाने और नमस्कार करने से पाप ही मिलता है तो वहाँ जाना तथा नमस्कार करना दोनों ही गुणवानों के द्वारा वर्जित हैं।

३७—(गमन का दोष बताते हुए कहते हैं)

उत्सूत्र प्रजल्पक (शास्त्रविरुद्ध बात कहने वाले) बस्तियों में भी रहते हैं और लोकरंजन के लिए दुष्कर (अकरणीय-क्रियाओं का आचरण करते हैं। वे सम्यक्त्व - विहीन होते हैं और क्षुद्र व्यक्तियों के द्वारा सेवित होते हैं। ऐसे (उत्सूत्र प्रजल्पक) लोगों के साथ सद्गुणी दर्शन को भी नहीं जाते।

३८—पहला विधि चैत्य बताया गया, जहाँ सामान्य रूप से जाया जा सकता है। दूसरा निश्राकृत चैत्य बताया गया जहाँ अपवाद से जाया जा सकता है। तीसरा अनायतन बताया गया जहाँ वेशधारी रहते हैं। वहाँ शास्त्र के द्वारा भी धार्मिक लोगों का जाना निषिद्ध बताया गया है।

३९—विद्वान् बिना कारण के वहाँ (निश्राकृत चैत्य में) गमन नहीं करते। इस प्रकार उक्त तीन प्रकार के चैत्यों के अस्तित्व का जो प्रतिपादन करता है वह साधु भी माना जाता है। जो दो प्रकार के चैत्यों का प्रतिपादन करता है वह तिरस्कृत होता है। उसके द्वारा भोला संसार ठगा जाता है।

४०—इस प्रकार पुण्यहीनों के लिये दुर्लभ मोक्ष रूपी लक्ष्मी के वल्लभ श्री जिनवल्लभ सूरि ने तीन प्रकार के चैत्य बताए हैं। सूत्रविरुद्ध बातों का खंडन और सूत्रसंमत बातों का प्रतिपादन करते हुए मानो इस सन्मति (महावीर—अच्छी बुद्धिवाला) ने नए जिन शासन को प्रदर्शित किया है।

४१—भगवान् के वचन मेघ के समान अत्यंत विस्तृत हैं। श्री जिन-वल्लभ उनमें से एक ही बात को कहते हैं। व्यक्ति जितनी बातें जानता है उतनी कह भी नहीं सकता, चाहे वह स्वयं इंद्र ही हो। उनके चरणों के भक्त और उनके वचनों के अनुयायी के प्राणियों सातों भयों का अंत हो जाता है—यह निश्चित है।

सप्तभय—१ इहलोक भय, २ परलोक भय, ३ अकस्मात् भय, ४ आजीव भय, ५ मरण भय, ६ असि भय, ७ लोक भय।

४२—जिसके मुख में समस्त विद्यायें एक साथ विराजती रहती हैं। मिथ्या-दृष्टि भी जिसका किंकर भाव से वंदन करती है। स्थान स्थान पर जिन्होंने विधि मार्ग का भी (सरल चित्त से परमात्मा का ध्यान करके) स्पष्ट विवेचन किया है।

४३—पुण्यवश मनुष्य रूपी भ्रमर उसके पदपंकजों के शुद्धज्ञान रूपी मधु का पान करके अमर हो जाता है तथा स्वस्थमना होकर सब शुभ शास्त्रों को जान जाता है। हे मित्र, बोलो ! ऐसे अनुपम (जिनवल्लभ) की तुलना किसके साथ की जाती है ? (अर्थात् किसी के साथ नहीं) वह तो अनुपम है।

४४—वर्द्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि हुए। उनके शिष्य युगप्रवर जिनचंद्र सूरि हुए। तथा नवांगवृत्ति के रचयिता और शुभ सामुद्रिकोक्त लक्षणों से युक्त श्री अभयदेव सूरि उनके (जिनचंद्र सूरि के) पदकमलों के भ्रमर हुए।

नवांग वृत्ति—जैन आगमों का विभाजन निम्नलिखित रीति से हुआ है—११ अंग १२ उपांग ४ मूल ४ छेद, आवश्यक सूत्र, १० पाइराणा (प्रकीर्णक)।

अभयदेव सूरि ने ११ अंगों में से प्रथम आचारांग और सूत्र कृतांग को

छोड़कर शेष ६ अंगसूत्रों पर टीका लिखी है। इसलिये वे नवांगी टीकाकार कहे जाते हैं।

४५—उनके शिष्य श्री जिनवल्लभ पुण्यरहित जनों को दुर्लभ हैं। अहो, (आश्चर्य की बात है कि) मैं उनके गुणों के अंत को नहीं जानता। यह (थोड़ा बहुत) भी मैं उनके गुणों के स्वाभाविक संक्रमण से (दूरस्थित होने पर भी) जान गया हूँ क्योंकि उन्होंने मुझे शुद्धधर्म के मार्ग पर स्थापित किया है।

४६—(शोक की बात है कि) प्रभूत काल तक भवसागर में भ्रमण करने पर भी मैं सुगुरु (जिनवल्लभ सूरि) रूपी रत्न को नहीं पा सकता। इसी कारण ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त नहीं हुआ। सर्वत्र अपमान ही हुआ। कहीं भी परलोक के लिये हितकारी वस्तु प्राप्त नहीं हुई।

४७—इस प्रकार जिनदत्त सूरि ने सिद्धांततः परमार्थ के ज्ञाता साधारण जनों के लिये दुर्लभ युगप्रवर श्री जिनवल्लभ सूरि की गुणस्तुति बहुमान पूर्वक की। इस प्रकार उन्होंने भगवान् के द्वारा प्रदर्शित महान् एवं निरुपम पद को प्राप्त किया।

———

श्री संदेश रासक प्रथमः प्रक्रमः

(अर्थ)

हे बुध जनो ! वह संसार का रचयिता आप लोगों का कल्याण करे, जिसने समुद्र, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष तथा आकाश में तारागण आदि संपूर्ण सृष्टि की रचना की है ॥ १ ॥

हे नागरिको ! उस स्रष्टा (सिरजनहार) को नमस्कार करो, जिसे मनुष्य, देव, विद्याधर (देवविशेष) तथा आकाश में सूर्य और चंद्रमा आदिकाल से ही नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

कवि अपने देश का वर्णन करता है—पश्चिम दिशा में प्राचीन काल से प्रसिद्ध म्लेच्छ नामक एक प्रधान देश है। वहाँ मीरसेन नामक एक 'आरद्द' जुलाहा पैदा हुआ ॥ ३ ॥

उस मीरसेन का, कुल में कमल के समान अब्दुल रहमान नाम का लब्धप्रतिष्ठ पुत्र पैदा हुआ, जो प्राकृत काव्य तथा गायन में अति निपुण था। उसने संदेशरासक नामक शास्त्र की रचना की ॥ ४ ॥

तीनों लोक में जिन्होंने छंदःशास्त्र की रचना की, उसे निर्दिष्ट किया, शोधन किया तथा विस्तारित किया (फैलाया), ऐसे शब्दशास्त्र में कुशल, चतुर कवियों को नमस्कार है ॥ ५ ॥

अपभ्रंश, संस्कृत, प्राकृत, पैशाची आदि भाषाओं के द्वारा जिन्होंने सुंदर काव्यों की रचना की है तथा लक्षण, छंद, अलंकारों से जिसे विभूषित किया है ऐसे सत्कवियों के पश्चात् वेद, शब्दशास्त्रादि से रहित, लक्षण तथा छंदादि से विहीन मेरे सदृश कुकवि की कौन प्रशंसा करेगा अर्थात् कोई भी नहीं ॥ ६-७ ॥

अथवा इति उपायांतर (भंग्यंतर) से कहते हैं कि मेरे ऐसे कुकवि की रचना से भी कोई हानि नहीं। क्योंकि यदि चंद्रमा रात्रि में उदित होता है तो क्या रात्रि में घरों में प्रकाश के लिये दीपक नहीं जलाते। (यहाँ कवि ने

प्राचीन कवियों को चंद्र तथा अपने को दीपक बनाकर विनम्रता प्रकट की है) ॥ ८ ॥

यदि कोयल आम्रवृक्ष के शिखर पर अपनी काकली से मन को हर लेती है तो क्या कौए घरों के छज्जों पर बैठ कर अपना कर्कश शब्द न सुनाएँ अर्थात् कौन उन्हें रोक सकता है ॥ ६ ॥

पल्लव के समान कोमल हाथों से बजाने से यदि वीणा के शब्द अधिक मधुर होते हैं तो मर्दल करट बाजे का·········विशेष शब्द स्त्रियों की क्रीड़ा में न सुना जाए ? अपितु अवश्य सुना जाए ॥ १० ॥

यदि मतंगज (मदोन्मत्त हाथी) को कमलदल के गंध के समान मद झरता है तथा ऐरावत (इंद्र का हाथी) मदोन्मत्त होता है तो क्या शेष हाथी मतवाले न होवें ? अपितु अवश्य होवें ॥ ११ ॥

यदि अनेक प्रकार के सुगंधपूर्ण पुष्पों से युक्त पारिजात इंद्र के नंदनवन में प्रफुल्लित होता है तो क्या शेष वृक्ष विकसित न हों ? अपितु अवश्य विकसित हों ॥ १२ ॥

तीनों लोकों में प्रसिद्ध प्रभावशालिनी गंगा नदी यदि समुद्र से मिलने जाती है तो क्या शेष नदियाँ न जाएँ । अपितु अवश्य जाएँ ॥ १३ ॥

यदि निर्मल सरोवर में सूर्योदय के समय कमलिनी विकसित होती है तो क्या वृत्ति (वृंत) में लगी हुई तुंबिनी लता विकसित न होवे ? अर्थात् विकसित होवे ॥ १४ ॥

यदि भरतमुनि के भाव तथा छंदों के अनुकूल, नये सुमधुर शब्दों से युक्त चंग (वाद्यविशेष) के ताल पर कोई नायिका नृत्य करती है तो कोई ग्रामीण वधू ताली के शब्द पर न नाचे ? अपितु नाचे ॥ १५ ॥

यदि प्रचुर मात्रा के दूध में पकती हुई चावल की खीर अधिक उबलती है तो क्या धान्यकण तथा तुष (भूसी) युक्त रबड़ी पकते समय थोड़ा शब्द भी न करे ॥ १६ ॥

अपनी काव्य - रचना के प्रति कवि अपने को उत्साहित करता है—जिसके काव्य में जो शक्ति हो उसे लज्जारहित होकर प्रदर्शित किया जाए ।

यदि चतुर्मुख ब्रह्मा ने चारो वेदों की रचना की तो क्या अन्य कवि काव्य-रचना न करें ? अपितु अवश्य करें ॥ १७ ॥

काव्य-रचना के लिये अपने को प्रोत्साहित कर कवि अपने ग्रंथ की थोड़ी रमणीयता के विषय में नम्रता के साथ निवेदन करता है—हे कविजन ! त्रिभुवन में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे आप लोगों ने देखा, जाना तथा सुना न हो । आप लोगों द्वारा रचित सुंदर बंधान युक्त सरस छंदों को सुनकर, मेरे ऐसे मूर्ख द्वारा रचित लालित्यहीन काव्य को कौन सुनेगा ? अपितु कोई नहीं । तो आगे काव्य-रचना की प्रवृत्ति क्यों है ? इसे दृष्टांत द्वारा कहते हैं—जैसे दुरवस्था को प्राप्त कोई दरिद्र किंतु चतुर व्यक्ति नागवल्ली के पत्रों को न पाने पर पर्वतों पर प्राप्त होने वाले शतपत्रिका का आस्वादन करता है वैसे ही मेरे काव्यों को भी लोग पढ़ेंगे ॥ १८ ॥

तदनंतर अपने ग्रंथ को श्रवण करने के लिये कवि पंडित जनों से नम्रतापूर्वक निवेदन करता है—हे बुधजन ! स्नेह करके अपने कवित्व के प्रभाव से पांडित्य का विस्तार कर, इस संसार में एक मूर्ख जुलाहे द्वारा कौतूहल के साथ सरल भाव से रचित 'संदेशरासक' नामक काव्य को शांति-पूर्वक सुनें ॥ १९ ॥

इसके अनंतर कवि ग्रंथ पढ़ने वालों से निवेदन करता है—जो कोई भी प्रज्ञावान् प्रसंगवश इस ग्रंथ को पढ़ेगा उसका हाथ पकड़ कर कहता हूँ । जो लोग पंडितों और मूर्खों का अंतर जानते हैं, उनके आगे यह ग्रंथ नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि वे महान् पंडित हैं ॥ २० ॥

इसका कारण बतलाते हैं—पंडित जन मम रचित काव्य में मन नहीं लगाएँगे । अज्ञानतावश मूर्ख भी उसमें प्रवेश नहीं पायेंगे । पर, जो न मूर्ख हैं और न पंडित हैं, अपितु मध्यस्थ हैं; उनके आगे यह ग्रंथ सदा ही पठनीय है ॥ २१ ॥

ग्रंथ का गुण बताते हैं—हे सहृदय जनो ! सुनिए—यह ग्रंथ अनुरागियों के लिए रतिगृह तुल्य, कामुकों के लिए मनोहर, मदन-मनस्कों के लिए पथ-प्रकाशक, विरहियों के लिये कामदेव, रसिकों के लिये रससंजीवनी तुल्य है ॥ २२ ॥

अत्यंत स्नेह से कहा हुआ, प्रेमपूर्ण यह ग्रंथ श्रवणों के लिये अमृत तुल्य

है, तथा इसका अर्थ वही चतुर व्यक्ति जान सकता है, जो सुरति क्रीड़ा में अत्यंत निपुण हो, दूसरा नहीं ॥ २३ ॥

द्वितीयः प्रक्रमः

(अर्थ)

अब कथा का स्वरूप निरूपण करते हैं—

विक्रमपुर से कोई श्रेष्ठ नायिका जिसके कुच दृढ़, स्थूल एवं उन्नत हैं, भौंरी के मध्यभाग के समान कटिवाली, राजहंस के समान गतिशालिनी, विरह के कारण उदास मुखवाली, आँखों से अश्रुधारा बहाती हुई, परदेश गए पति को देख रही है। स्वर्ण वर्ण का उसका शरीर इस प्रकार श्यामता को प्राप्त हो गया है मानो ताराधिपति चंद्रमा पूर्ण रूप से राहु से ग्रस्त हो ॥ २४ ॥

उसकी विरह-दशा का वर्णन करते हैं—आँखें मलती है; दुःख से रोती है, केशपाश (जूड़ा) खुला है, मुख खोलकर जंभाई लेती है, अंग मरोड़ती है, विरह की ज्वाला में उत्तप्त होने के कारण गर्म श्वास लेती है, उँगलियाँ चटकाती है। इस प्रकार मुग्धावस्था को प्राप्त, विलाप करती हुई, पृथ्वी पर इधर उधर चक्कर काटती हुई उस विरहिणी ने नगर के मध्य भाग को छोड़ कर किनारे ही घूमते हुए एक थके पथिक को देखा ॥ २५ ॥

उस पथिक को देखकर उसने क्या किया इसे आभाणक छंद द्वारा कहते हैं—उस पथिक को देखकर पति के लिये उत्कंठित विरहिणी ने धीरे-धीरे चलना छोड़कर जब तक उत्सुक गति से चली, तब तक मनोहर चाल से चलते हुए चपल रमण भाव के कारण उसकी कमर से मधुर शब्द करती हुई रसना (तगड़ी, करधनी) छूट गई ॥ २६ ॥

उस सौभाग्यवती ने जब तक तगड़ी को गाँठ में बाँधा, तब तक मोतियों से भरी हुई मोटी लड़ों वाली वह नवसर हार लता टूट गई। तदनंतर कुछ मुक्ताफलों (मोतियों) को इकट्ठा कर और उत्सुकतावश कुछ को छोड़कर चली, तब तक नूपुर में पाँव फँस जाने के कारण गिर पड़ी ॥ २७ ॥

जब तक वह रमणी गिर कर उठी और लजाती हुई चली (घूमी) तब तक शिर पर का ओढ़ने का श्वेत वस्त्र दूर हट गया। तथापि उसे ठीक सँवारकर, पथिक को प्राप्त करने की इच्छावाली वह विरहिणी जब तक

आगे बढ़ी, तब तक चोली के फट जाने के कारण छिद्र में से कुच दिखाई देने लगे ॥ २८ ॥

विशाल नेत्रों वाली वह विरहिणी लज्जित होती हुई, अपने हाथों से कुचों को ढँककर करुणा और विलास के साथ गद्गद् वचन बोलती हुई उस पथिक के समीप गई।

हाथों से कुचों का आच्छादन ऐसा लगता था मानों दो स्वर्ण कलश दो नीले कमलों से ढँके हुए हैं क्योंकि विरहावस्था में बार बार काजल भरे आँखों के आँसू पोंछने के कारण उसके दोनों हाथ साँवले पड़ गये थे ॥२६॥

उस रमणी ने क्या कहा—"क्षण भर स्थिर होकर ठहरो, ठहरो। मन में विचारो। जो कुछ कहती हूँ, उनको दोनों कानों से सुनो। क्षण भर के लिए हृदय को कारुणिक बनाओ।" उसके इन वाक्यों को सुनकर पथिक आश्चर्यचकित होकर, न क्रम से पीछे लौट सका और न आगे बढ़ सका। अर्थात् क्षुब्ध होकर उसी रूप में खड़ा रहा ॥३०॥

विधाता ने कामदेव के समान रूपवती निर्मित किया है उसको देखकर पथिक ने आठ गाथाओं में कहा ॥३१॥

देवी का वर्णन चरण से तथा नारी का वर्णन शिर से किया जाता है। इसलिए कहा गया है—उस रमणी के बाल अत्यंत धुँघराले, नदियों में जल की लहर के समान वक्र तथा कालिमा की अधिकता से भौरों के समूह के समान शोभा दे रहे हैं ॥३२॥

उसका मुख सूर्य के प्रतिबिंब के समान शोभा दे रहा था। सूर्य से मुख-चंद्र की उपमा इसलिए दी गई है कि रात्रि के अंधकार को दूर करने वाला, अमृत बरसाने वाला, निष्कलंक, संपूर्ण चंद्रमा, सूर्य से उपमित होता है ॥३३॥

उसके अनुरागपूर्ण, कमल के समान विशाल दोनों नेत्र शोभा दे रहे थे। पिंडीर कुसुम के पुंज के समान, अनार के पुष्प के गुच्छों के समान उसके दोनों कपोल शोभा दे रहे थे ॥३४॥

उसकी दोनों भुजाएँ अमरसर में उत्पन्न कमल दंड के समान शोभा दे रही थीं। वे पद्मसर में उत्पन्न स्वर्ण कमल के भूमि में रहने वाले दंड के

समान कोमल शोभित हो रही थीं। दोनों भुजाओं में जो कर कमल थे, वे दो भागों में बँटे कमल के समान ज्ञात होते थे ॥३५॥

उस नायिका के दोनों कुच स्वजनखल के समान शोभा दे रहे हैं। खल की उपमा का स्वरूप बताते हैं—दोनों कुच (स्तन) कठोर तथा सदा उन्नत रहते हैं। कोई संतान न होने के कारण मुखरहित (चूचुक विहीन) हैं। परस्पर इतने सघन हैं कि स्वजन के समान प्रतीत होते हैं तथा दोनों ही अंगों को आश्वासन देते ज्ञात होते हैं ॥३६॥

उसकी नाभि पहाड़ी नदी के आवर्त (भौंरी) के समान गहरी दिखाई देती है तथा उसका मध्य भाग सांसारिक सुख के समान तुच्छ दिखाई देता एवं कठिनता से दृष्टिगोचर होता है। अथवा चंचल गति में हरिण के पद के समान है ॥३७॥

जालंधरी कदली स्तंभ को जीतने वाली उसकी दोनों जाँघें अत्यंत शोभा दे रही हैं। तथा वे दोनों गोल गोल हैं, बहुत लंबी भी नहीं हैं, अतएव अत्यंत मनोहर, रसीली दोनों जाँघें शोभायमान हैं ॥३८॥

उस नायिका के चरणों की अँगुलियाँ पद्मराग मणि के खंड के समान शोभा दे रही हैं। तथा उन अँगुलियों के ऊपर नख, पद्मराग मणि के ऊपर रखे स्फटिक मणि के समान सुशोभित होते हैं। और उन अँगुलियों में कोमल बाल टूटे हुए कमल दंड के तंतु के समान शोभा दे रहे हैं ॥३६॥

विधाता ने पार्वती की सृष्टि कर, उसके अंगों के समान, अपितु उससे भी बढ़कर इस नायिका की रचना की है। पर कौन कवि इस विषय में दोष देगा कि ब्रह्मा ने पुनरुक्त दोष के समान वैसी ही सृष्टि की है ॥४०॥

गाथा सुनकर तदनंतर राजहंस की चाल से चरण के अँगूठे से पृथ्वी को कुरेदती हुई, लज्जित होती हुई उस सुवर्णांगी नायिका ने उस पथिक से पूछा—हे पथिक ! कहाँ जाओगे ? तथा कहाँ से आ रहे हो ? ॥४१॥

हे कमलनयने ! हे चंद्रमुखी !! नागर (चतुर) जनों से भरा पूरा, सफेद ऊँची चहारदीवारी (परकोटा) से तथा तीन नगरों से सुशोभित 'सामोरु' नाम का नगर है। वहाँ कोई भी मूर्ख नहीं दिखाई देता, सभी लोग पंडित हैं ॥४२॥

यदि चतुर जनों के साथ उस नगर में भीतर घूमें तो मनोहर छंद में मधुर प्राकृत सुनाई देगा। कहीं चतुर्वेदी वेदपाठ करते दिखाई देंगे। कहीं अनेक रूपों में निबद्ध रासक का भाष्य होता सुनाई देगा ॥४३॥

कहीं सदयवच्छ की कथा, कहीं नल का आख्यान तथा कहीं अनेक प्रकार के विनोद से परिपूर्ण भारत (महाभारत) की कथा सुनाई देगी। तथा कहीं कहीं त्यागी श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा रामायण की कथा सुनाई पड़ेगी ॥४४॥

कोई बाँसुरी, वीणा, काहल, मृदंगादि के शब्द सुनाते हैं। कहीं प्राकृत वर्णों में रचे गीत सुनाई पड़ते हैं। कहीं मनोहारी ऊँचे स्तनों वाली नर्तकियाँ 'चल चल' करती हुई घूमती हैं ॥ ४५॥

जहाँ लोग अनेक प्रकार के नट नटियों द्वारा आनंदित होते हैं। जहाँ वेश्याओं के घर में प्रवेश करते हुए रागहीन व्यक्ति भी मूर्च्छित हो जाते हैं। उनके सम्मोहन का ढंग बतलाते हैं—कई वेश्यायें मदोन्मत्ता होकर मतवाले हाथी के समान घूमती हैं। कुछ रत्नजटित ताडङ्क नामक आभूषण से मधुर शब्द करती हुई भ्रमण करती हैं ॥४६॥

कोई ऐसी घूमती दिखाई देती है, जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि इसके घने ऊँचे स्तनों के भार से कमर (कटि) टूट क्यों नहीं जाती। दूसरी कोई किसी के साथ काजल लगे तिरछे नेत्रों से कुछ हँसती है ॥४७॥

दूसरी कोई चतुर रमणी अपने कपोलों (गाल) पर सूर्य, चंद्र को स्थित समझकर निर्मल हास्य करती हुई घूमती है। किसी के मदनपट्ट रूप कुचस्थल कस्तूरी-लेप से सुशोभित हैं। किसी के ललाट पर सुंदर तिलक शोभा दे रहा है ॥४८॥

किसी के कठोर स्तन-शिखर पर हार प्रवेश न पाने के कारण लहरा रहा है। किसी की नाभि गहरी होने के कारण कुंडलाकार दिखाई दे रही है। तथा त्रिवली तरंग के प्रसंग में मंडलित की तरह सुशोभित है ॥४९॥

कोई रमणभार को मोटापा के कारण कठिनाई से सहन करती है। उसके चलते समय जूते का चम, चम शब्द अत्यंत शिथिलता के साथ सुनाई पड़ता है। किसी दूसरी कामिनी के मधुर शब्द करते समय उसके हीरे के समान दाँत नागवल्ली दल के समान लाल शोभा देते हैं ॥५०॥

किसी दूसरी श्रेष्ठ रमणी के हँसते समय ओष्ठ, कमल के समान हाथ और दोनों भुजाएँ समान शोभा देती हैं। यहाँ कमल के भ्रम का कारण बतलाते हैं—जैसे, उसके ओष्ठ कमल के पत्ते के समान, हाथ कमल के समान, सरल दोनों भुजाएँ कमलदंड के समान प्रतीत होती हैं। दूसरी नायिका के हाथों की अँगुलियों के नख उज्ज्वल शोभा दे रहे हैं। किसी अन्य नायिका के दोनों कपोल अनार के फूलों के समान प्रतीत होते हैं ॥५१॥

किसी नायिका की तनी हुई दोनों भौंहें चिकनी शोभा दे रही हैं। मानो कामदेव ने किसी के हनन के लिए धनुष चढ़ाया है। किसी दूसरी रमणी के दोनों नूपुरों के घने शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। एक अन्य की खनकड़ी मेखला (तगड़ी) के रुनझुन मधुर शब्द श्रवणगोचर हो रहे हैं ॥५२॥

क्रीड़ा करती हुई किन्हीं नायिकाओं के जूतों के मधुर शब्द ऐसे सुनाई पड़ते हैं, मानो नये शरद् ऋतु के आगमन में सारसों के मधुर शब्द हो रहे हैं। किसी का मधुर पंचम स्वर इस प्रकार शोभा दे रहा है मानो देव दर्शन में तुंबरु का शब्द सुसज्जित हो ॥५३॥

इस प्रकार वहाँ एक एक का रूप दर्शन करने से मार्ग में जाने वाले पथिकों के पाँव, नागवल्ली दलों के आस्वादन से, मुक्त (गिरे) रस से स्खलित (फिसल) हो जाते हैं। यदि कोई बाहर घूमने के लिये निकलता भी है तो अनेक प्रकार के उद्यान देखकर संसार को ही भूल जाता है ॥५४॥

अब वनस्पतियों के नाम गिनाते हैं।

टिप्पणी—वृक्षों के नामों का उल्लेख होने के कारण अर्थ लिखना अनावश्यक समझा गया। भूमिका में इसकी विशेषता की ओर संकेत किया जायगा।

हे चंद्रमुखी! हे कमलनयने! अन्य भी जो वृक्ष हैं, उनके नाम कौन गिन सकता है? सभी वृक्ष इतने घने स्थित हैं कि उनकी छाया में दस योजन (४० कोस) तक जाया जा सकता है ॥६४॥

हे मृगाक्षी! 'सामोरूपुर' में तपनतीर्थ (सूर्य कुंड) प्रसिद्ध है। चारों दिशाओं में उसकी प्रसिद्धि है। उसका मूल स्थान इतना प्रसिद्ध है कि सभी नर, देव जानते हैं। वहाँ से मैं लेखवाहक, प्रभु की आज्ञा से स्तंभतीर्थ को जा रहा हूँ ॥६५॥

वह चंद्रमुखी, कमलाक्षी पथिक के वचनों को सुनकर, लंबी साँस लेकर, हाथ की अँगुलियों को तोड़ती हुई, गद्‌गद कंठ होकर, वायु के वेग से काँपती हुई कदली के समान बहुत देर तक थरथराती रही ॥६६॥

आधे क्षण रोकर, आँखें मलकर उस रमणी ने कहा—हे पथिक ! 'स्तंभतीर्थ' के नाम से मेरा शरीर जर्जरित हो रहा है। वहाँ विरही बनाने वाले मेरे पति विराजमान हैं। उनके बिना बहुत दिनों से अकेली समय काट रही हूँ। किंतु वे निर्दयी अब तक नहीं आए ॥६७॥

हे पथिक ! यदि दया करके आधे क्षण बैठो, तब प्रिय के लिये कुछ शब्दों में एक छोटा सा संदेश निवेदन करूँ। पथिक ने कहा—हे सुवर्णांगी ! कहो, रोने से क्या होगा। हे घबरायी हुई हरिणी के समान नेत्र वाली बाले ! तुम अत्यंत दुःखी दिखाई देती हो ॥६८॥

इसके बाद वह अपने जीवन धारण करने पर लज्जा प्रकट करती हुई बोली—पति के विदेश जाने पर विरहाग्नि से जब मैं राख की ढेरी न हो गई तो उनके लिये निष्ठुर मन से संदेश क्यों दूँ ॥६९॥

उक्त अर्थ को ही दृढ़ करती हुई बोली—जिसके प्रवास (परदेश गमन) करने पर भी मैं......। तथा जिसके वियोग में मैं मरी नहीं, अतएव उसे संदेश देने में मुझे लज्जा आ रही है ॥७०॥

हे पथिक ! लज्जा करके यदि चुप रह जाती हूँ, तो जीवित नहीं रह सकती। अतः प्रिय के प्रति एक कहानी सुनाती हूँ। हाथ पकड़कर प्रिय को मनाना ॥७१॥

उससे पति के प्रति कहा—हे नाथ ! तुम्हारे विरह के प्रहार से चूर्ण हुए मेरे ये अंग इसलिए नष्ट नहीं हो पाते हैं कि 'आज' 'कल' के संघटन (मेल) रूपी औषधि का प्रभाव इन्हें जीवित रखे है ॥७२॥

उस वस्तु की रक्षा करती हुई पति के लिये आशीः रूप में कहा—हमारे प्राणपति के अंग न जलें इस भय से उच्छ्वास (दुःख भरी लंबी साँस) नहीं लेती हूँ। इसके पश्चात् आशीष का स्वरूप बतलाती है। जैसे मैं पति द्वारा त्यागी गई हूँ, वैसे वह यम के द्वारा त्यागे जाएँ ॥७३॥

हे पथिक ! इस कहानी को सुनाकर पति को मनाना। और पाँच दोहों को अत्यंत नम्रता के साथ कहना ॥७४॥

मेरा मरना भी दोषयुक्त है। इस विषय में कहा—हे स्वामिन्! हृदय में विराजमान तुम्हें छोड़कर, तुम्हारे विरह की अग्नि में संतप्त होकर यदि स्वर्ग में भी जाऊँगी तो उचित न होगा, क्योंकि मैं तुम्हारी सहचरी जो ठहरी ॥७५॥

स्त्री के पतिविषयक विरहजन्य कष्ट में पति का ही दोष है, इस विषय में उस रमणी ने कहा—हे कांत! यदि हमारे हृदय में तुम्हारे रहने पर भी विरह शरीर को पीड़ित करता है, तो इसमें तुम्हें ही लज्जा आनी चाहिए। क्योंकि सत्पुरुषों को, दूसरों को पीड़ित करना, मरने से भी अधिक मानना चाहिए ॥७६॥

पति की निंदा करती हुई कहती है—तुम्हारे पौरुष पूर्ण होने पर भी, तुम्हारे भारी पराभव को क्या मैं नहीं सहन करती, अपितु अवश्य सहती हूँ। क्योंकि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, वे ही अंग विरह से जल रहे हैं ॥७७॥

पुनः पति के पौरुष को प्रकट करती हुई कहती है—विरह रूप शत्रु के भयंकर प्रहार से मेरा शरीर घायल हो गया है, पर हृदय नहीं फटा। कारण यह है कि मेरे हृदय में सामर्थ्यवान् तुम जो दिखाई पड़े। दूसरा कोई कारण नहीं है ॥७८॥

अपनी असमर्थता तथा पति का सामर्थ्य बतलाती है—विरह के कारण मुझमें सामर्थ्य नहीं है अतः विलाप करती हुई पड़ी हूँ। क्योंकि गोवालों का 'पूत्कार' ही प्रमाण है, कारण यह है कि गौओं को गोपालक ही घुमाते हैं दूसरे नहीं ॥७९॥

हे पथिक! विस्तारपूर्वक संदेश कहने में मैं असमर्थ हूँ किंतु हे पथिक! प्रिय से कहना कि एक ही कंकण में दोनों हाथ आ जाते हैं ॥८०॥

हे पथिक! लंबा चौड़ा संदेश मुझसे नहीं कहा जा रहा है। पर इतना अवश्य कह देना कि कनिष्ठिका अँगुली की अँगूठी बाँह में आ जाती है ॥८१॥

उस समय शीघ्र जाने के इच्छुक पथिक ने उक्त दोनों दोहों को सुनकर कहा—हे चतुर रमणी! इसके अनंतर जो कुछ और कहना हो, कहो। मुझे कठिन मार्ग पर जाना है ॥८२॥

पथिक के वचन को सुनकर कामदेव के बाण से पीड़ित, शिकारी के बाण से उन्मुक्त हरिणी की स्थिति वाली उस विरहिणी ने लंबी ऊष्ण (गर्म) साँस ली। तथा लंबी साँस लेती हुई, अपनी आँखों से आँसू बरसाती हुई उस रमणी ने यह कहानी सुनाई ॥८३॥

दोनों नेत्रों से लगातार अश्रुप्रवाह के विषय में कहती है—मेरे ये धृष्ट नेत्र लगातार आँसू बहाने में लज्जित भी नहीं होते। तो क्या विरहाग्नि शांत हुई? इसका उत्तर देती है—खांडव वन की ज्वाला की तरह विरह की ज्वाला अधिक धधक रही है। जब अर्जुन खांडव वन को जलाने के लिये प्रेरित हुए, तब एक विद्यामृत आकर उस अग्नि को शांत करने के लिये प्रवृत्त हुआ, पर अर्जुन ने उसी समय वहाँ विद्युत संबंधी आग फेंका, जिससे और भी आग प्रज्ज्वलित हो उठी ॥८४॥

इस कहानी को सुनाकर अत्यंत करुणा और दुःख से भरी हुई उस व्याकुल मृगनयनी ने पथिक के आगे कहा—कठिन निःश्वास रूप जो रत उसके सुख की आशा में विघ्न डालने वाले उस मेरे कठोर हृदय प्रिय के लिए दो पद कहना ॥८५॥

हे पथिक! हे कापालिक (योगिन्)! मैं तुम्हारे विरह में कापालिनी (योगिनी) हो गई हूँ। क्योंकि तुम्हारे स्मरणरूप समाधि में विषम मोह उपस्थित हो जाता है। यहाँ मोह मूर्च्छा तथा स्नेह दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। उस समय से क्षण भर के लिये भी कपाल बायें हाथ से दूर नहीं होता है। (कपाल भिक्षा पात्र तथा मस्तक दोनों अर्थों में है।) तथा शय्यासन नहीं छोड़ती हूँ। पलंग का 'शया' योगियों के योग का एक उपकरण (सामग्री) है ॥८६॥

हे पथिक! उस मेरे प्रिय से कहना कि हे निशाचर! (निशा में विचरण करने वाले) तुम्हारी वह भोली भाली प्रिया तुम्हारे विरह में निशाचरी राक्षसी हो गई है। क्योंकि उसका तेज हत हो गया है, अंग कृश पड़ गए हैं, बाल बिखरे हुए हैं, मुख की कांति मलिन पड़ गई है। उसकी सारी दशा ही विपरीत हो गई है। कुंकुम और सोने के समान कांति, कालिमायुक्त हो गई है ॥८७॥

हे पथिक! तुम अत्यंत कार्य व्याकुल प्रतीत होते हो। मैं लिखकर संदेश देने में असमर्थ हूँ। अतः तुम कृपा करके मेरे प्रिय से ये बातें कह देना ॥८८॥

विरहाग्नि की अधिकता को दो पदों में कहती है—हे पथिक ! मेरे प्रिय से कहना कि मेरी ऐसी मान्यता है कि विरहाग्नि की उत्पत्ति बड़वानल से हुई है। क्योंकि घनी अश्रुधारा से सिक्त होने (भीगने) पर भी वह अधिक प्रज्ज्वलित होती है ॥८६॥

हे पथिक ! प्रिय से कहना कि लंबी और ऊष्ण (गर्म) श्वासों से शुष्कता को प्राप्त होने वाली वह विशालनयना विरहाग्नि के बढ़ने से और अधिक कष्ट पा रही है; यही नहीं, दोनों नेत्रों से सदा आँसू झरने पर भी वह तनिक भी सिंचन का अनुभव नहीं कर पाती ॥९०॥

पथिक ने कहा—हे चंद्रमुखी ! मुझे जाने दो, अथवा हे मृगनयने ! जो कुछ भी कहना हो मुझसे कहो। तब उस विरहिणी ने कहा—हे पथिक ! कहती हूँ, अथवा क्या मैं नहीं कहूँगी ? कहूँगी, पर उससे कहने से क्या, जिस कठोर हृदय ने मेरी ऐसी दशा कर दी है ॥९१॥

जिन्होंने धन के लोभ में विरह के गड्ढे में गिराकर मुझे अकेली छोड़ दिया है। संदेश तो लंबा हो गया और तुम जाने को उत्सुक हो। किंतु प्रिय के लिये एक गाथा और कहती हूँ ॥९२॥

पहले के सुखों को स्मरण करती हुई दुःख के साथ कहती है—कि जहाँ पहले मिलन क्षण में हम दोनों के बीच हार तक को प्रवेश नहीं मिलता था वहाँ आज समुद्र, नदी, पर्वत, वृक्ष, दुर्गादि का अंतर हा गया है ॥९३॥

विरहिणियों के विरह में भी कभी कभी थोड़े सुख की संभावना रहती है—जो कोई स्त्रियाँ अपने पति से मिलने की उत्कंठा में विरह से व्याकुल होकर, प्रिय का प्रसंग (साथ) प्राप्त कर, उस संग में व्याकुल हो जाती हैं, वे स्वप्न के अनंतर सुखकर शरीर स्पर्श, आलिंगन, अवलोकन, चुंबन, दंतक्षत और सुरत का अनुभव करती हैं। हे पथिक ! उस कठोर से इस प्रकार कहना—तुम मेरी अवस्था सुनो, जिस समय तुम परदेश गए, उस समय से मुझे नींद ही नहीं आ रही है, फिर स्वप्न में मिलन की क्या संभावना ?—"जब ग्राम ही नहीं तो फिर उसकी सीमा कहाँ ?" इस न्याय से ॥९४॥

सब कुछ छिन जाने पर अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता का वर्णन करती है—प्रिय के विरह में समागम की सूचना के लिये रात दिन कष्ट पाती हुई; अपने

अंगों को बिलकुल सुखाती हुई, आँसू बहाती हुई उसने कहा कि हे पथिक ! अपने निर्दय पति के लिए क्या कहूँ ? किंतु तुम तो ऐसा कहना—"कि तुमको हृदय में धारण करके भावना के बल से देख कर, मोहवश क्षण भर उसने कहा कि मेरे स्वामी के "वक्खर" (रूप) नामक वस्तु को विरह नाम का चोर नित्य चुराकर ले जाता है। तो हे प्रिय ! बताओ किसकी शरण में जाऊँ" ।।९५।।

यह डोमिलक (एक छंद) कह कर वह चंद्रमुखी, कमल के समान नेत्रों वाली रमणी निर्निमेष होकर निष्पंद हो गई। न तो कुछ कहती है और न किसी दूसरे व्यक्ति को देखती है। भित्ति (दीवार) पर चित्रलिखित के समान प्रतीत होती है ।।९६।।

उच्छ्वास और भ्रम में उसकी श्वाँस रुक गई है, मुख पर रोदन परिलक्षित है। कामदेव के बाण से बिंध गई है, ऐसी स्थिति में प्रिय समागम के सुख का स्मरण करके, थोड़ी तिरछी चंचल आँखों से उसने पथिक को देखा, मानों निर्भीक हरिणी से वह गुण शब्द द्वारा देखा गया हो ।।९७।।

अब पथिक की सज्जनता का वर्णन करते हैं—पथिक ने कहा—धैर्य धारण करो। क्षण भर के लिये आश्वस्त होओ। पट्टी पकड़कर अपने चंद्रमुख को धो डालो। पथिक के वचन को सुनकर विरह के भार से टूटे हृदय वाली उस रमणी ने लज्जित होकर अपने कपड़े के अंचल से मुख पोंछ लिया ।।९८।।

अपनी सब प्रकार से असमर्थता प्रकट करती है—हे पथिक ! कामदेव के सामने मेरा बल कुछ काम नहीं कर पाता। क्योंकि कामदेव के समान रूपवान मेरा प्रिय अकारण (किसी दोष के बिना भी) अनुरक्त होते हुए भी विरक्त हो गया है। इसीलिए दूसरे के कष्ट का अनुभव नहीं कर रहा है अतः उस निस्पृह (कठोर) के लिए एक मालिनीवृत्त में संदेश कहना ।। ९९ ।।

अपनी अज्ञानता का वर्णन करती है—आज भी सुरत काल के अन्त में मैं अपने हृदय को सुखरहित मानती हूँ। तो हे सुभग ! जो प्रेम नये रंग के स्नेह को उत्पन्न करता था उससे एक कलश (घड़ा) भर कर रखूँगी। क्योंकि विरक्त हृदय को उस घड़े में डाल कर स्वस्थता का अनुभव करूँगी ।।१००।।

यदि वस्त्र रंगविहीन हो जाता है तो पुनः रँग लेते हैं। जब शरीर स्नेह (तेल) रहित, रूखा हो जाता है तो तेल मर्दन कर चिकना बना लेते हैं, तथा जब द्रव्य हार जाते हैं तो जीत कर पुनः प्राप्त कर लेते हैं; किंतु हे पथिक! प्रिय के विरक्त हृदय को कैसे बदला जा सकता है ॥१०१॥

पथिक ने कहा—हे विशालनयने! मन में धैर्य धारण करो, मार्ग पर ही चलो। आँखों से बहते हुए आँसू को रोको। पथिक अनेक कार्य करने विदेश जाते हैं, वहाँ घूमते हैं। अपने कार्य के सिद्ध न होने पर, हे सुंदरी! घबराते नहीं ॥१०२॥

और वे विदेश में भ्रमण करते हुए कामदेव के बाण से पीड़ित होकर अपनी स्त्रियों को स्मरण करते हुए विरह के वशीभूत रहते हैं। दिन रात अपनी प्रियतमाओं के शोक के भार को सहने में असमर्थ होते हैं। जिस प्रकार तुम लोग वियोग में कष्ट पाती हो वैसे ही प्रवासी भी विरह में क्षीण होते हैं ॥१०३॥

इस वचन को सुनकर उस विशाल नयना, मदनोत्सुका ने 'आडिल्ला' छंद में कहा।

'संदेश रासक' नामक इस ग्रंथ के भाव को सूचित करती हुई कहती है—यदि प्रियतम का मेरे प्रति स्नेह नहीं है, इसको मैं देशज 'ताक' की तर्कना करती हूँ। तो भी हे पथिक! मेरे प्रिय के लिये संदेश कहो। (यहाँ प्राकृत होने के कारण संबंध कारक के स्थान पर संप्रदान कारक का प्रयोग हुआ है।)

दूसरे पद्य में—जो विरहाग्नि मेरे भीतर है, वह नाक तक है। दूसरा अर्थ 'नक्तान्तं' दिन रात हृदय जला रही है ॥१०४॥

हे पथिक! मैं कामदेव शरविद्ध-होने के कारण विस्तार से संदेश कहने में असमर्थ हूँ। पर मेरी इस सारी दशा को प्रियतम से कहना। रात दिन मेरे शरीर में कष्ट रहता है। तुम्हारे विरह में रात को नींद नहीं आती है। इतनी शिथिलता आ गई है कि रास्ता चलना भी कठिन है ॥१०५॥

जूड़े में पुष्पों का श्रृंगार नहीं करती हूँ। आँखों में धारण किया काजल आँसू के कारण गालों पर बह रहा है। प्रियतम के आगमन की आशा से जो

मांस मेरे शरीर पर चढ़ा है, उसके विरह की ज्वाला से भस्म होकर (सूख कर) दुगुना क्षीण हो रहा है ॥१०६॥

आगमन की आशा रूपी जल से सिंची हुई और विरह की आग से जलती हुई जी रही हूँ, मरी नहीं, किंतु धधकती हुई आग के समान पड़ी हूँ। इसके पश्चात् मन में धैर्य धारण कर, दोनों आँखों का स्पर्श कर प्रसन्न होकर कहा ॥१०७॥

हे प्रिय! मेरा हृदय सुनार (स्वर्णकार) के समान है। जिस प्रकार सुनार अभीष्ट लाभ की इच्छा से सोने को आग में तपा कर जल से सींचता है, वैसे ही मैं शरीर रूपी स्वर्ण को प्रिय के विरह रूपी आग से तपा कर पुनः मिलन की आशा रूपी जल से सींच रही हूँ ॥१०८॥

पथिक ने कहा—मेरी यात्रा के समय रो रो कर अमंगल (अपशकुन) मत करो। आँसुओं को रोको। तब रमणी ने कहा—हे पथिक! तुम्हारी मनोकामना सफल हो। आज तुम्हारी यात्रा होवे। मैं नहीं रोकूँगी। विर-हाग्नि के धुएँ की अधिकता से आँखों में आँसू आ जाते हैं ॥१०६॥

पथिक ने कहा—हे विशालनयने! शीघ्र कुछ कहो। सूर्य अस्त होने वाला है। दया करके मुझे छोड़ो। रमणी ने कहा—तुम्हारा बारंबार कल्याण हो। मेरे प्रिय से एक 'अडिल्ल' और एक 'चूडिलक' कहना ॥११०॥

मेरा शरीर लंबे गर्म श्वासों से (दीर्घोच्छ्वासों से) सूख रहा है। आँसुओं की इतनी झड़ी लगी है, पर वह सूखती नहीं, यही महान् आश्चर्य है। मेरा हृदय दो द्वीपों के बीच पड़ा है अर्थात् शून्य हो गया है। मानो पतंग दीपक के बीच में गिरा है, वह भी मर रहा है ॥१११॥

विरहावस्था में सभी समय कष्टदायक होते हैं इस विषय में कह रही है—सूर्य के उत्तरायण होने पर दिन बड़े होते हैं, रातें छोटी होती हैं। दक्षिणायन में रातें बड़ी होती हैं दिन छोटे होते हैं। जहाँ दोनों बढ़ते हैं वहाँ मानों यह तीसरा विरहापन उत्पन्न हुआ है। दोनों के अभाव में चौथा सुखापन होना चाहिए ॥११२॥

हे पथिक! दिन बीत गया।......यात्रा स्थगित करो। रात बिता कर फिर दिन में जाना। पथिक ने कहा—(हे लाल ओष्ठ वाली सुंदरी!) हे

विभावरे ! सूर्य प्रातःकाल से ही बहुत तपने लगता है। मुझे अत्यंत आवश्यक कार्य से जाना है। फिर उस विरहिणी ने कहा—यदि यहाँ नहीं ठहरते हो, हे पथिक ! यदि जाते ही हो, तो एक 'चूडिल्लक', 'खडहडक' और 'गाथा' मेरे प्रियतम से कह देना ॥११३॥

हे पथिक ! मेरे प्रिय से जाकर कहना कि तुम्हारे प्रवास में विरहाग्नि का फल प्राप्त हो गया है। वह यह कि चिरंजीवी वर मिल गया है, एक भी दिन वर्ष के समान हो गया है ॥११४॥

यद्यपि प्रिय वियोग में मेरा हृदय विह्वल हो गया है, यद्यपि मेरे अंग कामबाण से अत्यंत आहत हो गए हैं, यद्यपि आँखों से कपोलों पर निरंतर अश्रुप्रवाह होता रहता है, यद्यपि मन में कामदेव नित्य उद्दीप्त होता रहता है, तो भी मैं जी रही हूँ ॥११५॥

हे पथिक ! रात्रि में निश्चितता और नींद कैसे आयेगी ? क्योंकि अपने प्रिय के वियोग में विरहिणियाँ किसी प्रकार कुछ दिन जीवित रह जाती हैं, यही आश्चर्य है ॥११६॥

पथिक ने कहा—हे सुवर्णांगी ! जो कुछ आपने कहा तथा जो कुछ मैंने देखा वह सब अच्छी तरह विशेष रूप से कहूँगा। हे कमलनयने ! लौटो, अपने घर जाओ। मैं अपना रास्ता लेता हूँ। मेरे गमन में रुकावट न डालो। पूर्व दिशा में अँधेरा फैल रहा है। सूर्यास्त हो गया है। रात कष्ट से बीतेगी। मेरा मार्ग दुर्गम तथा डरावना है ॥११७॥

पथिक के वचन को सुनकर प्रियतम के वियोग के कारण उस तन्वंगी ने एक दीर्घ उच्छ्वास छोड़ा। उस समय कपोल पर जो कोई अश्रुबिंदु रहता है वह ऐसा लगता है मानों विद्रुम समूह के ऊपर मोती शोभा दे रहा हो। इसके बाद प्रिय के प्रवास से दुःखी होकर रोने लगी और विलाप करती हुई पथिक से कहने लगी—हे पथिक ! एक 'स्कंधक' और 'द्विपदी' मेरे प्रियतम से कहना ॥११८॥

मेरा हृदय ही 'रत्नाकर' है। वह तुम्हारे कठिन विरहरूपी मंदराचल से नित्य मंथन किया जाता है। मंथन करके सुखरूपी रत्न निकाला गया है ॥ ११९ ॥

कामदेव के प्रभावपूर्ण समीरण से प्रज्वलित विरहानल मुझे परलोक-गमन के लिये प्रेरित कर रहा है। वह विरहाग्नि-दृष्टि स्फुलिंग (चिनगारी) से पूर्ण है। मेरे हृदय में तीव्रता से स्फुरित हो रही है, जल रही है। दुःख-पूर्ण है। मैं मृत्यु को नहीं प्राप्त हो रही हूँ अतः मुझे लज्जित कर रही है, बढ़ रही है और जल रही है। पर, यह आश्चर्य है कि तुम्हारी उत्कंठा से सरोरुह बढ़ रहा है। अग्नि में कमल कैसे बढ़ सकता है? तो यहाँ सरोरुह श्वास अर्थ में प्रयुक्त है॥१२०॥

स्कंध और द्विपदी को सुनकर पथिक रोमांचित हो गया। पर प्रेम नहीं गया। पथिक मन में अनुरक्त हो गया। और उस विरहिणी से कहा—सुनो, क्षण भर शांत होओ। हे चंद्रानने! कुछ पूछता हूँ, स्पष्ट बतलाओ॥१२१॥

नए बादलों में से निकले चंद्रमा के समान तुम्हारा मुख निर्मल है। जैसे रात्रि में प्रत्यक्ष चंद्रमा अमृत बरसाते शोभा देता है। तुम्हारा यह चंद्रवत् मुख किस दिन से विरहाग्नि में तप कर काला पड़ गया है॥१२२॥

यह बताओ कि किस दिन से वक्रकटाक्ष युक्त मदोन्मत्त नेत्रों से निरंतर आँसू बहा रही हो। कदली के समान कोमल अंगों को सुखा रही हो। हंस के समान लीलायुक्त चाल को छोड़कर कब से सीधी (सरल) चाल अपना लिया है॥१२३॥

हे चंचलनयने! कितने दिनों से इस प्रकार दुःख में अपने अंगों को घुला रही हो। दुःसह विरह रूपी आरे से अपने अंगों को क्यों काट रही हो? कामदेव के तीक्ष्ण बाणों से कब से तुम्हारा मन हना जा रहा है? हे सुंदरी! बताओ, तुम्हारे प्रियतम ने कब से प्रवास किया है॥१२४॥

पथिक के वचन को सुनकर उस विशालनयना ने गाथा चतुष्क कहा॥१२५॥

हे पथिक! सुनो, मेरे प्रिय के प्रवास का दिन पूछने से क्या लाभ? उसी दिन से तो सुख त्याग कर दुःख का पट्टा प्राप्त किया है॥१२६॥

तो बताओ, वियोग की ज्वाला में जलाने वाले उस दिवस के स्मरण से क्या जिस दिन आधे क्षण में ही वे चले गये। अतः उस दिन का नाम भी न लो॥१२७॥

जिस दिन से मेरे प्रियतम गए हैं उस दिन से मेरी सारी इच्छाएँ ही समाप्त हो गई हैं। हे पथिक! वह दिन मुझे निश्चय ही काल के समान लग रहा है ॥१२८॥

जिस ग्रीष्म ऋतु में मुझे छोड़कर प्रिय गए, वह ग्रीष्म भयंकर वैश्वानर (अग्नि) से जले। जिस ग्रीष्म से मैं सूखती जा रही हूँ वह मलयागिरि के पवन से सूखे ॥१२९॥

तृतीयः प्रक्रमः

यहाँ ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया गया है—हे पथिक! नए ग्रीष्म ऋतु के आगमन के समय मेरे प्रियतम ने प्रवास किया। उसी समय परिहास के साथ नमस्कार करके सुख भी चला गया। अर्थात् तभी से सुख का सर्वथा अभाव है। उसके पश्चात् लौट कर विरह की अग्नि से तप्त शरीर वाली मैं विह्वल मन से घर आ गई ॥१३०॥

तथा दुःख और सुखों के अभाव को सहती हुई मुझ कामोद्दीप्ता को मलयगिरि का पवन और दुःखदायी हो गया। सूर्य की किरणें विषम ज्वाला से पृथ्वी के वन-तृणों को जलाती हुई मुझे उत्तप्त कर रही हैं ॥१३१॥

अथवा ग्रीष्म के कारण चंचल आकाश यमराज की जिह्वा के समान लहलहा रहा है। ताप से सूखती हुई पृथ्वी 'तड़', 'तड़' शब्द कर रही है। तेज का भार सहा नहीं जा रहा है। अत्यंत गर्म वायु ('लू') चल रही है। शरीर को तपाने वाला वात्याचक्र (बवंडर) विरहिणियों के अंग को स्पर्श कर तपा रहा है ॥१३२॥

नए बादलों को देखकर उत्कंठित चातक (पपीहा) 'प्रिय प्रिय' (पी पी) शब्द बोल रहे थे। नदियों में जल-प्रवाह बहुत सुंदर ढंग से प्रवाहित हो रहा था। छः पदों में आम का वर्णन है—फलों के भार से झुका हुआ आम का वन अत्यंत शोभा दे रहा है। तथा जहाँ हाथी के कान के समान वायु से हिलाए गए आम के पत्तों में आम्रमंजरी के सुगंध से उत्कंठित शुकों (तोतों) के जोड़े पंख फैलाए शोभा दे रहे हैं। और वहाँ से करुणा भरी ध्वनि निकल रही है। उस करुण ध्वनि को सुनकर मैं निराधार हो गई हूँ। हे पथिक! मानो सबको आनंदित करने वाले प्रियतम से मैं वंचित हो गई हूँ ॥१३३-१३४॥

शीतलता के लिये हरिचंदन का वक्षस्थल पर लेप करती हूँ किंतु वह भी सांपों के सेवन के कारण स्तनों को तपा रहा है। तथा अनेक प्रकार से विलाप करती हुई शीतलता के लिये हरिलता एवं कुसुमलता को हृदय पर धारण करती हूँ पर वे भी उष्णता पैदा करती हैं, अतः मृत्यु की शंका से मैं भयभीत हो गई हूँ ॥१३५॥

रात्रि में शय्या पर शरीर को सुख देने के लिये जो कमल के पत्ते बिछाती हूँ वे दुगुनी पीड़ा देने वाले प्रतीत होते हैं। इस प्रकार बिस्तरे से उठती हुई और निर्बलता के कारण वहाँ ही गिरती हुई लज्जित होकर गद्‌गद कंठ से 'वस्तुक' और 'दोधक' (छंद विशेष) पढ़ती है ॥१३६॥

कमल सूर्य की किरणों से विकसित हैं और विरहियों को तपनकारक हैं अतः मुझे तप्त कर रहे हैं। चंद्रमा की किरणें विष के साथ उत्पन्न होने के कारण पीड़ा देती हैं तथा जलाती हैं। चंदन सांपों के दांतों से डसा गया है अतः हमारे अंगों को पीड़ित कर रहा है। हार काँटों के बीच के फूलों से गूँथा गया है अतः अंगों में चुभ रहा है। कमल, चंद्र, चंदन, रत्नादि शीतल कहे जाते हैं, पर विरहाग्नि-ज्वाला किसी से शांत नहीं होती, अपितु अंगों को और अधिक पीड़ित करती है ॥१३७॥

"विरहिणी का शरीर कपूर, चंदन के प्रलेप से शीतल होता है"—यह मिथ्या सिद्ध हुआ। फिर विरह की ज्वाला प्रियतम से ही अच्छी तरह शांत हो सकती है ॥१३८॥

ग्रीष्म ऋतु का वर्णन समाप्त

(वर्षा वर्णन)

अब वर्षाऋतु का वर्णन करते हैं—अत्यंत उत्तप्त कष्टदायक ग्रीष्म मैंने कष्ट सहकर बिताया। इसके पश्चात् वर्षाऋतु आई पर, वह धृष्ट पति आया नहीं। चारो ओर अंधकार है, आकाश में जल के भार से झुके हुए मेघ बड़े क्रोध के साथ गरज रहे हैं ॥ १३९ ॥

भयभीत करनेवाली बिजली आकाश में प्रकाशित होकर ज्वाला के समान प्रदीप्त होकर भूमि मार्ग को स्पष्ट कर देती है। चातक (पपीहे) जल से अत्यंत तृप्त हो रहे हैं तथा आकाश में नए मेघों के नीचे उड़ती हुई बकपंक्ति शोभा दे रही है ॥ १४० ॥

ग्रीष्म ऋतु के तीक्ष्ण ताप से उत्तप्त सूर्य की किरणें जल शोषण कर पुनः इतनी भयंकर वृष्टि करती हैं कि जल नदियों में समा नहीं पाता। क्योंकि "सूर्य अपनी एक सहस्र किरणों से जल शोषण करता है।" तथा रास्ते में प्रवासी पथिकों ने जल से भींगने के भय से जूते हाथ में ले लिए हैं। आकाश में बिजली के द्वारा करल पगदंडक दिखाई देता है अन्यथा नहीं ॥ १४१ ॥

नदियों में ऊँची ऊँची भयंकर लहरें उठ रही हैं, नदी को पार करना दुस्तर है, उनमें गर्जना हो रही है। दिशाएँ स्थिर हो गई हैं। यदि आवश्यक कार्य आ पड़ता है तो नौका से यात्रा करते हैं न कि घोड़े से ॥ १४२ ॥

(क्षेपक) जैसे स्त्री प्रियतम - संगम के समय अपने अंगों में चंदन का प्रलेप करती है, लज्जावश शरीर को ढकती है, आँखों को बंद कर लेती है, अंधकार की अभिलाषा करती है, कुसुंभी रंग का वस्त्र धारण करती है, वैसे ही पृथ्वी, मेघ रूपी पति के आगमन के समय विभिन्न चेष्टाएँ करती है ॥ १४३ ॥

जल का किनारा छोड़ कर बगुले वृक्षों के शिखर पर विराजमान हैं, मयूर तांडव नृत्य करके ऊँचे पर्वत - शिखरों पर शब्द कर रहे हैं। जल में दादुर (मेंढक) कर्कश शब्द कर रहे हैं। कोकिल आम के शिखरों पर बैठ कर कलकल शब्द कर रही है ॥ १४४ ॥

सर्प दसों दिशाओं में घने रूप में मार्ग रोके हुए हैं। विषैले जल-सर्पों से मार्ग रुँधा हुआ है। जल की लहरों से पाडल दल विनष्ट हो गए हैं। हंस पर्वत की चोटी पर करुण स्वर से 'ढ' शब्द करते हुए रो रहे हैं ॥ १४५ ॥

मच्छरों के भय से गायें पृथ्वी पर स्थित हैं। गोपांगनाएँ मधुर गीत गा रही है। हरीतिमा से भरी हुई पृथ्वी कदंब के फूलों से सुगंधित है। कामदेव ने अपने प्रभाव से श्रंग भंग कर दिया है ॥ १४६ ॥

रात्रि में कष्ट देने वाली शय्या में एकाकी करवटें बदल बदल मैंने निद्रा बिताई। सरोवर में कमलों के बीच में भ्रमर-पंक्ति संकुचित हो गई है। मैंने टकटकी लगाकर रात्रि में जागरण किया। इस प्रकार नींद न आने के

कारण किसी प्रकार रात्रि बिताती हुई उस विरहिणी ने वस्तुक, गाथा और दोधक के द्वारा पथिक से कहा ॥ १४७ ॥

हे पथिक ! काले बादलों से दसों दिशाओं में आकाश ढका हुआ है। आकाश में घना छाया हुआ काला बादल गरज रहा है। आकाश में बिजली तड़तड़ शब्द कर रही है। मेढकों के कर्कश टर् र टर् र शब्दों को कोई भी सहने में असमर्थ है। घने बादलों की निरंतर वर्षा को हे पथिक ! किस प्रकार सहूँ ? तथा आम्रवृक्ष के शिखर पर बैठी हुई कोकिल दुःसह स्वर बोल रही है ॥ १४८ ॥

हे पथिक ! मैंने ग्रीष्म ऋतु तो किसी प्रकार बिता दिया। वर्षा काल में मेघों के घिरे रहने पर भी मेरे हृदय में विरहाग्नि और भी तप रही है यही बहुत आश्चर्य है ॥ १०६ ॥

जलबिंदु से उत्पन्न गुण (धागा) युक्त मुक्ताहार क्या लज्जित नहीं होते ? क्योंकि हे पथिक ! मेरे दोनों स्तन स्थूल अश्रु बिंदुओं से तप्त हो रहे हैं, पर लज्जित नहीं होते, क्यों ये स्तब्ध हो गए हैं। स्तब्ध व्यक्ति के कष्ट में भी सज्जनों को दुःख और लज्जा नहीं होती ॥ १५० ॥

यह दोधक पढ़कर वह विरहिणी व्याकुल हो गई। इस प्रकार मोह-ग्रस्त होकर चिरप्रवासी प्रियतम को मैंने स्वप्न में देखा। वचन कह कर पथिक से आग्रहपूर्वक हाथ जोड़कर कहा कि हे पथिक ! इस प्रकार प्रियतम से कहना ॥ १५१ ॥

हे प्रियतम ! क्या उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति के लिए यह उचित है कि तड़तड़ शब्द करती हुई बिजली से युक्त, काले मेघों से छाये इस विषम समय में प्रियतमा को छोड़कर चले गए हैं। यह उचित नहीं है ॥ १५२ ॥

हे प्रिय ! नई मेघमाला से संपन्न, इंद्रधनुष से रक्तिम दिशाओं से युक्त घने बादलों में छिपे चंद्रमा के कारण यह वर्षा ऋतु दुःसह हो रही है ॥ १५३ ॥

अनुराग के कारण कंठ के रुँध जाने से स्वप्न में जगकर जब मैं देखती हूँ कि कहाँ मैं और कहाँ मेरे प्रिय ? यह जानकर भी मैं मृत्यु को नहीं प्राप्त हुई तो मानती हूँ कि मैं पत्थर की बनी हूँ। यदि जीव इस शरीर से नहीं निकल पाया तो मैं मानती हूँ कि यह पाप से ग्रस्त है। मेरा हृदय इतने

भीषण कष्ट में भी नहीं फटा तो मैं मानती हूँ कि वज्र से रचित है ॥ १५४ ॥

धीमे शब्द में मंडूक के समान करुण स्वर करती हुई रात्रि के पिछले पहर में यह दोधक मैंने पढ़ा ॥ १५५ ॥

हे यामिनि ! जो तुम्हें कहना है वह तीनों लोक में भी नहीं समा सकता। दुःख में तुम चौगुनी लंबी हो गई। सुख में तो क्षण भर में ही बीत जाती हो ॥ १५६ ॥

वर्षा-वर्णन समाप्त

(शरद् वर्णन)

इस प्रकार विलाप करती हुई अनुराग से गीत गाती हुई, प्राकृत पढ़ती हुई रमणी ने वर्षाऋतु को किसी प्रकार बिताया। जिस ऋतु से रात्रि अत्यंत रमणीक होती है वह रात्रि मेरे लिये करपत्रक (आरे) के समान कष्टदायक हो रही है ॥ १५७ ॥

इस प्रकार प्रिय के आगमन की आशा में जीवित रहती हुई प्रातः शय्या त्याग कर विरह को दूर करने वाले प्रिय को स्मरण कर जागते हुए रात बिताई ॥ १५८ ॥

प्रियतम दक्षिण दिशा में गए हैं अतः दक्षिण मार्ग को भक्तिपूर्वक देखते हुए उस विरहिणी ने अगस्त्य ऋषि को शीघ्र देख लिया। इससे विदित हुआ कि वर्षा की समाप्ति है, पर परदेश में स्थित मेरे प्रिय अनुरक्त होकर आये नहीं ॥१५९॥

बगुले आकाश को चीरते हुए चले गए। रात्रि में मनोहर तारागण दिखाई देने लगे। सर्प पाताल में निवास करने चले गए। चंद्र की ज्योत्स्ना (चाँदनी) निर्मल हो गई ॥१६०॥

तालाबों में कमलों से जल सुशोभित है। नदियों में लहरें शोभा पा रही हैं। नए तडागों की जो शोभा ग्रीष्म ने हर लिया था वह शरद् ऋतु में और भी विकसित हो उठी ॥१६१॥

कमलकंद से उत्कंठित होकर तथा उनके रस को पीकर हंस मनोहर

कलकल शब्द कर रहे हैं। कमलों से भुवन भर गया है। जलप्रवाह अब अपने ही स्थान में प्रवाहित हो रहा है अर्थात् जल अपनी सीमा में स्वस्थान में ही बँध कर गिर रहा है ॥१६२॥

धुले हुए स्वच्छ शंख के समान कास (घास विशेष) के श्वेत फूलों से तालाबों के किनारे शोभा दे रहे हैं। निर्मल जल वाले तालाबों के किनारे पक्षियों की पंक्ति बैठी हुई शोभा दे रही है ॥१६३॥

शरद् ऋतु में जल निर्मल हो गया है अतः उसमें प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जल में मिट्टी का अंश नीचे बैठ गया है। विरह के कारण क्रौंच पक्षी के शब्द मुझसे सहे नहीं जाते। हंसिनी के जाने आने से मैं मर रही हूँ ॥१६४॥

सारस सरस शब्द कर रहे हैं। तब मैंने कहा—हे सारसि ! जल क्षीण हो जाने पर तथा जुगुनुओं के प्रकाशित होने पर क्यों मेरे पुराने दुःख को स्मरण करा रही हो ॥१६५॥

हे सारसि ! निष्ठुर करुण शब्द को मन में ही रखो। विरहिणी स्त्री तुम्हारे शब्दों को सुन और भी दुःखी हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक के समक्ष करुण पुकार कर रही हूँ परंतु कोई भी धैर्य नहीं बँधाता ॥१६६॥

जिन स्त्रियों के समीप प्रियतम घर में विराजमान हैं वे अनेक प्रकार के वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर गलियों में रास रचाती हुई घूम रही हैं ॥१६७॥

गौओं के बाँधने के स्थान में (गोष्ठ में), घुड़सालों में, स्त्रियाँ ललाट पर सुंदर तिलक लगाकर, कुंकुम चंदन से शरीर को रचा कर, क्रीड़ा पात्र को हाथ में लेकर, सुमधुर गीत गाती हुई गुरुभक्ति सहित धूप देती हैं। उस क्रीड़ापात्र को देख कर मैं उद्विग्न हो गई हूँ, क्योंकि मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं हुई ॥१६८–१६९॥

इस कारण से दिशाएँ अधिक विचित्र दिखाई दे रही हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है मानों आग में झोंक दी गई हूँ। मन में विरह की ज्वालायें प्रज्ज्वलित हो रही हैं। भ्रमर पंक्ति ने यह 'नंदिनी' गाथा पढ़ी ॥१७०॥

कसैले स्वाद के कमल दंड को खाने से मनोहर गले वाले हंस और चकवे

जल में मधुर शब्द बोल रहे हैं। चमत्कृत करने वाली चाल से चल रहे हैं। मानो शरद् ऋतु की शोभा नूपुर के मधुर चीण स्वर के समान है ॥१७१॥

आश्विन मास में पैर के फिसलने के कारण भयंकर बनी हुई महानदियों में सारस शब्द करके ऐसे दुःख पैदा करते हैं मानों इन पक्षियों के रुदन के बहाने वे नदियाँ ही रो रही हैं॥१७२॥

शरद् ऋतु में चंद्रमा की ज्योत्स्ना से रात्रि में श्वेत भवन और ऊँचे परकोटे अत्यंत मनोहर लग रहे हैं। वैसे ही प्रियतम के बिना शय्या पर करवटें बदल बदल कर यम के प्रहार के समान कष्ट पा रही हूँ ॥१७३॥

(कार्तिक वर्णन) जिन कामिनियों के प्रियतम संग में विराजमान हैं वे तडागों के किनारे घूमती हुई उसके किनारे की शोभा बढ़ा रही हैं। बालक तथा युवक खेलते हुए दिखाई दे रहे हैं। प्रत्येक गृह में पटह नामक वाद्य बध रहे हैं ॥१७४॥

बच्चे चक्राकार (गोलाकार) खड़े होकर बाजे बजाते हुए गलियों में घूम रहे हैं। तरुणियों के साथ में शय्या शोभा दे रही है। प्रत्येक घर में लिपी पुती रेखा शोभा दे रही है ॥१७५॥

रात्रि में दीपमालिका में दीप दान किये जा रहे हैं। नए चंद्रमा की रेखा के समान दीपक हाथ में गृहीत हैं। अच्छे प्रकाश वाले दीपकों से घर सुशोभित हैं। उत्तम अंजन की शलाकाएँ आँखों में लगाते हैं ॥१७६॥

अनेक प्रकार के काले वस्त्रों तथा अनेक प्रकार की घनी, टेढ़ी पत्र वल्लरियों से सुसज्जित स्त्रियाँ शोभा दे रही हैं। कस्तूरी से वक्षस्थल तथा दोनों उठे चक्राकार स्तन रचित हैं ॥१७७॥

सारे अंगों में चंदन युक्त कुंकुम पुता हुआ है, मानों कामदेव ने वाणों के द्वारा विष-प्रेक्षप किया है। सिर पर फूल सजाये गए हैं, मानो काले बादलों में चंद्रमा अवस्थित है ॥१७८॥

कर्पूर से पुते मुख पर नागवल्ली दल इस प्रकार शोभा दे रहे हैं मानो प्रातःकाल सूर्योदय हुआ हो। रंहस के व्याज से प्रसाधन (शृंगार) किये गए हैं। शय्या पर किंकिणी (तगड़ी, करधनी, मेखला) के मधुर शब्द सुनाई पड़ते हैं ॥१७६॥

इस प्रकार कुछ भाग्यशालिनियाँ क्रीडा कर रही हैं। मैं व्याकुल होकर किसी प्रकार रात्रि बिता रही हूँ। घर घर में गीत गाये जा रहे हैं। मेरे ऊपर सारे कष्ट एक ही साथ आ पड़े हैं ॥१८०॥

हे पथिक ! फिर भी बहुत दिनों से परदेश गए प्रिय को अपने मन में स्मरण कर पहले के समान ही सूर्योदय हुआ जान कर आँखों से अधिक मात्रा में आँसू बहाते हुए मैंने 'अडिल्ला' और 'वस्तुक' पढ़ा ॥१८१॥

रात्रि में आधे पहर भी मुझे नींद नहीं आ पाती। प्रिय की कथा में तल्लीन रहने पर भी आनंद नहीं मिलता। आधे क्षण भी मेरा मन रति की ओर नहीं जाता, काम से तपी हुई, बिंधी हुई मैं नहीं तड़प रही हूँ ? अपितु तड़प रही हूँ ॥१८२॥

हे पथिक ! क्या उस देश में चंद्र की ज्योत्स्ना (चाँदनी) रात्रि में निर्मल रूप में प्रस्फुटित नहीं होती ? उस देश में कमलों के फलों का आस्वादन करने वाले राजहंस कलरव नहीं करते ? अथवा सुललित भाषा में प्राकृत कोई भी नहीं बोलता ? क्या कोयल पंचम स्वर में कूकती नहीं ? प्रातःकाल विकसित पुष्पों में से परिमल नहीं बिखरते ? अथवा मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि हे पथिक ! मेरे प्रियतम नीरस हो गए हैं क्योंकि वे शरत् काल में भी घर का स्मरण नहीं कर रहे हैं ॥१८३॥

(हेमंत वर्णन)

सुगंध से परिपूर्ण शरद् ऋतु इस प्रकार बीत गई किंतु हे पथिक ! अति धृष्ट पति ने घर का स्मरण नहीं किया। इस प्रकार करुणा की दशा में पड़ी हुई, काम के बाणों से बिंधकर मैंने बर्फ के समान धवल (उजले) घरों को देखा ॥१८४॥

हे पथिक ! विरहाग्नि से तड़ तड़ शब्द करते हुए मेरे सारे अंग जल गए। कामदेव ने अपने धनुष से कड़कड़ाते हुए बाण छोड़े। इस प्रकार शय्या में दुःख से पीड़ित मुझ विरहिणी के पास वह मनोहर पर कठोर प्रियतम, जो दूसरे स्थान में घूमता रहा, नहीं आया ॥१८५॥

प्रिय के लिये उत्कंठित होकर वह विरहिणी चारों दिशाओं में देख रही है। तभी शीतलता युक्त हेमंत कुशलतापूर्वक आ पहुँचा। पृथ्वी पर शीतल

जल का अब आदर नहीं रहा। सारे कमलदल शय्या से हटा दिए गए ॥१८६॥

कामिनियाँ हेमंतागम के कारण कर्पूर और चंदन नहीं पीस रही हैं। अधर (नीचे का ओष्ठ) और कपोल के अलंकरण में मदन का संमिश्रण दिखाई देने लगा है। चंदन रहित कुंकुम का लेप शरीर में करने लगी हैं। कस्तूरी युक्त चंगा का तेल सेवन करने लगी हैं ॥१८७॥

जातीफल के साथ कर्पूर का लेप अब नहीं होता। पूगीफल (सुपारी) केतकी के पुष्पों से सुवासित नहीं किए जाते। कामिनियाँ भवन के ऊपरी भाग को छोड़कर रात्रि में ढके हुए स्थानों में पलँग बिछा कर सोने लगी हैं ॥१८८॥

अग्नि में अगर (सुगंधित काष्ठ) जलाने लगे हैं। शरीर में कुंकुम का प्रलेप सुखद लगने लगा है। गाढालिंगन आनंददायक हो गया है। अन्य ऋतुओं के दिनों की तुलना में हेमंतकालिक दिन बहुत छोटे हो गए हैं, किंतु मुझ एकाकिनी के लिये तो यह समय ब्रह्मयुग का समय हो गया है, ऐसा प्रतीत होता है ॥१८६॥

हे पथिक ! घर में एकाकिनी, नींद न आने के कारण विलाप करती हुई, मैंने रात्रि में एक लंबा 'वस्तुक' पढ़ा ॥१६०॥

हे निरक्षर ! लंबे ऊष्ण उच्छ्वासों के कारण रात्रि भी लंबी हो गई है। हे तस्कर ! निर्दय !! तुम्हें सदैव स्मरण करने के कारण निद्रा नहीं आती। हे धृष्ट ! अंगों में तुम्हारा करस्पर्श न पा सकने के कारण मेरे अंग हेमंत के प्रभाव से हेम के समान सूख गए हैं। हे कांत ! इस प्रकार हेमंत में विलाप करती हुई मुझको यदि अच्छी तरह से धीरज नहीं देते हो, तो हे मूर्ख ! खल !! पापिन् !!! मुझे मरी हुई जान कर आकर क्या करोगे ? ॥१६१॥

(शिशिर वर्णन)

हे पथिक ! इस प्रकार मैंने कष्ट सहकर हेमंत ऋतु को बिताया। तब तक शिशिर ऋतु का आगमन हुआ। धूर्तनाथ मेरे प्रियतम दूर ही रहे। प्रखर कठोर पवन से आहत होकर आकाश में 'झखड' नामक झंझावात (तेज हवा) उठा। उससे प्रभावित होकर सारे वृक्षों के पत्ते नीचे गिर गए ॥ १६२ ॥

छाया, पुष्प, फलरहित वृक्षों पर से पक्षिगण भी इधर उधर चले गए।

दिशाएँ कुहरे तथा अन्धकार से व्याप्त रहने लगी हैं। शीत के भय से पथिक भी यात्रा स्थगित कर दिए उद्यानों में पुष्परहित होकर झाड़ झंखाड़ के समान दिखाई दे रहे हैं ॥ १६३ ॥

क्रीड़ागृहों में नायिकाएँ अपने प्रियतमों को छोड़कर शीत के भय से अग्नि का आश्रय ले रही हैं। भवन के भीतर आच्छादित स्थानों में रमणियाँ क्रीड़ा का आनंद ले रही हैं। कोई भी उद्यान के वृक्षों के नीचे सोती नहीं ॥ १६४ ॥

रसिक अधिक गंधयुक्त अनेक प्रकार के गन्ने का रस पीते हैं। कुंद-चतुर्थी में सुंदर क्षण में कोई ऊँचे स्तनवाली स्त्रियाँ अपने बिस्तरे पर लेटती हैं ॥ १६५ ॥

कुछ स्त्रियाँ वसंत ऋतु में माघ शुक्ल पंचमी के दिन दान देती हैं। अपने प्रियतम के साथ केलि के लिये शय्या पर जाती हैं। इस समय प्रेम से अभिभूत केवल अकेली मैंने अपने प्रिय के पास मनोदूत को भेजा है ॥ १६६ ॥

हे पथिक! यह मैं जानती हूँ कि यह मनोदूत प्रिय को लाकर मुझे संतोष देगा। मैं यह नहीं जानती कि यह खल, धृष्ट मनोदूत मुझको भी छोड़ देगा। प्रिय नहीं आए, इस दूत को ग्रहण कर वहीं स्थित हैं। पर यह सत्य है कि मेरा हृदय दुःख के भार से अत्यधिक भरा हुआ है ॥ १६७ ॥

प्रिय समागम की इच्छा करती हुई मैंने मूल भी गँवा दिया। हे पथिक! सुनो, जो 'वस्तुक' मैंने रोते हुए पढ़ा ॥ १६८ ॥

अपने घने दुःख को जानकर मैंने अपने मन को प्रिय के समीप भेज दिया। प्रिय को तो मन लाया नहीं, अपितु वह भी वहाँ ही रम गया। इस प्रकार सूने हृदय के समान भ्रमण करती हुई मैंने रात बिताकर सवेरा किया। अनिरूपित कार्य किया। अतः अवश्य मन में पश्चात्ताप हुआ। मैंने हृदय दे दिया पर प्रिय को न प्राप्त कर सकी। यह उपमा कहो किसके समान हुई? इस पर कहा—गर्दभी शृंगार के लिए गई, देखो दोनों कानों से हाथ धो बैठी ॥ १६९ ॥

शिशिर वर्णन समाप्त

(वसंत वर्णन)

शिशिर व्यतीत हुआ, वसंत का आगमन हुआ। विरहियों की मदनाग्नि को प्रज्वलित कर मलयगिरि के चंदन की सुगंध से युक्त पवन तेजी से बहने लगा ॥ २०० ॥

केतकी सुंदर ढंग से विकसित हो गई। पाठांतर—हे पथिक ! जो वसंत लोगों के शरीर को संकुचित करता है वही प्रगट रूप में सुख देने लगा। दसो दिशाएँ रमणीक हो गईं। नये नये पुष्प और पत्ते अनेक वेश में दिखाई देने लगे। रति विशेष से नूतन तड़ाग अत्यंत शोभायुक्त हो गए ॥ २०१ ॥

सखियों के साथ मिलकर स्त्रियाँ नित्य गीत गा रही हैं और अनेक प्रकार के शृंगारिक रंगों जैसे सभी रंग के पुष्पों और वस्त्रों से तथा घने मनोहर चूर्णों से अपने शरीर को चित्रित करती हैं ॥ २०२ ॥

सुगंधित पदार्थों से चारो ओर 'मँह' 'मँह' हो रहा है। प्रतीत होता है कि सूर्य ने शिशिर ऋतु का शोक त्याग दिया है। उसे देखकर सखियों के मध्य में मैंने 'लंकोडक' पढ़ा ॥ २०३ ॥

अति दुःसह ग्रीष्म ऋतु बीत गई। वर्षा भी विकलता के साथ बिता दी। शरद् ऋतु अत्यंत कष्ट से व्यतीत हुई। हेमंत आया और गया। शिशिर, जिसका स्पर्श भी अत्यंत दुःखदायी था, वह भी प्रिय का स्मरण करते किसी प्रकार बिता दिया ॥२०४॥

तरुवर अपने नये किसलय रूपी हाथों के द्वारा वसंत लक्ष्मी का स्वागत कर रहे हैं। प्रत्येक वन में केतकी की कलिका के रस और गंध के लोभी भौंरे गुंजार कर रहे हैं ॥२०५॥

केतकी के परस्पर मिले हुए घने काँटों से भौंरे बिंध रहे हैं, तथापि मधु का रसास्वादन कर रहे हैं, तीक्ष्ण कंटकाग्रों से कष्ट अनुभव नहीं करते। रसिक जन रस के लोभ में शरीर दे डालते हैं, प्रेम के मोह में पाप नहीं गिनते ॥२०६॥

इस प्रकार वसंत ऋतु को देखकर मन में आश्चर्य हुआ। हे पथिक ! सुनो, रमणीक रूप कह रही हूँ ॥२०७॥

प्रज्वलंत विरहाग्नि की तीव्र ज्वाला में कामदेव भी गरजता हुआ व्याकुल

हो गया है। दुस्तर, दुःसह वियोग को सहकर भयभीत हो किसी प्रकार मैं जीवित हूँ, पर मुझे यही चिंता है कि मेरे स्नेह से तनिक भी न पीड़ित होकर मेरा प्रिय स्तंभतीर्थ में निर्भय रूप में वाणिज्य कर रहा है ॥२०८॥

पलाश (ढाक) का पुष्प घने काले और लाल रंग का हो गया है। अतः प्रतीत होता है पलाश प्रत्यक्ष रूप में (पल=मांस—अश=अशन अर्थात् मांसभक्षी) राक्षस हो गया है। वसंतकालिक पवन दुःसह हो गया है। सुखदायक अंजन कष्टकारक हो गया है ॥२०९॥

नई मंजरियों के गिरे हुए पराग से पृथ्वी पीली होकर अधिक ताप दे रही है। शीतल पवन पृथ्वी को शीतल करता हुआ बह रहा है पर, शीतलता नहीं मिल रही है, मानों क्या वह ताप बिखेर रहा है ? ॥२१०॥

लोक में जिसका नाम 'अशोक' प्रसिद्ध है, वह मिथ्या है। क्योंकि अशोक आधे क्षण के लिए भी मेरा शोक नहीं हरता। काम - पीड़ा से संतप्त मुझको मेरे प्रिय ही आश्रय दे सकते हैं—न कि सहकार (आम) के उद्दीपक वृक्ष ॥२११॥

हे पथिक ! छिद्र (अवसर) पाकर विरह और भी भयंकर रूप में बढ़ गया। मयूर तांडव नृत्य कर अपना मर्मभेदी शब्द सुनाने और माकंद वृक्ष की शाखा पर दिखाई देने लगे। हे पथिक ! जो 'गाथा' मैंने पढ़ी उसे सुनो ॥२१२॥

हे दूत ! नाटकीय मयूरों से प्रसन्न होकर मयूरी मिल रही है जिसे देखकर मेरा कष्ट और भी बढ़ जाता है। अथवा दुबारा वर्षा हो जाने पर विरहिणियों की प्रसन्नता देखकर मैं पीड़ित हो रही हूँ। आकाश में फैले हुए नये वृक्षों से बादलों की भ्रांति कर और भी कष्ट पा रही हूँ ॥२१३॥

इस 'गाथा' को पढ़कर जीर्ण दुःख को मन में धारण किए हुए विरहाग्नि की ज्वाला से प्रज्वलित, कामबाण से जर्जरित वह रमणी रोती हुई उठी ॥२१४॥

इस वसंत ऋतु में एक एक क्षण यम के कालपाश (बंधन) के समान दुःसह हो रहा है। सुंदर पुष्पों से दसो दिशाएँ सुशोभित हैं। आकाश में आम्र मंजरियाँ घने रूप में विकसित हैं। नई नई मंजरी की कोपलें इस ऋतु में निकली हुई हैं ॥२१५॥

इस समय अनेक प्रकार से अभिनय के साथ गान हो रहे हैं। सुरक्तक वृक्ष का शिखर विकसित होने से अत्यंत मनोहर लग रहा है। भौंरे सरस मनोहर शब्द गुंजार रहे हैं ॥२१६॥

वसंत में तोते आकाश में मंडलाकार उड़ते हुए चक्कर लगा रहे और करुणायुक्त ध्वनि में चहचहा रहे हैं। ऐसे कोमल समय में मदन के वश में होकर कष्टपूर्वक जीवन धारण करते हैं ॥२१७॥

जल रहित मेघ शरीर को और भी संतप्त कर रहे हैं। कोयल के कलरव को कैसे सहन कर सकती हूँ ? रमणियाँ गलियों में घुम रही हैं। तूर्य (मुँह से बजानेवाला वाद्य) के मधुर शब्द से त्रिभुवन बहरा हो रहा है अर्थात् चारो ओर उसका शब्द फैला हुआ है ॥२१८॥

बाजार के मार्ग (प्रसिद्ध मार्ग) में गायन, नृत्य तथा ताल ध्वनि करके अपूर्व वसंत काल नृत्य कर रहा है। घने हारों तथा शब्दायमान किंकिणी और मेखलाओं को धारण किए हुए रमणियाँ 'रुनझुन' शब्द कर रही हैं ॥२१९॥

नवयुवतियाँ किलकारी मार रही हैं। पति की आकांक्षा से मैंने इस 'गाथा' का पाठ किया अथवा पढ़ी हुई गाथा सुनकर मैं प्रिय के लिए उत्कंठित हो गई ॥२२०॥

ऐसे वसंत समय में दिन में बादल तथा रसोत्कंठित लोभ को देखकर कामदेव मेरे हृदय में अधिकतर बाण समूह फेंक रहा है ॥२२१॥

ग्रंथ का उपसंहार करते हुए कह रही है कि हे पथिक ! मैंने गहरे दुःख से युक्त, मदनाग्नि तथा विरह से लिप्त होकर कुछ अनुचित वचन कहे, तो कठोरता त्यागकर, नम्रता के साथ शीघ्र कहना। इस प्रकार कहना, जिससे प्रियतम कुपित न होवे। ऐसा कहना, जो युक्त (उचित) लगे। इस प्रकार कहकर वर की अभिलाषिणी रमणी ने आशीष देकर पथिक को विदा किया ॥२२२॥

वह विशालनयना जब पथिक को भेजकर अति शीघ्रता से चली तब उसने दक्षिण दिशा की ओर देखा। उसी समय समीप में ही मार्ग में उसने प्रियतम को देखा। तुरंत आनंदित हो गई। आशीर्वचन—ग्रंथ रचयिता की उक्ति है—जैसे उस विरहिणी का किंचित महान् कार्य आधे क्षण में ही सिद्ध

हो गया, वैसे ही इस ग्रंथ के पढ़ने और सुननेवालों के भी कार्य शीघ्र सिद्ध होवें। अनादि अनंत परम पुरुष की जय हो ॥२२३॥

श्री संदेश रासक समाप्त।

टिप्पणी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने संदेश रासक के प्रचलित अर्थों में सुधार का सुझाव दिया है। अवचूरिका और टिप्पनक के अर्थों में यत्रतत्र परिवर्तन करने का परामर्श देते हुए उन्होंने अपना सुझाव निम्नलिखित रूप में दिया है—

प्रथम प्रक्रम, छंद ४

आरद्द के दो अर्थ (१) (गृह आगत) और (२) (तंतुवाय) है, इस प्रकार श्लेष बन जाता है।

प्रथम प्रक्रम, छंद १४

वाडि विलग्गा = बाड़े पर लगी हुई (तुंबिनी लता)।

प्रथम प्रक्रम, छंद १५

गामगहिल्ली = गाँव की मुग्धा।
चंगिमा = चंग का अर्थ है चारु या सुंदर।
नवरंग चंगिमा = नवीन अनुराग से मनोहर बनी हुई।

प्रथम प्रक्रम, छंद १७–१८

चउमुहेण = अपभ्रंश का प्रसिद्ध कवि चउमुह।
तिहुयण = त्रिभुवन नामक कवि।

द्वितीय प्रक्रम, छंद २४

पहु=पथ
निअ=जोहना } पथ जोहती हुई।

दीहर के स्थान पर दयहर होना चाहिए जिसका अर्थ है दयधर अर्थात् दया का आहरण करनेवाला दयनीर।

द्वितीय प्रक्रम, छंद २५

चलणेहि छिहंतु = पृथ्वी को चरणों से छूता हुआ। अर्थात् पथिक इतनी द्रुत गति से जा रहा है कि धरती को पैरों से छू छूकर निकल जाता हुआ दिखाई दे रहा है।

द्वितीय प्रक्रम, छंद २६

संझखिय=पर्यस्त अर्थात् उत्क्षिप्त ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ३१

पहियणिहि=पहिय+णिहि,

णिहि का अर्थ है स्नेही अथवा रागयुक्त

द्वितीय प्रक्रम, छंद ३२

अइकुडिलमाइ=अति कुटिलत्वे ।
बिवि = बि + वि > बीअ + वि > द्वितीयोऽपि=दूसरा भी ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ४४

आयण्णहि (आइन्निहिं ?) अर्थात् सुनते हैं ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ४६

परिघोलिर=चक्करदार फिरता हुआ ।

द्वितीय प्रक्रम, छंद ४७

णिवडब्भर =(डब्भर=ऊभर) अर्थात् निपट उभरे हुए । शुद्ध पाठ—

कवि केण सम < हसइ नियइ मइ कोइणिहि

निअइ (सं० निकृति)=कपट

मइ (सं० मति)

कोइणि (कोपिनी)

अर्थ—कोई (तरुणी) किसी व्यक्ति के साथ, उन कजरारी तिरछी आँखों से, जिनमें बनावटी कोप का भाव है, हँस-हँसकर बातें कर रही है ।

टिप्पणी—डा० हरिवल्लभ भयाणी द्विवेदी जी के अर्थ से कहीं कहीं सहमत हैं पर कहीं कहीं चमत्कार लाने के लिए अर्थ का अत्यधिक तनाव मानते हैं ।

———

भरतेश्वर बाहुबलि रास

१—ऋषि जिनेश्वर के चरणों को प्रणाम करके, स्वामिनी सरस्वती को मन में स्मरण करके गुरु-चरणों को निरंतर नमस्कार करता हूँ।

२—भरत नरेंद्र का चरित्र जो युग युग से वसुधावलय में विदित है और जिसमें दोनों बांधवों का बारह वर्ष का युद्ध (वर्णित) हुआ है ।

३—मैं रास छंद में (उस चरित्र का) वर्णन करता हूँ जो जनमन को हरनेवाला और मन को आनंदित करनेवाला है। हे भव्य जन, उसे मनो-निवेशपूर्वक सुनो।

४—जंबू द्वीप में अयोध्यापुरी नगर है। (जहाँ) धनकण, कंचन और रत्नप्रवर (इतने अधिक) हैं। और क्या पूछते हो वह तो स्वर्ग पुरी ही थी।

५—(उस अयोध्या नगरी में) ऋषि जिनेश्वर राज्य करते हैं। वे पाप रूपी अंधकार और भय को हरण करने के लिए सूर्य हैं। उनका तेज सूर्य किरण के समान तपता है ।

६—राजा ऋषभेश्वर के दो रानियाँ थीं जिनका नाम सुनंदा देवी और सुमंगला देवी था। उन्होंने रूपरेखा और प्रेम में रति (कामदेव की स्त्री) को जीत लिया था।

७—सुनंदा ने दो बेटियों को जन्म दिया जिन्होंने त्रिभुवन के मन को आनंदित किया। सुमंगला देवी से भरत उत्पन्न हुए।

८—देवी सुनंदा के पुत्र बाहुबलि हुए जो अपनी भृकुटि से महाभट बली भूप को तोड़ (भंज) डालते थे। वीरधर कुमारों की तो बात ही क्या।

९—तिरासी लाख पूर्व (जैन काल गणना) ऋषभदेव ने राज्य के द्वारा पृथ्वी को प्रकाशित कर दिया और युग युग के लिए मार्ग दिखा दिया।

१०—भरतेश्वर ने अयोध्यापुरी की स्थापना की और बाहुबलि को तक्षशिला (का राज्य) सौंपा गया। शेष अट्ठानवे लड़के (अपने) नगर में रह गए।

[ऋषभदेव ने अपना साम्राज्य अपने सौ लड़कों में बाँट दिया। भरत को अयोध्या, बाहुबलि को तक्षशिला, शेष को अन्य स्थानों का अधिकारी बनाकर वैराग्य धारण किया।]

११—[आगम में वर्णन मिलता है कि ऋषभ जी ने दान के लिए बड़ी संपत्ति प्रदान की पर कोई भिक्षुक ही नहीं मिला। नियम यह है कि तीर्थंकर दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक सोने का दान करते हैं।]

विषय-विरक्त अत्यंत संयमशील जिनवर ने दान दिया। सुर, असुर और मनुष्यों ने इनकी सेवा की।

१२—परम पतालपुरी (स्थान विशेष) में केवलज्ञानी को संसार स्वयं प्रमाण बन गया।

[अर्थात् परम पतालपुरी में एक ऐसे ज्ञानी हुए जिनको सारा संसार प्रमाण रूप से मानता था।]

इस बात का ज्ञान भरतेश्वर को हुआ।

१३—एक दिन आयुधशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ। अरिगण पर आतंक और आपत्ति आ गिरी। भरत प्रसन्न होकर विमर्श करने लगा।

१४—मैं धरामंडल राज्य से धन्य हूँ। आज मेरे पिता प्रथम जिनवर हुए। केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी ने उन्हें अलंकृत किया।

१५—(भरतेश्वर सोचने लगा) प्रथम मैं तातपाद को प्रणाम करू। उन्होंने राजऋद्धि रूपी राजत्व फल प्राप्त किया। (पिता के पद को प्रणाम करके) तब चक्ररत्न का अनुसरण करूँ।

वस्तु

१६—गजवर गंभीर गर्जन करते हुए चले। घोड़ों का समूह चलता हुआ रोषपूर्ण (हो), हूँकता हुआ हिनहिनाता है। अपनी दादी मरुदेवी (ऋषभ-देव की माता) को साथ ले सिर पर मणिमुकुट धारण कर भरतेश्वर नरेंद्र जब हाथी पर चढ़े तब मेरु पर्वत भय से भरकर विचलित हो उठा। प्रथम

जिनेंद्र भगवान् ऋषभदेव के दरबार में दरबारी देवताओं के सहित जिनवर को प्रणाम करते हैं।

[कहा जाता है कि मरुदेवी ने भी अपने पुत्र ऋषभ को देखने की इच्छा प्रकट की और भरतेश्वर उन्हें साथ लेकर प्रथम जिनेंद्र ऋषभदेव के पास पहुँचे।]

[भरत ने अभिवादन करते हुए कहा]

१७—प्रथम जिनवर ऋषभदेव के पैरों को प्रणाम करता हूँ। आनंद के साथ उत्सव मनाते हुए वे बार बार चक्ररत्न की पूजा करते हैं। गजकेशरी गड़गड़ा रहे हैं। उन हाथियों की गड़गड़ाहट गंभीर नदी की गरज अथवा मेघगर्जन के समान है। निसाण की चोट और तूर्यरव से आकाश बधिर हो रहा है। ऋतुराज से अधिक रोमांचित करनेवाले भरतेश्वर पर चक्ररत्न प्रगट हो गया।

[इति वस्तु]

ठवणी १

१८—पूर्व दिशा में प्रभात उदय हुआ। प्रथम चक्र चालित हुआ। धरातल धुल गया और थरथरा उठा। पर्वतों का समूह चल पड़ा।

टिप्पणी—चक्ररत्न के दर्शन के उपरांत भरत को चक्रवर्ती राज्य की अभिलाषा हुई। अतः वह अन्य राजाओं को जीतने के लिए अभियान कर रहा है।]

१९—भुजबली भरत नरेंद्र ने तदुपरांत (इस प्रकार) प्रयाण किया, जैसे शत्रुदलन को सिंह (टूट) पड़ता है। भरत नरेंद्र तो पृथ्वी तल पर दूसरा इंद्र ही था।

२०—युद्धक्षेत्र में सेनापति और सामंत के साथ (सेना) चलने से (रणभेरी) बजी। महीधर मंडलीक अनेक गुणों से गरजते हुए मिले।

२१—कवच से युक्त श्रेष्ठ हाथी गड़गड़ा रहे हैं। [उनका चलना ऐसा प्रतीत होता है] मानो गिरिशृंग चल पड़े हों। वे अपने शुंडदंड को हिलाते और अंग अंग को मोड़ते चलते हैं।

२२—वे (हाथी) गिरि-शिखरों को बार बार तोड़ते हैं और वृक्षों की डालों को भंग कर देते हैं। वे अंकुश के वश नहीं आते और अपार क्रीड़ा (शरारत) करते हैं।

२३—त्वरावर तोखारी घोड़े हींस (अभिलाषा) से भरे शीघ्रता करते हुए हिनहिना रहे हैं। (अपने) सवार को मनोनुकूल आगे ले चलने के लिए खुरों से (पृथ्वी को) खोद रहे हैं।

२४—[घोड़ों की तीव्र गति का वर्णन करते हुए कवि कहता है।] जीन कसे ये पंखवाले घोड़े हैं अथवा पक्षी हैं जो उड़ते उड़ते जा रहे हैं। ये हांफते, तलपते, ससते, धँसते, दौड़ते (और) अनिच्छा से (रथों में अथवा जीन कसने को) जुड़ते हैं।

जकार्या=जकार=अनिच्छा से (गुजराती इंगलिश कोश)

२५—स्फुट फेनाकुल विकट घोड़े उल्लसित होते और शरीर हिलाते हैं। चंचल तातारी घोड़े तेज में सूर्य के घोड़ों के समान देदीप्यमान हो रहे हैं।

२६—ढोल नगाड़ों की धमधमाहट से पृथ्वी गूँज उठी। रथों ने रास्ते को जैसे रूँध रखा था। घोड़ों के ठट्ट के ठट्ट स्थिर भाव से रव करते हुए (मार्ग में) गहन वनों को भी कुछ नहीं समझते।

२७—चमर चिह्न और ध्वजाएँ लहलहा रही हैं। मतवाले हाथी मार्ग को रोक लेते हैं अथवा मार्ग से हटकर अन्यत्र चले जाते हैं। वे इतने वेग से जा रहे हैं कि पेदल (सैनिक) उनके साथ लग नहीं पाते।

मेल्हहिं=रोकना, छोड़ना

२८—दुःसह पैदल सेना का समूह दौड़ता हुआ दसो दिशाओं में फैल गया। और सैनिक शत्रु जनों के अंग अंग पर अनेक वज्र का प्रहार करते हैं।

२९—वे (इधर उधर) देखते हैं और तड़पते हैं और ताल ठोंकते हैं। बार बार ताल हनकर कहते हैं कि आगे कोई भट नहीं है जो सामने जूझ सके।

३०—दसो दिशाओं में (शत्रु का नाश करनेवाले) सैनिक संचरण करते हैं और अगार खच्चर (युद्ध-सामग्री) ढो रहे हैं। सेना की संख्या का कोई अंत नहीं। कोई किसी का सुधि-सार प्राप्त नहीं कर पाता।

बेसर=खच्चर । उष्ट्र महिष ने बेसर घोड़ा ।—गिरिधर

३१—न भाई से भाई मिल पाता है न बेटा बाप से मिल पाता है। सेवक न तो स्वामी की सेवा कर पाता है। अपने आप में ही सब व्यात हैं।

३२—चक्रधर (भरतेश्वर) हाथी पर चढ़ा। उसने अपना प्रचंड भुज-दंड पटक दिया। चारो दिशाओं में चलाचली चल पड़ी। देशाधिप (भरतेश्वर के लिए) दंड धारण करके चले।

३३—युद्ध क्षेत्र में दमामे के स्वर होने लगे। निशान से घना निनाद होने लगा। इंद्र स्वर्ग में शंका करने लगे कि इसके सामने मैं क्या हूँ। (अर्थात् भरतेश्वर की सैन्य शक्ति की तुलना में मैं बिल्कुल तुच्छ हूँ।)

३४—आकाश में जब निसान बजा तो उसकी ध्वनि शिव के (प्रलय-कारी) डमरू के समान जान पड़ी। षट खंड में षंडाधिपों के चलने से (ऐसा प्रकाश हुआ मानो) सूर्य चमक उठा।

३५—भेरीरव त्रिभुवन में भर गया। भेरीरव से इतनी ध्वनि उठी कि वह त्रिभुवन में किसी प्रकार न समा सकी। पद-भार से शेषनाग कंपित हो उठे और (वह ध्वनि) कानों में सह्य न हो सकी।

३६—पृथ्वी सिर डुलाने लगी। पर्वत शृंग भी नीचे से ऊपर तक हिल उठे। सारा सागर झलझला उठा और गंगा की तरंग भी (सीमा छोड़-कर) ऊपर आ गई।

३७—घोड़ों के खूँदने से पृथ्वी तल पर इतनी धूल उठी कि मेघ जैसा बन गया और उससे सूर्य ढक गया। आयुधों का उजाला करता हुआ राजा कंधार तक चला जाता है।

[भरतेश्वर चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से देश-विदेश विजय करता जा रहा है।]

३८—कोई मंडलपति सामने मुख न कर सका। कोई सामंत श्वास न ले सका, राजपुत्रों का राजत्व नहीं रह सका। मतिवंत मन मसोस-कर रह गए।

३९—वह कौन सी सेना है जो भरत की सेना से भिड़ते ही भाग न जाए? (भरत की सेना) रत्नाकर के वेग के समान है जिसके आगे राणा रानी नमन कर जाते हैं।

४०—साठ सहस्र संवत्सर तक भरतेश्वर छहखंड का भरण (राज्य) करता रहा। समरांगण में जब वह जुट जाता है तो उसकी समस्त आज्ञाएँ मानी जाती हैं।

४१—नमि और विनमि नाम के वीरों से बारह वर्ष युद्ध करके उसने अपनी आज्ञा का पालन कराया। गंगातट के आवास से नव निधियों को उसने प्राप्त किया।

४२—मुकुटबंध से छत्तीस सहस्र वर्ष तक युद्ध करके चौदह रत्नों की संपत्ति उसने प्राप्त की। एक सहस्र वर्ष तक गंगातट पर भोग करने के लिए आया।

[वाणी, ठवणी २]

४३—(भरतेश्वर ने) तब आयुधशाला में आकर आयुधराज (चक्र रत्न) के लिए नमस्कार किया। उस क्षण भूपाल-मणि भरतेश्वर चिंता-कुल हुआ।

[आयुधशाला में चक्ररत्न को न देखकर राजा को चिंता हुई।]

४४—बाहर अनेक अनाड़ी (मूर्ख) रातदिन शरारत करते हैं। अकाल में ही अत्यंत उत्पात होने लगे। दानवों का दलबल दिखाई पड़ने लगा।

[जब बहुत विनय करने पर भी चक्ररत्न पुरी में प्रविष्ट न हुआ तो]

४५—वह (राजा भरतेश्वर) मन में कहने लगा—हे मतिसागर चक्र, तुम किस कारण पुरी (अयोध्यापुरी) में प्रवेश नहीं कर रहे हो ? तुम्हीं हमारे राजा हो। हम इस पृथ्वी पर तुम्हारे ही आधार से खड़े हैं।

४६—हे देव, आप यह रहस्य बताइए कि किस दानव या मानव ने आपको रोका है। वैरी को मिटाने में मैं देर न लगाऊँ !

४७—मृगांक मंत्री बोले—हे स्वामी, हे चक्रधर, सुनिए। और कोई दूसरा वीर नहीं है जहाँ यह चक्ररत्न रहे।

[चक्ररत्न के लिए आप ही उपयुक्त पात्र हैं।]

४८—हे भरतेश्वर, भुवन में तुझ भूप से (अथवा तुम्हारे भय से) इंद्र

स्वामी शंकित हो रहे हैं। वह भी (तुम्हारा) नाम सुनकर नष्ट हो जाता है। दानव और मानव का तो कहना ही क्या !

४९—तुम्हारा दूसरा भाई बाहुबलि तुम्हारी आज्ञा नहीं मानता। भाई का वैर विनाशकारी है। उसने बड़े बड़े विषम वीरों को खंड खंड कर डाला है।

५०—हे नरदेव, इस कारण से चक्ररत्न अपने नगर में नहीं आ रहा है। हे स्वामी, तुम्हारे भाई की सेवा के अतिरिक्त सब कोई तुम्हारी सेवा करते हैं।

[जैन आगम के अनुसार भरत के ९८ भाइयों ने ऋषभदेव के परामर्श से राज्य त्याग दिया और भरत से किसी ने युद्ध नहीं किया। केवल बाहु-बलि उसकी अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहता था।]

५१—उसकी बात सुनकर राजा (भरतेश्वर) अति रोष भरकर ताल ठोंककर उठा। उसने भौंहें चढ़ाईं और अपनी मोछों को भाल तक (ले जाकर) मरोड़ा।

[भरतेश्वर बोला]

५२—वह कौन बाहुबली है जो मेरी आज्ञा न माने ? खेल में ही उसका प्राण ले लूँगा। युद्ध में लड़कर मैं उसका प्राणनाश कर दूँगा।

५३—मतिसागर मंत्री वसुधाधिप भरतेश्वर बाहुबली से विनती करता है कि आप अपना मन दुखी मत कीजिए। भाई के साथ क्या लड़ना है।

५४—हे देव, पहले एक दूत भेजिए और सारी बात उन्हें बता दीजिए। यदि वे (यहाँ) न आवें तो हे नरवर, कटक भेजिए।

५५—राजा ने मन में (यह मंत्रणा) मान ली और शीघ्र ही सुवेग को आज्ञा दी कि सुनंदा के पुत्र (बाहुबली) के पास जाओ और मेरी आज्ञा स्वीकार कराओ।

५६—राजा के आदेश से जो रथ जोता जाता है उसके (अश्वरथ के) वाम भाग में बार बार अपशकुन सामने खड़े हो जाते हैं।

[अपशकुन का वर्णन इस प्रकार है]

५७—काजल के समान काली बिल्ली (रथ के वाम भाग में) आड़े उतर आई। और (मानो) विकराल यमराज ही खर खर गर्दभ रव करता हुआ उछल रहा हो।

५८—बकुल की डाल पर बैठा श्यामा पक्षी सूत्कार स्वर करता है। सूर्य-प्रकाश के मध्य उछल उछलकर उल्लू दाहिनी ओर पुकार रहा है।

५९—शृगाल घूम घूमकर बोल रहे हैं मानो विषाद ही गमन कर रहा है (अथवा स्पष्ट दिखाई दे रहा है।) भैरव भयंकर रव करता है और ऐसा शब्द करके (सबको) डराता है।

६०—कालसार वट वृक्ष पर यक्ष के समान कभी चढ़ता कभी उतरता है। बिना जला अंगारा सामने उड़ता हुआ दिखाई पड़ता है।

कालीआर—सं० कालसार=Antelope, Black Buck

६१—काल भुजंगम के समान काले हाथी दर्शन दे रहे हैं। वे रह रह कर ऐसा बोल रहे हैं कि आज यमराज लगातार नाश करेगा।

६२—दूत ने यह जान लिया कि जोखिम आ गया। क्योंकि भ्रमते हुए भूत गिरि, गुहा और घने वन को कुछ नहीं समझते।

६३—(दूत ने अयोध्या से तक्षशिला तक की यात्रा की) दूत ने तक्ष-शिला के समीप ही रात्रि में निवास किया। उसने नदी, द्रह, निर्झर की कुछ परवाह न की। ग्राम, नगर, पुर और पाटण को पार करते हुए संपूर्ण यात्रा उसने समाप्त की।

६४—बाहर बहुत से बाग हैं, वहाँ सरोवरों पर बड़े बड़े वृक्ष सुगंध सहित हैं। धवल घर में मणिनिर्मित तोरण शोभा दे रहे हैं।

रेहइ=शोभा दे रहे हैं।

६५—पोतणपुर देखते ही दूत बड़े वेग से उल्लसित हो उठा। वहाँ पर व्यापारी बसते हैं जो धन, कंचन-कण और मणिप्रवर के अधिकारी हैं।

६६—पोतणपुर में जो तीन ऊँचे गढ़ निर्मित हैं वे धरणीरूपी तरुणी के ताटंक (कर्णभूषण) हैं। इस नगरी के कँगूरे स्वर्णमय हैं। (दूत ने सोचा) क्या यह अभिनव लंका नगरी ही तो नहीं है।

६७—विशाल एवं पुष्कल प्राकार एवं पाड़े (कटरे) का पार नहीं

पाया जाता। सिंहद्वार की कोई संख्या ही नहीं। दसो दिशाओं में देवालय ही दिखाई पड़ते हैं।

पोल>पोकल>पुष्कल पोढ़>प्रौढ़ (सं०)

६८—पुर में प्रवेश करने पर दूत राजभवन में पहुँचा। प्रतिहार के सहित उसने प्रवेश किया और नरवर (बाहुबली) के चरणों में नमस्कार किया।

रायहर = राजगृह [राजभवन]

६९—माणिकस्तंभ की चौकी पर बाहुबली बैठा था। रंभा जैसी रूप-वाली चामरधारिणी चामर डुला रही थी।

७०—(बाहुबली ने) मणिमय मंडित दंड के सहित सिर पर मेघाडंबर धारण कर रखा था। जैसा प्रचंड उसका भुजदंड था वैसी ही विजयवंती जयश्री (उसके पास) बसती थी।

७१—जिस प्रकार उदयाचल पर सूर्य शोभा देता है उसी प्रकार उसके सिर पर मणिमुकुट शोभायमान था। कस्तूरी, कुसुम, कपूर, कचूंबर मह मह महक रहे थे।

७२—उसके कान में कुंडल झलक रहे थे, मानो निश्चय ही अन्य सूर्य और चंद्रमा हों। गंगाजल (विद्यमान था) और दान के लिए अनेक गुणी हाथी गड़गड़ा रहे थे।

[गंगाजल दान का संकल्प लेने को रखा हुआ था]

७३—उसके (बाहुबली के) उर पर मोती का हार और हाथ में वीरवलय झलमला रहा था। नवल अंग पर श्रृंगार शोभायमान हो रहा था और बाएँ पैर में टोडर (आभूषण विशेष) खड़क रहा था।

७४—बादर (वस्त्रविशेष) चीर उसने पहन रखा था। हाथ में काली करवाल थी। गुरु गंभीर गुणों के कारण वह द्वितीय चक्रधर ही जान पड़ता था।

७५—राजा के सदृश बाहुबली का वैभव देखकर दूत चित्त में प्रसन्न हुआ। (उसने मन में कहा) हे ऋषभेश्वर के पुत्र जयवंत बाहुबली, आप जग में धन्य हैं।

७६—बाहुबली ने दूत से पूछा कि तुम किस कार्य से यहाँ आए हो? दूत ने कहा कि भरतेश्वर ने अपने कार्य से मुझे भेजा है।

वस्तु

७७—राजा बाहुबली बोला, हे दूत, सुनो! भरतखंड का भूमीश्वर भरतराज हमारा भाई है। सवा कोटि (कोड़ी) कुमारों के सहित वह शूरकुमार नरश्रेष्ठ है। उसके मंत्री, मंडलीक महाधर, अंतःपुर के परिजन, सीमा के स्वामी सामंत कुशल और विचारपूर्वक हैं न!

७८—दूत बोला-हे राजा बाहुबलि, भरतेश्वर को चक्रवर्ती कहने में क्या आपत्ति करते हो? जिसका लघुबांधव तुम्हारे सदृश है जिसके यहाँ गरजने-वाले भीम हाथी गरज रहे हैं। जिसने बड़े बड़े वीरभटों को उस प्रकार भंग कर डाला है जिस प्रकार अंधेरे को सूर्य की किरण। वह भरतेश्वर विजय के लिए युद्ध (भाव) से परिपूर्ण है। अतः आपका उसे समर्थन मिले तो अच्छा हो।

७९—सुवेग नामक दूत वेग से बोला—हे बाहुबली, सुनो। तुम्हारे तुल्य कोई भी राजा सूर्य के तले नहीं है।

८०—(तुम्हारे ज्येष्ठ) भाई भरतनरेंद्र ऐसे (वीर) हैं जिनसे पृथ्वी काँपती है और स्वर्ग में इंद्र भी काँपता है, जिन्होंने भरत खंड को जीत लिया और म्लेच्छों से अपनी संपूर्ण आज्ञाओं का पालन कराया है।

[भरतेश्वर ने पृथ्वी के प्रायः सभी राजाओं को अधीन कर लिया था। एकमात्र बाहुबली आज्ञानुवर्ती नहीं बना था।]

८१—वह बली भूप युद्ध में भिड़ जाने पर भागता नहीं। वह गड़गड़ाता हुआ भयंकर युद्ध में गरजता है। बत्तीस सहस्र मुकुटधारी राजा सभी तुम्हारे बांधव के पैरों की सेवा करते हैं।

८२—उनके घर में चौदहो रत्न और नवो निधियाँ हैं। घोड़े हाथी की संख्या कितनी है, कहाँ तक कहा जाय। उनका अभी पट्टाभिषेक हुआ। तुम उसमें नहीं आए। इसमें कौन विवेक की बात थी?

८३—बांधव बिना सभी संपत्ति न्यून है जिस प्रकार नमक के बिना रसोई अलोनी रहती है। राजा (भरतेश्वर) तुम्हारे दर्शन को उत्कंठित है। तुम्हारा भाई नित्य तुम्हारी बाट जोह रहा है।

८४—हे देव, आपका बड़ा सहोदर भरतेश्वर बड़ा वीर है। साहसी (और) धीर जिसको प्रणाम करते हैं। एक तो वह (स्वयं) सिंह है और दूसरे उसका परिवार कवच के समान है।

[टिप्पणी—कतिपय प्रतियों में दूत के वचन और विस्तार के साथ वर्णित हैं। अंत में वह समझाता है कि हे बाहुबली, आप मेरा कहना कीजिए। भाई के चरणों में लगिए और इस प्रकार पुण्य प्राप्त कीजिए। यदि तुम उसकी आज्ञा नहीं मानोगे तो वह भूपबली भरतेश्वर तुम्हारा प्राण ले लेगा।]

८५—अब बाहुबली कहता है, (हे दूत) कच्चे वचन मत कहो। संसार भरतेश्वर के भय से काँपता है यह सत्य है।

८६—जिसके पीछे मेरे सदृश भाई हो उसके साथ समरांगण में कौन युद्ध की तैयारी कर सकता है? मैं कहता हूँ कि ऐसा कौन प्राणी है जिसको जंबूद्वीप में उसकी (भरतेश्वर की) आज्ञा न (मान्य) हो।

८७—ज्यों ज्यों (भरतेश्वर ने) अनेक उत्तम गढ़ों को हय-गज-रथ से युक्त करके सनाथ किया अर्थात् उत्तम गढ़ों को घोड़े हाथी और रथों से संयुक्त किया और इंद्र अपना अर्द्धासन उन्हें प्रदान करता रहा त्यों त्यों मेरे मन में परमानंद की प्राप्ति होती रही।

८८—यदि मैं (भरतेश्वर के) अभिषेक के समय नहीं आया तो उन्होंने (भी) हमारी सार सँभार नहीं ली। वे बड़े राजा और मेरे बड़े भाई हैं। जहाँ उनकी इच्छा होती वहाँ मैं जाकर उनसे मिलता।

८९—(भरतेश्वर) मेरी सेवा का बाट न देखें। वीर भरतेश्वर व्याकुल न हों, मुझमें और भाई में किसी प्रकार का भेद नहीं। इस लोभी संसार में खल इस प्रकार कहा करते हैं। अर्थात् दुष्ट व्यक्ति लोभ के लिए भाई से पार्थक्य मानते हैं।

ठवणी ५

९०-९१—दूत बोला—(हे बाहुबली) अपने भाई भरतेश्वर के पास चलने में विलंब न कीजिए। उनसे भेंट कीजिए। अपने चित्त में चिंतन करके विचार कीजिए। मेरी बातें सुन लीजिए। मेरी बातों को तुम मन में

मान लो। भरत नरेश्वर को गज-दानी समझो। कंचन राशि देकर उन्हें संतुष्ट करो। गजघटा और तीव्रगामी चंचल घोड़े उन्हें दो।

६२—ग्राम, नगर, पुर और पाटण अर्पित कर दो। वह देशाधिपों को स्थिर, स्तंभित और स्थापित करनेवाला है। तुम उसे देय और अदेय देने में विमर्श न करो। समर्पण करने से किसी प्रकार का विनाश न होगा।

६३—जिसको राजा सेवक नहीं जानता उस मानी को विशेष रोष के साथ मारता है, प्रतिपन्न (शरणागत) का स्पष्ट प्रतिपालन करता है। प्रार्थी को घड़ी भर भी टालता नहीं।

६४—हे देव, उनसे ताड़ना न कीजिए। वे यदि मानते हैं तो उनसे अड़ना नहीं चाहिए। हे सुजान, मैं आपके हित के कारण (यह) कहता हूँ। यदि झूठ कहूँ तो मुझे भरतेश्वर की आन है।

६५—राजा (बाहुबली) बोला—हे दूत ! सुनो, विधाता जो कुछ भाल-तल पर लिख देता है वही मनुष्य इस लोक में पाता है। इस भाग्यरेखा का निःसत्व, निर्गुण नर उत्तमांग और नामी जन ब्रह्मा, इंद्र, सुर, असुर कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। भाग्य से अधिक या कम नहीं मिलता। फिर भरतेश्वर कौन होता है ?

६६—निज देश, घर, मंदिर, जल, स्थल, जंगल, गिरि, गुहा, कंदरा, दिशा दिशा, देश देश (बाहरी देश), द्वीपांतर, युग और चराचर में जो कुछ निषिद्ध या विहित भाग्य में लिखा है वह अवश्य मिलेगा।

नेसि—नेष्ट (निषिद्ध)

निवेसि—निवेश्य (विहित)

६७—अरे दूत ! सुनो, महिमंडल में देवता, दानव वा मानव कोई भी भाग्यलेख का उल्लंघन नहीं कर सकता। भाग्यलेख से अधिक या कम नहीं दे सकता।

६८—धन, अन्न, कंचन, नव निधियाँ, गजघटा, तेजस्वी, तरल (केकाणी) घोड़े, यहाँ तक कि अपना सिर और सर्वस्व भले ही चला जाय, तो भी निसत्वपणे (दीन भाव) से नमन नहीं करना चाहिए।

ठवणी ७

६६-१००—दूत बोला—ऐसा भाई पुण्य से ही प्राप्त होता है। उसके पग को नमस्कार करिए और मेरा कहना कीजिए। अन्य अट्ठानवे भाइयों में यदि सबसे पहिले तुम मिलोगे तो तुम शोभाशाली बनोगे। कहो अब विलंब किस कारण करते हो। वार, मुहूर्त की ममता के लिये विलाप मत करो।

वलीजइ (विलीजइ—) विलुं=विलपितम्
माम—ममता
पाठांतर—'मिलिउँ न सयलुँ' के स्थान पर 'होसिय सोहिलउँ'

१०१—बीजवपन का उत्तम समय देखकर कृषि करने से फलप्राप्ति होती है, यदि ये सुयोग शीघ्र मिल जायँ तो। पर जो मनुष्य मन से बात का विमर्श नहीं करता और विलंब करता है उसकी बात (कार्य) का विनाश होता है।

[टिप्पणी—कृषि का नियम है कि वार, मुहूर्त देखकर खेती की जाती है। यदि मुहूर्त शीघ्र न मिले तो विलंब से बीज बोने पर वह उगेगा ही नहीं क्योंकि खेत की नमी समाप्त हो जायगी।]

वराप—(१) बीजवपन का सर्वोत्तम समय, (२) बीज से अंकुर निकलना।
करषण—कृषि (सं०)। श्रोण करशण साइं छे—नर्मद।

१०२—यदि तुम स्वतः उनसे न मिलोगे (अधीनता स्वीकार न करोगे) और कटक भेजोगे तो इससे क्या होगा। राजा भरतेश्वर उस सेना को भगा देगा। इसका ज्ञान होना चाहिए कि जो कोई भरतेश्वर से युद्ध करेगा, उसकी बात को भरतेश्वर हृदय में धारण करेगा, अर्थात् युद्ध करनेवाले शत्रु को क्षमा नहीं करेगा।

१०३—भीम (के सदृश बड़े वीर) अनेक हाथियों पर गाजते हैं और उन्होंने सीमावर्ती सभी देशों को (अपने राज्य में) ले लिया है। भरत तुम्हारा भाई है और भोला भाला है। सो तुम उससे दाव घात मत करो।

'दाव' का अर्थ है offering—पंच पंडव चरित रासु, १·७७३।
अतः यहाँ 'दाव करीजइ' का भाव 'युद्ध का चैलेंज करना' भी हो सकता है।

१०४—तब बाहुबलि बोला—(हे दूत) अपनी भुजाओं में बल नहीं तो पराए की आशा कौन करे। जो मूर्ख और अज्ञानी होता है वह दूसरे के बल पर गरजता है। मैं अकेला ही घोर युद्ध में भट भरतेश्वर के सामने स्थित हो युद्ध करके अपने भुजबल से उसका भंजन कर दूँगा। बाघ के सामने भेड़ी नहीं ठहर सकती है।

भाइ—बाघ

ठवणी ८

१०५—हे दूत, यदि मैं ऋषभेश्वर का पुत्र हूँ और भरतेश्वर का सगा भाई हूँ तो मन में यह जानकर वह मुझे मुक्त क्यों नहीं रहने देता। हे अज्ञानी, फिर तू व्यर्थ इस प्रकार दुःखी मत हो।

म झंखिसि=(तू) दुखी मत हो।
आल—व्यर्थ, झूठमूठ।

१०६—किस कारण पराए की आशा कीजिए। सिद्धि (सफलता) साहसी को स्वयं वर लेती है। मैं अन्याय के कारण हाथ में हथियार धारण करूँगा क्योंकि यह वीरों का परिवार है।

अनइ—अन्याय (अनाय)

१०७—अरे दूत, यदि सूअर और सियार सिंह को खा जाएँ तो बाहुबली भी भूपबली भरतेश्वर से भाग जायगा। यदि गाय बाघिन को खा जाए तो भरतेश्वर मुझे जीतेगा।

जीपइ>जिप्पइ>जित्त>जित (सं०)

ठवणी ९

१०८—दूत बोला—हे बलवान् बाहुबली, यदि तुम आज्ञा न मानोगे तो भूपबली भरतेश्वर तुम्हारा प्राण ले लेगा।

१०९-११०—उसके ९६ करोड़ छविमान् पदाति (पैदल सैनिक) हैं और ७२ करोड़ उड़नेवाले घोड़े हैं। श्रेष्ठ नरवर भी उससे पार नहीं पा सकते और उसकी सेना का भार सह नहीं सकते। यदि कोई देवलोक में भी चढ़ जाए

तो (वह उसे) वहाँ से भी गिरा देता है। शत्रु गिरि-कंदरा में छिपने पर भी नहीं छूटता। हे बाहुबली, तुम मरकर मत नष्ट हो।

१११—गज और गर्दभ में, घोड़े और भेड़ में जो अंतर है, जो तुलना सिंह और शृगाल की है (उसी तुलना के अनुसार) भरतेश्वर और तुम परस्पर विचरण करते हो। (फिर तो) निवेदन करने पर भी किसी प्रकार तुम न छूटोगे।

अन्नइ=अएणेएण > अन्योन्य (परस्पर)
हुड=भेड़ अथवा कुत्ता

११२—अतः अपना सर्वस्व (भरतेश्वर को) समर्पित करके भाई को प्रसन्न करो। किस धूर्त के कहने से तुम्हारे अंदर ऐसी दुर्बुद्धि आ गई? हे मूर्ख, मूढ़ता न करो। अरे गँवार, मरो मत। (भरतेश्वर के) पद को प्रणाम करके युद्ध न करो।

समार—समर। संहार—युद्ध।
कूड़—असत्य, छल। कूड़ी—छली।

११३—वह तुम्हारे गढ़ को तोड़कर वीरों का प्राण हरण कर तुम्हारे प्राणों को भी विनष्ट कर अपना हृदय शांत करेगा।

पाठांतर—तई मारइ राउ वाणि-विनाणि।
तो राजा वाण—विज्ञान से मारेगा।

११४—बाहुबली बोले—(हे दूत) भरतेश्वर का तो कहना क्या, मेरे साथ युद्ध में सुर और असुर भी नहीं टिक सकते। यदि (भरतेश्वर को) चक्रवर्ती का विचार है तो हमारे नगर में (चक्र चलानेवाले) अनेक कुम्हार रहते हैं।

चक्रवर्ती=(१) चक्रवर्ती राजा, (२) चक्र चलानेवाला कुम्हार।

११५—(एक बार) अकेले गंगातीर पर रमते हुए गंगा में (भरतेश्वर) धम से गिर पड़ा। मैंने उसे बचाया। आकाश से गिरने पर भी यह शरारत करता रहा। यह क्रोध करता था तब भी मैं इसपर करुणा करता रहा।

११६-११७—इतने पर भी वह गँवार शारीरिक घटनाओं को भूल गया। यदि वह युद्ध में मिलेगा तो सारतत्व उसे ज्ञात होगा। यदि उस मुकुटधारी

का मुकुट न उतार लूँ, रुधिर के प्रवाह में घोड़े हाथी (की सेना को) न डुबा दूँ, यदि राजा भरतेश्वर को मार न डालूँ तो पिता ऋषभेश्वर की मुझे लाज है। (हे दूत), तुम भट भरतेश्वर के पास जाकर सूचना दे दो कि वह अपने श्रेष्ठ घोड़े, हाथी और रथ को शीघ्र (युद्ध क्षेत्र में) चलावें।

आपणि—अकेले।

११८—दूत बोला—हे राजा! सुनो न। उन दिनों की बात मत करो जिन दिनों वह (भरतेश्वर) गंगातीर पर खेला करता था। (अब वह ऐसा चक्रवर्ती राजा बन गया है कि) उसके दल के चलने के भार से शेषनाग का सिर और उसके फण का मणि सलसला उठता है। यदि तुम उसकी आज्ञा नहीं मानते तो भरतेश्वर तो दूर रहा; कल सूर्य उगते ही मल्ल समुदाय के द्वारा आप ही आप मैं (सारा राज्य) बलात् अधिकार में कर लूँगा।

आपायूँ—अपने आप
वेढ़िउँ—वेढ़ (वेष्ट) = लपेट लेना, अपने अधिकार में कर लेना।

११६—इस प्रकार कहकर दूत चल पड़ा। मंत्रीश्वर विचार करने लगा (और बोला) हे देव, दूत को प्रसन्न कीजिए। अन्य ६८ कुमारवर, जिन्होंने पृथक् पृथक् रूप से भरतेश्वर को प्रचारा, वे सब उसकी आज्ञा मान गए और बली भरतेश्वर के पास आ गए। हे अक्षय स्वामी, बांधवों के संधिबल का विमर्श न करो। (वे ६८ बांधव आपका साथ न देंगे।)

पाठांतर—ते अणमन्निउ (वे आज्ञा मान गए)।

१२०—[दूत राजा भरतेश्वर के पास जाकर बाहुबलि का वृत्तांत सुना रहा है।] वे (बाहुबलि) क्रुद्ध हुए, किलकिला उठे। (मानो) काल की दूसरी कालाग्नि प्रज्वलित हो उठी हो। महाबल के हाथ में करवाल आने पर उसका स्वरूप ऐसा हुआ मानो कंकोल वृक्ष कोरंबित हो उठा हो।

काल ही कलकल करता हुआ मुकुटधारी (बाहुबली) से मिल गया। कलह के कारण विकराल कोप प्रज्वलित हो गया हो।

पाठांतर—कंकोली किम रोषीओ ?

१२१—गड़गड़ाहट से कोलाहल हुआ और गगनांगण गरज उठा। सुभट सामंत पूरी समाधानिका (तैयारी) के साथ चल पड़े। कवच से

आच्छादित हाथी गड़गड़ करते हुए क्रीड़ा में पर्वतों के शिर (शिखर) गिरा देते हैं। उल्लसित होकर गलगलाते हैं और युद्ध (भूमि) को आर्द्र कर देते हैं।

अरल—(अरर) युद्ध। ऊलालई—उल्ल=आर्द्र

१२२—(युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है) हाथी जुड़ जाते हैं, भिड़ जाते हैं और (कुछ) वीरों को मार डालते हैं तथा (कुछ को) दूर भगाकर खड़खड़ करते हुए खंड खंड कर देते हैं। वे (हाथी) तेज दौड़ते हैं, शत्रु को धुन देते हैं और अपना दंतशल्य तड़ातड़ धँसा देते हैं। त्वरा मचानेवाले तेजस्वी (घोड़े) खुर से पृथ्वी को खोदकर धूल उड़ाते हैं। जीन कसे घोड़े समसते घुसते बसमसाते शब्द करके (शत्रुओं में) प्रविष्ट हो जाते हैं।

समसइँ=एक दूसरे से सट जाते हैं।

१२३—घोड़े कंधे को आगे बढ़ाए हुए उत्साहपूर्ण होकर लगाम (चबा) कुतर रहे हैं। चमकदार अनेक घुघरुओं के बजने से युद्धक्षेत्र में रणण रणण की ध्वनि हो रही है। उन घोड़ों पर सवार योद्धा बाज पक्षी के समान कार्य सिद्ध करते फिरते हैं और सेला हथियार का प्रयोग कर रहे हैं। वे उत्साह में भरे मंसूबा करते हुए अंगों को आड़ा करके (बाज के समान) उड़ रहे हैं।

१२४—अनेक रथी और सारथी (भीड़ में) घुसकर, दौड़कर पृथ्वी को घड़हड़ा (कँपा) देते हैं। प्रत्येक योद्धा अपने अपने जोड़ के साथ युद्ध में जुट रहा है। जटाधारी जटाधारियों के साथ, प्रौढ़ प्रौढ़ों के साथ और सन्नाहधारी (बख्तर धारण करनेवाले) कवचधारियों के साथ जुट रहे हैं। पैदल सेना (चारो ओर) इतनी फैल गई है मानों समुद्र ही उमड़ गया हो। लोह की लहरियों में अपाय (विवश) होकर बड़े बड़े वीर बह रहे हैं।

पाठांतर—'जरद' के स्थान पर 'जरढ' उत्तम जान पड़ता है।
'जरढ' का अर्थ है 'प्रौढ़' (पाइअ सद्द महण्णव)।

१२५—रणक्षेत्र में तूर, तार, तंबक की रणण रणण ध्वनि से त्राहि त्राहि मच गई है। ढाक, ढूक और ढोल के ढमढम से राजपुत्र (योद्धा)

उत्साह से भर जाते हैं। अनेक निसानों के घोर रव रूपी निर्झर शत्रु की गति को रोक देते हैं। रणभेरी की घोर ध्वनि से पृथ्वीमंडल विजृंभित हो उठा।

१२६—बिजली की गति के समान करवाल (तलवार), कुंत, कोदंड, साबल, सशक्त सेल, हल, प्रचंड मूशल, धनुष पर प्रत्यंचा की टंकार के साथ बाण-समूह को ताने हुए, फरसे को हाथ में लेकर भाला चला रहे हैं।

१२७—तीर, तोमर, भिंडमाल, डबतर, कंसबंध, सांगि, शक्ति, तलवार, छुरी, नागनिबंध (नामक) हथियारों का प्रयोग हो रहा है। घोड़ों की खुरों से उड़ती हुई धूल रविमंडल पर छा गई है। पृथ्वी धूज उठी है, कोल कलमला उठा है और समस्त विश्व कंपित हो उठा है।

१२८—गिरिशृंग-समूह डाँवाडोल हो उठा। आकाश में खलबली मच गई। कूर्म की कंध-संधि कड़कड़ाने लगी (कोलाहल के भार से कूर्म की पीठ टुकड़े टुकड़े होने लगी)। सागर उछलने लगा। संहार के कारण शेष-नाग के सिर चंचल हो उठे (शेषनाग के सिर पर पृथ्वी स्थित मानी जाती है)। वह पृथ्वी को सँभाल नहीं सकता है। कंचनगिरि पर्वत कंधे के भार से थककर कसक उठता है।

कमकमी=क्लम=क्लांति

१२९—किन्नर काँप उठे और हरगण हड़हड़ाकर (महादेव की) गोद में पड़ गए। देवता स्वर्ग में सशंक हो उठे और समस्त दानव दल हड़हड़ा (भयभीत हो) उठा। चारो दिशाओं में ऊँचे ऊँचे नाचते हुए झंडे बहुत दूर तक लहक रहे हैं। सामंत अपने सिर पर केशराशि को कसकर संचरण कर रहे हैं।

चलविंध—चंचल चिह्न (झंडे)।

१३०—भरतेश्वर अपनी सेना को देखकर (अपनी) मूँछ मरोड़ता है। (वह सोचता है) बाहुबली (मेरे सामने) कौन है जो मुझसे (अपने को) बली समझता है। यदि वह गिरि-कंदरा के विवर में भी प्रविष्ट हो जाए तो भी छूट नहीं सकता। यदि वह जलाशय या जंगल में भी चला जाए तो भी अवश्य नष्ट हो जाएगा।

१३१—गज-साधन से संपन्न होकर वीर नर पोतनपुर को अधिकार में करने के लिये चले। भरतेश्वर के मंत्रीश्वर ने कहा कि हे (महाराज), बात बनाकर बहुत बहकिए नहीं। बाहुबली श्रेष्ठ मनुष्य है। आपने यह अविमर्श का काम किया है। आपका काम बिलकुल कच्चा है। ढ़

१३२—हे नरवीर, भाई से आप इतना विरोध क्यों कर रहे हैं? लघु-भ्राता तो अपने प्राण के समान ही होता है। आप क्यों नहीं उसे इस प्रकार समझते हैं? हे राजा, आप अपने मन में विचार कीजिए। क्या बाहुबली कोई परराष्ट्र का है। वह वीर तो वन में चला गया और आप अपने घर में आवास कर रहे हैं।

१३३—शृंखला में बँधे हाथी गलगला रहे हैं, घोड़ों को घास डाली जा रही है। इस प्रकार भरत राय के आवास पर हसमस (घसमस) हो रहा है। कोई निरंतर जल ढो रहा है, कोई ईंधन ला रहा है। कोई अपंग (जख्मी, लँगड़ा लूला) दूसरे के ऊपर (सहारा लेकर) अलसा रहा है। कोई आई हुई तृण राशि उतार रहा है।

१३४—कोई उतारा करके (सामान को नीचे उतारकर) घोड़ों को तलसरा (झाड़ियों) में बाँध रहा है। कोई घोड़ों को खुराक दे रहा है और कोई चारा तैयार कर रहा है। कोई नदी में मिट्टी का पात्र भरकर किनारे पर औरों को बुला रहा है। कोई सवार 'हाँ' कर रहा है। कोई सार-साधन को अदल बदल रहा है।

तलसार>तलसरा>[तल + सर] एक झाड़ी का नाम

रॉधइ—प्रस्तुत कर रहा है
वाह—'हाँ' करना
वेलावई—अदला बदला करते हैं
साहण—साधन

१३५—ताप (गर्मी) से आकुल एक सैनिक नदी के तट पर चढ़-कर पंखा झल रहा है। एक सुभट सैनिक वर्म धारण करके देवस्थान के चबूतरे पर देवाराधना कर रहा है। (कोई) स्वामी आदिजिन की प्रकाश में ही पूजा (स्नानादि) संपन्न कर देता है। उन्हें कस्तूरी, कुंकुम, कपूर, चंदन आदि से सुवासित करता है।

१३६—राजा भरतेश्वर ने चक्ररत्न की पूजा की और वह पृथ्वी पर जाकर बैठ गया। इतने में असंख्य शंख बज उठे और राजा दौड़ता हुआ आया। जितने मंडलपति, मुकुटधारी, और सुभट थे उन सबको राजा ने झलकते हुए स्वर्ण कंकणयुक्त हाथों से तांबूल दिया।

वस्तु

१३७—बाहुबली के पास दूत पहुँचा। उसने कहा—हे नरवर बाहुबली, बार बार मेरी बात सुन लीजिए। आप राजा भरतेश्वर की पदसेवा कीजिए। कौन ऐसा भारी योद्धा है जिसको वह रणक्षेत्र में भुजभार से भाँग न दे। हे मूर्ख, यदि भरत की आज्ञा को सिर पर धारण कर लो तो परिवार के सहित सैकड़ों गुना आनंद प्राप्त करोगे।

१३८—राजा बाहुबली बोला—हे दूत! सुनो, मैं अपने पिता ऋषभदेव के चरणों को प्रणाम करके कहता हूँ, मुझे भाई ने धोखे से बहुत ही लज्जित किया। भरतेश्वर भी तो ऋषभदेव जी का वैसा ही लड़का है (जैसा मैं हूँ)। उसने मुझसे क्यों न कहा कि मेरी सेवा करो। यदि मैं अपने भुजबल से उनसे भिड़ न जाऊँ तो वीर होकर युद्धवाद (क्षत्रियत्व) की निंदा करनेवाला हो जाऊँगा और मेरे पिता त्रिभुवन के धनी ऋषभेश्वर (मेरी करतूत से) लज्जित हो जाएँगे।

ठवणी ११

(बाहुबली के विचार सुनकर) दूत भरतेश्वर के पास पहुँचा और सारी बात उसने सुना दी। (उसने कहा कि) बाहुबली वीर की कोपाग्नि प्रज्वलित हो उठी है। वह साधन एकत्रित कर रहा है कि शत्रु भाग जाएँ। आतुर होकर सवार युद्ध के लिये चल पड़े हैं, इस कारण घोर निनाद उठ गया है। मेरी बात सुनकर उसी समय बाहुबली क्रोध से परिपूर्ण हो गया।

[भरतेश्वर और बाहुबली के युद्ध का वर्णन है]

१४०—युद्ध की खाज उठने से लड़ाई करते हुए (योद्धा) एक दूसरे का सिर फोड़ने लगे। दो योद्धाओं के बीच में जो अज्ञानी आ जाता था उसका अंत निश्चित था। राजपुत्र से राजपुत्र, योद्धा से योद्धा, पदाति से पदाति, रथी से रथी, नायक से नायक युद्ध करने लगे।

याग—अयाग (अज्ञान)

१४१—शत्रु को लपेटकर अधिकार में करके योद्धा स्वामी को नमस्कार करते हैं और विश्राम लेकर मन में मात्सर्य भरे हुए वे म्लेच्छ अपनी मूँछ मरोड़ते हैं। (चारों ओर बिखरे हुए शवों को देखकर) शृगाल हँसते और उनके बीच में घुस जाते हैं। वीरों के धड़ नट के समान नर्तन करते हैं। राक्षस 'रां' 'रा' शब्द करते तथा रक्त के मध्य आह्वान करते हुए प्रसन्न होते हैं।

सवइ=आह्वान

१४२—(उस युद्ध में) पैरों से दबकर करोड़ों मनुष्य चूर्ण हो गए। कितने ही भुजबली योद्धाओं के बाहुओं से रगड़ (दल) दिए गए। जिन वीरों के पास हथियार नहीं था उन्होंने दाँतों से ही सेना को करड़ करड़ कर (चबा) डाला। जिनके हाथ में करवाल है वे बड़े वेग से झमझम की ध्वनि के साथ उसे चलाते हुए (रोषभरी दृष्टि से) देख रहे हैं। (तलवार का चिह्न पड़ते ही कबंध और सिर अलग हो जाते हैं) कबंध युद्ध करने और सिर सिंह के समान गर्जन करने लगता है।

झूझ—युद्ध करना। समहरि=हरि के समान अथवा संहार में

१४३—रुधिर के नाले में तुरंग तैरने (या डूबने) लगते हैं। लोहे के झूल से युक्त हाथी (उस नाले में) मूर्च्छित हो जाते हैं। राजपुत्र रणरस में मत्त होकर बुद्धि रहित हो समरांगण में देख रहे हैं। (युद्ध के) प्रथम दिन तो इस प्रकार युद्धक्षेत्र में सेना का केवल मुखमंडन ही हुआ। संध्या समय दोनों पक्ष के वीरों का आपस में युद्ध-निवारण कर दिया गया।

अमूँझइ—मूर्च्छित होना
बिहुँ—बेउ=उभय

१४४—दूसरे दिन प्रभात होने पर अनल वेग के समान युद्धाग्नि उठी। संग्राम में सरासर बाणों की वर्षा हो रही है किंतु जो विदग्धपुत्र हैं वे निपुणता से अपनी रक्षा कर लेते हैं। शत्रुगण अपने अंगों को दूसरे के अंगों से सटाए हुए लड़ रहे हैं और राजपुत्र युद्धक्षेत्र में राजपुत्र से लड़ रहे हैं। दुलार से पाली सुकुमार चतुरंगिणी सेना युद्धक्षेत्र में चढ़ गई और वह शत्रुओं को स्वयंवर के रूप में वरण करने लगी।

मसमसता मोहन घेर आवो, लडसडते डगले—[नरसिंह]

लड=सुकुमार। सड=१—निकृष्ट (सड़ना) ⎫ जो सेना दुलार से
२—मसृण (सरह) ⎭ पाली गई हो।

लाड़=(१) दुलार, (२) लाट>लाड = विदग्ध

१४५—इस युद्ध रूपी स्वयंवर में साहसी और धीर ही श्रेष्ठ वर के रूप में वरण किए जाते हैं। घोड़े मंडलीक से मिलन जानकर (प्रसन्नता से) हींस रहे हैं। घोड़े उल्लास के साथ मंगलगान गाते हैं और उस गान की गूँज से गगन और गिरिगुहा गुमगुमा उठी। युद्ध की धमधमाहट को धरातल सहन न कर सका। शेषनाग और कुलपर्वत काँप उठे। धीरवान् और बुद्धि-बली धसमस करते हुए दौड़ते हैं। धीर वीर टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। सामंत संग्राम में सामने ठहर नहीं सके और मंडलीक मंडित न रह सके।

१४६—महीतल के राजा मंडित मस्तक वाले हैं। उन्होंने अनेक गज-घटा की भीड़ संकलित की है। (हाथियों की वह घटा) पृथ्वी पर पर्वत के समान प्रतीत होती है। वीरों का धड़ नट के समान नर्तन करता है। यमराज ही हाथ में करवाल लेकर क्रीड़ा कर रहे हैं। योद्धा युद्ध में इस प्रकार घूम रहे हैं जैसे जम (यमपाश) घड़ (बना) रहा हो। अथवा सिंह पर्वत पर गड़गड़ा रहा हो।

नरवए—नटवत
पिढि—पृथ्वी

१४७—हाथी के दल में सिंह गड़गड़ा उठा। संपूर्ण निर्भीक (योद्धा) थरहरा उठे। हयदल के दौड़ने से ऐसा धसमस हो गया कि वीरों के शौर्य की प्रसिद्धि (भटवाद) धराशायी हो गई। भुजबली योद्धा विह्वल (व्याकुल) जैसे हो गए। वहाँ चंद्रचूड़ के प्रबल असहिष्णु पुत्र ने नरनरी (नाम विशेष) को चुना। वीर वसुमतीनंदन ने विषम सेल और बाण का प्रयोग किया। ठहरो, ठहरो रे! मारो, मारो, मारो कहते ही जो पदाति सैनिक अभी तक नहीं गिरे थे वे गिर पड़े।

[इस पद से आगे भरतेश्वर और बाहुबलि के प्रत्यक्ष युद्ध का वर्णन है।]

१४८—सुषेण सेनापति के दंत को उखाड़ दिया और (मुष्टिका-प्रहार

द्वारा) मुक्का मार मारकर नरनरी को घायल कर डाला। सूरकुमार को देखते हुए वीर दोनों भुजदंडों से भिड़ गए। नेत्रों से देखा कि राजा कुपित हो गया तो उसने चक्ररत्न को स्मरण किया। उसके (बाहुबली के) ऊपर कषाय भरकर छोड़ना चाहता है। उस समय अनलवेग विचार करने लगा।

सूरकुमार—नाम विशेष
पूठिहिं—पाठांतर—मूठिहिं

१४६—राजा के सुभट इसका चिंतन करने लगे कि यदि आज आयु समाप्त ही होनी है, यदि मरण निश्चित है, तो जैसे हो, चक्रवर्ती भरतेश्वर को प्रसन्न करना चाहिए। इस प्रकार कहकर चक्रवर्ती के योद्धा मुष्टिक-प्रहार के लिये उल्लसित हो उठे। शूर वीर योद्धाओं की मंडली में प्रविष्ट हुए। चंद्रमंडल को मोहित करनेवाला चंद्रचूड़ का पुत्र युद्ध को उल्लसित हो उठा। भरतेश्वर को क्रुद्ध देखकर चक्रवर्ती पर तुष्ट चक्र रास्ता रोकता गया।

टिप्पणी — मुष्टिक युद्ध : योद्धा बाहों में कुहनी तक लोहे का आवरण धारण करके एक दूसरे से (बाक्सिंग की तरह) युद्ध करते हैं। कटि प्रदेश के नीचे प्रहार करना वर्जित माना जाता है।

१५०—विद्याधरों ने विद्याबल से राजपुत्रों (सुभटों) को पाताल में जाकर रोक लिया। चक्र उनके पृष्ठ भाग में पहुँच गया और ताड़ना करने लगा। सहस्र बलवीर यक्ष बोले—ठहरो ठहरो। राजा रूठ गया है। तुम जहाँ जाओगे वहाँ अवश्य मारेगा। त्रिभुवन में (बचने का) कोई उपाय नहीं है जो तुम्हें जोखम से बचा सके।

१५१—जीवन का मोह छोड़ दो, मन में मृत्यु का दुःख भर लो। उस स्थान पर एक आदि जिनवर स्वामी का नाम स्मरण कर लो। वज्र बगल में घुस गया है। नरनरी ने पीछे मुड़कर देखा—उसके सिर को चक्र ने उतार लिया। बाहुबली के बल से खलभलाकर भरत भूपति ने (चक्र के) पद-कमलों की पूजा की। उनके चक्रपाणि में चक्र चमका किंतु कलह के कारण निश्चित रूप से (सेना का) भक्षण करने लगा। अथवा (कलकले) विलक्षण ध्वनि होने लगी।

१५२—चक्रधर की सेना संग्राम में कलकलाने लगी। (चक्र ने पूछा)—कौन तू बाहुबली है ? तू पोतनपुर का स्वामी है जो बल में दस गुना दिखाई

देता है ? कौन तू चक्रधर है ? कौन तू यक्ष है ? कौन तू भरतराज है ? सेना का विध्वंस करके प्रतिष्ठा को नष्ट कर आज ऋषभ वंश को मिटा सकता हूँ।

ठवणी १३

१५३-१५४—विद्याधरराज चंद्रचूड़ को उन बातों से बड़ा विस्मय हुआ। हे कुलमंडन, हे कुलवीर, हे समरांगण में साहस रखनेवाले धीर, आप चाहे कितनी बातें कह लें (कितनी भी ताड़ना दे लें) किंतु अपने कुल को लज्जित न कीजिए। हे त्रिभुवन के पिता, आप पुनः भरत का कल्याण कीजिए। मंगल का वचन दीजिए।

१५५—(वह चक्र) बाहुबली से बोला—हे देव, आप अपने हृदय में विमर्श करके दुखी मत हो। कहो, मैं किसके ऊपर क्रोध करता हूँ ? यह तो दैव को ही दोष दीजिए।

१५६—हे स्वामी, कर्मविपाक विषम है। इससे रंक राजा कोई बच नहीं सकता। भाग्यलेख से अधिक या कम किसी को नहीं मिलता।

१५७—भुजबली भरत नरेंद्र को नष्ट करूँगा। (और तो क्या) मेरे साथ रण में इंद्र भी ठहर नहीं सकता। इतना कहकर उसने बावन वीरों को चुन लिया। वे साहसी और धैर्यवान् योद्धा युद्ध करने लगे।

सेले—(सेल्ल) शर, कुंत, बर्छा। यहाँ इनके द्वारा युद्ध का भाव है।

१५८—धोर (योद्धा) घसमस (भीड़) में धड़धड़ करते हुए धँस गए। कवच (लोहे की झूल) से सुसज्जित हाथियों का दल गड़गड़ करता हुआ गरजने लगा। जिसके भय से योद्धा भड़भड़ करके भड़क उठते हैं वह चंद्रचूड़ बड़ी ही शीघ्रता से (जल्दी जल्दी) चमक उठा अथवा प्रहार करने लगा।

चटका = चट् = (१) चमकना, (२) मारना

दडवड—(देशज) शीघ्र, जल्दी } = जल्दी जल्दी
चंड— ,, जल्दी

१५९—वह खलदल को खाँड़ा से मारने और दलने लगा। और (पदाति)-समूह को हन हनकर हयदल पर प्रहार करने लगा। इस

अनलवेग से कौन छिपकर कहीं बच सकता है ? इस प्रकार ललकारकर पछाड़ते हुए गिरा देते हैं।

अछइ—(आछद्=छिपाना) छिपा हुआ
हेड=समूह (गाँवों में अब भी 'बैल गाय का हेड़ा' बोला जाता है)
कुखइं=(कुक्षि) (१) उदर, (२) स्वप्न
पाडइ—गिराना
पछुइ—लड़ाई में पछाड़कर (हराकर)

१६०—(सामान्य) नर तो उस भीषण कोलाहल से ही निर्वाण (मृत्यु) को प्राप्त कर जाते हैं। वीरगण व्यर्थ संघर्ष करके नष्ट हो जाते हैं। तीन मास तक वह अकेला लड़ता रहा तदुपरांत चक्ररत्न उसकी सहायता को प्रगट हुआ।

नर नरइ = (सं०) नदति>प्रा० णयइ (चिल्लाना) वीप्सा द्वारा आधिक्य-बोधक

पूरउं=सहायता के लिये
चडइ=(चढवुं) उदय होना, प्रगट होना

१६१—चौदह करोड़ विद्याधर स्वामी ने भरतेश्वर के लिये युद्ध किया। सेना ने साढ़े तीन साल तक युद्ध किया तदुपरांत चक्र ने उसका सिर छेद दिया।

झूरइ—युद्ध किया

१६२—रत्नचूड़ विद्याधर (सेना में) घुस गया और गजघटा को नष्ट करते हुए हृदय में हँसने लगा। पवनजीत भट भरत नरेंद्र से भिड़ गया। उसका भी संहार करने लगा। इसे देखकर सुरेंद्र प्रसन्न हुआ।

१६३—भरतेश्वर का पुत्र बाहुलीक (शत्रुओं के) योद्धाओं का संहार करने के लिये भली प्रकार भिड़ गया। बाहुबली का पुत्र सुरसारी शत्रुओं से भिड़ गया और उसी स्थान पर पछाड़ दिया गया।

फेडीय—सं० स्फेटयति>फेडइ
भांजणीय—भंजन करने के लिये

१६४—विद्याधरों का स्वामी अमितकेत था जिसके पौरुष का कोई पार नहीं पाता था। उसने चक्र चलाया। उस चक्र को जिसने भी रोका उसे उसने चूर्ण कर दिया। अब यह चक्र चतुरंगिणी सेना पर चढ़ गया।

१६५—समरबंध (शब्दबंध) और वीरबंध युद्धक्षेत्र में एक दूसरे से मिले। वे दोनों सात मास तक लड़ते रहे। (तदनंतर) अप्सरा प्रसन्न होकर उन्हें ले गईं।

१६६—श्रीताली और दुरिताली नामवाले दो वीर योद्धा संग्रामभूमि में भिड़ गए। दोनों बाहुयुद्ध करने लगे। दोनों साथ ही साथ दूसरे जगत में पौ फटते ही पहुँच गए।

बाथ=हस्त। बाथोबाथि=मल्लयुद्ध

पुहता—पोहोत्या—पौ फटते ही [पोह=प्रभा]

सरसा—पाठांतर—मिलीया

१६७—राजा महेंद्रचूड़ और रथचूड़ हड़हड़ (भयंकर) युद्ध कर रहे हैं। (इसे देखकर) इंद्र हँसते हैं। एक दूसरे को ललकारते हैं, (क्रोध भरी दृष्टि से) देखते हैं, तड़पते हैं, (लड़ने को) तैयार हो जाते हैं। आठ मास युद्ध करके दोनों जमपुर पहुँच गए।

१६८—मरुदाद हाथ में दंड लेकर युद्ध में घुस जाते हैं। भरत के पुत्र घोर निनाद करते हैं। बाहुबली की गजसेना को नष्ट कर देते हैं। वे अपने आप ही अपने वंश को बिदा कर रहे हैं।

मरुदाद=मरुदेवी की संतान [अपने वंश का स्वतः नाश कर रही है]।

१६९—सिंहरथ ललकारते हुए उठा। अमितगति (सामने) आते हुए लजित हुआ। तीन मास तक पृथ्वी पर उसका धड़ जूझता रहा। अब भरत राजा के मन में उत्तम विचार निवास करने लगे।

१७०—अमिततेज, जो सूर्य के समान तप रहा था, वह सारंग के साथ (उसे) हरण करने के लिये भिड़ गया। उस धीर ने दौड़कर दो बाण मारे और एक महीने में वह निर्वाण को प्राप्त हो गया।

हेबि>हेजि>ह्व (कृ०) अथवा धाला (दौड़कर)।

नीवज्या=निर्वाण को प्राप्त हुआ।

१७१—कुंडरीक और भरतेश्वर के पुत्र दोनों योद्धा भिड़ते हुए पीछे पैर नहीं रखते। (वे सोचते हैं) शीघ्रता से बाहुबलिराज को दलकर अपने पिता को प्रणाम करें।

ताउ—तात (पिता)
द्रवडीय—दौड़ते हुए (सं० द्रुत)

१७२—सूर्यसोम युद्ध में हुंकार करता हुआ तोमर हथियार से प्रहार करने लगा। पाँच बरस तक वीरों से लड़ता रहा और राजा (वर्ग) को अपने अपने स्थान पर निर्वाण भेजता गया।

लिवारिश्रा—निर्वाण

१७३—किसी को चूर्ण कर दिया, किसी को पैरों के नीचे दबा दिया। एक को गिरा दिया और एक पर प्रहार किया। श्रेयांस झल (क्रोध) से भरकर युद्ध करता रहा। ऋषभेश्वर के वंश को धन्य है।

(श्रेयांस भरत का पुत्र था)
झुझइ—युद्ध करते हैं।

१७४—सकमारी नामक भरतेश्वर के पुत्र ने रण में मस्त होकर प्रथम पाँव रोपा। कितने गजदल का उसने संहार किया उसकी कोई गणना नहीं। रण के रस में वह धीरवान् व्यक्ति स्वयं भी आघात सहता है और दूसरों को भी धुनता है।

१७५—बीस करोड़ विद्याधर एकत्रित हुए और उनका नेता सुमुखि कलकल करने लगा। शिवनंदन के साथ युद्ध में मिला। बासठ दिन तक दोनों यम के समान युद्ध करते रहे।

विहुँ=दोनों

१७६—क्रोध करके हाथ का चक्र चलाया। (उसने सोचा) वैरी को बाणविज्ञान से मार डालूँ। बाहुबली राव मंडित रहा और भरतेश्वर की सेना बोली कि हम उसका नाश कर डालेंगे।

विनाणि—(सं०) विज्ञान
मंडी—सुशोभित (मंडित)

१७७—दोनों दलों में युद्ध का बाजा (काहली) बजने लगा। खल-दल से पृथ्वी और आकाश में खलबली मच गई। धरा (पृथ्वी) धसक-कर काँपने लगी। वीर वीर के साथ स्वयंवर वरने लगे।

काहली—युद्ध में बजनेवाला बाजा

१७८—इतनी धूल उड़ी कि सूर्य दिखाई नहीं पड़ते। एक सवार दूसरे सवार को नहीं देख पाता। वीर (भीड़ में) धँसते हुए दौड़कर (शत्रु को) पछाड़ देते हैं। हन हनकर शत्रु को मारते हैं और हँसकर उन्हें प्रचारते हैं।

हणोहणि—हन हनकर (तीव्र प्रहार करके)

१७९—गजघटा गड़गड़ाती हुई (शत्रुओं को) नीचे फेंक देती है। शून्य में तुरंग तेजी से दौड़ रहे हैं। धनुष की प्रत्यंचा की टंकार सुनाई पड़ रही है। भेरी बजानेवाले युद्ध में नहीं ठहरते, भाग जाते हैं।

धोंकार=धों (अनुरणन) Onomato + कार (सं०) धनुष की टंकार

प्रा० ढलइ > ध्वरति=नीचे गिराना

१८०—(ऐसा घोर संग्राम हुआ कि) रुधिर की नदी बहने लगी और उसमें पर्वतशिखर डूबने लगे। रणक्षेत्र में राक्षस रीरियाट (री री का शब्द) कर रहे थे। नरेंद्र भरत हयदल को (ऐसे) हाँक रहा था और उसके साहस की सुरेंद्र भी श्लाघा कर रहा था।

सग्गि—स्वर्ग में

१८१—भरत का पुत्र शरभ संग्राम में अग्रिम स्वामी (सेनापति) के गजदल को नष्ट करने लगा। तेरह दिन तक योद्धाओं पर आघात कर उन्हें पछाड़ता रहा। राजा बाहुबली (इसे देखकर) सिर धुनता रहा।

१८२—उससे (बाहुबली से) देववर (सुरेंद्र) सार तत्व इस प्रकार कहने लगा—(तुमने) इतने वीरों का संहार देखा! तुम (इतने) जीवों की हत्या क्यों करा रहे हो? (इस कारण) तुम्हें चिल्लाते हुए नरक में पड़ना होगा।

एवडु—इतने प्रमाण में

रीव—कष्ट के कारण चीत्कार

१८३—(सुरराज के इस उपदेश वचन को सुनकर) दोनों भाई (भरतेश्वर और बाहुबली हाथी से उतर पड़े। उन्होंने इंद्र की बात मान ली। दोनों मल्ल युद्ध के लिये अखाड़े में प्रविष्ट हुए। दोनों का सबल शरीर विशाल पर्वत के समान था।

पाहि—प्राय

१८४—वचनयुद्ध में वीर योद्धा भरत बाहुबली को जीत न सका। दृष्टियुद्ध में 'कुणश्रण' (कंपन) करते हुए हार गया। दंडयुद्ध में वह तुरंत छिप जाता अथवा घूम जाता है। बाहुयाश में वह तड़फड़ाने लगता है।

झंपइ—झंप=(भ्रम्) घूमना अथवा आच्छादन=ढकना

१८५—भरत बाहुबली के मुष्टिका-प्रहार से गुटिका (गोली) के समान धरणी के मध्य गिर पड़ा। सबल भरत के प्राण बाहुबली के तीन (बार) घात से कंठगत हो गए।

समउ>सं० सम

गूडा>सं० गुटिका

१८६—छः खंड का धनी भरत क्रुद्ध हुआ। उसने सेवकों से कहा कि चक्र भेजो। वह बली ज्योंही एक ओर जाकर खड़ा हुआ त्योंही बाहुबली ने उसे पकड़ लिया।

पाखलि—पंखाला—एक ओर खड़ा होना।

भाई—भागिन्—सेवा करनेवाले।

१८७—बलवंत बाहुबली (भरत से) बोला कि तुम लोह खंड (चक्र) पर गर्वित हो रहे हो। चक्र के सहित तुमको चूर्ण कर डालूँ। तुम्हारे सभी गोत्रवालों का शल्य द्वारा संहार कर दूँ।

चूनउ—चूर्ण

सयल—सकल

हुँत—हो

सरीसउ—सदृश

१८८—भरतेश्वर अपने चित्त में विचार करने लगे। मैंने भाई की रीति का लोप कर दिया। मैं जानता हूँ, चक्र परिवार का हनन नहीं करता। (भ्रातृवध के) मेरे विचार को धिक्कार है। हमने अपने हृदय में क्या सोचा था। अथवा मेरी ममता किस गिनती में है ?

माम—१—कोमल आमंत्रण-सूचक अव्यय (पउम ३८, ३६)

२—ममता

१८९—तब बाहुबलिराव बोले—हे भाई, आप अपने मन में विषाद न कीजिए। आप जीत गए और मैं हार गया। मैं ऋषभेश्वर के चरणों की शरण में हूँ।

१९०—उस समय भरतेश्वर अपने मन में विचार करने लगे कि बाहुबलो के (मन में) ऊपर वैराग्य, मुमुक्षुता चढ़ गई है। मैं बड़ा भाई दुखी हूँ जो अविवेकवान् होकर अविमर्श में पड़ गया।

संवेग=वैराग्य, मुमुक्षता
दूहविउ—दुःखित (वि०) किं केणवि दूहविया

१९१—भरतेश्वर कहने लगे—इस संसार को धिक्कार है, धिक्कार है। रानी और राजऋद्धि को धिक्कार है। इतनी मात्रा में जीवसंहार विरोध के कारण किसके लिये किया।

कुण—कौन

१९२—जिससे भाई पुनः विपत्ति में आ जाय ऐसे कार्य को कौन करे। इस राज्य, घर, पुर, नगर और मंदिर (विशाल महल) से काम नहीं। अथवा कहो कौन ऐसा कार्य किया जाय कि भाई बाहुबली पुनः (हमारा) आदर करे।

पाठांतर—आदरइ (आवरइ के स्थान पर)
आवरइ=(आ+वृ)=आवृत्त
ईणाइ=>(प्राकृत) एएण>(सं०) एनेन, एवेन]

१९३—बाहुबली अपने सिर के बालों का लोच कर रहा है। और काया उत्सर्ग करना चाहता है। आँसुओं से नेत्र भरे हैं। उसके चरण को वीर भरत प्रणाम करने लगा।

काउसगि—कायोत्सर्ग
लोच कराना—केश नोचना
पय—पद

१९४—(भरत बोले)—हे भाई, अब कुछ न कहो। मैंने ही अविमर्श (मूर्खता) का कार्य किया है। मुझ भाई को निश्चित रूप से मत छोड़ो। मुझे छोड़ दोगे तो संसार में मैं अकेला रह जाऊँगा।

मेल्लइ—मेल्लण (सं० मोचन=छोड़ना)
निटोल—(सं० नितरां) निश्चित रूप से

१९५—आज मेरे ऊपर कृपा कीजिए। हे विदग्ध, मुझे मत छोड़ो; मत छोड़ो। मैंने अपने से आपको धोखा दिया है। अपने हृदय में विषाद मत धारण करो। इससे मुझे पश्चाताप होता है।

छयल (दे०)—विदग्ध, चतुर
विरांसीया = (विश्रंभ) पश्चाताप (गुजराती इंगलिश कोश)

१९६—हे नव मुनिराज, मान जाइए। (हमारी प्रार्थना मान लीजिए) यदि मनाने से आप मौन न छोड़ेंगे और आप अपना मान (रूठने का भाव) न छोड़ेंगे तो मैं वर्ष दिन तक निराहार रहूँगा।

मेल्हे, पाठांतर—मुकइ=छोड़ना

१९७—ब्राह्मी और सुंदरी दोनों बहिनें अपने बांधव को समझाने वहाँ आईं। (वे समझाने लगीं—हे भ्राता,) यदि आपका मान रूपी गजेंद्र उतर जाय तो केवल श्री अनुसरण करे।

बंभीउ—ब्राह्मी (बाहुबली की बहिन)

१९८—केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। तदुपरांत वे ऋषभेश्वर के समान विचरण करने लगे। (तब) भरतेश्वर सब भीड़ के साथ अयोध्यापुरी आए।

नाण=ज्ञान
परगहि—परिकर (सभी साथी)

१९९—सुरेंद्र हृदय में प्रसन्न होकर अपने यहाँ उत्सव करते हैं। ताल कंसाल बज रहे हैं। पटह और पखावज गमगम ध्वनि कर रहे हैं।

२००—तब चक्ररत्न प्रसन्न होकर आयुधशाला में आया। घोड़े, गजघटा, रथवर और राजमणियों की संख्या अगणित थी।

राणिमइ—राजमणि

२०१—दसो दिशाओं में (भरतेश्वर की) आज्ञा चलने लगी और भरतेश्वर प्रसन्न हो उठे। राजगच्छ के शृंगार वज्रसेनसूरि के पट्टधर, गुणगण के भंडार शालिभद्र सूरि ने भरतेश्वर का चरित्र रास छंद में लिखा।

———

रेवंतगिरि रास

[अर्थ]

(इस स्थान पर भाषांतर देने का प्रयोजन यह है कि प्राचीन भाषा से अनभिज्ञ पाठक इसका भाव अर्थात् सारांश भली प्रकार अवगत कर सकें।)

छंद—प्रथम दो पाद 'मुखबंध' छंद में लिखा है।

छंदयोजना के संदर्भ को देखते हुए प्रथम दो पाद 'मुखबंध' का दिखाई पड़ता है और इसी छंद में प्रत्येक कड़ी के आरंभ में दिया हुआ दो पाद सच्ची रीति से अगली कड़ी का अंत्य पाद है। इसलिये दूसरी कड़ी के आरंभ का दो पाद पहली कड़ी का पाँचवाँ और छठा पाद है। इसी रीति से से ६वीं कड़ी तक है। ६वीं के आठ पाद में से आरंभ का दो पाद आठवीं का अंत्य पाद है।

प्रथम कड़वक

परमेश्वर तीर्थेश्वर [तीर्थंकर] के पदपंकज को प्रणाम करता हूँ और अंबिकादेवी का स्मरण करके मैं रेवंतगिरि का रास कहूँगा ॥ १ ॥

पश्चिम दिशा में गाँव, आकर, पुर, वन, गहन जंगल, सरिता, तालाब से सुंदर प्रदेशवाला, मनोहर देवभूमि के समान सोरठ देश है ॥ २ ॥

वहाँ मंडल के मंडन रूप, निर्मल, श्यामल शिखरों के गुरुत्व से ऐसा प्रतीत होता है मानों (वह) मरकत-मणि के मुकुट से शोभित है। ऐसा रेवंतगिरि (गिरनार) शोभा देता है। ॥३॥ और उसके मस्तक पर श्यामल सौभाग्य और सौंदर्य के सार रूप में निर्मल यादवकुल के तिलक के समान स्वामी नेमिकुमार का निवास है ॥ ४ ॥

उनके मुख का दर्शन करनेवाले, भावनिर्भर मनवाले, और रंग तरंग से उड़नेवाले देश देशांतर के संघ दसों दिशाओं से आते हैं ॥ ५ ॥

गुर्जर धरा की धुरी रूपी धोलका में, वीर धवलदेव के राज्य में पोरवाड़ कुल के मंडन और आसाराज के नंदन मंत्रिवर वस्तुपाल और तेजपाल दो भाई थे। दोनों बंधु वहाँ दुःसमय में सुसमय ला सके ॥ ६–७ ॥

नागेंद्रगच्छ के मंडन सूरिराज विजयसेन थे। उनका उपदेश पाकर इन दोनों नररत्नों ने धर्म में दृढ़ भाव धारण किया ॥ ८ ॥

तेजपाल ने निज नाम से गिरनार की तलहटी में उत्तम गढ़, मठ एवं प्याऊ घर एवं आराम से सुसज्जित मनोहर तेजलपुर बसाया ॥ ९ ॥

उस नगर के आसाराज विहार में पार्श्वजिन विराजमान थे। वहाँ तेजपाल ने निज जननी के नाम से एक विशाल कुमर सरोवर निर्माण किया ॥ १० ॥

उस नगर में पूर्व दिशा में उग्रसेनगढ़ नाम का दुर्ग था जो आदि जिनेश्वर प्रमुखजिन नामक मंदिर से पावन हो गया था ॥ ११ ॥

गढ़ के बाहर दक्षिण दिशा में चबूतरा और विशाल वेदी संयुक्त रमणीक कमरे के पास पशुस्थान था ॥ १२ ॥

उस नगर की उत्तर दिशा में सकल महिमंडल को मंडित करनेवाले स्तंभों से युक्त एक मंडप था ॥ १३ ॥

गिरिनार के द्वार पर स्वर्णरेखा नदी के तीर से भव्यजन पाँचवे हरि दामोदर को दर्शनार्थ प्रेमपूर्वक बार बार देखते ॥ १४ ॥

अगुरा, अंजन, आंबली, अंबाड़ो, अंकोल, उमरो, अंबर, आमड़ा, अगर, अशोक, अहल्ल, करवट, करपट, करुणातर, करमदी, करेण, कुड़ा, कढाइ, कदंब, क.डु, करब, कदली, कंपीर, विचकिल, वंजुल, बकुल, बड़, वेतस, वरण, विडंग, वासंती, विरण, विरह, वांसजाल, वण, वंग, सीसम, सीमलो, सिरिस, समी, सिंदुवार, चंदन, सरल, उत्तम सैकड़ों सहकार, सागवान, सरगवो, सणदंड इत्यादि वृक्षों से पूर्ण पल्लव-फूल-फल से उल्लसित वनराजी वहाँ शोभित है। वहाँ ऊर्जयंत (गिरनार) की तलहटी में धार्मिक लोगों के अंग में आनंद समाता नहीं ॥ १९ ॥ वहाँ (घोर वर्षा-काल में) वरमंत्री वस्तुपाल ने संघ की कठिन (बहुत दृढ़) यामा बुलाकर एकत्र की और मानसहित वापस भेजा ॥ २० ॥

---

१ धोलका-स्थान विशेष

द्वितीय कड़वक

पृथ्वी में गुर्जर देश के अंदर रिपुराज विखंडन जिन-शासन-मंडन कुमारपाल भूपाल था। उसने भी श्रीमालकुंड में उत्पन्न आंबड़ को सोरठ का दंडनायक स्थापित किया। उसने गिरनार पर सुविशाल सोपान पंक्ति बनाई और उसके बीच बीच में धवल ने प्याऊ बनवाया। उस धवल की माता धन्य है जिसने १२२० वि० में पाद (सोपानपंक्ति) को प्रकाशित किया और जिसके यश से दिशाएँ सुवासित हुईं॥ १॥

जैसे जैसे भक्त गिरनार के शिखर पर चढ़ने लगता है वैसे वैसे वह संसार की वासना से धीरे धीरे मुक्त होता जाता है। जैसे जैसे ठंढा जल श्रृंग पर बहता जाता है वैसे वैसे कलियुग नाम का मैल घटता जाता है। जैसे जैसे वहाँ निर्झर को स्पर्शकर शीतल वायु चलती है, वैसे वैसे निश्चय तत्काल भवदुःख का दाह नष्ट होता जाता है। वहाँ कोकिला और मयूर का कलरव, मधुकर का मधुर गुंजार सुनने में आता है। सोपान पर चढ़ते-चढ़ते दक्षिण दिशा में लाखाराम दिखाई पड़ता है। मेघजाल के समूह और निर्झर से भी रमणीय तथा अलि एवं कज्जल सम श्यामल (गिरिनार) शिखर शोभित है। वहाँ बहुत धातुओं के विविध रस से सुवर्णमयी मेदिनी प्रकाशित है। वहाँ दिव्यौषधि प्रकाशमान है। वहाँ उत्तम गहिर—गंभीर गिरिकंदरा है जो विकसित चमेली, कुंद, आदि कुसुमों से परिपूर्ण है। इसलिये दसो दिशाओं में दिन को भी तारामंडल जैसा दीख पड़ता है।

प्रफुल्ल लवली कुसुमदल से प्रकाशित सुरमहिला (अप्सरा) समूह के ललित चरण तल से ताड़ित गलित स्थल-कमल के मकरंद-जल से कोमल विपुल श्यामल शिलापट्ट वहाँ शोभित हैं। वहाँ मनोहर गहन वन में किन्नर किलकारी करते हुए हँसते हैं और श्री नेमिजिनेश्वर का मधुर गीत गाते रहते हैं कि जहाँ श्री नेमिजिन विद्यमान हैं वहाँ भक्ति भाव निर्भर और मुकुट मणि की किरणों से पिंजरित (रक्त) गिरिशिखरों पर गान करते हुए अप्सरा (असुर), सुर, उरग, किन्नर, विद्याधर हर्ष से आते हैं। जिस भूमि के ऊपर स्वामी नेमिकुमार जी का पदपंकज पड़ा हुआ है, वहाँ की मिट्टी भी धन्य है, वह मनवांछित विचारों को पूरा करती है॥ ७॥

जो अन्न और स्वर्ण का महान् दान दे और जो कर्म की ग्रंथि का क्षय कराए वह इस तेजस्वी गिरनार का शिखर प्राप्त करे, अर्थात् शिखर तक पहुँचे। जो नर तीर्थवर ऊर्जयंत शिखर का दर्शन करता है उसका जन्म, यौवन और जीवन कृतार्थ हो जाता है। गुर्जर धरा में अमरेश्वर जैसे श्री जयसिंह देव एक प्रवर पृथ्वीश्वर थे। उन्होंने सोरठ के राव खँगार को हराकर वहाँ साजन को उत्तम दंडाधीश (दंडनायक) स्थापित किया। उसने नेमि जिनेंद्र का अभिनव भवन बनवाया। इस रीति से चंद्रबिंब के तुल्य निज निर्मल नाम प्रकाशित किया ॥ ८ ॥

उस नरशेखर साजन ने संवत्सर ११८५ में स्थूल विकखंभ और वार्यभ से रमणीय ललित कुमारियों के कलशों के समूह से संकुल मंडप, दंड-धनु और उत्तुंगतर तोरण से युक्त, उँडेला हुआ और बाँधा हुआ, रणझणित बहुत किंकिणियोंवाले नेमिभुवन का उद्धार किया। मालव-मंडल के गुह (?) का मुखमंडल रूप, दारिद्रय का खंडन करनेवाला मावड़ साधु भावड़ सा (भावना प्रधान) हो गए। उसने सोने का आमल-सार कराया, मानो गगनांगण के सूर्य को अवतरित किया। दूसरे शिखरवर के कलश भी मनोहर रीति से प्रकाश देते हैं। ऐसे नेमिभुवन के दर्शन कर दुःख का निरंतर नाश होता है ॥ १० ॥

तृतीय कड़वक

उत्तर दिशा में काश्मीर देश है, वहाँ से नेमि के दर्शन के लिये उत्कंठित दो बंधु अजित और रत्न बड़े संघाधिप होकर आए। हर्षवश उन्होंने बार बार कलश भरकर नेमिप्रतिमा को स्नान कराया। वहाँ जल-धार पड़ते पड़ते लेप्यमय (चंदन के लेप से भरा) नेमि-बिंब (प्रतिमा) गल गया। संघसहित संघाधिप के निज मन में संताप उत्पन्न हुआ। हा हा! धिक् धिक्! मेरे विमल कुल पर कलंक आया। मैं दूसरे जन्म में श्यामल धीर स्वामी के चरण की शरण में रहूँ।

ऐसे संघ धुरंधर ने आहारत्याग का नियम ग्रहण किया। एकवीस (इकोस) अनशन होने के पश्चात् अंबिकादेवी आईं। 'जय जय' शब्द से बुलाई हुई वह प्रसन्न होती हुई देवी कहने लगी कि तुम तुरत उठकर श्री नेमि-बिंब (प्रतिमा) को लो। हे वत्स, तू भवन में वापस आते समय पीछे मुड़कर न देखना। अंबिकादेवी को प्रणाम करके वहाँ वह कांचनबलान

के मणिमय नेमि-बिंब (प्रतिमा) लाता है। प्रथम भवन में देहली में चटपट देवस्थापन करके फिर संघाधिप ने हर्ष से पीछे मुड़कर देखा। इसलिये देहली में श्री नेमिकुमार देव जम गए (निश्चल हो गए)। देवों ने कुसुमवृष्टि करके जयजयकार किया और पुण्यवती वैशाखी पूर्णिमा के दिन वहाँ जिन (देव) को स्थापित किया। पश्चिम दिशा में उसी तरफ के मुखवाले भवन का निर्माण किया और इसी तरह अपने जन्मजन्मांतर के दुःख को काटा। भव्य जनों ने स्नान और विलेपन की अपनी वांछा को पूर्ण किया। संघाधिप अजित और रत्न निज देश वापस लौटे। कलिकाल में सकल जन की वृत्ति कुसमय की कलुषता से ढँकी हुई जानकर अंबिका ने बिंब की प्रकाशमान कांति को कम कर दिया ॥ ६ ॥

समुद्रविजय और सिवादेवी के पुत्र यादव-कुल-मंडन जरासंध के सैन्यदल का मर्दन करनेवाले, मदन सुभट के भी मान का खंडन करनेवाले, राजिमती के मन को हरनेवाले, शिव-मुक्ति रमणी के मनोहर रमण, सौभाग्य-सुंदर नेमिजिन को पुण्यशाली प्रणाम करते हैं। मंत्रिवर वस्तुपाल ने ऋषभेश्वर का मंदिर बनवाया और अष्टापद तथा समेत शिखर का उत्तम मनोहर मंडप कराया। कपर्दियक्ष और मरुदेवी दोनों का ऐसा तुंग प्रासाद बनाया कि धार्मिक लोग सिर हिला देते हैं और घूम-घूमकर देव को देखते और दर्शन करते हैं। तेजपाल ने वहाँ कल्याणक-त्रय का त्रिभुवन-जन-रंजन एवं गगनांगण को पार करनेवाला तुंग भवन निर्मित किया। दिशा दिशा में, कुंड कुंड में निर्झर की मस्ती दिखाई देती है। विशाल इंद्रमंडप का देपाल मंत्री ने उद्धार किया। ऐरावत गज की पादमुद्रा (पदचिह्न) से अंकित, विमल निर्झर से समलंकृत गयंदम (गजेंद्र-पद) कुंड वहाँ दृष्टिगत हुआ। वहाँ वह गगनगंगा भी दृष्टिगत हुई जो सकल तीर्थों की अवतारशक्ति मानी जाती है। उसमें अंग भिगोकर दुःख को तिलांजलि दिया जाता है। छत्रशीला के शिखर पर सिंदुवार, मंदार, कुरवक और कुंद वृक्षों से सुंदर सजाया हुआ, जूही, शतपत्री और बिजिफल से निरंतर घिरा और नेमिजिनेश्वर की दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण का अधिष्ठान सहस्राराम आम्रवन दृष्टिगत हुआ।

चतुर्थ कड़वक

गरवा (गिरनार) शिखर पर चढ़कर आम और जामुन से समृद्ध स्वामिनी अंबिकादेवी का रमणीय स्थान है। वहाँ पर ताल और काँसाजोड़

बजते हैं। गंभीर स्वर से मृदंग बजता है। अंबिका के मुखकमल को देखकर बाला रंग में नाचती हैं। शुभ दाहिना कर उत्संग में स्थापित है। बायाँ हाथ समीपवर्ती के लिये आनंदप्रद है। वह सिंह-आसीन स्वामिनी गिरनार के शिखर पर शोभायमान हो रही हैं। वह सिंह-आसीन स्वामिनी दुःख का भंग दिखाती, भव्य जनों की वांछित इच्छा पूर्ण करती और चतुर्विध संघों का रक्षण करती है। गिरनार में नेमिकुमार ने जहाँ आरोहण करके दसों दिशाओं और गगनांगण का अवलोकन किया, उस स्थल को "अवलोकन" शिखर नाम दिया गया है ॥ ५ ॥

प्रथम शिखर में श्यामकुमार और द्वितीय में प्रद्युम्न को जो प्रणाम करे वह भव्यजन भीषण भवभ्रमण को पार करता है। वहाँ स्थान स्थान पर जिनेश्वर के रत्न-सुवर्ण के बिंब (प्रतिमा) स्थापित किए गए हैं। जो धन्य नर कलिकाल के मल से मलिन न होकर उसको (रेवंतगिरि को) नमन करता है वह वही फल पा सकता है जो फल भव्य जन समेतशिखर अष्टापद नंदीश्वर का दर्शन करके पाते हैं। ग्रहगण में जैसे भानु, पर्वत में जैसे मेरुगिरि, वैसे ही त्रिभुवन में तीर्थों के मध्य रेवंतगिरि तीर्थ प्रधान है। जो नर नेमिजिनेश्वर के उत्तम भवन (देहरा) में धवल ध्वज, चमर, भृंगार, आरती, मंगल प्रदीप, तिलक, मुकुट, कुंडल, हार, मेघाडंबर (छत्र), प्रवर चंदरवा इत्यादि देते हैं वे इस भव के भोग भोगकर दूसरे जन्म में तीर्थेश्वर श्री का पद प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥ जो चतुर्विध संघ करके ऊर्जयंत गिरि आवे और बहुत दिन राग करे वह चतुर्गति-गमन से मुक्त हो जाता है। जो लोग वहाँ पर अष्टविध पूजा या अठाई करें वे लोग अष्टविध कर्म को हरा करके आठ जन्मों में वह सिद्धि पाते हैं। जो आंबिल, उपवास, एकासणू या नीवी करें उनके मन में इस भव और पर भव के वैभव पर आशा रहती है। जो धर्मवत्सल प्रेम से मुनिजन को अन्न का दान करें उनको कहीं भी अपमान न मिले और प्रभात में उनका स्मरण हो। जो लोग घर, जमीन के जंजाल से घिरे हुए हैं और ऊर्जयंत नहीं आते उनके हृदय में शांति आएगी नहीं और उनका जीवन निष्फल है। लेकिन उसका जीवन धन्य है जो इसी रीति से जीवन बिताता है। उसका संवत्सर, निच्छ्रण, मास धन्य है। उसका एक वासर भी बलिदान नहीं होता अर्थात् व्यर्थ नहीं जाता ॥ १७ ॥

जहाँ सौभाग्य सुंदर, श्यामल, त्रिभुवन-स्वामी नैन-सलोने नेमिजिन के

दर्शन होते हैं, वहाँ निर्झर चमर ढलता है। मेघाडंबर (छत्र) सिर पर रखा जाता है। रेवंत तीर्थ के सिंहासन पर विराजमान ऐसे नेमिजिन जय पाते हैं। श्री विजयसेन सूरि का रचा हुआ यह रास जो रंग से रमे, उसके ऊपर नेमिजिन प्रसन्न होते हैं। उनके मन की इच्छाएँ अंबिका पूर्ण करती है॥ २० ॥

स्थूलिभद्र फाग

अर्थ

पार्श्व जिनेंद्र के पाँव पूजकर और सरस्वती को स्मरण करके फागबंध द्वारा मुनिपति स्थूलिभद्र के कितने ही गुण कहूँगा ॥ १ ॥

एक बार सौभाग्य-सुंदर, रूपवंत गुणमणि-भंडार, कंचन के समान प्रकाशमान कांतिवाले, संयमश्री के हार रूप मुनिराज स्थूलिभद्र जब महीतल पर क्षेत्र करते थे, तब विहार करते करते नगरराज पाटलिपुत्र में आ पहुँचे। निज गुण से भरे हुए साधु वर्षाकाल में चातुर्मास में गद्‌गद् होकर गुरु के पास अभिग्रह ग्रहण करते हैं और गुरुवर आर्यसंभूति विजयसूरि की अनुज्ञा लेते हैं। उनके आदेश से मुनिराज स्थूलिभद्र कोशा नामक वेश्या के घर जाते हैं ॥ ३ ॥

द्वार पर मुनिवर को देखकर चित्त में चमक (आश्चर्य) भरे दासी बधाई देने के लिये वेग से जाती है। वेश्या हार से लहकती, करतल जोड़ती, उतावली में अत्यंत वेग से मुनिवर के पास आई ॥ ४ ॥

मुनिवर ने कहा, "धर्मलाभ हो।" इतना कहकर ठहरने के लिये स्थान माँगते हुए सिंहशावक की तरह उन्होंने हृदय में धीरज को धारण किया ॥ ५ ॥

झिरमिर झिरमिर मेघ बरसते हैं। खलहल खलहल नदियाँ बहती हैं। झबझब झबझब बिजली चमकती है। थरथर थरथर विरहिणी का मन काँपता है।

मधुर गंभीर स्वर से मेघ जैसे जैसे गरजता है, वैसे वैसे पंचवाण कामदेव निज कुसुमवाण सजाते हैं। जैसे जैसे महमह करती केतकी परिमल पसारती है वैसे वैसे कामीजन निज रमणी के चरण में पाँव पड़कर मनाते हैं। शीतल कोमल सुरभित वायु जैसे जैसे चलती है, वैसे वैसे मानिनी के मान और गर्व का नाश होता है। जैसे जैसे जलभार भरा मेघ गगनांगण में एकत्र होता है, वैसे वैसे पथिकों के नैनों से नीर झरता है ॥ ८ ॥

मेघ के रव से जैसे जैसे मयूर उलटियाँ भरकर नाचता है वैसे वैसे मानिनी पकड़े हुए चोर के सदृश क्षुब्ध होती है। अब वेश्या मन की बड़ी लगन से शृंगार सजती है। अंग पर सुंदर बहुरंगे चंदनरस का लेपन करती है। सिर पर चंपक, केतकी और चमेली कुसुम का खुंप भरती है। परिधान में अत्यंत सूक्ष्म और मुलायम चीर पहनती है। उर पर मोती का हार लह-लह लहलह लहराता है। पग में उत्तम नूपुर रुमझुम रुमझुम होता है। कान में उत्तम कुंडल जगमग जगमग करता है। इनके आभरणों का मंडल-समूह झलहल झलहल झलकता है॥ ११॥

उनका वेणीदंड मदन के खड्ग की तरह लहलह करता है। उनका रोमावलि-दंड सरल, तरल और श्यामल है। शृंगार-स्तवक से तुंग पयो-धर उलसते हैं, मानो कुसुमबाण कामदेव ने अपना अमृत-कुंभ स्थापित किया है।

नयन-युगल को काजलों से आँजकर सीमंत (माँग) बनाती और उरमंडल पर बोरियावड नामक वस्त्र की बनी कंचुकी पहनती हैं॥ १३॥

जिनके कर्ण-युगल मानो मदनहिंडोला होकर लहलहाते हैं। जिनका नयन कचोला (प्याला) चंचल, चपल तरंग और चंग के समान सुंदर है। जिनका कपोलतल मानो गाल मसूरा के सदृश शोभा देते हैं। जिनका कोमल विमल सुकंठ शंख की ध्वनि के समान मधुर है॥ १४॥

जिनकी नाभि लावण्यरस से परिपूर्ण कूपिका (छोटे कुएँ) के सदृश शोभा देती है। जिनके उरु मानो मदनराज के विजयस्तंभ के समान शोभा देते हैं। जिनके नखपल्लव कामदेव के अंकुश की तरह विराजमान हैं। जिनके पादकमल में घूँघरी रुमझुम रुमझुम बोलती है। नवयौवन से विलसित देह-वाली अभिनव स्नेह से (पागल) गही हुई, परिमल लहरी से मगमगती (महँकती), पहली रतिकेलि के समान प्रवाल-खंड-सम अधरबिंबवाली, उत्तम चंपक के वर्णवाली, हावभाव और बहुत रस से पूर्ण नैनसलोनी शोभा देती है॥ १६॥

इस प्रकार उत्तम शृंगार सजकर मुनिवर के पास आई, तब आकाश में सुर और किन्नर कौतुक से देखने लगे॥ १७॥

फिर वक्र दृष्टि से देखती हावभाव तथा नए नए शृंगारभंगी करती वह मुनि पर नयनकटाक्ष से प्रहार करती है।

तब भी वह मुनिप्रवर उससे वेधे नहीं जाते। इसके उपरांत वेश्या उनको बुलाती है। (वह कहती है) हे नाथ, तुम्हारा विरहतपन सूर्य के समान मेरे तन को संतप्त करता है। बारह वर्ष का स्नेह तुमने किस कारण छोड़ दिया। मेरे साथ इतनी कठोरता से क्यों बर्ताव किया। स्थूलिभद्र कहते हैं—वेश्या, इतना श्रम (खेद) न कीजिए। लोहे से बना हुआ मेरा हृदय तुम्हारे वचन से नहीं भेदा जा सकता। कोशा नाथ नाथ विलाप करती हुई कहती हैं—"मुझपर अनुराग कीजिए। ऐसे पावसकाल में मेरे साथ आनंद मनाइए।

मुनिवर बोले—वेश्या, मेरा मन सिद्धि-रमणी के साथ लग्न करने में और संयम-श्री के साथ भोग करने में लीन हो गया है।

कोशा बोली—मुझे छोड़कर, हे मुनिराज, आप संयम-श्री में अनुरक्त क्यों हो रहे हो? लोग तो नई नई वस्तु पर बहुत प्रसन्न होते हैं। आपने भी लोगों की इस बात को सत्य करके दिखाया है ॥ २१ ॥

उपशम रस के भार से पूर्ण ऋषिराज इस प्रकार बोलते हैं—चिंतामणि छोड़कर पत्थर कौन ग्रहण करे? इसलिये हे कोशा, बहुधर्म-समुज्वल-संयम-श्री को तजकर प्रसारित महान् बलवाला कौन तेरा आलिंगन करे ॥ २२ ॥

कोशा बोली—पहले हमारे यौवन का फल लीजिए। तदनंतर संयम-श्री के साथ सुख के साथ रमण कीजिए।

मुनि बोले—मैंने जिसे ग्रहण कर लिया उसे कर लिया। अब जो होना हो वह हो। समग्र भुवन में कौन ऐसा है जो मेरा मन मोहित कर सकता है? ॥ २३ ॥

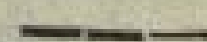
इस प्रकार कोशा की मुनिराज स्थूलिभद्र ने अवगणना की। (किंतु) उसने (कोशा ने) धैर्य के साथ अवधारण किया। कोशा के चित्त में विस्मय के साथ सुख उत्पन्न हुआ ॥ २४ ॥

वे अत्यंत बलवंत हैं जिन्होंने मोहराज के बड़े ज्ञान को नष्ट किया। समरांगण में मदन सुभट पर ध्यान रूपी तलवार का प्रहार किया। देवताओं ने संतुष्ट होकर कुसुमवृष्टि के साथ इस प्रकार जय जयकार किया—"स्थूलिभद्र, तुम धन्य हो, धन्य हो, जिसने कामदेव को जीत लिया।"

इस प्रकार अभिग्रहधारी मुनीश्वर सुंदर रीति से कोशा वेश्या का

प्रतिबोध करके चातुर्मास के अनंतर गुरु के पास चले। दुष्कर से भी दुष्कर कार्य करनेवाले शूरवीरों ने उनकी प्रशंसा की। शंख-समुज्वल यश-वाले मुनीश्वर को सुर और नर (सब) ने नमस्कार किया।

जो स्थूलिभद्र युग में प्रधान था, जगत् में जिस मल्ल ने शल्य रूप रतिवल्लभ (कामदेव) का मानमर्दन किया, वह स्थूलिभद्र जयवंत हो। खरतरगच्छवाले जिनपद्मसूरिकृत यह फाग रमाया गया। चैत्र महीना में खेल और नाच के साथ रंग से गाओ ॥ २७ ॥



गौतम स्वामी रास

अर्थ

ज्ञानरूपी लक्ष्मी ने जहाँ निवास किया है, ऐसे वीर जिनेश्वर के चरण-कमल को प्रणाम करके गौतम गुरु का रास कहूँगा। हे भव्य जीवो, तुम उस रास को मन, वचन और शरीर को एकाग्र करके सुनो जिससे तुम्हारे देह रूपी घर में गुणसमूह गड़गड़ाहट करते हुए आकर बसें। जंबूद्वीप में भरत नाम क्षेत्र है। उसमें पृथ्वीतल के आभूषण के समान मगध नामक देश है। वहाँ शत्रुदल के बल को खंडन करनेवाला श्रेणिक नामक राजा है। उस मगध देश में द्रव्यवाला (धनधान्यपूर्ण) गुब्बर नामक ग्राम है। वहाँ गुणगण की शय्या के समान वसुभूति नामक ब्राह्मण बसता है। उसकी पृथ्वी नामक स्त्री है। उसका पुत्र इंद्रभूति है जो पृथ्वीवलय में सर्वत्र प्रसिद्ध है और चौदह विद्या रूपी विविध रूपवाली स्त्री के रस से विंधा हुआ है अर्थात् चौदह विद्याओं में प्रवीण है, उसपर लुब्ध हुआ है। वह विनय, विवेक के सार विचारादि गुणों के समूह से मनोहर है। उसका शरीर सात हाथ का और रूप में रंभा अप्सरा के स्वामी इंद्र जैसा है। उसके नेत्रकमल, वदनकमल, करकमल और पदकमल इस प्रकार सुंदर हैं कि दूसरा कमल जल में फेंक दिया गया है, अर्थात् जल में निवास कराया गया है। अपने तेज के कारण, उसने तारा, चंद्र और सूर्य को आकाश में घुमा दिया है। अर्थात् उसके तेज ने तारा, चंद्र और सूर्य को आकाश में चक्कर में डाल दिया है। रूप के कारण कामदेव को अनंग अर्थात् अंग बिना करके निकाल दिया है। वह धैर्य में मेरु पर्वत, गंभीरता में समुद्र है, और मनोहरता के संचय का स्थान। उसके निरुपम रूप को देखकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विधाता ने कलिकाल के भय से सब गुणों को इसमें ही एक स्थान पर संचित कर रखा है। अथवा इसने पूर्व जन्म में अवश्य जिनेश्वर को पूजा है, जिससे उसको रंभा, पद्मा (लक्ष्मी), गौरी, गंगा, रति और विधि ने वंचित किया है। कोई बुध (पंडित), कोई गुरु (बृहस्पति), कोई कवि (शुक्र) आगे रह न सका। अर्थात् उन सबको उसने जीत लिया है।

(श्लेष द्वारा बुध, बृहस्पति, शुक्र को जीतने का उल्लेख है।)

वे पाँच सौ गुणवान् शिष्यों से संवटित सर्वत्र घूमा करते हैं और मिथ्यात्व से मोहित मतिवाले होने से यज्ञ कर्म करते हैं, परन्तु वह तो छुले तेज के बहाने उनके चारित्रज्ञान के दर्शन की विशुद्धि प्राप्त होने के लिए है। अर्थात् इस कारण उनको रत्नत्रय का उल्टा लाभ होने वाला है।

अर्थ

जंबूद्वीप के भरत-क्षेत्र में पृथ्वी-तल के मंडन-भूत मगध-देश में श्रेणिक नामक राजा है। वहाँ श्रेष्ठ गुब्बर नामक ग्राम है। उस गाँव में वसुभूति नामक सुंदर ब्राह्मण बसता है। उसकी भार्या सकलगुणगण के निधानभूत पृथ्वी नामवाली थी। उसके विद्या से अलंकृत पुत्र का नाम अति सुज्ञान गौतम है।

अर्थ

अंतिम तीर्थंकर (श्री महावीर स्वामी) केवल ज्ञानी हुए। फिर चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) संघ की प्रतिष्ठा कराने के अवसर पर ज्ञानी स्वामी पावापुर संप्राप्त हुए अर्थात् पधारे। वे चार प्रकार की (भुवन-पति, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिका) देवजाति से युक्त थे। उस पावापुरी के उद्यान में (देवताओं ने) ऐसा समवसरण किया कि जिसके देखने से मिथ्यामति वाला जीव खीजे अथवा खेद पाये। उस समवसरण में त्रिभुवन-गुरु (वीर परमात्मा) सिंहासन पर आकर बैठे। तत्काल मोह तो दिगंत में प्रविष्ट हो गया और क्रोध, मान, माया और मद के समूह, अथवा इन दोषों से युक्त जीव, प्रभु को देख कर उसी प्रकार भागने लगे जिस प्रकार दिन में चोर भग जाता है। आकाश में देव-दुन्दुभि बजने लगी। ऐसा मालूम होने लगा मानो धर्मनरेश्वर के पधारने से ये बाजे गाजने लगे अथवा सबको (उनके आगमन की) खबर देने के लिए यह घोषणा हो रही हो।

देवताओं ने वहाँ फूल की वृष्टि की और चौंसठ इंद्र प्रभु के पास सेवा की प्रार्थना करने लगे। अथवा इस प्रकार कहने लगे कि 'तुम अपनी सेवा (का सौभाग्य) हमको दो।' प्रभु के मस्तक के ऊपर चामर और छत्र शोभा देने लगे और अपने रूप के कारण प्रभु जगत् को मोहित करने लगे। फिर उपशम रूपी रस के समूह को भरभर कर प्रभु बरसाने लगे और योजन पर्यंत (चारो दिशाओं में) सुन सकने के योग्य वाणी से बखान (धर्म

का) करने लगे। अर्थात् धर्मोपदेश देने लगे। इस प्रकार वर्धमान स्वामी को पधारे हुए जान कर देवता, मनुष्य, किन्नर और राजा आने लगे। उस समय कान्ति के समूह से आकाश में झलमलाट होने लगी और आकाश से उतरते हुए विमानों से रणरणाट शब्द होने लगा। उन्हें देखकर इंद्रभूति (गौतम) ब्राह्मण मन में चिंतन करने लगा कि ये देवता हमारे यज्ञ के निमित्त आते हैं। तदुपरांत तीर के वेग के समान गतिमान देवता एक दम गहगहाट करते समवसरण में पहुँच गए। इसलिये अभिमान से भर कर (इंद्रभूति) कहने लगा और उस अवसर पर क्रोध से उसका शरीर काँपने लगा। वे इस प्रकार कहने लगे कि मूर्ख जैसे मनुष्य तो बिना जाने सर्वज्ञ को छोड़कर दूसरे स्थान पर भाग जायें और दूसरे की प्रशंसा करें—यह तो हो सकता है, पर ये तो देवता—जैसे कहे जाते हैं फिर भी ये क्यों डोलायमान हो रहे हैं। इस दुनिया में मुझसे अधिक दूसरा ज्ञानी कौन है ? (इस विषय में) मेरु के अतिरिक्त दूसरी उपमा किससे दी जाये ? अर्थात् ऊँचाई में मेरु की उपमा है। उसके लायक तो मैं हूँ। फिर इस तरह क्यों होता है ?

अर्थ

वीर प्रभु केवल ज्ञान से युक्त हो गए। तदुपरांत देवपूजित, संसार से तारने वाले नाथ पावापुरी को प्राप्त हुए अर्थात् वे पावापुरी आ गए। वहाँ देवों ने बहु सुख के कारण ऐसे समवसरण की रचना की कि जगत् में दिनकर के समान प्रकाश करनेवाले जिनेश्वर स्वामी सिंहासन पर विराजमान हुए और सर्वत्र जयजयकार होने लगा।

अर्थ

उस समय इंद्रभूति भूदेव (ब्राह्मण) निवदमान रूपी गज के ऊपर चढ़ा अर्थात् अभिमान से भर गया। हुंकार करता हुआ चला कि जिनेश्वर देव कौन है ? ॥ १७ ॥

(आगे चलकर) उसने एक योजन में समवसरण का प्रारंभ देखा। उसने दसो दिशाओं में विविध स्त्रियों और सुररंभा (देवांगना-अप्सरा) को आते हुए देखा ॥ १८ ॥

(इनके अतिरिक्त) समवसरण में मणिमय तोरण, हजार योजना के दंडवाला धर्मध्वज, और गढ़ के कांगरा (कोसीसा) के ऊपर नये-नये घाट

(विचित्र रचनापूर्ण) दिखाई पड़े। वैर से विवर्जित जंतुगण को देखा, आठ प्रतिहार दिखाई दिए ॥ १६ ॥

(इनके अतिरिक्त) देवता, मानव, किन्नर, असुर, इंद्र, इंद्राणी, राजा को प्रभु के चरणकमल की सेवा करते हुए देखकर, चमत्कृत होकर वह चिंतन करने लगे। सहस्त्रकिरण के समान तेजस्वी, विशाल, रूपवंत, वीर जिनवर को देखकर विचार करने लगे कि असंभव कैसे हुआ ! यह तो वास्तव में इंद्रजाल है। (इस प्रकार विचार कर रहे थे कि इसी अवसर पर त्रिजगगुरु वीर परमात्मा ने 'इंद्रभूति'-इस नाम से पुकारा।) श्रीमुख से वेद के पदों द्वारा उसका संशय मिटा दिया गया। फिर उसने मान को छोड़कर मद को दूर करके भक्ति से मस्तक नवाया और पाँच सौ छात्रों सहित प्रभु के पास व्रत (चरित्र) स्वीकार किया। गौतम (सब में) पहला शिष्य था ॥ २३ ॥

मेरे बांधव इन्द्रभूति ने संयम की बात स्वीकार की यह जानकर अग्नि-भूति प्रभु के पास आया। प्रभु ने नाम लेकर बुलाया। उसके मन में जो संशय था उसका अभ्यास कराया अर्थात् वेदपद का खरा अर्थ समझाकर संशय दूर किया, इस प्रमाण से अनुक्रम से ग्यारह गणधर रूपी रत्नों की प्रभु ने स्थापना की और इस प्रसंग से भुवन-गुरु प्रभु ने संयम (पाँच महाव्रत रूप) सहित श्रावकों के बारह व्रत का उपदेश किया। गौतम स्वामी निरंतर ही दो-दो उपवास पर पारण करते हुए विचरण करते रहे। गौतम स्वामी के संयम का सारे संसार में जयजयकार होने लगा ॥ २६ ॥

वस्तु

इंद्रभूति बहुमान पर चढ़ा हुंकार करता काँपता तुरत समवसरण पहुँचा। तदन्तर चरम नाम (वीर प्रभु) स्वामी ने उसका सर्वसंशय एकदम नष्ट किया इससे उसके मन के मध्य बोधिबीज (संजात) प्राप्त हुआ। फिर गौतम संसार से विरक्त हुआ, प्रभु के पास दीक्षा ली, शिक्षा अंगीकार की और गणधर पद प्राप्त किया ॥ २७ ॥

भाषा

आज सुंदर प्रभात हुआ; आज पसली में पुण्य भर गया। गौतम स्वामी को देखा जिनके नेत्रों से अमृत झरता है अथवा अमृत के सरोवर के समान नेत्रवाले गौतम स्वामी को देखा ॥ २८ ॥ वे मुनि-प्रवर गौतम-स्वामी पाँच सौ मुनियों के साथ भूमि पर विहार करते थे और अनेक भव्य जीवों को

प्रतिबोध देते थे। समवसरण में जिन-जिन को संशय उत्पन्न होता था वे परोपकार (परमार्थ) के निमित्त भगवान से पूछते और जिसे जिसे वे दीक्षा देते थे उसे केवल-ज्ञान प्राप्त होता था। अपने पास केवल ज्ञान नहीं था किंतु गौतम स्वामी इस प्रमाण से केवल-ज्ञान देते थे। गुरु (वर्धमान स्वामी) के ऊपर गौतम स्वामी की अत्यंत भक्ति उत्पन्न हुई थी और इस मिष (बहाने से) केवल ज्ञान प्राप्त होने वाला है ॥ ३१ ॥ परंतु अभी भगवान् पर अपना राग रोक के रखते हैं, अथवा रंग से भर (अत्यधिक रूपेण) प्रभु के ऊपर राग रखते हैं। जो अष्टापद शैल (पर्वत) के ऊपर अपने आत्मबल के द्वारा चढ़कर चौबीस तीर्थंकरों की वंदना करते हैं वे मुनि चरमशरीरी होते हैं अर्थात् वे संसार के मध्य मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भगवान् का उपदेश सुनकर गौतम गणधर अष्टापद की ओर चले (अर्थात् समीप पहुँचे)। पंद्रह सौ तापस उनको आते दिखाई दिये। तापस सोचने लगे कि "तप से हमारा शरीर शोषित हो गया तो भी इस पर्वत के ऊपर पहुँचने की शक्ति हमें प्राप्त नहीं है। यह तो दृढ़ कायावाला है, हाथी के समान गरजता दिखाई पड़ता है। यह किस प्रकार चढ़ सकता है ?" इस भारी अभिमान से तपस्वी मन में सोचने लगे। (तब तक) गौतम सूर्य की किरणों का आलंबन लेकर वेग से चढ़ गये। कंचन-मणि से निष्पन्न दंड, कलश, ध्वज इत्यादि प्रमाण वाली वस्तुएँ जिसके ऊपर थीं। महाराज भरत के द्वारा बनाये गये ऐसे जिन-मंदिर को देखकर उन्हें परम आनंद प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अपने-अपने शरीर के प्रमाण से चारों दिशाओं में 'जिन' की प्रतिमा संचित की। जिन-बिंब के प्रति जिनके मन में उल्लास था उन्होंने प्रमाणित किया। गौतम स्वामी उस रात्रि को वहाँ रहे। उस स्थान के रहनेवाले वज्र-स्वामी के जीवतीर्यक जृंभक जाति के देवता आए। उनको गौतम स्वामी ने पुंडरीक कंडरीक का अध्ययन सुनाकर प्रतिबोध कराया।

तत्पश्चात् वहाँ से लौटते हुए गौतम स्वामी ने सभी तापसों को—१५०० तापसों को—प्रतिबोध किया अर्थात् ज्ञान दिया, और (उन्हें दीक्षा देकर) अपने साथ लेकर यूथाधिपति की भाँति चल पड़े। दूध, चीनी और घी एक ही पात्र में मिलाकर लाकर, उसमें (निज का) अमृत वर्षीय अंगूठा रखकर गौतम स्वामी ने सभी तापसों को क्षीरान्न का पान करवाया।

उस समय पाँच सौ तापसों के हृदय में, उज्ज्वल क्षीर के कारण

अर्थात् क्षीर को चखकर, शुभ भाव, पवित्र भाव उत्पन्न हुए, एवं सच्चे गुरु के संयोग से वे सभी क्षीर का कौर चखकर केवल-ज्ञान रूप हो गये; अर्थात् पाँच सौ तापसों को क्षीर पान करते ही केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गई। (दूसरे) पाँच सौ को आगे चलते हुए जिननाथ के समवसरण (एवं) उनके तीन गढ़ आदि देखते ही लोक-परलोक में उद्योत (पवित्र) करनेवाले केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गई।

(शेष) ५ सौ तापस जिनेश्वर की अमृत तुल्य एवं श्याम मेघ सम गरजती हुई वाणी श्रवण कर केवल-ज्ञानी हुए ॥ ४२-४३ ॥

वस्तु

इस अनुक्रम से १५०० केवल-ज्ञानी मुनियों से फारिग होकर गौतम गणधर ने प्रभु के पास जाकर, दुर्भावनाओं को हरकर जिन नाथ की वंदना की। जग-गुरु के वचन सुनकर अपने ज्ञान की निंदा करने लगे। तब चरम जिनेश्वर कहने लगे कि हे गौतम ! तू खेद न करना, अंत में हम दोनों सच-मुच बराबर बराबर होंगे अर्थात् दोनोंही मोक्ष पद की प्राप्ति करेंगे ॥ ४४ ॥

श्री वीर जिनेंद्र स्वामी पूर्णिमा के चंद्र की भाँति उल्लास से भरत-क्षेत्र में ७२ वर्षों तक बसे रहे। (प्रातःकाल होते ही) उठते ही, कनक-कमल पर चरण धरते हुए, संघ-सहित, देवों द्वारा पूजित, नयनानंद स्वामी, पावापुरी आए। (उन्होंने) गौतम स्वामी को देवशर्मा ब्राह्मण के प्रतिबोध के लिए भेजा। त्रिशला देवी के पुत्र को परमपद मोक्ष की प्राप्ति हुई। देवशर्मा को प्रतिबोध करके गौतम स्वामी ने लौटते हुए देवताओं को आकाश में देखकर जिस समय यह बात जानी उस समय मुनि के मन में नाद-भेद (रंग में भंग होने से) उत्पन्न होने वाले विषाद के सदृश अत्यंत विषाद उत्पन्न हुआ। (गौतम स्वामी सोचते हैं कि)—स्वामी जी ने जान-बूझ कर कैसे समय में मुझे अपने से दूर किया। लोक व्यवहार को जानते हुए भी उस त्रिलोकी-नाथ ने उसे पाला नहीं। स्वामिन् ! आपने बहुत अच्छा किया ! आपने सोचा कि वह मेरे पास केवल-ज्ञान माँगेगा अथवा ऐसा सोचा हुआ लगता है कि बच्चे की भाँति पीछे लगेगा (कि मुझे भी साथ ले जाओ)। मैं भोला-भाला उस वीर जिनेन्द्र की भक्ति में फुसलाकर पृथक् कैसे किया गया ? हम दोनों का पारस्परिक प्रेम, हे नाथ, आपने ऐक्यपूर्ण रीति से निभाया नहीं। यही सत्य है। यही वीतराग है जिसको रंच मात्र

भी राग नहीं लगा। यों सोच विचार कर उस समय गौतम स्वामी ने अपना रागासक्त चित्त विराग में लगा दिया। उलट कर आता हुआ उस केवल-ज्ञान को जिसे राग ने पकड़ रखा था। (जो दूर ही दूर रहता था) अब राग के दूर होते ही गौतम स्वामी ने सहज ही में प्राप्त किया। उस समय तीनों भुवन में जयजयकार हुआ। देवताओं ने केवल की महिमा बताई और गौतम गणधर ने व्याख्यान किया जिससे भव्य जीव संसार से मुक्त हों ॥ ४९ ॥

वस्तु

प्रथम गणधर ५० साल तक गृहस्थ बने रहे—अर्थात् ५० साल तक घर में रहे। तीस वर्षों तक समय से विभूषित रहे। श्री केवल-ज्ञान द्वादश वर्षों तक रहा। तीनों भुवनों ने नमस्कार किया। ९२ वर्ष की आयु पूर्ण करके राजगृह नगरी में स्थापित हुए अर्थात् गुणवान् गौतम स्वामी राजगृह में शिवलोक सिधारे ॥ ५० ॥

भाषा (ढाल ६)

जैसे आम्र वृक्ष पर कोयल पंचम स्वर में गाती है, जैसे सुमन-वन में सुरभि महक उठती है, जैसे चंदन सुगंध की निधि है, जैसे गंगा के पानी में लहरें लहराती हैं, जैसे कनकांचल (कनक + आँचल) सुमेरु पर्वत अपने तेज से जगमगाता है उसी भाँति गौतम स्वामी सौभाग्य के भंडार हैं ॥ ५१ ॥

जैसे मानसरोवर में हंस रहते हैं, जैसे इंद्र के मस्तक पर स्वर्ण मुकुट होते हैं, जैसे वन में सुंदर मधुकरों का समूह होता है, जैसे रत्नाकर रत्नों से शोभायमान है, जैसे गगन में तारागण विकसित होते रहते हैं, उसी तरह गौतम स्वामी गुणों के लिये क्रीड़ा स्थल है ॥ ५२ ॥

पूर्णिमा की रात्रि को जैसे चंद्र शोभायमान प्रतीत होता है, कल्पवृक्ष की महिमा से जैसे समस्त जगत् मोहासक्त हो जाता है, प्राची दिशा में जैसे दिनकर प्रकाशित होता है, सिंहों से जैसे विशाल पर्वत शोभित होते हैं, नरेशों के भवनों में जैसे हाथी चिंघाड़ते रहते हैं, उसी प्रकार इन मुनि-प्रवर से जिन-शासन सुशोभित है ॥ ५३ ॥

जैसे कल्पवृक्ष शाखाओं से शोभायमान है, जैसे उत्तम पुरुष के मुख में मधुर भाषा होती है, जैसे वन में केतकी पुष्प महक उठते हैं, जैसे नृपति अपने भुजबल से प्रतापी होता है (चमकता है), जैसे जिन मंदिर में घंटारव

होता रहता है—घंटा बजते रहते हैं, उसी भाँति गौतम स्वामी अनेक लब्धियों द्वारा गहगहा रहे हैं ॥ ५४ ॥

आज (गौतम स्वामी के दर्शन किए तो ऐसा समझना चाहिए कि) चिंतामणि रत्न हाथ आया है, कल्पवृक्ष मनोवांछित फल देने लगा, कामकुंभ भी वस में हुआ, कामधेनु मनोकामना पूर्ण करने के लिए तैयार हुई, आठ महा सिद्धियाँ घर पर आ गईं । इसलिए हे महानुभावों ! आप गौतम स्वामीका अनुसरण कीजिए ॥ ५५ ॥

गौतम स्वामी को नमस्कार करते हुए सर्वप्रथम प्रणवाक्षर ॐ बोलो, उसके बाद माया बीज (ह्रंकार) सुनिए, पश्चात् श्री मुख की शोभा करो, प्रारंभ में अरिहंत देव का नमस्कार कीजिए, पीछे सविनय उपाध्याय की स्तुति कीजिए । इस मंत्र से गौतम स्वामी को नमस्कार कीजिएगा ॐ ह्रिं श्री, अरिहंत उपाध्याय गौतमाय नमः ॥ ५६ ॥

पराधीनता क्यों अंगीकार करते हो । देशदेशांतर का क्यों चक्कर काटते हो, क्यों अन्य प्रयास करते हो, केवल मुँह-अँधेरे उठकर गौतम स्वामी का स्मरण कीजिए ताकि समस्त कार्य तत्काल सिद्ध हो जाये और नवों निधियाँ आपके घर में विलास करें ॥ ५७ ॥

वि० १४१२ में गौतम स्वामी को केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई । वह अमावस्या का दिन था । उस दिन खंभात नगर में, पार्श्व प्रभु के प्रसाद से इस परोपकारी कवित्त की रचना की ।

(वर्ष, मास, दिवस आदि के) आरंभ में मंगलार्थ यह कवित्त ही बोलिए, पर्वों के महोत्सव में भी इस कवित्त को ही अग्रस्थान दीजिये, क्योंकि यह रास ऋद्धि, वृद्धि और कल्याणकारक है ॥ ५८ ॥

धन्य है वह माता जिसने गौतम स्वामी को अपनी कोख में धारण किया । धन्य हैं वह पिता जिनके गोत्र में वे अवतरित हुए । धन्य है वह सद्गुरु जिन्होंने इन्हें दीक्षा दी ।

विनयवंत, विद्या-भंडार और इस धरती पर अनंत गुणवान् ऐसे गौतमस्वामी तुम्हें ऋद्धि, वृद्धि दें और तुम्हारा कल्याण करें । वटवृक्ष की भाँति शाखाओं का विस्तार हो ॥ ५९ ॥

गौतम स्वामी का यह रास पढ़ें, चतुर्विधि संघ को आनंद उत्पन्न कराएँ, सकल संघ को आनंद प्राप्त हो । कुंकुम और केशर का भूमि पर छिड़काव

कराओ, माणिक्य और मोतियों के स्वस्तिक बनवाओ, उसपर रत्नविजड़ित सिंहासन रखवाओ, उसपर बैठकर गुरु गौतम स्वामी व्याख्यान देंगे, उपदेश देंगे जिसे सुनकर अनेक भावुक जीवों के कार्य पूर्ण होंगे। उदयंत मुनि इस रास के रचयिता कहते हैं कि गौतम स्वामी के इस रास को पढ़कर और सुनकर प्राणी इस भव में विलास की प्राप्ति करता है और परलोक में मोक्ष प्राप्त करता है। इस रास को पढ़ने और पढ़ाने वाले के घर में श्रेष्ठ हाथियों की लक्ष्मी प्राप्त हो और उसकी मनोवांछित आशा फलीभूत हो।

———

रास एवं रासान्वयी काव्य

शब्द-सूची

शब्द-सूची

अ	सं० च० अपि>प्रा० वि० >अप० अ य इ
अइरि	[अतिरि] धनाढ्य सं० आचार्य>प्रा० अइरि
अइहवि	सं० अथ वा-इवइ, इवि सं० अर्वाक प्रा० इव्वं>अप० अइवइ [अभी]
अखर	सं० अक्षर
अक्खि	सं० अक्षि
अखत्र	सं० अक्षेत्र>प्रा० अक्खित्त
अखाडएउ	सं० अक्षवाट>प्रा० अक्खाय
अखीऊ	सं० आख्यात>प्रा० अक्खाय>अप० अक्खिउ
अखूटइ	सं० क्षुत >प्रा० खुट्टम्मि>अप० खुट्टइं
अगस्ति	सं० अगस्त्य
अगास	सं० आकाश>प्रा० आगास>अप० आगास
अगि	सं० अग्नि>प्रा० अग्गि>प्रा० अग्गि>अप० अग्गि
अग्गा	सं० अग्र
अगेवाणु	सं० अग्रानीकम् >प्रा० अग्गो+याणयं
अंखि	सं० अक्षि>प्रा० अक्खि>प्रा० अक्खि
अंगार	सं० अङ्गार प्रा० अंगारो
अंगीकरी	सं० अङ्गीकरोति
अंगु	सं० अङ्ग
अगुलं	सं० अंगुल प्रा० अंगुल
अचितु	सं० अचिंतित>प्रा० अचिंतिअ>अप० अचिंतिउ
अचींतविऊ	सं० अचिंतितम् >प्रा० चिंतेइ>अप० चिंतवइ
अचेत	सं० अचेतस्
अचभु	सं० अत्यद्भुत >प्रा० अचब्भूअ
अच्छइ	पा० अच्छति>प्रा० अच्छइ
अजसु	सं० अयशः >प्रा० अजसो >अप० अ+जसु
अजाणु	सं० अज्ञान>प्रा० अजाणो >अप० अजाणु
अजो	सं० अद्यापि >प्रा० अज्जइ—अजवि

अजीउ	सं० अद्यापि>प्रा० अज्जवि>अप० हि० अज्जौं, अजौं
अजीय	सं० अद्यापि>प्रा० अज्जवि—अज्जइ गु० हजीय
अजूयालउ	सं० उज्वलायितम्>प्रा० उज्जलाइयं>अप० उज्जाइउं
अजीउ	सं० अद्यापि>प्रा० अज्जवि—अज्जिव
	सं० अद्य+अह्न>प्रा० अज्जुण्हो>म० अजून
अज्ञानपणाइं	सं० अज्ञान+त्वन>प्रा० अज्ञान+त्तण>अप० अज्ञान+प्पण
अंच	सं० अर्चिष>प्रा० अचि
अट्ठमी	सं० अष्टमी>प्रा० अट्ठमी
अट्ठावय	सं० अष्टापद>प्रा० अट्ठावय
अट्ठोत्तरसउ	सं० अष्टोत्तरशत>प्रा० अट्ठ+उत्तर+सअ गु० अट्ठोतरसो
अठ	सं० अष्ट>प्रा० अट्ठ
अणगमीय	[अन=नहीं]+सं० गम्यते>प्रा० अण (=नहीं)+गम्मइ
अणजाणतु	[अण=नहीं]+सं० जानत्
अणबीहतउ	[अण=नहीं]+सं० बिभेति>प्रा० अण (=नहीं)+बिहेइ, बिहइ
अणमोर	अण+मारि>प्रा० अण+मारिअम्मि>अप० अण+मारिअइ
अणमूउ	अण+सं० मृत>प्रा० अण+मुओ>अप० अण+मुउ
अणविमासिउं	अण+सं० विमर्शितम्>प्रा० अण+विमस्सिअं
अणाह	सं० अनाथा>प्रा० तथा अप० अणाह
अणीपरी	सं० एनेन+परि>प्रा० एणि परि>अप० एणाएँ परि [इस मार्ग से]
अणीयालां	[अणिय+आल] सं० अणि+आल [नोकीला]
अनुसरउ	सं० अनुसरामि>प्रा० अणुसरमि>अप० अणसरउं
अणूरी	सं० अ+पूरिता>प्रा० अणऊरिया
अणंगु	सं० अनंग>प्रा० अणंगो
अतिघण	सं० अतिघनक>प्रा० अतिघणअ
अदभूय	सं० [अद्भुत] सं० भूत>प्रा० भूय
अधरइ	सं० आधरति>प्रा० आधरइ

अनइ	सं० अन्यानि > प्रा० अण्णाइं
अनारिज	सं० अनार्य > प्रा० अणारिम
अनु	सं० अन्यत् > प्रा० अण्णां > अप० अण्णु
अनेरइ	सं० अन्यतर > प्रा० अन्नकेरउ, अण्णयर
अन्तेउर	सं० अन्तःपुर > प्रा० अन्तेउर
अन्न	सं० अन्य > प्रा० अण्ण
अपछर	सं० अप्सरस् > प्रा० अच्छरा
अपहरीय	सं० अपहृता > प्रा० ओहरिआ, ओहरिया
अपंडवु	सं० अपाण्डव > प्रा० अपंडव
अप्रमाणु	सं० अप्रमाण
अबाह	[अ + बाहु] सं० बाहु [हिंदी बाँह]
अबाहु	सं० अबाधम् [अ + बाध]
अभिमानु	सं० अभिमान
अभिमानुं	सं० अभिमान
अभिरामु	सं० अभिराम
अभिरामुं	सं० अभिराम
अभिवनु	सं० अभिमन्यु > प्रा० अहिमण्णु
अमरसाल	सं० अमरशाला
अमरु	सं० अमर
अमराउरि	सं० अमरापुरी > प्रा० अमराउरि
अमरापुरि	सं० अमरापुरी
अमारि	सं० अमारि > प्रा० [हिंसा निवारण]
अमिय	सं० अमृत > प्रा० अमिय
अमीय	सं० अमृत
अंबि	सं० अंबा
अंबिकि	सं० अंबिका
अम्हासिउ	सं० अस्मादृश प्रा० अम्हाइस [हम लोगों के समान]
अरति	सं० अरति
अरथिइं	सं० अर्थेन
अरघ	सं० अर्घ
अरहरि	प्रा० अरघट्ट > अप० अरहट्ट

अरिहंत	सं० अर्हत्>प्रा० अरिहंत
अरी	सं० अरि
अरीयण	सं० अरिजन>प्रा० अरियण
अर्जन	सं० अर्जुन
अर्जुनु	सं० अर्जुन
अर्हंपद	सं० अर्हंत+पद
अलज	सं० अलज्ज
अलूणिय	सं० अलावण्यिका>प्रा० अलावण्णिआया>अप० अलुणी अलवणु
अवग्रहु	सं० अवग्रह
अवगणवत	सं० अवगणयति, अवगणी>प्रा० अवगणिआ>अप० अवगणइ
अवतरई	सं० अवतरिता
अवतारंति	सं० अवतारयन्ति
अवदात	सं० अवदात [उज्ज्वल]
अवधारि	सं० अवधारय>अप० अवधारि
अवधि	सं० अवधि
अवनीय	सं० अवनी
अवरु	सं० अवर [हिं०] और
अवराहु	सं० अपराध>प्रा० अवराहो>अप० अवराहु
अवसप्पिणि	सं० अवसर्पिणी>प्रा० अवसप्पिणि
अवसि	सं० अवशा, अवशेन
अवहेलइ	सं० अवहेलयति
अवाठी	सं० उपस्थिता>प्रा० उपट्ठिआ
अवास	सं० आवास
अविकुलं	सं० अविकल
अविणउ	सं० अविनय
अवियुगतं	सं० अवियुक्तम्
अविहड	सं० अविघट>प्रा० अविहड
अवेलां	प्रा० अम्मि>अप० अहिं>आईं>आँ [बिना समय नष्ट किए]

अश्वबंध	सं० अश्व + बंध
असउण	सं० अशकुन > प्रा० असउण
असंख	सं० असंख्य
असथानि	सं० आस्थान [बैठक]
असंधउ	सं० अश्व + बंध > प्रा० आसबंध
असमाधि	सं० असमाधि
असंभम	सं० असंभव
असरणु	सं० अशरण
असवार	सं० अश्वारोहिन् > प्रा० अस्सवार
असाढू	सं० आषाढिक > प्रा० आसाढिय > अप० आसाढिउ
असिव	सं० अशिव
असेस	सं० अशेष
अस्तु	सं० अस्त्र
अह	सं० अथ > प्रा० अह
अहनिसि	सं० अहर्निश
अहमति	सं० अहम्+मति
अहर	सं० अधर > प्रा० अहर
अह [व]	सं० अथवा > प्रा० अहव
अहिनाण	सं० अभिज्ञान > प्रा० अहिनाण
अहूठ	सं० अर्धचतुर्थ > प्रा० अध्युट्ठ
अह्म	सं० अहम्
अहेडइ	सं० आखेटक > प्रा० आहेडअ
आंकणी	सं० अंकनिका > प्रा० अंकणिआ
आंणइ	[लाना]
आइ	सं० अदस् > अप० आअ
आइसु	सं० आदेश > प्रा० आएस
आउ	सं० आयु > प्रा० आउ
आउखउ	सं० आयुष्य
आउज	सं० आतोद्य > प्रा० आउज्ज
आएस	सं० आदेश
आकंपीउ	सं० आकंपितम् > प्रा० आकंपिअ > अप० आकंपिउ

आकंपु	सं० आकंप
आकली	सं० आ + कल
आकासि	सं० आकाश
आकुलउ	सं० आकुल
आक्रंदती	सं० आक्रन्दत् आक्रन्दन्ती [जोर से क्रंदन करते हुए]
आगइ	सं० अग्रे > प्रा० अग्गे
आगलउ	सं० अग्र + इल्लक, प्रा० अग्ग + लउ
आगलि	सं० अग्र + इल्ल
आगलिउ	सं० अग्रिल्लकम् > अप० अग्गहु
आगि	सं० अग्नि > प्रा० अग्गि > अप० अग्गि [आग]
आगिणेय	सं० आग्नेय
आघउ	सं० अग्राह्य > अग्गहु
अग्गिया	सं० अग्निका > प्रा० अग्गिया
आंकणी	सं० अंकनिका
आंकिलु	सं० अंक+इल्ल
आंखि	सं० अक्षि > अप० अक्खि
आछुउ	पा० अच्छतु प्रा० अच्छुउ
आज	सं० अद्य > प्रा० अज्ज [आज]
आठ	सं० अष्ट > प्रा० अट्ठ
अठगुणउ	सं० अष्टगुणकम्
आठमइ	सं० अष्टमे > प्रा० अट्ठमे
आठवी	सं० आस्थापयति > प्रा० आठवइ
आडणी	सं० तिर्यक् गुज० आडणी > प्रा० अड्ड [आड़ा, तिरछा]
आणा	सं० आज्ञा > प्रा० अणा—आणा
आणइ	सं० आनयति > प्रा० आणेय [लाना]
आणंद	सं० आनंद > प्रा० आणंद
आतपि	सं० आतप
आथमवइ	सं० अस्तमेति > प्रा० अत्थमइ
आदरि	[आदरना]
आदरी	सं० आर्द्र
आदिक्षर	सं० आदि+अक्षर

आदिजिणेसर सं० आदिजिनेश्वर
आदेसु सं० आदेश > प्रा० आदेस
आधउ सं० अर्धकम् > प्रा० अद्धअं > अप० अद्धउं [आधा]
आधानु सं० आधान
आंधउ सं० अंध [अंधा]
आप सं० आत्मन् > प्रा० अप्प
आपयाहास सं० अर्पयति
आपणपउं सं० आत्मत्व
आपणि सं० आत्मना > अप० आपणइ
आपि सं० अर्पयति > प्रा० अप्पइ, अप्पेइ
आपुणा सं० आत्मन प्रा० > अप्पइ
आफरिउ सं० आस्फालयति > प्रा० अप्फालइ
आबूय सं० अर्बुद > प्रा० अब्बुय [आबू पर्वत]
आभइ सं० अभ्र > प्रा० अब्भ
आभिडइं सं० प्रा० अब्भिडइ हिं० अभिरना
आमली सं० आमृद्नाति > प्रा० आमलइ, आमलेइ
आमिष सं० आमिष
आंबिलवर्धमानु सं० आचाम्लवर्धमान > प्रा० आयंबिलवद्धमाण
आयरिष सं० आदर्श > प्रा० आअरिस
आयस सं० आदेश > प्रा० आएस
आरउ सं० आरक
आरडइ सं० आरटति > प्रा० आरडइ
आराधइं सं० आराधयति
आराम सं० आराम
आरांमि सं० आराम
आरिज सं० आर्य > प्रा० आरिय [आर्य जाति]
आरोडइं सं० आरुणद्धि > प्रा० आरोडइ
आलवि सं० आलपति > प्रा० आलवइ
आलस सं० आलस्य > प्रा० आलस्स
आलिगिउ सं० आलिंगित > प्रा० आलिगिअ

आली	सं० आलात>प्रा० आलाअ
आलोकु	सं० आलोक
आवइ	सं० आवर्त, आयाति>प्रा० अवेइ
आवासि	सं० आवास
आवाठउं	सं० उपस्थितकम्>प्रा० उवट्ठि अअं>अप० उवट्ठिअउं
आस	सं० आशा>प्रा० आसा
आसण	सं० आसन
आसनउं	सं० आसन्न
आसमुद्द	सं० आसमुद्रम्>प्रा० आसमुद्द
आसवामता	सं० अश्वात्थामन्
आसातन	सं० आशातना
आसारंगि	आसा+रंग
आसासिउ	सं० आश्वासित>प्रा० आसासिअ
आसांचरीजि	सं० आसंचर्यते>प्रा० आसंचरिज्जइ
आसि	सं० आशा>प्रा० आसा
आसीस	सं० आशिस्
आंसू	सं० अश्रुभि>प्रा० अंसुहिं
आह	सं० अदस्>अप० आअहो या आअहं
आइड	एक शहर का नाम
आहण	सं० आ+हन् [प्रहार]
आहणइ	सं० आ+हन्>प्र० आहणइ
आहव	सं० आहव
आहेडइ	सं० आखेटक प्रा० आहेडअ
आहेडी	सं० आखेटक+इन्

(इ)

इ	सं० अपि०>प्रा० वि अवि
इक	सं० एक
इगु	सं० एक>प्रा० इक [एक]
इगुणहत्तरि	सं० एकोन सप्तति:>प्रा० इगुणसत्तरि
इग्यारह	सं० एकादश>प्रा० एकारस
इग्यारमइं	सं० एकादशतम

इछीय	सं० इच्छित>प्रा० इच्छिय
इंद	सं० इंद्र>प्रा० इंद
इंदपत्थु	सं० इंद्रप्रस्थ>प्रा० इंद्रपत्थ
इंदपुत्तु	सं० इंद्रपुत्र>प्रा० इंदपुत्त
इंद कीलु	सं० इंद्रकील>प्रा० इंदकील
इंदु	सं० इंद्र>प्रा० इंद
इंद्रह	सं० इंद्र
इंद्रचंदु	सं० इंद्रचंद्र
इंद्रसभां	सं० इंद्र+सभा
इंद्राइसि	इंद्र+आइसि (इंद्र की आज्ञा से)
इंद्रिलोकि	इंद्रलोक
इम	सं० एवम्>अप० एम्व
इस	सं० ईदृशिक>प्रा० एरिस
इह	सं० एषः>प्रा० एहो>अप० इहइ
इह	सं० एतस्मिन् प्रा० एअम्हि
इण	सं० एतेन तथा एनेन>प्रा० एएण
ईणपरि	[इस प्रकार]
ईम	[इस प्रकार]
ईसर	सं० ईश्वर>प्रा० ईसर
ईह	सं० एतद>प्रा० एअ
ईहां	[यहाँ]
ईह	सं० एतद>प्रा० एअ

(उ)

उअचट	अभिमान (?)
उअहाणउ	सं० उपाख्यान>प्रा० उवक्खाण
उकउच्छी	सं० उत्कट+अक्षी>प्रा० उकउ+अच्छी
उच्चरी	सं० उच्चरिता>प्रा० उच्चरिआ
उच्छव	सं० उत्सव>प्रा० उच्छव
उच्छाह	सं० उत्साह>प्रा० उच्छाह
उछंग	सं० उत्सव+रंग>प्रा० उच्छअ+रंग
उजलो	सं० उज्ज्वल>प्रा० उज्जल

उट्ठीय	सं० उत्थित>प्रा० उट्ठिअ
उडवा	सं० उटज>प्रा० उडव
उतपचि	सं० उत्पचि
उत्तरू	सं० उत्तर
उत्तरी	सं० उत्तरति>प्रा० उत्तरइ
उत्संगि	सं० उत्संग
उदइ	सं० उदयः >प्रा० उअओ >अप० उदउ
उद्धसी	सं० उद्+हर्षित>प्रा० उध्धुसिटा
उद्धसिवा	सं० उद्ध्वंसते>प्रा० उध्धंसइ
उधि	सं० अवधि>प्रा० ओहि
उपगारु	सं० उपकार>प्रा० उवयार
उपदेसि	सं० उपदेश
उपराठी	सं० उपरिस्थित, उपरिस्थ>प्रा० उवरिट्ठ
उपरोधि	सं० उपरोध
उपाइ	सं० उपाय
उपाउ	सं० उपाय
उबाढि	सं० उल्मुक>प्रा उम्मुअ
उमा	सं० ऊष्मन्>प्रा० उम्ह
उमेलि	सं० उन्मेलयति
उमाहो	सं० उष्मायति>प्रा० उम्हाइअ [उत्साह]
उरतउ	सं० आतुरत्वम्>प्रा० आउरत्त
उरि	सं० उरस्
उलगे	[कन्न० उलिग=सेवा]
उलोचिहि	सं० उल्लोच
उल्लंघिउ	सं० उल्लंघते
उल्लट	सं० उद्+लुट्>प्रा० उल्लट्ट
उल्लसइ	सं० उल्लसति>प्रा० उल्लसइ
उवएसि	सं० सं० उपदेश>प्रा० उवएस
उवट	सं० उद्वर्त्मन्>पा० प्रा० उवट्ट (उद्वृत)
उवलो	सं० उद्वलिता>प्रा० उव्वलिआ
उसप्पिणी	सं० उत्सर्पिणी>प्रा० उस्सप्पिणी

उसर	सं० औप्सरस > प्रा० उस्सरइ
उहिं	[वहाँ]
उहुण	सं० अधुना > प्रा० अहुणा

ऊ

ऊकलंबइं	प्रा० उक्कलंबइ
ऊकालंइ	सं० उत्कलयति > प्रा० उक्कलइ
ऊगमतइ	सं० उद् + गम् > प्रा० उग्गमइ
ऊगरए	सं० उद्गरति > प्रा० उग्गारइ
ऊगारउं	प्रा० उग्गारइ
ऊगिउ	सं० उद् + गम् > प्रा० उग्गओ
ऊघाडइ	सं० उद्घाटितस्मिन् > प्रा० उग्घाडिअंमि अप० उग्घाडिअइ
ऊचउं	सं० उच्चक > प्रा० उच्चअ
ऊचरइ	सं० उच्चरति > प्रा० उच्चरइ
ऊचाट	सं० उत् + चट् > प्रा उचाउ
ऊछलीय	सं० उच्छलिता > प्रा० उच्छलिया
ऊछालइं	सं० उच्छलति-ते > प्रा० उच्छलइ
उजलि	सं० उज्ज्वल = उजयंत
ऊजाली	सं० उज्ज्वला > प्रा० उज्जला
ऊजाईउ	सं० उद्याति > प्रा० उज्जाइ
ऊजेणी	सं० उज्जयिनी > प्रा० उज्जइणी
ऊडण	सं० अड्डन > प्रा० अडुण
ऊठइ	सं० उत् + स्थाति > प्रा० उट्ठइ
ऊठवणी	सं० उत्थापना > प्रा० उट्ठावणा
ऊठाडइ	हिं० उठाना
उडिउं	सं० उड्डयते > प्रा० उड्डुइ
ऊडाडयां	हिं० उड़ाना
ऊणिय	सं० ऊनिका, ऊन > प्रा० ऊणिया
ऊतबिइ	सं० उत्पद्यते > प्रा० उचजियइ
ऊतर	सं० उत्तर
ऊतरायणि	सं० उत्तरायण
ऊतारउं	सं० अवतारयति > प्रा० अवतारइ

ऊतावली	सं० उत्ताप + इल > प्रा० उत्तावल = उत्ताव + अल
उत्तमपणाइ	सं० उत्तम + अप० प्पण
उदालिउ	सं० उद्धालित > प्रा० उद्धालिय
ऊध	सं० ऊर्ध्वं > प्रा० उद्ध
ऊधसइं	सं० उद्ध्वंसते > प्रा० उध्धुसइ
ऊधर्यां	सं० उद्धुत > प्रा० उद्धरिअ
ऊध्रसइं	सं० उद + हर्षति > प्रा० उद्धसइ
ऊनयु	सं० उन्नत > प्रा० उन्नय
ऊन्हां	सं० उष्ण > प्रा० उण्ह
ऊपजइ	सं० उत्पद्यते > प्रा० उप्पज्जइ
ऊननइ	सं० उत्पन्न
ऊपम	सं० उपमा
ऊपर	सं० ऊपरि
ऊपरि	सं० उपरि प्रा० उप्परि
ऊपरिइं	सं० ऊपरि + इं
ऊपाइं	सं० उत्पादयन्ति > प्रा० उप्पाअयन्ति
ऊपाइ	सं० उपायेन > प्रा० उवाएणं
ऊपाडइ	सं० उत्पातयति > प्र० उप्पाडइ
ऊबीठ	निबिड़, गाढ़
ऊभउ	प्रा० उब्भइ
ऊभीठउ	सं० उद्भ्रष्ट > प्रा० उब्भट्ठ
ऊमणदूमणउ	सं० उन्मगेदुर्मनाः > प्रा० उम्मणदुम्मणओ
ऊमादिउ	सं० उष्मायित > प्रा० उम्हाइय
ऊर	सं० ऊरु
ऊरिणु	सं० उद् + ऋण > प्रा० उद् + रिण, हिं० उरिण
ऊलग	सं० अवलग्न अप० ओलग्ग
ऊलट	[मराठी–ऊलटि]
ऊलालइ	सं० उद् लल् = उल्लालयति हिं० उलारना
ऊवेखइ	सं० उपेक्षते > प्रा० उवेक्खइ
ऊस	सं० ऋषभ > प्रा० उसह
ऊसना	सं० उत्सन्न > प्र० उस्सन्न

ऊससइ	सं० उच्+श्वसिति>प्रा० उस्ससइ
ऊसासइ	सं० उत्+श्वास>प्रा० उस्सास
कपालि	सं० कपाल
कपावइ	,, कृन्तति>प्रा० कप्पइ
कपूरि	,, कर्पूर>प्रा० कप्पूर
कबंध	,, कबन्ध
कमलंतरि	,, कमलान्तरे
कमीरु	,, किर्मीर>प्रा० किम्मीर
कंपाविउ	,, कम्पते
कर	,, कर
करअलि	,, करतल>प्रा० करअल
करइ	,, कुर्वन्ति-करंति, अर० करंति
करण	,, कर्ण
करणइ	,, कर्णिकार>प्रा० कणइर
करणकतूहलि	,, करण+कतूहलि, सं० कौतूहलेन
करतार	,, कर्तृ
करवक	,, कुरवक
करम	,, कर्मन्
करमाइ	,, क्लाम्यति>प्रा० किलम्मइ
करंबक	,, करंभक>प्रा० करंब
करबउ	सं० करक>प्रा० करव
करवल	,, करपत्र>प्रा० करवत्त
करवती	,, करपत्रिका>प्रा० कर वत्तिआ
करवाल	,, करवाल
कराल	,, कराल
करालिउ	,, करालित>प्रा० करालिय
करिअलि	,, [हथेली में]
करुराए	,, करुणा
करिंदो	सं० करीन्द्र>प्रा० करिन्दो
करोडि	,, कोटि>प्रा० कोडि
कर्णि	,, कर्ण

करयाँ	सं० कर्याँ
कलइ	,, कलयति
कलकलइ	,, सं० कलकल >प्रा० कुरुगुरइ अ० कुलकुलइ
कलगलीय	,, कलकल >प्रा० कलगल
कलयल	,, कलकल >प्रा० कलयक
कलपतरो	,, कल्पतरु
कलपांत	सं० कल्पान्त
कलहिजया	,, कलहिन् + जन (प्रा० जया)
कलहु	,, कलह
कली	,, कलिका >प्रा० कलिया
कल्पद्रुम	,, कल्पद्रुम
कल्पा	,, कल्पिताः >प्रा० कप्पिश्रा
कवड प्रपंच	प्रा० कवड + सं० प्रपञ्च
कवया	हिं० कौन
कवित	सं० कविता >प्रा० कविश्र
कचूंबरि	प्रा० क्य + उव्वरि
कसचुरीय	सं० कस्तूरिका, कस्तूरी
कस्मली	,, कस्मलित >प्रा० कस्मलिय
कंसाल	,, कांस्यताल >प्रा० कंसश्राल
कहइ	,, कथयति >प्रा० कहेइ
कहींश्रं	,, कस्मिन् + चित
कां	अप० कहां [कुतः]
काइं	सं० कानि अप० काइं
काइं	,, काम् + चित्
कांई	सं० कानिचित्
कांई	,, कानिचित्
काज	,, कार्य >प्रा० कज्ज
काजल	,, कज्जल
काजलवाइ	,, कज्जलायिता
कांबी	,, कञ्जिक >प्रा० कञ्जिश्र
काठीश्रा	सं० काष्ठिक >प्रा० कट्ठिश्र

काणणि	सं० कानन > प्रा० काणण
काणि	,, कथनिका > प्रा० कहाणिआ
कान	,, कर्ण > प्रा० कण्ण
कांधि	सं० स्कन्ध > प्रा० कंध
कान्हि	कृष्ण
कापडी	सं० कार्पटिकः > प्रा० कप्पड
कामु	,, काम
काम	,, कर्मन् > प्रा० कम्म
कामालय	सं० कामालय
कामिणि	,, कामिनी > प्रा० कामिणी
कामिय	,, काम + इन् अप० कामिह
कामुकि	,, कामुक

(ए)

ए	सं० एतद् > प्रा० एअ
एआखर	सं० एआखर
एउ	अप० एउ
एक	सं० एक
एकंतु	सं० एकांत
एकमना	,, एकमनसः
एकवार	,, एकवार
एकसरा	,, एकसरक
एकलव्यु	,, एकलव्य
एकलउ	,, एकल > प्रा० एकल्ल
एकवीस	,, एक विंशति > प्रा० एकवीस, एकतीसइ
एतइं	,, अयत्यः अप० एत्तिउ
एतलं	,, अयत्य + इलः > प्रा० एत्तिल अप० एत्तुलउ
एता	[मराठी–एति]
एय	सं० एतद् > प्रा० एअ
एरसउ	,, ईदृश > प्रा० एरिस
एवउउं	,, इवंत् अप० एवडउ
एवंविह	,, एवंविध

एस	सं० एष>प्रा० एसो
एह	,, एषः>प्रा० एसो अप० एहु
ओकली	,, उत्कलिका>प्रा० उक्कलिआ
ओउविउ	,, आवर्तते>प्रा० आउट्टइ
ओढणि	,, अवगुंठन अप० ऊढण
ओधि	,, अवधिं>प्रा० अवहि ओहि
ओयणु	,, उपवन>प्रा० उववण
ओरडी	,, अपवरका >प्रा० अववरआ+उ
ओरस	,, अवपर्यंक>प्रा० ओहरिसो
ओलखीउ	,, उपलक्षयति-ते उवलक्खइ
ओलग	उलग
ओलखी	सं० उद्र=आद्रि>प्रा० ओल्लइ
ओलंभा	,, उपालंभ>प्रा० उवालंभ
ओसप्पिणि	
साप्पिणि	सं० अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी

'क'

कइ	सं० कानि अप० काइं
कए	,, कापि>प्रा० कावि अप० कवि
कइच्छरी	,, काऽपि+अप्सरा >प्रा० अच्छरा
कइय	,, कदा + अपि
कइलि	,, कदली >प्रा० कअली
कइं	,, कानि >प्रा०काइं
कउ	की
कउण	प्रा० कवहिअ>अप० कवण
कउतिग	सं० कौतुक [आश्चर्य] प्रा० कोउय
कउरय	,, कौरव>प्रा० कउरव
कउल	,, कवल>प्रा० कउल
कंक	,, कङ्क
कचोलां	प्रा० कचोल
कंचण	सं० कांचन >प्रा० कंचण
कंचनवन्नि	,, कांचन वर्णिका>प्रा० कंचण वण्णिआ

कज्जि	,, कार्यं > प्रा० कज्जि
कटकु	,, कटक
कटीरकि	,, कटीरक
कडाहि	,, कटाह > प्रा० कडाह
कडि	,, कटी > प्रा० कडि
कडिचीरु	,, कटीचीर > प्रा० कडिचीर
कडुउं	,, कटक > प्रा० कडअ
कडक्ख	,, कटाक्ष > प्रा० कडंक्ख [प्रेम भरी वांकी दृष्टि]
कड्ढीय	,, कर्षाति > प्रा० कड्ढइ
कढावीयउ	प्रा० कड्ढइ
कणगावलि	सं० कनकावील
कणय	,, कनक > प्रा० कणय, कणग
कांटि	,, कटक > प्रा० कंटअ
कंठि	,, कंठ
कथाबंधु	,, कथा + प्रबंध
कनेउर	सं० कर्णपूर > प्रा० कण्णऊर
कंत	,, कान्त > प्रा० कंत
कद	,, कंद
कंधि	,, स्कंध > प्रा० कंध
कन्नं	,, कन्या > प्रा० कण्णा
कन्न	,, कर्ण > प्रा० कण्ण
कन्ह	,, कृष्ण > प्रा० कण्ह
कन्हउ	प्रा० कण्ह + उ
कन्हई	सं० कर्णस्मिन् अप० कण्णहि
कांपइ	हिं० कांपना
कांम	सं० कर्मन् > प्रा० कम्म
कांमु	,, काम
काय	,, काचित् > प्रा० काइ
कायर	,, कातर > प्रा० काअर
कारणि	,, कारण
कालउ	,, कल,

कालकुमरु	एक राजकुमार का नाम
कालमुहउ	सं० कालः मुखक > प्रा० कालमुहश्रो
कालु	सं० काल
काट्ठ	,, काष्ठ
कासर्गं	,, कायोत्सर्गं, > प्रा० काउसग्ग
कासमीर	,, काश्मीर,
कासीसर	,, काशीश्वर > प्रा० कासीसर
कांस	,, कंस
काहल	,, काहल > प्रा० काहलिश्रा
किया	,, केन
किमइ	,, किमपि > प्रा० किमइ
किमइव	सं० किमपि > प्रा० किमवि
किंपि	,, किमपि > प्रा० किंप
किरतार	,, कर्तृ हिं० करतार
किरि	,, किल > श्रप० किर
किलकिल	[एक प्रकार की चिल्लाहट]
किलकिलाट	सं० किलकिलत्व > प्रा० किलकिलत्त
किव	,, कूप > प्रा० किव
किवहरि	,, कूपगेह > प्रा० किवहरि
किवि	,, केऽपि > प्रा० केवि
किसउं	सं० कीदृश > प्रा० केरिस
किसिउं	,, कीदृशकानि
किहां	,, कस्मात् > प्रा० कम्हा श्रप० कहां
किहइं	,, कस्मिन् > प्रा० कम्हि > श्रप० कहिं
किहाई	[किहां + इ]
किहि	[किहां + इ]
किह्यां	[किहां + इ]
किही	सं० कैः + श्रपि
की	,, कृत > प्रा० किय
कीम	हिं० कैसे
कीवाचारु	सं० क्लीव + श्राचार्य

कीवे	सं० क्लीवा
कीसी	,, कीदृशानि > अप० कइसाइं
कोइं	[किहां] हिं० कहाँ
कु	प्रा० को अप० कु हिं० कौन
कुंअरि	सं० कुमारी > प्रा० कुमरी
कुंअरु	,, कुमार > प्रा० कुमरा
कुंआरि	,, कुमारी
कखिहिं	सं० कुक्षि > प्रा० कुक्खि,
कुंचुकिइ	,, कंचुक
कुटंब	,, कुटुम्ब > प्रा० कुडंब,
कुटीरडइ	,, कुटीरक
कुडुंबउ	,, कुटुम्ब > प्रा० कुडुंब
कुण	हिं० कौन
कुणबु	सं० कुटुम्ब > प्रा० कुंडुबो
कुतिग	सं० कौतुक > प्रा० कोउग
कुंती	,, कुंता
कुपात्र	,, कुपात्र
कुपीउ	,, कुपित > प्रा० कुपिअ,
कुमर	,, कुमार
कुंभीय	,, कुंभिन् [हाथी]
कुर	,, कुरु
कुरुखेत्रि	,, कुरुक्षेत्र
कुरुदलि	,, कुरुदल
कुरुनरिंदु	,, कुरुनरेन्द्र
कुरुनाथि	,, कुरुनाथ
कुरव	,, कौरव > प्रा० कुरुव
कुरंगू	,, कुरंग
कुरमाखि	,, क्लाम्यति > प्रा० किलामइ
कुररी	,, कुररी
कुलंछणु	,, कुलाञ्छन
कुल्ल	,, कुल

कुलदेवलि	सं० कुलदेव + [लि]
कुलबोइ	,, कुल + बोई
कुलमंडणु	,, कुलमंडन
कुलवट	,, कुल + वृति [पारिवारिक प्रथा]
कुलसिणगारी	,, कुल शृंगार > प्रा० सिंगार
कुली	,, कलिका > प्रा० कलिआ हिं० कली
कुसंलु	,, कुशल > प्रा० कुसल,
कुसुधउ	,, कु + शुद्ध
कुसुमइ	,, कुसुम
कूइ	,, कूप > प्रा० कूअ
कूंकुय	,, कुंकुम
कूजइ	,, कूजति
कूंचीय	,, कुंचिका > प्रा० कुंचिगा
कूटइ	,, कुट्टयति > प्रा० कुट्टइ
कूड	,, कूट > प्रा० कूड,
कूडीउ	,, कूटिक > प्रा० कूडिअ
कूंपल	,, कुड्मल > प्रा० कुप्पल
कूभार	,, कुंभकार > प्रा० कुंभार
कूभी	,, कुंभिका > प्रा० कुंभिआ
कूंयरु	,, कुमार
कूंयर	,, कुमारी
कूर	,, क्रूर
कूरि	,, क्रूर > प्रा० कूर
कूलीय	,, कवलिका > प्रा० कउलिय
कूवइ	,, कूप
कृतवर्म	,, कृतवर्मन्
कृतारथ	,, कृतार्थ,
कृपु	,, कृप
कृपागुर	,, कृप + गुरु
कृपाणपाणि	,, कृपाणपाणि
केइ	,, के + अपि > प्रा० केवि, केइ,

केउर	सं० केयूर>प्रा० केअर
केकिय	,, केकिन्,
केढइ	,, करि>प्रा० कढि>अप० कढिहिं
केतकि	,, केतकी
केतनि	,, केतन
केता	,, कयत्तिय>प्रा० केत्तिअ,
केथउं	,, कथा>अप० केत्थू
केरउ	,, कार्यक>प्रा० केरो>अप० केरउ
केलि	,, केली
केलीहर	,, कदलीगृह>प्रा० केलीहर, कयलीहर
केवडी	सं० केतकी>प्रा० केअई, अप० केवड
केवलनाणु	,, ज्ञान
केवलनाणी	,, केवलनाण+ई
केवलज्ञानु	,, केवल+प्रा० नाणु (= सं० ज्ञान)
केवलि	,, केवलिन
केवि	,, केऽपि>प्रा० केवि
केसर	,, केसर
केसरयालां	,, केसर+इयल्ल
केसरि	,, केसरिन्
केसवु	सं० केशव>प्रा० केसव
केसि	,, केश>प्रा० केस
केह	,, खलु
केहइ	,, कस्मिन्+अपि>प्रा० कम्हि+इ
कोइल	,, कोकिल>प्रा० कोयल
कोटं	,, क्रोडी
कोडाकोडि	,, कोटा कोटि
कोडि	,, कोटि>प्रा० कोडि
कोड्डि	,, कौतुक>प्रा० कुड्ड
कोदण्डो	सं० कोदण्ड
कोपि	,, कोप
कोरक	,, कोरक

कोलाइल	सं० कोलाइल
कोहग्गि	,, क्रोधाग्नि
क्रमु	,, कर्मन
क्रमि	,, क्रम

(ख)

खइ	प्रा० खय
खज्जोय	सं० खद्योत
खडखडइ	प्रा० खडहडइ
खडग	सं० खड्ग
खडोखली	हिं० तालाब
खणु	सं० क्षण>प्रा० खण
खणीय	,, खनति>प्रा० खणइ
खंडोखंडि	अप० खंडहो+खंड
खत्र	अच्छा
खंति	सं० क्षान्ति>प्रा० खंति
खंधि	सं० स्कंध>प्रा० खंध
खंधवालि	,, स्कंध+वाल
खंधागलि	,, स्कंधकेली>प्रा० खंधगेली
खपइ	,, क्षप्यते हिं० खपना
खप्पर	,, कर्पर>प्रा० खप्पर
खमउ	,, क्षमते>प्रा० खमइ
खमण	,, क्षपण>प्रा० खमण
खमि	,, क्षम>प्रा० खम
खंभा	प्रा० खंभ
खय	सं० क्षय, क्षत
खरउ	,, अक्षर>प्रा० अक्खर
खरहर	प्रा० खरहर
खलहिउं	सं० खलायित>प्रा० खलाइय
खवे	प्रा० खवओ
खाइ	हिं० खाना
खाखसि	हिं० जंभई

खाद्यां	सं० खाद्यानि > प्रा० खज्जाइं
खाटकी	,, खट्टिक > प्रा० खट्टिक
खाधि	प्रा० खाद्यी
खांड	सं० खंड
खांडासरमु	,, खंगश्रम > प्रा० खड्ग
खांतिइं	,, क्षान्ति > प्रा० खंति
खांपिण	,, क्षपण > प्रा० खवण
खालि	,, क्षालक > प्रा० खालय
खिण	,, क्षण
खिपइं	,, क्षपयति > प्रा० खवइ, हिं० खपना
खीच	,, कर्षति > प्रा० खंचइ
खीचइ	,, खिद्यते > प्रा० खिज्जइ
खीणइ	,, क्षीण
खीर	,, क्षीर > प्रा० खीर
खीरोदक	खीर + उदक
खुटकइ	अप० खुडुक्कइ, हिं० खटकना
खुडत	सं० खुण्डते
खुंटियइ	प्रा० खुट्टइ
खुभ्या	सं० क्षुभित > प्रा० खुहिय
खुरि	,, खुर
खुसइं	,, कुस्यति > प्रा० खुसइ
खूटवइं	,, क्षुच > प्रा० खुट्टइ, हिं० खुटाना
खूटा	,, क्षुच > प्रा० खुट्ट = त्रुटितम्
खूणइ	,, कोण > प्रा० कोरण
खूंटइ	हिं० तोड़ना
खूतउ	सं० क्षुच > प्रा० खुच
खूंपु	प्रा० खुंपा
खूंपइ	प्रा० खुप्पइ
खेश्र	सं० खेद
खेउ	,, खेद > प्रा० खेश्रो > अप० खेउ

खेचरु	सं० खेचर
खेडइ	प्रा० खेडइ
खेत्रि	सं० क्षेत्र > प्रा० खेच
खेमु	,, क्षेम > प्रा० खेम
खेलइ	,, क्रीडति > प्रा० खेल्लइ
खेहा	,, क्षोद > प्रा० खह हिं० खेह
खोसिइं	,, क्षपयति > प्रा० खवइ
खोटि	प्रा० खोडि

ग

गइंवरु	सं० गजवर > प्रा० गयवर
गई	,, गतिका > प्रा० गइय
गउखि	,, गवाक्ष > प्रा० गवक्ख
गउरी	,, गौरी
गगनि	,, गगन
गंगा	,, गङ्गा
गंगवणे	,, गङ्गा + वन
गंगानंदणु	,, गङ्गानन्दन
गांगेउ	सं० गांगेय
गज	,, गज
गजगति	,, गज + गति
गजवड	एक प्रकार का रेशमी कपड़ा
गजइ	सं० गर्जति
गंजणहार	,, गञ्जति > प्रा० गंजइ
गढ	सं० ग्रह
गणइ	,, गणयति > प्रा० गणइ
गणहर	सं० गणधर > प्रा० गणहर
गणि	सं० गणिन्
गतिमागु	,, गति + मार्ग
गदाधरु	,, गदाधर
गंधमायण	,, गन्धमादन
गंधारि	,, गांधारी

गंधारी	सं० गन्धहारीन् + ई
गभु	,, गर्भ > प्रा० गब्भ
गभेलउ	,, गर्भिल्ल > प्रा० गब्भिल्ल
गमेई	,, गमयति > प्रा० गमेइ
गम	,, गम्य
गमइ	,, गम् > प्रा० गमइ
गमण	,, गमन > प्रा० गमण
गमार	,, गम + कार, गमयति
गय	,, गज > प्रा० गय
गयवर	,, गजवर > प्रा० गयवर
गयउ	,, गत > प्रा० गय
गयणु	,, गगन > प्रा० गयण
गयणंगणि	,, गगन + अङ्गन > प्रा० गयण + अंगण
गरभ	,, गर्भ
गरबु	,, गर्व
गरुउ	,, गुरुकः > प्रा० गरुओ
गलगलीया	प्रा० गुलगुलइ
गलुं	सं० गल हिं० गला
गली	सं० गुलिता > प्रा० गुलिय
गविल	,, गव्य+इल्ल > प्रा० गव्विल्ल
गहगहइ	अप० गहगहइ हिं० गहगहाना
गहिलउ	सं० ग्रह + इल्ल > प्रा० गहिल्लउ
गहिल्ली	,, ग्रह + इल्ली
गहीय	,, गृह्णाति > प्रा० गहइ
गाइ	,, गो > प्रा० गावी हिं० गाइ
गाई	,, गायति > प्रा० गायइ
गाऊं	,, गव्यूत > प्रा० गाउ
गांगलि	एक संयासी
गांगेउ	सं० गांगेय
गाजइ	,, गर्जति > प्रा० गज्जइ
गाडर	प्रा० गड्डरिया

गाढा	सं० गाढ
गानि	,, गान
गामि	,, ग्राम>प्रा० गाम हिं० गाँव
गाय	हिं० गाय
गायण	सं० गायन>प्रा० गायण
गायत्रीय	,, गायत्री
गायंति	हिं० गाना
गाह	सं० ग्राह>प्रा० गाह
गाहिय	,, गाहित>प्रा० गाहिय
गिउ	,, गत>प्रा० गय
गिर संधि	सं० गिरी+संनिधि
गुड	,, गुड
गुडगुडया	हिं० गड़गड़ाना
गुडि	सं० गुडा
गुडिया	,, गुडिता
गुण	,, गुण
गुणि	,, गुणिन्
गुणइ	,, गुणयति
गुमाखणी	,, गो+माखन
गुरु	,, गुरु
गुरुनंदणु	,, गुरुनंदन
गुरुड	,, गरुड
गुरुडासणि	,, गरुड+आसन
गुरुया	हिं० बड़ा
गुहिर	सं० गभीर>प्रा० गुहिर
गूझ	,, गुह्य>प्रा० गुज्झ
गूडिय	,, गुडित>प्रा० गुडिअ
गूढ	,, गूढम्
गेलि	,, केली
गेहि	,, गेह
गोआसन	,, गवासन

गोश्रम	सं० गौतम>प्रा० गोश्रम
गोतम	,, गौतम
गोपिय	,, गोपिका>प्रा० गोपिय
गोरडी	,, गौरी+डी
गोरस	,, गोरस
गोरु	,, गो+वृंद>अप० गोवन्द्र
गोवर	,, गोपुर
गोविदि	,, गोविंद
गोवाल	,, गोपाल>प्रा० गोवाल
ग्या	हिं० गया
ग्रास	सं० ग्रास

घ

घट	सं० घट
घटइ	,, घटयति
घड	,, घट>प्रा० घड
घडिउं	,, घटयति>प्रा० घडइ
घडीय	,, घटिका>प्रा० घडिश्रा
घड्डउ	,, घटोत्कच
घण	,, घन>प्रा० घण
घणुं	,, घनकम्
घणीवार	हिं० अक्सर
घणीपरि	हिं० अनेक प्रकार
घणेरउ	सं० घनतर>प्रा० घणयर
घर	,, गृह
घरनारि	,, गृह+नारी
घरिसुत्तु	,, गृह सूत्र>प्रा० घरसुत्त
घरिसूत्र	,, गृहसूत्र
घरणि	,, गृहिणी>प्रा० घरणी
घल्लइ	,, घात्य>प्रा० घत्त
घाउ	,, घात>प्रा० घाश्र
घाई	[वेग से]

घांचण — प्रा० घच्चन
घाटडी — सं० घाट+डी
घाटा — ,, गाढ़
घाटि — प्रा० घट्टो = नदी तीर्थम्
घात — सं० घाति
घाय — ,, घात > प्रा० घाअ
घारिय — ,, घारित > प्रा० घारिअ
घाहु — ,, ग्राह
घी — ,, घृत > प्रा० घिय
घुग्घुर — ,, घर्घर
घुंटीइ — ,, घृष्ट > प्रा० घुट्ठ
घूमिइं — ,, घूर्णते > प्रा० घुम्मइ
घृताची — ,, घृताची
घोडइ — ,, घोटक > प्रा० घोडओ
घोरइं — ,, घुरति > प्रा० घोरइ
घोल — ,, घोल
घोलणा — ,, घूर्णते > प्रा० घोलइ

च

चउक — सं० चतुष्क, चत्वर > प्रा० चउक्क, हिं० चौक
चउथउ — ,, चतुर्थ > प्रा० चउत्थ
चउदसि — ,, चतुर्दश > प्रा० चउद्दस
चउदइ — ,, चतुर्दश > प्रा० चउद्दह
चउरासी — ,, चतुराशीति > प्रा० चउरासी, हिं० चौरासी
चउरी — ,, चत्वरिका > प्रा० चउरिया
चउविह — ,, चतुर्विध > प्रा० चउव्विहः
चउवीस — ,, चतुर्विंशति—चउवीसं हिं० चौबीस
चउवीसमउ — ,, चतुर्विंशतितम प्रा० चउव्वीसइम
चउवइ — ,, चतुर्दिश
चऊद — ,, चतुर्दश
चऊदहोत्तर — ,, चतुर्दश+दश + उत्तर
चऊदमइ — ,, चतुर्दशतम

चक्कावट्ट	सं० चक्रावर्त
चक्कवट्टि	,, चक्रवर्तिन्
चक्कव्यूहु	,, चक्रव्यूह
चक्कि	,, चक्र
चंगा	,, चंग > प्रा० चंग
चंचलि	,, चंचल
चट्ट	प्रा० चट्ट, हिं० चटसाल
चडइ	प्रा० चडइ
चढि	हिं० चढ़ना
चतुरपणाउं	हिं० चतुराई
चत्ति	सं० चित्त
चंद	,, चंद्र > प्रा० चंद
चंदण	,, चंदन
चंदणु	,, चंदन > प्रा० चंदण
चंदनि	,, चंदन
चंदनि	,, चंद्रिका > प्रा० चंदणी
चंद्रप्रभु	,, चंद्रप्रभ
चंद्रापीडु	,, चंद्रापीड
चपलु	,, चपल
चमर	,, चामर > प्रा० चमर
चरण	,, चरण
चरती	,, चरति
चरितु	,, चरित
चरिय	,, चरित > प्रा० चरिय
चरी	,, चरित
चपेट	,, चपेटा
चमकति	,, चमत्करोति > प्रा० चमकइ
चंपकवन्नी	,, चंपक + वर्णा > प्रा० चंपक + वण्णी
चर	,, चर
चरइ	,, चरति > प्रा० चरइ
चरीइ	,, चरित

चरीउ	सं० चरित
चरीतो	,, चरित
चरु	,, चरु
चलई	,, चलति > प्रा० चलइ
चलथा	,, चरथा > प्रा० चलथा
चलचींत	अस्थिर चित्त
चल्लइ	सं० चलति > प्रा० चल्लइ
चवीयला	च्यवित + इल्ल
चाउरि	सं० चत्वर > प्रा० चच्चर
चाकुला	,, चक्र + उल्ल > प्रा० चक्क+उल्ल
चाखी	,, चक्षिता > प्रा० चक्खिआ
चाणूर	,, चाणूर
चांदलु	प्रा० चंद + उल्ल
चांदुलउ	सं० चंद्र
चांदुलइइ	म० चांद + प्रा० उल्लडउ
चांपीयइ	सं० चंपयति
चांमर	,, चामर
चार	,, चतुर् > प्रा० चउर
चारथा	,, चारथा
चारि	,, चरति > प्रा० चारि
चारितु	,, चारित्र > प्रा० चारित्त
चारिसु	हिं० चराना
चारिहिं	सं० चार, हिं० चलना
चालइ	हिं० चलना
चास	प्रा० चास
चिंत्ति	सं० चित्त
चित्तविचित्र	चित्रविचित्र
चित्रामि	सं० चित्रत्वन
चित्रसाली	,, चित्रशाला
चित्रंगदु	,, चित्रांगद
चित	,, चिता > प्रा० चित

चिंतु	सं० चिंत
चिंतइ	,, चिंतयति > प्रा० चिंतइ
चिंध	,, चिह्न > प्रा० चिंध
चिय	,, चैव > प्रा० चिश्र
चिइ	,, चिता > प्रा० चिश्रा
चिहुं	,, चतुर्णाम् श्रप० चउ + हु
चीठी	,, चेष्टिका > प्रा० चिट्ठश्रा
चीति	सं० चित्त
चीनउं	,, चिह्नित
चीर	,, चीर
चुक्केवि	,, चुक्न > प्रा० चुक्कइ
चुणिवि	सं० चिनोति > प्रा० चुणइ
चुंबि	,, चुंबति > प्रा० चुंबइ
चूरइ	,, चूरयति > प्रा० चूरइ
चूटइ	,, चृंतति = कृंतति > प्रा० चुंटइ
चूडिय	प्रा० चूड
चूनउ	सं० चूर्ण + क > प्रा० चुण्ण
चूब	,, चुंब
चौदपंच्यासीइ	,, चतुर्दश + पञ्चाशीति > प्रा० चउद्दह + पंचासीइ
च्यारि	,, चत्वारि > प्रा० चत्तारि

छ

छट्ठउ	सं० षष्ठ > प्रा० छट्ट
छडइ	हिं० छठा
छडउ	श्रप० छडय
छंडइ	सं० छर्दयति > प्रा० छड्डइ
छत्राकारि	छत्र + श्राकार (छाते के श्राकर में)
छंदिहिं	सं० छंदस्
छविउ	प्रा० छवइ
छम्मास	सं० षण् + मास
छयलपणाइं	प्रा० छइल + श्रप० प्पण
छलु	सं० छल

छाइंउ	सं० छादित>प्रा० छाइअ
छाजइ	,, सज्जति>प्रा० छज्जइ
छानउ	,, छन्न
छाली	,, छागल>प्रा० छाली=छागी, छायल
छार	,, सं० क्षार>प्रा० छार
छायउ	छादंती
छाया	सं० छाया
छाहडी	,, छाया>प्रा० छाह+डी
छिल्लरु	,, छिद्र+ल>प्रा० छिल्लर
छीपइ	,, स्पृश्यते>प्रा० छिप्पइ
छुरी	,, क्षुरिका>प्रा० छुरिया
छूटइ	अप० छुट्टइ
छेअर	छेक=निपुण
छेदिसु	सं० छेदति
छेह	,, छेद>प्रा० छेय
छोडउं	,, छुटति, छोटयति>प्रा० छोडइ

ज

जइ	सं० यदि>प्रा० जइ
जइलच्छि	,, जय+लक्ष्मी
जइवंत	,, जयवती
जउ	,, यतः>प्रा० जओ, अप० जउ
जग	,, जगत्
जगगुरु	जग+सं० गुरु
जगडइ	प्रा० जगडइ
जगति	सं० जगती
जगदीश्वरु	,, जगत्+ईश्वर
जगनाह	,, जगत्+नाथ
जगनीक	एक राजा का नाम
जगबंधव	सं० जगत्+बांधव
जगवंच	,, जगत्+वंचः
जडइ	,, जटति>प्रा० जडइ

जडइ	सं० जड
जण	,, जन>प्रा० जण
जणण	जनक
जणणि	सं० जननी>प्रा० जणणि
जणमेलु	,, जन+मेल
जणवइ	,, जनपति>प्रा० जणवइ
जनम	,, जन्मन्
जनोइ	,, यज्ञोपवीति>प्रा० जण्णो वईय
जन्हु	,, जह्नु
जम	,, यम>प्रा० जम
जमण	,, यमुना
जंप	,, जल्प
जंपइ	,, जल्पति
जंपउ	हिं० झंपना
जंबूदीव	सं० जंबुद्वीप>प्रा० जंबुदीव
जंम	,, जन्मन्>प्रा० जम्म
जंमण	,, जन्मन्>प्रा० जम्मण
जयमाला	,, जयमाला
जयजयकारु	,, जयजयकार
जयवंता	,, जयवत्
जयद्रथु	,, जयद्रथ
जयसायर	,, जयसागर
जयसेहर	,, जयशेखर>प्रा० जयसेहर
जरासिंघ	,, जरासंघ
जलद	हिं० बादल
जलु	सं० जल
जलजीवि	,, जल+जीव
जलंतु	,, ज्वलति>प्रा० जलइ
जव	,, यत>प्रा० जओ
जसवाउ	,, यशोवाद>प्रा० जसवाअ
जसु	,, यशः>प्रा० जसो>अप जसु

जसी	सं० यादृश > प्रा० जारिस > अप जइसो
जाइ	,, याति > प्रा० जाइ
जाविय	,, याप्यते > प्रा० जइयंइ
जाई	,, जाया > प्रा० जाइ
जाउ	,, जात > प्रा० जाअ
जाग	,, याग
जागिउ	,, जागर्ति > प्रा० जग्गइ
जांघ	,, जंघा
जाजरी	,, जर्जर > प्रा० जज्जर
जाणइ	,, जानाति > प्रा० जाणइ
जाण	,, ज्ञान > प्रा० जाण
जाणपणु	,, ज्ञान + त्वन > प्रा० जाणत्तण
जाणे	,, जाने > प्रा० जाणे
जाणउं	हि० जाना
जातइ	सं० जात्या
जातक	,, जातक
जातमात्र	,, जातमात्र
जातीस्मर	,, जातिस्मर
जात्र	,, यात्रा
जादर	एक प्रकार का रेशमी वस्त्र
जादव	सं० यादव
जाम	,, यावत् > प्रा० जाव > अप० जाम
जामलि	,, यमल
जायउ	,, जात > प्रा० जाय
जालिवा	प्रा० जालइ
जालिय	सं० जालिक > प्रा० जालिय
जां	,, यावत > प्रा० जाव > अप० जामु
जांई	हि० जाना
जांण	,, जानना
जिको	सं० यः + कोऽपि > प्रा० जि + कोइ
जिणु	,, जिनेंद्र > प्रा० जिणिंद

जिणीय	सं० जिनाति
जिम	,, यिव
जिमु	हिं० जिमि
जिमवा	प्रा० जिमइ
जिसउ	सं० यादृशक अप० जइसउ
जिसिइ	[हिं जिस प्रकार]
जिहा	सं० यस्मात्>प्रा० जम्हा अप० जहां
जीउ	सं० जीव
जीण	प्रा० जयणं=हयसंनाह
जीतउ	सं० जित>प्रा० जित्त
जीपी	,, जित>प्रा० जिप्पइ
जीभ	सं० जिह्वा>प्रा० जिब्भा
जीराउलि	प्रा० जीराउल
जीव	सं० जीव
जीवडा	,, जीव+डा
जीवदानु	,, जीव+दान
जीविय	,, जोवित>प्रा० जीविश्र
जुश्रलई	सं० युगल>प्रा० जुश्रल
जुगतुं	,, युक्त>प्रा० जुत्त
जुगला धरम	प्रा० जुगल+पु० गु० धरम
जुडिया	सं० युक्त>प्रा० जुत्तइ
जुव्वणि	,, यौवन>प्रा० जुव्वण
जुहार	जुह+प्रा० श्रार
जुजूउं	सं० युतयुत>प्रा० जुश्र-जुश्र
जूठिलु	,, युधिष्ठिर>प्रा० जहुट्ठिलो
जूनुं	,, जूर्णा>प्रा० जुएणा
जूवणु	[हिं० युवक]
जुहिय	सं० यूथिका>प्रा० जूहिया
जेउ	,, येव
जेतलई	,, यत्य+इक>प्रा० जेत्तिश्र
जेती	,, यत्य+इक>प्रा० जत्तिश्र

जेसंगदे	सं० जयसिंह देव
जोअण	,, योजन > प्रा० जोअण
जोड	हिं० जोडी
जोडी	सं० योतति
जोत्था	,, योत्र > प्रा० जोत्त
जोयणु	,, योजन
जोवन	,, यौवन
जोवणभरि	,, यौवण+भर
जोसी	,, ज्योतिषिक
ज्वलंती	,, ज्वलति

झ

झखइ	प्रा० झंखइ
झझणण	सं० > प्रा० झणज्झणइ
झमकारु	,, झंकार + कार
झंपावइ	,, झंपा > प्रा० झंपइ = भ्रमति
झरई	,, झरति > प्रा० झरइ
झलइ	सं० ज्वाला
झलक	झलकंति, झलकंत
झलकइ	सं० ज्वल् + कृत > अप० झलक्कइ
झलमलीय	[हिं० झलमलाना]
झलहलई	सं० झलज्झला
झल्लरी	,, झल्लरी
झाटक	,, झट् + इति > प्रा० झड+ति
झायइ	,, ध्यायति > प्रा० झायइ
झांप	सं० झंपा
झाल	,, ज्वाला
झूझ	,, युद्ध > प्रा० जुज्झ
झर	झला=मृगतृष्णा
झूझइ	सं० युध्यते > प्रा० जुज्झइ
झूंटि	प्रा० झंटइ = प्रहरति

झूबइ	सं० प्रालंब > प्रा० झुंबइ
झूरइ	,, जूरयति > प्रा० झूरइ

ट

टंपावइ	प्रा० टप्पइ हिं० टपाना
टलइ	सं० टलति > प्रा० टलइ
टलक्कइ	,, टलत् + कृत
टलटलइ	प्रा० टलटलइ
टेव	सं० स्थगयति > प्रा० थक्कइ
टोल	,, प्रतोली

ठ

ठवइ	सं० स्थापयति > प्रा० ठवइ=स्थपयति
ठाउ	सं० स्थाम > प्रा० ठाम > अप० ठाउं
ठाकुर	,, ठक्कुर > प्रा० ठक्कुर
ठाण	,, स्थान > प्रा० ठाण
ठामु	हिं० ठाम
ठीक	सं० स्थितक > प्रा० ठिअक्क
ठेलइ	,, स्थलयति > प्रा० ठलइ

ड

डज्झ	दह्य, डज्झति
डर	भय
डसन	दंत, दशन् (दांत)
डस्यउ	प्रा० डसइ
डामर	सं० डम्बर
डारइ	,, दरति > प्रा० डरइ
डाल	,, दार > प्रा० डाली
डाविय	,, दर्पति > प्रा० दप्पइ
डाहा	(हिं० होशियार)
डुगरि	(एक पहाड़)
डूंगर	(एक पहाड़)
डूंब	सं० श्वपच, सं० डोम्ब हिं० डोम
डोकर	,, डोलत्कर

डोकरि	(एक बूढ़ी औरत)
डोलइ	सं० दोलयति, हिं० डोलना
डोलिय	,, दोलिका
डोइलऊ	प्रा० डोइल

ढ

ढक्क	सं० ढक्का
ढंखर	फल-पत्ररहित
ढमढमी	[ढोल पीटा जाना]
ढलइं	सं० ध्वरति>प्रा० ढलइ
ढाउ	प्रा० ढाव
ढाक	हिं० ढोल
ढालु	हिं० ढाल
ढूकडी	सं० ढौकित>प्रा० ढुक्क
ढोल	,, ढौल
ढोलई	,, ध्वरति
ढोर	,, धुर्य

ण

ण	सं० न>प्रा० ण
नयण	,, नयन
णाह	,, नाथ>प्रा० णाह
णी	,, निज>प्रा० णिय
णयन	,, नयन
णयर	,, नगर
णक्कंत	,, नक्रांत=नासिकांत
णच्च	,, नृत्य
णज्जइ	,, ज्ञायते णज्जंति
णट्टणिय	,, निर्तका
नड	,, नट
णट्ठ	,, नष्ट
णत्थि	,, नास्ति

णंदीयइ	सं० निद्रीयते
नलचरिय	,, नलचरित
नव	,, नवीन
णव	,, नवन्, नम्
णवजुव्वणी	,, नवयौवना
णह	,, नख
णह	,, नभ
णहवल्लिय	,, नभ + विद्युत्
णाइ	प्रा० णाय, णायं
णाय	सं० नाग = सर्प
णायर	,, नगर
णाडइ	,, नाटकिन
णाम	,, नाम
णारि	,, नारी
णाव	,, नौका
णाविय	णा + आविय
णाह	सं० नाथ
णाहि	,, नाभि
णिश्र	,, निज,
णिअत्तय	,, निवृत्त
णिउइय	,, नियोजित
णियय	,, नियत, निज
णिअ	,, दृश्
णियंसण	,, निवसन = शिरोवस्त्र
णिग्गय	,, निर्गत
णिग्गम	,, निर्गम
णिच्च	,, नित्य
णिट्ठुर	,, निष्ठुर
णिच्चु	,, नित्य
णिच	,, नेत्रपटम्
णिद्दय	,, निर्दय

णिद्दयर	सं०	निर्दयतर
णिद्दोस	,,	निर्दोष
णिद्द	,,	निद्रा
णिन्नासण	,,	निर्णाशक
णिबद्धय	,,	निबद्ध
णिब्भय	,,	निर्भय
णिब्भर	,,	निर्भर
निभंति	,,	निर्भ्रान्त
णिमिस	,,	निमेषम्
णिम्मल	,,	निर्मल
निम्मविय	,,	निर्मापित
णिरक्खर	,,	निरक्षर
णिरंतरिय	,,	निरन्तर
निरक्खि	,,	निरपेक्षम
णिवड	,,	निबिड
णिवडब्भर	,,	निविडोद्धुर
णिवेहिय	,,	निवेशित, निविष्ठ
निविड	,,	निविड
णिवेसिय	,,	निवेशित
णिसियरिय	,,	निशाचरी
णिसायर	,,	निशाचर
णिसुण	,,	निश्रृणु
णिस्साहार	,,	निराधार = निस्साधार
णिहू	,,	दृश्, पश्यति
णिहि	,,	निधि
णिहुय	,,	निभृत
णेय	,,	नैव
णेह	,,	स्नेह
णेवर	,,	नूपुर

त

तउं	,,	त्वम्>प्रा० तुमं

तउणी	सं॰ तपनी > प्रा॰ तवणि
तछण	,, तत्क्षणम्
तडा	,, तट > प्रा॰ तड
तडि	,, तटे > प्रा॰ तडम्मि
ततकाल	,, तत् + काल
ततखिण	,, तत्क्षण > प्रा॰ तक्खण
ततछण	,, तत्क्षण
तपइ	,, तपति > प्रा॰ तपइ
तंदुलवेयालीपसूत्र	,, तन्दुलवैकालिक > प्रा॰ तंदुलवेयालिय
तपु	,, तप
तबल	हिं॰ तबला
तमी	सं॰ तमी
तंबोल	,, तांबूल > प्रा॰ तंबोल
तरइं	,, तरति > प्रा॰ तरइ
तरतर	प्रा॰ तडतडा
तरुआ	सं॰ तरुकस्य > प्रा॰ तरुअस्स
तरुणीय	,, तरुणीका
तरुयर	,, तरु + वर
तलाव	,, तडाग > प्रा॰ तलाअ
तलि	हिं॰ तल
तलिआं	सं॰ तल > प्रा॰ तल्ल
ताम	,, तस्मात् > प्रा॰ तम्हा
तांडंऊ	सं॰ तुण्डकम्
ताणीउं	,, तानयति, तनोति > प्रा॰ तानिअ
ताखणि	,, तत्क्षण
ताजिउ	,, त्यजयति > प्रा॰ ताजइ
ताजइ	,, तर्जयति > प्रा॰ तज्जइ
ताडइं	,, ताडयति > प्रा॰ ताडइ
ताय	,, तात > प्रा॰ ताओ > अप॰ ताउ
तातउं	,, तप्त, तप्तक > प्रा॰ तत्त, तत्तअ
तापु	,, ताप

तारिवइ	सं० तारयति > प्रा० तारेइ
तार	,, तारका > प्रा० तारअ
तालु	,, ताल
ताव	,, ताप > प्रा० ताव
तिजीइ	,, त्यज्यते
तित्थ	,, तीर्थ > प्रा० तित्थ
तिनि	,, त्रीणि > प्रा० तिण्णि
तिमिर	,, तिमिर
तिर्यलोकि	,, तिर्यक् + लोक
तिलउ	,, तिलक > प्रा० तिलओ > अप० तिलउ
तिलपत्थु	,, तिलप्रस्थ
तिसउ	,, तादृश > प्रा० तारिस > अप तइस
तिहुअण	,, त्रिभुवन > प्रा० तिहुयण
तींछे	,, तत्था
तीथि	,, तीर्थ > प्रा० तित्थ
तीथंकर	,, तीर्थंकर > प्रा० तित्थंयर
तीर	,, तीर
तीरईं	,, तीर
तुंबर	,, तुम्बुरु
तुरक	,, तुरग
तुरगु	,, तुरग
तुरंगम	हिं० घोड़ा
तुरिया	सं० तुरग > प्रा० तुरय
तुररी	,, तूर्य > प्रा० तूर
तुरंतउ	,, तुरति—तुरते > प्रा० तुवरंत
तुसार	,, तुषार
तुहितउ	,, तथापि
तुलइ	,, तुलयति > प्रा० तुलइ, तुलेइ
तूठी	,, तुष्टा > प्रा० तुट्ठा
तूर	[हिं० तुरही]
तूसिइ	,, तुष्यति > प्रा० तूसइ

तूंबु	सं० तुम्ब, तुम्बक
तृणा	,, तृणस्य > अप० तृणहो
तृशूल	,, त्रिसूल
तेउ	,, तेजस् > प्रा० तेअ > अप० तेउ
तेजि	,, तेजस्
तेजलु	,, तेज + उल्लउ (?)
तेडइ	,, तटयति
तेती	प्रा० तिचिअ > अप० तेचिउ
तेत्रीस	सं० त्रयस्त्रिंशत् > प्रा० तेत्तीस
तेर	,, त्रयोदश > प्रा० तेरस, तेरह
तेरमउ	,, त्रयोदशत > प्रा० तेरसम, तेरहम
तेल	,, तैलय, तैल > प्रा० तेल्ल
तोरणि	,, तोरण
तोलइ	,, तोल
तोलि	,, तोलयति
त्रंबक	,, ताम्रक > प्रा० तंबक
त्राठा	,, त्रस्त > प्रा० तट्ठ
त्रासिसिइ	,, त्रास
त्रिगवि	,, त्रिक
त्रिजंच	,, तिर्यच् > प्रा० तिरिअंच
त्रिणिण	,, त्रीणि
त्रिभवन	,, त्रिभुवन
त्रिसिउ	,, तृषित > प्रा० तिसिय
त्रिसूलि	,, त्रिसूल > प्रा० तिसूल
त्रीसे	,, त्रिंशत् > प्रा० तीस
त्रूटई	,, त्रुट्यति
त्रेवडी	,, त्रिवृत्ति > प्रा० ति + वत्ति
त्रोटि	,, त्रोटिका
त्रोडइ	प्रा० तोडइ
त्रोडए	सं० पेड़ से कुछ तोड़ना
तू	,, त्वम्

तेरा	[हिं॰ तुम्हारा]
ताहरउ	[हिं॰ तुम्हारा]

थ

थउ	सं॰ स्थित > प्रा॰ थिअ
थण	,, स्तन
थलचर	,, स्थलचर > प्रा॰ थलयर
थवणी	,, स्तवनिका > प्रा॰ थवणिआ
थप्पिउ	,, स्थाप्यते > प्रा॰ थापण
थंभ	,, स्तंभ > प्रा॰ थंभ
थंभीय	,, स्तम्भते > प्रा॰ थंभइ
थाइ	,, स्थाति > प्रा॰ थाइ
थाकि	,, स्थकित > अप थक्किउ
थाट	,, स्थात
थानक	,, स्थानक
थाल	,, स्थाली > प्रा॰ थालि
थांपणि	,, स्थापनिका > प्रा॰ थापणिआ थप्पणिआ
थाइरइ	,, स्थात > प्रा॰ थाइ
थिर	,, स्थिर
थिका	,, स्थित
थुणीअइ	,, स्तुनोति > प्रा॰ थुणइ
थूकइ	,, थुत्करोति > प्रा॰ थुक्कइ
थोडा	,, स्तोक

द

दक्खण	सं॰ दक्षिण
दक्खिण	,, दक्षिण
दखी	प्रा॰ दक्खइ
दडा	सं॰ दृति > प्रा॰ दइ+डओ
दड्ढीय	,, दग्धित
दडी	प्रा॰ दड्डइ, हिं॰ दड़ना
दंती	सं॰ दन्तिन्
दंतुसलि	प्रा॰ दंतस्य सल्लं,, अप॰ दंतहु सल्लु

दमनकि	सं० दमनक
दरसग्ग	,, दर्शन > प्रा० दरिसण
दरिद्र	,, दारिद्रय > प्रा० दारिद्द
दर्या	,, दयते > प्रा० दयइ
दल	,, दल > प्रा० दल
दलि	,, दल
दलउं	,, दलति > प्रा० दलइ
दलवइ	,, दलपति > प्रा० दलवइ
दव	,, दव > प्रा० दव
दस	,, दशन् > प्रा० दस
दसार	,, दशार्ह > प्रा० दसार
दह	,, दशन् > प्रा० दह
दहइ	,, दहति > प्रा० दहइ > अप० दहइ, ददेइ
दाखइ	प्रा० दक्खइ
दाघु	प्रा० दाघो
दाझइ	सं० दह्यते > प्रा० दज्झइ
दाणव	,, दानव > प्रा० दाणव
दातार	,, दातृ
दाधां	,, दग्ध > प्रा० दद्ध
दानि	,, दान
दांन	,, दान
दांनव	,, दानव
दांत	,, दंत
दारिद्र	,, दारिद्रय > प्रा० दालिद्द
दालि	,, दलति > प्रा० दालि
दासपणा	,, दासत्वन=दासत्व > प्रा० दासत्तण
दासि	,, दासी
दाहिणाउं	,, दक्षिण > प्रा० दाहिण
दाहु	,, दाह
दिज्जई	,, दीयते, प्रा० दीज्जइ
दिखाडइ	,, दक्षति

दिगिदिगि	(हिं० डुगडुगी ?)
दिट्ठऊ	सं० दृष्ट>प्रा० दिट्ठ
दिट्ठंति	,, दृष्टांत>प्रा० दिट्ठंत
दिणयर	,, दिनकर > प्रा० दिणअरो
दिणसेस	अस्त ?
दिणू	,, दिन > प्रा० दिन
दिवस	,, दिवस
दिनि	हिं० दिन
दिवि	सं० देवी>प्रा० दिव=देव
दिठ्ठि	,, दृष्टि
दिखा	,, दीक्षा > प्रा० दिक्खा
दीख	,, दीक्षा > प्रा० दिक्खा
दीण	,, दीन > प्रा० दीण
दीधति	,, दीधिति
दीपइ	,, दीप्यते > प्रा० दिप्पइ
दीव	,, द्वीप>प्रा० दीव
दीरघि	,, दीर्घ > प्रा० दीहर
दीवउ	सं० दीपक>प्रा० दीवअ
दीविय	,, दीपिका>प्रा० दीविआ
दीसइ	,, दृश्यते > प्रा० दिस्सइ
दीह	,, दीर्घ
दीहु	,, दिवस > प्रा० दीह, दिअह, दिअस
दीहर	,, दीर्घ>प्रा० दीहर
दीहाडा	प्रा० दीह+आड
दुआरी	सं० द्वार>प्रा० दुआर
दुकर	,, दुष्कर
दुक्ख	,, दुःख > प्रा० दुक्ख
दुग्ग	,, दुर्ग
दुग्गचिय	,, दुर्गत
दुग्गम	,, दुर्गम
दुव्विय	,, द्वावपि [द्वौ + चैव]

दुज्जोहण	सं० दुर्योधन>प्रा० दुज्जोहण
दुट्ठ	,, दुष्ट>प्रा० दुट्ठ
दुट्ठत्तणि	,, दुष्टत्वन>प्रा० दुट्ठत्तण
दुट्ठमणु	,, दुष्टमनस्>प्रा० दुट्ठमणो
दुत्तर	,, दुस्तर
दुंदुदुंडी	,, एक प्रकार का ढोल
दुंदुहि	,, दुंदभि>प्रा० दुंदुहि
दुद्धर	,, दुर्धर
दुन्नि	,, द्वीनि
दुम्म	,, द्रुम
दुरंग	,, दुर + रंग, हि० खराब
दुराचारि	,, दुराचार
दुरीउ	,, दुरित>प्रा० दुरिश्र
दुरीय	,, दुरित>प्रा० दुरिश्र
दुर्ज्जनि	,, दुर्जन
दुल्लह	,, दुर्लभ>प्रा०दुल्लह
दुल्लभ	,, दुर्लभ>प्रा० दुल्लभ
दुसह,दुसहउ,दुस्सह,,	दुःसह
दसासणु	,, दुःशासन>प्रा० दुस्सासण
दूश्र	,, दूत>प्रा० दूश्रो>श्रप दूउ
दूउ	,, दौत्य
दूत	,, दूत
दूतपालक	[एक राज्य श्रधिकारी]
दूजण	,, दुर्जन>प्रा० दुज्जण
दूझइ	,, दुह्यते>प्रा० दुज्झइ
दूधइं	,, दुग्ध>प्रा० दुद्ध
दूमइ	,, दूयते
दूरि	,, दूर>प्रा० दूर
दसमि	,, दुष्षम>प्रा० दुस्सम, दुसम, दूसम
दूहविइ	,, दुःखापयति>प्रा० दूहावियइ
दृष्टद्युमनि	,, धृष्टद्युम्न

दृष्टिइं	सं० दृष्टि
देउ	,, देव
देउर	,, देवर>प्रा० देअर
देउलि	,, देवदुल>प्रा० देउल
देखइ	प्रा० देक्खद>अप देखइ
देवु	सं० देव
देवि	,, देवी
देवक	,, देवक [एक राजा का नाम]
देवचन्द्र	,, देवचन्द्र [एक ब्राह्मण का नाम]
देवशर्मं	,, देवशर्मन्
देवादेवी	,, देव+देवी
देवलोकइ	,, देवलोक
देवरुप	,, देवरुप
देवर	पति का छोटा भाई
देवंग	सं० देवाङ्ग
देस	,, देश>प्रा० देस
देहरइ	,, देव गृहक
देहु	,, देह
दैवु	,, दैव
दैवचिन्ता	,, दैवचिन्ता
दैवत	,, दैवत
दो	,, द्वौ>प्रा० दुवे
दोरउ	,, दवरक>प्रा० दवरो=तन्तु
दोस	,, दोष>प्रा० दोस
दोहिली	,, दुर्लभ, अप० दुल्लह
दोहिलउं	[दुख ?]
द्रउडइ	सं० द्रुत>प्रा० दवए
द्रम	,, द्रुम
द्रमद्रमीय	,, द्रमद्रमति ?
द्रव्यिइं	,, द्रव्य
द्राख	,, द्राक्षा>प्रा० दक्खा

द्रुपदह	सं० द्रुपद
द्रूपदी	,, द्रौपदी
द्रोणु	,, द्रोण
द्रौपदीअ	,, द्रौपदी
द्वापरि	,, द्वापर
द्वारावती	,, द्वारावती
द्वैतवणि	,, द्वैतवन

ध

धउलउं	सं० धवल > प्रा० धवल
धड	,, धृत (?)
धडहड	हिं० धड़धड़
धडहडिउ	प्रा० धडहडिय, हिं० धड़धड़ाना
धण	सं० धन
धणिउ	,, धन्य + इत > प्रा० धणिअ = धण्ण + इअ
धणिय	,, धनिक > प्रा० धणिअ
धणुह	,, धनुष्
धतुंरा	,, धूर्त
धंधइ	अप० धंधइ
धंधोलय	अप० धंधोलिय
धन	सं० धन्य > प्रा० धण्ण
धनदिहिं	,, धनद
धंनु	,, धन
धन्नय	,, धन्य
धबके	अप० धबक्कइ
धमधमिउ	सं० धमधमायते > प्रा० धमधमइ
धम्मु	,, धर्म > प्रा० धम्म
धम्मपुत्त	,, धर्मपुत्र > प्रा० धम्मपुत्र
धयरठ	,, धृतराष्ट्र
धयरट्ठ	,, धृतराष्ट्र > प्रा० धयरट्ठ
धयराठ	प्रा० धयरट्ठ
धयवड	सं० ध्वजपट > प्रा० धयवड

धर	सं० धृ, धरती
धर	,, धरा > प्रा० धर
धरइ	,, धरति > प्रा० धरइ
धरणि	,, धरणी
धरम	,, धर्म
धरमी	,, धर्मिन्
धरमपूत	,, धर्म पुत्र
धरहडी	हिं० धरहरना
धरानायक	,, धरानायक
धवल	,, धवल > प्रा० धवल
धवलहरो	,, धवल गृह
धवलिय	,, धवलित
धसइ	,, ध्वंसति > प्रा० धंसइ
धसकइ	,, ध्वंसत् + कृत > प्रा० धंसकय
धसमसंतु	हिं० धसमसाना
धाइ	,, धावति > प्रा० धाइ
धाणुक	,, धानुष्क > प्रा० धाणुक्क
धान	,, धान्य > प्रा० धरण
धानुकी	(हिं० धनुष ?)
धामिय	,, धार्मिक > प्रा० धम्मिय
धारण	,, धारणा
धिग	,, धिक् > प्रा० धिग्र
धिट्ठ	,, धृष्ट
धिधिकट	(अनुकरणात्मक शब्द)
धीय	सं० दुहिता > प्रा० धीश्रा
धीरु	,, धीर
धीवर	,, धीवर
धुणह	,, धनुष्
धुय	,, ध्रुव
धुरा	,, धुर्
धुरि	प्रा० धुर

धूश्र	सं० दुहिता > प्रा० धूश्रा
धूइया	,, धूमेया
धूजइ	,, धूयते > प्रा० धुज्जइ
धूणइ	,, धुनोति > प्रा० धुणइ
धूंवड	,, धूम्रट > प्रा० धुम्म + ड
धूरइं	,, चयति > प्रा० झूरइ
धूर्जट	,, धूर्जटी
धूलि	,, धूलि > प्रा० धूलि
धृष्टद्युमनु	,, धृष्टद्युम्न
धोईयइ	,, धावति > प्रा० धोवइ, धुवइ
धोंकार	[धनुष की आवाज]
धोरिउ	,, धौरेय > प्रा० धोरेय
धोरणि	,, धोरणि
ध्याइं	,, ध्यायति
ध्यानु	,, ध्यान
ध्रसकइ	प्रा० धसकिय
ध्रसूकइं	(भय से गिरना)
ध्रासकि	हिं० आघात, धक्का

न

नइ	सं० नदी > प्रा० नइ
नकुलु	,, नकुल
नखे	,, नख
नगरि	,, नगर
नचइं	,, नृत्यति > प्रा० नचइ
नचावइं	,, नर्तयति=नर्तापयति
नट्टारंभ	,, नाट्य=प्रा० नट्ट + सं० आरंभ
नड	,, नट
नडिय	,, नड्डित > प्रा० णडिअ=खेदितः
नत्थीय	,, नास्ति > प्रा० णत्थि
नद्	,, नाद
नंदग्रामि	,, नन्दग्राम

नंदणु	सं० नन्दन
नंदनी	,, नन्दिनी>प्रा० नंदिणि
नमइ	,, नमति>प्रा० नमइ
नयण	,, नयन>प्रा० नयण
नयणला	प्रा० नयण+ल
नयर	सं० नगर>प्रा० णयर
नयरी	,, नगरी>प्रा० नयरी
नरके	,, नरक
नरग	,, नरक>प्रा० नरग,
नरय	,, नरक>प्रा० नरय
नरु	,, नर
नरनरीउ	,, नदति>प्रा० णयइ
नरनारि	[हिं० पुरुष स्त्री]
नर नाह	सं० नर+नाथ>प्रा० णाह
नरपवरु	,, नर+प्रवर>प्रा० पवर
नरवइ	,, नरपति>प्रा० णरवइ
नरवरु	,, नरवर
नराहिवु	,, नराधिप>प्रा० णराहिव
नरिंद	,, नरेन्द्र>प्रा० नरिंद
नरेस	,, नरेश>प्रा० नरेस
नरेसरो	,, नरेश्वर>प्रा० नरेसर
नवउ	,, नवक
नवमइ	,, नवमी
नवमइं	,, नवमति>प्रा० नवमइ
नवरसि	,, नवरस
नवलउ	,, नवल
नवसर	,, नव+सर
नवि	,, न+अपि>प्रा० णवि
नवकास	,, नमस्कार>प्रा० णवकार, णमोयार
नही	,, नहि
नागराइ	,, नागराजेन>प्रा० णायराइण>अप० णायराए

नागिणी	सं० नागिनी
नाखइ	,, निक्षिपति > प्रा० णिक्खिवइ
नादउद्रि	,, नादपद्र
नादि	,, नाद
नादु	,, नाद
नानाविह	,, नानाविध > प्रा० णाणाविह
नाच	सं० नृत्य > प्रा० णाच
नाठा	,, नष्ट > प्रा० नट्ठ
नाण	,, ज्ञान > प्रा० नाण
नात्र	,, ज्ञात्रक, ज्ञात्र
नामइ	,, नामयति > प्रा० नमेइ
नारगी	,, नारकिन् > प्रा० नारगी
नारंग	,, नारंग
नारद	,, नारद
नारि	,, नारी > प्रा० नारि
नारि रूपिं	नारि + सं० रूप
नावइ	सं० ज्ञापयति > प्रा० णावइ
नाशिक	,, नाशिक [एक शहर का नाम]
नासइ	,, नश्यति > प्रा० णासइ
नाह	,, नाथ > प्रा० णाह
नाहिय	,, स्नाति > प्रा० ण्हाइ
निम्ब	,, निम्ब > प्रा० निम्ब
निउंत्रीउ	,, निमन्त्रयते > प्रा० निमंतेइ
निकंदनि	,, निकन्दन
निकांमु	,, निकामम्
निकालिवा	,, निष्कालयति
निंकुची	,, निकुचित
निगहिय	,, निगृहीत > प्रा० णिग्गहिय
निगोदि	,, निगोद > प्रा० णिगोअ
निघिणु	,, निर्घृण > प्रा० णिग्घिण
निछमाली	,, निमिष + आली

नितु	सं० नित्यम्
निद्दलउं	,, निर्दलयति > प्रा० णिद्दलइ
निधांनु	,, निधान
निनाद	,, निनाद
निबंधु	,, निबंध
निमंत्रइ	,, निमन्त्रयते
निम्मल	,, निर्मल > प्रा० णिम्मल
निय	,, निज > प्रा० णिय
नियय	,, निजक
नियाणुं	,, निदान > प्रा० णियाण
नियुंज्या	,, नियुनक्ति > प्रा० निउंजिय
निरखिय	,, निरीक्ष्य
नरखइं	,, निरीक्षते > प्रा० णिरिक्खइ
निरगुण	,, निर्गुण
निरधार	,, निर्धार > प्रा० निद्धार
निरदलुं	,, निर्दलयति
निरमल	,, निर्मल
निरलोभी	,, निर्लोभिन्
निरवाणु	,, निर्वाण
निरवाहु	,, निर्वाह
निरवूं	,, निर्वृत
निराकारी	,, निराकृत > प्रा० निराकरिय
निरास	,, निराश > प्रा० णिरास
निरीक्षण	,, नीरक्षण
निरुतइ	,, निरुक्त > प्रा० णिरुत्त
निरुपम	,, निरुपम
निरेहणा	,, निरेषणा
निरोपम	,, निरुपम
निवेणाइ	प्रा० णिव्विणाइ
निर्जनि	सं० निर्जल
निलउ	,, निलय > प्रा० णिलय

निलाडि	सं०	ललाट>प्रा० णिलाड
निव	,,	नृप>प्रा० णिव
निवसइ	,,	निवसति>प्रा० णिवसइ
निवारइ	,,	निवारयति>प्रा० णिवारेइ
निविरइ	,,	निर्वृत>प्रा० णिव्विच
निवेस	,,	निवेश>प्रा० णिवेस
निवेसइं	,,	निवेशयति>प्रा० णिवेसइ
निश्चइ	,,	निश्चय
निसंबला	प्रा०	निस्+संबल
निसुणि	सं०	निश्रृणोति>प्रा० णिसुणइ
निसिभरी	,,	निशाभरे
निहालि	,,	निभालयति>प्रा० णिहालेइ
निहणीय	,,	निहन्ति
निहाइ	,,	निघात>प्रा० णिहाअ
नीकली	,,	निष्कलयति>प्रा० णिक्कलेइ
नीगमइ	,,	निर्गमयति>प्रा० णिग्गमेइ
नीझणी	,,	निर्ध्वनि>प्रा० निज्झणि
नीझर	,,	निर्झर>प्रा० णिज्झर
नीठर	,,	निष्ठुर>प्रा० णिट्ठुर
नीद्र	,,	निद्रा>प्रा० णिद्दा
नीद्रभरि	,,	निद्रा+भरेण
निपंज	,,	निष्पद्यते>प्रा० णिप्पज्जइ
नीपनउ	,,	निष्पन्न>प्रा० णिप्पण्ण
नींमीउ	,,	निर्मित>प्रा० णिम्मिअ
नीरु	,,	नीर
नीरज	,,	नीरज
नारद	,,	नीरद
नीलज	,,	निर्लज्ज>प्रा० णिल्लज्ज
नीली	,,	नील
नीसंक	,,	निःशङ्कम्>प्रा० णिस्संक

नीसत	सं० नि:सत्त्व >प्रा० निस्सत्त
नीसरइ	,, नि:सरति>प्रा० णिस्सरइ
नासाण	,, निस्स्वान >प्रा० णिस्साण
नूंपुर	,, नूपुर>प्रा० णूउर
नृत्यकारी	,, नृत्यकारिणी
नृपहो	,, नृप
नृपतइं	,, नृपति
नेउर	,, नूपुर
नेठाउ	,, निस्थात>प्रा० णिट्ठाइ
नेमि	,, नेमि, नियम>प्रा० णिअम
नेसाल	,, लेखशाला >प्रा० लेहसाल
नेहु	,, स्नेह
नेहिय	,, स्निह्यति
नैव	,, न+एव
पइठउ	,, प्रविष्ट >प्रा० पइट्ठ, पविट्ठ
पइदिणि	,, प्रतिदिने >प्रा० पइदिणम्मि
पइसइ	,, प्रविशति>प्रा० पइसइ
पउढाडउ	,, प्रौढायते (?)
पउयाणि	शुद्धपाठ पओयणि सं० प्रयोजने
पक्वांनु	सं० पक्वान्न
पक्खर	प्रा० पक्खर
पक्खाउज	सं० पक्षातोद्य>प्रा० पक्खाउज्ज
पक्खिया	,, पक्षिका:>प्रा० पक्खिअ
पखीया	,, पक्षिन्
पख	,, पक्ष >प्रा० पक्ख
पगार	,, प्राकार: >प्रा० पागारो, पायारो
पगि	,, पदक>प्रा० पअग
पंख	,, पक्ष>प्रा० पक्खि
पच्छेवाणु	,, पश्चात्+स्वन
पंच	,, पंचन्
पंचावनि	,, पञ्चपञ्चाशत्

पचेंद्री	सं० पञ्चेन्द्रिय
पंच्यासीइ	,, पञ्चाशीति>प्रा० पंचासीइ
पइखतउ	,, पतीक्षते>प्रा० पडिक्खइ
पडवढहु	,, प्रतिपदथ=प्रतिपद्यध्वम्>प्रा० पडिवढहु
पढहु	,, पटह>प्रा० पढहो
पडिवज्जु	,, प्रतिपद्यते>प्रा० पडिवज्जइ
पडिहाइ	,, प्रतिभाति>प्रा० पडिहाइ
पडिहारु	,, प्रतिहार>प्रा० पडिहारो
पढइ	,, पठति
पढम	,, प्रथम>प्रा० पढम
पणमइ	,, प्रणमति
पणासइं	,, प्रनश्यते>प्रा० पणस्सइ
पणि	,, पुनः अपि>प्रा० पुणवि
पंडव	,, पाण्डव>प्रा० पंडव
पंडु	,, पाण्डु>प्रा० पंडु
पत्थु	,, पार्थ>प्रा० पत्थ
पदु	,, पद
पदमसरि	,, पद्मश्री
पंथ	,, पथिन्
पमुह	,, प्रमुख>प्रा० पमुह
पय	,, पद>प्रा० पय
पयठउ	,, प्रविष्ट>प्रा० पइट्ठ
पयडउ	,, प्रकटकः>प्रा० पयडओ>अप० पयडउ
पयंडु	,, प्रचण्ड>प्रा० पयंड
पयसियइ	,, प्रवेशयति
पयालि	,, पाताल>प्रा० पायाल>पयाल
पयासिउ	,, प्रकाशित>प्रा० पयासिय
पयोदु	,, पयोद
पयोहर	,, पयोधर>प्रा० पयोहर
परठीउ	,, प्रतिष्ठापितः>प्रा० पइट्ठविओ
परणउ	,, परिणयति>प्रा० परिणेइ

परदलि	सं० परदल
परदेसडइ	,, परदेश > प्रा० परदेस
परधान	,, प्रधान
परभवि	,, परभव
परभवइ	,, परिभव
परभवी	,, परिभवित > प्रा० परिहविअ
परभावइं	,, प्रभाव
परमाणंदो	,, परमानन्द > प्रा० परमाणंदो
परमाधामी	,, परमाधार्मिक
परमेठि	,, परमेष्ठिन् > प्रा० परमेट्ठि
परमेसरु	,, परमेश्वर > प्रा० परमेसर
परवसि	,, परवश्य
परवाली	,, प्रवालिका
परही	,, परस्मिन्
पराए	,, परकस्मिन्
पराण	,, प्राण
पराणउ	,, प्राण
पराभव	,, पराभव
पराभवी	,, पराभवते
परि	,, उपरि > अप० उप्परि
परिक्खइ	,, परीक्षते > प्रा० परिक्खइ
परिखां	,, परीक्षा
परिखलइ	,, परिस्खलति > प्रा० परिखलइ
परिणउ	,, परिणयति
परिदलि	,, परदले
परिभव	,, परिभव
परिभवी	,, परिभूता
परिवाडी	,, परिपाटी > प्रा० परिवाडी
परिवारिहिं	,, परिवार
परिवारीय	,, परिवारयति
परिवेषण	,, परिवेषण

परिहरउ	सं० परिहरति>प्रा० परिहरइ
परीठवीउ	,, पर्यंवस्थापित>प्रा० पज्जवट्ठिअ
परीसइं	,, परिवेषयति>प्रा० परिवेसइ
परीयणि	,, परिजन>प्रा० परिअण
पलंतु	,, पलायमान
पलाणउ	,, पर्याणयति>प्रा० पल्लाणइ
पलाति	,, पलायन
पलासि	,, पल+अशिन्>प्रा० पलासि
पल्लेइ	,, प्रलोकयति>प्रा० पलोअइ
पल्लवि	,, पल्लव
पलाति	,, पलायिति
पलासि	,, पल+अशिन्
पवण	,, पवन >प्रा० पवण
पवनइ	,, पवन
पवाचिउ	,, प्रवाचित>प्रा० पवाइअ
पसरि	,, प्रसर
पसरि	,, प्रसरति >प्रा० पसरइ
पसाउ	,, प्रसाद >प्रा० पसाअ
पसारिय	,, प्रसारयति
पसुबंधन	,, पशुबंधन
पहर	,, प्रहर >प्रा० पहर
पहावरिउ	,, पथावृत
पहारिं	,, प्रहार
पहिरीजइ	,, परिदधाति>प्रा० पहिरइ
पहिलउं	,, प्रथिल्ल>प्रा० पहिल्ल
पहुचई	,, प्रभूत>प्रा० पहुचइ
पह्वीय	,, परस्मिन्
पाउं	,, पाद >प्रा० पाअ
पाउ	,, पाप
पाइं	,, पाययति
पाउधारो	,, पादाधारयत

पाखइ	सं० पक्षस्मिन्
पाखती	,, पक्षती
पागि	,, पादक>प्रा० पाअग
पांख	,, पक्ष>प्रा० पक्ख
पाछुपीलि	,, पश्चात्य>प्रा० पच्छुप्प
पांच	,, पञ्च>प्रा० पंच
पांचमउ	,, पञ्चम>प्रा० पंचम
पांचसइं	,, पञ्च+शतानि>प्रा० पंचसआइं
पाटी	,, पट्टिका>प्रा० पट्टिआ,
पाठविढ	,, प्रस्थापित>प्रा० पट्ठाविअ
पाढ	,, पटह>प्रा० पडह
पाडल	,, पाटला>प्रा० पाडल
पाहु	,, प्राभृत>प्रा० पाहुड
पाणी	,, पानीय>प्रा० पाणीय
पांडु	,, पाण्डु
पातकु	,, पातक
पात्र	,, पातक
पाथरिउ	,, प्रस्तारित>प्रा० पत्थारिअ
पान	,, पर्ण>प्रा० पण्ण
पांति	,, पंक्ति>प्रा० पंति
पापु	,, पाप
पामइ	,, प्रापयति>प्रापति>प्रा० पावेइ
पाय	,, पाद>प्रा० पाअ
पायक	,, पादिक>प्रा० पाइक्क
पायकी	,, पातकिन्>प्रा० पायकी
पायडीउ	,, प्रकटितः>प्रा० पाअडिओ
पाया	,, पायित>प्रा० पाइअ
पायालि	,, पाताल>प्रा० पाआल
पारकी	,, पारकीय>प्रा० पारक्क
पारगइ	,, पारग्ग
पारधी	,, पापर्द्धि>प्रा० पारद्धि

पारधिवसणु	सं० पापर्द्धिव्यसन
पारधीउ	,, पापर्द्धीक
पारा	,, पारद>प्रा० पारअ
पारि	,, पार
पार्थि	,, पार्थं
पालइं	,, पालयति>प्रा० पालइ
पाला	,, पालक>प्रा० पालअ
पालि	,, पालिका>प्रा० पालिआ
पावनि	,, पावन
पाविय	,, प्रापिता>प्रा० पाविअ
पासि	,, पार्श्वे>प्रा० पासम्मि>अप० पासहिं
पासि	,, पाश>प्रा० पासो
पासहरा	,, पाशधरः>प्रा० पासहरो
पाहण	,, पाषाण>प्रा० पाहाण
पाहि	,, पक्षस्मिन्>प्रा० पक्खम्मि
पाहरी	,, प्राहरिक>प्रा० पाहरिअ
पिंढि	,, पिण्ड
पियामहि	,, पितामह>प्रा० पिआमह
पीइं	,, पिबति>प्रा० पिअइ
पीडिउ	,, पीडित>प्रा० पीडिओ
पीठी	,, पिष्टिका>प्रा० पिट्ठिआ
पींढारडे	,, पिण्डहरः
पीत्रीयउ	,, पितृव्य
पीयाणाउं	,, प्रयाणक>प्रा० पायाणअ
पीरीयखि	,, परीक्षित>प्रा० परिक्खिय
पीहरि	,, पितृगृह>प्रा० पिइहर
पुछदंड	,, पुच्छदंड
पुण्यु	,, पुण्य
पुण्यवंति	,, पुण्यवत्
पुत्तु	,, पुच>प्रा० पुच्च
पुत्तु	,, पुत्र

पुदगल	सं० पुद्गल
पुन्न	,, पुण्य > प्रा० पुण्ण
पुरराउ	,, पुरराजः > प्रा० पुरराश्रो > अप० पुरराउ
पुरष	,, पुरुष
पुरिष	,, पुरुष > प्रा० पुरिस
पुरुषु	,, पुरुष
पुरु	,, पुर
पुरु	,, पूरयति
पुरँद्री	,, पुरन्ध्री
पुरोचन	,, पुरोचन
पुलाइ	,, पलायते > प्रा० पलायइ
पुलिदई	,, पुलिन्द
पुवभवि	,, पूर्वभव > प्रा० पुव्वहव
पुहवी	,, पृथिवी, पृथ्वी > प्रा० पुहवि
पुहवीतलि	,, पृथ्वीतल
पूजइ	,, पूर्यते > प्रा० पुज्जइ
पूजउं	,, पूजयामि
पूछइ	,, पृच्छति
पूठए	,, पृष्ठ
पूंठि	,, पृष्ठिका > प्रा० पुट्ठी
पूणइ	,, पूर्णयती > प्रा० पुण्णेइ-पुण्णइ
पूतली	,, पुत्रकः > प्रा० पुत्तलिश्रा
पूत्त	,, पुत्र > प्रा० पुत्त
पूत्रो	,, पुत्र
पूरइ	,, पूरयति > प्रा० पूरइ
पूरो	,, पूर > प्रा० पूर
पूरव	,, पूर्व
पूरविलइ	,, पूर्विल्ल
पूराविया	,, पूरायित
पेखइ	,, प्रेक्षते > प्रा पेक्खइ
पेट	,, पिटक > प्रा० पट्ट, पिट्ट

पेलइ	प्रा०	पेल्लइ
पेलावेली	सं०	प्रेरापेरि
पोकारु	,,	पुत्कार>प्रा० पुक्कार
पोलि	,,	प्रतोली>प्रा० पश्रोलि
प्रकटसरीर	,,	प्रकटशरीर
प्रकासि	,,	प्रकाश>प्रा० प्रकास
प्रज	,,	प्रजा
प्रणामी	,,	प्रणामति>प्रा० पणामइ
प्रतपु	,,	प्रतपति>प्रा० पतवइ
प्रतिमल्ल	,,	प्रतिमल्ल
प्रतीठिउ	,,	प्रतिष्ठित>प्रा० पइट्ठिश्र
प्रभ	,,	प्रभु
प्रभावइं	,,	प्रभाव
प्रमाणु	,,	प्रमाण
प्रियंवदु	,,	प्रियंवद
प्रयुंज्या	,,	प्रयुञ्जित
प्रलउ	,,	प्रलय
प्रवहण	,,	प्रवहण
प्रवाहिउ	,,	प्रवाहयति>प्रा० प्रवाहेइ
प्रवेस	,,	प्रवेश > प्रा० प्रवेस
प्रसंसा	,,	प्रशंसा > प्रा० प्रसंसा
प्रसिद्धउ	,,	प्रसिद्ध
प्रसिद्धिइं	,,	प्रसिद्धि
प्रस्तावि	,,	प्रस्ताव
प्रह	,,	प्रभा > प्रा० पहा
प्राणि	,,	प्राण
प्रसादु	,,	प्रासाद
प्रियदाहि	,,	प्रियदाह
प्रियमेलउ	,,	प्रियमेलक>प्रा० पिश्रमेलश्र
प्रीमि	,,	प्रेमन्
प्रीय	,,	प्रिय

फ

फण	सं० फण > प्रा० फण
फणमंडप	,, फण + मण्डप
फरी	हिं० फिर
फलहली	सं० फुल्लपौलिका > प्रा० फुल्लओलिअ, हिं० फुलौरी
फलंति	,, फलति > प्रा० फलइ
फलि	,, फल
फांडइ	,, स्पन्द > प्रा० फंद
फाल	,, स्फालयति > प्रा० फालिअ
फारक	,, स्फारक > प्रा० फारक
फणिंदु	,, फणीन्द्र > प्रा० फणिंद
फरसराम	,, परशुराम
फूटइं	,, स्फुट्यते > प्रा० फुट्टइ
फूलि	,, फुल्ल
फेट	,, स्फेट > प्रा० फेड
फेडइ	,, स्फेटयति
फेरिउं	,, स्फेरयति > प्रा० फेरण
फोडइ	,, स्फोटयति > प्रा० फोडेइ

ब

बइठऊ	सं० उपविष्ट > प्रा० उवइट्ठ
बइतालीस	,, द्वि-द्वा-चत्वारिंशत्
बइसइ	,, उपविशति > प्रा० उवइसइ > अप०बईसइं
बक	,, बक
बटुया	,, बटुक > प्रा० बडुअ
बंदीयण	,, बन्दिजन > प्रा० बंदिअण
बत्रीस	,, द्वात्रिंशत् > प्रा० बत्तीस
बद्धइ	,, बद्ध
बंधव	,, बान्धव
बंधुर	,, बन्धुर
बंभण	,, ब्राह्मण > प्रा० बंभण
बंभणवेषि	,, ब्राह्मणवेशेन

बंभंड	सं० ब्रह्मांड>प्रा० बंभंड
बलु	,, बल
बलबंधु	,, बल+बन्ध
बलवंतु	,, बलवत्
बलि	,, बलिन्
बलिभद्रि	,, बलभद्र
बलीअ	,, बलिन्>प्रा० बलिअ
बल्लवु	,, बल्लव
बहचरि	प्रा० बिसचरि, बावचरि, हिं० बहचर
बहिन	सं० भगिनि>प्रा० भइणी
बहूय	,, बहु
बाइ	प्रा० बाइआ
बाणु	सं० बाण
बाणावली	,, बाण+आवली
बांणपंजरि	,, बाण+पञ्जर
बादर	,, बादर
बाधउ	,, बद्ध
बांधव	,, बंधव
बाबर	,, बर्बर>प्रा० बब्बर
बार	,, द्वादश>प्रा० दुवादस
बार	,, द्वार>प्रा० दुवार, दार
बाल	,, बाला
बालिय	,, बालिका>प्रा० बालिआ>अप० बालिअ
बालो	,, बाल>प्रा० बालो
बाहुशृंगार	,, बाहु+शृंगार
बि	two
बिमणी	सं० द्विगुणा>प्रा० बिउणा
बीजउ	,, द्वितीयकः>प्रा० बिइजओ
बीझउं	,, बिभ्यामि
बीडां	,, वीटक>प्रा० बीडग
बीहइं	,, बिभति>प्रा० बिहेइ

बीहावीयउ	सं० भीतापितेति > प्रा० बीहाविश्रेइ
बुद्धि	,, बुद्धि
बुंब	प्रा० बुंबा
बूझइ	सं० बुध्यति > प्रा० बुज्झइ
बूडा	प्रा० बुड्डइ, हिं० बूड़ना
बृहन्नडा	सं० बृहन्नला
बेइन्द्रिय	बे + सं० इन्द्रिय
बेटउ	प्रा० बिट्ट
बेटी	,, बिट्टी
बेडी	सं० बेडा > प्रा० बेड
बेडीवाहा	,, बेडावाहक > प्रा० बेडीवाहश्र
बेलि	प्रा० बइल्ल
बोकड	,, बोकड
बोधि	सं० बोध
बोधिलाभ	,, बोधिलाभ
बोबीउ	,, बोधित > प्रा० बोधिश्र

भ

भइंसि	सं० महिषी > प्रा० महिसी
भक्ष	,, भक्ष्य
भक्ष्य	,, भक्ष्य
भगताविउ	प्रा० भुगतावइ
भगति	सं० भक्ति
भगदत्तु	,, भगदत्त
भंजइ	,, भंजति > प्रा० भंजइ
भट्टु	,, भट्ट
भड	,, भट > प्रा० भड
भडिवाउ	,, भट + वाद > प्रा० भडवाश्रो
भडरथ	,, भ्रष्ट > प्रा० भट्ठ
भडिश्र	,, भ्रष्टिता > प्रा० भट्ठिश्रा
भडी	,, भट
भणावइ	,, भणापयति > प्रा० भणावइ

भंडार	सं० भाण्डागार>प्रा० भंडाआर
भतारो	प्रा० भत्तु
भद्रिउं	सं० भद्रित>प्रा० भद्दिअ
भमइ	,, भ्रमति>प्रा० भमइ
भमाड्या	,, भ्रमाटिता>प्रा० भमाडिआ
भमरडउ	,, भ्रमर>प्रा० भमर+डउ
भयणि	,, भगिनी>प्रा० भइणी
भरई	,, भरति>प्रा० भरइ
भराविया	,, भरापितानि
भरहखंड	,, भरतखंड>प्रा० भरह+खंड
भरि	,, भर
भलखंड	,, भल्ल+खंड
भवसउ	,, भव+शत>अप० भव+सउ
भवनि	,, भवन
भविक	,, भव्य>प्रा० भविअ
भविय	,, भव्य>प्रा० भविअ
भाइगु	,, भाग्य
भाउ	,, भाव>अप० भाउ
भाख	,, भाषा
भागि	,, भाग
भाण	,, भानु>प्रा० भाणु
भाथा	,, भस्त्र
भामिणि	,, भामिनी>प्रा० भामिणी
भारमाली	,, भार+मालिन् (?)
भारी	,, भार+इन्
भालइ	,, भल्लानि
भालडी	,, भल्ली+ड
भावि	,, भाव
भासइ	,, भाषते>प्रा० भासइ
भिउड	,, भ्रुकुटि>प्रा० भिउडि
भिडइ	,, भिटति

भितरि	सं० अभ्यन्तरे
भिल्ल	,, भिल्ल
भीजइ	,, भिद्यते > प्रा० भिज्जइ
भीतरि	,, हिं भीतर
भीनउ	,, भिन्नक, भिन्नित
भीनी	,, अभ्यज्यते
भीमसेनु	,, भीमसेन
भीमि	,, भीम
भीमली	,, विह्वला > प्रा० भिब्भल
भीलि	,, भिल्ल
भुइ	,, भूमि
भुजाबलि	,, भुज + बल
भुय	,, भुज > प्रा० भुअ, भुय
भुयणि	,, भुवन > प्रा० भुअण
भूचरु	,, भूचर
भूपइ	,, भूप
भूपालि	,, भूपाल
भूमि	,, भूमि
भूयबलि	,, भुजबल
भूरइ	,, भूरवस् > प्रा० भूरअ
भूरिश्रवा	,, भूरिश्रवस्
भूलई	प्रा० भुल्लिआ
भूवलइ	सं० भूवलय
भेउ	,, भेद > प्रा० भेअ
भेट	,, भिटति > प्रा० भिट्टा, भिडइ
भेटिउ	प्रा० भिट्टिज्जइ
भेदि	सं० भेद
भेद्या	,, भेदिता > प्रा० भेइआ
भेरि	,, भेरी
भेली	,, भिन्नति > प्रा० भिल्लइ
भोअण नंदन	,, भुवननंदन

भोगल	सं० भूमि + अर्गला > प्रा० अग्गला
भोगवि	हिं० भोगना
भोबनु	सं० भोजन
भोज्य	,, भोज्य
भोलवी	प्रा० भोलवइ
भ्रंति	सं० भ्रान्ति > अप० भंति

म

मइण	सं० मदन > प्रा० मअण
मउड	,, मुकुट > प्रा० मउड
मउरी	,, मुकुलिता > प्रा० मउलिअ
मओलीआं	,, मौलिकानी > प्रा० मउलिआइं
मग्गइ	,, मार्गति > प्रा० मग्गइ
मग्गि	,, मार्ग > प्रा० मग्ग
मचइं	,, माद्यति > प्रा० मजइ
मच्छइ	,, मत्स्य > प्रा० मच्छ
मझ	,, मह्यम् > प्रा० मज्झं > अप० मज्झु
मज्झारि	,, मध्यकार्ये
मंजावइ	,, मार्ष्टि > प्रा० मजइ
मंजूस	,, मंजूषा > प्रा० मंजूसा
मढ	,, मठ > प्रा० मठ
मणसमाधि	मण + सं० समाधि
मणा	सं० मनाक् > प्रा० मणा
मणि	,, मनस् > प्रा० मण
मणिमइ	,, मणिमय
मणिचूडु	,, मणिचूड
मणुय	,, मनुज > प्रा० मणुअ
मणूअ	,, मनुजानाम् > अप० मणुयहं
मणोरथ	,, मनोरथ
मणोरहु	,, मनोरथ > प्रा० मणोरह
मणोहर	,, मनाहर > प्रा० मणोहर
मंढ	प्रा० मड्ढा = सं० बलात्कार आज्ञा

मंडइ	सं० मंडयति>प्रा० मंडइ
मंडण	,, मण्डन
मंडपि	,, मंडप
मंडव	,, मंडप>प्रा० मंडव
मत्सर	,, मत्सर
मत्स्यदेसि	,, मत्स्यदेश
मद्रधूय	,, मद्र+धूय (= सं० दुहिता)
मद्री	,, माद्री
मधुकरि	,, मधुकरी
मन	,, मनस्>प्रा० मणो
मनचींतिउ	,, मनस्+चिन्तित
मनमथ	,, मन्मथ
मनमोर	,, मन+मोर
मनरखि	,, मनस्+रखेन
मनसाल	,, मनः+शल्य
मनाविसु	,, मानयति>प्रा० माणेइ
मनिशउ	,, मनीषा
मनु	,, मनुज>प्रा० मणुअ>अप० मणुयइ
मनुष	,, मनुष्य
मंत्र	,, मंत्र
मंत्रीसर	,, मन्त्रिन्+ईश्वर
मंदिरि	,, मन्दिर
मंदिरडउं	,, मन्दिर+डउं
मन्नइं	,, मन्यते>प्रा० मण्णइ
मम	,, म+म
मयगल	,, मदकल>प्रा० मयगल
मयण	,, मदन>प्रा० मयण
मयणातुर	,, मदन+आतुरा
मरइ	,, मरते>प्रा० मरइ
मरमु	,, मर्मन्
मरणु	,, मरण

मऊउ	सं॰ मुकुल>प्रा॰ मउर
मलिउ	,, म्रदति, मृदति >प्रा॰ मलइ, मलेइ
मसवाडउ	,, मासवृत्तक>प्रा॰ मासवड्डुग्र
मसा	,, मशक>प्रा॰ मसग्र
मसाण	,, श्मशान>प्रा॰ मसाण
मखि	,, मषी>प्रा॰ मखि
मस्तकु	,, मस्तक
महतउ	,, महत्>प्रा॰ महंत>ग्रप॰ महंतउ
महातपि	,, महातपस्
महारिखि	,, महा + ऋषि
महाविदे	,, महाविदेह
महासईय	,, महासती>प्रा॰ महासईय
महाहवि	,, महाहव
महिम	,, महिमन्
महियां	,, मथित>प्रा॰ महिग्र
महुर	,, मधुर>प्रा॰ महुर
महेलीय	प्रा॰ महेला
महोच्छव	सं॰ महा+उत्सव>प्रा॰ महोच्छव
माइ	,, माति>प्रा॰ माइ
माउलउ	,, मातुल>प्रा॰ माउल
माखी	,, मक्षिका>प्रा॰ मक्खिग्रा, मच्छिग्रा
मागइ	,, मार्गति>प्रा॰ मग्गइ
मागु	,, मार्ग>प्रा॰ मग्ग
मार्ग्गण	,, मार्गण
माछिली	प्रा॰ मच्छ + इल्ली
माज्झिले	सं॰ मध्यमे>प्रा॰ मज्झिमम्मि
माझिला	,, मध्य + इल
माटि	,, मृत्तिका>प्रा॰ मृट्टिग्रा
माडी	प्रा॰ माग्र + डी
माणउं	,, मानयामि

माणुस	प्रा० मानुष>प्रा० माणुस
माणिक	,, माणिक्य>प्रा० माणिक
माणु	,, मान>प्रा० माण
माणुसहं	,, मानुष, मनुष्य
माणुसहाणि	,, मानुषप्राणिका>प्रा० माणुसपाणिश्रा
मांडणी	,, मण्डनिका>प्रा० मंडणिश्रा
मांडी	,, मण्डिका>प्रा० मंडिश्रा
मातउ	,, मत्तक>प्रा० मत्तश्र
माथउं	,, मस्त>प्रा० मत्थ, मत्थश्र
मादल	,, मर्दल>प्रा० मद्दल
मानइ	,, मानयति>प्रा० माणेइ
मानती	,, मन्यते>प्रा० मण्णइ
मानु	,, मान
मानवी	,, मानवी
मांम	,, माम
माया	,, माया
मायापासु	,, माया + पाशः
मारइ	,, मारयति>प्रा० मारेइ
मारु	,, मार
मारा	,, मार
मारग	,, मार्ग
मालति	,, मालती
मालवदेस	,, मालवदेश
मालव राउ	,, मालवराज
मावीत्रइ	,, मातृ + पितृ
मासे	,, मास
माहि	,, मध्ये ?
माहोमाहि	,, मध्यस्य, मध्यस्मिन्
मित्तइ	,, मित्र>प्रा० मित्त
मियच्छि	शुद्धपाठ मिच्छि (सं०) मिथ्या (सं० रा० ६५)
मिसु	,, मिष>प्रा० मिस

मिल्हिय	प्रा० मेल्लइ
मिहर	सं० मिहिर
मीठीय	,, मृष्ट > प्रा० मिट्ठ
मुकति	,, मुक्ति
मुकलावइ	,, मुक्त + ल > प्रा० मुक्कल, मोकलइ
मुकुंदिइं	,, मुकुन्द
मुखिइं	,, मुख
मुगति	,, मुक्ति
मुचकोडी	,, मुचत् + कृत
मुणिवर	,, मुनिवर > प्रा० मुणिवर
मुणिंद	,, मुनीन्द्र > प्रा० मुणिंद
मुणाइ	,, मनुते > प्रा० मुणइ
मुनि	,, मणि, मुनि
मुंद्र	,, समुद्र
मुरकीय	प्रा० मुरुक्कि
मुरारी	सं० मुरारि
मुहकाणि	,, मुखविकूणन > प्रा० मुहकहाणिश्रा
मुहडु	,, मुख + ड > प्रा० मुहड
मुहरां	,, मुख > प्रा० मुह + ल
मुहतानंदन	मुहता + सं० नंदन
मुहरइं	सं० मुख + ड > प्रा० मुहड
मुहा	,, मुधा > प्रा० मुहा
मूउ	,, मृत > प्रा० मश्र
मूंकइ	,, मुक्त
मूझइ	,, मुह्यति > प्रा० मुज्झइ
मूंछ	,, श्मश्रु > प्रा० मंसु
मूंछीयइं	,, मूर्च्छति > प्रा० मुच्छइ
मूंढ़	,, मूढ
मूरख	,, मूर्ख
मूरखचट्ट	,, मूरख + चट्ट
मूरति	,, मूर्ति

मूरतिवंतउ	,, मूर्तिमत्
मूलगउ	,, मूलगत>प्रा० मूलगअ
मूली	,, उन्मूलिता>प्रा० उम्मूलिआ
मृत्य	,, मृत्यु
मृत्यलोक	,, मृत्युलोक
मृगनाभिइं	,, मृगनाभि
मृगलोअणि	,, मृगलोचना>प्रा० मिअलोअणी
मेघाडंबर	,, मेघ+आडम्बर
मेचु	,, मिथ्य>प्रा० मिच्छ
मेलि	,, मेल
मेलावउ	,, मेलापक
मेली	,, मेलयति
मोटा	,, महत्>प्रा० मुट्ट
मोडइ	,, मोटन>प्रा० मोडेइ
मोती	,, मौक्तिक>प्रा० मोत्तिय
मोदिक	,, मोदक
मोहइ	,, मोहयति
मोहनी	,, मौहराज

य

यशोधर	सं० यशोधर
यादवराइं	,, यादवराजेन
युधिष्ठिर	,, युधिष्ठिर
युद्धत्रि	,, युद्धमत्र
यम	अप० इम
यम	मृत्यु के देवता

र

रइहीणु	सं० रतिहीन
रखवाल	,, रक्षापाल>प्रा० रक्खवाल
रखि	,, रक्षति>प्रा० रक्खइ
रंकु	,, रङ्क
रंगणि	रंग+अंगणि

रंगभूमि	सं०	रंगभूमि
रचइ	,,	रचयति
रज	,,	रजस्
रंजग	,,	रञ्जन > प्रा० रंजण
रढइ	,,	लुठति
रणरसु	,,	रणरस
रणवाइ	,,	रणवाद > प्रा० रणवाश्र
रणकीआं	,,	रणत् + कृतानि > प्रा० रणकिश्राइं
रतन	,,	रत्न
रतनभरी	,,	रत्नभरिता > प्रा० रयण भरिश्रा
रतिवाउ	,,	रात्रिपातं > प्रा० रत्तिवाश्रं
रथालि	,,	रथ + आली
रथु	,,	रथ
रमणि	सं०	रमणी
रमलि	,,	रमणिका > प्रा० रमणिश्रा, रमलिश्रा
रमापति	,,	रमापति (लक्ष्मीपति)
रंभ	,,	रंभा
रयणउरु	,,	रत्नपुर > प्रा० रयणउर
रयणमए	,,	रत्नमयी > प्रा० रयणमई
रयणसिहरु	,,	रत्नशेखर > प्रा० रयणसेहर
रयणाएरु	,,	रत्नाकार > प्रा० रयणायर
रयणावली	,,	रत्नावली > प्रा० रयणावली
रयणीय	,,	रजनी > प्रा० रयणी
रली	,,	रति > प्रा० रयलि
रलीउ	हिं०	रलना
रविनंदन	सं०	रविनंदन
रसाउलु	,,	रसाकुल > प्रा० रसाउल
रसाल	,,	रस + आर्द्र > प्रा० रस + अल्ल
रसिका	,,	रसिका
रसंत	,,	रसति
रहवइ	,,	रथपति > प्रा० रहवइ

रहइ	सं० रहति > प्रा० रहेइ, रहइ
रहावइ	,, रक्षापयति > प्रा० रक्खावइ
राउ	,, राजा > प्रा० राओ > अप० राउ
राउत	,, राजपुत्र > प्रा० रायपुत्तो, राउत्तो
राखइ	,, रक्षति > प्रा० रक्खइ
राखडी	,, रक्षिका > प्रा० रक्खिआ + ड
राखसु	,, राक्षसः > प्रा० रक्खस
राक्षिसि	,, राक्षस
राखसि	,, राक्षसी > प्रा० रक्खसी
राखसपुरि	,, राक्षसपुरि > प्रा० राखसपुरि
रागु	,, राग
रांक	,, रङ्क
राचइ	,, रक्तति > प्रा० रचइ
राज	,, राजन्
राजु	,, राज्य > प्रा० रज्ज
राजकुंअरि	,, राजकुमारी
राजरिद्धि	,, राज + ऋद्धि
राजसभा	,, राजसभा
राजीमति	,, राजीमति
राज्यकला	,, राज्यकला
राडि	,, राति > प्रा० राडि
राणाउ	,, राज्ञक > प्रा० रण्णाओ
राणिम	,, राज + इम > प्रा० राण + इम'
राणी	,, राज्ञी > प्रा० रण्णी
रांडी	,, रण्डा > प्रा० रण्डा,
राति	,, रात्रि > प्रा० रत्ति
रातउ	,, रक्त-रक्तक > प्रा० रत्तउ
राधा	,, राधा
राधावेधु	,, राधावेध
रानु	,, अरण्य > प्रा० अरण्ण
रामलि	,, रम्य + लि > प्रा० रम्म + लि

रामति	सं० रम्यति>प्रा० रम्मति
रायकूंयर	,, राजकुमार>प्रा० राअकुमर
रायणि	,, राजादनी>प्रा० रायणी
राव	,, राव
राशि	,, राशि
राहवउ	,, रक्षापयति>प्रा० रक्खावइ
राहावेहु	,, राधावेध>प्रा० राहावेह
रिण	,, रण
रितुपति	,, ऋतु+पति
रिद्धि	,, ऋद्धि>प्रा० रिद्धि
रिषि	,, ऋषि>प्रा० रिसि
रिसह	,, ऋषभ>प्रा० रिसह
रिसहेसरो	,, ऋषभेश्वर>प्रा० रिसहेसर
रीझउं	,, ऋध्यति>प्रा० रिज्झइ
रीद्ध	,, ऋद्धि>प्रा० रिज्झि
रीरी	,, रिरी>प्रा० रीरी
रीस	,, रुष्>प्रा० रुसा
रुकमणि	,, रुक्मिणी
रुडेइ	,, लोटयति>प्रा० रोडइ
रुलवां	,, लुटति>प्रा० रुलइ
रुंख	,, रुक्ष>प्रा० रुक्ख
रुडुं	,, रुप>प्रा० रुअ
रूठउ	,, रुष्टक>प्रा० रुट्ठअ
रूंधइ	,, रुद्धक, रुंधति>प्रा० रुद्धअ, रुंधइ>अप० रुद्धउ
रूपरेह	,, रूपरेखा>प्रा० रूपरेह
रूपवति	,, रूपवती
रूय	,, रुप>प्रा० रूअ
रूयवंत	,, रूपवती>प्रा० रूयवंती
रूसइ	,, रुष्यति>प्रा० रूसइ
रेखा	,, रेखा
रेवति	,, रैवतक

रैवत	सं० रैवतक
रोझ	,, ऋश्य>प्रा० रोज्झ
रोडउं	,, लोटयामि>प्रा० रोडमि
रोपइं	,, रोपयति>प्रा० रोपेइ
रोमंच्या	,, रोमाञ्चिताः>प्रा० रोमंचिआ
रोलइ	,, लोटति>प्रा० लोडइ
रोलि	प्रा० रोल
रोयइं	सं० रोदिति>प्रा० रोदइ
रोस	,, रोष>प्रा० रोस
रोसारुणु	,, रोषारुण>प्रा० रोसारुण
रोह	,, रोष>प्रा० रोह

ल

लखु	सं० लक्ष>प्रा० लक्ख
लगउं	,, लग्न>प्रा० लग्ग
लग्गइ	,, लग्यति>प्रा० लग्गइ
लगन	,, लग्न
लंघिसिइ	,, लंघति>प्रा० लंघइ
लच्छिनिवास	,, लक्ष्मीनिवास>प्रा० लच्छिणिवास
लच्छी	,, लक्ष्मी>प्रा० लच्छी
लंछणि	,, लक्ष्मन्, लांछन>प्रा० लच्छन
लड़ावइं	,, ललति, लडति>प्रा० लाळेइ
लवणिम	,, लवणिमन्>प्रा० लवणिम
लषमी	,, लक्ष्मी>प्रा० लक्खी
लसण	,, लशुन>प्रा० लसुण
लहकइ	,, लसत्+कृत
लहु	,, लघु>प्रा० लहु
लाइयइ	,, लागयति>प्रा० लाएइ>अप० लाइवि=लागयित्वा
लाख	,, लक्ष>प्रा० लक्ख
लाख	,, लाक्षा>प्रा० लक्खा
लाखहरु	,, लाक्षागृह>प्रा० लक्खाहर
लांखइ	,, नंक्षति>प्रा० नंखइ

लाछि	सं० लक्ष्मी>प्रा० लच्छी
लाज	,, लज्जा>प्रा० लज्जा
लाजउं	,, लज्जते>प्रा० लज्जइ
लाडण	,, लालन>प्रा० लाडणा
लाडण	,, लालनी>प्रा० लाडणी
लाडी	,, लाल्या>प्रा० लड्डिआ
लाध	,, लब्धि>प्रा० लद्धि
लापसी	,, लप्सिका>प्रा० लप्पसिआ
लाभइ	,, लभ्यते>प्रा० लब्भइ
लावर	,, लवितृ>प्रा० लाविर
लिइं	,, लाति>प्रा० लेइ
लाखारांमि	,, लक्षाराम>प्रा० लक्खाराम
लिखिउं	,, लिखित>प्रा० लिखिअ
लिपइ	,, लिम्पति>प्रा० लिंपइ
लिविउं	,, लिपित>प्रा० लिविअ
लिहीबइ	,, लिखति>प्रा० लिहइ
लीउ	,, लातः
लीया	,, लाति>प्रा० लेइ
लीलविलास	,, लीलाविलास,
लुंलुणाडइ	,, न्युब्छकं
लुणाइ	,, लुनाति>प्रा० लुणइ
लूहेवा	,, लूषयति>प्रा० लूहइ
लूसइ	,, लूषयति>प्रा० लूसेइ, लूसइ
लूगड	,, रुग्ण>प्रा० लुग्गो
लोकु	,, लोक
लोच	,, लोच
लोटी	,, लोटति>प्रा० लुट्टइ

व

वइरी	सं० वैरिन्>प्रा० वइरी
वउल	,, बकुल>प्रा० बउल
वखाण	,, व्याख्यान>प्रा० वक्खाण

वखाणइ	,, व्याख्यान>प्रा० वक्खाणइ
वगोरइं	,, विकुर्वति>प्रा० विउव्वइ
वघारिउं	,, व्याघारित>प्रा० वग्घारिअ
वचनि	,, वचन
वचाइं	,, वाचयति>प्रा० वाएइ
वच्छुरी	,, वत्सर>प्रा० वच्छर
वछूटी	,, विक्षुभ्यति>प्रा० विच्छुहइ
वछेदिइं	,, विच्छेद
वछोडइ	,, विच्छोटयति>प्रा०, अप० विच्छोडइ
वछोहां	,, विक्षोभ=वियोग>प्रा० विछोह
वजमओ	,, वज्रमयः>प्रा० वज्रमओ
वजसरीरु	,, वज्रशरीर
वंचइ	,, वञ्चयति>प्रा० वंचेइ
वंझि	,, वन्ध्या>प्रा० वंज्झा
वटेवाहू	,, वर्त्मकवाहक>प्रा० वट्टअवाहओ
वढी	,, वर्धते>प्रा० वड्ढइ
वणचरि	,, वनचर
वणराइ	,, वनराजि>प्रा० वणराइ
वणवासु	,, वनवास
वणस्सइ	,, वनस्पति>प्रा० वणस्सइ
वणिजारा	,, वाणिज्य+कारः, प्रा० वाणिज+आरो
वदनि	,, वदन
वदीतउ	,, विदितक
वद्धावइ	,, वर्धापयति>प्रा० वद्धावेइ
वनु	,, वन
वनी	,, वनी
वनचरु	,, वनचर
वनंतरि	,, वनान्तर
वनवासु	,, वनवास
वनरवालि	,, वन्दनमालिका>प्रा० वंदणमालिआ>अप० वाणर-मालिअ

वन्नीयए	सं० वर्ण्यते>प्रा० वण्णियइ
वंदिअ	,, वन्दते>प्रा० वंदइ
वरचीउं	,, विरचित>प्रा० विरचिअ
वरतइ	,, वर्त
वरय	,, वरइ>प्रा० वरय
वरस	,, वर्षान्ते>प्रा० वरिस
वरसंति	,, वर्षान्ते
वरसति	,, वर्षति>प्रा० वरिसइ
वरि	,, उपरि>प्रा० उप्परि
वयण	,, वचन>प्रा० वयण
वयण	,, वदन>प्रा० वयण
वयर	,, वैर>प्रा० वइर
वयराट	,, वैराट [विराट् का राजा]
वयरी	,, वैरिन्
वरइ	,, वृ=वरति>प्रा० वरइ
वरु	,, वर
वरूउ	,, विरूप>प्रा० विरूव
वलइ	,, वलते>प्रा० वलइ
वलि	,, वलति
वल्लभ	,, वल्लव
वल्लइउ	,, वल्लभ>प्रा० वल्लइ
वल्लही	,, वल्लभा>प्रा० वल्लहा, वल्लही
वश्य	,, वश्या
वसइ	,, वसति>प्रा० वसइ
वसणु	,, व्यसन>प्रा० वसण
वशि	,, वशे>प्रा० वसम्मि
वसन	,, वसन
वस्तिग	,, वस्तु+इक
वंस	,, वंश>प्रा० वंस
वहइ	,, वहति>प्रा० वहइ
वहू	,, वधू>प्रा० वहू

वाउ	सं० वात, वायु > प्रा० वाअ
वाउकाई	,, वायुकाय > प्रा० वाउकाय
वाउलउ	,, वातुल > प्रा० वाउल
वाग	,, वाच् > प्रा० वाअ
वागुरीय	,, वागुरिक > प्रा० वागुरिय
वाघ	,, व्याघ्र > प्रा० वाघ
वाघिणि	,, व्याघ्रिणी > प्रा० वग्घिणि
वांकउ	,, वक्र > प्रा० वंक
वाच	,, वाच, वाचा
वाचइं	,, वाचयति > प्रा० वाएइ
वाजइ	,, वाद्यते > प्रा०, अप० वज्जइ
वाजउ	,, वाद्य > प्रा० वज्ज
वाजित्र	,, वादित्र > प्रा० वाइत्त
वांछा	,, वाञ्छा > प्रा० वांछा
वाट	,, वर्त्मन् > प्रा० वट्टा
वाडि	,, वृति > प्रा० वाडी
वाडिय	,, वाटिका > प्रा० वाडिआ
वाढी	,, वर्धयति > प्रा० वड्ढेइ
वाणही	,, उपानह् > प्रा० वाणहा
वात	,, वार्ता > प्रा० वत्त
वाति	,, वात
वादु	,, वाद
वाधइ	,, वर्धते > प्रा० वध्दइ
वांतर	,, व्यन्तरः > प्रा० वंतरो
वांद्या	,, वन्दित > प्रा० वंदिअ
वापरउ	,, व्यापारयति > प्रा० अप + वावरेइ
वापीअ	,, वापिका > प्रा० वाविअ
वांमु	,, वामम्
वार	,, वारम् > प्रा० वारं
वारउ	,, वारकः > प्रा० वारओ > अप० वारउ
वारइ	,, वारयति > प्रा० वारेइ

वारण	सं० वारणः
वारणु	[एक शहर का नाम]
वारवधू	सं० वारवधू
वारणवति	[एक शहर का नाम]
वालइ	सं० वालयति > प्रा० वालेइ, वालइ
वालिय	,, वालिका
वालंभ	,, वल्लभ
वालही	,, वल्लभा > प्रा० वल्लहा
वासि	,, वास
वासरि	,, वासर
वास्यां	,, वासयति
वांसउ	,, वंश + क > प्रा० वंस + अ
वाही	,, वाहयति > प्रा० वाहेइ
वाहु	,, वाह
वाहइ	,, वाहयति > प्रा० वाहइ, वाहइ
वाहणि	,, वाहन
विउड	,, विकट > प्रा० विअउ
विकरालो	,, विकराल
विकल	,, विकल
विकसइं	,, विकसति > प्रा० विअसइ
विकारि	,, विकार
विखंड	,, विखंड
विखंडिउ	,, विखंडित > प्रा० विखडिअ
विखासइ	,, विश्वास > प्रा० वीसास
विगत	,, व्यक्ति > प्रा० वत्ति
विगूता	,, विगुप्त > प्रा० विगुत्त
विगोई	,, विगोपयति > प्रा० विगोवेइ
विचखण	,, विचक्षन
विचार	,, विचार, विचारयति
विचाली	,, वत्मंन्
विछाहिउ	,, विच्छाय

विछोह	सं० विक्षोभः>प्रा० विच्छोह
विच्छोहीउ	,, विक्षोभ>प्रा० विच्छोह
विजयु	,, विजय
विज्जमालि	,, विद्युन्मालिन्>प्रा० विज्जुमालि
विज्जाहर	,, विद्याधर>प्रा० विज्जाहर
विडंब्या	,, विडंबयति>प्रा० विडंबेइ
विडारइ	,, विदारयति
विण	,, विना>प्रा० विण
विणासइ	,, विनाशयति>प्रा० विणासेइ
विणासु	,, विनाश>प्रा० विणास
विणोदि	,, विनोद>प्रा० विणोद
वित्थरी	,, विस्तार>प्रा० वित्थर
विदाहु	,, विदाह
विदुर	,, विदुर
विदेसी	,, विदेश>प्रा० विदेस
विद्य	,, विद्या
विद्याधरु	,, विद्याधर
विद्यासिद्धि	,, विद्यासिद्धि
विनडंति	,, विनटयति>प्रा० विणडेइ>अप० विणडइ
विनवं	,, विज्ञापयति>प्रा० विण्णवेइ
विनाणी	,, विज्ञान>प्रा० विन्नाण
विनोदिहि	,, विनोद
विंदं	,, वृंद>प्रा० विंद
विरचइं	,, विरचयति
विरतंत	,, वृत्तांत>प्रा० वित्तंत
विरता	,, विरक्त>प्रा० विरत्त
विरलउ	,, विरल+क
विन्नाणी	,, विज्ञान>प्रा० विन्नाण
विपिनि	,, विपिन
विप्रि	,, विप्र
विमाणु	,, विमान

विमासइ	सं० विमृशति>प्रा० विमस्सइ
विम्हिउ	,, विस्मित>प्रा० विम्हिअ
विरहणि	,, विरहिणी
विरहानलि	,, विरहानलेन
विरंगू	,, विरंग
विरागो	,, विराग
विरागीय	,, विराग
विराडिउ	प्रा० विराडइ
विराधीउ	सं० वि+राध्
विरूअउं	,, विरूपक
विरोलियइ	हिं० बिलौना
विलउ	सं० विलय
विलक्खि	,, विलक्षिता>प्रा० विलक्खिअ
विलगी	सं० विलगति>प्रा० विलगइ
विलवइ	,, विलपति>प्रा० विलवइ
विलेच्छु	,, म्लेच्छ
विलेपनु	,, विलेपन
विलोल	,, विलोल
विलोवतां	प्रा० विलोडइ
विवनउ	सं० विपन्न>प्रा० विवन्न
विवाहरु	,, व्यवहार>प्रा० ववहार
विवादइं	,, विवाद
विशेषइं	,, विशेष
विश्रांमु	,, विश्रामः
विषमी	,, विषम
विसखप्परा	,, विषकर्परा:>प्रा० विसखप्परा
विसनिरु	,, वैश्वानर>प्रा० वेसाणर–वइसाणर
विसमिउं	,, विश्रमित>प्रा० विसमिअ
विस्तारि	,, विस्तारिता>प्रा० वित्थारिआ
विहरउ	,, विहार>प्रा० विहार
विहसी	,, विकसित>प्रा० विहसिअ

विहूणाउं	सं० विहीन>प्रा० विहीण
वीनती	,, विज्ञप्ति>प्रा० विण्णत्ति
वीनवइ	,, विज्ञापयति>प्रा० विण्णवेइ
वीरु	,, वीर
वीरि	,, वीर
वीरप्पह	,, वीरप्रभ>प्रा० वीरप्पह
वीवाहु	,, विवाह
वीसमउ	,, विश्राम्यति>प्रा० वीसमइ
वीसमी	,, विषम>प्रा० विसम
वीसिसउं	,, विश्वसिति>प्रा० वीससइ
वुट्ठीय	,, वृष्ट>प्रा० वुट्ठ
वूना	,, विषण्ण
वृहन्नड	,, बृहन्नला
वेउल	,, विचकिल>प्रा० विअइल्ल
वेगि	,, वेग
वेडि	,, वाटिका>प्रा० वाडिअ
वेदन	,, वेदना
वेधं	,, वेध
वेयड्ढ	,, वैताढ्य>प्रा० वेयड्ढ
वेरई	,, वैर>प्रा० वइर
वेलां	,, वेला
वेलि	,, वल्ली>प्रा० वल्ली
वेवाहिय	,, वैवाहिक>प्रा० वेवाहिय
वेस	,, वेष>प्रा० वेस
वेहीकरी	,, विध्यति>प्रा० वेहइ
व्रतु	,, व्रत
व्यापए	,, व्याप्नोति>प्रा० वावेइ
व्यापति	,, व्याप्ति

श

शकुनि	सं० शकुनि
शंखु	,, शङ्ख

शतखंड	,, शत+खण्ड
शत्रो	,, शत्रु
शमरसि	,, शमरस
शरद्वतीसूनु	,, शरद्वत्सूनु
शल्यु	,, शल्य
शल्लिहिं	,, शलय>प्रा० शल्ल
शशर्म	,, सुशर्मन
शशि	,, शश
शाखि	,, श्लक्ष्णक
शाल	,, शृगाल>प्रा० सियाल
शिखंडी	,, शिखण्डिन
शिर	,, शिरस्
शिर	,, शर
शुधि	,, शुद्धि
शुशर्म	,, सुशर्मन्
शूकर	,, शूकर
शृंगु	,, शृंग
शृंगारइं	,, शृङ्गार
शोकइ	,, शोक
शोखा	,, शोखा
श्रोपति	,, श्रीपति
श्रीपुर	,, श्रीपुर
श्रोत्रि	,, स्रोतस्

स

सइ	सं० सर्वं>प्रा० सव्वि
सइ	,, शतानि>प्रा० सयाइं, सयइं
सइर	,, शरीर>प्रा० सरीर
सईं	,, स्वयं>प्रा० सयं>अप० सईं
सइंवरि	,, स्वयंवर>प्रा० सयंवर
सकइ	,, शक्नोति>प्रा० सकइ

सकति	,,	शक्ति > प्रा० सत्ति
सकालि	,,	सुकाल
सकुटंब	,,	सकुटुंब
सक्खि	,,	सख्य > प्रा० सक्ख
सखीय	,,	सखी
सघलउ	,,	सकल > प्रा० सयल > अप० सगल
सघन	,,	सुघन
संख प्रधान	,,	शंख प्रधान
संगरि	,,	संगर
संग्रहीइ	,,	संगृह्यते
संघइ	,,	संघ
सचराचरि	,,	सचराचर
सचेत	,,	सचेतस्
सचेतनि	,,	सचेतन
सचवई	,,	सत्यवती > प्रा० सच्चवइ
सजन	,,	स्वजन > प्रा० सजण
सजाती	,,	सजाति
संचारि	सं०	संचार
संचियइं	,,	संचिनोति > प्रा० संचिणइ
संजम	,,	संयम > प्रा० संजम
सठाणा	,,	सनद्ध > प्रा० संणद्ध
सतकारिय	,,	सत्कारित
सतर	,,	सप्तादश > प्रा० सत्तरइ
सतीय	,,	सती
सत्त	,,	सत्तन् > प्रा० सत्त
सत्तूकार	,,	सत्तूक + अगार
सत्थवाह	,,	सार्थवाह > प्रा० सत्थवाह
सत्यकु	,,	सत्यक
सत्यवती	,,	सत्यवती
सदाचारि	,,	सदाचार
सनमानउ	,,	संमानित

संतु	सं० शान्त > प्रा० संत
संतापु	,, संताप
संतावइ	,, संतापयति > प्रा० संतावेइ
संतावण	,, संतापन > प्रा० संतावण
संति	,, शान्ति > प्रा० संति
संतिकरउ	,, शान्तिकर + क > प्रा० संतिकरअ
संतणु	,, शान्तनु > प्रा० संतणु
संधाणु	,, संधान > प्रा० संधण
संनाह	,, संनाह
सपराणउ	,, सप्राण + क
सपदि	,, सपदि
सबलु	,, सबल
सभां	,, सभा
सभावि	,, स्वभाव > प्रा० सहाव
समउ	,, सम
समकाल	,, समकाल
समकित	,, सम्यक्त्व > प्रा० सम्मत्त
समदाय	,, समुदाय
समय	,, समय
समरइ	,, स्मरति > प्रा० समुरइ
समरु	,, समर
समरंगणि	,, समराङ्गण
समरथ	,, समर्थ
समसिउं	,, समस्या
समुद्द	,, समुद्र > प्रा० समुद्द
समुद्रविजय	एक राजा का नाम
समूत्यमुद्रा	सं० समूत्युमुद्रा
समोपीउ	,, समर्पित > प्रा० समप्पिअ
समोसरणि	,, समवसरण
संपचूड	,, सर्पचूडा > प्रा० सप्पचूड
संपति	,, संपत्ति

संपद	सं० संपद्
संपन्नउ	,, संपन्न
संपूरिय	,, संपूरिता > प्रा० संपूरिअ
संप्रति	,, संप्रति
संबर	,, शंबर > प्रा० संबर
संभरिउ	,, संस्मरति > प्रा० संभरइ
संभावइ	,, संभावयति > प्रा० संभावेइ
सयरु	,, शरीर
सयंतउ	,, सचितक > प्रा० सईतउ
सयंबर	,, श्वेतॉम्बर > प्रा० सियंबर
सयंवरु	,, स्वयंबर
सर	,, शिरः > प्रा० सिर
सर	,, स्वर > प्रा० सर
सरइ	,, सरति > प्रा० सरइ
सरखी	,, सदृक्ष > प्रा० सारिक्ख
सरगि	,, स्वर्ग > प्रा० सग्ग
सरगलोकि	,, स्वर्ग + लोक
सरजीउं	,, सर्जित > प्रा० सरजिअ
सरणाई	,, स्वरनादिका > प्रा० सरणाइअ
सरणि	,, शरण > प्रा० सरण
सरणि	,, शरण्य > प्रा० सरण्ण
सरमु	,, श्रम > प्रा० सम
सरवती	,, सरापयति > प्रा० सरावेइ
सरवर	,, सरस् + वर > प्रा० सरवर
सरसति	,, सरस्वती > प्रा० सरस्सइ
सरसिव	,, सर्षप > प्रा० सरिसव
सरसी	,, सरसी
सरसीय	,, सरसिज > प्रा० सरसिअ
सरसे	,, सदृश > प्रा० सरिस
सरहां	,, सुरभि > प्रा० सुरहि
सर्वस	,, सर्वस्व > प्रा० सव्वस्स

सरापु	सं० शाप > प्रा० साव
सरीखउ	,, सदृक्ष > प्रा० सारिक्ख
सलकखण	,, सुलक्षण > प्रा० सुलक्खण
सलंभ	,, सुलभ > प्रा० सुलंभ
सल्ल	,, शल्य > प्रा० सल्ल
सलिंद्री	,, सैरेन्ध्री
सलूणीय	,, सलवणिका > प्रा० सलोणिअ
सयंमनी	,, सयंमनी
सवणइ	,, श्रवण > प्रा० सवण
सवि	,, सर्व > प्रा० सव्व
सवारथ	,, स्वार्थ
सविवार	,, सर्व + वार
सवा	,, सुवर्ण > प्रा० सुवण्णइं
संवत	,, संवत्सर
संवरगुणि	,, संवरगुण
ससरा	,, श्वसुर > प्रा० ससुर
संसा	,, शश > प्रा० सस
संसारि	,, संसार
सहइ	,, सहते > प्रा० सहइ
सहकारि	,, सहकार
सहचरि	,, सहचर
सहजिइं	,, सहज
सहड	,, सुभट > प्रा० सुहड
सहदे	,, सहदेव
सहस	,, सहस्र > प्रा० सहस्स
सहि	,, सहित > प्रा० सहिअ > अप० सहिउ
सहिनाण	,, साभिज्ञान > प्रा० साहिनाण
सही	,, सखी > प्रा० सही
सहु	,, शश्वत् > अप० साहु
संहट	,, संघट > स० संहड
संहरउ	,, संहरति > प्रा० संहरइ

संहारु	सं० संहार
सहीयर	,, सहचरी>प्रा० सहयरि
स्युं	,, किदृशिक>प्रा० किसिओ>अप० किसिउ
स्वर्गं	,, सांस्वर्गं
स्वांमि	,, स्वामिन्
स्वामिनि	,, स्वामिनी
साकर	,, शर्करा>प्रा० सक्कर
साखिइ	,, साक्ष्य>प्रा० सक्ख
सागर	,, सागरोपम
साचउं	,, सत्यक>प्रा० सच्चअ
साचउरिं	,, सत्यपुर>प्रा० सच्चउर
सांचरइ	,, संचरति>प्रा० संचरइ
साजणां	,, स्वजन>प्रा० सज्जण
सांझइं	,, संध्या>प्रा० संझा
साटे	प्रा० सट्ट
साट्ठि	सं० षष्टि>प्रा० सट्ठि
साडीय	,, शाटिका>प्रा० साडिअ
सात	,, सप्त>प्रा० सत्त
सातमी	,, सप्तम>प्रा० सत्तम
साति	,, सत्त्वयति>प्रा० सचेइ
साथ	,, सार्थ>प्रा० सत्थ
साथर	,, स्रस्तर>प्रा० सत्थर
साद	,, शब्द>प्रा० सद्द
साधइं	,, साधयति>प्रा० साहेइ
सान	,, संज्ञा>प्रा० सण्णा
सानिधि	,, संनिधि
सानिद्ध	,, सानिध्य>प्रा० सानिद्ध
सांधइं	,, सधाति>प्रा० संधेइ
साबल	,, सर्बला>प्रा० सब्बल
सामग्री	,, सामग्री
सामल	,, श्यामल>प्रा० सामल

सामहणी	सं० समाधानिका > प्रा० समाहणिअ
सामहो	,, संमुखक > प्रा० संमुहअ
सामही	,, समाधाति > प्रा० समाहेइ
सामीणी	,, स्वामिनी > प्रा० सामिणि
सांडसे	,, संदंशक > प्रा० संडासअ
सांपडी	,, संपतित > प्रा० संपडिअ
सांवर	,, शंवर > प्रा० संवर
सांभलइ	,, संभालयति > प्रा० संभालेइ > अप० संभलइ
सायक	,, सायक
सायर	,, सागर > प्रा० सायर
सारो	,, सारः
सारंग	,, शार्ङ्ग > प्रा० सारंग
सारंगपाणि	,, शार्ङ्गपाणि
सारथि	,, सारथि
सारददेवि	,, शारदादेवी
सारदा	,, शारदा
सारिसु	,, सारयति > प्रा० सारेइ
सालणा	,, सारणक > अप० सालणअ
सालिउ	,, शल्यित > प्रा० सल्लिअ
सालु	,, शल्य > प्रा० सल्ल
सालिभद्र	,, शालिभद्र
सालिसूरि	,, शालिसूरि
सावज	,, श्वापद > प्रा० सावय
सावय	,, श्रावक > प्रा० सावय
सासणदेवि	,, शाशनदेवी
सासु	,, श्वश्रु > प्रा० सासू
सासु	,, श्वास > प्रा० सास
सांसही	,, संसहित > प्रा० संसहिअ
सांसहिउं	,, संशयित
साहण	,, साधन > प्रा० साहण
साहसि	,, साहस

साहिउ	सं० साहयति
साहु	,, साहु>प्रा० साहु
साहु	,, साधु>प्रा० साहु
साहुणि	,, साध्वी >प्रा० साहुणि
सिखवइ	,, शिक्षयति>प्रा० सिक्खावइ
सिख्या	,, शिक्षा >प्रा० सिक्खा
सिखंडीय	,, शिखण्डिन् >प्रा० सिखंडी
सिंगा	,, शृंग>प्रा० सिंग
सिणगार	,, शृंगार>प्रा० सिंगार
सिणगारीइ	,, शृंगार्यंते
सित्रुंजय	,, शत्रुंजय
सिथिल	,, शिथिल>प्रा० सिढिल
सिधावउ	,, सिद्धपयति>प्रा० सिज्झावेइ
सिध्धु	,, सिद्ध
सिध्धशिला	,, सिद्धशिला
सिध्धि	,, सिद्धि
सिंधुर	,, सिंधुर
सिर	,, शिरस् >प्रा० सिर
सिरषी	,, सदृक्ष>प्रा० सरिक्ख
सिरसे	,, सदृश>प्रा० सरिस
सिरजणहार	,, सृजति >प्रा० सज्जइ
सिराका	,, शङ्का (?)
सिरि	,, श्री>प्रा० सिरि
सिरि	,, स्वर>प्रा० सर
सिरोमणि	,, सिरोमणि
सिला	,, शिला>प्रा० सिला
सिलिंद्री	,, सैरेन्ध्री
सिवपंथि	,, शिव+पथिन्
सिवपुरी	,, शिवपुरी
सिंहनिकीलिउ	,, सिंहनिकीडित>प्रा० सीहनिकीलिय
सीकिरि	,, श्रीकरी (?)

सीख	सं० शिक्षा>प्रा० सिक्ख
सीघ्र	,, शीघ्रम्>प्रा० सिग्घ
सींगिणी	,, शृंगिणी>प्रा० सिंगिणि
सींचिइ	,, सिंचति>प्रा० सिंचइ
सीतल	,, शीतल>प्रा० सीयल
सीधउं	,, सिद्ध+क>प्रा० सिद्धअ
सीम	,, सीमन्>प्रा० सीम
सीमति	,, श्रीमती>प्रा० सीमइ
सीमाडा	,, सीमन्>प्रा० सीम+ड
सील	,, शील>प्रा० सील
सीसु	,, शीर्ष>प्रा० सिस्स-सीस
सीहु	,, सिंह>प्रा० सीह
सीहीअ	,, शिखिन्
सुअर	,, शूकर
सुकुमाल	,, सुकुमार>प्रा० सुउमाल>अप० सोमाल
सुखासनि	,, सुखासन
सुखीया	,, सुखित>प्रा० सुहिअ
सुगुरु	,, सुगुरु
सुचंग	,, सुचङ्ग
सुचामुं	,, सुचर्मन्
सुंझ	,, शुद्ध>प्रा० सुज्झ
सुदष्णा	,, सुदेष्णा
सुद्धि	,, शुद्धि>प्रा० सुद्धि
सुद्रइ	,, समुद्र
सुंडादंडि	,, शुंड+दंड
सुपवीत	,, सुपवित्र>प्रा० सुपवित्त
सुपसाउ	,, सुप्रसाद>प्रा० सुपसाअ
सुभद्र	,, सुभद्र
सुमतिऊ	,, सुमतिक
सुमिणाइ	,, स्वप्न>प्रा० सुविण, सुमिण
सुयणाह	,, सुजन>प्रा० सुअण, सुयण

सुयोधनि	सं० सुयोधन
सुर	,, सुर
सुरगिरि	,, सुरगिरि
सुरगुर	,, सुरगुरु
सुरंग	,, सुरङ्ग
सुरलोकि	,, सुरलोक
सुरवइ	,, सुरपति>प्रा० सुरवइ
सुरवरि	,, सुरवर
सुरवर्ग	,, सुरवर्ग
सुरसाल	,, सु+रसाल
सुरहीं	,, सुरभीणि>प्रा० सुरहिंइ
सुलक्खण	,, सुलक्षण>प्रा० सुलक्खण
सुललितइं	,, सुललितेन
सुलिद्री	,, सैरन्ध्री
सुवर्ण्णा	,, सुवर्ण>प्रा० सुवण्ण
सुविचारु	,, सुविचार
सुविवेकु	,, सुविवेक
सुविसाल	,, सुविशाल
सुवेस	,, सुवेश
सुसतउ	,, श्वसत्+क्
सुसरां	,, सु+सर
सुंसिर	,, सुषिर>प्रा० सुसिर
सुहड	,, सुभट>प्रा० सुहड
सुहावउ	,, सुखापयथ>प्रा० सुहावेह>अप० सुहावहु
सुहाग	,, सौभाग्य>प्रा० सोहग्ग
सू	,, सुत>प्रा० सुअ
सूअडउ	,, शुक>प्रा० सुअ+डअ>अप० सुअडउ
सूअरु	,, शूकर>प्रा० सूअर
सूकउं	,, शुक+क>प्रा० सुकअ
सूकडि	,, शुक्र>प्रा० सुक्क+डी
सूकीय	,, सु+कृत>प्रा० सुकिय

सूझइ	सं० शुष्यन्ते > प्रा० सुज्झइं
सूझउं	,, शुष्यते > प्रा० सुज्झइ
सूतउ	,, सुप्त > प्रा० सुत्त
सूधइ	,, शुध्यते > प्रा० सुद्धइ
सूधउं	,, सुबद्धक > प्रा० सुबद्धअ
सूधां	,, शुद्धानि > प्रा० सुद्धाइं
सूनउं	,, शून्यक > प्रा० सुन्नअ
सून्य	,, शून्य
सूयण	,, स्वजन > प्रा० सयण
सूर	,, सूर
सूर	,, शूर > प्रा० सूर
सूरउ	,, सूर+क > प्रा० सूरअ
सूरिहिं	,, सूरि
सूरिअ	,, सूर्य > प्रा० सूरिअ
सूखम	,, सूखअ
सूखमसूखम	,, सूखम सूखम
सेजडी	,, शय्या > प्रा० सेज्जा
सेठि	,, श्रेष्ठिन् > प्रा० सेट्ठी
सेत्र	,, श्वेत > प्रा० सेअ
सेतुज	,, शत्रुंजय
सेनानी	,, सेनानी
सेलि	,, शैली > प्रा० सेलि
सैरंध्रि	,, सैरन्ध्री
सो	,, सः+अपि सोइ > प्रा० सोहु
सोक	,, शोक > प्रा० सोग
सोवन	,, सुवर्ण > प्रा० सुवण्ण
सोवनदेह	,, सुवर्णदेहा
सोवनपाट	,, सुवर्णपट्टिका > प्रा० सुवण्णपट्टिआ
सोवन्नीकांबज	,, सौवर्णिकांबुज
सोरीपुर	,, शौरीपुर
सोलह	,, षोडश > प्रा० सोलह

सोसइ	सं० शुष्यति>प्रा० सुस्सइ
सोहग	,, सौभाग्य>प्रा० सोहग्ग
सोहगसुंदरी	,, सौभाग्यसुंदरी>प्रा० सोहग्गसुंदरी
सोहामी	,, शोभामयी>प्रा० सोहामइ
सोहिलउं	,, शोभा>प्रा० सोहिल्लअ
सौख्य	,, सौख्य।

ह

हइ	,, भवति>प्रा० हवइ,
हईइ	,, हृदय>प्रा० हिअ, हिअय
हठिउं	,, हठित>प्रा० हठिअ
हणइ	,, हन्ति>प्रा० हणइ
हतउ	,, हतक>प्रा० हअअ
हत्या	,, हत्या
हथिआर	,, हस्ते+कार>प्रा० हत्थियार
हथिणाउरि	,, हस्तिनागपुर>प्रा० हत्थिणाअउर
हरख	,, हर्ष>प्रा० हरिसो
हरिचंदिइं	,, हरिश्चंद्र>प्रा० हरिचंद
हरालउ	,, हरति>प्रा० हरइ+अल्लअ
हरावतउ	,, हरापयति>अप० हरावेइ
हरि	,, हरि
हरिकेसि	,, हृषीकेश
हरिणउ	,, हरिण+क
हर्ष	,, हर्ष
हवइ	,, भवति>प्रा० होइ, हुवइ, हवइ
हसइं	,, हसति>प्रा० हसइ
हस्तिनागपुरु	,, हस्तिनागपुर
हंसगमणा	,, हंसगमना
हाक	,, हक्का>प्रा० हक्क
हाकीउ	प्रा० हक्कइ
हाथिया	,, हस्तिन्+क>प्रा० हत्थीअ
हथिणीयं	,, हस्तिनी+का>प्रा० हत्थिणीअ

हाथीयडं	सं० हस्ति+कक>प्रा० हत्थीअअ
हारती	,, हारयति>प्रा० हारेइ
हारिइ	,, हारिका>प्रा० हारि
हावडं	,, एतादृश अप० एहवडं
हासडं	,, हास्य+क>प्रा० हासअ
हाहाकार	,, हाहाकार
हियुं	,, हृदय>प्रा० हिअ
हियवरणि	,, हितवर्णिका>प्रा० हियवण्णिआअ
हिडंबु	,, हिडिंब
हिडंबा	,, हिडिम्बा
हींडोलिय	,, दोला>प्रा० हिंडोलइ
हीडई	,, हिंडते>प्रा० हिंडइ
हींडोला	,, हिन्दोल>प्रा० हिंदोल
हाणु	,, हीन>प्रा० हीण
हीण	,, हीन>प्रा० हीण
हीन	,, हीन
हीरकि	,, हीरक
हीराणंद	,, हीरानन्द
हुंस	,, उष्म>प्रा० उण्ह
हूतउ	,, भवल्कः>अप० होन्तउ
हूफई	,, उष्मायते>प्रा० उम्हायइ
हेखि	,, हर्ष
हेठि	,, अधस्तात्>प्रा० हेट्ठा
हेमंगदु	,, हेमाङ्गद
हेला	,, हेला
हेव	,, ऐव

रास संकेत सूची

अ० प्र० बो० रा०—अकबर प्रतिबोध रास
आ० रा०—आबूरास
उ० र० रा०—उपदेश रसायन रास
क० रा०—कछूली रास
गौ० स्वा० रा०—गौतम स्वामी रास
चर्चरिका—चर्चरिका
चर्चरी—चर्चरी
जि० च० सू० फा०—जिनचंद्रसूरि फाग
जि० सू० प० रा०—जिनपद्म सूरि पट्टाभिषेक रास
जी० द० रा०—जीवदया रास
न० द० रा०—नल दवदंती रास
ने० ना० फा०—नेमिनाथ फाग
ने० ना० रा०—नेमिनाथ रास
पं० च० रा०—पंचपांडव चरित रास
पृ० रा० रा०—पृथ्वीराज रासो
पृ० रा० रा० (कै० ब०) पृथ्वीराजरासो (कैमासबध)
पृ० रा० रा० (ज० प्र०) पृथ्वीराज रासो (जयचंद्र प्रबंध)
पृ० रा० रा० (य० वि०) पृथ्वीराज रासो (यज्ञ विध्वंस)
बु० रा० —बुद्धि रास
भ० बा० घो० रा०—भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास
भ० बा० रा०—भरतेश्वर बाहुबलि रास
यु० प्र० नि० रा०—युग प्रधान निर्वाण रास
र० म० छं०—रणमल्ल छंद
रा० जै० रा०—राउ जैतसीरो रास
रा० य० रा०—राम-यशोरसायन रास
रा० ली०-(हि० ह०)—रासलीला (हित हरिवंश)
रा० स० प०—रास सहस पदी

रा० स्फु०—रास स्फुटपद
रे० गि० रा०—रेवन्त गिरि रास
व० वि० फा०—वसंत विलास फाग
वि० ति० सू० रा०—विजय तिलक सूरि रास
सं० रा०—संदेश रासक
स० रा०—समरा रास
स्थू० फा०—स्थूलभद्र फाग

नामानुक्रमणिका

